

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

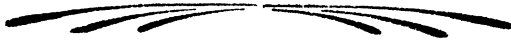
**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_192547

UNIVERSAL
LIBRARY

लो. टिळकांचे केसरीतील लेख



भाग ४ था

संकीर्ण लेख-संग्रह

(सामाजिक, धार्मिक, वाङ्मय-विषयक)

प्रकाशक:—केसरी-मराठा संस्था, पुणे

मन १९३०

किंमत रु. ३

१९६८

प्रकाशकः—न. चि. केळकर, पुणे

मुद्रकः—गणेश काशिनाथ गोखले

सेक्रेटरी, श्रीगणेश प्रिंटिंग वर्क्स

४९, ५—४९, ६ शनवार पेठ, पुणे नं. २

प्रस्तावना.



लो. टिळकांचे केसरीतील लेख पुस्तकरूपानें प्रसिद्ध करण्याचा उपक्रम आम्हीं सुमारे नऊ वर्षांपूर्वी सुरू केला. त्याप्रमाणें प्रथम राजकीय विषयक लेखांचे तीन खंड पुढीलप्रमाणे प्रसिद्ध झाले. खंड १-प्रष्टसंख्या. ६९५ खंड दुसरा-६३४ खंड तिसरा ४९२

त्यानंतर हल्ली, टिळकांचे केसरीत प्रसिद्ध झालेलेच पण संकीर्ण विषयावरील लेख हल्लीच्या या चवथ्या खंडात संग्रहित करून प्रसिद्ध करण्यांत येत आहेत. यांतील विषय धर्म, समाज, वाङ्मय, शिक्षण, शास्त्र, इतिहास इत्यादि आहेत. केसरीपत्र लो. टिळकांनीं बहुतांशी राजकारणाला वाहिलेले असल्यामुळे त्यांत अवातर विषयावर लेख लिहिण्याचा प्रसंग सहसा येत नसे; व तो आला तरी कोणताहि विषय आपल्या विशेष आवडीचा किंवा विशेष वादग्रस्त होऊन राहिलेला असल्याशिवाय न्यावर मोठे किंवा स्वतंत्र लेख लिहून टिळकांनीं अशा विषयाचा फारसा परामर्ष कधी घेतला नाहीं. यामुळे अशा अवातर विषयांवरील त्यांचे सर्व लेख एकाच खंडात संग्रहित करिता आले. परंतु तेवढ्यावरून अशा विषयासंबंधीहि लो. टिळकांची विचारसरणी व भाषाशैली कशी होती हें कोणाहि वाचकास उत्तम प्रकारे कळून येण्यासारखें आहे. सूक्ष्म विवेकाचरोवर निश्चित सिद्धान्ताची माडणी, आणि होता होईल तो कोणत्याहि विषयाला मूलभूत असलेल्या शास्त्राचा व धर्म ताडण्याचा योडक्यात प्रयत्न हा गुण या खंडातील लेखामधून टळकपणे दिसून येतो.

चालू राजकारण हा बोलून चालून डोके तापून किंबहुना तापवूनहि घेण्याचा विषय असें टिळक मानीत. यामुळें अशा विषयावरील लेखात समतोलपणा राखण्याचा त्यांनीं कधी विशेषसा प्रयत्न केला नाही. स्वमत प्रतिपादनाची ज्याला खरी हौस असेल किंवा अशा विषयांत ज्याची भावना तीव्र असेल त्याला समतोलपणा राखता येणार नाही, किंबहुना तो मुद्दाम राखणे हा अशा लेखाचा गुण न होतां दोषच होतो असे टिळकांना वाटत असे. परंतु शास्त्रीय विषय म्हटला म्हणजे तेथें डोके शांत कसे ठेवावें, शास्त्रशुद्ध कसे लिहावें, कोणत्याहि मुद्द्याच्या दोन्ही बाजू कशा पाहाव्या, वावगा शब्द कसा टाळावा, केवळ बुद्धि व तर्क यांच्या द्वारानेंच वाचकांच्या अंतरंगात प्रवेश कसा करावा याची जाणीव टिळकांना, कोणाची त्यांच्याविषयीं एरवीं कल्पना होईल त्याहून अधिक होती हें ओगटायन, आर्कटिक होम इन दि वेदाज हे त्यांचे इंग्रजी ग्रंथ व गीतारहस्य हा त्यांचा मराठी ग्रंथ वाचणारास सहज दिसून येईल. हा त्याचा गुण प्रस्तुत खंडातील वाङ्मयात्मक लेखांमध्ये स्पष्टच दिसतो. धर्म व समाजसुधारणा यांच्या बाबतींत सर्व जन्मभर ते एका विशिष्ट पक्षाचे प्रतिपक्षी म्हणून लिहिणें व बोलणें हें

त्यांना प्राप्त झाले होते तरी अशा विषयांतहि तात्त्विक चर्चा म्हणून जेथे जेथे उद्भवली तेथे तेथेहि टिळकांचे उपरिनिर्दिष्ट गुण प्रस्तुत खंडातील लेखांतून प्रगट झाले आहेत. पूर्वीच्या तीनहि खंडातील लेखांहून प्रस्तुतच्या खंडातील लेखांचे वैशिष्ट्य व अपूर्वत्व कोणासहि दिसून येईल. आणि टिळक व राजकारण यांचा अखंड संबंध मराठी वाचकानी मनांत जोडून ठेविलेला असल्यामुळे, त्यांनीं पूर्वी विशेष लक्षपूर्वक न वाचलेले किंवा टिळकाच्या राजकीय चळवळीच्या झपाट्यात विसरून गेलेले हे लेख मराठी वाचकान्ना आता मोठे कौतुकास्पद वाटतील यात शंका नाहीं. ते वाचणाराना सामाजिक, धार्मिक विषयाच्या चर्चेत टिळकाची समाजरचनाविषयक तत्त्वे व धोरणे काय होती हेहि कळून येण्यासारखे आहे.

प्रस्तुत खंडातील लेख केसरीच्या फाईलांतून शोधून निवडून काढणे, छाप खान्याकरिता त्याची प्रत तयार करविणे वगैरे बाबतीत चि. काशिनाथ नरसिंह केळकर, वाङ्मयविशारद, टिळक विद्यापीठ व चि. महादेव भोंडो विद्वास एम्. ए. एल. एल. बी. वकील पुणे यांची सर्वांशी मदत झाली; व हें काम त्यांनीं निरपेक्ष बुद्धीनें, केसरी-मराठा संस्थेच्या अभिमानाने केले, याबद्दल आगही त्यांचे आभारी आहों.

न. चिं. केळकर.

धों. वा. विद्वांस

ट्रस्टी केसरी व मराठा.

| | |
|--|-----|
| २० सामाजिक सुधारणा—अबलोनति लेखमाला नं. १ | १०४ |
| २१ सामाजिक सुधारणा कशानें होईल—नं. २ | १०७ |

सन १८९२ पृष्ठ १११ ते १४८

| | |
|---------------------------------|-----|
| २२ नागपूर येथील सामाजिक परिषद | १११ |
| २३ अबलोनति लेखमाला नं. ३ | ११४ |
| २४ ” ” नं. ४ | ११८ |
| २५ पत्रकर्त्यांच्या स्फूट सूचना | १२१ |
| २६ आपला धर्म | १२४ |
| २७ स्फुटें—ग्रामपथ | १२७ |
| २८ पुनर्विवाह ... | १३१ |
| २९ ” नं. २ | १३६ |
| ३० ” नं. ३ | १४२ |

सन १८९४ पृष्ठ १४९ ते १७७

| | |
|---|-----|
| ३१ नेटिव्ह व्हाईस चान्सलराचें पहिले भाषण | १४९ |
| ३२ देशी भाषांस उत्तेजन देण्यास युनिव्हर्सिटीने काय केलें पाहिजे | १५५ |
| ३३ शंकर पांडुरंग पंडित | १६० |
| ३४ आमचे आधुनिक विद्वान अकार्ळी कां मरतात ? | १६१ |
| ३५ डॉ. भांडारकर आणि ऑ. रा. व. रानडे | १७० |
| ३६ स्फूट सूचना | १७६ |

सन १८९५ पृष्ठ १७८ ते १८२

| | |
|------------------|-----|
| ३७ ज्ञाशीची राणी | १७८ |
|------------------|-----|

सन १८९६ पृष्ठ १८३ ते २५६

| | |
|---|-----|
| ३८ सामाजिक सुधारणेचे मार्ग | १८३ |
| ३९ ” ” | १८७ |
| ४० खरें विद्यापीठ कोणते ? | १९० |
| ४१ श्रीशिवदिग्विजय | १९४ |
| ४२ ” ” | १९७ |
| ४३ आमच्या बुद्धीस खरोखर उतरती कळा लागली आहे काय ? | १९८ |
| ४४ आर्य वैद्यकाचे पुनरुज्जीवन | २०१ |
| ४५ ब्राह्मण आणि त्याची विद्या | २०५ |
| ४६ ” ” नं. २ | २१० |
| ४७ ” ” नं. ३ | २१५ |
| ४८ ” ” नं. ४ | २१९ |

| | | | | | | |
|----|--------------------------------------|-----|-------|-----|-----|-----|
| ४९ | ” | ” | नं. ५ | ... | ... | २२३ |
| ५० | ” | ” | नं. ६ | ... | ... | २२८ |
| ५१ | ” | ” | नं. ७ | ... | ... | २३४ |
| ५२ | अज्ञेयवाद | ... | | ... | ... | २३८ |
| ५३ | न्यायमूर्ती रानडे यांची ब्रह्ममीमासा | ... | | ... | ... | २४१ |
| ५४ | ” | ” | नं. २ | ... | ... | २४५ |
| ५५ | ” | ” | नं. ३ | ... | ... | २४७ |
| ५६ | भारत वर्ष | ... | | ... | ... | २५१ |
| ५७ | स्फूट | ... | | ... | ... | २५५ |

सन १९०० पृष्ठ २५७ ते २८०

| | | | | | | |
|----|--|-----|--|-----|-----|-----|
| ५८ | श्रीशिवाजी महाराजांची जन्मतिथि | ... | | ... | ... | २५७ |
| ५९ | पंचागशोधन | ... | | ... | ... | २६८ |
| ६० | पेशवाईतील कारभार, रीतरिवाज आणि नीतिमत्ता | | | | | २७२ |
| ६१ | पंचागशोधन | | | | | २७७ |

सन १९०१ पृष्ठ २८१ ते ३२२

| | | | | | | |
|----|--|-----|--|-----|-----|-----|
| ६२ | कै. न्या. महादेव गोविंद रानडे | ... | | ... | ... | २८१ |
| ६३ | कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांच्या वेळची स्थिति | ... | | ... | ... | २८८ |
| ६४ | कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर | ... | | ... | ... | २९४ |
| ६५ | ज्ञेयाज्ञेय मीमासा | ... | | ... | ... | ३०४ |
| ६६ | ” ” उत्तरार्ध | ... | | ... | ... | ३०८ |
| ६७ | श्री. गायकवाड सरकार यांचा वेदात | ... | | ... | ... | ३१२ |
| ६८ | मराठे आणि वेदोक्त कर्म | ... | | ... | ... | ३१६ |
| ६९ | ” ” नं २ | ... | | ... | ... | ३१९ |

सन १९०२ पृष्ठ ३२३ ते ३३४

| | | | | | | |
|----|--|-----|--|-----|-----|-----|
| ७० | रा. टिळक यांचे नागपूर येथील व्याख्यान | ... | | ... | ... | ३२३ |
| ७१ | श्रीस्वामी विवेकानंद हे समाधिस्थ झाले , .. | ... | | ... | ... | ३२७ |
| ७२ | युनिव्हर्सिटीच्या ऊर्फ सरकारी हमालखाने | ... | | ... | ... | ३३१ |

सन १९०३ पृष्ठ ३३५ ते ३६७

| | | | | | | |
|----|---|-----|--|-----|-----|-----|
| ७३ | बडोदें राज्यांतील बालविवाहाचा कायदा... | ... | | ... | ... | ३३५ |
| ७४ | कै. श्रीधर गणेश जिनसीवाले | ... | | ... | ... | ३४० |
| ७५ | प्रो. रानडे यांचा नवा इंग्रजी व मराठी कोश | ... | | ... | ... | ३४७ |
| ७६ | हिंदुधर्मावरील अलिकडचीं कांहीं पुस्तकें | ... | | ... | ... | ३५३ |
| ७७ | हर्वर्ट स्पेन्सर | ... | | ... | ... | ३५७ |

सन १९०४ पृष्ठ ३६८ ते ४१८

| | | | |
|--|-----|-----|-----|
| ७८ सामाजिक परिषद | ... | ... | ३६८ |
| ७९ हिंदुत्व आणि सुधारणा | ... | ... | ३७१ |
| ८० पंडिताबाईचें पांडित्य | ... | ... | ३७५ |
| ८१ इंग्रजी शिकलेल्याचा एकांगीपणा | ... | ... | ३७८ |
| ८२ थिऑसफी आणि हिंदुधर्म | ... | ... | ३८३ |
| ८३ विवेकभ्रष्टाणां भवति विनिपातःशतमुखः ! | ... | ... | ३८९ |
| ८४ मराठी भाषेची लेखनपद्धति नं. १ | ... | ... | ३९४ |
| ८५ ,, ,, नं. २ | ... | ... | ३९८ |
| ८६ ,, ,, नं. ३ | ... | ... | ४०१ |
| ८७ ,, ,, नं. ४ | ... | ... | ४०६ |
| ८८ आमच्या वर्णमालेचा खून | ... | ... | ४११ |
| ८९ मराठी भाषेचा उत्कर्ष | ... | ... | ४१५ |

सन १९०५ पृष्ठ ४१९ ते ४८२

| | | | |
|--------------------------|-----|-----|-----|
| ९० पंचागशोधन | ... | ... | ४१९ |
| ९१ ,, ,, नं. २ | ... | ... | ४२५ |
| ९२ महाभारत | ... | ... | ४३१ |
| ९३ ,, नं. २ | ... | ... | ४३६ |
| ९४ ,, नं. ३ | ... | ... | ४४२ |
| ९५ ,, नं. ४ | ... | ... | ४४८ |
| ९६ ,, नं. ५ | ... | ... | ४५३ |
| ९७ ,, नं. ६ | ... | ... | ४५९ |
| ९८ ,, नं. ७ | ... | ... | ४६४ |
| ९९ ,, नं. ८ | ... | ... | ४६८ |
| १०० बाणभट्ट आणि श्रीहर्ष | ... | ... | ४७३ |
| १०१ देह आणि आत्मा | ... | ... | ४८० |

सन १९०६ पृष्ठ ४८३ ते ५०८

| | | | |
|-----------------------------------|-----|-----|-----|
| १०२ वेदान्ताची आणि उद्योगाची दिशा | ... | ... | ४८३ |
| १०३ महाराष्ट्र भाषेची वाढ | ... | ... | ४८८ |
| १०४ ,, ,, नं. २ | ... | ... | ४९३ |
| १०५ ,, ,, नं. ३ | ... | ... | ४९७ |
| १०६ रामायण हा इतिहास का गप्पा ? | ... | ... | ५०२ |

(५)

सन १९०७ पृष्ठ ५०९ ते ५१४

| | | | |
|----------------|-----|-----|-----|
| १०७ पैसाफंड | ... | ... | ५०९ |
| १०८ स्फुटसूचना | ... | ... | ५१३ |

सन १९१४ पृष्ठ ५१५ ते ५२६

| | | | |
|------------------------|-----|-----|-----|
| १०९ श्रीभगवद्गीतारहस्य | ... | ... | ५१५ |
|------------------------|-----|-----|-----|

सन १९१५ पृष्ठ ५२७ ते ५३०

| | | | |
|------------------------|-----|-----|-----|
| ११० कै. गोपाळराव गोखले | ... | ... | ५२७ |
|------------------------|-----|-----|-----|

सन १९१६ पृष्ठ ५३१ ते ५४०

| | | | |
|---------------------------------------|-----|-----|-----|
| १११ आगरकराची श्राद्धतिथि | ... | ... | ५३१ |
| ११२ सर फेरोजशाहा मेथा यांचा मृत्यु... | ... | ... | ५३६ |

सन १९१७ पृष्ठ ५४१ ते ५४९

| | | | |
|--------------------------------------|-----|-----|-----|
| ११३ स्वराज्य, ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर | ... | .. | ५४१ |
| ११४ ज्योतिषसंमेलन | ... | ... | ५४६ |

सन १९१८ पृष्ठ ५५० ते ५५५

| | | | |
|------------------------------|-----|-----|-----|
| ११५ वैदिकधर्म व बौद्धधर्म | ... | ... | ५५० |
| ११६ हिंदू-हिंदूचे संकराविवाह | ... | ... | ५५१ |

सन १९२० पृष्ठ ५५७ ते-५६४

| | | | |
|-----------------------------|-----|-----|-----|
| ११७ दुमजली इमारतीचा पुंडावा | ... | ... | ५५७ |
|-----------------------------|-----|-----|-----|

परिशिष्ट.

सन १८९५ पृष्ठ ५६५ ते ५७०

| | | | |
|--|-----|-----|-----|
| ११८ डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीतील पांचवा मृत्यु. | ... | ... | ५६५ |
|--|-----|-----|-----|

सन १८९६ पृष्ठ ५७० ते ५७३

| | | | |
|--|-----|-----|-----|
| ११९ माधवराव बल्लाळ नामजोशी यांचा मृत्यु. | ... | ... | ५७० |
|--|-----|-----|-----|

सन १९०० पृष्ठ ५७३ ते ५८१

| | | | |
|------------------------------------|-----|-----|-----|
| १२० प्रो० मॅक्सम्यूलर यांचा मृत्यु | ... | ... | ५७३ |
| सूचि. | ... | ... | ५८३ |

लो. टिळकांचे केसरींतील लेख

* कोंकणस्थ, देशस्थ व कऱ्हाडे

क्रित्येक गोष्टी अशा आहेत की, त्या सर्वांस माहीत असतां व त्याची आवश्यकता प्रत्येक दिवशीं सर्वांच्या अनुभवास येत असता, त्याबद्दल कोणी कोणाशी बोलत नाहीं. याचें कारण असें आहे की, त्या गोष्टी पुरातन जनरूढीविरुद्ध आहेत. सर्व भयांमध्ये लोकापवादाचें भय मोठे प्रबल. यापुढें सुधारणेचा झेडा लावणाऱ्या महावीरांच्या कंबरा बसतात. असे जरी आहे, तरी ज्या गोष्टींपासून सतत नुकसान होत आहे असें वाटतें, अशा, कोणीतरी (भीत भीत का होईना) लोकांच्या विचारापुढे आणिल्याच पाहिजेत. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हे चार वर्ण फार पुरातन आहेत याबद्दल कोणासही सशय येणार नाही. या चार वर्णांचा परस्परंशी अन्नोदकव्यवहार होत असे; इतकेंच नाही, तर ब्राह्मणांनी क्षत्रिय कुलांतील मुली करणें सशास्त्र असल्याबद्दल ग्रंथातरी अनेक आधार सापडतील. तथापि प्रकृत प्रसंगी या प्रश्नाशीं आम्हास कांही एक करावयाचे नाहीं. याचा येथें स्फुट उल्लेख केला, याचें कारण इतकेंच की, ज्या वर्णांचा अलीकडे अन्न व्यवहार देखील बंद झाला, त्या वर्णांमध्ये पूर्वी परस्पर विवाहसुद्धा होत असत. पण कालगत्या अनेक कारणानीं या चार वर्णांचा हरएक प्रकारचा संबंध अलीकडे तुटला, व तो न होण्याविषयीं निषेधपर वाक्ये धर्मशास्त्रात किंवा इतर ठिकाणीं सांपडतील. असो; झालें तें झाले. याबद्दल आमचे काही म्हणणें नाही. पण देशस्थ, कोंकणस्थ आणि कऱ्हाडे यांच्यामध्ये अन्नव्यवहारादि सर्व गोष्टी चालू असतां विवाहनिषेध कसा झाला हा प्रश्न मोठा विचारार्ह आहे. या निषेधास कोठें शास्त्रातरीं आधार सांपडेल असे आम्हास वाटत नाहीं. कोणाच्या कोठें कांहीं पाहाण्यांत आला असल्यास त्यांनीं वृथा करून आम्हास कळवावा. कसेंही असो, हा निषेध दिवसेंदिवस फारच अहितकारक होत आहे ही गोष्ट कोणाही निःपक्षपाती विचारी मनुष्याच्या लक्षात आल्याखेरीज राहाणार नाही. देशस्थ, कोंकणस्थ आणि कऱ्हाडे यांच्यामध्ये परस्पर विवाहाची चाल पडल्यास अनेक प्रकारें हित होणार आहे. देशस्थ आणि कऱ्हाडे यांच्यांत कोठे कोठें लग्न होतात, व त्यांबद्दल कोणी कोणास दोष देत नाही; असे असता देशस्थ, कोंक-

णस्थ आणि कऱ्हाडे यांचेच या बाबर्दीत कां पट्टं नये? हें मिथ्या बंड मोडून जाऊन या तिन्ही वर्गांचा परस्परांशीं लग्नसंस्कार होण्यास खुला रस्ता पडावा असें पुष्कळांच्या मनांत आहे. पण पाहोवें तों धीर धरून लोकांपुढें असें स्पष्ट म्हणून दाखविण्यास कोणीच हिथ्या करीत नाही, ही मोठी दुःखाची गोष्ट होय !

‘ ज्याला मुलगी झाली, तो पापी ’ असा कित्येक लोकांत समज आहे, तो अगर्दीच भ्रांतिमूलक आहे असें आमच्यानें म्हणवत नाहीं, कारण, बालविवाहाची चाल अजून सर्वत्र अमलात असल्यामुळे वधूवरांची गांठ बांधणें सर्वथैव उभयतांच्या मातापितरावर अवलंबून असतें. असें असल्यामुळे ज्या मनुष्यास ईश्वरकृपेनें आपल्या पदरी पडलेल्या मनुष्याचें कल्याण करणे आपलें कर्तव्यकर्म आहे असें वाटते, अशाला मुलगी होणे म्हणजे पाप नव्हे तर काय? पाप पाप तें करतें काय? पापी मनुष्याला ते सुख होऊं देत नाही. अमुक एका व्यक्तीचे बॅरेवाईट झाल्याबद्दल माझ्यावर जबाबदारी आहे, असें मानणाऱ्यास मुलगी चागल्या ठिकाणीं पडून नांदूं लागेपर्यंत केवढी टोंचणी असते, हें येथें विशेष व्यक्त करण्याची गरज नाहीं. कऱ्हाड्यांची जात थोडी; यामुळे परस्परांना योग्य अशीं स्थळें मिळण्याची त्यांच्यांत फारच मारमार पडते. देशपरत्वे कालमानानें कोंकणस्थ, देशस्थ व कऱ्हाडे यांना कित्येक गुण एकमेकापासून शिकण्यासारखे व कित्येक अवगुण एकमेकाकडे पाहून टाकण्यासारखे आले आहेत. ही गोष्ट तडीस जाण्यास या तीन वर्गांचा परस्पर लग्नसंबंधच सुरू झाला पाहिजे. परोपकार, दातृत्व, औदार्य या गुणांत कोंकणस्थांना देशस्थांचें अनुकरण करणें थोडेंसें अवश्य आहे असें म्हटल्यास फारसा बाध येईल असें वाटत नाही. देशस्थांनाही कोंकणस्थांपासून स्वच्छपणा, उद्योगीपणा, धाडसपणा, मितव्यय वगैरे गुण घेण्यास वाईट वाटूं नये. कऱ्हाडे साधारणपणे दोघाच्यामध्ये पडतील असे वाटतें. तथापि दोघांनाही कऱ्हाड्यांची टापटीप शिकणे जरूर आहे. तीन वर्गांचा लग्नसंबंध होत नसल्यामुळे कित्येक वेळीं केवळ अडचणीमुळे विवाहासंबंधानें बद्ध अशीं स्त्रीपुरुषांचीं अगर्दीं विसंगत जोडपीं दृष्टीस पडतात. थोरामोठ्यांच्या रूपसंपन्न कुलीन कन्या निर्द्रव्य, कुरूप, अक्षरशत्रु अशा पुरुषांच्या पदरीं पडाव्या हें किती खेदकारक आहे बरें? पण अशीं उदाहरणें थोडीं आहेत काय? विद्यासंपन्न, रूपसंपन्न, द्रव्यसंपन्न, अशा कुलीन गृहस्थास आईबापांनीं करून दिलेल्या वेड्यावाकड्या बायकांशीं आपलीं आयुष्यें कंठावीं लागत नाहींत काय? त्याप्रमाणेंच रूपवती आणि कुलीन मुली, मूर्ख, रोगग्रस्त आणि निर्धन पुरुषांच्या पदरीं पडल्यामुळे कपाळास बोट लावून प्रारब्धास दोष लाविताना आपण पाहात नाहीं काय ?

अशी स्थिति आपल्या डोळ्यापुढें असून विचार न करितां स्वस्थ बसणें हें आपणांस मोठें दूषणास्पद होय. वधूस अनुरूप वर मिळण्यास ज्यांतून वर पसंत करावयाचा त्यांची संख्या मोठी पाहिजे. अनुरूपत्व फक्त वयाच्या किंवा पैशाच्याच संबधानें पाहावयाचें नाहीं. गुण, रूप, कुल, विद्या, स्वभाव इत्यादि संब-

धानें सुद्धां अनुरूपत्वाचा विचार करणें फार जरूर आहे. यासाठीं कोंकणस्थ, देशस्थ, आणि कऱ्हाडे यांचीं परस्परांशीं जर लग्नें होऊं लागलीं तर केवढी मजा होईल!! एका मुलीचें लग्न करावयाचें असलें तर या तीन वर्गांतील मुलांतून वराची योजना करण्यास सांपडेल; पांचपंचवीस मुलात मनास घेण्याजोगा मुलगा सापडण्याचा जो संभव आहे त्यापेक्षां शेंदोनशेत तो अधिक आहे. असें झाल्याने उभयता स्त्रीपुरुषे सुखी होतील इतकेच नाहीं, तर उभयपक्षां मातापितरें निष्काळजी होतील व मुलाबाळांचें संगोपन चांगल्या रीतीनें होऊन पुढील पिढी सुखी होण्याचा संभव आहे. जसें मूळ तशी नकळ. उभयता मातापितरेंच विद्याशील, सद्गुणी आणि रूपसपन्न असल्यावर दुर्गुणी व कुरूप संतति होण्याचा संभवच नाही. पण अशा प्रकारें स्वतः सुखानें राहून आईबापास आनंद देणारी व देशास भूषणास्पद अशी स्त्रीपुरुषांचीं द्वंद्वें कोंकणस्थ, देशस्थ आणि कऱ्हाडे हे त्रिवर्ग एकत्र केल्याशिवाय फार कोटून सापडणार ?

बरेच दिवसापासून देशस्थांची व कोंकणस्थांची असावी तशी मैत्री जमत नाही. इतिहासावरून कधीं कधीं दोघामध्यें अधिकाराच्या संबंधानें तंटा झाल्याचें आढळून येतें. हे द्वैत मोडून टाकण्याविषयीं श्रीमंत पेशवे यानीं स्वतः कऱ्हाड्यांच्या आणि देशस्थांच्या मुली करून घेऊन खटपट केली होती. त्या वेळचे महाविख्यात पंडित वे. शा. संपन्न रामशास्त्रीबोवा यांचेंही मत तसेंच होतें. दुर्दैवानें पेशव्याचें राज्य फार दिवस राहिलें नाहीं व त्यामुळें हें इष्ट कार्य सिद्धीस गेलें नाहीं, हे फार शोचनीय होय. पण सर्वजण मनावर घेतील तर ही गोष्ट तडीस जाणें अगदीं दुरापास्त आहे, असें आम्हास वाटत नाही.

(२)

मागील निबंधांत या तीन शाखांच्या ब्राह्मणामध्यें लग्नव्यवहार सुरू झाल्यापासून होणाऱ्या फायद्याचें आम्हीं थोडेंसे दिग्दर्शन करून शेवटीं असें सुचविलें आहे कीं, या गोष्टीपासून शरीर दृढ होण्याचाही फार संभव आहे. तो कसा, हें आता सांगितलें पाहिजे. सर्वांच्या पाहाण्यात आहेच कीं, मुलांची प्रकृति, शक्ति, स्वभाव, शरीर व मानसिक रचना ही बहुधा आईबापांच्या प्रमाणेच असतात. ह्यापैकीं काहीं गोष्टी बापाकडून व काहीं आईकडून प्राप्त होतात. ही गोष्ट फार प्राचीन काळापासून सर्वमान्य असल्यामुळें व 'प्रजामनुप्रजायसे' इत्यादि श्रुतिवाक्यांवरून व 'एतत् पाटुकौशिकं शरीरं त्रीणि मातृत्स्त्रीणि पितृतः । अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः । त्वङ्मांसश्चिधराणि मातृतः' इत्यादि गर्भोपनिषदांतील वाक्यावरून निर्विवाद झाली आहे. ह्यावरून उघड आहे कीं, मातापितरास जर काहीं शारीरिक किंवा मानसिक विकार असतील तर ते विकार मुलामध्यें देखील प्रकट होतील. आणखी असा एक निथम आहे कीं, आईबापांपैकीं एकास एखादा विकार असेळ तर तो कदाचित् मुलास प्राप्त होईल किंवा न होईल, परंतु जर तोच विकार दोघा-

मध्येही असेल तर मुलास हटकून प्राप्त झाला असें समजावें. यावरून नवराबाय-कोची एकच प्रकृति नसणे किती आवश्यक आहे हे उघडच आहे; कारण दोघांचीही जर कदाचित् कफप्रकृतिच असेल तर मुलाना जन्मापासून अंतकालपर्यंत खोकला, दमा इत्यादि कफविकार जडून राहतील; दोघांचीही वातुल प्रकृति असल्यास ती मुलांमध्ये फार वृद्धिंगत होईल, व उभयतांत पित्ताधिक्य असल्यास मुलामध्ये पित्तप्रकोप अतोनात होईल. आईबापापैकीं एकालाच जरी मूळव्याध, उन्माद किंवा कुष्ठविकार असला तरी मुलापैकीं एकाला तरी तो बहुधा प्राप्त झाल्यावांचून राहात नाहीच, मग ते विकार जर उभयतांना असतील तर काय दशा होईल तें सागावयासच नको. एकाच घराण्यांतील मनुष्याची प्रकृति बहुधा एकाच तऱ्हेची असते. कारण, ती एकाच मूळपुरुषाची संतति असल्यामुळे व त्यांचे आहार-विहार बहुधा सारखे असल्यामुळे, मूळपुरुषाच्याच प्रकृतीची प्रतिमा कमीजास्त प्रमाणाने सर्वांत उतरली असते. मूळ प्रकृति, मूळ स्वभाव व मूळ रचना याचा वंश-परंपरेनें थोड्याबहुत प्रमाणाने चालू राहण्याचा जो धर्म तो इतका स्थिर आहे की, हजारों पिढ्यांनंतर देखील तो आपले अस्तित्व थोडेसें तरी प्रकट केल्यावांचून राहात नाही. ही गोष्ट आमच्या विचारी पूर्वजांच्या मनांत पूर्णपणें बिंबली असल्यामुळे मनुयाज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारानीं लग्नाच्या बाबतींत पहिला नियम असा कठीण घालून ठेविला आहे की, ज्या स्त्रीशी आपल्यास विवाह करावयाचा असेल ती आपल्याशी सपिंड नसावी. एवढेच नव्हे, तर ती आपल्या गोत्रांतील देखील नसावी. लग्नसंबंधी इतर नियम कदाचित् टाकतां येतील, व कारणपरत्वे लोक त्याचा अतिक्रम करितात, परंतु हा नियम अगदींच अलंघनीय आहे. पाहा, काहीं काही प्रसंगां आपल्या पूर्वजांचे विचार किती सूक्ष्म असत ! जामदग्न्य गोत्राचे जितके लोक आज आढळतात, तितके सारे जमदग्निऋषींच्या वंशांतले. हे द्वापार-युगांतील नाते जें आजपर्यंत आम्ही पाळीत आलों आहों, तें या मन्वादिकांच्या कठीण वाक्यामुळे; व हा कठीण नियम वर सांगितलेल्या शारीरसंबंधी माहितीनें त्यांनी स्थापिला आहे. असो, यावरून एवढेच लक्षांत आणिलें पाहिजे की, एकाच प्रकृतीच्या वधूवराची गाठ जेणेकरून पडणार नाही, असा एक उपाय आपल्या समजुतीप्रमाणें पुरातन ऋषींनीं शोधून काढिला. ज्याप्रमाणें एकाच घराण्यांतील मनुष्याची प्रकृति बहुधा सारखी असते, त्याचप्रमाणें एकाच देशातील लोकांच्या प्रकृतींमध्ये हवा, पाणी, आहार, विहार यांच्या समानतेमुळे एक-प्रकारचे साम्य असते. उदाहरणार्थ, उत्तर हिंदुस्थानांतील भय्ये लोकांची तापट पित्तप्रकृति, कोंकणांतील लोकांची सौम्य व कफप्रकृति, मावळे लोकांची तीव्र व वातप्रकृति इ०. तसेच रत्नागिरीकडच्या कोंकणस्थांच्या बायकांचे घारे, पिचके व अधू डोळे, कारवार प्रातांतील फिकट चेहेरे, इत्यादि उदाहरणांवरून तद्देशीय लोकांचे प्रकृतिवैलक्षण्य सिद्ध होतें. हे जर खरे आहे, तर एकाच कुलांतील लोकांचा परस्पर विवाह झाल्याने एकाच प्रकृतीचा मेळ मिळून ती प्रकृति संतती-

मध्ये विकोपास जाण्याचा जसा संभव असतो, तसेंच एकाच प्रातांतील किंवा हवें-
तील लोकाचे विवाहसंबंध शेंकडों वर्षे तेथल्यातेथेच घडू लागतील तर तद्देशीय
लोकाचे वर सागितलेले दोष किंवा विकार कधीही निर्मूळ व्हावयाचे नाहीत.
एवढेच नव्हे, तर ते उत्तरोत्तर वंशपरंपरेनें फार जोराने वृद्धिंगत होत जातील;
परंतु जर तेच विवाहसंबंध दुसऱ्या हवेतील लोकाशी होऊं लागले तर त्या त्या
लोकाचे विचार व दोष वंशपरंपरेनें चालू न होता कालातरानें त्याचा समूळ नाश
होण्याचा संभव आहे. वर सागितलेले दोष तद्देशीय लोकाचीच वतनें का होऊन
राहिलीं आहेत, याचें कारण विचारांती सहज लक्षात येण्याजोगें आहे. कल्पना करा
की, काही शतकापूर्वी ब्राह्मणाची एक टोळी कोंकणात जाऊन राहिली, व दुसऱ्या
एका टोळीनें देशांत वसाहत केली. त्या वेळेस दळणवळण कमी असल्यामुळे
कोंकणातील लोकास देशात किंवा देशावरील लोकास कोंकणात आपल्या मुली
देणें फार कठीण पडे, व त्यामुळे त्यांना आपापल्यातच विवाहसंबंध करावे लागले.
आतां जे लोक कोंकणांत जाऊन राहिले, त्याचे प्रकृतीवर काहीं पिढ्या लोटल्या-
वर तेथील हवा, पाणी, आहारविहार इत्यादिकांचा संस्कार घडून आला.

डाळ्याचा अधूपणा हा ह्या परिणामापैकीच. विवाहसंबंध तेथल्यातेथेच
होत असल्यामुळे, उभयस्त्रीपुरुषामध्यें एकाच दोषाचा योग जमून येऊन तो दोष
वंशपरंपरेनें वाढत जाऊन काहीं पिढ्यांनंतर सर्वत्र कायम होऊन राहिला. असो;
याप्रमाणें निरनिराळ्या प्रातांतील लोकांच्या प्रकृतीमध्ये काहीतरी एक विशेष प्रकार
कायमचाच होऊन राहतो. दुसरी एक गोष्ट लक्षात ठेवण्याजोगी ही कीं, जरी
एका प्रदेशांतील लोक पुढें काहीं दिवसांनी दुसऱ्या प्रदेशांत गेले तरी पुष्कळ
वर्षांपर्यंत त्यांच्या मूळ प्रकृतीत फरक पडत नाही. कोंकणस्थ, देशस्थ व कऱ्हाडे
असे जे तीन भेद आहेत, ते मूळारभी देशपरत्वे झाले आहेत, हे त्यांच्या नावा-
वरून उघड आहे. आरंभी हे लोक ज्या ज्या प्रदेशात होते, त्या त्या प्रदेशाच्या
स्थितीप्रमाणे त्यांच्या प्रकृतीमध्ये फरक उत्पन्न झाले आहेत, व जरी साप्रत ह्या
तिन्ही शाखा एकाच प्रदेशात पसरल्या आहेत, तरी बारकाईनें पाहूं गेल्यास मूळार-
भी देशपरत्वे उत्पन्न झालेला भेद त्यांजमध्ये अद्यापि आढळतो; व ह्या दृश्य
भेदावरून त्यांच्या प्रकृतीमध्येही मूळारभी हवापाणी इत्यादि कारणांनी उत्पन्न
झालेला भेद अजून कायम असावा असें अनुमान करण्यास जागा आहे. हें जर
खरें आहे, तर ह्या तिन्ही शाखांमध्ये परस्परविवाहसंबंध सुरू केल्याने शरीर सुदृढ
होण्याचा किती संभव आहे बरें ? ही गोष्ट वाचकांच्या मनावर चांगली ठसण्या-
करिता आम्ही येथें दोन प्रकारची उदाहरणे देतो. युरोपियन व हिंदु यांच्या
शरीरसंबंधापासून जी युरेशियन नावाची प्रजा झाली आहे, ती मूळच्या दोन्ही
जातीपेक्षां फार सुदृढ आहे असें पुष्कळांचे म्हणणें आहे. ह्या उदाहरणावरून
भिन्नजातीय म्हणजे भिन्नप्रकृतीच्या लोकांच्या संसर्गापासून जी संतति होते, ती
सुदृढ असते, हें सिद्ध होतें. आतां याच्या उलट ज्या लोकामध्यें जवळच्या आता-

प्रमाणे शरीरसंबंध करण्याची चाल आहे, त्या लोकांमध्ये अशा संबंधापासून जी संतति होते, ती फार क्षीण व अनेक घोर व्याधीनी ग्रस्त असते, असे मुंबईतील पारशी लोकांमध्ये व मुसलमानांमध्ये पाहण्यांत आले आहे. मुंबईतील काहीं श्रीमान् पारशी घराण्यांमध्ये भाचाला किंवा पुतण्याला देखील मुलगी देण्याचा परिपाठ आहे; व अशा ठिकाणी जी संतति झाली आहे, तिजमध्ये मज्जातंतूंचे किंवा मेंदूचे विकार फार विलक्षण तऱ्हेचे नेहमी आढळण्यात येतात, असे आमच्या एका स्नेही डॉक्टरांचे म्हणणे आहे. तसेंच शहरांतल्या शहरातच जे शरीरसंबंध घडतात, त्यापासूनही क्षीणसंतति होते असे पाहण्यात आहे. याचें कारण असें की, शहरातील हवा, पाणी, आहारविहार काही निराळ्याच तऱ्हेचे असतात, म्हणून तेथील लोकांची प्रकृति खेड्यातील लोकांच्या प्रकृतीपासून भिन्न तऱ्हेची असते (म्हणजे शहरांतील लोकांच्या प्रकृतीमध्ये कांही तऱ्हेचे दोष उत्पन्न झाले असतात). हे दोष नेहमी तेथल्यातेथेच विवाहसंबंध केल्याने संततीमध्ये वृद्धि पावतात. ह्या दोन्ही प्रकारच्या उदाहरणांवरून वरील नियम सिद्ध होतो, तो हा की, दोन्ही बंधूवरांमध्ये एकच विकार बीजदशेमध्ये किंवा परिपक्वदशेमध्ये असल्यास तो वंशपरंपरेने चालण्याचा फारच संभव आहे, व तोच विकार एकांत असून दुसरा त्याजपासून मुक्त असून सुटढ असल्यास त्याची संतति बहुधा निर्दोष असते. ह्या नियमाचा उपयोग करून घेणे असल्यास कोंकणस्थ, देशस्थ व कऱ्हाडे यांच्यामध्ये परस्परविवाहसंबंध सुरू करण्याविषयी सर्वांनी झटावे असे आमच्या देशबाधवांस आम्ही नम्रतेने सुचवितों.

* बहिष्कार

या शब्दाचा सामान्य अर्थ सर्वास माहीत आहेच. सर्व लोकांच्या रिवाजा-विरुद्ध कोणी वर्तन केल्यास त्याला लोकांतून काढून टाकण्याची रीत फार पुरातन काळापासून सुरू आहे. एखादा कुजका पदार्थ जसा आपण टाकून देतो, तद्वतच लोकांनी आपल्या मंडळींतून दुर्वर्तन करणाऱ्यास घालविलें पाहिजे. “समान-शीलव्यसनेषु सख्यं” या न्यायाने दोन विरुद्ध वस्तूंचा कधीही समागम व्हाव-याचा नाही. त्या दोन निरनिराळ्याच ठेविल्या पाहिजेत. नाहीतर एकही सुर-ळीत चालणार नाही. व हाच विचार मनात आणून आपल्या शास्त्रकर्त्यांनी कित्येक पातकांस सदर शिक्षा सांगितली आहे. इंग्लिश ग्रंथकारानी शिक्षेचे दैविक, लौकिक व राजकीय असे जे त्रिविध भेद सांगितले आहेत, त्यांतील मधल्यात याचा अंतर्भाव होतो. यास जे धर्माचें रूप आलें आहे तें केवळ आनुषंगिक

होय. आपल्यांत धर्म व कायदा यांचें धर्मग्रंथांतून एकाच ठिकाणीं विवेचन झाल्याकारणानें आपली अशी समजूत झाली आहे. धर्मशास्त्राचें कोणतेंही पुस्तक घ्या, त्यांत मौंजीबंधनादि संस्कारही यावयाचे, व त्यांचेबरोबर राजानें प्रजेस कसे वागवावें हेंही पण सांगितलें असत. एकादशीचा उपास मोडल्यास प्रायश्चित्त, व चोरी केल्यास दंड हे एकाच ठिकाणीं गांवले असतात. हल्लीं जसे लोकांच्या व राजाच्या हक्कांचें फारखत होऊन प्रत्येकाच्या हक्कांचें नियमन झालें आहे, तसा प्रकार पूर्वीं नसून राजा म्हणजे देवाचा अंश, व प्रजा म्हणजे त्याचीं लेंकरें असें समजत असत. “ स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ” हाच प्रकार पूर्वींचे ग्रंथांतून आढळतो व अद्यापिही सरकार आपलें मायबाप होय अशा तऱ्हेचे उद्गार ऐकूं येतात ! अशा स्थितीत शिक्षेचें त्रिविधत्व कोणाच्याही मनात येणार नाही. खरेंच आहे; रामचंद्र राजासारखा राज्यकर्ता असल्यावर ‘मात्राचार्ता’ किंवा ‘हेवस कार्पस्’ कशास पाहिजे. पण अशी स्थिति सदोदित कोठून असणार ? खुद्द रामचंद्रासही “ ते हि नो दिवसाः गताः ” असा अनुभव मिळाला, मग आपली काय कथा ?

असो; तर ज्याप्रमाणें राज्यकर्त्यांत अंतर पडलें आहे, त्याचप्रमाणें पूर्वींचे राजनीतीतही फेरफार झाला पाहिजेच. “ राजा कालस्य कारणम् ”. भाडून घेतल्याखेरीज आता कांहीएक मिळणार नाही. अशा वेळेस लौकिक व राजकीय कामाचा व शिक्षेचा निरनिराळा भेद होणें अवश्य होय व तसें हल्लीं होतही चालले आहे. आता परधर्मी लोक या देशावर राज्य करूं लागल्यापासून आमचे धर्मसंबंधी तंटे त्याजकडे जाण्याचा संभवच राहिला नाही, व अशाने जरी पेशवाईतील रामशास्त्रीबुवाप्रमाणेच आता कलेक्टर व जज यांचा अधिकार आहे, तथापि आपण अजून लग्न नोंदवीत नाही किंवा घटस्फोटांचे याज्ञिकत्व करण्यास जज्जसाहेवास निमंत्रणही करीत नाहीं ! सरकारास या कार्यांत मुर्छीच बोलतां येत नसल्याकारणानें, त्यास ते आमच्याकडे ठेवणे भाग पडलें आहे, व त्या संबंधाने जे जे तंटे उपास्थित होतील त्याचा निकालही आपणच केला पाहिजे. व निकाल झाल्यावर तो अमलात आणण्यास शिक्षाही आपणच केली पाहिजे. यावरून एवढें ध्यानात येईल की पूर्वींचे राजे सधर्मी असल्याकारणानें धर्म व व्यवहार यासंबंधानें जो त्याजकडे अधिकार होता, तो परधर्मी राजे झाल्याबरोबर निराळा करावा लागला. व धर्मसंबंधी अधिकार व निर्णय लोकांकडे व इतर व्यवहारनिर्णय राजाकडे असा सहजच विभाग झाला. शिक्षेचाही प्रकार त्याचप्रमाणें होय. संस्कृत ग्रंथांत बहिष्कार शब्दाचा प्रयोग राजानें अपराध्यास नगराबाहेर घालविणें या अर्थांही केलेला आढळतो; पण आतां जेव्हां वर लिहिलेला अधिकारविभाग झाला, तेव्हा राजानें व्यावहारिक अपराधाबाबद केलेल्या बहिष्कारास “ काळेपाणी ” असे नूतन नाव मिळालें, व बहिष्कार शब्दाचा उपयोग धर्मप्रकरणीं होऊं लागला. वस्तुतः पाहता बहिष्कार व काळेपाणी यात काहीं

एक भेद नाही. एक लोककृत व दुसरा राजकृत, एवढा यांत विशेष आहे. राजा ज्याप्रमाणें एखाद्यास हद्दपार करितो, त्याचप्रमाणें आपण धर्मविरुद्ध वर्तन करणा-
रास बहिष्कृत करितों. तिकडे ज्याप्रमाणें दंड होतो, त्याचप्रमाणें इकडे प्रायश्चित्त
ध्यावें लागतें. सारांश, एका देहांतशासनाखेरीज आपणांस राजाप्रमाणेंच शिक्षा कर-
ण्याचा सर्व अधिकार आहे. भेद इतकाच कीं एक व्यवहारपरीक्षक व दुसरा धर्मपरीक्षक.

येथपर्यंत या शब्दाचे अर्थसंकोचाची व तदनुसार लोक व राजा यांच्या
अधिकारविभागाची हकीकत झाली; आता यांच्या बलाबलाविषयीं थोडासा
विचार करावयाचा. एका आंग्लभौम महापंडितानें असें लिहिलें आहे कीं, राज-
कीय शिक्षेपेक्षा लौकिक शिक्षेचें आपणांस भय जास्त असतें, व राजकीय शिक्षा
लौकिक शिक्षेस अनुसरून नसल्यास तीपासून कधीही फायदा होणार नाही. फार
काय, पण राजकीय शिक्षा लोकमतावरच अवलंबून असते. आपण जर उद्या
तुरुंगांत जाणे ही शिक्षा असें मानिले नाही, तर राजकीय शिक्षेचा उपयोग काय
होणार? लोक आनंदानेच तुरुंगात जातील. याचा प्रत्यय धेण्यास फार लांब
जावयास नको. गेल्या दुष्काळात तुरुंगात जाणे ही शिक्षा असें कित्येकास वाटले?
आज सरकारनें पुनर्विवाह सशास्त्र आहे व त्यापासून झालेली संततिही विभागार्ह
आहे असा कायदा केला आहे, तरी आजपर्यंत किती पुनर्विवाह झाले आहेत?
राजाज्ञेचा प्रभाव लोकमतावर कधींच पडत नाही, व जोंपर्यंत कायदा व धर्म
यांचें एकमत आहे, तोपर्यंतच दोहोंत जीव आहे. हे परस्परविरुद्ध असले तर
प्राबल्य धर्माचें म्हणजे आपलेकडे लौकिक शिक्षेचेंच असतें.

वर बहिष्कार म्हणजे काय, व त्यास हल्लींचा अर्थ कशांनें प्राप्त झाला,
याचें विवेचन केलें आहे; व तसेंच परकी लोकांचे राज्य या देशात झाल्यापासून
पूर्वी जसा सर्व अपराधाचा अतर्भाव धर्मांत होत असे, तसा न होता धर्म व राज-
कीय प्रकरणे हीं निरनिराळीं होऊन धर्मसंबंधीं अपराधाबद्दल प्रायश्चित्त किंवा बहि-
ष्काररूपी लौकिक शिक्षेचा, आणि राजकीय अपराधाबद्दल दंड, कैद, काळेपाणी,
फांशी वगैरे राजकीय शिक्षेचा कसा उपयोग होऊं लागला, व राजकीय शिक्षे-
पेक्षां लौकिक शिक्षेची किती मातबरी आहे हेंही पण सांगितलें आहे. आतां हा
जो लोकांचे हातांत येवढी जबर शिक्षा देण्याचा अधिकार आहे, त्याचा कोणत्या
तऱ्हेनें उपयोग करितां येईल याविषयीं विवेचन करावयाचें.

जुन्या लोकांचे इतिहासावरून एक असा स्पष्ट सिद्धांत करितां येतो कीं,
हल्लीं जें शिक्षेचें त्रिविधत्व आढळतें हें पूर्वापर नव्हे, तर कालेंकरून जसजशी
सुधारणा होत चालली तसतसेच शिक्षेचे प्रकार होत गेले. फार प्राचीन काळी
जेव्हां राजास सर्व अधिकार असत, तेव्हां असली कांहीं भानगड नव्हती. आपल्या-
कडेही त्याप्रमाणेंच असे. शूद्रानें वेदपठन केलें असतां शिक्षा राजानेंच द्यावी.
चोरासही त्यानेंच दंड करावा. असो; पण उत्तरोत्तर धर्माची सर्वव्यापकता जस-
जशी कमी होत गेली, तसतसा धर्माध्यक्षांचा अधिकारही काढून घ्यावा लागला,

व तो राजाकडे न जातां लोकांकडे आला. अशा तऱ्हेने राजा, धर्माध्यक्ष व लोक असे तीन निरनिराळे विभाग होऊन त्याप्रमाणेच शिक्षेचेही झाले. इंग्लंडात पूर्वी पाद्री लोकांचा हात ज्यांत त्यांत असे; म्हणजे जातकादि संस्कारांपासून तो अगदी वारसाची निवडानिवड होईपर्यंत. पण पुढे विद्येचा प्रसार अधिकाधिक होऊन त्यांतील बहुतेक अधिकार दिवाणी कोडतास प्राप्त झाले. कांहीं देशांत तर पाद्रीसाहेबांकडे आतां कांहींएक उरलें नाही. म्हणजे लंग्रेमुद्धां जमिनीच्या देवधेवीप्रमाणे रजिस्टर करितात; व हाच प्रकार उत्तरोत्तर इकडेही घडून येण्याचीं चिन्हे दृष्टीस पडूं लागली आहेत. पूर्वीचा प्रकार म्हटला म्हणजे वर सांगितल्याप्रमाणे “निषेकाद्याः स्मशानांतास्तेषां वै मंत्रतः क्रियाः” हा होय. पण या पौडश संस्कारांपैकीं इल्लीं आपण कितीसे पाळतो ? लग्न, मुंजखेरीजकरून बाकी बहुतेक नाहीसे झाले म्हटल्यास चालेल, व जे राहिले आहेत त्यांची मुद्धा कालेकरून तीच व्यवस्था होण्याचा रंग दिसत आहे. आणि इतिहासावरून पाहता या धर्मसंस्कारांच्या न्हासाची प्रवृत्ति बंद करणे प्रायः दुरापास्तच होय. एकदा लोकांचे मनाचा कल कळल्यावर त्याचा प्रतिरोध करणारानें “क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिसुखं प्रतीपयेत्” या कालिदासोक्तीचें मनन करून मग आपल्या कार्यास लागणें उचित होय !

येवढ्यावरून इतकें लक्षात येण्याजोगे आहे कीं, इतर राष्ट्रांप्रमाणेच आपल्या राष्ट्राची या कलियुगांत धर्मविमुखता दृष्टीस पडूं लागली आहे, व हिचा प्रतिरोध करणेंही कठीण आहे. तर अशा वेळेस राजकीय व धार्मिक शिक्षाचें फारखत होतांना ज्याप्रमाणे बहिष्काराचें काळोपाणी हें राजकीय रूपांतर झालें, त्याप्रमाणेच आता व्यावहारिक रूपांतर होण्याचे वेळी आपले हातात जो शिक्षा देण्याचा अधिकार आहे तो घालवूं न देण्याविषयी आपण जपलें पाहिजे व अशीच गोष्ट इतर राष्ट्रांतही घडून आली आहे. या बहिष्काराचें व्यावहारिक रूपांतर इल्लीं जो ऐलंडात दंगा चालला आहे त्यात दृष्टीस पडते. लंडलीग म्हणून जी सभा आहे त्या सभेनें पुष्कळ जमीनदार लोकांस बहिष्कृत केले आहेत. तर अशाच तऱ्हेनें जर या वेळेस आपल्याकडे बहिष्काराचें रूपांतर होईल तर त्यापासून पुष्कळ फायदा होईल. दारू पिणारास बहिष्कृत करावें आणि भांग, गांजा, अफू यथास्थित सुरू राखावी काय ? अशा लोकासही कां बहिष्कृत करूं नये ? धर्माची संबब इतर सर्व बाबतींत जर इतकी जारीनें सुरू नाहीं तर येथे मात्र तिचा एवढा प्रभाव कां ? एकदां बहिष्कारास व्यावहारिक शिक्षेचें पुरें रूप मिळाल्यास त्यापासून आपणांस किती उपयोग करून घेतां येईल ? आज ज्या हजारों गोष्टी धर्माविरुद्ध नसतांही आपल्या नुकसानीस कारण होतात त्यांचा चांगला बंदोबस्त करितां येईल, व असें करणें म्हणजे फारसें कठीण आहेसें नाहीं. बहिष्कारास राजकीय रूप तर प्राप्त झालेंच; मग त्यास व्यावहारिक कां देऊं नये हें आम्हांस समजत नाहीं.

दत्तकाची आवश्यकता

मागें ' न्हाणवली'वर लिहितांना आम्हीं असें लिहिलें होतें, कीं आमच्यांत धर्माच्या नांवावर पुष्कळ निरर्थक व अहितकारक चाली आल्या आहेत. मुसलमानी राज्यात धर्मशास्त्राचा बराच लोप होऊन, त्यानंतर स्वभावतःच ब्राह्मणी राज्यात त्यास फाजील महत्त्व प्राप्त झाल्यामुळे, मूळ धर्मग्रंथात ज्या संस्काराचें किंवा चालीचें विशेष प्राबल्य नव्हते, ज्या तत्कालीन लोक धर्मदृष्ट्या आवश्यक, अनित्य किंवा वैकल्पिक मानीत असत, ते संस्कार किंवा त्या चाली आमच्या अज्ञानानें व फाजील भक्तीने प्रचारांत येऊन “ शास्त्रात् रूढिर्बलीयसी ” या न्यायानें आज आमच्या हाडास खिळून राहिल्या आहेत. अशा रीतीभातीसंबंधाने शातपणानें विचार करण्यास किती लोक आज तयार आहेत, याचा प्रत्यय आमच्या वाचकास मागेच येऊन चुकला आहे. तथापि अशा गोष्टींबद्दल चर्चा कोणी तरी प्रथमतः सुरू केली पाहिजे, हे मनात आणून आज शिरोलेखात नमूद केलेल्या संस्काराविषयीं दोन शब्द लिहिण्याचे आम्ही योजिले आहे. गर्भाधान-संस्कार शास्त्रदृष्ट्या अनवश्यक आहे, याबद्दल आता मेषस्वभावाच्या किंवा दुराग्रही काही लोकावाचून कोणास संशय राहिला असेल, असे वाटत नाही. तथापि व्यवहारदृष्ट्या सदर संस्कारावर निरर्थकता व ग्राम्यता, या दोन दोषाखेरीज (हे दोष लहान आहेत असे नाही) दुसरा कोणताही आरोप ठेविता येत नाही. पण दत्तकसंस्काराचा प्रकार थाहून फारच निराळा आहे. धर्मदृष्ट्या पुत्राचे अभावीं त्याचे काम करण्यास अनेक उपाय असता, त्यापैकी हा ' आर्किटग ' पुत्राचाच उपाय प्रचारात आल्यामुळे, कित्येक लोकांच्या कष्टाजित द्रव्याचा अपव्यय होऊन, आज आपल्या देशाचे कोट्यवधि रुपयाचे नुकसान होत आहे. यावरून असें कोणी समजू नये, की ज्या वेळेस हा प्रघात सर्वत्र सुरू झाला, त्या वेळेस व्यवहारदृष्ट्या त्याची काहीच जरूरी नव्हती. कोणत्याही राष्ट्राचा इतिहास ज्यानें अगदीं वरवर वाचिला असेल, त्यास सुद्धा असे कळून येईल कीं, धर्मात न सांगितलेला, म्हणजे शुद्ध व्यावहारिक किंवा अर्धवट धर्मोक्त प्रघात, एकाद्या काळीं प्रचारांत येण्यास त्या त्या वेळची स्थिति बरीच कारणीभूत असते. पण एकदां कांहीं कारणांनीं एखादी गोष्ट प्रचारात आली, म्हणजे कालांतरानें तीं कारणे नाहींशीं झालीं तरीही तो प्रचार सोडवत नाही. मनुष्याच्या मनाची प्रवृत्ति स्वभावतःच होतील तितके कमी श्रम करण्याकडे असल्यामुळे, एखादा चालू प्रघात आपल्यास किती हितकारक आहे, व त्याचे जागीं दुसरा एखादा प्रघात सुरू केल्यास त्यापासून आपणास काय काय फायदे किंवा तोटे होतील, याचा पूर्ण विचार करण्यास जे मानसिक श्रम लागतात, ते करण्यास फारच थोडे लोक तयार असतात व या थोड्यापैकीही, विचारातीं एखादा नवा प्रघात पूर्वीच्यापेक्षां हितकारक ठरल्यावरही,—

‘ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ’

असे म्हणून तो नवीन प्रघात अमलांत आणणारा एखादा सांपडल्यास विरळा ! सुधारणेस जेवढे म्हणून अडथळे आले आहेत तेवढे याच कारणामुळे होत. तथापि मनुष्याच्या मनाच्या या स्वाभाविक प्रवृत्तीपासून काहींच फायदा होत नाही असे म्हणता येत नाही. अशी प्रवृत्ति नसती तर प्रतिदिवशी हजारों नवे फेरफार होऊन समाजाचे तारू कोणीकडे भडकले असते तें सांगवत नाही. शिवाय, विचार केल्या-वांचून जुनी म्हणूनच एखाद्या रीतीभातीस चिकटून राहण्याची जरी मनुष्याची प्रवृत्ति असली, तथापि त्याच्यांत विचारशक्तीचे प्राबल्य असल्यामुळे इळूइळू काही जुन्या रीति वाईट अशी त्याची खात्री करण्यास कठिण पडत नाही. असे नसते तर आज ज्या शेंकडा नवीन रीति प्रचारांत येत आहेत त्या कधीही आल्या नसत्या. असो; एवढी प्रस्तावना करण्याचे कारण इतकेच की, शिरोलेखात सांगितलेल्या विषयाच्या संबंधाने चर्चा करतेवेळीं तरी (अमलात आणण्याची गोष्ट निराळी) हा प्रघात आज बरेच दिवस सुरू आहे, यापेक्षा जास्त काही आहे की काय, याचा विचार प्रत्येकाने शातपणे करावा. आमच्या मते तर हा संस्कार धर्माप्रमाणे आवश्यक नसून, तो ज्या वेळीं प्रचारात आला, त्या वेळीं त्यापासून जे फायदे होत होते, त्यापैकी हल्लीं एकही फायदा होत नसून, उलट त्याच्या शतपट नुकसान होत आहे. ह्यापैकी पहिला भाग धर्मशास्त्राचा, व दुसरा केवळ अर्थशास्त्राचाच आहे, असे म्हटले असता चालेल. दत्तकसंस्कार धर्मदृष्ट्या अनवश्यक ठरल्यावर, मग त्यापासून व्यवहारात काय काय तोटे होतात, हे सांगण्यास व समजण्यास ठीक पडेल. करिता प्रथमतः धर्मशास्त्रदृष्ट्या, याचा विचार करून, नंतर त्याच्या व्यावहारिक स्वरूपाकडे वळण्याचा आमचा इरादा आहे. शिवाय असे केल्याने धर्मसंस्काराचा व्यवहारदृष्ट्या एकदम विचार झाल्यास वृथाधर्माभिमान्याची जी फुकट काव काव होते, तीही बंद पडेल. धर्मसंबंधाने केवळ युक्तीने विचार करण्याचा प्रघात कोणत्याही देशात अजून पूर्णपणे पडला नाही, तथापि “स्वधर्मे निधनं श्रेयः” या गीतावाक्यास मान डोलविणाऱ्या व कणाद, सांख्य व वेदान्त या मतांचा एकाच जातीखाली समावेश करणाऱ्या लोकामध्ये तो जितका असावा तितका नाही याचे आश्चर्य वाटते. आम्हास आज जी उपोद्धातात एवढी जागा आडवावी लागली त्याचे तरी बीज हेंच. असो, लिहिता लिहिता हा लेख बराच लांबल्यामुळे आज दत्तकसंस्काराच्या ज्या भागाविषयीं आम्हीं लिहिण्याचे योजिले होते, तो तसाच राहिला; करितां पुढील खेपेस या संस्काराच्या आवश्यकतेसंबंधाने धर्मशास्त्रकारांचे काय म्हणणे आहे ते, व एकंदर धर्मदृष्ट्या या संस्कारास किती महत्त्व येते तें सांगून, नंतर त्यात अर्थशास्त्राचे संबंधाने जे दोन चार मोठ्या महत्त्वाचे विचारार्ह मुद्दे आहेत त्यांकडे वळू. या विषयावरील सर्व विचार एका निबंधांत नाहीत हें वरील प्रस्तावावरून वाचकांच्या लक्षात आलेच असेल.

(२)

मागील अंकीं असल्या विषयाचे संबंधाने लोकांच्या साधारण समजूती

कशा प्रकारच्या आहेत, व त्या सोडण्यास ते कितपत तयार असतात, वगैरे गोष्टींचें निरूपण केले. आता मागे सांगितल्याप्रमाणें या विषयाच्या पहिल्या भागाकडे, म्हणजे धर्मदृष्ट्या या संस्काराची कितपत जरूर आहे, या मुद्द्याकडे वळूं.

धर्मशास्त्रावरील जुने ग्रंथ पाहिले तर असें दिसून येईल, कीं फार प्राचीन काळीं दत्तकाचा प्रघात हल्लीं आहे तितक्या जारीनें सुरू नव्हता; किंबहुना त्यास मुळीच महत्त्व नव्हतें, असें म्हटलें असता चालेल. दत्तकावर—हल्लीं जवढे म्हणून उपलब्ध ग्रंथ आहेत तेवढ्या सगळ्यातून दत्तकसंस्काराचें मूळ म्हणून, जीं वचनें दिली आहेत, तीं सर्व स्मृतिग्रंथातून घेतली आहेत. आतां येवढ्यावरून स्मृतिकारांपूर्वी दत्तकसंस्कार नव्हता, असे अनुमान करतां येत नाही हें खरें, तथापि स्मृतिकारापूर्वी या संस्कारास विशेष महत्त्व नव्हतें असें म्हणण्यास कांहीं हरकत दिसत नाही. वेदातून “नापुत्रस्य लोकोऽस्ति” “पुत्रेण लोकान् जयति” “एष वा अनृणो यः पुत्री” वगैरे ‘पुत्रानें स्वर्गप्राप्ति होते,’ ‘पुत्रानें पितरांचें ऋण फिटतें,’ इत्यादि अर्थाची वाक्ये सापडतात. परंतु मनु, याज्ञवल्क्य वगैरे स्मृतींतून ‘अमक्यानें दत्तक घ्यावा,’ ‘अमक्यानें घेऊं नये,’ ‘एकच मुलगा असल्यास दत्तक देऊं नये,’ वगैरे जे नियम आढळतात ते वेदात दिले नाहीत. शिवाय स्मृतिकारानी नापसंत केले असते, असे दत्तक झाल्याची उदाहरणेही वेदांत सापडतात. विश्वामित्राने आपले शंभर पुत्र ह्यात असतांही शुनःशेषास आपला पुत्र केल्याची कथा ऋग्वेदात आहे, व यजुर्वेदांत अत्रि ऋषीनें आपले सर्व मुलगे और्वऋषीस दिल्याचें सांगितले आहे. * सदरहू दोनही उदाहरणे मन्वादि शास्त्रकारांच्या मते अशास्त्र आहेत. मग आमच्या बादशाहिणीच्या नाम दार कोर्टांत खटला येता, तर त्याचा वेस्ट्रप ऋषींनीं काय निकाल केला असता, हे सागावयास नकोच ! कलियुगात औरस पुत्राची जागा भरण्यास दत्तकाखेरीज जसा दुसरा उपाय नाही, तशी पूर्वी स्थिति नव्हती. धर्मग्रंथातून औरस पुत्रासुद्धा एकंदर बारा+ प्रकारचे पुत्र सांगितले आहेत, व कलियुगापूर्वी ते सर्व प्रचारात असत; त्यामुळे हल्लीं इतकी पूर्वी दत्तकावरच झोड पडत नसे, हें स्वाभाविकच आहे. वेदात तरी दत्तकाचें विशेष प्राबल्य नसण्याचें मुख्य कारण हेंच असावें,

* रावसा. मंडलिककृत इंग्रजी हिंदुधर्मशास्त्र पाहा. या ग्रंथांत या प्रकरणाचा चांगला विचार केला आहे. रावसाहेबांच्या मते हा संस्कार खरोखर अनवश्यक असून त्यास हल्लीं उगीच आवश्यक मानतात. या निबंधांतील बराच भाग सदरील ग्रंथांतून घेतला आहे.

+ ते बारा पुत्र हे: --

औरसो धर्मपत्न्याजस्तत्समः पुत्रिकासुतः

क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः

कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः

असें आम्हांस वाटतें. वेदांत स्वर्गप्राप्तीचे पुत्रोत्पत्तीखेरीज दुसरे जे पुष्कळ उपाय आहेत त्यांजवर, व संततिच पाहिजे असें वाटल्यास वर मांगितलेल्या बाग पुत्रांपैकीं एखाद्यावर, तत्कालीन लोक निर्वाह करीत असत. पुढे दिरापासून पुत्रोत्पत्ति करून घेण्याची लाज वाटण्यानें म्हणा, अगर सदर प्रघात कलियुगात चालू राहिल्यास घोर पातके होतील या भीतीनें म्हणा, क्षेत्रजादि पुत्राचा प्रचार जेव्हा बंद झाला तेव्हां आमच्या दत्तोबाचें प्रस्थ सहजच माजत चाललें, व दत्तक देण्याघेण्याच्या कायद्याचीं कलमें पास होऊं लागलीं. हीं कलमें स्मृतिग्रंथातूनच पहिल्यादा आढळतात; यावरून हा फेरफार स्मृतिकालींच थोडा थोडा अमलांत येत चालला असावा असें अनुमान होतें. तथापि स्मृतिकारास पूर्वींच्या द्वादश पुत्राचा विसर पडला नव्हता, हें खाली लिहिलेल्या वचनावरूनच ध्यानांत येईल. परंतु कालांतरानें तैही जाऊन अलीकडे तर दत्तकाखेरीज स्वर्गाचे दरवाजे खुलेच होत नाहींत असा लोकांचा समज होऊन बसला आहे ! वरील हकीकतीवरून हा समज किती यथार्थ आहे याची थोडीबहुत कल्पना वाचकास आलीच असेल. परंतु याची विशेष फोड होणे इष्ट होय, करिता त्याच्या खुलासेवार विचारास लागूं

वेदांत यासंबंधाने उदाहरणें आहेत, पण नियम नाहींत, हें मागें सांगितलेंच आहे. यावरून वेदकालीं दत्तकाचें माहात्म्य नव्हतें असे होतें. मनुस्मृतीत दत्तक कां घ्यावा, यास दोन कारणें सांगितली आहेत, ती अशीं:—

अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक्काटकप्रयत्नतः

पिंडोदकक्रियाहेतोर्नामसंकीर्तनाय च ॥

अर्थः—पिंडोदक देण्यासाठी, व नाव घेण्याकरितां, निपुत्रिकानें कसेंही करून मुलगा (दत्तक वगैरे) करावा—यात मनुने दत्तक घेण्यास दोन कारणें दिलीं आहेत. एक श्राद्ध, क्रिया वगैरे करणें, व दुसरें नाव चालविणें; पैकी पहिलें कारण धर्मविषयक असून, दुसरें निव्वळ व्यावहारिक आहे हें कोणाच्याही लक्षात येईल. इंग्रजी कोर्टाप्रमाणें धर्म व व्यवहार यांची स्मृतिकारकानी निखालस फारकत करून दिली नव्हती, हें आम्हीं मागें अनेक वेळां सांगितलेच आहे. कोणतीही स्मृति घेतली तरी तींत भाऊबंदांचे तंटे, चोरी व मारामारी यास शिक्षा, राजधर्म, श्राद्ध, मुंज, लग्न, वगैरे धर्म व व्यवहारासंबंधीं सर्व गोष्टी याचा समावेश केलेला असतो;

अक्षातायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवस्तथा
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्
क्रीतस्तु ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विन्नः सहोदजः
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोपविद्धो भवेत्सुतः

यांपैकीं दत्तक व औरसखेरीज कलियुगांत इतर वर्ज केले आहेत. आपल्या दृष्टीनें आतां ते अगदीं रानटी व ग्राम्य दिसतात.

व तदनुरूपच वरील श्लोकातही मनूनं दोनही हेतु एकाच ठिकाणी दिले आहेत. या दोनही कारणाचा आजच्याच अंकात विचार व्हावयाचा नाही; करितां व्यावहारिक हेतु-म्हणजे नाव चालविणें याचा विचार पुढील खेपवर टाकून पहिल्याच कारणाचा आज विचार करूं. दत्तक घेतल्याने आपलें श्राद्ध, क्रिया वगैरे करण्यास आपण एक अधिकारी करून ठेवितों, व पुत्रप्राप्तीपासून जें स्वर्गसुख तेंही आपणांस प्राप्त होते, हें जरी सर्वथैव खरें आहे, असें मानिलें, तरी तेवढ्यावरूनच स्वर्गप्राप्तीस व पिंडोदक देण्यास दत्तकाखेरीज उपायच नाही, असा सिद्धान्त करितां येत नाही. दत्तकानें अमुक एक कार्य होतें असें जरी मानिले, तरी तेवढ्यानेच तें कार्य दत्तकावांचून होत नाही, असा अर्थ निघत नाही. जेथें जेथें धूर असतो तेथें तेथें अग्नि असतो, हें वाक्य जरी खरें आहे, तरी त्याच्या उलट म्हणजे जेथें अग्नि तेथें धूर हें वाक्य खरें नाही. पण इतकेंही दूर जावयास नको. पुत्राचें (मग तो दत्तक असो वा औरस असो) तोड पाहिल्याखेरीज जर स्वर्ग मिळत नाही, तर जगद्गुरु शंकराचार्यांची वाट काय ? तुकारामबुवा कुठें आहेत ? व वामनपंडिताच्या ' अजित नाम घडो भलत्या मिपें, ' या सूत्राचें काय करावयाचें ? या गोष्टी मनांत आणल्या म्हणजे पुत्रोत्पादन हा स्वर्गप्राप्तीच्या अनेक मार्गांपैकी एक आहे येवढेंच मात्र म्हणावे लागेल; व वास्तविक प्रकारच असा आहे. आमच्या शास्त्रकारांनीं स्वर्गाची वाट अगदी सुलभ करून ठेविली आहे. दान, तीर्थयात्रा पुराणश्रवण, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, संन्यास, वेद म्हणणें व शिकवणें, एखादी पाणपोय, धर्मशाळा, मठ, किंवा देवालये बांधणें, भगवन्नामकीर्तन व श्रवण वगैरे पुष्कळ गोष्टी पुत्रोत्पादनाप्रमाणेंच स्वर्गप्राप्तिकारक आहेत, असें श्रुतिस्मृतिपुराण-ग्रंथांचें साधारण मत आहे. सगळ्या अठरा पुराणांचें सार "परोपकारः पुण्यायः"-या वाक्यात कोंदले आहे. असें असता दत्तकात विशेष काय ? कोणी असें म्हणतील, कीं वर सांगितलेले उपाय संकटसमया आहेत. त्यास उत्तर हेंच कीं, दत्त-

* धर्मग्रंथातून या अर्थाचीं पुष्कळ वचनें आहेत, पैकीं काहीं येथें देतोः- ऋग्वेद १०, १४, ८ यात ' संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ' म्हणजे धर्मशाळा वगैरे बाधल्यानें स्वर्गप्राप्ति होते असें दिलें आहे. याज्ञवल्क्यस्मृतींत ' तेनाग्निहोत्रिणो याति स्वर्गकामा दिवं प्रति । ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः । तेपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ' अर्शा अनेक वचनें आहेत. दुसरे ' न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोतिथिप्रियः श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोपि च मुच्यते ' । स्कांदपुराणात— ' कृत्वा मठं प्रयत्नेन शयनासनसंयुतं । पुण्यकाले द्विजेभ्यो वा यतिभ्यो वा निवेदयेत् । सर्वान् कामानवाप्नोति निष्कामो मोक्षमाप्नुयात् । ' असें स्पष्ट आहे. यावरून वाचकांच्या दुसरें असेंही लक्षांत येईल, कीं वरील वचनात दत्तकाच्या अभावीं हे उपाय आहेत असें कोठेंही सांगितलें नाही. वस्तुतः दत्तकाहूनही स्वर्गप्राप्तीचे हे अधिक श्रेयस्कर मार्ग आहेत.

विधानही आपत्कारांची सांगितले आहे.+ एतावता निष्पन्न काय होतें कीं, औरस पुत्र नसल्यास स्वर्गप्राप्तीसाठीं दत्तकपुत्र घेण्याची जरूर नाही. तें काम पुष्कळ इतर उपायांनीं होण्याजोगें आहे. मग आपल्यास आपल्या(दत्तक)पुत्राकडूनच स्वर्गप्राप्ति झाली पाहिजे, या आग्रहास दुराग्रहापेक्षा दुसरें काहीं म्हणता येणार नाही. दत्तकावरील ग्रंथकारांचेही मत त्याचप्रमाणे आहे. दत्तकमंजरीकारांनीं तर 'पुत्रप्रतिनिधिः काम्य एव' म्हणजे दत्तक वस्तुतः अनवश्यक आहे, असा स्पष्ट शास्त्रार्थ दिला आहे. अमुक एक मनुष्याचे हातूनच मला स्वर्गप्राप्ति झाली पाहिजे, याखेरीज यांत काहीं मतलब नाही, असेही आणखी त्यांनीं सांगितले आहे. साराश, शास्त्रदृष्ट्या स्वर्गप्राप्तीस दत्तकाची मुळीच जरूर नाही, मग दुराग्रह व रूढि काय म्हणतील तें म्हणोत.

धर्मसंबंधीं दुसरा मुद्दा पिडोदकदानाचा. याही संबंधे आमचें मत वरील-प्रमाणेंच आहे. आर्षी स्वर्गप्राप्ति झाल्यावर श्राद्धादिकाची जरूरच नाही, तथापि मुलगा नसल्यास, भाऊ, पुतणे, बायको इतर आप्त वगैरे पुष्कळ श्राद्धाधिकारी सांगितले आहेत, व दत्तक न घेतल्यानें म्हणजे काही अडतें असा मुळीच प्रकार नाही. "मलमेतन्मनुष्याणां द्रविणं परिकीर्तितं । ऋषिभिस्तस्य निर्दिष्टा निष्कृतिः पावनी परा । आदेहपतनात्तस्य कुर्यात्सर्वैर्ध्वदेहिकं" असें जो जो मृताचें धन घेईल त्याच्या पाठीमागे शास्त्रकारांनीं लंचाड लावून दिलें आहे. बरें इतकेही असून आपल्यापाठीमागे कोणी आपले श्राद्ध करील कीं नाही याचा आपल्यास संशय असल्यास आपल्या हयातीतच आपली क्रिया व श्राद्ध आगाऊ करून घेण्याचा अधिकार स्मृतिकारांनीं आपणास दिला आहे; तो इतका कीं पुत्रादि वारस असतांही सदर कार्यभाग आपणास आर्षीच उरकून घेता येतो ! अशा श्राद्धास जीवच्छ्राद्ध म्हणतात, व हे आमच्या वाचकांपैकीं पुष्कळांच्या ऐकण्यात असेलच. धर्मशास्त्राची एवढी सोय असता, मरता मरता दत्तक घेण्याची एवढी ओढ का बरें असावी ? बरें, तो तरी मन मोकळें करून घेतात काय ? नाही; तर, परलोकाचें प्रस्थान ठेवणाऱ्याची पत्नी हयात असेपर्यंत असा करार कीं, दत्तकानें इस्टेटीची काहीं गडबड करूं नये ! 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' दुसरें काय ?

वर दत्तकपुत्र घेण्यास मनुस्मृतींतील जीं दोन कारणें सांगितलीं त्यापैकीं पहिल्याचा विचार केला. त्याच श्लोकात सांगितलेले जें दुसरें कारण म्हणजे—'नामसंकीर्तन' तें तरी कितपत यथार्थ आहे तें पाहूं. परंतु तत्पूर्वीं वाचकास एवढें कळविणें इष्ट आहे, कीं गेल्या खेपेस ज्याप्रमाणें एका हेतूचे आम्हीं अयथार्थत्व दाखविलें, त्याप्रमाणें या दुसऱ्या हेतूचाही धर्माशीं काहीं एक संबंध नसून तो फक्त व्यावहारिक आहे; हा लोक सोडून गेल्यानंतर, परलोकात प्रत्येक

मनुष्याची सस्था नीट व्हावी, हें प्रत्येक धर्माचें बीज होय. मग आवडीच्या किंवा मताच्या वैचित्र्यामुळे त्यांत पाहिजे तेवढे प्रकार होवोत. धर्मग्रंथाचा मूळ हेतु हा असल्यामुळे, त्यांतून मध्ये मध्ये इहलोकच्या सुखप्राप्तीबद्दल जे नियम दिले असतात, ते धर्माच्या प्रधान अंगांत गणितां येत नाहींत. व एकदां कोणतीही गोष्ट व्यावहारिक ठरली म्हणजे तिला धर्माच्या पांघरुणानें जी मातब्बरी प्राप्त होते, तीस ती मुक्ते, मग ती गोष्ट कितीही महत्त्वाची असो. परलोकांत आपल्यास 'रिद्धर्व' जागा मिळावी म्हणून इहलोकीं काहीं लोक आपल्या शरिराचे काय काय हाल करून घेतात, हें ज्यानें प्रत्यक्ष पाहिलें असेल, त्यास वरील वाक्यांचे यथार्थत्व बरोबर कळून येईल. धर्म व व्यवहार यांमध्ये इतका भेद स्वभावतःच असतो, व त्या दृष्टीने पाहिलें, तर दत्तक घेण्याचा पहिला हेतु धर्मरीत्या अनवश्यक ठरल्यावर नांव चालविण्याच्या दुसऱ्या हेतूस महत्त्व देणें किंवा न देणें, हे प्रत्येकाच्या मर्जीवर आहे. धर्माज्ञेच्या बाहेर पडल्यावर, पिनल कोडाच्या हद्दींत येईपर्यंत, प्रत्येक मनुष्य अगदीं स्वतंत्र आहे व हल्लींच्या काळात समाजानियमाचे बंधन शिथिल झाल्यामुळे तर, ही स्वतंत्रता अलीकडे विशेष प्रबल, व काहीं गोष्टींत तर अगदीं उच्छृंखल झालेली नजरेस येते. पण आज त्या गोष्टींचा आपणांस विचार कर्तव्य नाहीं. सारांश, एखादी गोष्ट निव्वळ व्यावहारिक ठरली म्हणजे तिची आवश्यकता कमी होण्यास तेवढेच कारण बसस होतें, व हाच नियम वरील दत्तकाच्या हेतूसही लागू आहे. " नामसंकीर्तन " (नांव चालविणें) ही एक धर्मातील बाब नसल्यामुळेच तिचें आवश्यकत्व प्रथमतः कमी झाले; व त्यांत काही हशील आहे, असें ज्यास वाटत असेल, त्याखेरीज दुसरा कोणताही मनुष्य तेवढ्याच कारणानें दत्तक घेण्यास राजी होणार नाहीं. करिता मनुनें सांगितलेल्या वरील व्यावहारिक हेतूस कांही हशील आहे कीं काय, याचा विचार करूं.

आतां पहिल्यानें येवढी गोष्ट कबूल केली पाहिजे कीं, आपलें नांव आपल्यापाठीमागें चिरकाल रहावें अशी प्रत्येक मनुष्यास अगदीं स्वभावतःच इच्छा असते. एका इंद्रजी ग्रंथकारानें तर वरील इच्छेची व अमरत्वाची सांगड घालून दिली आहे, व याज्ञवल्क्यस्मृतींत वरील मनुस्मृतींतल्या श्लोकांच्या अर्थाचा जो श्लोक आहे, त्यातीलही आशय त्याचप्रमाणे आहे. " लोकानंत्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रपौत्रकैः " म्हणजे मुलगा, नातु व पणतू यांनी इहलोकीं आनंत्यं (निरंतर नांव राहाणें) व स्वर्गप्राप्ति होते असें त्या स्मृतींत वाक्य आहे. सर्व मनुष्ये जर अमर असतीं, तर पुत्राची जरूर कोणास कदाचित वाटली नसती. पण मृत्यु हा सर्वांस साधारण असून, आपणांस हें जग कधींना कधीं तरी सोडून गेलें पाहिजे, तेव्हां शरीर, रूप, बांधा व बुद्धि यांत अगदीं आपणासारखा (बहुतेक मुलगे वरील गोष्टींत आपल्या वडिलांप्रमाणेंच असतात.) असा एक पुत्ररूप आपला प्रतिनिधि जगांत ठेवून त्याच्या द्वारे आपले स्मरण जगांत चिर-

काल ठेवावे, ही इच्छा मनुष्यांत सहज उद्भवली. “ आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारैपि धनैरपि ” या नीतिवाक्याचें जें मूळ आहे, त्यानेच मेल्यावरही आपलेपणाचें रक्षण करण्याकरितां, पुत्राची आवश्यकता सिद्ध होते. तशांत ज्या वेळीं मनुष्य-जातीची स्थिति अगदी बाल्यावस्थेत होती, त्या वेळीं तर पुत्रोत्पादनाची इच्छा विशेष बळकट होण्याचा जास्त संभव होता. मनुष्यजातीची पहिली सुधार लेली अवस्था म्हणजे कुटुंबावस्था होय. कंदमूलादिकावर निर्वाह करून वनचर श्रापदाप्रमाणें हवें तिकडे भटक्यां ही आपली अगदीं पहिली स्थिति होय. अद्या पिही आफ्रिकेच्या व अमेरिकेच्या रानांतून असली काहीं मनुष्ये आढळतात. यानंत-रची स्थिति म्हटली म्हणजे, उदरनिर्वाहाकरिता कंदमूलादिकावर अवलंबून न राहता, गाई, म्हशी वगैरे दुभती जनावरें बाळगून त्यास चारा मिळेल तिकडे सहकुटुंब त्यांच्या पाठोपाठ हिडत जाणे ही होय. या काली शेतकीची युक्ति निघून गाव वसले नव्हतें. कुटुंबातील मुख्य पुरुष इतर माणसावर त्या कार्या अगदी राजाप्रमाणें अंमल चालवीत असे, व कुटुंबाचें सर्व ओझे त्या एकट्याच्या मार्थी पडत असे. आता आपण असा विचार करूं, कीं अशा काळीं एकाद्या कुटुंबातील मुख्य पुरुष जर एकाएकीं निपुत्रिक मरण पावला, तर त्याच्या कुटुंबाची स्थिति काय होईल? बिचान्यास कोणीही त्राता न राहून रानावनात हिंडावें लागेल ! आपल्या पाठी-मागे आपलें नाव चालविण्याची इच्छा राहूं द्या ! पण आपल्या कुटुंबाचें पोषण करण्यास तरी आपल्या पाठीमागें कोणी पाहिजे, अशी स्वाभाविकच इच्छा नाही का होणार ? मग त्यात नाव चालविण्याच्या इच्छेची भर पडल्यावर काय विचारा-याचे ? आपल्या वैदिकऋषींची सामाजिक स्थिति बहुधा वर लिहिल्याप्रमाणेंच होती. हें मनांत आलें म्हणजे “ कुचवी करना और लडका बनाना, ” अशी जी त्याची उत्कट इच्छा असे तिचें बीज आपणास कळून येईल ! जसजशीं मनुष्य-जातीची स्थिति सुधारत चालली, अनेक कुटुंबे एका ठिकाणीं राहू लागून गाव वसले, व एका कुटुंबातील माणसानी दुसऱ्या कुटुंबातील माणसांस त्रास दिल्यास, त्याचा निर्णय पंचाच्यामार्फत होऊं लागला, तसतसा कुटुंबात मुख्य नसला तरी, त्याची व्यवस्था साधारणें बरी राहिल असा भरंवसा प्रत्येकास वाटूं लागला. तथापि आपले नाव चिरकाल राहाण्याचे पुत्रोत्पादनाखेरीज दुसरे उपाय नव्हते. सर्वांनीं मिळून जमिनीची लागवड करून त्यावर एकोणानें राहून निर्वाह करावा यापेक्षां या स्थितीत मनुष्याचा दुसरा कांहीं हेतु नव्हता. धाडस, पराक्रम, विद्या, कवित्व, औदार्य वगैरे ज्या गुणांनीं, पराशराम, राम, कृष्ण, कर्ण, व्यास, कालिदास वगैरे प्राचीन मंडळी, व तुकाराम, मोरोपंत, बाजीराव, नाना-फडणवीस सर जमशेटजी जिजीभाई वगैरे अर्वाचीन मंडळी अजरामर झाली, ते गुण त्या काळीं मनुष्यात आले नव्हते म्हणा, किंवा आले असूनही त्याचा विकास होण्यास त्या वेळची सामाजिक स्थिति अनुकूल नव्हती म्हणा; कसेंही असो. मनुष्यजातीच्या पूर्वावस्थेत नांव चालविण्यास ज्याप्रमाणें पुत्राची जरूर असे,

तशी आतां राहिली नाही, हें अगदी उघड आहे. शिवाजीचें स्मरण आपणांस राहाण्यास संभाजी कारण झाले काय ? किंवा नानाफडणविसांच्या कुटुंबानें त्यांच्या-मार्गे दत्तक घेतल्यामुळेच त्यांचें नांव इतिहासांत आलें काय? बडांतील नानाखेरीज-करून किती दत्तकांनीं तरवार गाजविली आहे ? लहानपणापासून एखाद्या मुलास आपल्या देखरेखीखाली ठेवून त्यांच्यांत आपल्या कुलाचा अभिमान, शौर्य वगैरे गुण दृष्टोत्पत्तीस येऊं लागल्यावर, मग त्यास दत्तक घेतला असतां, तो दत्तक आपल्या घराण्याचें नांव काहीं तरी चालवील. पण असा दत्तक आपल्यापैकीं किती लोक घेतात ? आधीं मरेपर्यंत पुत्र होण्याची आशा सुटत नाही; बरें तित-केंही करून एखाद्यानें दत्तक घेण्याचें ठरविलें, तर आपल्या पाठीमार्गे दत्तक मुलगा आपल्या बायकोस कसें वागवील, याची भीति मनांत उभी राहाते ! दत्तक घेणारा जिवंत असतांच दत्तक मुलाने इस्टेटीचा वाटा मागितल्याचीं उदा-हरणें आपणास बरीच आढळतात. मग सर्पिंडी होण्यापूर्वीच आईचें व दत्तक मुलाचें जामदारखान्याच्या किल्ल्यासंबंधानें भाडण झाल्यास काय नवल ? बोलून-चालून बिछान्यावर मरणोन्मुख पडलें असता, एखादा उपरी पोर धरून आणून स्वर्गाचे दरवाजे मोकळे करून घेतल्याचे सुख मानून ध्यावयाचें ! मग अशा पोरानें आपलें नांव राखण्यापेक्षा बुडविल्यास आश्चर्य तें कोणतें ? नाव राखण्याचे दुसरे कांही मार्गच नव्हते, त्या वेळची गोष्ट निराळी होती. पण हल्लीं आपलें नांव कायम ठेवण्यास वर सांगितलेले पुष्कळ मार्ग असतां, असल्या वेडगळ मार्गांनीं जाण्यांत अर्थ कोणता ? आपलें व आपल्या कुलाचें नांव व इस्टेट एखाद्या उपरी पोरान्या हवालीं करून, तो आपलें नांव राखील या आशेवर बसण्यापेक्षा, एखादें धर्मकृत्य करून तद्द्वारा आपलें नांव लोकांत ठेवून, स्वार्थ व परमार्थ एकाच कामीं साधत असताही, केवळ गतानुगतिकन्यायानें आपण आपल्या नांवास व इस्टेटीस मुक्त आहों, हें अगदीं स्वल्प विचारातीं देखील साधारण बुद्धीच्या मनुष्यास समजण्याजोगें आहे. तथापि पूर्वापार चालत आलेल्या चालीचा आपल्या मनावर एवढा बळकट ग्रह असतो, कीं आपणांस अगदी सामान्य गोष्टीदेखील दिसत नाहीत ! असो; लेख बराच लाबला, करितां दत्तकाचा प्रचार सोडून त्या ऐवजीं वर सांगितलेले मार्ग प्रचारांत आल्यास देशाचें काय हित होईल याचा विचार पुढील खेपेस करूं. फार प्राचीन काळाप्रमाणे हल्लीं नांव चालवि-ण्यास दत्तकाची जरूर नाही, इतकें वरील विवेचनावरून सध्यां वाचकाच्या नजरेस आलें असता पुढें आहे.

(३)

कोणी असें म्हणतील कीं, तुम्ही म्हणतां त्याप्रमाणें स्वर्गप्राप्तीकरिता जरी दत्तकाची जरूर नाही असें मानिलें, आपली क्रिया आपण आटपून घेतली, व वंशाचें नांव चालविण्याकरिता इस्टेट धर्मादायास लावून दिली, तथापि पुत्रत्व म्हणून जें कांहीं आहे त्याची तृप्ति कशानें करावी ? प्रत्येक मनुष्याचें आपल्या

बायकोवर किंवा पुत्रावर जे प्रेम असते, ते त्यांच्या केवळ उपयोगावरच नसते; मग वरील प्रेमास विषयभूत असा एखादा प्रतिनिधि त्याने पाहिल्यास त्यास आपण काय म्हणून दोष ठेवावा ? भूक, तहान, वगैरे शरीरविकारांचे ज्याप्रमाणे अन्न, जल वगैरे विषय आहेत, त्याचप्रमाणे मानसिक विकाराचेही विषय असतात; व पुत्रप्रेम हा त्यांमधील एक असल्यामुळे, औरस पुत्र नसल्यास त्याची जागा अन्योपायांनी भरून काढणे जरूर आहे.

वरील शंका प्रथमदर्शनी अगदी अनिवार्यशी दिसते; पण जरा नीट नजर दिली म्हणजे त्यांतील छिद्रे आपणांस दिसू लागतात. शरीर ज्या द्रव्यांनी घडले आहे, ती शरीरातून पुनः आपल्या पूर्व स्थितीत रोज जात असतात. एखादा मनुष्य एक मैलभर चालला तर त्याच्या स्नायूंचा थोडाबहुत व्यय हा व्हावयाचा व हाच प्रकार बोलणे, हसणे, ऐकणे वगैरे हरएक क्रियेविषयी समजावयाचा. दर मिनिटास किंवा पळासही आपल्या शरीरातील काही द्रव्यांचा व्यय होतच असतो. शरीर कायम ठेवणे असल्यास, तो आपल्यास भरून काढला पाहिजे. शरीरास असा व्यय नसता, तर कोणासही भूक व तहान लागतीना, व सर्व मनुष्ये अमर राहिली असती. सारांश, भूक व तहान जी आपण अगदी साहजिक समजतो, ती वरील घडामोडींवर अवलंबून असतात. त्याचा व इतर मनोविकाराचा उगाच संबंध जोडण्यात हशील नाही. आपल्या पुत्रावर आपण जे प्रेम करितो, त्यास व्यक्त म्हणजे ज्याचा उपयोग ढळढळीत नजरेस येतो अशा कारणाखेरीज दुसरी अनेक कारणे असतात हे आम्हास अगदी मान्य आहे. सहवास आपलेपणाचा अभिमान, किंवा दोषाची शरीरे एकाच हाडामासाची असल्यामुळे, समान द्रव्यामध्ये असणारे साहजिक आकर्षण वगैरे काही म्हटले, तरी त्या प्रेमाचे पूर्ण कारण कळेलसे वाटत नाही. तथापि तेवढ्याने वरील आक्षेप कसा सिद्ध होतो, हे आम्हास कळत नाही. पितापुत्रास जोडणारा संबंध वाचेस जरी अदृश्य असला, तथापि या संबंधाचे अस्तित्व किंवा अभाव, दोहोंपैकी एकाच ठिकाणी कसा कल्पावयाचा ? लोहचुंबक लोहाकर्षण करितो हे खरे; तथापि हा गुण लोखंडाचा, का लोहचुंबकाचा व तो अन्यनिरपेक्ष असू शकेल, की नाही, वगैरे प्रश्न ज्याप्रमाणे वायफळ आहेत, त्याचप्रमाणे पुत्रप्रेमासंबंधी वरील प्रश्न होय. बापाचे पोटाच्या मुलावर प्रेम असते, तथापि ते मुलाखेरीज व्यक्त करावयाचे नाही. तत्पूर्वी ते प्रेम असते, याचा अर्थच आम्हांस समजत नाही. तात्पर्य, मनुष्यास मुलगा झाला म्हणजे त्याच्यावर त्याची प्रीति जडते, परंतु ही प्रीति पुत्रेच्छेस कारण होत नाही. शिवाय औरस पुत्रापासून जे समाधान व सुख होतें, तितकें दत्तकापासून कधीही होत नाही, व होणार नाही. अगदी तान्हे मूल घेऊन जरी आपण वाढविले व पुढे दत्तकही घेतले तथापि ते लोकांचे आहे, ही कल्पना मनांतून निघत नाही व सुख पुष्कळ अशा कल्पनेवरच असते; तेव्हा या नजरेने पाहिले तरी दत्तक गौणच पडतो. उघडच आहे पोटाच्या गोळ्यावरील प्रेम कोठे व उगीच लावालावीचे कोठे ?

सारांश, प्रेमाकरितां कोणीही प्रथमतः दत्तक घेत नाहीत. आतां ज्याप्रमाणें औरस पुत्र असतां, तुम्ही ' नांव चालविण्याचे ' मागील अंकी सांगितलेले उपाय करा असें कोणी म्हणत नाही, त्याचप्रमाणें एखाद्या मनुष्यास तसा पुत्र नसता, जर त्याचें प्रेम एखाद्या मुलावर जडून तो त्याच्या हाताखाली लहानपणापासून वाढला असला, त्या दोघाचें अगदीं ऐक्य बनून गेलें असलें, तर अशास दत्तक घेऊं नये हें म्हणणेंही रास्त होणार नाही. त्याची सोय त्या मनुष्यानें केलीच पाहिजे. परंतु मरेपर्यंत मुलगा होण्याची वाट पाहून, मरणसमयीं गतानुगतिक-न्यायाने त्यानें किंवा पुढें त्याच्या पत्नीनें आपलें घरदार एखाद्या पोरान्या स्वाधीन करणें, यास मूर्खपणाखेरीज काय म्हणावें, हें आम्हांस समजत नाही. त्या पोरान्या तरी त्या इस्टेटीवर काय हक्क ? मालकाची इच्छा म्हणून कोणी म्हणेल. तर त्यास समाजाचा असा प्रश्न आहे की, मालकानें तरी ती आपली म्हणून हवीतशी उघड्यावी काय ? प्रत्येक मनुष्याचे मालमत्तेवर आमचा कांहींच हक्क नसावा काय ? असो; या प्रश्नाचीं उत्तरे आज देत बसल्यास आणखी दोन चार कॉलम लागतील, करितां तूर्त येथेंच मुकाम करितों.

(४)

दत्तक घेण्यास व्यवहाररीत्या कोणत्याही तऱ्हेची आवश्यकता नाही, असें जरी मानलें, तथापि त्यावर आणखी एक असा आक्षेप निघणार आहे कीं, ज्या-अर्थी प्रत्येक मनुष्यास आपण संपादिलेल्या धनाचा वाटेल तसा उपभोग घेण्याचा पूर्ण अधिकार आहे, व तो तें वाटेल त्यास देऊं शकेल, त्याअर्थी त्या मनुष्यानें दत्तक घेतला, असें मानण्यापेक्षां त्यानें आपली इस्टेट आपणांस वाटेल त्यास दिली, असें मानावें, म्हणजे दत्तकाची आवश्यकता आहे की नाही, हा प्रश्न मुळांच निष्पन्न होत नाही. दत्तक धर्मदृष्ट्या आवश्यक असो किंवा नसो, आम्ही आपल्या माल-मिळकतीचा मालक त्यास करणार, व ज्यापेक्षां आमच्या द्रव्यावर आमचें पूर्ण स्वत्व आहे, त्यापेक्षां असें करण्यास आम्हांस दुसऱ्या कोणत्याही कारणाची अपेक्षा नाही.

वरील आक्षेपास उत्तर देण्यापूर्वीं त्यातील प्रधान सिद्धान्ताची, म्हणजे आपण संपादिलेल्या द्रव्याची हवी तशी विल्हेवाट करण्याचा प्रत्येक मनुष्यास अधिकार आहे, या वाक्याची थोडी विशेष फोड करणें जरूर आहे ' अधिकार ' किंवा ' हक्क ' हे शब्द जरा संदिग्ध असल्यामुळें, त्याचा दुहेरी उपयोग होऊन वाक्यांत उत्पन्न झालेली संदिग्धता एकदम लक्षांत येत नाही. एखादी गोष्ट करण्याचा आपणास ' अधिकार ' आहे असें म्हटलें, म्हणजे प्रथमतः अशी कल्पना मनांत येते, कीं आपण ती गोष्ट करूं लागल्यास कायदेशीर रीतीनें आपणांस कोणाच्यानेंही अटकाव करवणार नाही व ही कल्पना मनांत आली म्हणजे सहजच त्याबरोबर दुसरीही अशी कल्पना मनांत येते, कीं जर ही गोष्ट करण्यास कायदेशीर हरकत नाही, तर मग दुसरी कोणतीही हरकत राहिली नसून, ती गोष्ट करणें आपल्या खुशीवर आहे, व त्या संबधानें आपणास कोणीं कांहीं बोलूं

नये. पण थोडा विचार केला असतां वरील दोन कल्पनांची जी सांगड घालून दिली आहे, तीं कितपत तथ्यांश आहे हें तेव्हांच लक्षांत येण्याजोगें आहे. वरील प्रमेयांत मुख्य चूक म्हटली, म्हणजे मनुष्याच्या व्यवहारास कायद्याखेरीज दुसरें कांहीं बंधन नाही, असें मानणें ही होय. वस्तुतः पाहतां कायद्याचें बंधन अगदीं अपुरतें आहे, व त्यास जर इतर बंधनांचें साहाय्य नसतें तर आपले सामाजिक व्यवहार हल्लीं चालले आहेत, तसें सुरळीत चालले नसते. असें पहा कीं कोणीही मनुष्यानें आपला पैसा रंडीबाजीत किंवा दारूबाजीत उडवूं नये, असा कोठेही कायदा असल्याचें ऐकिवांत नाही, व कायदेशीर रीतीनें पाहतां प्रत्येक मनुष्यास आपला पैसा या दुर्व्यसनांत घालण्याचा पूर्ण अधिकार आहे. तथापि तेवढ्या-वरून ती गोष्ट नियम नाही, असें कोणीही मनुष्य म्हणणार नाही, व एखाद्यानें समेत किंवा वर्तमानपत्रांत या विषयाची चर्चा केल्यास तीही अप्रयोजक म्हणता येणार नाही. कायद्याचा उद्देश एवढाच असतो, कीं कोणाही मनुष्यानें दुसऱ्याचे हक्कास प्रतिबंधक अशी गोष्ट करूं नये. यापेक्षा जास्त नियम कायद्यांत घालतां येत नाहीत. तथापि इतर व्यवहारात मुळींच नियम नाहीत असें समजू नये. महा-भारतांत एके ठिकाणी म्हटलें आहे:—

यमदंडभयात्केचित्पापाः पापं न कुर्वते राजदंडभयात्केचित्परस्परभयादिप ॥

म्हणजे कांहीं गोष्टी धर्माच्या भीतीनें, कांहीं कायद्याच्या भीतीनें व कांहीं लोकभीतीस्तव आपण करीत नाही. सकाळीं स्नान करावें, चांगलें अन्न खावें, दुर्व्यसनात पैशाचा अपव्यय करूं नये, वगैरे गोष्टीत नियामक लोकलजाच होय. लोकात एखादीं गोष्ट वाईट मानली गेली, म्हणजे कायद्यानें जरी ती गोष्ट करण्यास परवानगी असली, तरी ती करण्यास कोणीही धजावत नाही. इतकें 'परस्परभय' (लोकलजा किंवा अन्न) याचें बंधन असतें. म्हणून कोण-तीही चाल प्रचारांत आणण्यापूर्वी, किंवा त्यासंबंधानें कायदा करण्यापूर्वी, लोक-मत फिरविण्याचा प्रयत्न झाला पाहिजे. कायदा हा लोकमताचा पूरक असल्या-कारणानें, जर त्यास लोकमताचें पाठबळ नसेल, तर त्याचा कांहीं एक उपयोग होत नाही, व हाच सर्वसाधारण सिद्धान्त दत्तकासही लागू आहे. जोपर्यंत दत्तक घेतल्यानें मनुष्य आपल्या द्रव्याचा दुरुपयोग करतो, असा लोकांचा समज झाला नाही, तोपर्यंत हा चाल कधीही बंद पडणार नाही. कायदेशीर रीतीनें मनुष्यास आपलें द्रव्य कोणासही देण्याचा अधिकार असो, तथापि जर तो मनुष्य आपल्या द्रव्याचा दुरुपयोग करील तर 'परस्परभया'नें असा प्रकार बंद करण्याचा लोकांस पूर्ण अधिकार आहे व तो अधिकार 'दारूबाजी', 'रंडीबाजी' वगैरे गोष्टींत आपण प्रत्यहीं बजावीत आहों. कायद्याच्या दृष्टीनें पाहिलें, तर कोणाही मनुष्यास आपलें द्रव्य समुद्रांत टाकण्यास कांहीं प्रत्यवाय नाही, मग तसें लोक कां करीत नाहीत ? उघडच आहे कीं, ह्यास लोक पैशाचा दुरुपयोग समजतात व एखादे राजेश्री जर घरांतील सर्व इस्टेट

समुद्रांत टाकण्यास निघाले, तर त्याचे आतवर्ग त्यांस इस्पितळाचा मार्ग दाखव-
तील ! आरंभी सांगितलेल्या दत्तकावरील आक्षेपाचा विचारही आम्ही वरील दृष्टी-
नेच करणार आहों; म्हणजे जरी प्रत्येक मनुष्यास आपली इस्टेट हवी त्यास
देण्याचा अधिकार असला, तरी मरतेसमयी दत्तक घेऊन त्यास आपली इस्टेट
दिल्याने त्याच्या पैशाचा दुरुपयोग होतो की नाही ? होत असल्यास जरी कायदे-
शीर अधिकार असला, तरी इतर पुष्कळ दुर्व्यसनांप्रमाणेच ही चाल टाकाऊ
मानली पाहिजे. सारांश धर्मदृष्ट्या व व्यवहारदृष्ट्या, किंवा स्वर्गप्राप्तीसाठी, व
नांव चालविण्यासाठी दत्तकाची जरूर नाही, असे ठरल्यावर त्याच्या ग्राह्याग्राह्य-
तेचा विचार त्यास इस्टेट दिल्याने काय उपयोग होतो, यावर अवलंबून राहणार.
करितां तो उपयोग कितपत होतो तें पाहूं.

अर्थशास्त्राची किंवा इतिहासाची ज्यास अगदी साधारण ओळख आहे,
त्यास ही गोष्ट माहीत असेल, की अगदीं रानटी स्थितींत द्रव्याचा संचय कोणीच
करीत नसत. संचय केला असता, तो आपल्याजवळ राहून आपणास हवा तेव्हा
उपयोगी पडेल अशी त्या वेळेस कोणाचीही खात्री नव्हती. पुढे जसजशी लोक-
स्थिति सुधारून गाव, शहरे, देश वगैरे व्यवस्था होऊ लागली, तसतसा
प्रत्येक मनुष्याचा स्वकष्टार्जित द्रव्यावरील हक्क लोकानी कबूल केला, व तेव्हापासून
संचय करण्याची इच्छा बळावत चालली. द्रव्यसंचयाचा वरील गोष्टीशी इतका
निकट संबंध आहे, की ज्या देशांत मालमिळकतीचें संरक्षण करण्याचे कायदे
जरी अमलांत आहेत, तेथे ही इच्छा अगदीं कळसास गेली आहे. आपल्या जन्मा-
पासून आपणास दुसऱ्या सामाजिक स्थितीचा अनुभव नसल्यामुळे, सामाजिक
नियमांमुळे आपणांस द्रव्यसंचय करतां येतो ही गोष्ट आपल्या सहज लक्षात येत
नाहीं. तथापि विचाराती ती खरी आहे असे लक्षात आल्याखेरीज राहणार नाही.
चोरी, लबाडी, वगैरे अपराध जर लोकमताने शिक्षस पात्र नसते, तर हल्लीप्रमाणे
द्रव्यसंचय करण्याची कोणी खटपट केली असती काय ? नाही; मग समाजाच्या मदती-
खेरीज जर आपणास द्रव्यसंचय करतां आला नसता, तर समाजाचा त्या द्रव्या-
वर कांहींच हक्क असू नये काय ? द्रव्यसंचय हें सुखप्राप्तीचें एक
साधन आहे. एन्ही त्यास स्वतः काही किंमत नाही. हे मनांत आणिले असतां
विनाकारण द्रव्यसंचयाचा दुरुपयोग ' परस्परभयानें ' बंद करण्याचा हक्क समाजास
नाहीं, असें कसें म्हणतां येणार ? द्रव्यसंचय करण्यास ज्याअर्थी समाजनियम
कारण आहेत, त्याअर्थी कोणीही द्रव्यसंचय केला, तरी त्याचा व्यय चांगल्या
कामाकडे करणें, हें त्याचें कर्तव्य आहे. ज्यास आपण जन्म दिला, व ज्यास
लहानपणापासून एका विशेष गृहस्थितींत राहण्याची संवय लावून दिली, त्यास
मरतेवेळीं आपली इस्टेट देऊन, त्या स्थितींत त्यास राहतां येण्याची सोय
करून देणें, हें आपलें कर्तव्य आहे. तथापि आपणांस पुत्र नसता व आपण
कोणाचें कांहीं लागत नसतां, अगदीं मरतेवेळीं आपली सर्व इस्टेट, धर्माची व

व्यवहाराची कांहीं एक नड नसतां, ज्या मनुष्यास ती मिळण्याची आशा नाही, अशा मनुष्यास देण्याने, ज्या समाजाचे योगाने आपणांस द्रव्यसंचय करतां आला, त्याचें आपण कांहींच नुकसान करित नाहीं काय ? स्वकष्टार्जित द्रव्याचा जन्मभर यथास्थित उपयोग करून घेतल्यावर, मरणसमयीं विनाकारण समाजापैकीं एकाच मनुष्यास ते देण्याचा आपणांस कोटून अधिकार आला ? आपल्या पाठीमागें आपल्या द्रव्यावर कोणाचाच विशेष हक्क नसल्यास, द्रव्यानें साध्य जी सुखप्राप्ति, ती जितकी जास्त होईल, तितकी आपणास केली पाहिजे. आपणाजवळ पुष्कळ द्रव्य असल्यास तितकें सगळें पुत्रास द्यावें कीं नाही, याचाही विचारच आहे. तथापि ते तूर्त बाजूस ठेविलें, तरी दत्तक घेऊन त्यास आपली इस्टेट देण्यास उपयुक्ततेच्या, धर्माच्या किंवा व्यवहाराच्या दृष्टीनें कांहींच प्रमाण सापडत नाही. ज्या लोकांत दत्तकाचा प्रघात नाही, त्यांत अशी काय व्यवस्था करितात, वगैरे गोष्टी आज सांगावयाच्या होत्या, परंतु लेख लाबल्यामुळे त्या पुढील खेपेवर सोपवितों.

(५)

अर्थशास्त्रदृष्ट्या प्रत्येक मनुष्याचा आपल्या स्वकष्टार्जित द्रव्यावरही, आम्ही सामान्यतः मानतो त्यापेक्षा फारच कमी हक्क आहे. द्रव्यसंचय हा सुख-प्राप्तीसाठी असल्यामुळे, तो एका व्यक्तीनें केला असो, किंवा समाजाने केला असो त्याचा योग्य कामी व्यय व्हावा, यातच व्यक्तीचें व समाजाचें हित आहे. “ वसुधैव कुटुंबकम् ” या उदार दृष्टीनें पाहिले असता, समाजाची अति उत्कर्षावस्था म्हटली म्हणजे व्यक्तिमात्रास सारखे काम व सारखें मुख असावे, ही होय. व असें होण्यास सुखप्राप्तीचे साधन जे द्रव्य ते समाजात एक तर सारखें वाटून गेलें पाहिजे, किंवा एकत्र असल्यास समाजाच्या सामायिक ताब्यात असावें. एन्हवी सर्वास सारखें सुख कधींच प्राप्त होणार नाही. वरील विचार मनांत येऊनच कांहीं इंग्रजी व फ्रेंच अर्थशास्त्रवेत्त्यांनीं समाजात द्रव्यसंचयाची अविभक्तावस्था पसंत करून, त्याप्रमाणें समाजरचनेत फेरफार करण्याबद्दल शिफारस केली आहे. त्याच्या मते समाजातील सर्व मनुष्यांनीं एका अविभक्त कुटुंबाप्रमाणें राहून, आपल्या योग्यतेप्रमाणें सारखें काम करावें, व त्यापासून होणारा जो द्रव्यसंचय तो सर्वांनी सामायिक प्राप्ति समजून सर्वत्रांस सारखें सुख प्राप्त होईल अशी तजवीज ठेवावी. एकीकडे समाजातील हजारों लोकांस सकाळपासून संध्याकाळपर्यंत काबाडकष्ट करून पोटभर भाकर देखील मिळत नाही, व दुसरीकडे आजपणजांनीं तरवार गाजवून हजारों लोकांस यमलोक दाखविला, म्हणून कांहीं लोकांस कवडीचांही श्रम न करितां, सगळ्या आयुष्यभर चैन भोगण्यास सांपडते, हें मनांत आलें म्हणजे वरील अर्थशास्त्रज्ञ ऋषींच्या वचनास मान डोलावल्याखेरीज राहवत नाही. तथापि समाजाचा पूर्वाचा इतिहास, व मनुष्याच्या मनाची स्वाभाविक प्रवृत्ति, हीं मनांत आलीं म्हणजे ही सत्ययुगांतील स्थिति आपणांस कधीं तरी लाभेल किंवा नाही, याचाच विचार पडतो. कुटुंबांतील किंवा

समाजांतील अविभक्तावस्था, हा प्रकृत विषय नसल्यामुळे, त्यावरील सर्व आक्षेप येथें देतां येत नाहीत. तरी प्रस्तुत प्रकरणीं येवढें सागणें जरूर आहे, कीं कुटुंबाची व समाजाची अविभक्तावस्था ज्या देशांत मोडली आहे, त्यातच इतर देशापेक्षां द्रव्यसंचय अधिक झाला आहे. आपण मिळविलेल्या द्रव्यानें समाजाचें हित होऊन, त्यांत आपलेंही हित होणार, अशा विचारानें द्रव्यसंचय करण्याकडे मनुष्याची प्रवृत्ति स्वभावतःच होत नाही. 'मी' व 'माझे' या शब्दांचा जितका परिणाम मनुष्याच्या मनावर होतो, तितका 'सामाजिक' किंवा 'सार्वजनिक' शब्दांचा होत नाही. "कोण कोणाचे? आपण मेलों म्हणजे जग बुडालें" असेंच म्हणणारे बहुतेक लोक असतात. व हें समजूनच प्रत्येक मनुष्याने मिळविलेल्या द्रव्यावर त्याचें पूर्ण स्वत्व शास्त्रकारानीं कवूल केलें आहे. आता प्रत्येक मनुष्यास असा अधिकार मिळाल्यानें, एकाजवळ लाखों रुपयाची इस्टेट, व दुसरा अगदीं कफलक, अशी स्थिति होते; पण सामाजिक हित जोपर्यंत प्रत्येकास पूर्णपणें कळत नाही, तोपर्यंत अर्थशास्त्रसाधूंच्या मताप्रमाणे समाजरचना करून काय उपयोग? अशी रचना केल्यानें उर्गीच दुसऱ्याकरिता आपण काय म्हणून काम करावे असें मनात येऊन कोणींच काहीं करूं नये, यापेक्षा ज्या समाजरचनेनें आपण मिळविलेल्या द्रव्यावर आपला पूर्ण हक्क असतो, ती बरी नव्हे काय? मुळींच द्रव्यसंचय नसण्यापेक्षा दोनचार असामींनींच का तो केला असेना, तो त्या सर्व एकदर समाजासही फायदेशीरच आहे. संचय करण्यास मितव्यय कारण असल्यामुळे, जो द्रव्यसंचय करतो, त्याच्या हातून सहसा त्याचा गैर उपयोग होत नाही, व असें झालें म्हणजे जरी त्या द्रव्यसंचयावर एकाचेंच स्वत्व असलें, तरी त्यापासून समाजाचें परंपरेनें हित होतेंच. एकदां मितव्ययाची संवय जडली, म्हणजे इतर संवयीप्रमाणें ती जन्मभर सुटत नाही. मग "निःस्वोप्येकशतं शती दशशतं सोऽपिह लक्षं शतं" असें रहाटगाडगें सुरू होऊन पैशाचे दोन पैसे करण्याची जी मालकाची इच्छा, तिनें पुष्कळ कारखाने निघून, हजारों लोक त्यावर आपला उदरनिर्वाह करितात! तथापि, अशा समाजरचनेंत एक दोन मोठे दोष असतात. पैकीं पहिला हा, कीं प्रत्येक मनुष्यास स्वार्जित द्रव्यावर हक्क दिल्यानें, त्याच्या हातून त्याचा गैर उपयोग होण्याचा संभव असतो. कारण मागील अंकी सांगितल्याप्रमाणें कायद्याने या कामांत काहीं हात घालतां येत नाही. बाकी राहिलें भय म्हटलें म्हणजे धर्माचें व लोकमताचें. पण त्यास लोक जाणते पाहिजेत. नाही तर ब्राह्मणभोजन, लग्न, दत्तक, दारूबाजी यांत हजारों रुपयांचा चुराडा होऊन जातो. उघडच आहे, कीं पांचपन्नास रुपये दरमहा झड्डें लागले, कीं घाल ब्राह्मणभोजन, कर दागिने, ठेव एखादें पाखरूं, किंवा आण तांबडें पाणी, असा जेथें लोकांचा समज, तेथें तो समज फिरल्याखेरीज द्रव्याचा अपव्यय कसा बंद करणार? तात्पर्य, मनुष्यमात्रास स्वार्जितावर जो हक्क आहे, तो स्वयंभू नाही, तर गेल्या अंकी सांगितल्याप्रमाणें समाजानें तो त्यास दिलेला असून,

असतो. पण ज्यास एकदम इतकें द्रव्य मिळण्याचा मुळीच संभव नसतो व ज्याचा त्यावर कांहीं एक हक्क पोंचत नाही, आणि ज्यास द्रव्य-संपादनांत काय दुःख आहे, हें मुळीच समजत नसतें, त्याचे हातीं एकदम इस्टेट पडल्यावर त्याने ती न उधळल्यास आश्चर्यच मानावयाचें. समाजानें मनुष्यास स्वार्जितावर जो हक्क दिला आहे तो वरील कारणाकरितां नाही. मिळविणाराने किंवा त्याच्या औरस संततीनें त्याचा उपभोग घ्यावा, पण या दोहोंच्या अभावीं दुसऱ्या कोणत्याही व्यक्तीचा व समाजाचा त्यावर सारखाच हक्क आहे, इतकेच नव्हे तर एकाच मनुष्याच्या हातीं ती इस्टेट पडल्यास तिचा वार्हट व्यय होण्याचा जास्त संभव आहे. यासाठी औरस संततीच्या अभावीं एखाद्याची इस्टेट समाजास गेल्यासच त्यांत लोकांचें हित आहे. प्राचीनकाळीं जेव्हां समाजास अशी इस्टेट देतां येत नव्हती, त्याकाळीं दत्तकाचा प्रचार पडला; पण आतां त्याची काही जरूर राहिली नाही. उलट त्यापासून द्रव्यसंचय थोड्याशा लोकांतच राहिलाजाऊन एकंदर समाजाचें नुकसान होत आहे.

इतर सर्व गोष्टीप्रमाणेंच सर्वथैव निर्दोष अशी कोणतीच समाजरचना सांपडायची नाही. तथापि लोकस्थिति मनांत आणतां, अमुक एक समाजास अमुक समाजरचना विशेष फायदेशीर होईल, इतके सांगणें काही कठीण नाही. विभक्तावस्था व आवभक्तावस्था या दोन्हीही प्रत्येकी समाजास एका विशेष स्थितींत श्रेयस्कर होतात. पैकीं जोंपर्यंत द्रव्याचा खरा उपयोग लोकांस समजून लागला नाही व जोंपर्यंत समाजाच्या कल्याणाकरितां द्रव्यसंचय करण्याची बुद्धि बहुतेकांस होत नाही, तोंपर्यंत मार्गें सांगितल्याप्रमाणेंच समाजाची अविभक्तावस्था म्हणजे जीत प्रत्येक मनुष्याचा आपल्या स्वार्जितावर पूर्ण हक्क असतो, तीच एकंदर समाजास हितावह आहे. असा हक्क दिल्याने कमजास्त प्रयत्न, मितव्यय, बुद्धि वगैरे कारणांनीं समाजांत द्रव्याचा विषम विभाग हा होणारच, व जोंपर्यंत स्वार्जितावर प्रत्येक मनुष्याचा पूर्ण हक्क आपण कबूल करितो, तोंपर्यंत समाजांतील एक अतिशय श्रीमान् व एक अतिशय दरिद्री हा भेद आपणास अजीवात कधीही काढून टाकतां येणार नाही. तरी स्वार्जितावर हा अधिकार दिल्याने समाजांत हा जो दोष दृष्टोत्पत्तीस येतो, तो काढून टाकण्याचा जेव्हां जेव्हां योग्य प्रसंग येईल, तेव्हा तेव्हां तो फुकट दबडितां कामा नये. दत्तक घेण्याची वेळ म्हणजे अशाच तऱ्हेचा एक प्रसंग होय. यद्यपि द्रव्यसंचय करण्यास प्रत्येक मनुष्यास प्रेरणा व्हावी म्हणून स्वार्जितावर त्यास कायद्याने पूर्ण हक्क दिला आहे, तथापि एखाद्यास श्रमावांचून पुष्कळ द्रव्य सांपडल्यास त्यावर त्याचा पूर्ण हक्क आहे असा त्याचा अर्थ होत नाही. उद्यां एखाद्यास सहज जमिनींत मोहोरांचा हंडा सांपडल्यावर सरकार म्हणजे समाजाचा प्रतिनिधी त्यावर त्या मनुष्याचा पूर्ण हक्क कबूल करील काय ? नाही. तर त्या मनुष्यानें ही गोष्ट प्रसिद्ध केली, या त्याच्या प्रामाणिकपणाबद्दल त्यास कांहीं भाग देऊन बाकी सरकार आपल्या तिजोरींत नेईल, म्हणजे तो पैसा सरकारमार्फत (येथें सरकार लोकांचे

कल्याणाकारितां आहे असे समजावयाचे व त्याचे खरोखर कामही हेच आहे.) लोकोपयोगाकडे लागेल. जमिनीत सांपडलेल्या द्रव्याची जर ही गोष्ट तर दत्तक होऊन एखाद्याची इस्टेट घेणारासच निराळा नियम का असावा? कोणी असे म्हणतील की या दोन गोष्टी अगदी भिन्न आहेत, कारण दत्तकास जी इस्टेट मिळते ती पूर्वीच्या मालकांच्या अनुमतीनेच मिळते व त्याबद्दल त्यास मृताचे श्राद्धादिक करावे लागते. परंतु तसा प्रकार जमिनीत सांपडलेल्या द्रव्याचा नाही. गोष्ट खरी आहे, पण त्यात प्रश्न म्हणून येवढाच की मालकास, अशा रीतीने, बाटेल त्यास विनाकारण आपली इस्टेट देण्याचा अधिकार कोटून आला? एखाद्या वस्तूवर आपला हक्क काहीं नैसर्गिक नाही, म्हणजे एखादा वस्तु आपणास प्रयत्नाने मिळाली तेवढ्यानेच त्या वस्तूवर आपला हक्क येत नाही. श्रम, बुद्धि मितव्यय हीं जरी द्रव्यसंचयाचीं कारणे आहेत तरी त्यापासून हक्काची उत्पात्ति होत नाही. केवळ मी मिळविले म्हणूनच माझा त्यावर हक्क नाही, तर लोकांनी तो हक्क कबूल केल्यामुळे तो मला प्राप्त झाला आहे, ही गोष्ट नेहमी लक्षात ठेविली पाहिजे. अर्जन व अधिकार याचा कार्यकारणभाव स्वभावसिद्ध नसून, तो लोकांनी कबूल केल्याखेरीज होणे अशक्य आहे. ही लोकाची कबुली किंवा अनुमोदन दोन प्रकारे व्यक्त होत असते. एक कायद्याने व दुसरे लोकमताने. कारण सर्वच गोष्टींचे कायद्याने नियमन करता येत नाही. जेथे जेथे कायदा अपुरा पडतो, तेथे तेथे लोकभय भर घालते. स्वकष्टार्जित द्रव्याचा हवातसा व्यय करण्यास जरी कायद्याने प्रत्येक मनुष्यास अधिकार दिला आहे, तरी मागे लिहिल्याप्रमाणे आपले द्रव्य दुर्व्यसनात उडविण्यास लोक का भितात? लोकभयाने. मग हेच लोकभय दत्तक घेण्यास का उपयोगी पडू नये? समाजरचनेच्या नियमाच्या आमच्या अज्ञानाखेरीज आमचा तर दुसरे काही कारण दिसत नाही. स्वार्जितावर पूर्ण हक्क दिल्याने जसा दुर्व्यसनात व समुद्रांत पैसे उडविण्याचा व टाकण्याचा कोणास हक्क येत नाही, तशीच मरतेवेळीं एखाद्या उपटसुळास विनाकारण आपली दौलतही त्यास देता येणार नाही. दोनही प्रकार सारखेच नियम आहेत. भेद इतकाच की, एक आपण मानीत आलों, व दुसरा तसा मानण्यास अजून शिकलो नाही. औरस पुत्रादिकास आपली इस्टेट का द्यावी, हे मागे सांगितलेच आहे; ती दत्तकास देण्यास तशा तऱ्हेचे काही कारण नसत. त्याने श्राद्धादिक करावे, याकरितां देतो म्हणून कोणी म्हणतील, तर एकतर हे पोकळ कारण आहे, हे मागे सिद्ध केलेच आहे; व दुसरे तेवढ्याकरिता काहीं सगळी इस्टेट दत्तकास द्यावयास नको. स्वार्जितावर पूर्ण अधिकार दिल्याने आधीच समाजांत द्रव्याचा विषम विभाग होत आहे. पण जरी कसा तरी द्रव्यसंचय व्हावा, येवढ्याकरिता समाजाने तो कबूल केला आहे, तरी द्रव्याची वांटणी समाजात सारखी होऊन सर्वत्रास सारखे सुख व्हावे, हा आपला इष्ट हेतु असल्यामुळे जेव्हा जेव्हा स्वार्जितावर जितका हक्क दिल्याखेरीज द्रव्यसंचय कोणी

करणार नाही, तितका हक्क कायम राखून द्रव्याची लोकांत सारखी वांटणी करता येईल किंवा एकाचा द्रव्यसंचय सर्वत्रांच्या उपयोगास लावतां येईल, तेव्हां तेव्हां आपणांस त्या प्रसंगाचा पूर्ण उपयोग करून घेतला पाहिजे. दत्तक घेण्याचा काळ हा अशाच प्रसंगांतील मुख्य प्रसंग म्हटला तरी चालेल. दत्तक होणाराचा त्या द्रव्यावर कांहीं हक्क नसतो, व दत्तक घेणारास वास्तविक रीतीने पाहिलें म्हणजे दत्तकास तें द्रव्य देण्याचा अधिकार असूं नये. लोकास ही गोष्ट कळूं लागून लोकमतांत थोडासा फेर झाला, म्हणजे स्वार्जितावर अधिकार दिल्यानें समाजांत जे दोष उत्पन्न होतात, ते थोडेबहुत तरी निवारण्याचा आपणास एक चांगला मार्ग सापडेल. दत्तकाचा प्रघात पडल्यानें आज लाखों रुपये लोकोपयोगाकडे न लागतां, श्रम केल्यावांचून कांहीं लोक त्यांचा यथेच्छ उपभोग घेत आहेत. यांत समाजाचें किती नुकसान होतें, याची वाचकांनींच कल्पना करावी. सारांश, अर्थशास्त्रदृष्ट्या पाहिलें तर दत्तकाचा प्रघात आमच्यांत चालूं असल्यामुळे, व्यवहारांत आमच्या लोकांचें पुष्कळ नुकसान होऊन, स्वार्जितावर अधिकार दिल्यापासून समाजांत जो भेद होतो, तो मोडून टाकण्याची अमोलिक संधि ही आज आपण गमावीत आहों. मग यापुढें आमचे डोळे कधी उघडतील ते उघडोत।

शेवटी वरील सिद्धांतास एक दोन ठळक अपवाद आहेत, ते सांगून आजचा लेख संपवितों. अर्थशास्त्ररीत्या दत्तकाची चाल अग्राह्य का आहे, हें वर सांगितलेंच आहे. तेव्हां वरील नियमास अपवाद म्हटले म्हणजे, जेथें तें कारण लागू पडत नाही ते होत. पैकीं पहिला व मुख्य अपवाद ज्या इस्टेटीस कांहीं कामगिरी जोडली असते, त्यासंबंधी होय. यांत पाटिलकीपासून राज्यापर्यंत सर्वांचा समावेश होतो. तशा इस्टेटीचा मालक औरस संततीवांचून मयत झाला असता, त्याच्या पाठीमागें त्याची कामगिरी बजावण्यास कोणीतरी मनुष्य पाहिजेच. वस्तुतः पाहतां, सदर इस्टेटीस स्वार्जित न म्हणतां, कांहीं विशेष कामाबद्दल वेतन म्हटलें असतां चालेल. ह्या वेतनावर कोणाचाही स्वार्जिताप्रमाणें हक्क पोंचत नाही. जो काम करित असतो, त्यासच तें मिळेल. व काम बंद पडणें इष्ट नसल्यास, तें वेतन तसेंच सुरू ठेविलें पाहिजे. कोणताही राजा निपुत्रिक भेला असतां, त्याची गादी चालविण्यास कोणी नसल्यास, त्यांत लोकांचें नुकसानच आहे. करिता अशा ठिकाणीं दत्तक घेण्यास कांहीं हरकत नाही; तथापि औरस संततीच्या अभावीं कोणास दत्तक घ्यावा, किंवा निदानपक्षीं वार्डट मनुष्य तरी दत्तक घेऊं नये, हें पहाणें लोकांकडे असावें.

दुसरा अपवाद मिळ साहेबांनीं प्रस्तुत विषयासारखाच एक विषय प्रतिपादन करित असतां, आपल्या अर्थशास्त्रावरील पुस्तकांत दिला आहे. तो असा कीं, जर मयत मनुष्याचा एखादा मोठा कारखाना असला, तर तो मोडून टाकून त्याचे पैसे करून लोकोपयोगाकडे लावण्यापेक्षां, तो एकास देण्यांतच लोकांचा विशेष फायदा आहे; करितां अशा वेळीं एकासच इस्टेट दिल्यानें, लोकांचें कांहीं नुक-

सान होत नाही. अशा प्रसंगी दत्तक घेणे अगदी जरूर आहे. एखादा कारखाना एकाकडेसच असल्याने जितका सुरळीत चालण्याचा संभव असतो, तितका बार-भाई झाल्याने असत नाही. कारखाना मोडला तर हजारों लोकांचे (इंग्लंडांत एकेका गिरणांतून हजारोंवर लोक असतात) नुकसान होते. म्हणून दत्तकाखेरीज दुसरा चागला मार्गच नाही. तथापि तेथेही त्या कारखान्यातील सर्व उत्पन्न दत्तकास देण्याची आम्हांस जरूर दिसत नाही. कारखाना चालविण्यास त्यास उमेद येईल व त्याच्या श्रमाचा त्यास योग्य मोबदला मिळेल, इतकें उत्पन्न त्यास देऊन, बाकी भाग लोकोपयोगाकडे लावण्यास कांहीं हरकत दिसत नाही. वरील दोनही अपवादासंबंधाने यापेक्षा कांहीं जास्त लिहिण्याची गरज आहे, असे वाटत नाही. कारण दत्तक घेण्यास जी कारणे आम्ही आजपर्यंत दर्शविली आहेत, व त्यापैकी विशेषतः अर्थशास्त्रदृष्ट्या जी कारणे सांगितली आहेत, त्यापैकी एकही ह्या दोनही गोष्टींस लागू पडत नाही.

दत्तक अनवश्यक म्हणण्यास दुसरें सबळ प्रमाण असे की, ही चाल पुरातन असून चागल्या सुधारलेल्या राष्ट्रांतून आता अगदी नष्ट होत चालली आहे, व कित्येकांत झालीही आहे. या प्रमाणास इतकें महत्त्व देण्याचे कारण असे की, देशादेशांच्या इतिहासात, किती जरी अंतर असले, तथापि एकंदर सुधारलेल्या राष्ट्रांच्या इतिहासाकडे दृष्टि दिली, तर असे नजरेस येईल की, सुधारणा होण्यास म्हणून जी साधने आहेत, ती येथून तेथून सारखीच. आता सर्वच राष्ट्रे सारखी सुधारली नव्हती, व नाहींतही; तरी जी कांहीं हल्ली सुधारलेल्या राष्ट्रांत अग्रगण्य म्हणून मोडतात, त्याच्या सध्यांच्या स्थितीवरून एकंदर सुधारणेचा शौक कोणीकडे आहे हे तेव्हाच दिसून येते. परंपरागत चालत आलेल्या चाली होता होईपर्यंत सोडून नयेत, असा मानवी स्वभाव असल्यामुळे, जेव्हा सुधारणेच्या मार्गास लागलेले एखादे राष्ट्र आपली क्रमागत चाल सोडून देते, किंवा तीत फेरफार करते, तेव्हा साधारणतः असेच समजले पाहिजे की, ती चाल देशोन्नतीस काही तरी प्रतिबंधक होती, एवढी ती लोकानी कधी सोडली नसती. 'सुधारणेच्या मार्गास लागलेले' असे म्हणण्याचे कारण असे की, ज्या राष्ट्राची सुधारणा खुटली आहे, त्यांत किंवा जी सुधारलेल्या स्थितींतून रानटी स्थितीत जात आहेत, त्यात जर वरील प्रकार घडला तर त्यापासून कांहीं अनुमान काढतां येणार नाही. उलट कदाचित् तो फेरफार आपण सुधारणास प्रतिकूल असें मानूं. ज्याप्रमाणें नदी वाहात असली, म्हणजे तिचे पाणी स्वच्छ व आरोग्यकारक असते, व तीच वाहाण्याची बंद होऊन तीत डबकी झाली, म्हणजे जशी पाण्यास दुर्गंधी येऊ लागते, त्याचप्रमाणें देशांतील सुधारणेचा प्रकार होय. एकदां सुधारणेचे पाऊल खुंटले, म्हणजे पूर्वीचे चांगले चांगले प्रघात देखील वाईट रूपास येतात; व तेंच सुधारणेचे पाणी वहात असले म्हणजे बारीक सारीक वाईट आचारही निर्मल होऊन निघतात. वरील नियमास कांहीं अपवाद आहेत, नाहींत असे नाही. तथापि येवढी गोष्ट

खरी की, ज्या देशांत सुधारणा जागृत असते, तेथल्या रीतीभातींतही पण कांहीं जोम असतो; करितां एखाद्या देशाचाराचें सुधारणेस अनुकूल व शुद्ध असे स्वरूप पाहणें असल्यास, त्या बाबतीत ज्या देशात सुधारणा चालू आहे तेथें कसा काय प्रघात आहे तो अवश्य पाहिला पाहिजे. प्रस्तुत ज्या देशात सुधारणा जागृत आहे असे देश म्हटले म्हणजे, युरोपातील इंग्लंडादि व अमेरिकेतील युनायटेडस्टेट्स आदिकरून होत. व या सर्व देशांच्या सुधारणेचा मूळ पाया रोमन व ग्रीक लोकांची सुधारणा होय. युरोपातील हल्लींचीं बहुतेक राष्ट्रे रोमन व ग्रीक लोकांच्या मोडक्या इमारतींच्या पायावरच उभारलीं आहेत. म्हणून जर त्या राष्ट्रांत एखाद्या बाबतीत कसा काय रिवाज आहे, हें पाहावयाचें असेल, तर त्यापूर्वी रोमन व ग्रीक लोकात त्या संबंधें कशी काय वहिवाट होती हे पाहिलें पाहिजे म्हणजे त्याची उपपत्ति चांगली कळून येईल; याकरिता दत्तकाच्या संबंधानें तिथीपासून सुरवात करू.

प्राचीन सुधारलेल्या राष्ट्रांपैकी मुख्य मुख्य राष्ट्रे म्हटलीं म्हणजे एशिया खंडातील हिंदुस्थान, चीन वगैरे देश, व युरोपातील रोम व ग्रीस देश हीं होत. व त्यांतही पहिली सुधारणा म्हणजे एशियाखंडातलीच. तथापि या दोनही खंडांतल्या सुधारणेत एक मोठे अंतर आहे ते हें की, आम्ही व आमचे सर्वभक्षक बंधू चिनी लोक, यानीं परंपरागत आलेली सुधारणा पुढें चालविण्याचा प्रयत्न केला नाहीं, आणि रोमन व ग्रीक सुधारणेची तशी व्यवस्था न होता, स्वदेशांत नाहीं, तर परदेशांत तरी तिला पुरस्कर्तें मिळून तिची वाढ कायम राहिली आहे. एवढ्याच कारणानें जरी या दोनही सुधारणांचे पूर्वरूप बहुधा सारखें आहे, तरी शेवटीं शेवटीं दोहोंत पुष्कळच फरक नजरेस येतो. उदाहरणार्थ, दत्तकच घ्या. या संबंधानें एशियाखंडातील व युरोपखंडातील सुधारलेल्या प्राचीन राष्ट्रांतला रिवाज अगदी सारखा होता, असें म्हटल्यास काही हरकत नाहीं. इतकेंच नव्हे, तर कित्येकास हा प्रघात पूर्वेकडून पश्चिमेकडे गेला कीं काय, अशीही शंका आहे. पण शेवटील प्रकार पाहावा तो अगदीच निराळा. आम्ही अजून जशाचे तसेंच “ माता पिता वा दद्याता ” घाटीत बसलों आहों, व आमचे पाश्चिमात्य बंधू झपाट्याने पुढे चालले आहेत. दत्तकाच्या संबंधानें आज जी माहिती उपलब्ध आहे, तीवरून असे दिसून येते कीं, पूर्वी हा प्रघात सार्वत्रिक होता. आमच्याप्रमाणें रोमन, ग्रीक व चिनी लोकात पितराच्या ऋणाचें महत्त्व मानिलें आहे व आमच्यामध्ये जसे कुलाचारांचें प्राधान्य आहे, तसेच इतर राष्ट्रांतही एकदां होतें. ग्रीस देशचे इतिहासकार मि. ग्रोट यांनीं असें लिहिलें आहे कीं, त्या देशांत पूर्वी प्रत्येक घराण्याचा कुलाचार निरनिराळा असे, व त्या कुलातील होमहवन किंवा श्राद्धादिक करण्यास कुलांतल्या पुरुषाखेरीज कोणासही अधिकार नव्हता. चिनी लोकांत अजून हाच प्रकार आहे असें म्हणतात. रोमन लोकांत आमच्याप्रमाणेंच पूर्वी दत्तक देणाराचा एकटाच मुलगा असल्यास घेत नसत;

कारण त्यास घेतल्याने त्याच्या कुलांतील श्राद्धादिक करण्यास कोणी अधिकारी राहात नसे. यहुदी लोकांतही हाच प्रकार थोडाबहुत होता असे आढळते. साराश, जुन्या काळचा इतिहास पाहिला असतां, त्यांत श्राद्धाचे, पितरांचे, कुलाचारांचे व त्याबरोबर पुत्रोत्पादनाचे फारच प्राधान्य होते व असे असणे ही अगदी स्वाभाविकच होतें. कारण हल्लींप्रमाणें लोकांचे दळणवळण त्या वेळेस वाढले नसल्यामुळे, आपलें कूळ व आपण या पलीकडे प्रत्येक मनुष्यास काहीं दिसत नसे; व कूळ नष्ट झालें म्हणजे अर्थातच या जगात आपलें नाव ठेवण्यास, त्या वेळेस दुसरा मार्ग नव्हता. हल्लीं आपणास कुलक्षयाची जी एवढी भीति वाटते, तिची तरी उपपत्ति वरील स्थितीवरून करावयाची. नाहीपेक्षा, दत्तकापेक्षा कुलाचें नाव राखण्यास हल्लीं शतपट चांगले उपाय आहेत. असे, पण ज्या वेळेस हल्लींचे उपाय मुळींच टाऊक नव्हते, व ज्या काळीं कूळ व कुळाचार यांचेंच समाजात प्राबल्य होतें, त्या वेळेस कसे तरी करून कुळाचें नाव चालविणें, हे प्रत्येक मनुष्य आपले कर्तव्य समजत असे. औरस संतति नसली तर त्या काळीं आपल्या इस्टेटीची हवी तशी व्यवस्था करण्याचा दुसऱ्या कोणास अधिकार नव्हता. औरसपुत्र नसल्यास कोणास तरी दत्तक घेण्याची वहिवाट फार पुरातन काळापासून रोमन व ग्रीक लोकांत होती, व यहुदी लोकांत तर आपल्याप्रमाणेंच मयताच्या विधवेस दिरापासून पुत्रोत्पत्ति करून घेण्याची परवानगी होती. या जुन्या ग्रंथातून दुसरी एक विशेष गोष्ट अशी आढळते की, प्रथमतः कोणास आपली इस्टेट मरतेसमयां मृत्युपत्रानें दुसऱ्यास देता येत नसे. निपुत्रिक मनुष्यास, मृत्युपत्र करून आपली इस्टेट लोकास देण्याचा अधिकार, ग्रीक लोकांत सोलननें, व रोमन लोकांत ट्वेव्हटेबलच्या (द्वादशाज्ञा) कर्त्यांनीं प्रथमतः प्रचारात आणिला; व हाच प्रकार वाढतां वाढता पुढे दत्तकाच्या मुळावर आला, असें बहुतेक विद्वानांचें मत आहे. मार्गे सांगितल्याप्रमाणे आपणांत, व ग्रीक आणि रोमन लोकांत, जो फरक दृष्टीस पडतो, तो येथेच. पिंडदानादिक धर्मकृत्याशी व इस्टेटीशी जो संबंध शास्त्रकारांनीं प्रथमतः जोडून दिला होता, तो ग्रीक व रोमन लोकांत लवकरच तुटला; व त्याबरोबरच धर्मशास्त्राचा इस्टेटीवरील पगडा सुटून, व्यावहारिक कायद्याप्रमाणें तिची व्यवस्था होऊं लागली. या व्यवस्थेपासून एकंदर राष्ट्राच्या रचनेंत काय काय फेरफार झाले, व मृत्युपत्राने दत्तकास कसकसे मार्गे टाकिलें, याची हकीकत पुढील खेपेस देऊं. पण आजच्या लेखावरून ध्यानात घेईल कीं, दत्तकाचा प्रचार प्राचीन सर्व राष्ट्रांत सुरू होता, व त्याची कारणेही सारखीच होती. म्हणजे पितरांचें ऋण देण्याकरिता दत्तक घ्यावयाचा, अशी बहुतेक प्राचीन लोकांची सर्वत्र समजूत होती. परंतु काहीं राष्ट्रांत या समजुतींत लवकरच फरक होऊन, इस्टेटीचा व पिंडोदकदानाचा काही संबंध नाही, असें ठरल्यामुळे पुढें दत्तकाची चाल प्रचारातून नाहीशी होत चालली व आमच्यासारख्या कांहीं राष्ट्रांची पहिल्या पायरीच्या पुढें मजलच गेली नाही.

आधीं कोण ? राजकीय कीं सामाजिक ?*

गेल्या सोमवारीं मुंबई येथील ' स्टूडंट्स लिटररी अँड सायन्टिफिक सोसायटी ' पुढें ऑनरेबल का. त्रिं. तेलंग यांनीं " राजकीय सुधारणा आधीं कीं सामाजिक सुधारणा आधीं " या त्रिषयावर व्याख्यान दिलें. हा विषय आमच्या कानांत दुमदुमूं लागल्यास बरेच दिवस झाले. ज्या इंग्रज लोकांस आमची राजकीय धडपड रुचत नाहीं, त्यांचा आम्हास नेहमीं उपदेश चाललेला असतो कीं, " आर्यलोकाम्रणीनो, राजकीय प्रकरणांत इतक्यांत तुम्ही पडूं नका, अगोदर आपली गृहस्थिति सुधारा, आमच्यापार्शीं राजकीय हक्कांसाठीं मागणें घालण्यापूर्वीं आपल्या बायकांस, आपल्या मुलींस, आपल्या बहिणीस गृहदास्यांतून सोडवा, ब्राह्मणक्षत्रियादि जातिभेद लयास न्या, स्त्रीशिक्षणाचा परिपाठ घाला, गतभर्तृकांच्या पुनर्विवाहास यथेच्छ संमति द्या, एकवीस बावीस वर्षेपर्यंत मुली अविवाहित ठेवून त्यांच्याकडून पितृगृहीं असतां विद्याभ्यास करावा, इ० इ० हें जोंपर्यंत तुमच्यानें झालें नाहीं तोंपर्यंत राजकीय स्वातंत्र्य भोगण्यास तुम्ही पात्र झालां असें होणार नाहीं. दाराच्या आंत तुम्हांला बादशाही अम्मल गाजवायला पाहिजे व दाराच्या बाहेर जिकडे तिकडे लोकसत्ता झळकली पाहिजे. ही असंभवनीय गोष्ट कधींही होणार नाहीं. तर तुमच्या हिंमतीचा ओघ प्रथम गृहसुधारणेकडे लागूं द्या. " क्षुद्रदृष्टि इंग्रजांनीं आम्हांस असा उपदेश कर्गावा हें त्यांना योग्यच आहे. आम्ही मात्र तो कितपत अनुसरवा हें विचारणीय आहे. मि. मलबारी यांनीं शिशुपरिणय व असंमतवैधव्य या दोन विषयांवर आपल्या टांकानें आणि ओठानें हुलड करून देण्यास आरंभ केल्यापासून या विषयाकडे बऱ्याच लोकांचें चित्त वेधलें आहे. वर दिलेला मायावी उपदेश आमचे नानाफडणीस सर आळंड कालविहन् यांनीं मि. मलबारी यांच्या टिपणांस उत्तर देतांना केला. कालविहन्साहेब जाड बुडाचें ढेल पडल्यामुळे त्यांच्या लेखावर नेटिव्ह प्रेसाकडून बरीच टीका झाली. पण या पंधरवड्यांत या वादानें पुनः उचल खाल्यास मि. वर्ड्सवर्थ यांनीं मि. मलबारीस धाडिलेलें पत्र कारणीभूत झालें ! त्यांनीं त्या पत्रांत आम्हास वरील प्रकारचा उपदेश करणाऱ्या इंग्रजांची खाशी खरड काढून टाकिली आहे, व विशेषतः पाद्री लोकांवर चागलाच चाबूक ओढिला आहे ! त्यांच्या पत्रांतील मुख्य आशय असा आहे कीं, सामाजिक सुधारणेसाठीं अगदीं जीव सोडण्याची गरज नाहीं; राजकीय सुधारणा होत चालली म्हणजे तिच्या कधीं बरोबर, कधीं किंचित् पाटीमागून, सामाजिक सुधारणा होत जाते. हाच सिद्धान्त काशिनाथपंतांनीं आपल्या व्याख्यानांत विशेष खुलाशानें सिद्ध करून दाखविला आहे. काशिनाथपंतांची वाकशैली, विचारसरणी, कोटिक्रम, वाचनव्याप्ति व विनय-याविषयी

येथे पुनरुक्ति केली पाहिजे असे नाही. त्यांच्या आगचे हे गुण सर्वत्र प्रसिद्ध झाले आहेत. यांचे भाषण जिभेला जसे द्राक्ष तसे कानाला लागते ! ते ऐकतांना मंजुळ शब्द करीत वाहणाऱ्या स्वच्छ जलप्रवाहाची आठवण होते ! त्यांच्या प्रतिपक्ष्यांना सुद्धा त्यांचे बोलणे लक्ष देऊन ऐकावेसे वाटते. सोमवारच्या व्याख्यानांत हे गुण विशेष प्रतिबिंबित झाले होते असे ज्यांनी ते खुद्द ऐकिले आहे त्यांचे मत आहे. हे समग्र व्याख्यान टाइटिसपत्रात प्रसिद्ध झाले आहे. त्याने त्यांतील अगदी बारीक खिळ्यांचे तीन कॉलम भरून गेले आहेत. त्यांतील रस मराठी वाचकांस उतरून द्यावयाचा म्हटले तर सान्याचे यथास्थित भाषांतर केले पाहिजे. ते करीत बसले तर दोनचार आठवडे दुसऱ्या मजकुरास निरोप द्यावा लागणार ! बरे इतके करूनही त्यांच्या श्रोत्यांस जे समाधान व जो आनंद ते ऐकल्यापासून वाटला असेल त्याच्या निम्मा भाषांतर वाचण्याने आमच्या वाचकास होईल किंवा नाही याचा संशय आहे. शिवाय त्या व्याख्यानात इंग्लंडच्या इतिहासातील कित्येक महत्त्वाच्या गोष्टींचा व कायद्याचा जो उल्लेख केला आहे तो आमच्या इंग्रजी न जाणणाऱ्या वाचकास सुबोध होण्याची पंचाईत आहे. सबब त्या व्याख्यानाचे नीरस तात्पर्य देण्याशिवाय दुसरा इलाज नाही. आज येवढे करून पुढल्या खेपेस आम्हास जे त्याच्यासंबंधाने म्हणावयाचे आहे ते म्हणू. मि. तेलंग म्हणाले: —

ज्यांची गृहस्थिति सुधारली नाही त्यांची राजकीय स्थिति सुधारावयाची नाही असे ज्यांचे म्हणणे आहे त्याचा असा भाव आहे काय की अमुक प्रकारची देशांतील लोकांची गृहस्थिति असली म्हणजे अमुक प्रकारची संतोष मानण्यासारखी राजकीय सुधारणा व्हावयाचीच नाही, किंवा अमुक प्रकारच्या गृहस्थितीत लोकांचे पाऊल राजकीय कामात पुढे पडायचेच नाही असा जर त्याचा भाव असेल तर तो मोठ्या चुकीचा आहे. कारण एक तर गृहसुधारणा आणि राजकीय सुधारणा यांचे फारकत कोठे होते हे दाखविणे अत्यंत दुरापास्त आहे. कोळ्याच्या जाळ्या प्रमाणे याच्या पदरांची एकांतएक इतकी गुंतागुंत होऊन गेलेली आहे की, दिसण्यात जरी ते दोन प्रकारचे धागे दिसतात तरी उलगडायलाच बसले तर त्याच्यातील भेद दाखविण्याची मुष्कील पडेल. लोकशिक्षण, समुद्रपर्यटण, शिशुपरिणय, यापैकी कोणत्याही विषयाला शुद्ध सामाजिक किंवा शुद्ध राजकीय म्हणता येणार नाही. तथापि वादासाठी सामाजिक आणि राजकीय हा समजस भेद आहे असे मानिले तरी तेवढ्याने सामाजिक अथवा गृहसंबंधी सुधारणा झाल्याखेरीज राजकीय सुधारणा व्हावयाची नाही, व ती करण्याचा प्रयत्न करू नये असे कशावरून सिद्ध होते ? बरे, हाही सिद्धान्त खरा आहे असे घेऊन चालले तरी हिदुलोकांची कुटुंबे गुलामवाडे आहेत असे सिद्ध करण्यास काय आधार आहे ? जुलूम करणारे जाणूनबुजून जुलूम करीत असले, व ज्यांच्यावर तो होत असला, व ज्यांच्यावर तो होत असेल त्यांना तो आपणांवर होत आहे असे वाटत असले, तर एकाला जुलमी

व दुसऱ्याला गुलाम अशा संज्ञा देणें न्याय्य आहे. पण आमच्या घरीं अगदीं उलट स्थिति आहे. साहेबलोक ज्यांना गुलाम म्हणतात त्या स्वामिनी आहेत व ज्यांना ते स्वामी म्हणतात ते त्यांचे बंदे गुलाम आहेत ! बायकांच्या पायांत आम्हीं बिडी घातली आहे असें नाही, तर त्या आम्हांस सव्वामणाच्या जड बिडीसारख्या होऊन गेल्यामुळे आमचे पाय हालेनातसे झाले आहेत. अथवा आम्ही बायकांचे किंवा बायका आमच्या गुलाम हाच वाद बरोबर नाही. आम्ही—आमच्या बायका—आमच्या बहिणी, मुली—मुलें—आम्ही सारे केस पिकलेल्या अनादिसिद्ध पुराण लोक-रूढीरूप जगदंबेचे अतिलीन गुलाम आहों ! तिचें उग्र स्वरूप डोळे उघडून न्याहाळण्याचें धैर्य आम्हास होत नाही ! ही महिषासुरमथनी भारलेल्या जंतूप्रमाणे आम्हांस वागवीत आहे व आम्ही वागत आहों ! तेव्हा आम्ही आपल्या बायकांस गुलामांप्रमाणे वागवितो, हा साहेबलोकाकडून आम्हांवर होत असलेला आरोप माझ्यामते अगदीं निराधार आहे ! आता दुसरा प्रश्न असा आहे की, अमुक प्रकारची गृहस्थिति असली तरच अमुक प्रकारची राजकीय स्थिति प्राप्त होईल, नाहीतर व्हावयाची नाही—हें जें कित्येकांचें म्हणणें आहे तें इतिहासावरून सिद्ध होत नाही. शिवाजीनें मराठ्यांच्या राज्याची स्थापना केली; पेशव्यांनीं गंगेत व सिंधूत दक्षणी तट्टें नाहवून अटकेस भगवा झेंडा फडकविला, तो काय हायस्कुलात जाऊन चवथी इयत्ता शिकणाऱ्या मुलींच्या जोरावर ? शिवाजी, महादाजी शिंदा, थोरला बाजीराव—हे काय पचविसावे वर्षी लग्न केलेल्या मुलींच्या पोटी झाले होते ? त्यावेळेस शूद्रब्राह्मणाची ताटे काय एके ठिकाणीं होती ? का त्या वेळेस सती हा शब्द कोणास ऐकूनसुद्धां ठाऊक नव्हता ? काहीं नाही. आतापेक्षां त्यावेळची गृहस्थिति विशेष चांगली होती असे मानण्यास कांही आधार नाही. शिवाजीच्या पूर्वाचा काळ घेतला तरी तेंच दिसून येईल. सातव्या शतकांतील हर्षवर्धन आणि पुलकेशी राजांच्या कारकीर्दीविषयी जी माहिती उपलब्ध आहे तीवरून त्या वेळेस ह्या देशाची राजकीय स्थिति जरी समाधान मानण्यासारखी होती तरी त्या वेळेच्या लोकांची गृहस्थिति आतापेक्षा विशेष बरी होती, असे मानण्यास कांही आधार नाही. आतां कोणी असें म्हणतील, की हें हिंदुस्थानचे उदाहरण काही कामाचें नाही. येथला खरा इतिहास सांपडण्याचें साधन नाही; सबब ज्या देशाचा खरा इतिहास उपलब्ध आहे त्याचें उदाहरण घेतलें पाहिजे. कबूल आहे. अशा प्रकारचा इतिहास इंग्लंडच्या इतिहासाहून दुसरा कोणता आहे ? पण त्या इतिहासावरून सुद्धां देशांतील लोकांची अमुक प्रकारची गृहस्थिति असेल तरच अमुक प्रकारची राजकीय स्थिति असू शकते, हें जें कित्येकांचें म्हणणें आहे तें सिद्ध होत नाही. सतराव्या शतकांत राजकीयसंबंधानें इंग्लिश लोकांचें पाऊल पुष्कळच पुढें पडलें. ट्यूडर घराण्यांतील राजेराण्याचा जारी अंमल संपल्याबरोबर हक्क मागण्याची जी टीका लोकांनीं एकदां हाती धरली ती शंभर वर्षेपर्यंत खाली ठेविली नाही. राजांचे वर्चस्व कमी करून लोकांचे हक्क निश्चित करण्यासाठीं एका राजाला

कंठस्नान घालवें लागलें, व एकाला पदच्युत करून त्याच्या जागीं परदेशचा इसम आणून बसवावा लागला ! राजकीयसंबंधानें इंग्लिश लोकानीं सतराव्या शतकांत इतका झपाटा मारिला तरी त्याला साजगारी त्यावेळेस किंवा आतां त्यांची गृहस्थिति नाही हें ज्यांनीं मेकॉले, मिल्ल वगैरेंचे ग्रंथ पाहिले आहेत, इंग्लंडची सफर केली आहे, किंवा दुसऱ्या कोणत्याही रीतीने इंग्लिश समाजाचें ज्ञान करून घेतलें आहे त्यांना दिसून येईल. आतां आमच्या बायका जशा अक्षरशत्रु आहेत तशा इंग्लंडच्या सतराव्या शतकांत होत्या. आता आम्हात जशी कांही सामाजिक लफडी आहेत, तशीं इंग्लंडातही आहेत. इंग्लंडची गृहस्थिति आमच्याहून फार चांगली आहे हें अगदीं मान्य आहे, पण ती असावी तशी नाही हे निर्विवाद आहे. साराश काय कीं, गृहस्थितीचा राजकीय स्थितीशीं सार्वत्रिक व सार्वकालिक समवायसंबंध लावणें नीट नाही. येथें व्याख्यानाचा पूर्वार्ध झाला.

उत्तरार्ध

मागल्या निबंधांत शिरोलेखांत नमूद केलेल्या विषयाच्या संबधानें आ. काशि-नाथपंत तेलंग यांच्या व्याख्यानाच्या पूर्वार्धाचा सारांश दिला. यांत उत्तरार्धाचा देऊन अवकाश राहिल्यास विषयासंबंधाने आमचा अभिप्राय द्यावयाचा.

अमुक देशांत अमुक प्रकारची सामाजिक स्थिति असली म्हणजे त्या देशांत अमुक प्रकारची राजकीय स्थिति असलीच पाहिजे असें जें कित्येकांचें म्हणणें आहे तें चुकीचें आहे हे दाखविण्यासाठी आतांपर्यंत काहीं ठळक ठळक अशीं सम प्रमाणें दाखविलीं. आतां वरील माझे मत व्यस्त प्रमाणानीं सिद्ध करून दाखवितों. तारतम्यदृष्टीने पाहिले असता ज्या मार्गानें कार्यशकटाच्या चक्रास कमीत कमी घर्षण होईल अशांने तो नेण्यात मनुष्याचा फायदा आहे, हें कोणीही कबूल करील. ज्या रस्त्यावर खाचखळगे नाहींत, ज्यावरील मुरूम दाबून बसविलेला आहे, ज्यानें प्रवास केला असतां भामट्यांची भीति नाहीं व जो नेहमींच्या रहदारीचा आहे, अशांने जाणे अत्यंत श्रेयस्कर आहे. हिंदुस्थानासारख्या महाद्वीपतुल्य देशांत सामाजिक सुधारणा लवकर घडून आणणें अत्यंत दुरापास्त आहे; व पूर्वीची स्थिति आज असती तर राजकीय सुधारणाही सामाजिक सुधारणेपेक्षा अधिक सुलभ झाली नसती. देशाच्या निरनिराळ्या भागावर जर स्वतंत्र राजे राज्य करित असते तर सर्वांचे राजकीय विचार एकसारखे होऊन सर्वांनीं एकमेकाशीं सलोख्याने वागण्यास आरंभ होऊं लागण्यापूर्वी पुष्कळ वर्षे लोटलीं असतीं. परंतु ईश्वर-च्छेनें या विस्तीर्ण भरतभूमीवर इंग्रजासारख्या अत्यंत सुधारलेल्या व उद्योगी लोकांचें दृढ साम्राज्य झालें असल्यामुळें राष्ट्रांतील चुरस नाहींशीं झाल्यासारखी होऊन सगळे प्रांत एका दावणींत गोंवले गेले आहेत, यामुळे राजकीय प्रकरणांत तरी त्यांचा एकमेकाशीं फारसा बेबनाव होण्याचा संभव राहिला नाही. राजकीय दृष्ट्या सर्वांच्या कपाळीं सारखे दास्य आलें आहे; व त्यातून पार पडण्याची सगळ्याची

सारखी इच्छा आहे; या संबंधाने फारसा मतभेद नाही. यासंबंधाने एकी होण्याचा बराच संभव आहे, हें थोड्या दिवसापूर्वी येथे भरलेल्या राष्ट्रीय सभेवरून स्पष्ट दिसून आले. राजकीय विषयाच्या संबंधाने आमचा एकोपा होऊन आमचे पाऊल लवकर पुढे पडेल असे मानण्यास जी अनेक कारणे आहेत त्यापैकी मुख्य कारण असे आहे की या कामी आम्हांस जिंकणाऱ्या आमच्या राज्यकार्याकडूनच पुष्कळ साहाय्य होण्याची आशा आहे. इंग्लंडदेश स्वातंत्र्याचे माहेरघर होऊन बसले असल्यामुळे इंग्लिश लोकाना आपल्या प्रजेस स्वातंत्र्यदानाची जशी इच्छा आहे तशी युरोपांतील दुसऱ्या कोणत्याही राष्ट्रास नाही, हें निर्विवाद आहे ! आमच्या देशांतील सुधारकास दोन अवघड किल्ले सर करावयाचे आहेत; एक राजकीय स्वातंत्र्याचा व दुसरा सामाजिक स्वातंत्र्याचा. दिसण्यांत सध्या दोनही अभेद्य दिसत आहेत. पण सुधारकचमूच्या कुशल अग्रणींनी सूक्ष्म विचाराच्या दूरदर्शक यत्नाने जी टेहेळणी केली आहे, तीवरून त्यांना असे दिसून आले आहे की पहिला हल्ला राजकीय स्वातंत्र्यगडावर केल असता तो विशेष फायदेशीर होणार आहे. कारण या दुर्गाच्या तटावर रक्षणासाठी ठेविलेल्या शिपायात सुधारकांना अनुकूल अशी काहीं मित्रमंडळी आहे. या घरभेद्या मंडळीच्या साहय्याने आमचे थोडक्या वर्षांत बरेच हित होण्याची आशा आहे ! आम्ही निकराची चाल केली असता त्याच्याकडून योग्य प्रसंगी तटाचे दरवाजे उघडले जाऊन ते आम्हांस आत घेतील असे मानण्यास बराच आधार आहे. या राजकीय दुर्गाच्या उलट असलेल्या दुर्गाच्या संबंधाने अशा प्रकारची आतून मदत होण्याची मुळीच आशा नाही. या दुर्गाच्या कोटात आम्हांस अनुकूल असा एकही इसम नाही; त्यामुळे तो सर करण्यास आम्हांस बरीच वर्षे खटपट केली पाहिजे. पांच पन्नास वर्षे त्याला वेढा घालून जेव्हां बसोवें, व आत अन्नपाणी जाण्याच्या साऱ्या वाटा मजबूद रीतीने अडवाव्या, व आंतील वीरास भुकेने व तान्हेने जेरीस आणावे, तेव्हा कोठें त्याच्याकडून तहाचे निशाण लागलें तर लागेल. तसें होईपर्यंत आमची सर्व धामधूम फुकट जाणार आहे. पहिला किल्ला घेणं सुसाध्य आहे; दुसरा घेणें असाध्य तर नाहीच पण कष्टसाध्य किंवा दुःसाध्य आहे. पहिला सर करण्यांत केलेले श्रम फारसे व्यर्थ जाण्याचा संभव नाही; दुसरा घेण्यासाठी केलेल्या श्रमाचें फळ लवकर येण्याची आशा नाही. पहिल्यावर स्वारी करण्याविषयी साऱ्यांना सारखी उत्सुकता आहे; दुसऱ्याच्या तटावर गोळ्या सोडण्यास साऱ्यांचा हात सारखा वहात नाही. शिवाय-जर सुदैवाने सुधारकसेनेस पहिला घेता आला तर त्याच्या उंच तटावर उभे राहून दुसरा सर करण्यास तिला बिलकुल श्रम पडणार नाहीत. कारण कोणत्याही कारणासाठी मनुष्यांना एकदा एकदिलाने वागण्याची, श्रम सोसण्याची, दुसऱ्यासाठी स्वहिताचा त्याग करण्याची, व स्वातंत्र्य आणि मोठेपणा संपादण्याची चटक लागली म्हणजे ती चटक त्यांना प्रथम जी कामे अशक्यशी वाटलेली

असतात तीसुद्धां सहज करून टाकण्यास समर्थ करते. थोरला बाजीराव व थोरला माधवराव यांच्या कारकीर्दीत मराठ्यांच्या तरवारीचा पराक्रम बराच दूरपर्यंत जाऊन थडकल्यावर गृहस्थिति सुधारण्याकडे त्यांचे लक्ष सहजपणे लागले, व ती होण्यास आरंभही झाला होता. प्रसिद्ध ब्राह्मणवीर परशुरामभाऊ पटवर्धन यांची कन्या तरुणपणीं गतभर्तृका झाली होती. तिचा पुनर्विवाह करून तिला पुनः सनाथ करावे असा त्याचा बेत होता व त्या कामास अनुकूल अशी त्यानी बऱ्याच शास्त्रीलोकाची मते गोळा केली होती हे सर्वास ऐकून तरी ठाऊक असेलच. परशुरामभाऊंच्या विचारास जे प्रतिकूल होते त्यानी मोठ्या नम्रतेने त्यांचे मन वळवून त्यांच्याकडून तो विवाह होऊ दिला नाही ही गोष्ट निराळी. पण भाऊंच्या मनात तो करण्याचा एकदा सकल्प झाला, व त्याच्या म्हणण्यास पुष्कळ शास्त्र्यांचा रुकारही पडला. यावरून राजकीय स्थिति सुधारली असता गृहस्थितीहि सुधारण्यास कसा आरंभ होतो, हे सर्वांच्या लक्षात येणार आहे. तसेंच, जिववादादाशीं पेशवे ज्या रीतीने वर्तन करीत ती रीत, सवाईमाधवरावाचा विवाह झाला तेव्हा मराठ्यांना आणि मुसलमानांना एके ठिकाणीं झालेली मेजवानी, बाळाजी बाजीरावाने देशस्थ कन्येशीं केलेला विवाह, या व असल्या दुसऱ्या अनेक गोष्टींवरून माझा फार दिवसापूर्वी झालेला जो समज—कीं पेशव्यांचे राज्य आणखी काहीं वर्षे चालते तर ज्या सामाजिक सुधारणांसाठीं प्रस्तुत आम्हास व आमच्या राज्यकर्त्यांस इतका त्रास पडत आहे त्या राज्यात तेव्हाच घडून येत्या—तो अलीकडे दृढ झाला आहे. दुसरी आणखी एक लक्षात ठेवण्याजोगी गोष्ट अशी आहे कीं राजकीय प्रकरणीं वादांत तर्कांचे बरेच प्राबल्य चालते; सामाजिक किंवा धार्मिक वादांत तो अगदी कुठित होतो. पहिल्या वादात बुद्धीवर प्रहार होत असतात; दुसऱ्या वादात मनोविकार दुखविले जातात. बुद्धि अथवा विचारशक्ति मनोविकाराहून अधिक शक्त व कमी दुराग्रही असल्यामुळे तिला तत्त्वाचा बोध लवकर होतो व तो एकदा गाला म्हणजे तदनुसार वर्तन करण्यास मनुष्यमात्र फारसा कचरत नाही. मनोविकाराची तशी गोष्ट नाही. वादानें ते अधिकच चकळतात व अगदी अंध ठेऊन जातात. यासाठीं होतां होईल तो त्यांना कोणीही डिवचू नये. त्यांना गगच्या जागी थडे होऊं द्यावे. त्यांच्यातली गर्मी नाहीशी झाली की ते निःशक्त ठेऊन अखेरीस कापराप्रमाणें उडून जातात. त्यांचा नाश लवकर करावयाचा असेल तर त्यांना सुशिक्षणाचा किडा लावावा. म्हणजे थोड्या वर्षांत त्यांचे पीठ ठेऊन त्यांचा इमला दासळतो. वर्तमानपत्रें लोकशिक्षणाची बलवत्तर साधनें आहेत हे मी प्राजलपणें कबूल करतो. राजकीय वादास त्यांच्याप्रमाणें दुसऱ्या गणाकडूनही साहाय्य होत नाही. तथापि त्यानीं होता होईल तों सामाजिक विषयांच्या वाटाघाटींत किंवा धर्मवादांत पडूं नये, असें माझे मत आहे. वर्तमानपत्रात असल्या विषयाची चर्चा होऊं लागल्यानें लोकांचे दुराग्रह अधिकाधिक बळकट

होत जातात, व त्या मानाने सामाजिक सुधारणेचें काम दुष्कर होत जातें. राजकीय विषयांची तशी गोष्ट नाही. त्यात फारसा मतभेद नाही; निदान इंग्रजांच्या अमलाखालीं सर्वांस एकच स्थिति प्राप्त झालेल्या आम्हां हिंदुस्थानांतील लोकांत तो होण्याचा संभव नसल्यामुळें पारशी, मुसलमान, मराठे, गुजराथी, सिंधी, बंगाली, मद्राशी वगैरेचीं राजकीय मते सारखी पडतात. कित्येकदां अशा संबंधाने आम्हांत जें मतसाम्य दिसते त्याविषयी आमच्या राज्यकर्त्यांस मोठा अचंबा वाटून ते त्याबद्दल नानातऱ्हेचे कुतर्क करतात. पण ते त्याविषयीं नीट विचार करतील तर तसें साम्य दिसणें हेच स्वाभाविक आहे, असे त्यांच्यापैकी जे विचारी असतील अशांच्या तरी लक्षांत आल्यावांचून राहणार नाहीं सामाजिक सुधारणेकडे मुळींच लक्ष देऊं नये असें माझें म्हणणे नाही. कांहींनीं तिकडेही लक्ष दिलें पाहिजे, व तें त्यांच्याकडून दिलें जात आहे हें स्त्रीशिक्षणास, पुनर्विवाहास, बालविवाहनिषेधास, जातिभेदाभेदास व यासारख्या इतर गोष्टींस उत्तेजन येण्यासाठी जे प्रयत्न चालले आहेत, व त्यांना जे थोडे थोडे फळ येऊं लागले आहे त्यावरून दिसून येईल. तथापि सर्वांनींच या मार्गाकडे वळण्याची गरज नाही. आ० रा० ब० म० गो० रानडे यांच्यासारखी बुद्धिमत्ता फारच थोड्यांच्या आर्गां असते, यामुळें सर्व कामें सारख्या रीतीनें उठविणारा त्यांच्यासारखा पुरुष फारच विरळा असतो. बहुतेक लोकांचें बुद्धिसामर्थ्य फार माफक असते, यामुळे त्याचा व्यय फार जपून केला पाहिजे. सध्याच्या आमच्या देशस्थितीत विद्वान् लोकांच्या बुद्धिसामर्थ्याचा बराच भाग राजकीय सुधारणेकडे व काही मात्र सामाजिक सुधारणेकडे लागला पाहिजे, असा माझा एकदरीत ग्रह झाला आहे.

✽माधवबागेंतील सभेवरील आक्षेप.

मातंगा किमुः वल्लितैः किमफलैराडंबरैर्जम्बुकाः ।

सारंगा महिषा मदं व्रजत किं शून्येषु शूरा न के ॥

कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः ।

सिंधुध्वानिनि हुंकृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम् ॥

हिंदु समाजानें माधवबागेंत जें आपलें रौद्रस्वरूप प्रगट केलें, त्याची आमच्या अत्युत्कट साहसी सुधारकास, अथवा दुर्धारकास, पूर्वी कदाचित् कल्पनाही नसेल. समाजाची दृष्टि आपणांकडे वळली नाही, हे जोंपर्यंत पूर्णपणें माहीत होतें तोंपर्यंत त्यांनीं त्यावर अपशब्दांचा वर्षाव करून घेतला; आपले ज्ञानभांडार वर्तमानपत्रांच्या द्वारें निःशेष बाहेर काढिले; आपली विचारशैली व आपलें वाक्यां-

डित्य निरर्गलपणें सभांतून व समाजांतून प्रगट केलें; आपली थोरवी वर्णितांना व आपल्या अप्रतिम धैर्याची, श्रेष्ठतेची, सदयतेची, यरोपकारित्वाची बडिजाव मिरविताना, ते वस्तुस्थिति अगदीच विसरून गेले; व मनोराज्याच्या परमभरांत, शहाणपणांत, दूरदर्शित्वात, शक्तिमत्त्वात आपण ईश्वरतुल्यच आहों, असेंही पण त्यास बहुतेक वाटूं लागले. “कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्” असें आपल्या अर्गी सामर्थ्य असता हिंदु समाजास आपण शेडी धरून का वाकवून नये अशी त्याच्या मनांस साहजिकच वीरश्री उत्पन्न झाली, व त्याच्या वल्गना प्रत्यही अधिकाधिक बीभत्स स्वरूप धारण करू लागल्या; त्याची प्रकृति व प्रवृत्ति दिवसानुदिवस अधिकाधिक जाज्वल्यता प्रगट करूं लागली, व प्रत्येक वीर आत्मबहुमानानें आपल्या नावाचा डंका वर्तमानपत्रातून मिरवून सुधारकाचा अग्रणी होण्याची अत्याशा बाळगू लागला. याप्रकारें सर्वत्र निस्सीम कलकलाट उडून गेल्यावर, स्थिर व गंभीर असा आमचा हिंदु समाजही फार वेळ तटस्थवृत्ति धारण करील, हें शक्य नव्हते. त्यानें अखेरीस आपलें अक्राळविक्राळ स्वरूप प्रगट करण्याचा निश्चय केला. त्याची वार्ता पसरते न पसरते तोच आमच्या साहसी सुधारकाच्या तोडचे पाणी पळाले; त्याच्या शक्ति विगलित झाल्या! त्यांची हृदये निराशेनें पूर्णपणे ग्रासून टाकिली; व विराटपुत्र उत्तर याहूनही ज्याचा वीर्यातिरेक विशेष, असे सुधारकाचे मोहेरे, कांणी बृहन्नडा आपणास या प्राणातिक संकटातून वाचवील काय या विचारात पडले !

माधवबागेंतील टोलेजग सभेमध्ये जो ठराव होणार होता, त्यातील शब्द-मात्रासही सभेत विरोध करण्याची ज्याची प्राज्ञा नव्हती, अशी ही भेकड मंडळी आतां काय युक्ति लढवितात, हें आम्हास पाहाण्याची फार उत्कंठा होती; व त्यानीं सर्वांनुमतें जी अजब युक्ति काढिली तां आता जगत्प्रसिद्ध झालीच आहे, तेव्हा त्यांच्या अकलेर्ची व धूर्ततेची वाचकास कल्पना आलीच असेल. सरकारनें हिंदुधर्मातील लग्नकार्यादि विषयात हात घालू नये, अशा अर्थाचा अर्ज करायचा हें कर्तव्य जाणून हजारो लोक एकत्र होतील, माधवबागेंतील विस्तीर्ण जागेंतही मावायचा नाही, असा अफाट लोकसमुदाय जमेल, व आ. रा. सा. मंडलिक यांनीं अध्यक्षस्थान स्वीकारलें असतां त्याच्या प्रसिद्ध लोककल्याणकारित्वामुळें मुंबईतील लहान मोठे सर्व व्यापारी, कामदार, व वजनदार लोक—यांच्या पक्षास बळकटी देण्याकरितां एकजूट होतील, व आजपर्यंत अपशब्द, मिथ्या-रोप, व अमंगल वल्गना असह्य होईपर्यंत सहन केल्यांन, प्रतिपक्ष बळावले की काय या भीतीनें, सर्व विचारी व समंजस लोक आपले विचार एकवेळ प्रगट करण्याचीही संधि घेतील,—ह्या सर्व गोष्टी जाणून, व आपली अल्पसंख्या लक्षांत आणून आमच्या उत्कट सुधारकांनीं अर्जाचे अक्षरास हात न लावतां त्यांत आपलें कार्य होईल, अशा तऱ्हेचे एक वाक्य घालण्याचा निश्चय केला व त्या-बद्दल सूचना करण्याकरितां मि. तेलंग याची उठावणी केली. या सूचनेचा पूर्ण-

पणें मोड झाला हें वाचकांस अवगत आहेच; परंतु ती करण्यांत मतलब काय होता हें कदाचित् सामान्य वाचकांस कळले नसेल. आपला हीन पक्ष आहे हें जाणून, व तो पक्ष सबळ होण्याची आशा नाही असें समजून, मंडळींनीं विचार केला कीं हिंदुधर्मातील रीतीभार्तीनीं आमचा पुष्कळ तोटा होत आहे, हें अर्जांत हलकेंच घुसडून द्यावें, व आपल्या पुढील खटपटीस तितकीच बळकटी करून घ्यावी, अशा युक्तीनें लोकांच्या डोळ्यांत धूळ पाडता येईल. ही शकल ज्यास सुचली त्यांस प्रथम आपल्या अकलेची केवढी वाहवा वाटली असेल, व मागून मुंबईतील लोकांची धूर्तता पाहून, त्याचा किती निरुत्साह झाला असेल? क्षुद्र-प्राणीही मरतां मरतां हात पाय झाडल्यावाचून रहात नाहीं. आपलें सर्व वागजाल फुकट जाणार, आपला भ्रमाचा मोपळा फुटून आपली सर्वत्र उपहास्यता होणार, व अविचार, दुराग्रह व मंदमति—या त्रिदोषानें आपली कीर्ति पंचत्व पावणार, हें पाहून, या तीव्र सुधाकरानीं सभेच्या कामावर व तेथें जमलेल्या मंडळीवर, व त्यांच्या साहजिक व अनिवार्य कृत्यांवर मिथ्याक्षेप करणास आरंभ केला. कोणी व्याघ्रचर्मानें आपलें शरीर व कर्णयुगुल झाकांत झाकांत, सभेमध्ये केवढा घोटाळा, केवढी लाथाळी, व कलकलाट होता, अशा तऱ्हेची तक्रार अध्यक्ष-कडे करूं लागला; पण त्या सर्वांत आपला व आपल्या सजातीयाचा कितीतरी भाग होता, हें साहजिकच विसरून गेला. कोणी आमचा पक्ष फारच मोठा होता, परंतु त्यास आपले अस्तित्व दाखविण्यास संधि सांपडली नाही व त्यामुळे तो कोणाचे दृष्टीस पडला नाही, अशी तक्रार करूं लागला. कोणी काय त्या सभेत भाटे, वाणी वगैरे जाती होत्या, ब्राह्मण व मराठे कोटें होते, ते तर आमच्या पक्षास आहेत, अशी फुशारकी भिरवूं लागला; व कोणी ही सभा मूर्ख व अज्ञान लोकांची होती, आमच्यासारखे त्यात शहाणे किती सांपडतील, असा स्वाभिमानपूर्वक प्रश्न करून आपलें समाधान करून घेऊन तटस्थ झाला. अशा तऱ्हेचे आक्षेप काढणारे केवळ शेंदाडशिपाई नव्हेत काय? आपल्या पक्षाचे सबळतेची ज्यास खात्री आहे, आपल्या पक्षाकडे शहाणपणाचा मक्ता आहे, असें ज्याची मनोदेवता सागते, व हजारां सुविचारी लोक आपणास हांक मारतांच आपणांस पाठबळ देण्यास येऊन सभेची व्यवस्था व शांतपणा यांचा विलकुल मोड करणार नाहीत, असा ज्याच्या अंतर्थांमीं भरवंसा असेल, तो असल्या कुरापती काढून रडत बसेल काय? प्रति-पक्षानें दुसरेच दिवशी तशीच सभा कां नाही भरविली? त्याच्या निश्चयार्ची बंधनें वरच्यासारख्या सभेनें का शिथिल व्हावीं? सुधारणेची सुल्लें स्वतःच्या उत्साहानें एकवार हातीं घेतलीं असतां कोणत्याही धैर्यवान व बुद्धिमान पुरुषाचे हातांतून तीं याप्रमाणें गळून पडतील असें आम्हास वाटत नाहीं.

असो; परंतु या साहसी सुधारकांचा जो शेवटचा आशांतु होता तोही आतां तुटला. सरकारनेंच परपक्षाची बळकटी जाणून आपण या कामांत सुधारकांस मदत करणार नाहीं असें आतां स्पष्ट सांगितलें. सुधारकांनीं आपल्या शहा-

णपणाचा किंवा कर्तव्याचा कोणताही भाग लोकाची चित्ते पुनः आपणांकडे वळविण्याकरितां शिल्लक ठेविला आहे असें नाहीं. तेव्हा आता पुनरपि त्यांनीं आपली अधिकच बेअन्न करून घेण्याचें नाहीं न लागता स्वस्थ रहावें हे बरें. हा आमचा उपदेश त्यांनीं मान्य न केल्यास त्यात हिंदुसमाजाचें काय नुकसान होणार ?

उत्पतितोपिहि चणकः ।

शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भक्तुम् ॥

खमाबाईचा खटला *

महर्षि पिन्हेप्रणीत धर्मशास्त्रास गुंडाळून ठेवून हायकोर्टाने नुक्ताच या खटल्याचा जो निकाल केला तो ऐकून आमच्या स्त्रीसमाजसुधारणावाल्याची बरीच गडबड उडून गेली आहे, व अज्ञान आणि पराभववेश याच्या भरात त्यांनीं हवें तें चरळण्यास सुरवात केली आहे. एक म्हणतो:—“ काय हो ! हायकोर्ट म्हणजे इंग्रजी न्यायाचें आदिपीठ ! मग तेथे स्त्रियांच्या हक्काची अर्शा पायमल्ली व्हावीना ? हिंदु लोकां ज्ञाला म्हणून काय ज्ञाले ? हायकोर्टानें काही सुमार पाहावा कीं नाहीं ? आमच्या जुन्या कायद्याप्रमाणेच आमची व्यवस्था लावावयाची असल्यास आम्हास हे हायकोर्ट कशास पाहिजे ? एकट्या खमाबाईस असल्या बेवकूब भ्रताराचे हातून सोडविल्याने हिंदुधर्मशास्त्रास काही बाध आला नसता. पण तेवढ्यानें रिफॉर्मचें काम किती पुढे सरले असते ? ” दुसरे एक दिवाण हिंदु विधवाचे कनवाळू मलबारीशेट यास असें लिहितात की:—“ या कलियुगाचा महिमाच असा की, न्यायाधिशांनी असे न्याय द्यावे. खमाबाईसारख्या साध्वीस तिच्या संमतीविरुद्ध या पुच्छविषाणहीनाच्या गळ्यात कोर्टानें बाधावीना ? हरहर केवढा अनर्थ हा ! पूर्वी येशूख्रिस्तास विनाकारण सुळावर चढवून आल्या कपाळीं दुर्भाग्य ओढून आणल्याची यहुदी लोकांची एक गोष्ट आहे. पण त्यापेक्षाही भयंकर प्रकार हा ! अहो ! हे आमचे पाप खमाबाईस भोंवते आहे ! आम्ही आमचे ऋषिप्रणीत धर्म सोडले त्याचें हे फळ बरें ! धन्य खमाबाई तुझी ! धन्य कीं लोकांच्या पापवादास न भितां तूं आपल्या पूर्वजास तारलेस व आपल्या देशभगिनींस किता घालून दिल्यास ! ” तिसरे एक उंटावरील असें विचारात की, “ खमाबाईचा विवाहसंस्कार झाला असला म्हणून काय ज्ञाले ? गर्भाधानसंस्कार कोठें झाला होता ? गर्भाधानसंस्काराखेरीज विवाहविधि पूर्ण होत नाहीं, निदान का व्हावा हे समजत नाहीं. इंग्रजसरकारचे हातून या गोष्टी वा जरा

बंदोबस्त होत नसेल तर त्यांनी खुशाल आपल्या कामाचा राजीनामा देऊन चालतें व्हावें. इ. इ. ”

वरील सर्व आक्षेपांस उत्तर देण्यास आम्हांस सवड नाही व आमची इच्छाही नाही. ज्या लोकांस—मग ते स्वधर्मी असोत अथवा परधर्मी असोत—हिंदुलोकांच्या रीतरिवाजाची बिलकुल ओळख नाही, किंवा असूनही जे विसरल्याचें सोंग आणतात, ज्यास कलियुगातील न्यायाधिकांच्या धर्माचें वाक्य सुचतें पण त्याबरोबरच स्त्रीधर्माचें स्मरत नाही, ज्यांची प्रतिभा ऋषिवर्गांच्या नक्षत्र-प्रभेस लाजवून त्यांच्या दृष्टीस अगोचरही विषय आत्मदृष्टि गोचर करूं शकते, ज्यास विवाहसंस्कार व गर्भाधानसंस्कारांमधील भेद कळत नाही व ज्याचे वेद-व्यास म्हणजे मोक्षमूलर, मोनियर बुइलियम पिन्हाचार्यादि महर्षि, अशांच्या विचाराचे निदर्शन हेच त्यांचे खडन होय. आमच्या स्त्रियाची उन्नति होणें अत्यंत आवश्यक आहे हे आम्ही कबूल करतो. पण या वृथा सुधारकांस आमचें इतकेंच सागणें आहे की, ती सुधारणा अर्ध्या हळकुंडानें पिवळी होणाऱ्या रखमाबाई-सारख्या अजाणत्या स्त्रीच्या हातून कधीही व्हावयाची नाही. आज हजारों पुरुष आपल्या अजाणत्या बायकाबरोबर सुखानें नादत आहेत. असे असता एका शान-लवदुर्विदग्ध स्त्रीने आपला भ्रतार आपणास योग्य नाही म्हणून आपणास काडी मोडून या अशी कोर्टांत फिर्याद आणावी ही आश्चर्याची गोष्ट नव्हे काय ? व त्याहूनही आमच्या सुधारणावाल्यांनी तिची टिमकी हातीं घेऊन त्यातून हवा तेवढा असंबद्ध प्रलाप व घोष बाहेर काढावा हें अधिक आश्चर्यकारक नाही काय ? इंग्रज लोकांतही एकदां विवाह झाल्यावर, मग गर्भाधानविधि झाला असो वा नसो, माझा नवरा मला आवडत नाही एवढ्याच कारणावरून नवऱ्यापासून विभक्त राहण्याचा किंवा काडी मोडून घेण्याचा हक्क स्त्रीस प्राप्त होत नाही; व इंग्लंडांत जर असा खटला उपस्थित झाला असता तर त्या स्त्रीची तिकडे छीथूच झाली असती. रखमाबाईस काय ती सवड एवढीच की, तिचा विवाह इकडच्या रीतीप्रमाणें लहानपणीच झाला असल्यामुळे तिची त्या विवाहास संमति घेतली नव्हती. पण आमच्या मतें यात काही अर्थ नाही. वधूवरांच्या संमतीनें विवाह व्हावा ही गोष्ट काही वाईट नाही, तथापि एकंदर परिणामाकडे लक्ष दिलें असता जेथे एकमेकांच्या संमतीने विवाह होतात तेथेही नवराबायकोचे किती तंटे होतात हें मनांत आणिलें म्हणजे आमच्या देशांत जी आज पूर्वापार चाल चालत आलेली आहे ती बदलण्यापासून आपणास कितपत फायदा होईल याची आम्हांस शंकाच आहे. तशांत समाजाकडे लक्ष दिलें असतां त्याची आवश्यकता आज बिलकुल दिसून येत नाही. मग त्यावद्दल एवढी गडबड कां ? बरें क्षणभर हेंही कबूल केलें तरी पूर्वापार चाल सुधारावी कीं नाही, ह्याचा विचार करण्याचें हायकोर्टाचें काम नव्हे. लोकांमध्ये जी चाल असेल किंवा जो कायदा असेल त्याची अंमलबजावणी करणे हें हायकोर्टाचें कर्तव्य आहे. व लोकांत सप्तपदीक्रमणानंतर विवाह

पूर्ण झाला अशी जोंपर्यंत समजूत आहे तोंपर्यंत असा विवाह झाल्यावर नावडता नवरा टाकण्याचा हक्क स्त्रीस प्राप्त होत नाही असे जे हायकोर्टानें ठरविलें तेच योग्य आहे. संमतीखेरीज आमचे विवाह पूर्ण नाहीत असा ठराव झाला तर आमच्यापैकी आपल्या वडिलाचे किती औरस पुत्र निघतील याचा विचार संमती-मताभिमान्यांनीं केला आहे काय ? बरें, असा ठराव झाला तर तो मानील तरी कोण ? हायकोर्टाचा ठराव लावून काहीं आमचीं लग्ने होत नसतात. साराश, कोणत्याही दृष्टीनें पाहिलें तरी हायकोर्टानें हल्लीं केलेला ठराव हिंदुधर्मशास्त्राप्रमाणें असून अगदी योग्य आहे असें कबूल करावे लागते. मग इत्तर आमच्या सुधारकाच्या दीर्घप्रयत्नांनीं आमची विवाहाची रीत बदलून इंग्रजी पद्धतीवर जाईल तेव्हा त्याचा विचार निराळा ! आता कित्येक असें म्हणतात कीं, हिंदुधर्मशास्त्रा-प्रमाणे रखमाबाईंचा हक्क शाबीत होत नाही हें खरें; तथापि ती नवऱ्याकडे न गेल्यास तिला तुरुंगात पाठविणें योग्य होणार नाही. कारण तुरुंगाची शिक्षा हिंदु-धर्मांत सांगितली नाही. कोटी ठीक आहे; तथापि हायकोर्टास आपला ठराव अमलांत आणण्याचे जर काहीं साधन नाही तर त्यास निवाडा करण्यास तरी सागण्यात काय हंशील ? पूर्वी अशा तंट्याचा निकाल जातीतील पंच करीत असत; व त्याचा अधिकार असा असे कीं, ते हात धरून बायकोस नवऱ्याचे स्वाधीन करीत. मग त्यापैकीं जर एक अधिकार हायकोर्टाकडे गेला तर दुसरा गेलाच पाहिजे. रखमाबाईंस आतां सरळ मार्ग म्हटला म्हणजे आपल्या नवऱ्यास सुधारून त्याबरोबर सुखानें नादावें. यांतच तिचें खरें शौर्य व भूषण आहे, व या-प्रमाणेंच तिचे मित्र तिला सल्ला देऊन हें खूळ मिटवितील अशी आमची आशा आहे.

रावबहादुर रानडे यांचें अपूर्व युक्तिचापल्य*

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम् ।

—मनुः

भारती युद्धांत ज्याप्रमाणें शिखंडीस पुढे उभा करून वृद्ध पितामहास जिकण्याचा पाडवानीं प्रयत्न केला होता, त्याप्रमाणेंच काहीं अशी पुरातन आर्य-धर्माची खच्ची करण्याच्या इराद्यानें हिंदुशास्त्राकाराची स्त्रियावर सदय दृष्टि आहे असें मनांत आणून रखमाबाईंस पुढे करून तिच्या आडून आमच्या पुरातन धर्मावर गोळ्या घालण्याचें साहस सुधारकांनीं मांडलें होतें, व त्यास अशी बळ-कट आशा होती कीं, या स्त्रीछत्राखालीं बृहन्नट्याप्रमाणे आपण सहज विजयी होऊं. पण त्याच्या दुर्दैवानें हा जो त्यांनीं अखेरीचा उपाय योजिला होता त्याची व त्याबरोबरच त्यांच्या वृथामनोरथाची एकदम वाताहत झाली. भीष्माचार्यांच्या

तीव्रशरवर्षावानें ज्याप्रमाणें एकदा अर्जुनास 'त्राहि त्राहि' करून सोडिलें होतें त्याप्रमाणेच वर्तमानत्रातून सुधारकाच्या वर्तनाविरुद्ध जी चर्चा झाली तिच्या तापानें त्यास इतके बेहोष करून सोडिले आहे कीं, 'शेषं कोपेनपूरयेत्' या न्यायानें त्यानीं आता हवे तसें बरळण्यास सुरुवात केली आहे, व आत्मसंरक्षणार्थ ज्या स्त्रीयंत्राचा यानी आश्रय केला होता त्याचा डॉ. कीर्तिकर यांनीं भंग केल्यामुळे ते परपक्षापासून आपलें रक्षण होण्यासाठीं आपल्या जुन्या मोडक्या शस्त्रांस आता साफसूफ करीत आहेत. आपला आश्रा गेला, आपलीं मते खोटीं ठरलीं व आपला चोहीकडे उपहास झाला, हे पाहून रा. रा. वामनरावजी मोडक यांनीं आपल्या 'क्षमेस व शातीस' क्षणभर रजा दिली व रा. ब. रानडे शात व धिमेपणानेच देशकाल प्रसंगाकडे दृष्टि देऊन आपल्या गौडवंगाली वक्तृत्वाने सकल विद्वत्समूहास मोहून टाकण्याचे एकवार साहस करण्यास प्रवृत्त झाले ! या त्याच्या हताश-समाधानात अनाहूत पडण्याची आम्हास काही जरूर नव्हती; पण सुधारकांच्या अग्रणीस व्यक्तिशः सदेव ठरविण्याकरिता वामनरावजींच्या व केसरीत दिलेली वचने सप्रमाण आहेत असें दाखविण्याकरिता रा. ब. रानडे यांच्या अनुक्रमे स्पष्ट व गर्भित आह्वानाने केसरीस जागृत केले आहे. वामनरावजींच्या साधारण मुद्द्यांस गेल्या अंकात उत्तर दिलेंच आहे. हा आजचा लेख त्यानी वाचला म्हणजे त्यांचे अग्रणी स्वपक्षपुष्ट्यर्थ सत्यापलाप कसकसा करितात हैं त्याचे नीट ध्यानात येईल.

विषयोपन्यास

रा. ब. नी वक्तृत्वसमारंभात जें भाषण केले तें बहुतेक केसरीकारांस उद्देशूनच केले होतें. रवमाबाईपक्षीयांनीं प्रथमतः असा एक बूट काढिला होता कीं, नवऱ्याकडे जाण्यास बायको नाखूप असल्यास तीस जी हल्लीं कोर्टांतून शिक्षा होते ती आमच्या जुन्या हिंदुधर्मशास्त्राविरुद्ध असून अशा रीतीने आमचें धर्मशास्त्र कायद्यानें फिरविण्याचा सरकारने प्रयत्न करूं नये. आपला पक्ष अशा तऱ्हेनें समर्थन करण्यांत त्याचा उद्देश काय असावा हें अगदीं उघड आहे. 'आमच्या पूर्वापार चालत आलेल्या रीतीभार्तीत सरकारनें हात घालूं नये' असें जें आज लोकमत आहे तेंच आम्हास ग्राह्य आहे व त्याच्याच आश्रयानें आम्ही ही सुधारणा सरकारापाशीं मागत आहो, असें दाखवून सुधारक लोकमत आपल्या बाजूस आणण्याचा प्रयत्न करीत होते. दुसरे, सरकारापाशीं अशा तऱ्हेने मागणें केले असतां त्यांच्याकडूनही त्यास रुकार मिळण्याचा जास्त संभव होता. रा. ब. परवा म्हणाले कीं-“शास्त्राबद्दल माझा विशेष आग्रह नाही; वक्तृत्वांत मीं जें भाषण केले तें समाज पाहून केले होतें.” रा. ब. च्या या वाक्याची जरा विशेष फोड केली असता सुधारकांनीं शास्त्राची बाजू कां उचलली आहे याचा तेव्हाच उलगाडा होतो. “आम्ही काहीं नवीन व्यवस्था करीत नाहीं

तुमच्या पूर्वीच्या शास्त्रोक्त चाली ज्या सरकारानें बंद केल्या आहेत त्या पुनः स्थापित करण्याचा आमचा उद्योग आहे ” असें आपल्या उद्योगास रूप देण्याचा सुधारकांचा प्रयत्न होता. अथवा वामनरावजींनी आपल्या पत्रांत आम्हास ज्यासाठी वृथादूषण दिलें आहे की, “ आम्हीं राष्ट्रीय व धर्माभिमानाची खोटी प्रशंसा करून लोकांचीं मनें आपल्यास अनुकूल करून घेतों ” तेच हे सुधारक करूं पाहात होते. आम्हांस हा लपंडाव पसंत नव्हता. ह्यामुळे मि. तेलंग याच्या मतासारखेंच—लग्न लहानपणा होवो अगर मोठेपणा होवो, गर्भाधान झालें असो वा नसो, कसेही असले तरी देशकालानुरूप स्त्रियास ह्या अपराधाकरिता हल्लीं कैदेंत टाकणे बहुतेक निष्फळ व अयोग्य आहे—असें जरी आम्ही मत दिले होतें, तरी सुधारकांच्या ह्या अनर्थकारक कोटिक्रमाने लोकानीं पसून भलतेच मत देऊ नये एवढ्यासाठीं त्यातील सत्यास आम्हास बाहेर काढावा लागला. परंतु आता आम्हीं किंवा मि. तेलंग हे जितकी या बाबतीत सुधारणा करण्यास तयार आहेत तितकी सुधारकास पुरी नसल्यामुळे हिंदुधर्मशास्त्रातून पुनः आणखी काहीं निघाल्यास पाहावे या बुद्धीनें रा. ब. रानडे यानीं यदाच्या येथील वक्तृत्वसमारंभात या विषयावर भाषण करून आपल्या बुद्धिकौशल्यानें लोकांस असे भासविण्याचा प्रयत्न केला कीं, आमचे स्मृतिकार स्त्रियावर इतके फिदा असत कीं, व्यभिचाराबद्दल देखील त्यास ते मोठेसे शासन करीत नसत, मग नवऱ्यास नुसतें सोडून दिल्याची काय कथा ? रा. ब. च्या मते वरील प्रकार आपल्या राष्ट्रास भूषणास्पदच असल्यामुळे त्यांनीं केलेल्या अर्थवादाचें किंवा लटपटीचें त्यास काहीं वाईट वाटत नसेल हे आम्ही जाणतों. तथापि बहुजनसमाजानें जोपर्यंत रा. ब. चे हें मत ग्रहण केले नाहीं तोपर्यंत ते सिद्ध करण्याकरिता रा. ब. नीं ज्या डावपेचांची योजना केली आहे ते सर्व उजेडात आणणें आमचे कर्तव्य आहे.

रा. ब. चें म्हणणें असें आहे की, स्मृतिग्रंथाचा जो आजपर्यंत विचार झाला तो पायाशुद्ध झाला नाही. हे ग्रंथ लावण्याची एक पद्धत किंवा सरणी आहे. त्याप्रमाणें जर या ग्रंथाचा विचार केला तर, धर्मशास्त्रात व्यभिचार अधिवेदन वगैरे यास जें शासन सांगितलें आहे त्यावरून व इतर वचनावरून दोन गोष्टी सिद्ध होतात. (१) साधारण रीतीने व्यवहारात आजमितीस स्त्रियास जितकें स्वातंत्र्य आहे असे आपण समजतो त्यापेक्षा पूर्वी फारच जास्त असे. (२) नवऱ्याजवळ राहण्यास बायको नाकबूल असल्यास तीस जुन्या ग्रंथात कैदेची तर राहूं द्याच, पण दुसरीही काहीं शिक्षा सांगितली नाहीं. रा. ब. चे हे दोन्ही सिद्धान्त किंतपत खरे आहेत ह्याचा आज विचार कर्तव्य आहे, परंतु तो करण्यास लागण्यापूर्वी वाचकास येथे इतकेच सुचविणे अवश्य आहे की, खाली जें विवेचन केले आहे ते फक्त एकाच दृष्टीने केलें आहे. म्हणजे हिंदुधर्मशास्त्र रा. ब. म्हणतात त्याचप्रमाणें आहे कीं नाहीं येवढाच काय तो आज आपणापुढें

प्रश्न आहे यासंबंधानें बाकीच्या गोष्टींचा विचार मागे वेळोवेळीं आम्हीं केलाच आहे, व पुढेही जरूर पडल्यास केला जाईल.

प्रमाणग्रंथ व त्यांची सरणी

रा. व. नीं धर्मशास्त्रावरील प्रमाणग्रंथ आपणास कोणते मान्य आहेत हें सांगितलेंच आहे. मनु, याज्ञवल्क्य (स्मृतिकार), कुल्लूक, विज्ञानेश्वर (टीकाकार) आणि नीलकंठादि (निबंधकार) हे त्यास प्रमाण आहेत. तेव्हा त्याबद्दल मुळीच वाद नाही. वेद सर्व धर्मग्रंथांचे मूल, परंतु प्रस्तुत प्रकरणाचे त्यात विवेचन नसल्यामुळे ते येथे सोडून देण्यास कांही हरकत नाही. बाकी शिल्लक राहिला देशाचार म्हणजे देशरिवाज. हाही स्मृतिग्रंथातून प्रमाण धरिला आहे. पण रा. व. च्या पक्षास ही गोष्ट अनुकूल नाही म्हणून ते असे प्रतिपादन करितात की—

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारकुलस्थितिः

तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ।

असें जें राजांनें आचार पाळावा म्हणून वचन आहे तें जिकलेल्या राष्ट्राबद्दल आहे स्वराष्ट्रात आचार जर शास्त्रविरुद्ध नसेल तरच प्रमाण मानावा. उदाहरणार्थ, प्रस्तुत प्रकरणीं नेटिव्ह संस्थानांतून जो आचार आहे तो शास्त्रविरुद्ध नसल्यास प्रमाण समजावा, पण हा रा. व. चा कोटिक्रम व्यर्थ आहे. कारण जरी वरील वचन जिकलेल्या राष्ट्राबद्दल आहे तरी स्वराष्ट्रातील आचार (मग तो शास्त्रशुद्ध असो वा विरुद्ध असो) ह्याचप्रमाणें मान्य करावा अशाबद्दल स्मृतिग्रंथातून दुसरीं पुष्कळ वचने आहेत.

वेदः स्मृतिः सदाचारो स्वस्य न प्रियमात्मनः ।

अशी जो चार धर्मांचीं मूळें मनुत सांगितलीं आहेत त्यात 'सदाचार' आहे. सदाचाराची व्याख्या चतुर्विंशति मताप्रमाणे—

यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः

वर्णानां किल सर्वेषां स सदाचार उच्यते ।

अशी आहे, म्हणजे ज्या देशात जो आचार पूर्वापार चालत आला आहे तो सदाचार म्हणावा. हा शास्त्रविरुद्ध असला तरी प्रमाण आहे.

यद्यदाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा

देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्विकीर्तितम् ।

अतएव देशाचार धर्म्य असो वा अधर्म्य असो, तो अवश्य पाळला पाहिजे. वस्तुतः प्रथम आचार व मागून ग्रंथ "आचारसंभवो धर्मः" असें वचन आहे. म्हणून स्मृतीचा व आचाराचा विरोध आल्यास आचारच प्रधान मानावा.

देशजातिकुलांना च ये धर्माः प्राक्प्रवर्तिताः

तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा ।

असें बृहस्पतिवचन आहे व हा पक्ष सर्व शास्त्रकारांस संमत आहे.

ह्यावरून वेद, स्मृति व (शास्त्राविरुद्ध असला तरी) देशाचार इतक्यांचा धर्माचा निर्णय करतेवेळीं विचार केळा पाहिजे असें स्पष्ट होतें. रा. व. सच तें कसें दिसलें नाहीं कोण जाणे ? असो. आता याच्या सरणीचा विचार करूं. वेद, स्मृति व आचार इतकीं जर प्रमाण धरलीं तरी निरनिराळ्या वेद व स्मृतिग्रंथातून निरनिराळी इतकी विरुद्ध वचनें सांपडतात की त्यांची सरणी किंवा व्यवस्था एकदा टरवून ठेविल्याखेरीज त्याचा अर्थ कधीही नीट लागणार नाहीं. विरुद्ध वचनाची व्यवस्था लावणें याचेंच नांव सरणी. सर्वच स्मृतिकार जर आपणास प्रमाण तर त्याची जितकी निरनिराळी वचने, तितके निरनिराळे धर्म न मानता त्यातून एक अर्थ निष्पन्न केला पाहिजे. रा. व. ची व्यवस्था कोणती हें आम्हांस माहीत नाहीं. तथापि स्मृतिकार व टीकाकार हे जी व्यवस्था लावतात तीच त्याचे ग्रंथ आम्हांस प्रमाण असल्यास आम्ही मान्य केली पाहिजे. वेद व स्मृति यात युक्तिवाद उपयोगी नाही. मनुनें म्हटलें आहे:—

योवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।

म्हणजे जो त्या मूलग्रंथाशी (श्रुतिस्मृतीशी) युक्तिवाद करून त्याची अवहेलना करतो तो नास्तिक समजून त्यास बहिष्कृत करावा. महाभारतातही:—

पुराणं मानवो धर्मः सागो वेदश्चिकित्सितं

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हंतव्यानिहेतुभिः ।

असा युक्तिवादाचा निषेध केला आहे. करितां ' जुक्ति ' सोडून धर्मग्रंथाची व्यवस्था लाविली पाहिजे. ती स्मृतिकार व टीकाकार अशी लावतात की, जर दोन श्रुति विरुद्ध आल्या तर दोन धर्म आहेत असें मानावें. मनुंत सांगितले आहे:—

श्रुतिद्वैध्यं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

आता मनुस्मृतीबद्दल म्हटलें म्हणजे सर्व स्मृतींमध्ये स्मृति मुख्य; बृहस्पतीनें म्हटलें आहे—

वेदार्थत्वोपनिबन्धत्वात् प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतं

मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ।

म्हणजे मनुस्मृतीच्याविरुद्ध जर दुसरे स्मृतीत वचन असेल तर तें फुकट. तेव्हा मनुस्मृति मुख्य धरून ती जेथें अस्पष्ट किंवा अपुरती असेल तेथे दुसऱ्या स्मृतीच्या वचनानी तिची स्पष्टार्थता किंवा पूर्णता करावयाची. ही जी सर्व स्मृतींची एकवाक्यता करण्याची सरणी तीच कुल्लूक, विज्ञानेश्वर, नीलकंठ वगैरे

रा. ब. स मान्य असलेल्या ग्रंथकारानीं घेतली आहे व तिचाच आम्ही पुढील विवेचनात आश्रय करणार. म्हणजे प्रथमतः प्रत्येक प्रकरणीं मनुस्मृतींत काय आहे तें सांगून, नंतर इतर स्मृतींचा व त्याचा मेळ घालून काय निष्पन्न होतें ते पाहूं. कुल्लूकभट्टानीं आपल्या टीकेत एके ठिकाणीं म्हटले आहे:—

प्रायशो मनुवाक्येषु मुनिव्याख्यामहंलिखन्

नापराध्योऽस्मि विदुषां काहं सर्वविदः कुधीः ।

माझ्याकडे अपराध येऊं नये म्हणून मनुस्मृतीवर इतर स्मृतींचा आशय मनात आणूनच मी टीका केली आहे. तात्पर्य, स्मृतींचा अर्थ करण्याची सरणी म्हटली म्हणजे अर्थ वाक्य दाबून अर्थ वाक्य बाहेर काढणें किंवा युक्तिवाद करणें नव्हे; तर मनुस्मृति मुख्य धरून सर्व स्मृतींची होईल तेवढी एकवाक्यता करणें ही होय. अशी एकवाक्यता झाल्यावर मग देशाचार पाहावयाचा. तो स्मृतिप्रमेयास अनुकूल असल्यास ठीकच आहे. नसल्यास तोच प्रमाण.

स्त्रियांची स्वतंत्रता

आता या प्रमाणग्रंथावरून या सरणीनें रावबहादुरांनीं दाखविलेले सिद्धांत कितपत खरे ठरतात तें पाहू. रा. ब.चा सामान्य सिद्धांत असा आहे की स्त्रियांस पूर्वकार्लीं पुष्कळ स्वतंत्रता असे, व 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' असें जे मनुवचन आहे त्याचा अर्थ फार संकुचित केला पाहिजे. सदर वचन मनुस्मृतींत ९ व्या अध्यायात आहे. व त्या मागील श्लोक व चरण खाली लिहिल्याप्रमाणे आहेत:—

अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशं

विषयेषु च सज्जंत्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने

रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।

याचा अर्थ कल्लूकादि टीकाकार असा करितात की, स्त्रियांचे मन जात्याच बाहेरील विषयाकडे जातें म्हणून पुरुषानी त्यास नेहमी आपल्या ताब्यात ठेवावें. लहानपणी पित्याने, तरुणपणी पतीने व वृद्धापकाळीं पुत्रांनीं तिचें रक्षण करावे. स्त्रीस केव्हाही स्वातंत्र्य नाही. रा. ब. म्हणतात 'रक्षण करावें' याचा अर्थ टीकाकारांस इतकाच संमत आहे. की स्त्रीनें स्वतंत्र रितीनें उदरपोषण करूं नये; ती जबाबदारी पिता, पति व पुत्र यांजवर येते. पण ही रा. ब.ची कल्पना शुद्ध स्वकपोलकल्पित आहे रा. ब. म्हणतात तसा अर्थ कोणत्या टीकाकारानी दिला आहे हें तें सांगतील काय ? मनूच्या मेधातिथि कल्लूकप्रभृति सहा टीकाकारांपैकी एकानेही असा अर्थ केला नाही असें आम्हीं त्यांस खात्रीने सागतों. लहानपणीं पुत्रांचे पालन करण्याचा ज्याप्रमाणे पित्याचा अधिकार आहे तसाच हा अधिकार आहे. "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" हा पहिल्या तीन चरणांचा सामान्यवाद आहे व स्त्रियांस कोणत्याही स्थितीत स्वतंत्रतेनें व्यवहार करतां येत नाही

असाच त्याचा अर्थ आहे व असाच टीकाकारांनीही केला आहे. 'रक्षति' याचा अर्थ कुल्लूकांनी दिला नाही, पण मेधातिथींनी त्याचा अर्थ "अनर्थ, अनाचार वगैरेपासून रक्षण करावें" असा सांगितला आहे. याज्ञवल्क्यस्मृतीत अशाच अर्थाचा:—

रक्षेत्कन्यां पिता वित्रां पतिः पुत्रास्तु वार्धके
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातंत्र्यं क्वचित्त्रियः ।

असा श्लोक आहे. त्यावर टीका करितांना विज्ञानेश्वरांनी "रक्षेत्-अकार्यकरणा-द्रक्षेत्" म्हणजे 'रक्षण करावें' याचा हवें तें करूं देऊं नये असा अर्थ दिला आहे. पण ह्या अर्थाच्या आधारासाठी इतकें खोल जाण्यास नको. मनुचेंच वरील श्लोकातील अर्थ दुसऱ्या शब्दांनी ५ व्या अध्यायांत सांगितला आहे तो असा:—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता
न स्वातंत्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ।
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने
पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रता ।

यावरून "स्त्रीस लहानपणीं, तरुणपणीं किंवा वृद्धापकाळीं घरांतील देखील कोणचीच गोष्ट अनुक्रमें पिता, पति आणि पुत्र यांच्या आज्ञेवांचून करिता येत नाही." असा "न स्वातंत्र्यमर्हति" याचा व 'रक्षेत्' याचा 'वशे स्थापयेत्' असा अर्थ मनुस अभिप्रेत आहे हें उघड होतें. याज्ञवल्क्यस्मृतीत असेंच सांगितलें आहे. नारदस्मृति आहे:—

मृते भर्तार्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियः
विनियोगात्मरक्षासु भरणेषु च ईश्वरः ।
परीक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये
तत्सपिंडेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः ।
पक्षद्वयावसानेषु राजा भर्ता स्मृतः स्त्रियः
स तस्याभरणं कुर्यान्निरगृह्णीयात्पथश्च्युतां ।

यावरूनही सासरचीं माणसें नसल्यास माहेरची, तींही नसल्यास राजा; एकूण कोणी ना कोणी तरी स्त्रीस आपल्या ताब्यांत ठेवावें असे स्पष्ट होतें. इतक्या स्मृतीची व टीकाकारांची या बाबतीत एकवाक्यता असतां रा. ब. सच त्याच्या मनाजोगा अर्थ सांगणारा 'दुराग्रहा' वांचून दुसरा कोण टीकाकार सापडला असेल याची वाचकांनीच कल्पना करावी. रा. ब. चा पुढील अर्थवाद तर याहूनही फारच मनोरम आहे. ते म्हणतात की, 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' या

वचनाचा संकोच करण्यास महाभारतांतही आधार आहे. तो कोणता तर आदिपर्वीतील पंडुकुंतीच्या संवादांतील श्वेतकेतूची कथा हा होय. महाभारतांत जागोजाग ज्या अनेक कथा आहेत, त्यांपैकीच ही एक आहे. यांत पंडु कुंतीस असे सांगतो कीं, मनुष्यजातींत विवाहसंस्काराचा नियम प्रथमतः नव्हता व त्या वेळेस हवी ती स्त्री हव्या त्या पुरुषाशी जनावराप्रमाणें यथेच्छ व्यवहार करीत असे—

अनावृताः किल पुरा स्त्रियः आसन् वरानने
कामचारविहारिण्यः स्वतंत्राश्चारुहासिनी ।

म्हणजे पशूप्रमाणें पूर्वी स्त्रिया अनावर व स्वैर असत. हा त्यांचा पशुवत् स्वैरपणा श्वेतकेतु नामक ऋषीनें—

व्युचरन्त्याः पतिं नार्यं अद्यप्रभृतिपातकं
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहं ।

जी स्त्री इतउत्तर पतीस सोडून व्यभिचार करील तिला भ्रूणहत्येचें घोर पाप लागेल अशी मर्यादा करून बंद केला. आता रा. ब. काय म्हणतात ते ऐका. “अशा तऱ्हेची (श्वेतकेतूनें बंद केलेली) स्वतंत्रता (ऊर्फ स्वैरपणा) मनुष्य जातींत विवाहसंबंध झाल्यापासून नष्ट झाला इतकाच “ न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ” याचा अर्थ करणें यथार्थ दिसतें ! ” घन्य रावबहादुराची व त्याच्या अगाध संकृत ज्ञानाची ! टीकाकार तर राहूंच्याच पण प्रत्यक्ष मनूसही ही कल्पना सुचली नसून त्यानें पाचव्या अध्यायांत “ न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ” याचा स्त्रीनें नेहमीं कोणाच्या तरी आज्ञेत रहावे, स्वतंत्र वागूं नये एवढाच अर्थ केला ! आम्ही रा. ब. स इतकेंच विचारितों कीं हा जो त्यांनीं अपूर्व बादरायणसंबंध जोडिला आहे तत्पूर्वी आम्हीं वर दिलेली वचनें त्यांनीं पाहिलीं होतीं का ? असल्यास त्यांनीं “ पिता रक्षति कौमारे ” वगैरे पूर्वचरणाचा शेवटच्याशीं काय संबंध पाहिला ? भारतांत संबंध कोणता आहे आणि मनुंत कोणता ? अथवा सर्वच जेथे ‘ अनावर ’ तेथे पूर्वापारसंबंध तरी कशास पाहिजे ? मनुंत स्त्रीयेच्या संबधानें ‘ स्वतंत्र ’ शब्दाचा प्रयोग आहे; महाभारताही आहे. कोशांत ही ‘ स्वतंत्र ’ शब्द सापडतो. खिस्ती धर्मशास्त्रात आदामनेंही आपल्या मुलीशीं म्हणजे ईव्हशीं शरीरसंबंध केला. अतएव रावबहादूर म्हणतात कीं, “ न स्त्री-स्वातंत्र्यमर्हति ” याचा अर्थ अत्यंत संकोचाचा ध्यावा लागतो. अहो ‘जुक्तिः’ अहो अकांडपांडित्यप्रकर्षः! कोठें महाभारत, कोठें मनु व कोठे आमचे रावबहादुर !

अस्माकं बदरीचक्रं युष्माको बदरीतरुः

बादरायणसंबंधः यूयं यूयं वयं वयं ॥ *

(टीप पुढील पृष्ठावर पहा)

रा. ब. चें दुसरें असें म्हणणें आहे कीं, ज्या विश्वजित् यज्ञांत यजमानानें आपलें सर्वस्व दान करावें असें सांगितलें आहे तेथेंही “ देयं दारसुतादृते ” स्त्री व पुत्र याखेरीज करून ” असा पत्नी व पुत्र यांबद्दल अपवाद सांगितला आहे. यावरून स्त्रीवर स्वामित्व सर्वांशीं पुरुषास प्राप्त होत नाही असें सिद्ध होतें. ठीक आहे; पण ही कोटी कांहीं नवी नव्हे. ज्या ग्रंथकारांस ही कोटी मान्य आहे असे ग्रंथकार देखील “ न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ” याचा आम्ही वर लिहिल्याप्रमाणेंच अर्थ करितात हें त्या त्या प्रकरणीं मिताक्षरा व मयूख पाहिले असतां कोणाच्याही लक्षांत येईल. मास्तरांच्या ताब्यांत मुलें दिलीं म्हणजे मुलांस विकण्याचा किंवा गाहाण ठेवण्याचा हक्क मास्तरांस ज्याप्रमाणें येत नाही त्याप्रमाणेंच हा प्रकार आहे. यांत आमच्याविरुद्ध काहीं एक नाही हें रा. ब. च्या लक्षांत यावयास पाहिजे होतें. धनग्रहणाचा व वारसाचा हक्क व प्रकारही असाच. असो; अखेरीस रा० ब० सच आम्ही इतकें सुचवितों कीं, स्त्रीस व पुत्रास विकण्यास पित्यास अधिकार नाही हें मत आमच्या सर्वच ग्रंथकारांस मान्य आहे असें मात्र त्यांनीं समजू नये. हरिश्चंद्रानें आपल्या धर्मपत्नीचा व पुत्राचा विक्रय केला होता व धर्मराजानें द्रौपदीस पणास लाविलें होतें या पौराणिक गोष्टी रा० ब० च्या लहानपणीं तरी कानावरून गेल्या असतील. ह्या दोनही प्रकारांस शास्त्र अनुकूल आहे असा मिताक्षरादि ग्रंथकाराचा आशय आहे.

इतका कोटिक्रम झाला तरी रा० ब० स आपण लावलेल्याच “ न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ” या वाक्याच्या अर्थाची शाश्र्वती कोठें वाटते आहे? पशुवत् स्त्रियाची स्वतंत्रता नाहीशी झाली इतकाच याचा अर्थ आहे असे हे एकदा म्हणतात. फिरून वरील मताप्रमाणें कन्येचें दान करण्याचा हक्क पित्यास नसल्यामुळे कन्यादान झाले तरी पित्याचें कन्येवरील स्वत्व सर्वांशीं जात नाही; “ अशा स्थितीत अल्पवयांत लग्न झाल्याकारणानें पति आपल्यास संमत नाही म्हणून पत्नी (आम्ही रखमाबाईच म्हणणार होतो ?) पतीकडे न जाता पित्याकडेच राहिल तर त्यात राजानें दंड करण्यासारखा अपराध होतो असे कदापिही म्हणता येणार नाही. या संबधानें ‘ न स्त्रीस्वातंत्र्यमर्हति ’ अशीं वचने स्मृतिग्रंथात आढळतात ” असे रा. ब. नीं लिहिलें आहे ! काय ही धूर्तता व काय हें धाडस ! रा. ब. स असली कावेबाज वकिली करण्यास वक्तृत्वसमारंभाखेरीज दुसरें स्थळच नव्हतें काय ? वाचकहो ! मागील वाक्यातील अवतरण चिन्हातर्गत मजकूर पुनः लक्ष देऊन वाचा म्हणजे रा. ब. च्या धूर्त विद्वत्तेबद्दल तुमची खात्री होईल ! आमचा रा.

* आमच्या गाडीस बोरीचें चाक आहे व तुमच्या घरीं बोरीचें झाड आहे. तेव्हां तुमचा आमचा बादरायणसंबंध झाला ! आतां (भोजनोत्तर) तुमचे तुम्ही व आमचे आम्ही ! बादरायणसंबंध सागून भोजन उकळणाऱ्या एका विप्राची ही गोष्ट आहे.

ब.सं असा प्रश्न आहे कीं त्यांनीं ' न स्त्री. ' इत्यादि वाक्याच्या अर्थाची अशी लटपट कां आरंभिली आहे बरे ! कोणता तरी एक अर्थ त्यांस कायम करितां येत नाही काय ? परंतु असें नव्हे; एकदा सरळमार्ग सुटल्यावर आडरानांत एकच मार्ग कसा निश्चित होणार ? कसेंही असो; हा जो दुसरा अर्थ रा. ब. नीं काढिला आहे तो पहिल्याइतकाच किंबहुना त्याहून जास्त भ्रातिमूलक आहे. प्रथमतः पित्याचे कन्येवर स्वत्वच जर नाही तर कन्यादानानें नाहीसैं तें काय होणार ? वृक्षशाखेवर बसून मूलछेद करणाऱ्या मुखाचा प्रकार याहून भिन्न तो कसा असतो ? बरे क्षणभर पित्याकडे हा अधिकार येतो असेंही मानले तरी फार झाले तर "पिता रक्षति कौमारे " याचा अर्थ लागेल पण " पुत्रास्तु वार्धके " याची वाट काय ? आम्ही आपल्या वाचकास असें निक्षून कळवितों कीं, " अल्पवयात लग्न झाल्याकारणानें इ. " जो कार्यकारण संबंध रा. ब. नीं वर ध्वनित केला आहे ती केवळ त्याच्या खिशांतील गप्प आहे ! यास कोणत्याही स्मृतीचा किंवा टीकाकाराचा आधार नाही. असल्यास तो रा. ब. नीं अवश्य दाखवावा अशी आमची त्यांस सूचना आहे. " लहानपणीं लग्न झाल्याकारणानें पति आपल्यास संमत नाही म्हणून पत्नी पतीकडे न जाता पित्याकडेच राहिल्यास त्यात राजानें दंड करण्याजोगा अपराध होत नाही " यासंबंधानें " न स्त्री इ. " वचन स्मृतिग्रंथात आहे काय ? काढा पाहूं कोणत्या स्मृतींत हा संबंध दिला आहे तो. नाही तर मिथ्याहेतुवादाचा दोष तुमच्या शिरावर येऊं पाहात आहे.

एतावता असें सिद्ध झाले कीं " न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति " या वचनाचा मागील पुढील संबंध, खुद्द मनुस्मृतींतील व याज्ञवल्क्यादि इतर स्मृतींतील समानार्थक वाक्ये, आणि कुल्लुक, मेधातिथि, विज्ञानेश्वरादि टीकाकारांच्या व्याख्या, ह्या पाहिल्या असता ह्या वचनाचा अर्थ, स्त्रियांस कोणताही व्यवहार पुरुषांच्या अनुमताखेरीज केव्हांच करिता येत नाही, असाच करावा लागतो. आमच्याच शास्त्राचेंचसें काय पण बहुतेक सुधारलेल्या प्राचीन राष्ट्रांच्या धर्मशास्त्रांचें हेंच प्रमेय आहे, हें आमच्या इतिहासज्ञ रा. ब. स आम्ही सांगावयास पाहिजे असे नाही. वेदवाक्यांतून आगगाडी किंवा तारायंत्र काढण्याचा प्रयत्न जितका असमंजस आहे तितकाच स्मृतिग्रंथातून स्त्रीस्वातंत्र्यपर वचनें काढण्याचा होय ! प्राचीनकाळीं स्त्री, पुत्र व दास, यांवर घरधन्याचे पूर्ण स्वामित्व होतें व तें होतां होता कांहीं राष्ट्रांत मात्र बहुतेक कमी झालें आहे.

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधना स्मृताः

यत्ते समाधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनं ।

तसेंच—

या भर्ता सा स्मृतांगना ।

अशी मनुस्मृति आहे. रोमन व इंग्रज लोकांचे प्राचीन कायदेही असेच होते. तेव्हां आमच्या धर्मशास्त्रावरील ग्रंथकारांची सरणी सोडून देऊन अर्वाचीन ऐतिहासिक सरणी जरी घेतली तरीही “ न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ” याचा अर्थ आम्ही वर दिल्याप्रमाणे करावा लागतो. त्यास गत्यन्तर नाही.

व्यभिचार.

रा. ब.चा दुसरा मुद्दा असा आहे की, व्यभिचारास शास्त्रात अगदी अल्प-शासन सांगितले आहे त्यावरून स्त्रियास पूर्वी पुष्कळ स्वातंत्र्य होते असे अनुमान होते. पण हा पक्षाभास आहे; म्हणजे रा. ब.नी व्यभिचारास शासन कमी आहे असें जें म्हटलें आहे तोच प्रमाद आहे. मनुंत जर:—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः
एष धर्म समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ।
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृताक्रियौ
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ।

याप्रमाणे स्त्रीपुरुषानी नित्य एकमतानें राहिलें पाहिजे; आणि तसेच जी स्त्री—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ।

काया-वाचा-मनेकरून व्यभिचार करणार नाही तीच साध्वी असे सांगून मानस-व्यभिचाराचा देखील निषेध केला आहे, तर तोच मनु व्यभिचारास कमी दंड कसा सांगेल बरे ! दंडाचे तीन प्रकार आहेत— धर्मदंड किंवा प्रायश्चित्त, लोक-दंड, आणि राजदंड. व्यभिचारास हे तिन्ही दंड मनुने तीन ठिकाणी सांगितले आहेत. व्यभिचारिणीस भ्रूणहत्येचें पाप लागतें अशी श्वेतकेतूची मर्यादा मागें दिलीच आहे. आता मनु काय म्हणतो ते पाहा:—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निद्यता
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ।

हा लोकदंड झाला, दुसरा धर्मदंड प्रायश्चित्तप्रकरणांत मनुने दिला आहे:—

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुंध्यादेकवेशमनि
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्ब्रतं ।

याची कुल्लूक भट्टानी अशी व्याख्या केली आहे की, “ व्यभिचारिणी स्त्रीस घरांतच एका कोठडीत कोंडून ठेवावी व पुरुषास आपल्या जार्तीत व्यभिचार केल्यास जें प्रायश्चित्त आहे तेंच स्त्रीस द्यावें. पुरुषाच्या निम्मे स्त्रियांस असें जें वसिष्ठादिकांनीं सांगितलें आहे तें स्त्रीची इच्छा नसतां व्यभिचार घडल्यास सम-

जावें. स्वैच्छ व्यभिचारास वरील मनुवचनाप्रमाणें पूर्ण प्रायाश्चित्त आहे. ” व्यभिचारप्रकरणीं अनुलोम व प्रतिलोम म्हणजे उत्तम जातीच्या वर्णांनीं खालच्या-जातीशीं आणि खालच्या जातींनीं वरच्याशीं व्यभिचार केल्यास निरनिराळा दंड सांगितला आहे हें वाचकास येथें सांगितले पाहिजे. कल्यायन स्मृतीत पुरुषांच्या निम्मे स्त्रियांस दंड असें जें सांगितलें आहे त्याची व्यवस्था मनुवचनाशीं एक-वाक्यता करण्याकरितां नेहमींच्या सरणीप्रमाणें कुल्लूक काय करितात हेंही वर निर्दिष्ट केलेंच आहे. आता मनुनें व्यभिचारास राजदंड काय सांगितला आहे तो पहा. सध्या सजातीय व्यभिचाराचाच विचार करूं—

शतानि पंच दंड्यः स्यात् इच्छन्त्या सह संगमे ।

असा व्यवहारप्रकरणीं मनुनें स्त्रीच्या इच्छेने व्यभिचार करणाऱ्या पुरुषास दंड सांगितला आहे. साधारणपणें “ यत्पुंसःपरदारेषु ” इ० वचनावरून स्त्रीसही हाच दंड आहे. पण जर द्रव्य, रूप, इत्यादिकांच्या जोरावर नवऱ्यास तुच्छ मानून एखादी स्त्री व्यभिचार करील तर मनुंत तीसः—

भर्तारं लघयेद्यातु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता

तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ।

राजानें कुत्र्याकडून खाववावें अशी कडक शिक्षा सांगितली आहे. रा० ब. म्हणतात कीं, हें वचन मूळ यमस्मृतीतील असून ब्राह्मणस्त्री शूद्राशीं व्यभिचार करील तर तीस ही शिक्षा आहे. रा० ब० यमस्मृति पूर्वींची समजतात कीं काय कोण जाणे ? यमस्मृतीतील वचन असे आहेः—

वृषलं सेवते या तु ब्राह्मणी यदमोहिता

ता श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने वध्यघातिना ।

पण या वचनाने मनुस्मृतीतील वचनाचा कसा बोध होतो हे आम्हास समजत नाहीं. ग्रंथ लावण्याची जी सरणी आम्ही पूर्वीं दिली आहे त्यावरून मनुस्मृति स्पष्टार्थ असता तिचा यमस्मृतीनें बोध होत नाहीं. करितां मनुस्मृतीतील व यमस्मृतीतील शिक्षा निरनिराळ्याच मानिल्या पाहिजेत. मनुवरील सर्व टीकाकारांस हाच पक्ष संमत आहे. म्हणजे ते मनुस्मृतीतील वचन सामान्यतः स्त्री गर्वांनै शिरजोर होऊन व्यभिचार करील तर तीस लागते असें म्हणतात. यमस्मृतीतील वचन विशिष्ट आहे, व शिवाय त्यांत ज्ञाति-घन-दर्पाचा उल्लेख नाहीं. हा दोहों-तील भेद आहे. रा. ब. जो अर्थवाद करूं पाहातात त्यांतही कांहीं हंशील नाहीं; कारण तसा अर्थवाद एकतर कोणत्याही टीकाकारानें केला नाहीं आणि दुसरें रा. ब. असा अर्थवाद करण्यास जी कारणे देतात तीं सर्व भ्रातिमूलक आहेत असे वर दाखविलेंच आहे. साराश, मनुनें व्यभिचारास धर्मदंड, लोकदंड व राजदंड

असे तिन्ही दंड सांगितले आहेत. लोकदंड व धर्मदंड हे आचार व प्रायश्चित्त-प्रकरणात आहेत आणि राजदंड व्यवहारांत स्त्रीसंग्रह प्रकरणांत आहे. यापेक्षां आणखी व्यवस्था ती कोणती असावयाची ? खेरीज ज्याप्रमाणें इल्लीं दिवाणी केली तरी फौजदारी टळत नाही त्याप्रमाणेंच एक दंड भोगिला तरी दुसरा दंड टळत नाही असें शास्त्रग्रंथातून सांगितलें आहे.

आता इतर स्मृती काय म्हणतात तें पाहूं.

याज्ञवल्क्य स्मृतीतः—

स्त्रीभिः भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परःस्त्रियः
आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ।

असे सांगून पुढें—

हृताधिकारा मलिनां पिंडमात्रोपजीविनीं
परिभूता अधः शय्यां वासयेद्यभिचारिणीं ।

व्यभिचारिणी स्त्रियेस पोटापुरती जाडीभरडी भाकर देऊन घरात ठेवावी असे सांगितलें आहे तसेच अन्य स्मृतींत—

व्यभिचारे स्त्रियोः मौढ्यमधः शयनमेव वा ।

म्हणजे घरीं ठेविली तरी मुंडनाची कडक शिक्षा दिली आहे. आतां येथेंच काय तें रा. ब. चे गौडबंगाल सुरू झाले आहे. हिदुधर्मशास्त्रात स्त्रीपुरुषाचा विवाह-संबंध जन्माचा असल्यामुळें बायकोस जर तो तोडता येत नाही तर तीस नवऱ्या-कडून अन्नवस्त्र (भिकार का होईना) नेहमी देवविलें पाहिजे हें आमच्या धर्माचें तत्त्व नीट न समजता रा. ब. म्हणतात कीं, ‘ घरी ठेवावी व पोटास द्यावें ’ असे सांगितलें यावरून त्या वेळेस व्यभिचारिणी स्त्री संग्रहाई समजत ! पण विज्ञानेश्वर काय म्हणतात पाहा—

स्ववेश्मन्येव वासयेत् । वैराग्यजननार्थं न पुनः शुद्धर्थं । यत्पुंसः परदारेषु तच्चैना चारयेद्ब्रतमिति पृथक्प्रायश्चित्तोपदेशात् ।

म्हणजे घरीं ठेवावी पण ती कशाकरिता ? विरक्ति उत्पन्न होण्यासाठीं, शुद्धीकरिता नव्हे; कारण शुद्धीकरितां मनूनें “ यत्पुंसः ” इत्यादि निराळें प्रायश्चित्त सांगितलें आहे. परंतु आमच्या रा. ब. स वरील सर्व अर्थ अनुकूल नसल्यामुळें त्यांनी “ स्ववेश्मन्येव वासयेत् ” एवढाच टीकेपैकी भाग उचलला आहे. बाकीची टीका त्यास दिसते कशाला ? वाचकहो ! जरा दम खा; पुढें याहूनही विशेष बहार आहे. येथपर्यंत याज्ञवल्क्यस्मृतीची मनुस्मृतीशीं एकवाक्यता झाली. याज्ञवल्क्य स्मृतींतील पुढील वचन असें आहेः—

व्यभिचारादृत्तौ शुद्धिः गर्भे त्यागो विधीयते
गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ।

आमचे विज्ञानेश्वर विचारे पडले भोळे ! त्यांस याज्ञवल्क्यस्मृतीची पूर्वोक्त मनु-
स्मृतीशीं त्यांच्या ग्रंथ लावण्याच्या पद्धतिप्रमाणें एकवाक्यता करणें जरूर होतें.
शिवाय याज्ञवल्क्य स्मृतींतही व्यभिचारास—

स्त्रीनिषेधे शतं दंड्या द्विशतं तु दमं पुमान्
प्रतिषेधे तयोर्दंडः यथा संग्रहणे तथा ।
सजातौ उत्तमो दंडः आनुलोम्ये तु मध्यमः
प्रातिलोम्ये वधः पुंसः नार्याः कर्णादिकर्तनं ।

असा राजदंड सांगितला आहे. उत्तम म्हणजे हजार व मध्यम म्हणजे पाचशें; हा दंड दोघासही सारखाच. तेव्हा मनुस्मृति जरी क्षणभर एका बाजूस ठेविली तरी ज्या याज्ञवल्क्यांनी व्यभिचारास एवढा राजदंड सांगितला ते ऋतु पालटला म्हणजे व्यभिचारिणीचा संग्रह करावा असें कसे म्हणतील ? दुसरें, मनूने व्यभिचारिणी स्त्रीस घरात ठेवून प्रायश्चित्त द्यावें असें “ यत्पुंसः ” इ. वचनांत सांगितलें आहे. याज्ञवल्क्य सांगतात की “ गर्भे त्यागो विधीयते ” गर्भ धारण झाला असतां तिचा त्याग करावा. तेव्हा आता याविरुद्ध वचनाची व्यवस्था कशी लावावी ? विज्ञानेश्वरांनीं मनुस्मृतींतील व खुद्द याज्ञवल्क्यस्मृतींतील वचनार्शी या वचनांचा विरोध न यावा म्हणून “ व्यभिचारात् ” याची “ अप्रकाशितान्मनो व्यभिचारात् पुरुषातरसंभोगसंकल्पात् यदपुण्यं तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः ” म्हणजे व्यभिचार मानसिक असला तरच ऋतु पालटल्यावर त्याची शुद्धि होती अशी व्याख्या केली आहे. मानसव्यभिचारही करूं नये असें “ मनोवाग्देहसंयता ” इत्यादि पूर्वोक्त मनुवाक्यात सांगितलेच आहे. शिवाय मनूनेच ५ व्या अध्यायातः—

मृत्तौयैः शुद्धते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ।

भांडें वगैरे यांची माती लावून घांसल्यानें, नदीची वेगानें, मनोदुष्ट स्त्रीची म्हणजे कुल्लूकादि टीकाकारांच्या मतें मानसव्यभिचारापासून स्त्रीची ऋतु पालटल्यानें व ब्राह्मणाची संन्यासानें शुद्धि होते असें सांगितलें आहे. असें समानार्थक वाक्य मनूंत असतां ‘ व्यभिचारादृते शुद्धिः ’ या वाक्याच्या विज्ञानेश्वरकृत अर्थाबद्दल आतां काहीं शंका आहे काय ? मानसव्यभिचारही कां निषिद्ध मानिला याचें कारण वीरामित्रोदयकारांनीं शंखलिखित स्मृतींतून खालीं लिहिल्याप्रमाणें दिलें आहेः—

अतएव आहतुः शंखलितौ यस्मिन् भावोऽर्पितः स्त्रीणामार्तवै तच्छीलं पुत्रं जनयतीति । मानसव्यभिचारादपि स्त्रियं रक्षेदिति शेषः । तथा च मनुना ‘ तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियो रक्ष्येत्प्रयत्नतः ’ इत्यादिनायमेवार्थो दर्शितः ।

म्हणजे जर एखाद्या स्त्रीचा एखाद्या पुरुषावर भाव बसला असेल तर ऋतु पालटण्यापूर्वी तिचा संग्रह केला असतां प्रजा इच्छित पुरुषाप्रमाणे होते म्हणून ऋतु पालटपर्यंत तिचा संग्रह करूं नये. तेव्हां “व्यभिचारादतौ शुद्धिः” हें वाक्य मानसव्यभिचारविषयक आहे असें जें विज्ञानेश्वरांनीं ठरविलें आहे तेंच योग्य आहे. तसेंच “गर्भेत्यागो विधीयते” यांत “त्याग” शब्दाचा अर्थ “निरुंध्यादेकवेदमनि” या पूर्वोक्त मनुवाक्यशीं एकवाक्यता करण्याकरिता “त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोः न तु निष्कासनं गृहात्” त्याग म्हणजे धर्मकार्य व उपभोगाकरितां, घरांतून घालवून देणें नव्हे असा केला आहे. एवंच विज्ञानेश्वरांनीं याज्ञवल्क्यस्मृतीतल्या वचनांचा परस्परार्शी व मनुवचनाशीं विरोध न आणिता शास्त्रीय सरणीनें दोषाचा सुरेख मेळ घालून दिला आहे.

आतां रा. ब.नी येथें कसें गौडबंगाल केले आहे तें दाखवून आमचा लेख आटपतो. व्यभिचारी पुरुषांचा स्त्रियांनीं नेहमीं जर संग्रह करावा तर व्यभिचारी स्त्रियांचा पुरुषांनीं का करूं नये, असा त्याचा सुधारलेला समज असल्यामुळे “व्यभिचारादतौ शुद्धिः” हें वाक्य पाहिल्याबरोबर आनदाच्या भरांत त्यास टीकेचें विस्मरण झालें असावे, व त्या वाक्याचा त्यांनीं आपल्या बुद्धीनें “व्यभिचारिणी स्त्रिचा ऋतु पालटल्यावर संग्रह करावा” असा सरळ अर्थ लावून सोडिला. पण पुढचें वाक्य पाहतात तों “गर्भेत्यागो विधीयते” रावबहादुरांच्या मते तर व्यभिचारिणी स्त्रीचा संग्रह झाला पाहिजे, तेव्हां ते एकदम म्हणाले असतील, काय, “त्याग ?” हा बेटा एक अपशकुनच झाला ! लवकर टीका पहा. तो त्याच्या दृष्टीस “त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोः न तु निष्कासनं गृहात्” एवढीच विज्ञानेश्वराची व्याख्या पडली असावी; एव्हवीं त्यांची न्यायी दृष्टि अशी व्यभिचरित झाली नसती ! एका श्लोकपादाची टीका दिसते व दुसऱ्याची दिसत नाही यास दुसरे काय बरें कारण असावे ? अथवा रा. ब. चें संस्कृतज्ञान वेतावाताचेंच असल्यामुळे त्यास शास्त्रीबुवांनीं कदाचित् मागची टीका दाखविलीच नसेल ? पण मग रा. ब. नी या अव्यापारेषुव्यापारात पडवे तरी का ? वाचकहो ! आमची मति येथें अगदीं गुंग झाली आहे. करितां रा. ब. च्या हातचलाखीचा व धाष्ट्यांच्या हा जो नवीन मासला तुमच्यापुढें मांडिला आहे त्याचे मनन करण्याकरिता तुम्हास सात दिवसांची फुरसत देतो. इतक्या मुदतींत जर तुम्हास हें कोडें उलगडलें तर बरेंच काम झालें.

* रावबहादुर रानडे यांचें अपूर्व युक्तिचापल्य

(मागील अंकावरून पुढे चालू.)

सभा वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजस ।

—मनुः

मागील अंकी आम्हीं या विषयाच्या संबंधानें जे विवेचन केले आहे त्या-
वरून महाभारतांत तत्कालीन नव्हे तर फार पुरातन रानटी स्थितीचें जें वर्णन
केले आहे त्यात व मनुस्मृतिकाली विवाहादि संस्कारांनी नियमित झालेल्या गृह-
स्थितींत किती अंतर आहे ते मनात न आणितां व मागील पुढील वचनाचा विचार न
करितां केवळ स्वपक्षसमर्थनार्थ आपल्या पूर्वं मनोदयानुरूप रा. ब. नीं स्मृति-
वचनांशी कसें साहस केले आहे हें वाचकांचे लक्षात आलेच असेल. रा. ब.
नीं स्मृतिवचनांचे खरोखर अर्थ प्रथमतः देऊन जर मग ते आपणांस
पसंत नाहींत असें म्हटलें असते तर गोष्ट निराळी होती. कारण मग आमच्या
धर्मशास्त्रावर रा. ब. प्रमाण किंवा विज्ञानेश्वरादि ग्रंथकार प्रमाण याचा लोकानी
विचार केला असता. परंतु तसे न करिता आपणास अनुकूल तेवढी टीका उचला-
वयाची व बाकीच्याचे मुकाट्यानें मनःपूत अर्थ लावावयाचे आणि अखेरीस
“ सर्व वचनाचा विचार करण्याचा माझा अधिकार नाही... क्वचित् स्थळीं माझ्या-
विरुद्ध एखादे वचन सांपडेल, परंतु स्मृतिग्रंथाचा विचार करिताना एखाद्या
दुसऱ्या वचनावरच कटाक्ष ठेवून निर्वाह होत नाहीं, एकंदर शास्त्रसरणीचा
विचार करावा लागतो. ” असे आत्मसौजन्याचे व स्वपक्षाभिमानाचे एकसमया-
वच्छेदेंकरून कथन करावयाचें या प्रकारास काय म्हणावें याचा वाचकांनीच
विचार करावा स्मृतिग्रथाशी युक्तिवाद करण्याची हवी त्यास मोकळीक आहे,
पण ती धर्मशास्त्र या नात्यानें नाहीं हे रा. ब. नीं लक्षात ठेवावयास पाहिजे
होतें. धर्मशास्त्र पाहणें असल्यास ते त्याच्या सरणीनेंच पाहिलें पाहिजे. अस्तु; या-
विषयावर जेवढी चर्चा होईल तेवढी रा. ब. इष्टच आहे. करितां आपण पुढील
विवेचनास लागूं.

अधिवेदन

रा. ब. चा, तिसरा व मुख्य मुद्दा अधिवेदनाचा होय. पतीचा त्याग
करूं इच्छिणाऱ्या “ स्त्रीची गणना साहसादि कर्म करणाऱ्या स्त्रियांत न होता
अधिवेदन ज्या स्त्रीच्या संबंधानें सांगितले आहे अशांत होईल ’ व ज्या अर्थी
अधिवेदनाबद्दल नवऱ्यास दंड सांगितला नाही, तेव्हा स्त्रियांस दंड सांगतील हा
संभव नाहीं; ” अतएव पति न आवडल्यास त्याचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीस

शास्त्रांत शिक्षा नाही असा रा. ब. चा अभिप्राय आहे. यावर प्रथमतः रा. ब. स आमचा असा प्रश्न आहे कीं, “अधिवेदन” या शब्दाचा अर्थ त्यांनीं टीकेत किंवा कोशांत काढून पाहिला होता काय ? तो पाहिला असतां तर रा. ब. स आपली चूक तेव्हाच कळून आली असती. पण पूर्वाग्रहामुळे आपण अज्ञात भूमीवर संचार करीत आहों हें रा. ब. च्या लक्षात आले नाही; व त्यामुळेच त्यांनीं ही अंधारात उडी घेतली असावी ! एव्हर्वा संस्कृताचें यत्किंचित्ही ज्यास ज्ञान आहे किंवा निदान आपणांस फारसें संस्कृत येत नाही असें तरी ज्यास पूर्ण ठाऊक आहे त्याच्या हातून असला प्रमाद कधीही झाला नसता ! अधिवेदन शब्दाचा वास्तविक अर्थ “ एक बायको जिवंत असतां दुसरा विवाह करणें ” असा आहे. वेदन हा शब्द (विद्) लग्न करणें या धातूपासून आला असून अधि (अधिक) वेदन म्हणजे एक स्त्री असता दुसरे लग्न करणें होय. विज्ञानेश्वरांनीं “ अधिवेदनं भार्यान्तरपरिग्रहः ” अशी स्पष्ट व्याख्या केली आहे. अधिवेदनाचा हा अधिकार पुरुषासच आहे, स्त्रियांस नाही; व पुरुषांसही काहीं नियमित कारणाकरिताच तो अधिकार दिला आहे मनुनें म्हटलें आहे:—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिस्त्राऽर्थध्नी च सर्वदा ।
बंध्याष्टमोधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ।
या रोगिणी स्यात्तु हिता सपत्ना चैव शीलतः
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ।

म्हणजे जर पहिली बायको दारुबाज, वाईट चालीची, द्राड, रोगी किंवा उधळी असेल तर पुरुषानें दुसरा विवाह करावा. वाझ असल्यास आठ वर्षांनीं, मुले वाचत नसल्यास दहा वर्षांनीं, मुलीच होत असल्यास अकरा वर्षांनीं व अप्रिय बोलणारी असल्यास लागलीच पुरुषानें दुसरा विवाह करावा रोगी असून अनुकूल व सुशील असल्यास तिच्या परवानगीने विवाह करावा व तिचा कधी अवमान करूं नये. याज्ञवल्क्यानीही असेंच सांगितलें आहे:—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वध्यार्थधन्यप्रियंवदा
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ।

यावरून उघड होतें कीं ज्याअर्थी पुत्रोत्पादन व धर्मार्थकामाची वृद्धि हा लग्न करण्याचा मुख्य हेतु शास्त्रांत मानिला आहे त्याअर्थी पहिल्या बायकोस पुत्र होण्याचा किंवा तिच्यापासून संसारात नवऱ्यास सुख होण्याचा जेव्हा संभव नसतो तेव्हां शास्त्रानें त्यास दुसरें लग्न करण्याची मोकळीक दिली आहे. तथापि पहिल्या बायकोस (ती अनुकूल असल्यास मनुप्रमाणें चांगलें, नसल्यास निदान पोटा-पुरतें तरी) अन्नवस्त्र त्यास दिलेंच पाहिजे.

अधिविज्ञा तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।

कारण—

यत्रानुकूल्यं दंपत्योः त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ।

असें याज्ञवल्क्यस्मृतीत सांगितलें आहे. 'भर्तव्या' याची "नावमान्या" या मनुवचनास अनुसरून "दानमानसत्कारैर्भर्तव्या" अशी विज्ञानेश्वरानीं व्याख्या केली आहे. त्रिवर्ग म्हणजे धर्मार्थकाम, पूर्वोक्त कारणावांचून जर नवरा बायको सोडून देईल तर नारदानें:—

अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षा साध्वीं पतिव्रता

त्यजन् भार्या अवस्थाप्यो राज्ञा दंडेन वै पतिः ।

त्यास राजाने दंड करून ताळ्यावर आणावे अशी शिक्षा सांगितली आहे. याज्ञवल्क्यानेही:—

आज्ञा संपादिनीं दक्षा वीरसूं प्रियवादिनीम्

त्यजन् दाप्यस्त्रितीयाशोऽद्रव्यो भरणं स्त्रियः ।

जर तो ऐकत नसेल तर बायकोस त्याच्या मिळकतीचा तिसरा हिस्सा किवा तो दरिद्री असल्यास निदान अन्नवस्त्र तरी द्यावें अशी व्यवस्था सांगितली आहे. आता रा. ब.च्या अपूर्व युक्तिक्रमाचे आविष्करण करण्यापूर्वी वाचकांस एवढें पुनः सांगितलें पाहिजे कीं, हा जो अधिवेदनाचा अधिकार शास्त्रात सांगितला आहे तो फक्त पुरुषासच आहे. नवरा दारुबाज वगैरे असल्यास स्त्रियेनें त्यास टाकावें किंवा दुसरा विवाह करावा असें कोणीही सांगितलें नाही. असल्यास रा. ब.नीं तें अवश्य दाखवावें. उलट:—

अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा

सा त्रीन् मासान् परित्याज्याऽविभूषणपरिच्छदा ।

अशी जुगारी, दारुबाज, किंवा रोगी नवऱ्यास टाकणाऱ्या स्त्रीस मनुनें शिक्षा सांगितली आहे. स्त्रीनें दुसरा विवाह केव्हां करावा यास "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इ. एकच वचन आहे. पण येथें त्याचा संबंध नसल्यामुळें आम्ही आज त्याच्या अर्थाच्या भानगडीत पडत नाहीं. आपणांपुढें प्रश्न एवढाच आहे कीं, ज्याप्रमाणें "सुरापी" इ कारणांकरिता पुरुषास पहिली बायको असतां दुसरा विवाह करता येतो, (पहिली बायको त्यास सोडतां येत नाहीं हो!) त्याप्रमाणे विवाहाचा राहूं द्या, पण नवरा "दारुबाज" वगैरे असल्यास सोडण्याचा तरी हक्क स्त्रीस येतो कीं नाहीं? आम्ही रा. ब. स असे स्पष्ट कळवितों कीं, असा हक्क स्त्रीस कोणत्याही ग्रंथात दिला नाहीं. मग आमच्या शास्त्रकारांस हवें तें म्हणा! फक्त नवरा जर पतित, नपुंसक, कुष्टादिपापयोगानीं पीडित किंवा धोंडे मारण्यासारखा वेडा असेल तर मात्र स्त्रीनें त्याचा त्याग केल्यास कांहीं दोष नाहीं; असें:—

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणं

न त्यागोऽस्ति द्विषत्याश्च न च दायापवर्तनं ।

मनूनें सांगितलें आहे. पापरोग म्हणजे कुष्टादि महारोग असा कुल्लूकांनीं अर्थ केला आहे. या चार कारणांखेरीज जर स्त्री पुरुषाचा त्याग करील तर तें साहस समजून राजाने तीस दंड करावा असें सर्व स्मृतींत सांगितलें आहे.

आतां रा. ब. ची “ जुक्ती ” पहा कशी आहे ती. रा. ब. म्हणतात कीं जर स्त्री पुरुष द्वेषिणी असेल म्हणजे तिचें नवऱ्याशीं बनत नसेल व म्हणून “ त्याचे घरी न नादता ती पित्याच्या घरी निर्दोष राहिल ” तर तिच्यासंबंधाने पुरुषास दुसरा विवाह करण्याची मोकळीक आहे; व जर असा अधिवेदनाबद्दल पुरुषास दंड नाही तर स्त्रीस तो कसा संभवतो ! वा ! खाशी तोड ! व खासे अनुमान ! “ पुरुषद्वेषिणी स्त्री पित्याकडे राहिली तर ” असे जे शब्द रा. ब. नीं वापरले आहेत ते त्यास कोठें सांपडले ? आपल्या पदरचेच शब्द ढकलून देऊन त्यावर अनुमान बाधण्याची रा. ब. ची ही खूप अपूर्व हातोटी आहे ! मागे जीं वचनें दिलीं आहेत त्यावरून वाचकाचे लक्षात आलेच असेल कीं, पुरुषानें जरी दुसरें लग्न केले तरी त्यास कारणावाचून पहिली बायको सोडता येत नाही. सोडल्यास दंड आहे. आणि तसेंच पुरुषाने पूर्वींक्त कारणाकरिता जरी दुसरें लग्न केलें तरी पहिल्या बायकोने त्याचे जवळच राहिले पाहिजे. त्यास सोडून रा. ब. नीं सांगितल्याप्रमाणें पित्याच्या घरी तीस जाता येत नाही. मनुंत सांगितले आहे:—

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुपिता गृहात्

सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ !

म्हणजे नवऱ्यानें सकारण दुसरा विवाह केला असतां जी स्त्री रागावून घराबाहेर जाईल तिला एकदम पकडून आणावी; किंवा तिचा बांधवासमोर त्याग करावा. साराश, अधिवेदन म्हणजे पहिली स्त्री असता काही कारणाकरितां दुसरा विवाह करणें. हा अधिकार पुरुषासच आहे. पुरुषांस हा अधिकार आहे म्हणून नवऱ्यास सोडून स्त्रीस पित्याच्या घरी राहता येत नाही. नवऱ्याने पूर्वींक्त कारणाकरिता दुसरे लग्न केलें तरी स्त्रीने त्याचे जवळच राहिलें पाहिजे व त्यासही तिला अन्न-वस्त्र दिलें पाहिजे. नाहीतर दोघासही दंड आहे. अधिवेदनाचा आणि नवऱ्याने बायकोचा किंवा बायकोने नवऱ्याचा केव्हा त्याग करावा याचा कांहीं एक संबंध नाही. आणि पतीचा अशा गीतीनें त्याग करणाऱ्या बायकोस रा० ब० नीं सांगितल्याप्रमाणें ‘ अधिविन्ना ’ कदापि म्हणतां येणार नाही. त्यागाचा भाग स्वतंत्र आहे, त्याचा अधिवेदनांत अंतर्भाव होऊं शकत नाही. स्त्री दारुबाज किंवा पुरुष-द्वेषिणी असली तर नवऱ्यास दुसरा विवाह करता येतो, पण नवरा दारुबाज वगैरे असून त्याचें व स्त्रीचें पटत नसल्यास स्त्रीस त्यास सोडतां येत नाही, असें मनुंत स्पष्ट सांगितलें आहे; त्यांत युक्तिवादास जागा नाही. फक्त नवरा जर नपुंसक,

पतित, वेडा किंवा महारोगी असेल तर मात्र या चार कारणाकरिता स्त्रीने त्याचा त्याग केल्यास ती दोषार्ह होत नाही. बाकी त्यास दमा आहे, तो गरीब आहे, त्याचा माझा द्वेष आहे वगैरे कारणाकरिता जर स्त्री पुरुषाचा त्याग करील तर तें साहस समजून त्यास स्मृतिग्रंथातून राजदंड सांगितला आहे. हा दंड काय आहे त्याचा आपण आता विचार करूं.

स्त्रीपुंव्यवहार

पतीचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीस जर राजदंड आहे तर नवराबायकोचा खटला राजाकडे अवश्य गेला पाहिजे. नवराबायकोची एकमेकावर फिर्याद होत नाही म्हणून जे रा. व. म्हणतात तें अगदी सामान्य वाक्य आहे. म्हणजे होईल तेवढें करून राजानें असल्या फिर्यादी आपापसांत मिटविण्यास सागाव्या एवढाच त्याचा अर्थ आहे. रा. व. नीं हीही गोष्ट जुलमानें कबूल केल्यासारखी आहे; पण आम्ही त्यांस असें सांगतों कीं, येथें असल्या ओढाताणीची काहीं गरज नाही. आमच्या शास्त्रकारानीं या गोष्टीचा निकाल केला आहे. विज्ञानेश्वरानीं या विषयावर खाली दिल्याप्रमाणें आपला सिद्धांत दिला आहे:—

यत्तुस्मरणं – “गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दंपत्योः स्वामिभृत्ययोः । विरोधेऽपि मिथस्तेषां व्यवहारो न सिध्यति ॥” इति तदपि गुरुशिष्यादिनामात्यंतिक व्यवहार प्रतिषेधपरं न भवति । तेषामपि कथंचिद्द्व्यवहारस्येष्टत्वात् तथाहि शिष्यादिशिष्टि-रवधे नाशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्या तनुभ्यामन्येन धनन् राज्ञा शास्य इति गौतम-स्मरणात् यदि गुरुः कोपावेशवशात् उत्तमांगे ताडयति यदा स्मृतिव्यपेतेन मागेंणा-धर्षितः शिष्यो राज्ञे निवेदयति तदा भवत्येव व्यवहारपदं ।.....तथा दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामो दातुमर्हतीति स्मरणात् दुर्भिक्षादि व्यतिरेकेण यदि स्त्रीधनं भर्ता व्ययीकृत्य विद्यमान धनोऽपि याच्यमानो न ददाति तदा दंपत्योरपि इष्यते एवविवादः ।...तस्मात् दृष्टादृष्टयोः श्रेयस्करो न भवति गुर्वादिभिव्यवहार इति प्रथमं शिष्यादयो निवारणीयाः राज्ञा ससभ्येनेति “गुरोः शिष्य ” इत्यादेः श्लोकस्य तात्पर्यार्थः । अत्यंतनिर्वन्धे तु शिष्यादिनामपि उक्तरीत्या प्रवर्तनोयो व्यवहारः ।

म्हणजे इंग्लंडात हल्ली ज्याप्रमाणें नवराबायको मिळून कायद्यात एक व्यक्ति मानतात तरी नवऱ्यानें बायकोस मारिल्यास तिची त्यावर फिर्याद चालते; तशीच जरी “या भर्ता सा स्मृतांगना” अशी स्मृति आहे तरी तिचा अर्थ इतकाच घ्यावयाचा कीं साधारणरीत्या राजाने हे खटले आपल्यापुढे येऊं देऊं नयेत. बाकी नवरा बायकोस मारील किंवा तिचें स्त्रीधन घेईल तर व्यवहार म्हणजे फिर्याद होण्यास काहीं हरकत नाही. असें जर नसेल तर:—

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणा च रोगिणा
शिष्याविदलरज्ज्वाद्यैः विदध्यान्पतिर्दमं ।

“स्त्रीस बारीक काठीनें किंवा दोरीनें राजानें शासन करावें.” असें जें मनुष्यें सांगितलें आहे त्याचा अर्थ काय ? शिवाय पितापुत्र, गुरुशिष्य, धनी-चाकर, पतिपत्नी, हे आपले धर्म पाळणार नाहीत तरही त्यांस राजदंड आहे तो कसा घडणार ? तेव्हां पतिपत्नीचा व्यवहार होतो हें अगदीं उघड आहे; व हाच पक्ष मयूखवीरमित्रोदयकारादि ग्रंथकारांस मान्य आहे.

पतित्यागास राजदंड आहे.

एवढ्यावरून स्त्रीपुरुषांची परस्परावर फिर्याद चालते असें सिद्ध झालें. आतां मागें सांगितलेल्या चार कारणाखेरीज जर स्त्री पुरुषाचा त्याग करील तर त्यास स्मृतिकार काय दंड सागतात तो पहा. प्रत्येक स्मृतीचे आचार, व्यवहार व प्रायश्चित्त असे तीन विभाग असतात. आचारांत विवाहादि संस्काराचा अंतर्भाव होतो. व्यवहार म्हणजे दिवाणी व फौजदारी काम चालविण्याची रीति. यातच गुन्हे व त्याची शासने दिलीं असतात. हल्ली ज्याप्रमाणें दिवाणी व फौजदारी कोर्टें निरनिराळी आहेत व दोन्हीचें काम चालविण्याचे कायदेही निरनिराळे आहेत, तशी पूर्वी व्यवस्था नव्हती. एका व्यवहाराध्यायातच मुदतीच्या, पुराव्याच्या व कंट्रॉक्टच्या कायद्याचा, पिनलकोडचा आणि दिवाणी व फौजदारी काम चालविण्याच्या कायद्याचा समावेश होत असे. कोणत्याही स्मृतीतील व्यवहाराध्याय वाचला असता असें दिसून येईल की प्रथमतः कोर्टाची रचना, मुदत व पुरावा याचा विचार झाल्यावर मग व्यवहार कित्ती प्रकारचा होतो हें सागून त्या प्रत्येक प्रकरणाचा विचार स्मृतिकारानी केला आहे. फिर्याद अठरा प्रकारची संभवते असे मनुष्यें व इतर स्मृतिकारानीं सांगितलें आहे. या अठरा प्रकारांतच-दायभाग, ऋणादान वगैरे दिवाणी व चोरी, साहस वगैरे फौजदारी प्रकरणें येतात. यातील साहस, पारुष्य, वगैरे प्रकरणे प्रस्तुत आपल्या विषयास लागू असल्या-कारणाने त्याचाच येथे विचार करूं. इतका विस्तार करण्याचें कारण इतकेच की आमच्या स्मृतिग्रथातील व्यवस्थेची वाचकांस थोडी माहिती व्हावी व आम्ही कोठली तरी कोनाकोपण्यातील वचने काढतों असा जो आमच्यावर आक्षेप आहे त्याचें खरें स्वरूप वाचकांचे नजरेस यावें. व्यवहाराध्यायात फिर्यादीचे म्हणजे आतांच्या कायद्याप्रमाणें गुन्ह्यांचें जर असें नीट वर्गीकरण केलें आहे व त्यापैकीं एका वर्गात म्हणजे साहसांत जर स्मृतिकारानीं पतीचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीस शिक्षा सांगितली आहे, तर अशा गुन्ह्यास जुन्या शास्त्रांत राजदंड नाही असें म्हणणें म्हणजे साहस नव्हे काय ? रा. ब. स आम्ही असें विचारतों कीं पिनल-कोडाच्या अमक्या चाप्टरच्या अमक्या कलमाखाली अमुक एक अपराध स्पष्ट येतो असें जर त्यांस कोणी दाखविलें तर ते त्याचा अर्थवाद करून आडरानांत शिरतील काय ? नाही; तर मग व्यवहाराध्यायातील अठरा प्रकारच्या व्यवहारांपैकीं साहसाच्या सदराखालीं जर पतीचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीस स्पष्ट शिक्षा सांगि-

तली आहे तर त्यांनीं जो अर्थवाद माजविला आहे तो कशाकरिता ? घे महाभारतां-
तील वाक्य आणि जोड मनुस्मृतीस; व्यभिचार व्यभिचार तो काय ? ऋतु-खानानें धुऊन
टाकला म्हणजे झालें; कर असें प्रतिपादन; दे सगळी शास्त्रसरणी झुगारून; अशी
जी त्यांनीं अनन्वित धुमश्चक्री आरंभिली आहे ती काय म्हणून ? स्वपक्षाभिमानानें
अंध झालेच्या रा. ब. खेरीज कोणाही विद्वानास वक्तृत्वसमारंभसमयीं अशा
तऱ्हेनें बोलण्याचें साहस झालें असतें काय ? अस्तु; आपण आपल्या प्रकृत
विषयाकडे वळूं.

साहस व स्त्रीसंग्रहणप्रकरणीं स्त्रीने पतीचा, शिष्याने गुरुचा, पुत्रानें
पित्याचा वगैरे त्याग केल्यास त्यास मनुतः—

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

नादंड्या नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मेन तिष्ठति ।

असा सामान्य दंड सांगून नंतरः—

ऋत्विजं यस्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विग्यजेद्यदि

शक्त कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दंडः शतशतं ।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति

त्यजन्नपतितानेतान्नाज्ञा दंड्यः शतानिषट् ।

असा पुढें विशेष दंड सांगितला आहे याज्ञवल्क्यस्मृतीतही साहसप्रकरणींः—

पितृपुत्रस्वसृभ्रातृदंपत्याचार्यशिष्यकाः

एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदंडभाक् ।

अशी मनुप्रमाणेंच शिक्षा सांगितली आहे. नारदस्मृतीतही साहसप्रकरणीं अक्षरशः
हेंच वचन आहे. इतक्या स्मृतींतून व्यवहाराध्यायात एकाच प्रकरणांत इतकी
सारखी वचनें सांपडत असता “पतीचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीकडे साहसपारुष्यादि
दोष न येता तिचा अधिविन्न स्त्रियांत समावेश होतो.” असे जे रा. ब. नी
प्रतिपादन केले आहे तें कितपत समंजस आहे याचा वाचकानीच विचार करावा.
रा. ब. दुसरें असे म्हणतात की, या सर्व वचनाचा अर्थवादच केला पाहिजे; “कारण
पतिपत्नीच्या संबंधाशिवाय इतर संबंधात असा दंड पूर्वी होत नव्हता व आतांही
होत नाही. तेव्हां अशा तऱ्हेनें एकमेकांचा त्याग करणें भ्रूतिकारांस इष्ट नाही
एवढाच बोध यापासून घ्यावयाचा !” केपडा सत्यापलाप हा ! रा. ब. हल्लीं
चालू असलेलेही कायदे विसरले वाटतें. कोणत्याही देशाचा अर्वाचीन कायदा
पाहा. त्यांत धनीचाकर (Master and servant), पितापुत्र (Guardian and
ward) पतिपत्नी (Husband and wife) गुरुशिष्य (Apprentice) हें कायदे
आहेत. पण ते आमच्या रा. ब. स कोटून दिसणार ? ही अर्वाचीन काळची
व्यवस्था झाली. प्राचीनकाळीं वर विज्ञानेश्वरांचा पितापुत्रादिकांचा व्यवहार होतो
म्हणून जो सिद्धांत दिला आहे त्यांतच ह्या सर्व संबंधास राजानें दंड करावा असें

स्पष्ट सांगितलें आहे. पण तेंही विचारें रा. ब.च्या समोर येऊन उभें राहिलें नाहीं. निजलेल्यास कोणी जागें करील पण जाग्यास जागें कोण करणार ? तेव्हां रा.ब. स सोडून वाचकांच्या समाधानाकरिता मनुंत वाक्यपारुष्यप्रकरणीं अशाच तऱ्हेनें पितापुत्र, गुरुशिष्य, पतिपत्नी यांचे संबंघात दंड सांगितला आहे तो येथे देतोः—

मातरं पितरं जाया भ्रातरं तनयं गुरुं

आक्षारयत्वातं दाप्यः पंधानं चाददद्गुरोः ।

‘ आक्षारयन् ’ याचा कुल्लूकानीं “ दुर्भाषण—शिविगाळ करणारा ” असा अर्थ केला आहे. याही वचनाचा व अर्वाचीन सुधारलेल्या राष्ट्रांतील धनीचाकर, पतिपत्नी वगैरे संबंघांच्या कायद्यांचा मिळून सर्वांचा एकदमच अर्थवाद करावा असें जर रा. ब. म्हणत असतील तर त्याच्या विद्वत्तेस धन्य मानिलें पाहिजे. दुसरे काय ?

आतां राहतां राहता एक मुद्दा राहिला. तो असा कीं पतीचा त्याग करणाऱ्या स्त्रीस दंड आहे, पण कैदेची शिक्षा कोर्टें आहे ? आहे; जरा दम धरा. आधीं हल्लींच्या कायद्यांत कैदेची शिक्षा केव्हां आहे ती पाहूं. हल्ली असा कायदा आहे कीं नवराबायकोची फिर्याद कोर्टापुढे आली म्हणजे प्रथम योग्य कारणावांचून पतीचा त्याग केला असल्यास स्त्रीस पतीकडे जाण्यास कोर्टानें सागावे. हा कोर्टाचा हुकूम स्त्री अमान्य करील तर तीस कैदेत टाकावी. कैदेची शिक्षा प्रथम नाहीं. हिंदुधर्मशास्त्रांतही असेंच सांगितलें आहे. राजानें वादीप्रतिवादी आपणापुढे आले म्हणजे प्रथमतः कोर्टाचा हुकूम ते मान्य करतील याबद्दल त्याजकडून जामीन घ्यावाः—

उभयोः प्रतिभूर्गाह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ।

असें याज्ञवल्क्यांनी सांगितलें आहे. असा जामीन त्यांनीं न दिल्यास विशानेश्वर म्हणतातः—

“ तस्यासंभवेऽर्थप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषाः नियोक्तव्याः तेभ्यश्च ताभ्या प्रतिदिनं वेतनं देयं तथाह कात्यायनः । अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः संरक्षितो दिनस्यांते दद्यात् भृत्याय वेतनमिति ।

म्हणजे त्यांस तेव्हांपासूनच कैदेत टाकावें. तात्पर्य; हल्लीपेक्षांही जुनें धर्मशास्त्र कडक होतें. हल्लीं ही फिर्याद दिवाणी आहे; पूर्वी फौजदारी होती. कोर्टाचा हुकूम अमान्य केल्यास हल्लीं कैद आहे; पूर्वी प्रथमच जामीन घेत असत. व तो न दिल्यास तेव्हांपासूनच कैदेत टाकीत. उघडच आहे. राजाकडे जायाचें तर तो सांगेल तें न ऐकल्यास दंड पाहिजेच. एव्हवी कोर्टाचा किंवा राजाचा हुकूम मानतो कोण ? मनुनें म्हटलें आहेः—

वाग्दंडं प्रथमं कुर्याद्विग्दंडं तदनंतरं

तृतीयं धनदंडं तु वधदंडमतःपरं ।

वधेनाऽपि यदात्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्
तदैषु सर्वमप्येतत् प्रयुंजीत चतुष्टयं ।

म्हणजे प्रथम राजानें सामोपचारानें सागून पाहवें, न ऐकेल तर निर्भर्त्सना करावी, त्यानेंही ताळ्यावर येत नाही तर धनदंड करावा, तितक्या उपरही शुद्धी-वर येत नाही तर वधदंड म्हणजे नाककान कापणें, कैद वगैरे (शरीरदंड समजावा असें कुल्लूक म्हणतात, कारण वध म्हणजे फाशी असा अर्थ घेतल्यास “वधेनाऽपि” हा दुसरा श्लोक लागत नाही) शिक्षा द्यावी, इतकेही करून काहीं चालत नाही तर सर्वांची एकदम योजना करावी ! तात्पर्य, राजाज्ञा न मानल्यास वादीप्रतिवादीस ती आज्ञा मानण्यास तयार होईपर्यंत पूर्वी तुरुंगात ठेवीत असत.

हा राजदंड झाला; पण याखेरीज साहसी स्त्रीस:—

भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः

प्राप्तापराधास्ताड्याः स्युः रज्ज्वा वेणुदलेन वा

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमागे कथंचन ।

असा गृहदंड करण्यास मनुनें पतीस अधिकार दिला आहे. तसेच प्रायश्चित्त-प्रकरणात गुरुमातृपितृत्यागाची उपपातकात गणना करून त्यांस प्रायश्चित्तही सांगितलें आहे. एतावता स्त्रीनें पतीचा पूर्वोक्त कारणचतुष्टयाखेरीज त्याग केल्यास त्यास तिन्ही दंड मनुनें सांगितले आहेत; राजदंडाबद्दल स्मृतिग्रंथाच्या प्रमेयाप्रमाणेंच नेटिव्ह संस्थानातील आचारही आहे. तस्मात् आमच्या धर्मशास्त्राप्रमाणें व आचाराप्रमाणें स्त्री पतीकडे न जाईल तर तीस राजदंड आहे; व ती राजाज्ञा मान्य न करील तर तिला कैदेतही टाकीत असत असें सिद्ध होतें.

उपसंहार

अस्तु, लिहिता लिहिता विषय बराच लांबला याबद्दल वाचकांची व रा. व. ची. माफी मागून हा लेख संपवितों. हिंदुधर्मशास्त्राचे इतक्या विस्तारानें प्रतिपादन करण्याची आमची इच्छा नव्हती. पण रावबहादुर माधवरावर्जोसारख्या शोधक, व लोकमान्य विद्वानानें वक्तृत्वसमारंभात आम्हांस उद्देशूनच भाषण केल्यावर त्यांनीं केलेले विवेचन अन्यथा आहे असें दाखविणें आम्हांस भाग पडलें. रा. व. ची ग्राहकता, बुद्धिमत्ता व लोकहिताकरितां श्रम करण्याची हौस हीं इतरांप्रमाणे किंबहुना जास्तच आम्हांस मान्य आहेत. पण या प्रकरणीं त्याचा आमचा थोडासा अर्थिप्रत्यर्थी संबंध आल्यामुळें तेवढ्यापुरतें त्या संबंधास अनुरूप असें वर्तन आम्हांस ठेवणे जरूर पडलें. वस्तुतः रावबहादुरांस धर्मशास्त्राच्या भानगडीत पडण्याची मुळींच जरूरी नव्हती. आजकाल कोणतीही सुधारणा करणें असल्यास, डॉ. कीर्तिकर म्हणतात त्याप्रमाणें, ती सयुक्तिक, आवश्यक व

सुकर आहे की नाही एवढाच खरोखर विचाराचा भाग असतो. असा विचार करण्यास आमचेकडून कोणतीही हरकत नाही. पण जेव्हा रावबहादुरांसारखे अनुभवीक व विद्वान् लोक स्वपक्षसमर्थनार्थ आपल्या ज्ञानाच्या व चातुर्याच्या जोरावर लोकांस मोहून टाकण्यास प्रवृत्त होतात तेव्हा आम्हांसही आमच्या व आमच्या वाचकांच्या डोळ्यात अंजन घालावे लागते. “वादे वादे जायते तत्त्व-बोधः” असे सुभाषित आहे. तेव्हा, प्रतिपक्षाचें म्हणणे कसेही असलें तरी तें रावबहादुरांस प्रियच होईल यात संशय नाही.

विवाहधर्माचें संस्थापन.*

या विषयावरील हिंदुस्थानसरकारच्या नुकत्याच प्रसिद्ध झालेल्या सरक्युलराचे भाषांतर किवा सारांश गेल्या अर्की आम्ही दिला आहे; त्यावरून हिंदुस्थानसरकारचें या विषयावर अमुकच मत आहे असें जरी स्पष्ट होत नाही, तरी साधारणपणें सरकारचा कल कसा आहे एवढें तरी त्यानें व्यक्त होतें असें म्हणण्यास काहीं हरकत दिसत नाही. सदर सरक्युलराचे दोन विभाग केले असता चालतील. त्यातील पहिला नवऱ्याबरोबर नादण्यास बायको नाखूप असल्यास तिला कैदेची शिक्षा नसावी अशी कायद्यांत सुधारणा करण्याकरिता मुंबईसरकारनें जी सूचना केली आहे तीबद्दल आहे. या सूचनेसंबंधें येथें काहीं विशेष विचार करण्याची जरूर नाही. प्रसिद्ध रखमाबाईच्या खटल्याचा आज बरेच दिवस खल झाल्यानें रघुनाथरावादि सुधारकवीरांच्या म्हणण्याचें यथार्थ स्वरूप लोकांच्या नजरेस येऊन त्याविषयावरील लोकमत बहुतेक कायम झाल्यासारखे आहे. धडधडीत उद्वटपणाचीं व अन्यायाचीं उदाहरणें सोडून देऊन साधारणरीत्या नवऱ्याजवळ राहण्यास नाकबूल असणाऱ्या स्त्रियांस कैदेची शिक्षा नसावी हे योग्यच आहे; व मुंबईसरकारची सूचनाही इतकीच असावी असें वाटतें. कारण हिंदुलोकांच्या वैवाहिक रीतिभातीत आम्ही हात घालणार नाही असें आमच्या शास्त्रीमंडळीस गुदस्तां ज्या गव्हर्नरसाहेबानी अभिवचन दिलें त्याच्याचकडून एकवर्षाच्या आत हिंदुस्त्रियांस आपल्या नवऱ्यास हवी तेव्हा काडी मोडून देता यावी असा कायदा करण्याची सूचना करण्यात येईल असें आम्हास वाटत नाही. मुंबईसरकारचें वरिष्ठ सरकारास गेलेलें पत्र अद्याप प्रसिद्ध झाले नाही; करिता यासंबंधानें तूर्त खातरीनें काहींच सांगता येत नाही. तथापि मुंबईसरकारच्या एकंदर वर्तनावरून पाहतां त्यांनीं केलेल्या सूचनेत व मि० तेलंग यांच्या सिद्धांतात विशेष फरक असूं नये. मग कोणी एकादा सुधारक मध्यें पडला असल्यास न कळे.

कसेही असो, हिंदुस्थानसरकारच्या पत्रांतील दुसरा भाग अगदीं अविचाराचा आहे यांत संशय नाही. कोणी म्हणतील कीं हिंदुस्थानसरकारनें जोंपर्यंत आपला कांही एक अभिप्राय न देता फक्त या बाबतींत लोकांचेच अभिप्राय मागितले आहेत तोंपर्यंत त्यांस कांहीं दोष देतां येत नाही. परंतु आमचा त्यांस एवढाच प्रश्न आहे कीं अशा तऱ्हेनें नसते प्रश्न लोकापुढें आणून त्यांचीं मनें फुकट अस्वस्थ करण्यांत तरी सरकारचा काय फायदा होणार, व असें शहाणपण तें कोणतें ? हिंदुलोकांच्या सामाजिक व धर्मसंबंधी कृत्यांत सरकारानें हात घालूं नये ही गोष्ट हिंदुस्थानांतील इंग्रजी राज्यपद्धतीचा जणुं काय पायाच आहे असें म्हटलें तरी चालेल; व त्याप्रमाणें शेंकडों वेळां सरकाराकडून लोकांस आश्वासनेंही मिळालीं आहेत. मलबारी शेटाच्या टिपणावर गेल्या वर्षीं हिंदुस्थानसरकारानें जो ठराव प्रसिद्ध केला त्यांतीलही मतलब हाच होता. शिवाय सदर टिपणावर त्यावेळीं लोकांचे जे अभिप्राय आले त्यांवरून ह्या प्रकरणीं लोकांचें मत काय आहे हेंही सरकारच्या लक्षांत आलेंच आहे. असें असतां नवऱ्याजवळ राहण्यास जाण्याचा कोर्टाचा हुकूम जर एखाद्या बायकोस अमान्य असेल तर तेवढ्याच कारणावरून पाहिजे तर विवाहसंबंध तोडून देण्याकरितां कोर्टांत फिर्याद आणण्याचा तिला अधिकार असावा, या विषयावर लोकांचे अभिप्राय जे हिंदुस्थानसरकारानें मागितले आहेत ते काय समजून मागितले असावे बरें ? नवऱ्याजवळ राहण्यास नाकबूल असणाऱ्या बायकोस शिक्षा देणें न देणें जज्जाच्या मर्जीवर ठेवणें हा भाग निराळा व अशा स्त्रीस पाहिजे तर काडी मोडून देण्याची मोकळीक देणें निराळें. पहिल्यापासून आमच्या रीतीभातींत फारसा फरक होत नाही; पण दुसरी गोष्ट हिंदुधर्मशास्त्राच्या व रिवाजाच्या अत्यंत विरुद्ध आहे. आमच्यांतील विवाहसंबंध असा आहे कीं, तो एकदा जडला म्हणजे कायमचा जडला. ही ब्रह्मगांठ मग कोणाच्यानें तोडवणार नाही. हिंदुस्थासरकार म्हणतें त्याप्रमाणें खालच्या खालच्या कांहीं जातींतून काडी मोडून देण्याची वहिवाट आहे. पण ही वहिवाट वरील जातींत मुळींच चालू नाही, इतकेंच नव्हे, तर ती उलट निघ मानतात. ज्या जातींतून हा प्रचार चालू आहे त्यांतही पाटाची बायको व काडी मोडून देणें हे दोनही प्रकार गौणच समजतात. हिंदुस्थानसरकारास या गोष्टी माहीत नाहीत असें नाही, कारण सक्क्युलरांत त्यांनीं एके ठिकाणीं असें म्हटलें आहे कीं, ही वहिवाट हिंदुधर्मग्रंथकारांस मान्य नाही. मग जाणूनबुजून मुसलमान बोकात व हिंदुलोकांच्या कांहीं जातींत काडी मोडून देण्याची जी वहिवाट आहे तीच सर्वत्र लागू करावी कीं नाही यावर हिंदुस्थानसरकारानें जे लोकांचे व स्थानिक सरकारांचे अभिप्राय मागितले आहेत ते काय म्हणून? शिक्षेच्या कामीं इंग्लंडातील कायद्याचें अनुकरण करावें अशी मुंबईसरकारची सूचना असून तिला जें व्यापकत्व हिंदुस्थानसरकारानें आणिलें आहे तें कशासाठी ? अशा तऱ्हेने आपणच प्रथमतः अविचार करावा व लोकांनीं गवगवा केला असता मग एकदा कसें तरी तें प्रकरण मिटवून टाकावें याखेरीज हिंदुस्थानसर-

कारास दुसरें काम नाही काय ? आमच्यामते हिंदुस्थानसरकारनें या बाबतींत आज पडण्याची कांहीं जरूर नव्हती व आमच्या सुधारकासही आमची अशीच सूचना आहे. हिंदुस्थानसरकारनें लोकांचीं मते विचारलीं आहेत यावर त्यांनीं न जातां सरक्युलरांतील पहिल्या भागावर योग्य मत देऊन दुसरा भाग आपणास अमान्य आहे, असे सरकारास स्पष्ट कळविण्यांतच त्यांचें शहाणपण आहे. रघुनाथरावांप्रमाणें आकाशांत उड्या मारण्यात कांहीं हंशील नाही. इंग्लंडांतही नवऱ्याजवळ राहण्यास बायको नाखुष असल्यास तेवढ्या कारणावरून तिला काडी मोडून देतां येत नाही, असें सरक्युलरांतच स्पष्ट आहे. बायकोची नाखुषी असून आणखी नवरा व्यभिचारी असेल तरच स्त्रीस काडी मोडून देण्याचा अधिकार येतो. तेव्हां इंग्लंडांतही जी गोष्ट मान्य होणार नाही तिचा येथें आग्रह धरण्यांत कांहीं हंशील नाही. सरकाराने कांहीं केले तरी काडी मोडून देण्याची वहिवाट वरिष्ठ जातींत पडावयाची नाही, व ज्या जातींत हल्लीं ती वहिवाट आहे त्या जातींतही नवऱ्याजवळ राहण्यास बायको नाखुष आहे एवढ्याच कारणाकरिता विवाहसंबंध तोडण्यास लोक कबूल होतीलसें आम्हांस वाटत नाही. तात्पर्य, हिंदुस्थानसरकारची सूचना कोणासही पसंत पडेलसे दिसत नाही व आमचे सुधारक जर या कामीं आग्रह धरतील तर ते आपलें फुकट हसें मात्र करून घेतील. सरते शेवटीं सदर सरक्युलर अभिप्रायाकरिता ज्या लोकाकडे येईल त्यांनी या गोष्टीचा नीट विचार करून आपला अभिप्राय द्यावा अशी त्यास सूचना करून हा लेख पुरा करितों.

फीमेल हायस्कुलांतील शिक्षणक्रम *

नंबर १

येथील फीमेल हायस्कूल स्थापन होऊन आज तीन वर्षे झाली. इतक्या मुदतीत या शाळेच्या बक्षिस समारंभासमयीं व अन्यतऱ्हेनें जी माहिती लोकांपुढें आली तीवरून या शाळेच्या संबंदानें येथील वर्तमानपत्रांतून बरेवाईट बरेच चरचरीत लेख आले. पण जो जो आपली लेखणी स्त्रीशिक्षणावर चालवील तो असंस्कृत, अज्ञ व दुराग्रही अशीच प्रायः या शाळेच्या उत्पादकांची समजूत असल्यामुळेच की काय कोण जाणे, त्यांनीं या सर्व लेखाचा फारसा विचार केला नाही. पुढें हा त्याचा भ्रम दूर झाल्याने म्हणा, अगर विरुद्ध पक्षाच्या जास्त चळवळीनें म्हणा, शाळेच्या उत्पादकांचें मौनव्रत जरासे शिथिल झालें व 'तरुणीशिक्षणनाटिका' कर्त्यांच्या एका मित्राने केलेल्या कडक टीकेस उत्तराच्या रूपानें येथील आमच्या एका वृद्धबंधूच्या मुखाने या हायस्कुलातील शिक्षणक्रम नुकताच बाहेर निघाला आहे. शाळेतील हाच शिक्षणक्रम जर लोकमतास

अनुसरून पहिल्यानेच कायम केला असता, तर आजमितीस या हायस्कुलाच्या हितचिंतकांची संख्या बऱ्याचपटीने वाढली असती. पण आमच्या देशांत कित्येक जातींत ज्याप्रमाणे स्त्रियांस गोषा आहे, त्याप्रमाणे स्त्रियांच्या संबंधाचीं सर्व कृत्येही गोषातच झालीं पाहिजेत अशा समजुतीनेच कीं काय हे हायस्कूल त्याच्या उत्पादकांनीं जबर गोषात घालून ठेविलें आहे, व या शाळेसंबंधानें जे गैरसमज लोकांत झाले आहेत त्यापैकीं काहींस वरील गोषाच कारण झाला आहे. लोकांस काय पाहिजे आहे हे नेहमीं लक्षांत ठेवून जर शाळेचे उत्पादक आपलें वर्तन ठेवतील, लोकांस विचारतील, त्यांची संमति घेतील, त्यांस ज्या गोष्टी आज नको आहेत त्या काढून टाकतील, तर स्त्रीशिक्षणाचे कामांत त्यांस लवकर यश येईल. पण गोषात राहून समाजाच्यापुढें एक शतक धांवणाऱ्यांच्या हातून काहींएक व्हावयाचें नाहीं. अस्तु. शाळेच्या उत्पादकांनी प्रथमतःच शाळेच्या डोक्यावरील पाघरूण काढण्याचा जो हा अर्धवट प्रयत्न केला आहे त्याबद्दल त्याचे आभार मानून त्यांना सांगितलेला शिक्षणक्रम आमच्या मते असल्या शाळेस कितपत योग्य आहे याचा विचार करूं.

सूक्ष्मरीतीनें विषयावलोकनाचें ज्यांस शिक्षण मिळालें नाहीं, व ज्यांचे वर्तन कोणत्या तरी एखाद्या मुख्य ग्रहावर सदोदित अवलंबून असणार अशा काहीं अजागळ उपग्रहांकरिता,—आणि वर लिहिल्याप्रमाणे आपल्या मताविरुद्ध जे लिहितात व बोलतात ते सर्व असंस्कृत व आविचारी अशा दुरभिमानानें ज्यांचीं अंतःकरणें भरून जाऊन ज्यांच्या दृष्टीवर तज्जन्य तिमिरता आली आहे अशांकरिता,—प्रथमतः येथें ही एक गोष्ट सांगितली पाहिजे कीं, या हायस्कुलाची संस्थापना झाल्या दिवसापासून व तत्पूर्वीही स्त्रीशिक्षणाच्या आवश्यकतेबद्दल आम्ही अनेक वेळा लिहिलें आहे. स्त्रीशिक्षण ज्यांस खरोखरच अवश्य वाटते आहे असे आज पुष्कळ लोक आहेत. परंतु तें शिक्षण आपल्या समाजाची सद्यःस्थिति मनांत आणिता कोणत्या तऱ्हेचें असावें याविषयी मात्र बराच मतभेद आहे; व तो मतभेद बहुत महत्त्वाचा असल्यामुळें या हायस्कुलासंबंधानेंच आज दोन पक्ष झाल्यासारखे आहेत. फीमेल हायस्कुलाच्या उत्पादकांमध्ये व बाहेरील टीकाकार वर्गामध्ये जो भेद आहे तो वरील प्रकारचाच होय. स्त्रीशिक्षण दोघासही हवें आहे पण त्यांचे मार्ग भिन्न भिन्न असल्यामुळें दोघांत भेद आला आहे. आतां कित्येक लोकांचें असे म्हणणें आहे कीं, मुख्य उद्देशाबद्दल ऐक्य असता मार्गवैचित्र्यामुळें अशा तऱ्हेनें एकच उद्देश असणाऱ्या लोकांमध्ये फूट पडूं नये; व प्रथमतः हे म्हणणें मोठें सयुक्तिक आहेसैं वाटतें. पण जगामधील सामाजिक, राजकीय किंवा धर्मसंबंधीं जे आजपर्यंत अनेक पक्ष होऊन गेले किंवा झाले आहेत त्यांचा, वरील तत्त्व मनांत आणून जर विचार केला तर “ऋजुकुटिल-नानापथजुषां नृणां एको गम्यः त्वमसि पयसामर्णव इव” अशीच स्थिती आपल्या नजरेस येईल. शिवाय कित्येक गोष्टी अशा असतात कीं, सामान्य तऱ्हेनें त्यांची

व्याख्या देतां येत नसून त्या एका विशिष्ट तऱ्हेनें होतील तरच त्या मान्य होतात. स्त्रीशिक्षणाचा प्रकार आमच्या मते ह्यांतीलच आहे. ज्याप्रमाणें समाजाची एकंदर व्यवस्था लागणें हेंच राज्यव्यवस्थेचें कर्तव्य असतां राजसत्ताक, प्रजासत्ताक वगैरे एकच उद्देश साधण्याचे अनेक भिन्न मार्ग आहेत, ज्याप्रमाणें एकच ईश्वर प्रतिपाद्य असतां कित्येकांच्या मताप्रमाणें कानीन प्रभूवर विश्वास ठेविल्याखेरीज तो प्राप्त होत नाही, तद्वत्च काहीं अंशीं सामाजिक सुधारणांची स्थिति आहे. देशकालानुरोधाने कोठें कोणती सुधारणा कितपत हितकारक होईल ह्याबद्दल नेहमी मतभेद रहावयाचाच; व जोंपर्यंत प्रत्येक व्यक्ती किंवा व्यक्तिसमूह आपापल्या मताचा अभिमान बाळगून दुसऱ्यांचीं मते तिरस्कार्य समजतात तोंपर्यंत दोन्ही पक्षामधील अंतर कधीही कमी व्हावयाचें नाही. लोकमत व त्यावर अवलंबून राहणारी नीति, अनीति इत्यादिक सामाजिक बंधनें हीं कालातरें व देशातरें भिन्न भिन्न असतात ही गोष्ट मान्य आहे. तथापि काल्पनिक स्वमताभिमानानें ऊर्ध्वदृष्टि न होता लोकाग्रणींनीं आत्मकालीन देशस्थितीस व लोकमतास अनुसरून सुधारणेचा मार्ग क्रमिल्या पाहिजे. उदाहरणार्थ, आमच्या स्त्रियांस शिक्षण द्यावें असें जरी पुष्कळांस वाटत असले तरी आपल्या समाजाची स्थिति मनांत आणून तें शिक्षण आपल्याकडे कोणत्या तऱ्हेचें दिलें असता लोकमान्य होईल याचा विचार त्या कामात पडणाऱ्या लोकानी प्रथमतः केला पाहिजे. लोकमत मागें पडलें असल्यास ते सुधारून घेण्याचा उद्योग करा, पण त्यास सोडून जाऊं नका. मनुष्यजातीचें अर्धाग शिक्षित व अर्धाग अशिक्षित राहिल्यास त्या दोघांचा मिलाफ कधीही व्हावयाचा नाही, ही गोष्ट सर्वास कबूल आहे; पण तेवढ्यामुळें दुसऱ्या अंगास आज पहिल्याला द्यावयाचे तेंच शिक्षण देऊं म्हटल्यास कोणी ऐकणार नाही. स्त्री व पुरुष ह्यांचीं कर्तव्ये या जगात भिन्न भिन्न आहेत. व यामुळें कधीही एकाचें शिक्षण दुसऱ्याशीं जुळणार नाही. पण हा परिणामाचा भेद झाला. पण तत्पूर्वीही देशकालानुरोधाने या दोन्ही शिक्षणांत भेद अवश्य केला पाहिजे; व तो जितका आमच्या देशात अवश्य आहे तितका फीमेल हायस्कुलाच्या उत्पादकाच्या हातून केला गेला नाही असें आमचें पहिल्यापासून म्हणणें होतें. साराश, त्या हायस्कुलाच्या चालकांमध्ये व आमच्यामध्ये जो भेद आहे तो उद्देशवैचित्र्यानें नव्हे, तर मार्गवैचित्र्यामुळेंच पडला आहे; व नुक्ताच आमच्या बंधूनें जो त्या शाळेंतील शिक्षणक्रम प्रसिद्ध केला आहे त्यावरून तर हा भेद दृढतर होण्यास जास्त कारण झालें आहे. स्त्रियांच्या हायस्कुलांत हल्लीं जें शिक्षण मिळतें त्यात व पुरुषांस जे त्याच्या शाळांतून मिळतें यात फारसा भेद नाही; व जर स्त्री व पुरुष यांची आमच्या समाजातील कर्तव्ये मनांत आणिलीं तर असल्या शिक्षणापासून स्त्रियांस (म्हणजे, मुख्यत्वे सुशिक्षित पुरुषवर्ग ज्या स्थितीतील अर्थात् मध्यम वर्गांतल्या स्त्रियांस) विशेष फायदा न होतां, त्यांस तसे शिक्षण जुलमानें दिल्यास, समाजाचें अहित मात्र होणार आहे.

फीमेल--हायस्कुलांतील शिक्षणक्रम.

(नंबर २)

मुख्य उद्देश एक असून साधनांसंबंधानें मनुष्यामनुष्यांत मतभेद पडणें अगदीं स्वाभाविक असताही आमच्या इकडील 'सुधारकांस' त्याचा प्रतिक्षणीं इतका विसर पडावा, हे अगदीं चमत्कारिक आहे. आजपर्यंत अशी स्थिति असे कीं, एकांने सुधारणा हवी म्हणावें व दुसऱ्यानें नको म्हणावें. पहिल्या वर्गांत तत्कालील बहुतेक आंग्लविद्याविभूषित लोक असत व दुसऱ्यांत बाकीचांचा अंतर्भाव होत होता. अशा वेळीं एक पक्ष दुसऱ्यास असंस्कृत ठरवून आपलाच पक्ष सप्रमाण आहे, अशी आपल्या मनाची समजूत करून घेत असे. पुढे इंग्रजी शिकलेल्या लोकांची संख्या दिवसेदिवस जशी वाढत चालली, व त्या विद्येच्या मदाची पहिली गुंगी निघून गेली, तेव्हां वर सांगितलेल्या साधनवैचित्र्यामुळे होणारा मतभेद स्वभावतःच दृष्टीस पडूं लागला व सुधारणेचीं सूत्रे ज्या मताच्या लोकांनीं ताब्यांत घेतलीं होतीं, त्यांच्या हातून सुधारणेचें काम कसकसें होत आहे, याची चर्चा सुरू झाली. ही चर्चा आमच्या प्राथमिक सुधारकांस अर्थात्च रुचली नाहीं. आपल्या विरुद्धपक्षीय लोकांस असंस्कृत म्हणून नालायक ठरविण्याची त्यांची कोटी सद्गजच लंगडी पडली. बरें, आपल्या कामाची भरभराटी दाखवून विरुद्धपक्षाचे तोंड बंद करावें, तर तिकडूनही पंचाईत. अशा तऱ्हेनें दोहोंकडून पेंचात सांपडल्यावर त्यांच्यापैकीं एकांने अशी युक्ति काढिली कीं, हल्लीं आपल्या कार्यास जे प्रतिबंध करितात त्यांस असंस्कृत जरी म्हणतां येत नाहीं तरी " त्यांस संस्कार असून नसून सारखाच, कारण त्या संस्काराचा ते गैरउपयोग करितात, " अशी कोटी करून आज आपला बचाव करावा. ही कोटी आमच्या प्राथमिक सुधारकांपैकीं बऱ्याच इसमास पसंत पडली; व त्या अस्त्राचा ते विरुद्धपक्षावर उपयोग करूं लागले. पण पूर्वीचा विरोध व हल्लींचा विरोध यांतील अंतर मनांत न आणिल्यामुळे, या कोटीचा असा परिणाम झाला कीं, आमच्या सुधारकांसच त्यामुळे द्वितीय नामसंस्कार प्राप्त झाला. आमच्या सुधारकांस हें नांव कितपत आवडत असेल तें असो; परंतु इतकें खचित कीं, तें त्यांस त्यांच्या गुणावरूनच प्राप्त झालें आहे, व जोंपर्यंत आपल्या मताहून भिन्न मताचे लोक असंस्कृत आहेत अशी त्यांची समजूत राहिल, किंवा ती तशी आहे असें ते दाखवितील, तोंपर्यंत त्यांचें वरील नावही कायम राहिल. सुधारणेच्या कामीं अशी द्वैधी वृत्ति व्हावी ही गोष्ट एकांशी चांगली नाहीं हें आम्हांस मान्य आहे. तथापि एकी होणे असल्यास कोणत्या पक्षानें कोणाकडे जावें, हा एक मोठाच प्रश्न असल्यामुळे या प्रश्नाची तडजोड कशी होईल, याची आम्हांस शंकाच

आहे. तात्पर्य, अशा बाबतीत मतभेद असणे हे जितकें स्वाभाविक आहे, तितकेंच तो राहाणेंही आहे असें वाटतें. दोनही पक्षाचे हेतु चागले असतील व दोहोंसही एकच विषय उद्देश्य असेल; तरीही पण त्या दोनही पक्षात साधनभेदामुळे मतभेद हा राहावयाचाच, व या दोनही पक्षांच्या तडजोडीनें जी सुधारणा होईल तीच कायमची असें आम्ही समजतो.

मतभेदासंबंधें हा सामान्य प्रकार झाला. आता स्त्रीशिक्षणाच्यासंबंधाने हा मतभेद कां पडतो याचा थोडासा विचार करूं. स्त्रियास शिक्षण दिलें असता त्या आपलीं कर्तव्ये करण्यास अधिक योग्य होतील, हे दोनही पक्षास कबूल आहे. परंतु आपल्या समाजांत तीं कर्तव्ये कोणतीं व आपल्या समाजाची बंधनें मनात आणतां ती कर्तव्ये करण्यास कोणत्या प्रकारच्या शिक्षणाची आवश्यकता आहे व तें कोणत्या प्रकारें देता येईल या बाबतीत दोनही पक्षांच्या मतात बरेच अंतर आहे.

स्त्रीशिक्षणाची कल्पना आमच्या देशात जरी नवीन नाही, तरी तिचा उद्भव तरी इंग्रजी शिक्षणानें झाला आहे, असे म्हणण्यास काही हरकत नाही. पूर्वी काही स्त्रिया पुरुषांप्रमाणे विद्यासंपन्न झाल्याची उदाहरणे आमच्या पुराणातून आढळतात. तथापि पुरुषांप्रमाणे स्त्रियास शाळात पाठवून तेथे त्यास 'उदार' शिक्षण देण्याची कल्पना आम्ही इंग्रजांपासूनच घेतली आहे; व इतर ज्या कल्पना आम्ही इंग्रजांपासून घेतल्या त्यांच्या प्रथमावस्थेंत ज्याप्रमाणे आम्ही चकले होतों, त्याप्रमाणें येथेही स्थिति झाली आहे. इंग्रजी राज्य व विद्या जर आमच्या येथे आणखी शेंदोनशें वर्षे राहिल तर आमच्यापैकी निदान इंग्रजी विद्या शिकलेल्यांची गृहस्थिति इंग्रजी नमुन्यावर काही अशी जाईल याबद्दल आम्हास फारशी शंका किंवा भीति वाटत नाही. मनुष्याची कोणतीही अवस्था स्थिर नसून तीत देश, काल व राजा यांच्या अनुरोधानें फेरफार झालाच पाहिजे. परंतु समाजस्थितीचा विचार न करता एकदम दहापाच नव्या गोष्टी प्रचारात आणण्याचा प्रयत्न केला असतां तो कधीही सफल व्हावयाचा नाही. इंग्रज लोकांची गृहस्थिति निराळी व आमची निराळी, व त्या मानाने आम्हास शिक्षणही निरनिराळें पाहिजे. ज्या देशांत मुलींचे विवाह लहानपणीं न होता त्यास तरुणपणाचीं निदान कांहीं वर्षे तरी पितृगृहीं घालवावीं लागतात, त्या देशांत मुलींस काहीं धंदा किंवा विद्या येत असल्यास त्याचें ओझें आईबापावर पडत नाही, व विवाह उशिराने झाल्यामुळे एखादा धंदा किंवा विद्या शिकण्यासही त्यांस पुष्कळ वेळ असतो. आपल्या देशांत ज्याप्रमाणें आपला मुलगा मोठा झाल्यावर तो आपल्या संसाराचे ओझें आपणावर पडूं देणार नाही अशी आपण अपेक्षा करितो, त्याचप्रमाणें अमेरिका किंवा इंग्लंडसारख्या सुधारलेल्या देशात एखाद्यास चारपाच अविवाहित मुली असल्यास त्या लग्न होईपर्यंत कांहीं तरी धंदा करून कुटुंबास मदत करितात व

जर तें कुटुंब गरीब असेल, तर तसें करणे त्यांस किंबहुना जरूरही पडतें. अशा समाजस्थितींत स्त्रियांस ज्या शिक्षणाची आवश्यकता आहे, तिचा आमच्याकडे काय उपयोग होणार ? आमच्या मुलींचीं लग्नें निदान ऋतु प्राप्त होण्यापूर्वी तरी झालींच पाहिजेत व लग्न झाल्याबरोबर त्यास पतिगृही जावंच लागणार. सारांश, अमेरिकेतील मुलींप्रमाणें पितृगृही काम नाही व पतिगृह प्राप्त झालें नाही, अशी त्यांची कधींच स्थिति नसते. तेव्हा आमच्या स्त्रियांस जें शिक्षण द्यावयाचें तें स्वतंत्र धंदा करितां यावा म्हणून नव्हे; तर संसारांत जी त्यांचीं कर्तव्ये आहेत तींच त्यास चांगलीं करितां यावीं, यासाठीं द्यावयाचें. ज्या शाळेंत हें शिक्षण मिळत नाही तिचा आम्हास काहीं उपयोग नाही व तिची भरभराट कधीं व्हावयाची नाही. कित्येक लोकांचें असें मत आहे कीं, ज्याप्रमाणें इंग्रजी विद्येच्या संस्काराने आपण आपल्या जुन्या रीतीभातींवर पाणी सोडण्यास तयार झालों आहो, त्याप्रमाणेंच जर स्त्रियांस शिक्षण दिलें तर मग साहेब आणि मडम दोघेही बूटस्टॉकिंग चढवून बंडगार्डनची हवा खाण्यास जाण्यास तयार होतील ! पण हा समज अगदी चुकीचा आहे. हल्लीं इंग्रजी विद्येनें पुरुषाच्या मनावर जे परिणाम होत आहेत व अनावर वर्तन करण्याची जी इच्छा कित्येकांत उत्कट झाली आहे, तीच कितपत स्पृहणीय आहे याचा वाद आहे. तर, जें शिक्षण पुरुषासही सर्वांशी हितकारक आहे कीं नाही याचा संशय आहे, तेच स्त्रियांस दिलें असता त्याचा परिणाम दुष्पट अहितकारक होईल यांत शका कोणती ? ज्या इंग्लंडदेशाचें आपण अनुकरण करण्यास इच्छितां, तेथेही स्त्रियांस बरिष्ठ प्रतीचें शिक्षण गेल्या पाचपंचवीस वर्षांतच देऊं लागले आहेत. मग त्यांची आमच्याकडेच एवढी घाई कां ? आपले विवाह प्रौढपर्णी होऊं लागले, आपली अविभक्त कुटुंबावस्था मोडून गेली, आपलीं धर्म व नीति यांचीं जुनीं बंधनें शिथिल झालीं, व आपल्याकडील मध्यमस्थितीतील गृहस्थ-लोक दोन पैसे संग्रही राखून राहूं लागले म्हणजे तुमच्या इंग्रजी शिकलेल्या, पियानोवर सुस्वर गाणाऱ्या, व किंडर गार्टन डान्स नाचणाऱ्या व सीता, अहिल्या-बाई यांच्या ऐवजीं ग्रेस डार्लिंग व इलिझाबेथ यांच्या गोष्टी सागणाऱ्या स्त्रियास्कुलांतून निघालेल्या मुलींस किंमत येईल. ज्यांस आपल्या धर्माचा व गृह-कृत्याचा कंटाळा आला नाही अशाच, पण थोडेसें लिहितां वाचता येणाऱ्या, स्त्रिया आजमितीस पाहिजे आहेत व ज्या स्कुलाच्या शिक्षणानें एतद्विरुद्ध परिणाम होतात त्यांची आम्हास जरूर नाही. सासरीं किंवा माहेरीं रोजचें थोडें-बहुत घरचे काम करून मधल्या वेळात दोन तीन तास स्त्रीधर्मास व हिंदुधर्मास उचित असे स्त्रियांस शिक्षण देण्याचें जर कोणी मनांत आणिलें तर ती गोष्ट साध्य आहे. पण जेथें सर्व धर्मांच्या मुली एकत्र करून त्यांस पुरुषांप्रमाणें ११ ते ५ वाजेपर्यंत इंग्रजी बाई आग्लभौम शिक्षण देणार, ती शाळा एक अतिश्रीमंतांच्या किंवा अनाथ झाल्यामुळें कांही तरी धंदा करण्याची ज्यांस जरूर आली

आहे, अशा स्त्रियांच्या मात्र उपयोगी पडणार. मध्यम स्थितीच्या गृहस्थास त्या शाळेपासून काहींएक उपयोग होणार नाही; इतकेंच नव्हे, तर उलट उपद्रवमात्र होईल. आतां कित्येकांचें असें म्हणणे पडेल कीं, प्रौढविवाहादि चाली आपल्यास जर प्रचारांत आणावयाच्या आहेत, तर स्त्रियांस आग्लभौम शिक्षण दिल्यानें त्या कामास मदत होईल. परंतु हा समज अगर्दीं अविचाराचा आहे. जेव्हा कोणत्या एखाद्या कामांत सुधारणा कर्तव्य आहे, तेव्हा पूर्वीच्या स्थितीस सोडून फारसें पुढें गेलें तर काय परिणाम होतो, याची साक्ष प्रार्थनासमाज देतच आहे, व स्त्री-हायस्कूलचीही थोडीबहुत तीच स्थिति आहे. आजच्या स्थितीस लोकांस रुचेल त्याप्रकारचें स्त्रीशिक्षण प्रथमतः सुरु करा, हळुहळू त्यात समाजाच्या कलाप्रमाणें सुधारणा केल्या म्हणजे इष्टहेतु सिद्धीस जाईल. नाहींतर वर सांगितलेल्या एकदोन वर्गाखेरीज तुमच्या हायस्कुलाकडे कोणी टुंकूनही पाहणार नाही व समाजसुधारणा एकीकडेच राहून तुम्ही मात्र आपणास समाजापासून तोडून घ्याल.

फीमेल हायस्कुलांतील शिक्षणक्रम*

(नंबर १)

कोणतीही गोष्ट करण्यापूर्वी ती करण्याचा उद्देश काय व तो सिद्ध होण्यास कोणत्या उपायांची योजना करावी याचा पुरता विचार होऊन मग त्या गोष्टीस सुरुवात होत असते. फीमेल हायस्कुलाच्या उत्पादकांनींही याचा नीट विचार करूनच या हायस्कुलाची उभारणी केली असावी. पण त्या हायस्कुलापासून लोकांस होणाऱ्या उपयोगाबद्दल ज्याअर्थी आज बराच मतभेद पडला आहे, त्या-अर्थी सदर उद्देशांचा व साधनाचा पुनः एकवार विचार करणें जरूर आहे. तशात हें हायस्कूल जेव्हां स्थापन झालें तेव्हा स्त्रियांस शिक्षणच नको असें म्हणणारे बरेच लोक असल्यामुळे स्त्रीशिक्षणाच्या आवश्यकतेबद्दलचाच वाद झाला. त्याच्या साधनवैचित्र्यामुळे उत्पन्न होणाऱ्या मतभेदाची त्या वेळेस फारशी चर्चा झाली नव्हती. पण एकदां हायस्कूल स्थापन झाल्यावर जो मतभेद पहिल्यानें महत्त्वाचा नव्हता त्यास आपोआपच महत्त्व आलें, व एवढ्या प्रयत्नाने स्थापन केलेल्या प्रतिवर्षीं खासगी व सरकारी मिळून इतके पुष्कळ रुपये ज्यासाठी खर्च होतात त्या शाळेचा खरोखर लोकांस कितपत उपयोग होतो असा प्रश्न स्वभावतःच उत्पन्न झाला. नवीन म्हणून काहीं दिवस कोणी बोललें नाही; माहितीच्या दुर्मिळतेमुळे काहीं स्वस्थ बसले. पण हीं दोनही कारणें चिरकालिक नसल्यामुळे, हळूहळू या विषयाची चर्चा जास्तच होत चालली, व त्या मानाने आपल्या बचावा-

* (ता. ११ आक्टोबर १८८७)

करिता का होईना या शाळेच्या व्यवस्थापकांकडून थोडथोडी माहितीही पण जास्त मिळू लागली. अखेरीस परवा प्रसिद्ध करण्याजोगा बहुतेक भाग त्यांनी आमच्या ग्रामस्थ वृद्धबंधूंच्या मुखाने वदविला. हा शिक्षणक्रम साधारण मध्यम स्थितीतील लोकांस कितपत फायदेशीर आहे याचा थोडासा विचार गेल्या अंकी आम्ही केलाच आहे. तथापि स्कुलाच्या उद्देशाची व त्याची सागड घालण्याकरिता पूर्वी अर्धवट चर्चा झालेल्या या स्कुलाच्या उद्देशांबद्दल आज येथे थोडासा विचार करूं.

आमच्याकडे मुलाप्रमाणे मुलीच्याही शाळा स्थापन होऊन आज बरीच वेपं झाली आहेत, व त्या बहुतेक आता सुरळीत चालू लागल्या आहेत. मुलांच्या मानाने पाहता मुर्लींच्या शाळेतून सुधारणा होण्यास अजून बरीच जागा आहे. तथापि त्याकरिता नवीन स्कुलाच्या स्थापनेची काही जरूर नव्हती. त्याचप्रमाणे मुलींच्या शाळेवर असणारे अधिकारीही स्त्रिया असल्यास बरे असे वाटून फीमेल हायस्कुलापूर्वी फीमेल ट्रेनिंग कॉलेजाचीही आमच्याकडे स्थापना झाली होतीच. तेव्हा वरील दोनही प्रकारच्या शाळा विद्यमान असता फीमेल हायस्कूलची आमच्या प्रमुख मंडळींनी जी उभारणी केली तिचा उद्देश वरील दोनही उद्देशाहून निराळाच असला पाहिजे. फीमेलहायस्कूल आमच्या लहान मुर्लींकरिताही नव्हे, व मास्तरिणी होऊ पाहणाऱ्या स्त्रियाकरिताही नव्हे. आता हायस्कूल ही तरी एक शाळाच असल्यामुळे व दुसऱ्या काही कारणांमुळे हायस्कूलाच्या व्यवस्थापकांनी त्या शाळेत वरील दोनही वर्गांची सोय केली आहे. परंतु या शाळेचा 'नवीन हायस्कूल' या नात्याने जेव्हा आपणास विचार कर्तव्य आहे तेव्हा या हायस्कूलात सामील केलेली मुर्लींची शाळा, प्रिपेरेटरी क्लास, पहिली व दुसरी यत्ता, व मास्तरिणीचा धंदा शिकण्याकरिता आलेल्या गरीब किंवा अनाथ स्त्रिया या सर्वास एकीकडे काढून ठेविले पाहिजे. यांच्याकरिता या हायस्कूलावर इतके पैसे खर्च करण्याची जरूर नाही; व खर्च होत असलेल्या पैशाचा लोकांस योग्य मोबदला मिळतो की नाही याचा विचार करिताना त्यात याची गणना येत नाही. हायस्कूल ही प्रायमरी मुलींच्या शाळांच्या पुढची पायरी आहे, व प्रायमरी मुलींच्या शाळातून न मिळणारे शिक्षण देण्याकरिता हे फीमेल हायस्कूल आहे. येथपर्यंत ठीक आहे, पण या पुढचा मार्ग इतका सुगम नाही. आपल्याकडे मुर्लींची लग्ने ऋतु प्राप्त होण्यापूर्वीच करण्याची वहिवाट व शास्त्र असल्यामुळे, व एकदां मुलींचे लग्न झाले म्हणजे सासरी तिची इच्छा तिची गृहकृत्याकडे योजना होत असल्यामुळे मुर्लींच्या शाळांतून विवाहित स्त्रियांची संख्या फारशी, किंबहुना मुळीच नसते असे म्हटले असता चालेल; व विवाह झाल्यानंतर शाळेचे दर्शन झाल्यामुळे तत्पूर्वी मुलींस जे काही थोडेबहुत ट-फ येत असते तेही ती विसरून जाते. सारांश, मुलींच्या शाळेपासून बायका शिक्षित असल्यापासून समाजास जो फायदा व्हावयाचा तो होत नाही हे अगदी उघड आहे. हीच

उप्राव दूर करण्याचा फीमेल हायस्कुलाच्या उत्पादकाचा मुख्य उद्देश असावा असें आम्हांस वाटतें; व हाच जर त्यांचा उद्देश असेल तर तो योजिलेल्या उपायानी कितपत सिद्धीस गेला हे पाहणे असल्यास या हायस्कुलात अशा तऱ्हेच्या हिदुविवाहित स्त्रिया किती आहेत हेंच आपणास पाहिलें पाहिजे. अशा तऱ्हेची माहिती व्यवस्थापकानी दिली नाही, पण एकंदर विवाहित स्त्रियांची संख्या २०; पैकी जर इतर धर्माच्या म्हणजे यहुदी वगैरे स्त्रिया वजा केल्या तर आपणास या स्कुलापासून किती उपयोग होतो याची वाचकास कल्पना येईल. हे असें का व्हावें, याचा विचार करिता आम्हांस असे वाटतें कीं, या हायस्कुलाच्या व्यवस्थापकानी सध्याच्या समाजस्थितीचा नीट विचार न करिता दहापाच 'काल्पनिक सुधारणा' एकदम करण्याच्या आतुरतेने या स्कुलाची अशी स्थिति करून सोडली आहे. हे म्हणणे कित्येक भाविक जनास धाष्ट्यांचे वाटेल खरे, पण प्रसंगी असे स्पष्ट व्हावेच लागतें. हायस्कुलातील शिक्षण प्रायमरी शिक्षणाचा जरी उत्तरभाग आहे, तरी या उत्तरशिक्षणाचा प्रायमरी शिक्षणाप्रमाणे स्त्रियास सार्वत्रिक उपयोग होत नाही, ही गोष्ट या स्कुलाच्या व्यवस्थापकानी ध्यानात ठेवण्यास पाहिजे होती ती त्यांनी ठेविली नाही असे आमच्या दृष्टीला दिसतें. इंग्लंडासारख्या देशात काही स्त्रिया पुरुषाप्रमाणे स्वतंत्र धंदे करण्याकरिता या उत्तर शिक्षणाची अपेक्षा करितात व पुढें पुरुषाप्रमाणें वकिलीचा, वैद्याचा, एडिटराचा, किंवा कारकुनीचा म्हणा त्या धदा करू लागतात. स्त्रियांनी अशा तऱ्हेनें पुरुषाप्रमाणे स्वतंत्र धंदे करून त्यांनी पुरुषाच्या दास्यातून मुक्त होऊं नये असे आम्ही विलकुल म्हणत नाही. तथापि हा वर्षशतकाचा किंवा सहस्राचा प्रश्न आहे. जेथें प्रौढविवाह जारीनें चालतात, आणि विवाहसंबंध बहुतेक कराररूपी झाला आहे, अशा पाश्चात्य राष्ट्रांतही स्त्रियांनी स्वतंत्र धंदे करण्याचा प्रचार नुक्ताच सुरू झाला असून तेथें देखील फीमेल कॉलेजाची स्थापना किंवा पुरुष कॉलेजात त्यांचा प्रवेश गेल्या पाचपंचवीस वर्षांतच झाला आहे. आमच्या सुधारकास ही गोष्ट टाऊक नसेलशी नाही. परंतु त्यांना तिकडील सुधारणेचे ताजे लोणी एकदम चाटण्याची अत्युत्कट इच्छा उत्पन्न झाली असावी. एवढी फीमेल हायस्कुलातील शिक्षणक्रम ठरविताना त्यांनीं या दोनही उद्देशाचा असा घोटाळा केला नसता. स्त्रियास पुरुषाप्रमाणें कारकुनीचा किंवा ग्रंथकारांचा वगैरे धदा जर कर्तव्य असेल तर हल्ली प्रसिद्ध झालेला शिक्षणक्रम योग्य आहे. पण स्त्रीजातीचा ज्यास यत्किंचित् अभिमान आहे तो आमच्याप्रमाणेच परकीय प्रभूंच्या लाथा खाण्यास आमच्या स्त्रियांनीं तयार व्हावे असें कदापि म्हणणार नाही. शिवाय आमच्याकडची समाजस्थिति मनात आणिता गृहकृत्ये सोडून स्त्रिया स्वतंत्र धंदा करू लागण्यास अजून कित्येक शतकाचा अवधि आहे. गृहकृत्याचे ओझे जिच्यावर पडत नाही. अशी एखादी श्रीमंत स्त्री आजही पुरुषाप्रमाणें शिकून ग्रंथकार होण्याची इच्छा धरील; पण श्रीमंती व उद्योग याचा

आमच्याकडे तरी अन्योन्यप्रतियोगीसंबंध असल्यामुळे अशी उदाहरणे फारच विरळा. त्याचप्रमाणे युरोपियन आहारविहाराचे व ललितकलांचे ज्यास संसारांत सुख घेतां येईल अशाचीही संख्या कमीच. तेव्हा ज्या फीमेल हायस्कुलातील शिक्षण पुरुषाप्रमाणे असून युरोपियन तऱ्हेवर आहे त्या शाळेचा दहापांच श्रीमंत लोकांखेरीज कोणासही उपयोग नाही. आमच्या बायकास लिहितां वाचतां येऊन त्यांस गृहकृत्ये चांगल्या तऱ्हेनें करण्याचे शिक्षण मिळावे, राहिल्या वेळांत पुराणादि वाचून त्यांनीं आपली आत्मोन्नति करावी व आपणांस संसारात मदत करावी ही प्रत्येक मध्यम स्थितीतल्या सुशिक्षित पुरुषाची इच्छा आहे. कारागिरांस ज्याप्रमाणे धंदा मुख्य व शिक्षण हे उपाग असते, त्याचप्रमाणे बायकासही साधारणतः गृहकृत्य मुख्य व शिक्षण आनुषंगिक आहे. करितां कारागिरांस ज्याप्रमाणे धंदा शिकून किंवा शिकत असतां उपयुक्त शिक्षण देण्याची सोय करितात त्या सारखीच सोय स्त्रियासही अवश्य आहे. परंतु सर्व गृहकृत्ये सोडून दररोज ११ पासून ५ वाजेपर्यंत ख्रिश्चियन मास्तरिणीबरोबर पाश्चात्य विद्येची धोकंपट्टी करण्यांत मुलीच्या वयाचीं पहिलीं १५।१६ वर्षे घालविण्यास कोणीही तयार होणार नाहीत; व फीमेल हायस्कुलात मध्यम स्थितीतील लोकांच्या विवाहित मुली फारशा नाहीत याचे कारण तरी हेंच. एका इंग्रजाचे असे म्हणणे आहे कीं, धंदेशिक्षणात कारागिरांचा भाग प्रथम शिकविला पाहिजे. कारण मुलें मोठीं झालीं म्हणजे मग त्यांचा कामावर हात चांगला बसत नाही. आमच्या स्त्रियांचीही गोष्ट काहीं अशीं याप्रमाणेंच आहे. १५।१६ वर्षांपूर्वीच तिला गृहकृत्याची चांगली माहिती पाहिजे, व ती घरात जितकी मिळेल तितकी शाळेत कधीही मिळणार नाही. स्त्रीशिक्षणाचे सासर हें एक वर्कशॉप आहे. त्या वर्कशॉपमधून न काढिता त्यास उपयुक्त व स्वधर्मानुकूल उदार शिक्षण देण्याची जर काहीं सोय असेल तर ती आम्हास पाहिजे आहे. ही सोय होऊन जर ज्या कोणास हवें असेल त्यास पाश्चात्य शिक्षण देण्याची सोय करिता येईल तर चांगलेच. परंतु दुसरीकरितां पहिलीचा त्याग करून उपयोग नाही. पहिली सोय प्रधान आहे व तीच आज आम्हास मुख्यत्वे हवी आहे. या फीमेल हायस्कुलापासून असा काहीं उपयोग होईलसें वाटत होते, पण ते स्कूल मध्यम प्रतीच्या लोकास असूननसून सारखेंच झाल्याप्रमाणे आहे.

तात्पर्य. प्राथमरी शिक्षण व मास्तरिणीचा धंदा शिकविणे या कामी फीमेल हायस्कुलाचा उपयोग द्विरुक्त असल्यामुळे तें अनवश्यक आहे; पुरुषाप्रमाणे स्वतंत्र धंदे करण्याचे शिक्षण देण्याचा विचार असेल तर तो कित्येक शतकेपर्यंत अशक्य असल्यामुळे व फारच झाले तर त्यापासून दहापांच श्रीमंत स्त्रियांस आज कदाचित् उपयोग होण्याचा संभव असल्यामुळे त्या कामी खर्च होणाऱ्या पैशाचा अपव्यय होत आहे; व हल्लींचा शिक्षणक्रम आमच्या मध्यम स्थितीतील लोकांस हवा त्याप्रमाणे चालीस, रीतीस व धर्मास अनुकूल नसल्यामुळे त्यास तो निरूप-

योगी आहे. एवंच या शिक्षणक्रमांत जर काहीं फरक न होईल तर इतके पैसे प्रतिवर्षी पाण्यांत टाकल्याप्रमाणे होणार आहेत.

फीमेल हायस्कुलांतील शिक्षणक्रम.*

(नंबर ४)

आजपर्यंत आम्ही यासंबंधाने जे लेख लिहिले त्यावरून स्त्रीशिक्षणाच्या संबंधाने आमचा व स्त्रीहायस्कुलाच्या उत्पादकाचा कोटे मतभेद आहे हें वाचकाच्या लक्षात आलेच असेल. तथापि या स्त्रीहायस्कुलाच्या काहीं भक्तमंडळींनी आमचे प्रतिपादन दांभिक आहे असा आमच्यावर आरोप आणण्याचा प्रयत्न चालविला आहे; करिता त्यासंबंधाने आज येथे थोडासा विचार करूं.

फीमेल हायस्कुलांतील सद्यःशिक्षणक्रमाचे भक्त हो ! तुम्हास जर असें भासत असेल कीं पाश्चात्त्र विद्येच्या परिशीलनाने सुधारणेच्या अत्युच्च कल्पना तुमच्याच मात्र भेदूत कोंदल्या गेल्या आहेत व युगमद्यतिरिक्तजनांनी तुमच्यापुढे आपल्या विचाराची रिपरिप न लाविता मुकाट्याने तुम्ही मृगतं त्यासच मान डोलवावी, नाहीतर आपल्या विद्येचा राजीनामा द्यावा,—तर तुम्हास आमचे इतकेच सागणे आहे की तुम्ही ज्या कालामध्ये पाश्चात्त्र विद्येचे अध्ययन केले तो काल व आजचा काल अगदी भिन्न आहेत. पाश्चात्त्र विद्येच्या जास्त प्रसाराने म्हणा किंवा तुम्हीं जी कामे गेल्या पाचपंचवीस वर्षांत हाती घेतलींत व त्यांत तुम्हास जें यश प्राप्त झालें व तुमचा जो दृढनिश्चय लोकांच्या नजरेस आला त्यामुळे म्हणा, सुधारणेचे अत्युज्ज्वल स्वरूप जरी तुम्हाआम्हास एकच दिसत आहे, तरी प्रस्तुत कालीं आमचे कर्तव्य काय यासंबंधाने तुमचा आमचा बहुधा अपरिहार्य मतभेद आहे. संसाररूप शकटाची गति स्त्री व पुरुष या दोन चक्राच्या आधीन आहे व त्यातील एक चक्र मागे पडले तर तो शकट खड्ड्यात पडेल; स्त्री ही पुरुषाची सहधर्मचारिणी आहे; करिता तिच्या साहाय्यावाचून पुरुष एकटाच जर पुढे जाऊं म्हणेल तर तें कधीही शक्य होणार नाही; शिक्षणाने ज्याप्रमाणे पुरुष बिघडले नाहीत त्याचप्रमाणे स्त्रियाही बिघडण्याचा संभव नाही; इ. इ. तुमच्यामते तुमची अनन्योपभोग्य सुधारणेची उच्चातिउच्च जीं तत्त्वे आहेत त्याचा प्रत्येक वेळी जप करून काहीं उपयोग नाही. या तत्त्वानीं तुमची डोकी इतकी फिरून गेली आहेत की प्रस्तुत आपणास काय कर्तव्य आहे याची कल्पनाही तुमच्या डोक्यात शिरत नाही. एकाने सुधारणेच्या तत्त्वाचे ढोलके पिटावे व त्याच्या भक्त मंडळीने त्याच्या भोवती वेढ्याविद्या उडव्या मारून “अहोरूपमहोव्निः” असा एकच कल्होल करावा, याच्यापलीकडे अद्याप तुमची गति झाली नाही व सुधारणा

* (ता. २५ आक्टोबर, १८८७).

महातत्वांच्या अमलाच्या गुंगीत तुमच्या म्हणण्यांत व वस्तुस्थितींत किती फरक आहे तो तुम्हांस दिसत नाही. आजपासून हजार दोन हजार वर्षांनी मनुष्यमात्राची काय स्थिति झाली पाहिजे किंवा व्हावी हा विचार सुधारणेच्या कामी जरी महत्त्वाचा आहे तरी खरे सुधारक जे आहेत ते तो विचार आजच अमलांत आणण्याचा कर्धाई प्रयत्न करीत नाहीत व हाच न्याय प्रस्तुत प्रकरणां लागू पडतो. दोनचार किंवा दहापांच शतकानी स्त्रिया पुरुषाप्रमाणेच स्वतंत्र होऊन रोजगारघंदे करू लागतील, विवाहदास्य जाऊन त्या ठिकाणी समयस्वतंत्रता येईल, व राष्ट्राची दोनही अंगे सुशिक्षित व उद्योगी झाल्याने राष्ट्र सुसंपन्न होऊन उन्नतीस येईल वगैरे गोष्टीबद्दल आमची बिलकुल तक्रार नाही. आमचा सध्या इतकाच प्रश्न आहे की, हल्लीं आमच्याकडे स्त्रियांची जी स्थिति आहे ती सुधारण्यास व विशेषतः त्यास शिक्षण देण्यास कोणता उपाय करावा ? हा प्रश्न सद्यःस्थितीनें इतका आकृंचित झाला आहे की तुमच्या सुधारणेच्या महातत्वाच्या पिसांची येथे काहीं जरूर नाही.

परंतु आमच्या बऱ्याच सुधारक भक्तास वरील भेद अजून नीट कळत नाही हे आमचे किंवा त्यांचे एक मोठे दुर्भाग्यच समजावयाचें. मुलींच्या शाळांतून जे प्रायमरी शिक्षण मिळते त्यापेक्षा आमच्या स्त्रिया सुशिक्षित होण्यास जास्त शिक्षणाची आवश्यकता असून तें त्यास ज्या ठिकाणी त्याच्या इतर कृत्यात आड न येतां मिळेल असे एक इन्स्टिट्यूशन आम्हास अवश्य पाहिजे, या गोष्टीचा आम्ही वारंवार स्पष्ट उल्लेख केला आहे. परंतु तो मनात न आणिता किंवा त्याकडे दुर्लक्ष करून फीमेल हायस्कुलाची दिशा अत्यंत चुकीची आहे असें म्हणण्यात आमचा गुप्त हेतु स्त्रीशिक्षणाविरुद्ध आहे असें सागणारे साहसी सुधारक आपल्या मेंदूचा कमजोरपणा व आपल्या अंतःकरणाची दूषितता मात्र जगास व्यक्त करीत आहेत. आमच्या राष्ट्रांत मुलींचे विवाह ऋतुकालापूर्वी करण्याची जो रीति आहे ती चांगली असो वा वाईट असो, ती बदलण्यास बराच काल गेला पाहिजे ही गोष्ट निर्विवाद आहे. एकदा विवाह झाला म्हणजे अर्थातच त्या स्त्रीचे आयुष्य गार्हस्थ्यधर्मात जाणार हेंही ठरलेच. कै. डॉ. आनंदीबाईप्रमाणे एखादी स्त्री विवाहोत्तरही पतिसंमतीनें व अन्य कारणांनी विद्याध्ययन करून पुरुषांप्रमाणे एखादा धंदा करू शकेल; पण आमच्याकडील विवाहपद्धति जेपर्यंत बदलली नाही तोपर्यंत अशी उदाहरणे क्वचित्च दृष्टीस पडणार. तथापि त्याचें महत्त्व लक्षात आणिता अशा स्त्रियास योग्य मदत मिळून त्याचा मार्ग सुलभ केला पाहिजे ही गोष्ट आम्हास पूर्णपणे मान्य आहे. परंतु स्त्रिया सुशिक्षित झाल्यास त्यापासून आपले पाऊल पुढें पडण्यास बरीच मदत होईल यात जर काहीं अर्थ असेल तर तो अर्थ वरच्या सारख्या त्रिरल व्यक्तींच्या हातून साध्य होणार नाही. स्त्रियांची सुधारणा होण्यास हल्लींच्या स्त्रिया विवाहबद्ध होऊन संसारांत पडल्या आहेत, त्यांसच संसारांतून न काढितां सुशिक्षित केले पाहिजे व त्या सुशिक्षित

ज्ञात्या म्हणजेच आपली सुधारणा होण्यास आपणांस त्यांपासून साहाय्य होणार. “ स्त्री सुधारणा ” व “ स्त्रीशिक्षण ” यांच्या महातत्त्वांचा उच्चैर्घोष करणारांनी ही गोष्ट अवश्य ध्यानांत ठेविली पाहिजे, की, जोंपर्यंत विवाहित स्त्रियांच्या समुदायास सुशिक्षित करण्याचा प्रयत्न चालू नाही तोंपर्यंत खऱ्या स्त्रीशिक्षणास आमच्याकडे सुरवात झाली असें कधीही म्हणतां येणार नाहीं. प्रायमरी शिक्षणाच्या पुढील शिक्षण हायस्कुलातील होय. पण तें कोणाकरिता तर मुलाकरिता. संसारात पडणाऱ्या स्त्रियांस त्यापेक्षां निराळ्याच तऱ्हेचें शिक्षण पाहिजे व ते ज्या स्कुलांत मिळत नाहीं त्याचा स्त्रीशिक्षणाचे कार्मी कधीही उपयोग होणार नाही. फीमेल हायस्कुलाच्या उत्पादकास या गोष्टी न कळण्याजोग्या आहेत असें नाही. तथापि कशानेही म्हणा, त्याची दृष्टि इकडे मुळीच जात नाही. फीमेल हायस्कुलातील शिक्षणक्रम विवाहित स्त्रियांवर सोईवार नव्हता याची प्रतीति म्यानेजरास लवकरच आली. पण मौज अशी की, त्याची खरी कारणे शोधून काढण्याचा प्रयत्न न करितां हायस्कुलातील मुलींची संख्या प्रायमरी स्कूल हायस्कुलात सामील करून त्यानीं ताबडतोब भरून काढिली. इतकेच नव्हे तर, ज्या दिशेने ते जात होते ती दिशा चुकली आहे अशी हायस्कुलातील विवाहित मुलींची संख्याच साक्ष देत असतां त्या स्कुलाचे व्यवस्थापक अधिकाधिकच त्या दिशेकडे जाऊ लागले. आमच्या येथील मुलांच्या शाळातूनही अजून बोर्डिंगाची नीट व्यवस्था नाही, पण त्या कार्मी अगदी तयारी आहे. ज्या कोणास आपल्या मुली किंवा सुना फीमेल हायस्कुलात ठेवणें आहेत, पण त्याची पुण्यात सोय नाही, त्यानी खुशाल त्यास या बोर्डिंगात धाडावें. तेथे त्यांची नीट व्यवस्था राहून त्यांच्या हातून इंग्रजी अभ्यास करविला जाईल. फीमेल हायस्कुलाचे उत्पादक हो, आपल्या चातुर्याची या कार्मी तारीफ करावी तेवढी थोडीच. मुलांच्या शाळासही आपण खाली पाहावयास लाविलेंत यांत अगदी शंका नाही. परंतु प्रश्न इतकाच की, या आपल्या बोर्डिंगांत कोणत्या प्रतीच्या स्त्रिया आहेत किंवा येतील याचा तुम्ही नीट विचार केला आहे काय ? परगावच्या १४।१५ वर्षांच्या संभावित गृहस्थाच्या मुली आपल्या बोर्डिंगांत किती आहेत याची माहिती आपण द्याल काय ? मुलाप्रमाणें मुलींसही हायस्कूल झालें; बोर्डिंग राहिलें होतें तेवढेही झालें, इतकेंच जर आपलें कर्तव्य तुम्ही समजत असाल तर त्यास आमचे काहीं म्हणणे नाही. बाकी विवाहित मुलींस मुलाप्रमाणें स्वतंत्र अभ्यास करण्यासाठी लोक आपल्या मुली या बोर्डिंगात पाठवितील ही गोष्ट आम्हांस तर आज संभवनीय दिसत नाहीं. मास्तराणीचा धंदा करून उदरनिर्वाह करूं इच्छिणाऱ्या काही गरीब व अनाथ स्त्रियाखेरीज या बोर्डिंगात कोण येणार ? ज्याप्रमाणें फीमेल हायस्कूल हे फक्त काहीं श्रीमंत व अनाथ स्त्रियांच्याच उपयोगी, त्याप्रमाणें ह्या बोर्डिंगाचाही अनाथ स्त्रीगृहापेक्षां जास्त काहीं उपयोग होणार आहेसें आम्हास वाटत नाहीं. बोर्डिंगांतील

अंतर्व्ययस्था काय आहे ती अद्याप बाहेर आली नाही; तथापि ती कशीही असली तरी बोर्डिंगाची कल्पना ज्याच्या डोक्यात आली त्यास एक तर सुधारणामहा-तत्त्वांनीं गुंगवून सद्यःस्थितीस अंध करून सोडिलें असावे, किंवा पंडिता रमाबाई ज्याप्रमाणे येथे येऊन एक विधवागृह स्थापन करणार आहेत त्याप्रमाणेंच या बोर्डिंगाचा कांहीं अंशी उपयोग झाल्यास करावा असा त्यांचा हेतु असावा. एरव्हीं आपल्या समाजाची ज्यास यत्किचित् ओळख आहे त्याच्या हातून समजून उमजून परगांवचे लोक आपल्या विवाहित १४।१५ वर्षांच्या मुली या बोर्डिंगांत विद्याभ्यासाकरिता पाठवितील असें मानण्याचें धाष्टर्य झालें नसतें. असो; पण सर्वत्र प्रकार जेथे याच मासल्याचे आहेत, तेथें एका बोर्डिंगाकरिताच आम्ही विशेष-वादविवाद करित नाही. आमचे म्हणणे इतकेंच आहे की सध्याच्या समाज-स्थितीचा विचार करिता पुण्यातील फीमेल हायस्कूल किंवा त्याचे बोर्डिंगापासून आम्हास काही फायदा नाही. ज्याप्रमाणे प्रार्थनासमाजांनै धर्मसुधारणा झाली नाही, त्याचप्रमाणे या हायस्कूलानेही स्त्रीशिक्षणाच्या कार्मीं काही व्हावयाचे नाही. धर्म सुधारण्याकरिता ज्याप्रमाणे लोकांत मिसळून त्यास उपदेश करून आपल्या-बरोबर ओढिले पाहिजे, त्याप्रमाणेच स्त्रीशिक्षणाची गोष्ट होय. फीमेल हायस्कूल-तून जरी एखादी स्त्री एम्. डी. किंवा एम्. ए. झाली तरी त्यामुळें आमच्या सामजातील एकंदर स्त्रीसमुहाऱ्ची सुधारणा व्हावयाची नाही. करिता एकंदर स्त्रीसमूहास ससारोपयोगी शिक्षण देण्याची व्यवस्था जर फीमेल हायस्कूलाकडून होणार नाही तर ते असून नसून सारखेच. फीमेल हायस्कूलावर प्रतिवर्षी हजारों रुपये जे खर्च होतात ते केवळ दहापाच लोकासाठीच आहेत असा आमचा समज नाही व सरकारचाही असेल असे आम्हास वाटत नाही. येवढ्यावरून आम्ही ज्या थोड्या लोकांस या स्कूलाचा फायदा मिळतो त्यांचा हेवा करितो असे कोणीं समजू नये. साधारण लोकांची प्रथमतः सोय होऊन जर श्रीमंत लोकांची सोय होत असेल तर ती सरकारने खुशाल करावी; पण दोहोंस जर पैसे नसतील तर आधी बहुसमाजसुधारणेकडे पैसे खर्च केले पाहिजेत. आमच्या सुधारकभक्तां-प्रमाणे आम्ही आमचे विचार चुकले नसतील असें म्हणत नाही. तथापि आम-च्या म्हणण्याची चूक न दाखविता जर दुराग्रहानें, अभिमानानें व शहाणपणाच्या घमंडीनें आमच्यावर दांभिकत्वाचा आरोप कोणी आणूं पाहील, तर लोकांच्यापुढें त्यांच्या मेदूचें वजन आम्हास अवश्य करावें लागेल.

स्त्रीशिक्षणाची दिशा*

दोन तीन महिन्यांमागे या विषयावर आम्हीं पाच सात लेख लिहिले होते त्यावरून या विषयासंबंधाने आमची मते वाचकास कळलीच असतील. प्रस्तुतच्या स्त्रीशिक्षणक्रमाच्या पुरस्कर्त्याइतकेंच किंवाहुना ज्यास्तही स्त्रीशिक्षणाचे आम्ही कैवारी आहो व स्त्रीशिक्षणाकडे आमच्या मनाची जात्याच प्रवृत्ति आहे. तथापि हल्लीचा शिक्षणक्रम आम्हांस विलकूल पसंत नसल्यामुळे आमच्यावर प्रतिपक्षीयानी वरीच उच्चल करून आम्हांस विनाकारण युद्धास प्रवृत्त केले. आमचा मुद्दा इतकाच होता की, ज्याअर्थी पुरुषांप्रमाणे स्त्रियांसही ससारात ईश्वराने काही कर्तव्ये अवश्य लावून दिली आहेत, त्याअर्थी पुरुष व स्त्रिया यांचा शिक्षणक्रम भिन्नभिन्नच असला पाहिजे. पुरुषांचा धंदा करूं इच्छिणाऱ्या स्त्रियांची संख्या नेहमीच अत्यंत अल्प असणार. तेव्हा स्त्रीशिक्षणाचा पाया घालणाऱ्या लोकानी केवळ या अत्यंत अल्प वर्गाच्या सोयीकडेच लक्ष देऊन उपयोगी नाही. कोणतेही राष्ट्र घेतलें तरी स्त्रियांचा आयुष्यक्रम पुरुषांच्या आयुष्यक्रमाहून भिन्न आहे व हा भेद आमच्या देशात तर विशेषच नजरेस येतो. इतउत्तर शिक्षणाने किंवा एकंदर सुधारणेच्या योगाने हा भेद अगदी कमी केव्हा होईल तो होवो; पण हल्लीच्या स्थितीचा विचार करितां, सामान्यतः मध्यम प्रतीच्या हिंदु स्त्रियास जगात ज्या स्थितीत रहावे लागते त्या स्थितीस अनुकूल असेच शिक्षण त्यास दिलें पाहिजे. ह्या दृष्टीने पाहिलें म्हणजे विवाहितावस्था व गृहकृत्ये हीं स्त्रियांची दोन प्रधान कर्तव्ये असल्यामुळे स्त्रियांच्या व पुरुषांच्या शिक्षणाची दिशा लवकर भिन्नभिन्न करावी लागणार. साधारण लेखन व वाचन दोघासही एकच इयत्तेत दिल्यास हरकत नाही. पण पुरुषांप्रमाणे स्त्रियास १५।१६ वर्षेपर्यंत धोकपट्टी करण्यास लावणें अत्यंत अहितकारक व स्वभावविरुद्ध आहे. येथील स्त्रिहायस्कुलाच्या शिक्षणक्रमाचे परीक्षण करतेवेळीही आमचा मुख्य मुद्दा हाच होता. आमचा सिद्धांत चुकीचा असेल; पण जोपर्यंत त्यांतील चूक कोणीही दाखविली नाही तोपर्यंत त्या सिद्धांतास हा शिक्षणक्रम कितपत जुळतो इतकेंच आमचें पाहाणे आहे. अस्तु. या वादाचा आज येथें उपन्यास करण्याचें कारण इतकेंच की, आमचा हा सिद्धांत कोत्या दृष्टीचा व आमच्या इंग्रजी विद्वत्तेस न शोभणारा आहे असा जो एक आक्षेप त्यावेळीं आमच्या प्रतिपक्षीयानीं आमच्यावर केला त्याच्या निरसनार्थ आज येथें दुसऱ्या एका प्रसिद्ध इंग्रजी मासिक पुस्तकातील उतारा वाचकास सादर करावयाचा आहे. दुसरा म्हणायचें कारण एक मार्गेच वादप्रसंगी पुढे केला होता. वस्तुतः पाहतां आमच्या विचारसरणीत काही दोष न दाखविता फक्त ' हे करणें तुमच्या इंग्रजी विद्येस शोभत नाही ' असा साधारण आक्षेप करण्यात काहीं हांशील नाही, व त्यास उत्तर देण्याचीही विशेष आवश्यकता नाही. तथापि

* (६ मार्च १८८८.)

“न हि सिंहे गजास्कंदी भयान्निरिगुहाशयः” या न्यायानें परपक्षसमाधानार्थ ही इंग्रजी तटबंदी मधून मधून आमहास करावी लागते. स्त्रीजातीच्या कर्तव्याबद्दल आमच्या मतात व एडिनबर्ग रिझ्यूनामक प्रसिद्ध त्रैमासिक पुस्तकांत नुकत्याच आलेल्या निबंधातील मतात किती सादृश्य आहे हें मागें दाखविलेंच आहे. आज नाइंटिन्थ सेचरीनामक पुस्तकाच्या फेब्रुअरी महिन्याच्या अंकांत याच विषयावर एक निबंध आला आहे त्यांतील कांही भागाचा आशय खाली देतो.

सदर निबंध मिस सिव्हले नामक एका बार्डनॅच लिहिला आहे व त्यातील प्रतिवाद्य विषय इंग्लंडातील मुलींच्या शाळांतून हल्लीं सुरू असलेली घोकंपट्टी होय. ह्या निबंधांतील बराच भाग मुलांच्या शिक्षणक्रमास लागू पडण्यासारखा आहे. पण त्याचा येथे विचार न करितां फक्त स्त्रियांच्या शाळांबद्दल व शिक्षणक्रमाबद्दल बार्डचे काय म्हणणें आहे तें पाहूं. आम्ही लिहिल्याप्रमाणेंच या बार्डनॅच प्रथमतः असें प्रतिपादन केलें आहे कीं स्त्रियांस व पुरुषांस संसारात निरनिराळीं कामे असतात; करितां दोहोंचा शिक्षणक्रमही स्वभावतः भिन्न असला पाहिजे. तिच्या म्हणण्याप्रमाणेंच इंग्लंडांतील शाळांतून जितका पाळला जावा तितका जात नाही; व १८ वर्षेपर्यंत मुलींस व मुलांस एक प्रकारचें शिक्षण मिळतें. इंग्लंडांतील विद्वान पुरुषांच्या मनांत हा भेद न उतरल्यामुळे किंवा त्यांचीं मते निराळीं असल्यामुळे ही स्वभावविरुद्ध स्थिति हल्ली प्रचारात आहे. पण निबंधकर्त्रीचें असें मत आहे कीं, हा भेद लक्षात आणता ठरलेले स्त्रीशिक्षणक्रम सर्व फुकट आहेत व तें कधीही चिरस्थायी व्हावयाचे नाहीत. स्त्रीपुरुषांच्या आयुष्यक्रमामधील भेद या निबंधांत खाली लिहिल्याप्रमाणें दर्शविला आहे.

“अगदीं लहानपणीं मुलामुलात कांही भेद नजरेस येत नाही. पण ती जरा मोठी झाली कीं, लगेच त्यामधील अंतर दृष्टीस पडते. मुलगा दांड, धीट, व गडबड्या होतो व त्यास घराबाहेर पडण्याची मोठी हौस असते. मुलगी स्वभावतःच गरीब असते, व तिचे मत हळुहळू भातकुल्या वगैरे घरातल्या खेळाकडे जाऊं लागतें. पुढें जसजशी जास्त वर्षे होतात त्यामानानें हाच भेद बळावत जातो, व अखेरीस दोहोंच्या दिशा अगदीं भिन्न होतात, व दिशा भिन्न झाल्या म्हणजे अर्थातच कार्यांचाही भेद झालाच म्हणावयाचा. मुलगा मोठा झाल्याबरोबर तो आपला रोजगारधंदा करण्यास कोठें तरी बाहेर जातो, व मुलगी मोठी झाली—मग ती विवाहित असो वा अविवाहित असो—तिच्या गळ्यांत घरचा संसार पडतो. पुरुष ज्याप्रमाणें चाकरी किंवा धंदा करतो त्याचप्रमाणें स्त्रियांसही गृहकृत्ये, मुलांचे शिक्षण, संरक्षण वगैरे केलेंच पाहिजे. येवढ्यावरून स्त्रियांनीं पुरुषांच्या ताब्यांत रहावें असे होत नाही. तथापि ज्याअर्थी पुरुषांची व स्त्रियांचीं कर्तव्ये या जगांत भिन्न भिन्न आहेत त्याअर्थी प्रत्येकानें दुसऱ्याच्या कामांत पडण्यांत कांहीं ह्शील नाही. पुरुषास या लोकीं कोणता अर्थ साध्य आहे, त्यांच्या मनाची प्रकृति कशी असते व ते कशाकरिता झटत असतात वगैरे गोष्टींची माहिती स्त्रियांस असल्याखेरीज

त्यांच्या हातून पुरुषांस व्हावें तसे साहाय्य होणार नाही. अशी माहिती त्यांस असणें जरूर आहे; पण पुरुषांच्या धद्यांत पडणे त्यास इष्ट नाही. रोजगार, धंदा, व्यवसाय वगैरे पुरुषांचे भाग आहेत, आणि संगोपन, आस्था, दया, आनकूल्य वगैरे स्त्रियांचे होत. प्रत्येकाने आपापला कार्यभाग चांगला करण्यास झटावें यांतच त्यास भूषण आहे, व हेंच त्यांचें कर्तव्य आहे. यासाठी दोहोंस जे शिक्षण द्यावयाचें तें त्या त्या वर्गाच्या कर्तव्याकडे लक्ष देऊनच दिले पाहिजे. वैद्यकीचा किंवा वकिलाचा धंदा करू इच्छिणाऱ्या स्त्रियाची संख्या फारच कमी आहे, व ती अशीच राहिल.

बाकी बहुतेक स्त्रिया २०।२१ वे वर्षी विवाहित होतात व तेव्हापासून त्यास गृहकृत्याकडे स्वभावतःच नजर पोंचवावी लागते. या मोठ्या वर्गास आपलें कर्तव्य ज्या तऱ्हेचे चांगलें बजावता येईल असाच शिक्षणक्रम स्त्रियांच्या शाळात ठेविला पाहिजे. हें एक प्रकारचें धंदेशिक्षणच आहे. ज्याप्रमाणें मुलास, तो नावाड्याचा, शिपायाचा वगैरे धंदा करण्यास योग्य होईल, असें शिक्षण मुलाच्या शाळात मिळते, त्याचप्रमाणें स्त्रियांच्याही शाळाची गोष्ट आहे. हा भेद मनात आणता जो शिक्षणक्रम अमलात येईल तो कधीही शाश्वत होणार नाही.

सदर निबंधात दुसऱ्याही आणखी काहीं गोष्टी आहेत. पण त्याचा संबंध इंग्लंडच्या प्रस्तुत स्थितीशीच असल्यामुळे त्या येथें देत नाही. स्त्रीशिक्षणाचा मुख्य उद्देश काय याबद्दल जरी मतैक्य असलें, तरी ज्या देशात स्त्रियांचे विवाह प्रौढपर्णी होतात तेथील स्त्रीशिक्षणक्रमात व आमच्याकडील स्त्रीशिक्षणक्रमात थोडा-बहुत फेर पडलाच पाहिजे. यासाठी इंग्लंडातील शिक्षणक्रम प्रथम स्त्रीशिक्षणाच्या वरील उद्देशास अनुकूल असला तरीही तो आपणांस जशाचा तसाच घेता येणार नाही हें उघड आहे. तथापि स्त्रीशिक्षणाच्या उद्देशासंबंधाने मतभेद असण्याचें काहीं कारण नाही. स्त्रियांची योजना स्वभावतःच घरातील कृत्ये करण्याकडे झालेली आहे व तीस अनुकूल असेच शिक्षण त्यांस मिळाले पाहिजे हेंच काय ते मुख्य तत्त्व आहे. आपल्याकडील स्त्रियांचा विवाहकाल वाढून प्रौढविवाह कधी प्रचारात येतील ते येवोत. तोपर्यंत आमची साप्रतची स्थिति लक्षात आणूनच आम्हास वर्तन केलें पाहिजे. मुर्लीच्या आहेत त्या शाळा सुधारून व्यवस्था नीट केल्यास १०।११ वर्षांपर्यंत म्हणजे साधारणरीत्या विवाहापूर्वी मुलीस लेखनवाचन साधारण नीट शिकवितां येईल. आता पुढील शिक्षणाची तजवीज करावयाची ती मुलगी सासरी गेल्यावर घरचें थोडेंबहुत काम सभाळून राहिल्या वेळात तिला उपयुक्त विषयाची माहिती मिळेल अशा रीतीने केली पाहिजे. मुलाप्रमाणे सात किंवा आठ यात्रा करून अकरा वाजल्यापासून पाच वाजेपर्यंत त्यांच्याकडून घोकंपट्टी करवून शिवाय राहिल्या वेळात त्यांनी शाळेतील धडे करावे हें त्यांच्या पुढील कर्तव्यास अगदीं विरुद्ध आहे. नाइंटीन्थ सेंचुरीमधील वर सांगितलेल्या निबंधांत लिहिल्याप्रमाणें काहीं थोड्या स्त्रियास हा अभ्यासक्रम इष्ट असेल. पण

एकंदर स्त्रीजातीचा विचार करतां ही पद्धत अगदीं अपायकारक आहे व स्त्री-शिक्षणाचा प्रसार करण्याचें काम ज्यांनीं आपणाकडे घेतलें आहे त्यांनीं य गोष्टीचा विचार करावा अशी आमची त्यांस सविनय विनंति आहे.

मलबारी शेटजींचा उद्योग.*

जेथून आपल्याला खाली लोटून दिलें असेल तेथपर्यंत पुनः उडून येण्याचा गुण चेडूंत आढळतो व तो आपल्या अंगांत कसा येईल हें जाणण्याविषयी मनुष्याच्या मनाची खटपट चालू असते. जगामध्ये कितीही अडचणीचे प्रसंग आले, आपल्या उद्देशसिद्धयर्थ चाललेल्या प्रयत्नात आपल्याला कितीही ठोकरा खाव्या लागल्या, तरी मनांत दृढनिश्चय ठाम करून हाती धरलेल्या कामाची चिकाटी सोडावयाची नाही अशा प्रकारची माणसे या जगात फार कमी आढळतात आणि आपल्या लोकांत त्यांचा बहुतेक अभावच आहे. अशी स्थिति असल्यामुळेच आमचें कोणतेंही काम नीट रीतीनें व सारख्या जोरांनें चालत नाहीं. 'आरंभ-शूराः खलु दाक्षिणात्याः' अशी म्हण आहे, पण 'दाक्षिणात्याः' या शब्दाच्या ठिकाणीं साऱ्या हिंदुस्थानवासी प्रजेचा वाचक शब्द घातल्यास चूक होणार नाही. असा जो हा दुर्माळ गुण तो जेथे आढळेल तेथे त्याचे अभिनंदनपर स्वागत गाइलें पाहिजे. मुंबईतील इंडियन स्पेक्टेटर पत्राचे कर्ते मि. बेहेरामजी मरवानजी मलबारी याचे नाव आमच्या वाचकांस श्रुत आहेच. याच्या आर्गां आम्ही ज्या गुणाविषयीं वरतीं लिहिलें आहे तो गुण ओतप्रोत भरलेला आहे. यानीं हिंदुसमाजसुधारणेचें कंकण हातीं बांधल्याला आज पाचसहा वर्षे झालीं. इतक्या काळांत त्याच्या श्रमाने व खटपटीने आणि त्या दोहोंपासून उत्पन्न झालेल्या चळवळीनें सुधारणेच्या कार्यास बरीच मदत झाली यांत काहीं शंका नाही. त्यांनीं सुचविलेल्या गोष्टी पुष्कळाना मान्य झाल्या नाहींत व होतील असें वाटत नाहीं. त्यांच्या लेखाच्या व त्यापासून माजलेल्या बादविवादाच्या योगानें सुधारक-मंडळींत तीन तट झालेः—एकास कायद्याची मदत घेणें अवश्य वाटतें. दुसऱ्याचें असें मत आहे की, अगोदर उपदेशद्वारा लोकमताचा प्रवाह तुमच्या मताला आपून जोडा, निदान बहुमत तरी तुमच्यासारखे आहे असें दाखवा, आणि बहुमत जसें तसा कायदा मागा. तिसराही एक पक्ष असा आहे की, जर कायदाच पाहिजे असेल तर प्रथम आपल्यापुरता कायदा मागून घ्या. आपल्या स्वतःला अशा रीतीनें बांधून घेऊन कोणतीही सुधारणा अमलांत आणून दाखवा. तिचीं सुफलें दिसूं लागलीं कीं इतर भित्रे लोक आपोआप त्या मार्गाला वळतील. अशा प्रकारें जरी तीन वर्ग सुधारकांतल्या सुधारकांत दिसूं लागले आहेत, आणि त्यामुळे

* (ता. १२ आगस्ट, १८९०).

त्यांचे परस्पर वादविवाद चालले असतां असा जरी भास होतो कीं, हे एकमेकांचे कट्टे दुष्मन आहेत, यांच्यांत कोणत्याही गोष्टींविषयीं मतैक्य नाहीं, तथापि तिन्ही वर्ग सुधारणाप्रिय आहेत, नवद्वेषी नाहीत. त्यांच्यांतील भिन्नभाव कायतो इष्ट-कार्य साधण्याच्या मार्गाबद्दलचा आहे. कांहीं वर्षांपूर्वीचीं व हल्लींचीं वर्तमानपत्रे चालून पाहिलीं तर ही गोष्ट आमच्या मते स्पष्ट होईल कीं, सुधारणेला प्रतिकूल, निदान उघडपणें तरी तसे, असे लेखक हल्लीं फार कमी आढळतात. सुधारणेला प्रतिकूल असाही लेख लिहिणें असला तरी आरंभीं 'सुधारणा आम्हास पाहिजे आहे' असें म्हणण्याचा परिपाठ पडत चालला आहे. यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, सुधारकांच्या टकळीचा परिणाम लोकमतावर घडला यांत कांहीं शंका नाही. दगडाला देखील टाकीचे घाव सोसायला लावले तर त्याच्या आगी देवकळा आणितां येते; तेव्हा समजस माणसांच्या कार्नीकपाळी तेच तेच विचार सारखे ओरडत राहिले तर त्याचा कांहीच परिणाम कसा होऊ नये ? आतां पूर्वाप्रमाणें सुधारणा, सुधारक हे शब्द ऐकल्याबरोबर जुन्या माणसाचें पित्त खवळत नाही, किंवा पायाची आग मस्तकांत जाऊन भिडत नाही. कदाचित् जुन्याच्या अंगां हा फरक दिसत आहे हा केवळ त्याच्या विचारांत फरक झाल्यामुळेच असेल असें खात्रीने सांगत नाही. काहींना असेही वाटू लागलें असेल कीं हें कलिमाहात्म्य, हे असे प्रकार व्हावयाचेच, तेव्हां तुक्रोबाच्या सागीप्रमाणें 'उगे रहावें, आणि जे जे होईल तें ते पहावें' असे असले तरी हल्ली सुधारणेविषयीं जिकडे तिकडे उत्सुकता-निदान बोलण्यांत तरी-जारीनें दिसूं लागली आहे, आणि आमच्या-मते ही जागृतावस्था येण्यास पुष्कळ अंशी मलबारी शेटजींचे पहिले लेख-ते अतिशयोक्तीनें भरले होते तरी-व त्यानंतर त्यांनीं 'सारा देशभर बोंब करून सोरला' आणि कायद्याभाटी जे प्रचंड वावटळ उभारलें-हीं कारणे झाली. काहींनीं पारशी आपल्या संसारांत ढवळाढवळ करूं पाहतो म्हणून रागावून, काहींनीं आपण कांहींच करित नाही आणि त्रयस्थलोक इतकी कळकळ दाखवितात हें लक्षात येतांच लाजून, काहींनीं आपल्यास हा एक नवीन जोर मिळाला म्हणून उमेदीनें पुढें सरसावून, -तात्पर्य, कोणी या कोणी त्या कारणासाठी या सुधारणेच्या प्रश्नाचा विचार करण्याचें मनावर घेतलें आणि त्या प्रयत्नाचा परिणामही लोकमतावर झाला; आणि याबद्दलचें श्रेय मलबारी शेटजींना आपण दिलें पाहिजे.

आमचे हे विचार आमच्या वाचकांपैकीं कित्येकांना रुचणार नाहीत. त्यांस आमचें असें सांगणें आहे कीं, या गोष्टीचा त्यांनीं आपल्या मनाशीं शांतपणें विचार करावा. मलबारी शेट पारशी खरे, त्यांनीं असल्या कामात पडावयाचें नव्हतें, निदान पहिला लेख लिहिण्यापूर्वीं माहिती मिळवावयाची होती; पण झाली ती गोष्ट होऊन गेली, आतां काय त्याचें ? त्यांनी कोणत्याही वाईट हेतूनें हें केले नाही आणि शेवटीं परिणाम कांही वाईट झाला नाही; थोडी कडक शब्दाची लढाई झाली; पण अशा लढाईत कोणी जाया होत नाही. सामाजिक

सुधारणेकडे लोकांचें लक्ष अधिक जाऊं लागलें हाही एक फायदा झाला आहे. तेव्हां **मलबारी** शेटजींच्या अश्रांत श्रमाबद्दल, त्यांनीं सोसलेल्या निंदे बद्दल त्यांनीं घालून दिलेल्या उदाहरणाबद्दल आम्ही त्याची स्तुति करावी हें वाजवी आहे. असो; येथपर्यंत आपल्या कर्तव्यानुसार **मलबारी** शेटजींचें ऋण फेडल्यानंतर त्यांच्याचसंबंधानें एका गोष्टीविषयी खेद दर्शविणें जरूर दिसतें. खेद अशाबद्दल कीं, परकी गृहस्थानें आमच्या हिंदुसमाजाच्या सुधारणेबद्दल जितके करावयाचें तितके त्यांनीं केले. आमच्या समाजांत त्याच्या दृष्टीनें दिसणारे दोष त्यांनीं दाखविले. आम्ही त्यांच्याकडे लक्ष नेऊन आपापल्यापरी सुधारण्याचा प्रयत्न करूं लागलो. आता यापुढचे काम वास्तविक आमचें राहिलें. लोकमताचा ओघ वळविणें व नंतर सरकारापाशीं जाऊन हा वळलेला ओघ ठाम करून टाकण्याकरितां कायदा मागून घेणें हे आमचे काम. समाजाची स्थिति कायदा मागण्यापर्यंत आली आहे किंवा नाही हें आमचे आम्ही पाहिलें पाहिजे; आणि या प्रश्नाचें उत्तर आमच्यांतील पुढाऱ्यांस जसे देतां येईल तसे इतरांस देता येणार नाही. अशी वास्तविक स्थिति असतां **मलबारी** शेटजींनीं अजून देखील आपला क्रम चालू ठेवावा, इतकेच नाही तर खुद्द विलायतेची सफर करून हिंदुस्थान-सरकार कायदा करण्यास तयार नाही असें पाहून त्याच्यावर विलायतच्या लोकांचा (विशेषतः बड्याबड्या दरबारी मडळींचा) दपटशहा आणावा या हेतूनें तेथे खटपट चालवावी हे आम्हास गैर दिसतें. हिंदुस्थानांतल्या हिंदुस्थानात जोपर्यंत त्यांचा प्रयत्न चालू होता तोपर्यंत त्यांच्या हातून गैरसमजामुळे गैरवाका मजकूर समजाविला गेला असता तो आम्हास समजण्याचा पुष्कळ संभव होता. विलायतेंत चाललेल्या खटपटीची इत्थभूत हकीकत कळणें महामुष्कील आणि त्यातून **मलबारी** शेटजींनीं आपली खटपट तेथे फारच गुप्तपणें चालविली आहे. काल-रोजी हाती आलेल्या इंडिया पत्राच्या अंकात यासंबंधाने जी हकीकत आली आहे तिजवरून असे कळते कीं, **मलबारी**ंनीं आपल्या मताला पुष्कळ माजी इंडियन कामदार आणि काहीं बडे इंग्रज गृहस्थ वळविले आहेत. एका लोकहितार्थ झटणाऱ्या बाईंच्या घरीं नुकतीच **मलबारी** शेटजींच्या बरोबर विचार करण्याकरितां एक सभा भरली होती. त्या सभेंत कोणास आमंत्रण करावयाचें यासंबंधाने पुष्कळ तऱ्हेवाईक प्रकार दिसला. तेथे असे ठरलें कीं, कायद्यांत काहीं मोठासा फेरफार करण्याविषयी कांही खटपट करावयाची नाही; मात्र पुढील मुद्दे सरकारच्या नजरेस आणण्याच्या कार्मी वजन खर्च करावयाचें:—

(१) जवरी संभोगाच्या बाबतींत कायद्यांत नवरावायकोच्या व्यवहाराविषयी जो अपवाद दिला आहे तो रद्द करावयाचा, म्हणजे बारा वर्षांच्या आंत कोणतीही स्त्री कोणत्याही कृत्यास अनुमोदन देण्यास लायख नाही असें ठरवावयाचें.

(२) वैवाहिक हक्काप्रमाणें वर्तणूक करायला लावण्याचा अधिकार कायद्यानें दिवाणी कोर्टास दिल्या आहे तो काढून घ्यावयाचा.

(३) लहानपणीं लग्न झालें असल्यास पुढें वयात आल्यावरतें लग्न कायम करण्याचा अगर रद्द करण्याचा अधिकार वधूवरांस ठेवणें म्हणजे नवऱ्याशीं संबंध होण्यापूर्वी त्याच्या बायकोच्या मर्जीस आल्यास तिला लग्नसमारंभ झालेला रद्द करता यावा, मग त्यावेळीं नवरा जीवंत असो वा मृत असो.

(४) आईबापांना आपल्या मुलांचीं लग्ने लावणीवर टाकता यावी म्हणून त्यांना कायद्याची मदत मिळावी. जर त्याचे जातभाई अगर शेजारीपाजारी याबद्दल उग्रदणें त्यांच्या विरुद्ध काही खटपट करतील तर तो कायद्याप्रमाणे अपराध गणला जाऊन त्यास शिक्षा सांगितलेली असावी.

(५) १८५६ चा विधवापुनर्विवाहाचा कायदा १८८६ मध्ये सरकारनें मनांत विचार आणला होता त्याप्रमाणे बदलावा, निदान विधवा स्त्रियांस नवऱ्याच्या मृत्युपत्रांत लिहिलेले हक्क उपभोगतां यावे.

(६) पुनर्विवाहाचा विधि सोपा करावा, व यासाठीं रजिष्ट्रारपुढें प्रतिशे-वर दोनतीन जाव झाले म्हणजे पुरे असे ठरवावे.

(७) देवाला मुली वहावयाच्यासंबंधानें कायद्यात कलमे आहेत त्याची अंमलबजावणी सक्तीनें व्हावी.

(८) सुधारणेकरितां ज्या मंडळ्या स्थापन झाल्या आहेत किंवा होतील त्यांना सरकारचें साहाय्य व उत्तेजन असावे.

(९) दहावर्षानंतर देखील मुलींनी शाळेत राहावें, त्याचप्रमाणे विधवांनी वैद्यकी आणि मास्तरणीचे काम शिकावे, यांसाठीं सवलती व उत्तेजन देणे.

अशा प्रकारची मलबारी शेटजींनी खटपट आहे. तिजबद्दल आज जास्त लिहिण्यास सवड नाही. पुढे एखादवेळ पाहूं.

* जुलूमाची सुधारणा.

आम्हा हिंदुलोकांच्या अभ्युदयाकरितां ज्या अनेक विभूति निर्माण झाल्या आहेत त्यांतीलच एक मलबारी शेटजी आहेत याविषयी आता कोणासही शंका उरली नाही. शरीरप्रकृति विघडली म्हणून विश्राति घेण्याकरिता त्यांनी विलाय-तचा मार्ग सुधारला आहे हेही सर्वास अवगत आहेच. तेथील अनिवार सुखान्त दंग होऊन केवळ विश्राति सुखाचा अनुभव घेण्याकरिता ते गेले हें खरे, पण ' मूळस्वभाव जाईना ' या म्हणीप्रमाणे हिंदुसमाजामध्ये ज्या घोर व अपायकारक

* (ता. २ सप्टेंबर १८९०).

चाली आहेत, त्यांच्या संहारार्थ ज्यांचा अवतार झाला आहे, त्यांस विलायतेंत सुद्धां स्वस्थ कसें बसवणार ? त्यांनीं तेथें व्याख्यानें देऊन, मोठमोठ्या मनुष्यांच्या गाठी घेऊन, तेथील स्त्रियांमध्ये संक्षोभन करून शेवटीं एक प्रचंड कमिटी (व्यवस्थापकमंडळी) उत्पन्न केली आहे; आणि हिंदुस्थानसरकार आपल्या मतास हवें तितके पाठबळ देत नाहीं तर विलायती मताचा शह हिंदुस्थानसरकारास देऊन त्यांच्याकडून स्त्रियांच्या संरक्षणार्थ कायदा करून घ्यावा अशी मशारानिल्हे शेटजी-साहेबांची खटपट सुरू आहे. बारा बारा वर्षांच्या पोराना दोन दोन तीन तीन मुलें होत आहेत; १० वर्षांच्या आत असणाऱ्या बालविधवांच्या हातून हजारों बाल-हत्या प्रतिदिनीं घडत आहेत, आणि या अनर्थमूलक पापाचरणानें लबाड ब्राह्मण लोक आपली तुंबडी यथेच्छ भरून घेत आहेत, असा अनाचार पाहून या साहेबांचे १५ वर्षांमागे जें पित्त खवळलें व त्यास जो पुण्यप्रकोप प्राप्त झाला, त्याच्या योगाने सत्यासत्य विचाराचा याच्या मस्तकाच्या ठायीं लोप होऊन कोणत्याही हिकमतीने का होईना, पण हिंदुलोकास कायद्यानें निगडित करण्याच्या विचारास लागले पाहिजे असा मनाचा संकल्प झाल्यावर त्याच्या पुष्टिकरणार्थ पुरावा मिळविण्याकरितां जेव्हां त्याची स्वारी मुंबई इलाख्यांतून मद्रपुरांत, तिकडून वंगदेशात वावरूं लागली, तेव्हां त्यांस धर्मशाळात, नदीच्या काठांवर, देवालयांमध्ये, चार लोक आणि विशेषतः स्त्रिया यांच्या तोंडून बालहत्या, प्रसूतिवेदनांनीं प्राप्त झालेला मृत्यु याशिवाय त्यांच्या कर्णपथावर दुसरा कोणताही उपदेश झालाच नाही. मराठे, तेलंग, बंगाली, रजपूत, गुजराथी इत्यादि लोकांच्या तोंडात वाक्यें काय ? 'आज बाई अमक्यातमक्या बाईनें बालहत्या केली, खरें काग ?' 'होय बाई' दुसरी म्हणते. 'पण करायचे काय ? आज तिची पाळी आहे, उद्यां आपल्यावर येईल. चल, दुःख करून काय उपयोग ? आपण सर्व एक दावणीला गुंतलेल्या आहोंत.' असला सर्वगामी प्रकार पाहून शेटजींच्या आधींच संतप्त झालेल्या अंतःकरणाना फोपाटा लागून तें करपून गेलें आणि त्यांनीं दोन प्रचंड पत्रकें काढून हिंदुलोकास त्यांची हीं गृहछिद्रे पूर्णपणे दाखविण्याचा प्रयत्न केला; पण हिंदुलोक कसले निगरगट्ट ! १२ वर्षांच्या पोरीस आया करण्याचे कामीं आणि पहिला दशक उलटला नाही तों त्यांस वैधव्य स्थितींत नेऊन ढकलण्याच्या कामीं फारां दिवसापासून संवकलेल्या लबाड ब्राह्मणांच्या निर्दय अंतःकरणावर खानसाहेबांच्या आक्रोशानें यत्किंचित्सुद्धा परिणाम झालासें दिसेना. कांहीं थोडी दयाळू मनुष्ये त्यांनीं आपल्या गोटात ओढली इतकेंच. एकंदरीत या कागदी लढाईत दारुगोळा पुष्कळच खर्च होऊन लभ्यांश विशेषसा झाला नाही. हें पाहून शेटजी भिऊन जाऊन आपल्या अंगावर घेतलेलें विकत श्राद्ध टाकून देतील असे पुष्कळांस वाटलें. पण आमचे दयाळू पारसिक बंधु असल्या अडचणीना जुमानणारे नव्हते. त्यांनीं लागलीच आपला मोर्चा कलकत्याकडे फिरविला. तेथेही आपल्या पाताळयंत्रि स्वभावानें हिंदुस्थानसरकारची मनघरणी करण्याचा प्रयत्न केला. पण

सरकार म्हणजे मुलखांतलीं आळशी माणसें ! सर्व, अथवा बहुतेक सर्व हिंदु समाजास मलबारी साहेबांचें म्हणणें पसंत नाहीं, असें पाहून त्यांनीं आपल्या कानांवर हात ठेविले आणि ' रामाय स्वति, कृष्णाय स्वस्ति ' ह्या मंत्राचा जप करण्यास आरंभ केला; म्हणजे शेटजींच्या कर्तबगारीबद्दल त्यांची पाट थोपाटली, व ' आपण फार स्तुत्य कृत्य करीत आहात, आम्हांस तुमचा खटाटोप पाहून भारी आनंद होतो, पण आपण म्हणतां तसें आम्हांस करितां येत नाहीं, ' असा त्यांच्या म्हणण्यावर तेथें शेरा मिळाला. सुधारलेल्या राज्यकर्त्यांकडून जेव्हां असा जबाब मिळाला तेव्हा आताया अबलाकनवाळूच्या प्रयत्नाचे हातपाय गळाठतील असा स्वार्थसाधु ब्राह्मणांचा ग्रह झाला व शेटजींवर आलेल्या दुसऱ्या एका निराशरूपी गदेनें त्याचे ताडव संपेल असें परपुष्ट मटजीमहाराज समजू लागले. हा त्यांच्या कमी समजुतीचाच अर्थात् परिणाम होय. आपल्या कार्यसिद्धीच्या कामीं हजारों विघ्नें आली तरी त्यास न जुमानतां आरंभलेलें कार्य शेवटास नेणाऱ्या ' उत्तम जना ' पैकीं शेटजी आहेत हे या अंध हिंदुसमाजास कसें समजणार ? खरोखरच त्याचे हे प्रयत्न भगीरथ आहेत. इकडे वाटाण्याच्या अक्षता मिळाल्यावर त्यांनीं असा निश्चय केला कीं, आता या भेकड हिंदुस्थानसरकारचीं आर्जवे न करिता, जेथें सन्मताचीच उत्पत्ति, अशा इंग्लंडदेशात जाऊन तेथें आपलें गान्हाणें सागावे आणि चक्रवर्तीनी विहक्टोरिआ आईसाहेब यांच्या हुजूर त्यांच्या जातीच्या वतीनें फिर्याद करावी. असा इरादा धरून मलबारीसाहेबाची स्वारी स्वखर्चाने विलायतेस गेली आहे, व तेथे त्यांनीं वजनदार गृहस्थांची एक सभा स्थापून विलायतेंत या प्रश्नाची तड लावण्याकरिता भयकर चळवळ करण्याचा संकल्प केला आहे हें वर नुकतेच सांगितले आहे.

येणेंप्रमाणें कायद्याच्या प्रश्नाची हकीकत आहे. आमच्याबद्दल अनुकंपा प्राप्त होऊन मलबारी शेटजींनीं ह्या दीर्घोद्योगास आरंभ करून हरतऱ्हेनें तो शेवटास नेण्याविषयीं त्यांची शिकस्त चालली आहे व ह्या कार्यसिद्धीस्तव त्यांनीं आपले तन, मन, व धन इकडे अर्पण केले आहे हें पाहून खऱ्याखोऱ्या सुवर्णालंकारामध्ये दंग होणाऱ्या आम्हां आलस्यप्रिय हिंदुलोकास शरम वाटली पाहिजे व परहिताच्या कामीं आपला देह शिजविण्याचें व्रत ज्यांनीं अंगीकृत केले आहे, त्या शेटजींचे आभार मानून व आर्यभूमीवरही असली संतमंडळी कधीं कधीं निर्माण होते हें पाहून आपण आपल्यास धन्य मानून घेतले पाहिजे. पण या धन्यतेच्या भरांत, संतोषाच्या गर्दीत, व शरमेच्या घोंटाळ्यांत आपण इतर गोष्टी विसरता कामा नये. कोणतीही दुष्ट चाल दृष्टीस पडली कीं, तिच्या नाशार्थ उद्योग करूं लागणें हें आपल्या कनवाळुत्वाचें दर्शक आहे; पण तितकेंच तें शहाणपणाचें आहे किंवा नाहीं याचा संशय नेहमीं राहणारच. बालविवाह, वैधव्य इत्यादि चाली वाईट आहेत, त्यांपासून पुष्कळ अनर्थ होतात वगैरे गोष्टी कोणाही समंजस पुरुषास नाकबूल आहेत असें नाहीं. असें विधान या पत्रांत अनेक वेळां केले आहे हें वाचक विसरले नसतीलच. कायदा का नको ह्याविषयीही अनेक वेळां या स्थलीं

प्रतिपादन झालेलेंही आहे. असे असताही मलबारी शेटजींनीं तिकडे लॉर्ड रिपन किंवा लॉर्ड डफरिन यांची भेट घेऊन कमिटी नेमिली, अशी एखादी तार इकडे येऊन पोहोचली की कायदेवाल्या मंडळीत महानंद होऊन जिकडे तिकडे टिऱ्या बडविण्याचा मात्र ध्वनि ऐकूं येतो; पण कायदा नको असें म्हणणाऱ्या लेखकांची व वाचकांची समजूत घालण्याचा प्रकार कोठें दिसून येत नाही याचें कारण काय असेल ते हरि जाणे ! सुधारणेच्या आचीनें ज्याचें अंग तापून गेलें आहे त्यांनीं एकदा लोकांभुटे येऊन जर एकदोन प्रश्नाचा उलगडा केला तर वर्तमानपत्रांमध्ये जो व्यर्थ हमरीतुमरीचा प्रकार चालतो तो बंद होणार नाही काय ? ' शेष कोपेन पूरयेत् ' असेंच जर त्यांचे व्रत असेल तर त्यांस आमचें कांहीं म्हणणें नाही; पण गरम सुधारकास जर आपली सुधारणाचमु वाढली जावी अशी इच्छा असेल, तर त्यांनीं प्रथमतः अपशब्दाचा व अपसिद्धातांचा त्याग केला पाहिजे व युक्तीच्या वादानें लढाई केली पाहिजे. उगीच शिवऱ्या असमंजस पत्राचें अनुकरण करून आपला कंठशोष करावयाचा व त्याने जय मिळवावयाचा. असाच जर त्याचा इरादा असला तर त्यांनी अक्षरजननीस खुशाल शिणवावें. पण असें करिताना त्यांनीं एक गोष्ट लक्षात ठेवावी की, ज्याची वकिली पत्करून हा अट्टाहास आरंभिला आहे, त्याचे यत्किंचित्ही कल्याण न होतां उलट त्यांची स्थिति दुर्धर मात्र होणार आहे.

पहिला प्रश्न असा आहे की कायद्यानें १०।१२ वर्षेपर्यंत मुलीचे लग्न करूं नये असें ठरविले तर अपेक्ष युवायुवतीचा जो आता संगम घडतो तो बंद होईल काय ? हा प्रश्न आजचा आणि म्हणून नवीन आहे असे नाही १८८४ सालींच या प्रश्नाचा उद्भव झाला आहे व या प्रश्नास समाधानकारक असें उत्तर कायदे-भक्ताकडून मिळाले आहे, असें आम्हांस वाटत नाही. मुलीच्या अठराव्या अगर निदान सोळाव्या वर्षी तिला अवयवपूर्णत्व प्राप्त होतें व ह्या सुमारास सशक्त गर्भ धारण करण्याची अवस्था नैसर्गिक नियमाअन्वये प्राप्त होते, तर ह्या वयाच्या सुमारासच—कधीही आधीं नाहीं—नवरानवरीची गाठ पडेल; आई, सासू, नणंदा, भावजया, जावा इत्यादिकाची वेडी माया नाहींशी होईल आणि रतियोग्य झाल्या-नंतर त्या सुखाचा अनुभव दंपत्ये घेत राहातील असे परिणाम उत्पन्न करणारा कायदा कोणत्या मायेचा पूत निर्माण करण्यास तयार आहे हें कायदावश मंडळीनें आम्हांस सागावें. पूर्वीक कायद्याच्या आटोक्यात न येणाऱ्या गोष्टी विद्येनेंच मात्र प्राप्त होणार, इतर मार्गांनीं नाही अशी आमची बालंबाल खातरी झालेली आहे ह्या असल्या मनोनिग्रहाची विद्या शिकविण्याचें कार्यही कायद्याकडेच जाणार आहे काय ? आणि मुलास आपल्या सतराव्या वर्षी व मुलीस तिच्या तेराव्या वर्षी आपआपले मनोविकार दमन करण्याचें सामर्थ्य कायद्यानें येणार आहे काय ? जोंपर्यंत आमचा शिमगा भर ज्वानींत आहे, जोंपर्यंत तमाशे, छकडी, गलिच्छ प्रहसने, रेनाडच्या कादंबऱ्या इत्यादि मदनज्वराची उपकरणे आप-

आपल्या शक्तिसामर्थ्यात आहेत, चार पुरुष एके जागी बसले असतां अश्लील शब्द नाहींतसे होत नाहींत, १२ वर्षांच्या आचरट पोगापासून तो ६० वर्षांच्या वातरट जरठापर्यंत जोवर प्रत्येक पुरुष व्यक्तीस ताबुताच्या दिवशीं डोल्याकडे न पाहता खिडक्यातील डोळ्याकडे पाहण्याची सवय गेली नाहीं, तोपर्यंत कायदे नाहीं कायद्याचे प्रपितामह आले तरी शक्तिहिंसक मदनवाणाचा प्रभाव एक अणुरेणूइतकासुद्धा कमी होणार नाहीं. सुधारणाचमूतील प्रत्येक सेनाग्रणीनें हे लक्षात ठेवावें की, कायदे करितात ते अल्पलोकांच्या लहरीचे समाधान करण्याकरिता नव्हे. बहुजनसमाजास जर त्यापासून सुख होण्याची आशा असेल तरच विशेष प्रकारच्या कायद्यास लोकसत्ताक राज्यातील लोक मत देतात. एकसत्ताक राज्य असल्यास अप्रिय कायद्याच्या योगाने असतोपजन्य बड उत्पन्न होण्याचा संभव असतो, निदान आमच्यासारखे लोक असल्यास तसल्या कायद्याचा उपयोग होत नाही.

*कायदा मागण्याचा अर्ज.

हिंदुलोकांच्या सामाजिक रीतिभाती कायद्यानें बदण्याच्या भानगडीत आपण पडत नाहीं असे हिंदुस्थानसरकारनें मागे मलबारी शेटजीस उत्तर दिलेलें आमच्या वाचकास आठवत असेलच. तेव्हापासून काही वेळ गम खाऊन व अनाथ हिंदु-भगिर्नीबद्दल आपली कीव पुनरपि कोणत्या तऱ्हेनें सरकारापुढे व इंग्रज लोकापुढें आणावी याचा विचार करून आता शेट मलबारी प्रभृति मंडळी कंबरा बाधून हिंदुसमाजरचनेचा बळकट व जुनाट किल्ला सर करण्यास उद्युक्त झाली आहे. या-वेळची यांची तयारी मागच्यापेक्षा भिन्न आहे हे सागावथास नकोच. पत्रावरपत्रें व मतावर मते गोळा करून निभाव लागत नाहीं हे पूर्वीच्या अपयशावरून या मंडळीच्या मनात पूर्णपणे वागत आहे. तेव्हा यापेक्षा आता काहींतरी नवी युक्ति काढिली पाहिजे असे वाटून किंवा दुसऱ्या अशाच काही कारणामुळे या सुधारणासैन्याचे म्होरके प्रकृतीस थारेपालट करण्याकरिता इंग्रज लोकांच्या जन्मभूमीस गेले होते तेवढ्या मुदतीत त्यानीं खुद्द विलायतेतील कुलीन गृहस्थ व स्त्रिया यांच्यापुढें आर्यभगिनीच्या तर्फेने रड गाऊन मिशनरी लोक ज्याप्रमाणे आमच्या धर्मोन्नत्यर्थ तिकडून पैसा आणितात, त्याचप्रमाणें आमच्या समाजरचनेच्या किल्ल्याच्या बळकट भिती पाडण्याकरिता कायद्याच्या सुरंगाची थोडीबहुत दारू शेटसाहेबानी तिकडे संपादन केली आहे, आणि आपल्या हिंदुस्थानातील सच्छिष्यास असे आज्ञापत्र धाडिले आहे की, “ बाबानो ! पहा, मी तुमच्याकरिता व तुमच्या अनाथ स्त्रिया-

करितां जिवापाड श्रम करून खुद्द राघोबादादा पेशवे यांसही जी मदत संपादण्यास महाप्रयास पडले, ती आपोआप तुमच्या घरीं आणिली आहे. आता सर्व भिस्त तुमच्यावर आहे. तर उठा व उद्योग करा म्हणजे माझ्या हातास बळकटी येईल.” शेटजींचें असें आज्ञापत्र आल्यावर इकडे त्यांच्या शिष्यांची काय अवस्था झाली असेल याची वाचकांनींच कल्पना करावी. मुंबई, पुणें येथे तर दहा दहा पाच पांच सुधारक एकत्र मिळून भराभर प्रायःव्हेट (खासगी) सभा व खलबतें चालू आहेत, व सर्वांनुमतें ‘ मलबारी शेटजींचे हात आता पुरे बळकट केले पाहिजेत ’ असें ठरत आहे ! आणि त्याचप्रमाणे काहीं नाहीं तरी निदान हल्लीं पिनलकोडा-तील ३७५ कलमात स्वस्त्रीशीं दहा वर्षांच्या आत समागम केल्यास जी शिक्षा आहे तिची कालमर्यादा वाढवून दहाच्या ठिकाणी बारा वर्षे करण्याबद्दल सरकारास लोकांकडून अर्ज पाठविण्याची तजवीज करावी असे ठरून गावोगांव सद्या घेण्याकरितां अजांचे मसुदेही पाठविण्यांत आले आहेत असे ऐकतो. तेव्हा आज या मसुद्याबद्दल आम्हीं येथे थोडासा विचार करणार आहों; लहानपणीं लग्न झालें असता बायको वयात आल्यावर तिला तें मोडता यावें वगैरे मलबारी शेटजींनीं जीं सुधारणेचीं नवीं तत्त्वे काढलीं आहेत त्यांबद्दल व तत्संबंधानें इकडील सुधारकांच्या चळवळीबद्दल मागाहून लिहूं.

या मसुद्याकडे पाहिलें असता पाहिला असा प्रश्न उत्पन्न होतो कीं दहाच्या ठिकाणीं बारा वर्षे करण्याकरितां आज अर्ज करण्याची काय जरूर आहे ? मलबारी शेटजींच्या एका स्नेह्यानें या विषयावर मागे एक निबंध लिहून तो शेटजींनीं आपल्या नेहमींच्या पद्धतीप्रमाणें सर्वांकडे मत घेण्याकरिता पाठविला होता. या निबंधकाराचें असें म्हणणें होते की इंग्लंडात सोळा वर्षांच्या आत कोणत्याही स्त्रीशीं समागम निषिद्ध आहे व त्याचप्रमाणे हिंदुस्थानातही असणे अवश्य आहे; परंतु या विषयावर त्या वेळीं जो वादविवाद झाला त्यावरून असे दिसून आले कीं, एखाद्यास कावीळ झाली म्हणजे त्यास जसे सर्व जग पिवळेंच दिसू लागतें, त्याप्रमाणेंच शेटजींच्या मित्राची अवस्था झाली होती. या कार्मीं कायद्यांत दिलेली वयाची यत्ता वाढली पाहिजे असा मनाचा ग्रह झाल्यामुळे या निबंधकारास इंग्रजी कायदाही तसाच भासूं लागला व त्यासरशी कागद व पेन घेऊन जी त्यानें आपल्या कल्पनेनें तसबीर काढिली तीही तशीच वठली. वस्तुतः पाहतां अशा तऱ्हेची हिंदुस्थानच्या कायद्यात सुधारणा करण्यास इंग्रजी कायद्याचा कोणताही आधार नाही, व ही गोष्ट प्रमाणसिद्ध असल्यामुळे सुधारकांसही ती पुढें ग्राह्य करावी लागली. हल्लींच्या मसुद्यांत इंग्रजी कायद्यावर फारसा जोर दिलेला नाही, तथापि सरतेशेवटीं “ पिनलकोडांतही सुधारणा केली असतां आमचा कायदा इंग्रजी कायद्याशीच नव्हे तर एकंदर लोकरीतांसही जुळून राहिल ” असें म्हटलें आहे. कोणतीही गोष्ट एकदा मनात शिरली म्हणजे मग ती खोटी असली तरी निघण्याची किती मारामार पडते याची थोडीशी कल्पना यावरून करिता येईल.

आतां मसुद्यांतील इतर मुद्यांकडे वळूं. वर आम्हीं दर्शविलेंच आहे कीं, अशा तऱ्हेची कायद्यांत सुधारणा करण्याची आज कांहींएक जरूर नाही. यावर कोणी असें विचारतील कीं, नुकतीच कलकत्थांत घडलेली फुलमनी बाईची हकीकत वाचून तरी आमच्या मतांत कांहीं फेरफार झाला आहे कीं नाही ? अर्जाचा जो मसुदा गांवोगांव पाठविण्यांत आला आहे त्यांत असें लिहिलें आहे की ' हिंदुस्थानच्या दोन इलाख्यांत लहान मुलींवर बलात्कार केल्याचें १०० वर्षांत ४० खटले कोर्टांपुढें आले आहेत व त्यांत कित्येक मुली बळीही पडल्या आहेत. तेव्हां हा राक्षसी प्रकार बंद करण्यास कायद्याचा कांहीं तरी प्रतिबंध नको काय ? सकृद्दर्शनी या प्रश्नांत काहीं महत्व असावें असें एखाद्यास वाटण्याचा संभव आहे; परंतु जरा विचार केला असतां त्यातील पोकळपणा तेव्हांच नजरेस येईल प्रथमतः शंभर वर्षांत दोन इलाख्यांत अशा मासल्याचे ४० खटले होणें म्हणजे कांहीं फार भयंकर स्थिति नाही. खुनाची संख्या याहीपेक्षां जास्त असते, पण तेवढ्यावरून सर्व हिंदु बोक खुनी आहेत असे ज्याप्रमाणें सिद्ध होत नाही त्याचप्रमाणें वरील उदाहरणांवरून लहान मुलींवर बलात्कार करण्याची लोकांस संवयच आहे असेही मानता येणार नाही. बरे हें जे ४० गुन्हे झाले म्हणून म्हणतात त्यातील सर्व आरोपीस कायद्याप्रमाणें शिक्षा झाली आहेना ? मग आतां नवीन कायदा कशाला ? हल्लींच्या कायद्यानें जी शिक्षा ठेविली आहे ती व लोकलज्जा याचे आज ज्यास भय वाटत नाही, तो नुसता दोह्यांच्या ठिकाणीं पांच वर्षे शिक्षा कायद्यात वाढविल्यानें कांहीं जास्त विचारी होईल काय ? होईल असें आम्हांस वाटत नाही. तर मग कायद्यात फेरफार कशास पाहिजे ? फुलमनीच्या खटल्यात नामदार बुइलसन साहेब यांनीं नवव्यास शिक्षा देताना जो ठराव सांगितला त्यांत स्पष्ट असें सांगितले कीं, " हल्लींच्या पिनलकोडाप्रमाणे दहा वर्षांच्या आंतील स्वस्त्रीवर नवव्यानें बलात्कार केल्यास जबर शिक्षा आहे, इतकेंच नव्हे तर पुढेही समागमापासून जर बायकोस इजा होईल तर त्यासही कायद्यांत शिक्षा सांगितली आहे. " अशा तऱ्हेनें हल्लींच्या पिनलकोडाचा अंमल चालत असता कोणत्या तरी मिष्ठानें सरकाराने एकदा या प्रकरणात हात घालावाच असा जो आमच्या सुधारकांचा उद्योग सुरू आहे त्यांतील हेतु काय असावा याची आम्हांस तरी कल्पना करता येत नाही. इंग्रज लोकांतील घटस्फोटाचे वार्डट वार्डट खटले कोर्टांपुढें येतात त्यावरून त्यांच्यामधील विवाहपद्धति बरीच दोषाई असावी असें भर समाजांत बोलल्याबद्दल प्रोफेसर जिनसीवाले यांच्यावर ज्या लोकांनीं गहजब करून सोडिला, त्यांनींच आमच्यांत पोरीवर बलात्कार केल्याचीं कांहीं उदाहरणें सापडतात येवढ्यावरून आमच्या राष्ट्रास दोषी ठरवावें व कायद्यांत फेरफार करण्याकरितां आम्हांस सरकारांत अर्ज करण्यास सागावें, यापेक्षां आमच्या हतवीर्यतेचा दुसरा पुरावा तो कोणता ? इंग्रज लोकांसंबंधानेंच जर असें कोणी अनुमान काढिलें असतें तर त्याची त्या लोकांनीं काय दशा केली असती बरें ?

अर्जातील आणखी मुद्दा असा आहे की, यम, पराशर वगैरे संस्कृत धर्मग्रंथांत व सुश्रुतादि वैद्यकग्रंथांत जो आचार आहे तोही कायद्याची सुधारणा करण्यास अनुकूल असाच आहे, तेव्हा सरकाराने कायद्यांत फरक केला असतां कोणत्याही रीतीनें धर्मांत हात घातल्याचा सरकारावर आरोप येणार नाही. या मुद्द्यावर आमचें इतकेंच म्हणणें आहे की, यम व पराशर हे शोधून पाहता त्यात आम्हांस तर मसुद्यांत लिहिल्याप्रमाणें एकही वचन आढळले नाही. फक्त सुश्रुतांत एके ठिकाणीं “पंधरा वर्षांच्या आतील स्त्रियेस मूल झालें असता तें जगत नाही किंवा दुर्बळ होतें.” असें लिहिले आहे. पण येवढ्यावरून अर्जातील मजकुराचें पुष्टीकरण कसें होतें ते आम्हांस समजत नाही. लहान मुलामुलींचा शरीरसंबंध लवकर न होऊं देणें हा भाग गृहव्यवस्थेतील आहे. त्याचा व घोडनवऱ्यानी आपल्या अल्पवयस्क बायकोवर बलात्कार करूं नये याचा संबंध काय ? वर जे चाळीस खटले सांगितले त्यात दहा वर्षांची मुलगी व १४ किंवा १५ वर्षांचा मुलगा अशी उदाहरणे किती सांपडतील ? मुलींच नाही म्हटले तरी चालेल. परंतु एवढा मोठा भेद मसुदा गावोगांव पाठविणाऱ्या मंडळीच्या लक्षात येतो कशाला ? सुधारक म्हणवून घेण्यात सुवारकाच्या कपूत मोडण्यात ज्यास भूषण वाटते किंवा परभारेच्या परभारे सुधारणा होत असता ती घडवून आणण्यात ज्याचा पाय सदैव पुढे असतो असे सुधारकाप्रणीही जर एक बायको मेल्यानंतर तिचे दिवस होण्यापूर्वीच वयाच्या अंतराकडे न पाहता आपली नात शोभेल अशा दहा वर्षांच्या पोरीशीं लग्न लावण्यास तयार असतात, व असा घोडविवाह करूनही फिरून समाजात हिडण्यास, फिरण्यास किंवा सुधारणेच्या अघळपघळ गोष्टी बोलण्यास त्यास दिक्त वाटत नाही, तर ते या गोष्टीकडे कशास लक्ष देतील ? परंतु लोकानीं तरी निदान या गोष्टीचा अवश्य विचार केला पाहिजे. चोरास शिक्षा व्हावी हे रास्त आहे, परंतु तत्पूर्वी चोर कोण याचा जसा निर्णय होणें अवश्य आहे, तद्वत्च या प्रकरणींही जे गुन्हें घडतात असे मसुदाकाराचें म्हणणे आहे त्यांत गुन्हेगार कोण व त्यांचा प्रतिकार करण्यास हल्लींच्या कायद्यांत फेरफार पाहिजेच असल्यास तो कोणता याचा प्रथमतः नीट विचार झाला पाहिजे. हल्लीं जो मसुदा आमच्यापुढे आहे यात अशा तऱ्हेचा बिलकूल प्रकार नसून उलट “अशा तऱ्हेचे गुन्हे घडतात;—कारण बालविवाह;—अतएव ‘अनापुत्रं बलिं दद्यात्’ या न्यायाने पिनलकोडात अवश्य सुधारणा केली पाहिजे.” अशाच मासल्याचा कोटीक्रम आढळतो. तेव्हा लोकांस आमची इतकीच विनंति आहे कीं वरील अर्जावर सव्हा करण्यापूर्वी खरे “चोर” कोण याचा नीट विचार करून मग त्यानीं जें करणें असेल तें करावे.

तुळशीबागेंतील सभा*

आमंत्रणपत्रिका

येत्या रविवारी म्हणजे तारीख २६ माहे आक्टोबर सन १८९० रोजी मि. मलबारीशेट वगैरे लोक यांच्या म्हणण्यावरून सरकारने कायदा करून किंवा अन्य तऱ्हेने आमच्या पूर्वापार चालत आलेल्या सामाजिक रीतिभातीत हात घालूं नये, असा सरकारास अर्ज करण्याकरिता पुणें येथील लोकाची तुळशी बागेंत संध्याकाळीं ४ वाजता सभा भरविणार आहोत; तर त्या वेळीं सर्वांनी येण्याची अवश्य मेहरबानी करावी. मित्ती आश्विन शुद्ध १० शके १८१२

| | |
|--------------------------|--|
| रंगराव विनायक पुरंधरे. | राम दीक्षित आपटे. |
| खंडेराव विश्वनाथ रास्ते. | बळवंतराव रामचंद्र (ऊर्फ बाळासाहेब नातू). |
| कृष्णशास्त्री राजवाडे. | महादेव वासुदेव बर्वे. |
| भाऊ मनसाराम नाईक. | काशिनाथ निळकंठ खाजगीवाले. |
| नारायण भिकाजी जोगळेकर. | नरहर बाळकृष्ण पराजपे. |
| वामनशास्त्री मराठे. | |

प्रतिसूचना.

वे. शा. महामहोपाध्याय रामशास्त्री आपटे व तुळशीबागेंत ता. २६ अक्टोबर सन १८९० रोजी सभा भरविणारी मंडळी यासः—

विनंति विशेष. आम्हीं खालीं सहा करणारे लोक पुढे लिहिल्याप्रमाणे विनंति करित आहों, इकडे आपलें लक्ष जावे.

१. मि. मलबारी यांच्या सूचनेप्रमाणे सामाजिक गोष्टींत सरकाराने हात घालूं नये अशी विनंति सरकारास करण्याचा जो ठराव सभेत होणार आहे, त्या-विषयी आमचे कांही म्हणणें नाही.

२. आमच्यातील सामाजिक गोष्टीत हल्लीच्या काळास अनुरूप अशा सुधारणा केल्या पाहिजेत, असें महामहोपाध्याय रामशास्त्री आपटे यांनीं सांगली येथें सांगितल्याचें केसरीपत्रात प्रसिद्ध झालें आहे, त्याप्रमाणें तुळशीबागें-तल्या आजच्या सभेंत ठराव पसार करणें जरूरीचें आहे.

३. पुण्यातील आर्यधर्मप्रकाशक सभेच्या वतीनें महामहोपाध्याय राम-शास्त्री यांनीं मेहेरबान वेडरबर्नसाहेब यास संस्कृत भाषेत लिहिलेलें जे मानपत्र दिलें, त्यांत कन्याविक्रय, बालावृद्धविवाह व बाल्यविवाह या तीन बाबतींत निर्वेध करण्याविषयीं मजकूर होता, त्याप्रमाणें हिंदुसमाजाजाने निर्वेध करणें;

त्याचप्रमाणे रा. व. नारायण भिकाजी जोगळेकर यांनी हिंदुस्थानसरकाराकडे पाठविलेल्या अभिप्रायांत म्हटल्याप्रमाणे विधवांचें वपन बंद करणें; आणि विधवांच्या पुनर्विवाहास परवानगी देणे इत्यादि सुधारणा घडवून आणण्याविषयी तुळशीबागेंत जमणाऱ्या हिंदुसमाजानें ठराव करावा हें योग्य आहे.

४. वरील सूचनांचा विचार हिंदुसमाजानें आपण होऊन न करिता कायदा करूं नये येवढाच मात्र सरकारास अर्ज करणें म्हणजे वे. शा. महामहोपाध्याय रामशास्त्री आपटे यांनी म्हटल्याप्रमाणे काळावर नजर न देतां वागल्याप्रमाणे होईल.

५, आजच्या सभेपुढे ज्या सूचना येणार आहेत, त्यात वर लिहिलेल्या गोष्टींचा विचार केला असेल तर उत्तमच आहे; परंतु त्या सूचनांत वरील गोष्टींचा उल्लेख नसेल तर आम्ही पुढील प्रतिसूचना आजच्या सभेपुढें आणणार आहों. “ आमच्या समाजातील बाल्यविवाह, कन्याविक्रय, बालवृद्धविवाह, विधवाकेशवपन, इत्यादि गोष्टींपैकी प्रत्येक बाबतीत समाजाकडून आपण होऊन सुधारणा करण्याचे संबंधानें आजपासून सहा महिन्यांचे आंत सभा भरवून राजा पुतान्यांतील लोकानीं जसे नियम केले आहेत तसे नियम आपले लोकस्थितीचे मानाने करण्याची व केलेले नियम अमलात आणण्याची झटून तजवीज करूं. ”

पुणें, ता. २६ आक्टोबर सन १८९० इ.

| | |
|-------------------------|------------------------------|
| लक्ष्मण कृष्ण नूलकर, | गोविंद वासुदेव कानिटकर, |
| बी. ए., एल्. एल्. बी. | बी. ए. एल्. एल्. बी. |
| रामचंद्र भिकाजी जोशी. | सिताराराम गणेश देवधर. |
| अनंत दामोदर टेभे. | हरी नारायण आपटे. |
| नारायण सखाराम पानसे. | नारायण बळवंत सरंजामे, बी. ए. |
| वैजनाथ काशिनाथ राजवाडे. | एकनाथ महादेव पुराणिक. |
| एम्. ए. | अण्णाजी गणेश वागीकर. |
| रामचंद्र मोरेश्वर साने. | गंगाधर वामन लेले, बी. ए. |
| महादेव दिनकर जोशी. | वामन विष्णु केले, वकील. |
| प्रभाकर गोविंद नरवणे. | वासुदेव गणेश जोशी. |

काशिनाथ बळवंत रानडे.

उपप्रतिसूचना.

रा. रा. तुळशीबागेंतील सभासद यांस,

आपण आज सामाजिक सुधारणेच्या कामीं सरकारनें कायदा करूं नये अशाबद्दल सरकारास अर्ज करण्याकरिता सभा भरविणार आह्वा, व त्यात वरील मजकुराचा अर्ज सरकाराकडे पाठविण्याकरितां लोकांपुढें आणणार आहां. सदरहू-संबंधानें आमची इतकीच विनंति आहे की, ज्यांस कायदा नको असेल त्यांचें

म्हणणें आपण सरकारास रीतीप्रमाणें कळवालच. परंतु जर कोणाचा काहींएक सुधारणा करण्याचा निश्चय असून त्याप्रमाणें करणारे त्यांस बरेच लोक मिळाले तर त्यांपैकीं जे वचन दिल्याप्रमाणें वर्तन करणार नाहीत, तर त्यांस सरकारातून कडक शिक्षा मिळावी, एवढ्याचबद्दल आमच्यातर्फें सभेपुढें ठराव आणून त्यास एका ज्ञातीचे निदान दीडशें दोनशें लोक मिळाल्यास त्यांच्या सहा घेऊन तो अर्ज सरकाराकडे पाठवून देण्याची तजवीज करावी. आजमितीस ज्या सुधारणा होणें इष्ट आहेत त्या—

- १ मुलीचें लग्न १६ वर्षांचे आंत करूं नये.
- १ वीस वर्षांचे आत मुलाचें लग्न करूं नये.
- १ पुरुषाचें लग्न ४० वर्षांपुढें होऊ नये.
- १ चाळीस वर्षांपुढे लग्न करणें झाल्यास विधवेशीं विवाह करावा.
- १ दारू पिणे बंद असावें.
- १ हुंडा घेण्याची चाल अजीबात बंद करावी.
- १ प्रातीचा दहावा भाग सार्वजनिक कामाकडे द्यावा.

[या मंडळीच्या कामी]

१ विधवेचें वपन करूं नये.

या सर्व गोष्टी ज्यास कबूल आहेत त्यांच्या सहा घेऊन वर लिहिल्याप्रमाणें करण्याची मेहेरबानी व्हावी.

कळावें, ता. २६ आक्टोबर १८९० इ०

बाळ गंगाधर टिळक.

गोपाळ रघुनाथ नंदरगीकर.

गोपाळ विनायक जोशी.

विष्णु अनंत पटवर्धन.

वासुदेव गणेश जोशी

विनायक त्रिंबक चिपळूणकर.

सिताराम गणेश देवधर.

रामचंद्र भिकाजी जोशी.

विनंति.

आजच्या सभेत समाजाची सुधारणा कायद्याच्या मदतीनेच करावी असे म्हणणाऱ्या मंडळीकडून अशी सूचना यावयाची आहे कीं समाजसुधारणेच्या कामी कायदा नको असें ठरविताना अमुक मुदतीच्या आत आम्ही अमुक अमुक सुधारणा करूं अशा प्रकारचें सभेनें बंधन करून घ्यावे. तशा प्रकारचें बंधन करून घेतल्यास ही मंडळी तितकी मुदतपर्यंत वाट पाहण्यास तयार आहे. मात्र बंधनाप्रमाणें समाजाकडून कृति न घडल्यास ते पुनः त्या मुदतीनंतर कायदा मागण्याची खटपट करतील. यावर माझी प्रतिस्वचना अशी आहे कीं कायद्याची मदत घेऊन साऱ्या समाजावर एकदम सुधारणा लादण्यापासून फायदा न होतां गैरफायदाच होण्याचा संभव आहे. तेव्हां ज्यांना सुधारणेची खरी कळ कळ आहे त्यांनीं पुढील सुधारणा अंमलात आणण्याबद्दल आपल्या स्वतःसच

बांधून घ्यावे. या बांधनाप्रमाणे वर्तन न घडल्यास तो अपराध समजून त्याबद्दल कडक शिक्षा ठेवण्याविषयी सरकारास विनंति करावी. ही शिक्षा जे हा मार्ग स्वीकारतील तेवढ्यांपुरतीच लागू होईल. अशा प्रकारे जो आपल्यास बांधून घेण्यास तयार असेल त्यानें सभेत आपलें नाव कळवावें. माझ्या मतें ज्या सुधारणा अवश्य आहेत त्या खालीं नमूद केल्या आहेत.

१. मुलीचें लग्न १६ वर्षांचे आत करूं नये.
२. वीस वर्षांचे आत मुलाचे लग्न करूं नये.
३. पुरुषाचे लग्न ४० वर्षांपुढे होऊं नये.
४. चाळीस वर्षांपुढें लग्न करणे झाल्यास विधवेशीं विवाह करावा.
५. दारू पिणें बंद असावें.
६. हुंडा घेण्याची चाल अजाबात बंद करावी.
७. प्राप्तीचा दहावा भाग सार्वजनिक कामाकडे द्यावा.

[या मंडळीच्या कार्मीं.]

८. विधवेचें वपन करूं नये.

सदर सुधारणा अंमलात आणल्या असता जातिवाहेर टाकण्याची भीति बाळगण्याचें बिलकुल कारण नाहीं. २०० लोकांच्या सहा मिळाल्या म्हणजे तेवढ्यापुरताच सरकारापाशीं कायदा मागण्याची तजवीज करता येईल. सहा कुटुंबांतसल व ब्राह्मण जातीच्या लोकांच्याच मुख्यतः पाहिजेत.

समाजाच्या सुधारणेस कायदाच पाहिजे असें प्रतिपादणाऱ्या लोकांपैकीं अशा रीतीने आपल्या स्वतःस कायद्याने बांधून घेणारे किती आहेत हें कळण्यास हा मार्ग उत्तम आहे.

ता. २६ माहे आक्टोबर सन १८९०.

बाळ गंगाधर टिळक.

स्फूर्त *

तुळशीबागेतील जमी सभेच्या विषयास उद्देशून जो पत्रव्यवहार, प्रति-सूचना व उपप्रतिसूचना या रूपाने पुढें आला त्याचा आता स्वतंत्र तऱ्हेने विचार करण्यासाठीं गेल्या शनिवारीं सायकाळी जोशी हॉलमध्ये सभा भरली होती. तिचा निर्दिष्ट उद्देश मुख्यतः रा० टिळक याच्या उपप्रतिसूचनेसंबंधें वादविवाद करण्याचा होता, व काहीं सुधारकाग्रणी तुळशीबागेंत हजर असून ज्यास आपलीं मतें दर्शित करतां आलीं नाहींत त्यांस मोकळेपणे व निर्धास्तपणें आपले विचार कळविता यावे हेंही इष्ट साधावयाचे होते, कीं तेणेंकरून उभयपक्षांच्या म्हणण्याचा

पूर्ण विचार होऊन काहीं तडजोड पडावी. सभेचे अध्यक्षस्थान ऑनरेबल राव-बहादुर नूलकर यानी पतकरलें होतें.

अध्यक्षांच्या परवानगीने रा० टिळक यानी आपल्या आठ सूचनांसंबंधी उपक्रम केला त्याचा मतलब येणें प्रमाणे:—आपल्या समाजाची सुधारणा करण्यासाठी वाक्पाडित्य फार झालेले आहे. तथापि सुधारणा करावयाची ती कोणाची अशा प्रश्नाचा विचार करताना आपणाला जनसमूहाची सुधारणा करावयाची हें बीज आहे. याकरिता सुधारणेसाठी जनसमूहाची व आपली ताडतोड करण्याचा प्रयत्न केल्यास सुधारणा होणे इष्ट नाहीं. ह्यास उदाहरणे हीच की, पुनर्विवाहा-सारख्या निर्धिवाद सुधारणा इष्ट असून बहुतेक सुधारकास त्या आपल्या कुटुंबात अमलात आणणे अशक्य वाटत आहे. याकरिता सुधारणा ही ज्याची त्यानें सुरू करून आपल्या उदाहरणाने दुसऱ्याचे मन वळविण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे. नाहीपेक्षा रिकामे शब्दपाडित्य करण्याचा काहीएक उपयोग नाही. तर सुधारक लोकाकडून सर्व लोकास सुधारण्याचा उद्देश धरून काय सुधारणा शक्य आहेत व त्या कोणत्या साधनानी अमलात आणाव्या याचा विचार करावा. माझीही मते सुधारणेस अनुकूल आहेत परंतु ती ह्याच तत्त्वास अनुसरून आहेत व म्हणूनच तीं आपणास अमलात आणण्यासारखी आहेत, असा माझा समज आहे. त्या तत्त्वाचें स्वरूप अशा तऱ्हेचें आहे की, समाजात सहज करण्यासारखें काय आहे, काहीं अडचणी सोसून अथवा टाळून करण्यासारखे काय आहे व मुळीच करता येणार नाही असे काय आहे? म्हणजे आपल्या धर्मशास्त्रास अनुसरून कार्याकार्य गोष्टीस विधि, विकल्प व निषेध अशा तीन बंधने घालता येतील. यात ज्या गोष्टी निषिद्ध मानलेल्या आहेत त्या मुळीच करावयाच्या नाहीत. परंतु ज्याविषयी विधान आहे अथवा प्रायश्चित्त आहे त्या करण्यास जातिभ्रंशाचा प्रत्यवाय येऊ शकणार नाही; व ते धर्मसमजुतीच्या उलट जाणेंही होणार नाही. असा विचार करून धर्मशास्त्राचें उलंघन न करिता ज्या गोष्टी आपणास करिता येतील त्या आपण पुढे माडाव्या व त्याचा आपण विचार करून त्यासबंधें काही निकाल द्यात असल्यास पहावा असा आजच्या सभेचा उद्देश आहे. आता ह्यातील दर-एक सूचनेस निरनिराळा विचार करणे जरूर आहे. मुलीचे लग्न सोळावे वर्षी केले म्हणजे ज्या कायद्यासंबंधाने वादविवाद चालू आहे त्याची आपणास जरूरच राहाणार नाही. आपल्या शास्त्रामध्ये जें वय घालून ठेविले आहे त्याचा मुख्य उद्देश हा आहे की, अमुक एक वयाच्या इयत्तेपुढे सामान्यतः मुलींच्या शरीरावर यौवनलक्षणें दिसूं लागतात. ती लक्षणे दिसूं लागण्याच्या सुमारास विवाहकाल योग्य म्हणून शास्त्र समजते. या वयापुढे ऋतुप्राप्तीपर्यंत कोणत्याही काळी लग्न करण्यास हरकत नाहीं. ऋतु प्राप्त झाल्यास विवाहकाली शांति केल्यानें धर्मसंबंधी अडचणीचे निरसन होतें. हा प्राचीन शास्त्रसंबंधी विचार व अर्वाचीन समाज-स्थितीसंबंधी विचार एकत्र केले म्हणजे ज्यास प्रवर्तक व्हावयाचे आहे त्यानी

१६ वर्षांची यत्ता करण्यास काही बाध येत नाही. सर्वास आवडेल तर १५ अगर १४ ची जरी इयत्ता झाली तरी माझी हरकत नाही. इतकेंच की, एकदा इयत्ता ठरल्यावर ती ठरविणाऱ्या मंडळीने स्वतः ती अमलात आणण्याची सुरवात केली पाहिजे. दुसऱ्या सूचनेसबधी फारसा वादविवाद करणे जरूर नाही; कारण त्या विषयावर म्हणण्यासारखा मतभेद नाही. हवे असल्यास दोन वर्षे कमी केली तरी माझा त्याबद्दल आग्रह नाही. मुख्य गरीरसंरक्षणाचे तत्त्व लक्षात ठेविलें म्हणजे दुसऱ्या सूचनेवर जबर आक्षेप येण्याचा संभव नाही. आता तिसऱ्या व चवथ्या सूचनेविषयीही माझा विशेष ऊहापोह करण्याचा विचार नाही. इतकेंच की ४० अगर सर्वास पसंत वाटल्यास ४५ वर्षांपुढे लहान मुलीशी लग्न करणे हे योग्य नाही. दारू पिण्यासबधी मला असे वाटते की हे व्यसन इंग्रजी शिक्षणापासून आम्हांमध्ये शिरले आहे. त्याबद्दल आपण आपली सुधारणा करणे अत्यंत जरूर आहे. Temperance Associations 'बेतानें पान करणाऱ्या मंडळ्या' करण्यात हांशील नाही. अजिबात दारू पिणे बंद झालें पाहिजे. बालविवाह करूं नका असे म्हणणारे जे लोक आहेत त्यातच मुख्यत्वे मद्यपी सापडतात, तेव्हा त्यास माझे असे म्हणणें आहे की रूढिबलाने दृढ झालेला बालविवाह रूपी दुराग्रह मनातून काढून टाकण्याबद्दल इतरास उपदेश करण्यापेक्षा आधी आपल्या स्वतःवर आलेले व्यसनपाश काढून टाकण्याचा निश्चय करा म्हणजे तुमच्या उपदेशासही बळकटी येईल. माझे मुख्य मत हेच की कोणतीही सुधारणा करणे ती तत्त्ववर्तकानी आधी केली पाहिजे. दारू पिण्याचे दुष्ट परिणाम आपणास चोहोकडून ऐकू येतात. त्या व्यसनापासून आपल्या सुधारकानी पूर्णपणे अलिप्त असले पाहिजे. तसेच या तत्त्वाचा लोकामध्ये प्रसार करण्याकरिता मिशनरी लोकांच्या संस्थेप्रमाणे एक संस्था करण्यासाठी आपल्या प्रांतीचा काही एक अंश-आकडा ठरविणे मंडळीकडेच आहे-देत जाणे जरूर आहे. त्याचे योगाने देशात ठिकठिकाणी सदरहू सुधारणेस लोकमत अनुकूल करण्याचा प्रयत्न करावयाचा, व स्वतःच्या उदाहरणाने, अशा प्रयत्नाने व त्यापासून होत चाललेल्या फायद्याच्या निदर्शनाने, सुधारणेचें पाऊल पुढें पाडावयाचें. अशा रीतीने विचार करून शेदोनशे जी काय मंडळी तयार असतील त्यांनी आपल्या सहा देऊन आपणास सदरहू सुधारणा अमलात आणण्याविषयी बाधून घ्यावें व आपण केलेले नियम आपल्या मंडळीवर निर्बाध वजाविले जाण्याबद्दल सरकाराकडून आपले नियम नोंदवून घ्यावे अशा तऱ्हेने लोकवर्तमानांचे काम आज हजारों वर्षे ब्राह्मण करीत आले आहेत, व इंग्रजी शिक्षणानें तेच काम विशेष चांगल्या तऱ्हेने आपण करू लागल्याशिवाय इंग्रजी शिक्षणानें आपली भंने प्रकाशित झाली असे मी समजणार नाही. असे भाषण झाल्यावर ऑनरेबल रावबहादूर रानडे यानी सुमारे पाऊण तासपर्यंत फार मनोवेधक व सप्रेम भाषण केले. त्यांतील मतलब असा की— हा वाद उपस्थित झाला आहे

तो आजकालचा नव्हे. रा० टिळकानीं ज्याप्रमाणे ४१५ वर्षे या गोष्टीचा विचार केला आहे तसाच आज सहासात वर्षापूर्वी या गोष्टीचा मद्रासेकडे, गुजराथेमध्यें विचार झालेला आहे, व रा० टिळकानीं ज्या सूचना आणल्या आहेत त्याप्रमाणे काहीं अमलांत आणण्यासाठीं मंडळी स्थापन होऊन सुधारणेस सुरुवात करून पुढे अनिश्चय उत्पन्न होऊन ती मंडळी विस्कळीत झाली. या प्रत्येक सूचने-संबंधी विचार करणे हें नवीन नाही. आम्ही काही मंडळींच्या साहाय्यानें अशाच सहा गोळा करण्याचा प्रयत्न आज एकसारखा दीड वर्ष चालविला आहे. त्यात जे आकडे मिळाले आहेत त्यावरून टिळकाच्या सूचना पसत पडणारे लोक फारच थोडे सापडतील असे आमचें अनुमान आहे. नंतर बरेच आकडे सागून राव-बहादुरानी आपले म्हणणे प्रतिपादित केले, व रा० टिळकानी जी सुधारणेची पायरी धरली आहे ही आम्हाविरुद्ध नाही इतकेच नव्हे तर ते आमच्याच पक्षाकडले आहेत असे आता आम्हास स्पष्ट समजले. आता टिळकाचें मत गेल्या वर्षी सामाजिक परिपदेत सांगितलेल्या मनाहून निराळें झालें ही गोष्ट फार आनंदाची आहे; का की पूर्वी कायदा नको असे त्याचे म्हणणे असून हल्ली तें मत बदलले आहे. आता सुधारणेसंबंधी लोकस्थितीचा विचार केला म्हणजे चार पायऱ्या दृष्टीस पडतात. एक धर्मगुरूचे साहाय्य इच्छिणारे, दुसरी जातीच्या मंडळीवर अवलंबून बसून सुधारणेचा प्रयत्न करणारे, तिसरी अशद्रां सर्वोची सुधारणा करण्यासाठी कंपनीचा कायदा आपणास लावून घेणारे व चवथी सर्वस्वी कायदा मागणारे. हे सर्व मार्ग वस्तुतः पहाता एकच आहेत. आता कोणी आमच्या मार्गांत फार मागसलेले आहेत, कोणी त्याहून पुढे आलेले आहेत. तिसऱ्या पायरीस पोहोचलेला त्यास तर मी आपला सखाच समजतो, व चवथ्या पायरीस पोहोचलेला मनुष्य व मी एक-अभिन्नच-आहो. नंतर टिळकाच्या सूचनातील आकड्याचा विचार करून त्यावर काही समविषय मते देऊन एकरूप सूचनाचें त्यानी मनापासून अभिनदन केले. नंतर रा. सा. नामजोशी यानी थोडे परंतु फार सुरस व काहीसे सामान्य-लोकच्छेदानुवर्तनप्रतिपादक भाषण केले. नंतर रा० साने यानी एक आक्षेप बाढून त्याविषयी उल्लेख केल्यावर अध्यक्षानी सभेचें काम लावले म्हणून बोलणाराची सख्या पाहिली. डॉक्टर भाडारकरानी एक प्रश्न असा घातला कीं, रा. व. रानडे व रा. टिळक यांचें ऐकमत्य आहे असा माझा समज झाला आहे, तर यात मतभेद आहे असे मानल्यास तो कोणता आहे व त्यावर उभयताकडून काहीतरी चर्चा होऊन त्याची एकवाक्यता होण्याचा संभव आहे की नाही? नंतर रा. टिळक यानी रा. व. रानडे यांच्या व आपल्या मतात भेद सांगितला कीं, रा. व. चें म्हणणे केवळ रूढ होत असलेल्या आचारास बंधन घालण्यापुरतेच आहे व त्याने जरी थोडाबहुत कार्यभाग झाला तथापि रूढीचें पाऊल पुढे पडण्यास त्यात काही तजवीज केलेली नाही व माझ्या सूचनेत केलेली आहे. रा. व. नीं मत बदलण्याचा आरोप आपणावर आणिला होता तोही

चुकीचा असून सामाजिक परिषदेचा रिपोर्ट खोटा आहे असे टिळकांनी सांगितले. नंतर अध्यक्षाने सुमारे तासभर भाषण झाले की कोणताही विचार नवा नाही, जुन्या काळांत त्याविषयी काहीतरी चर्चा झालेली असतेच. सव्वीस वर्षांमागे ह्याच प्रकारच्या सूचना आल्या होत्या, परंतु आजच्या सभेचा एकंदर वेत काय आहे हे आधी आपण ठरविले पाहिजे. मला आजचा वेत समजला नाही, सबब व्याख्यात्याच्या नात्याने या विषयास धरून मी आपले मुख्य आक्षेपरूप विचार कळवितो. त्यात त्यांनी मुख्य मुद्दा असा दाखविला की ह्या वयाच्या इयत्तेसंबंधी कायदा मागण्याची जी खटपट सुरू आहे ती मुळीच चुकीची नाही असे मी सिद्ध करू शकतो. ब्रह्मो-मध्ये अथवा नेटिव क्रिश्चियनमध्ये १४ किंवा १३ वर्षांची जी इयत्ता ही धर्म-संबंधाची नव्हे, तर केवळ शारीरिक विचाराची आहे, व त्यातच विचारास अनु-सरून सरकारने संभोगसंमतीची इयत्ता १० पासून १२ पर्यंत वाढविली असता तुमच्या धर्माच्या भानगडीमध्ये सरकार पडत नाही हे उघड आहे. आता माझे मत आपल्या समाजव्यवस्थेच्या भानगडीत सरकाराचा हात पडावा असे मुळीच नाही; तथापि सरकारच्या कायद्यात जर एखादी चूक असली तर ती दुरुस्त करण्याबद्दल खटपट करावी असा जर ह्या सूचनेसंबंधाने आक्षेप घेतला तर ते असंबद्ध दिसणार नाही. यावर त्यांनी फार विचारांचे व पोक्तपणाचे भाषण केले. त्यांतील मुद्दे फार लक्षात ठेवण्यासारखे आहेत, परंतु ते रा. टिळकांच्या सूचनांबद्दल केले नसल्यामुळे आम्ही आज येथे नमूद करित नाही.

सामाजिक सुधारणा. *

अवलोकन लेखमाला.

फुकट घ्या, वाचा आणि मनन करा !

आजच्या केसरीबरोबर सुमारे सवाशे दीडशे पानांचे बारीक टैपांत छाप-लेले जें पुस्तक जास्त टपालहंशील भरून फुकट वाटले आहे त्याचे श्रेय सर्वांशी आमचे मित्र रावसाहेब चिंतामणराव वैद्य एम्. ए. एल, एल, बी., शिंदे सरकारच्या राज्यांतील उज्जनी येथील डिस्ट्रिक्ट जज यांजकडे आहे हें प्रथमतः आम्ही मोठ्या संतोषाने व उत्साहाने वाचकास कळवितो. रा. वैद्य याचा विद्या-भ्यास मुंबई येथील एल्फिन्स्टन कालेजात झाला असून तेथे त्यांनी बरेच दिवस फेलोशिपचेही काम केले होते, व तेव्हापासून याच्या सहाध्यायी मंडळीत व कॉले-जात ह्यांनी कोणताही विषय हाती घेतला असता तो ते मोठ्या काळजांने व शांतपणाने विचार करून तयार करितात अशी ह्याची ख्याति आहे. त्याचप्रमाणे

रा. वैद्य हे आजपर्यंत सुधारणेच्या कोणत्याही पंथांत पडले नसल्यामुळे त्यांच्या बुद्धीत कोणत्याही प्रकारचा अभिनिवेश शिरला नाही. अशा त्रयस्थ व विचारी गृहस्थानें सुधारणेकरिता आजपर्यंत झालेल्या खटपटीबद्दल आपलें काय म्हणणें आहे हें आपला अमूल्य वेळ विशेषतः पैसा खर्च करून आम्हास कळविलें याबद्दल आम्हीं त्यांचे अत्यंत आभार मानिले पाहिजेत. रा० वैद्य याचा व आमचा कांहीं बाबतींत मतभेद असेल, परंतु त्यामुळे सुधारणेचा आजपर्यंतचा इतिहास व ती सिद्धीस नेण्याचे योग्य उपाय याचें इतकें सुरेख विवेचन करून तें आपल्या खर्चानें लोकांपुढें माडणाऱ्या गृहस्थाबद्दल आमचा यत्किंचित्ही गैरसमज होणार नाही इतकेंच नव्हे, तर त्याचें आम्ही नेहमीं अभिनंदनच करूं. आमच्यामते तर सुधारणेच्या खटपटीस जें कांहीं

नवीन वळण

लागावयास पाहिजे होतें त्याचा रा० वैद्य यांनीं पायाच घालून दिला असें म्हटल्यास चालेल. रा. वैद्य यास या विषयावर जे लेख लिहावयाचे आहेत त्यापैकी हा पहिला लेख आहे हें त्या पुस्तकाच्या मुखपृष्ठानरूनच वाचकांचे लक्षात येईल. रा. वैद्य यांचें असें मत आहे: सुधारणा होण्यास मुख्यत्वेकरून मध्यम व कनिष्ठ स्थितीच्या लोकांचीं मते प्रथमतः पालटलीं पाहिजेत व आपल्या शक्त्यनुसार बालविवाह, असंमतवैधव्य वगैरे विषयांवर आजच्या सारखीं दहाबारा पुस्तके फुकट वांटून या विषयाचें खरें स्वरूप लोकापुढे मांडावें असा त्याचा इरादा आहे; परंतु अशा तऱ्हेनें प्रत्येक विषयावर स्वतंत्र लेख लिहिण्यापूर्वी साधारण सर्व विषयाचा प्रथमतः ऊहापोह करणे जरूर होतें व त्याचप्रमाणे आजपर्यंत सुधारणेच्या कामी जे प्रयत्न झाले त्यांचा वृत्तांत व ते सफळ होण्याचीं कारणेही थोडक्यांत दाखविणें अवश्य होतें. तेव्हा या दोनच गोष्टींचा आजच्या पुस्तकात विचार केला आहे. वर्तमानपत्रांतून व व्याख्यानद्वारा या विषयाची आज पंचवीस तीस वर्षे चर्चा चालली आहे खरी; पण

सिंहावलोकन

न्यायानें सुधारणेची इच्छा आमच्या अंतःकरणांत जागृत होण्यास काय कारण झालें, बंगाल्यांत व मुंबईत तिचीं पहिली फले कोणत्या रूपानें प्रकट झाली, ईश्वरचंद्र विद्यासागर व विष्णुशास्त्री पंडित यानी या कामीं काय खटपट केली, खुद्द श्रीमच्छंकराचार्यांच्या समोर पुणें येथे जी मोठी अपूर्व शास्त्रीपरिषद् जमली होती तिचा अखेर काय परिणाम झाला, व सरतेशेवटी “पुराणांतील वागीं पुराणांत” याप्रमाणें किंवा “एखादें औषध किंवा वनस्पति नवीन असली म्हणजे तिचा प्रयोग एकदम मनुष्यावर केल्यास कदाचित् घात होईल म्हणून डॉक्टर लोक

त्याचा प्रयोग प्रथमतः जनावरावर करूं पाहातात,” त्याप्रमाणें सुधारणेच्या कामी दंड थोपटून जे पहिल्यानें एका प्रसिद्ध जोडण्याचा पुनर्विवाह लावण्यास तयार झाले होते, तेच स्वतःवरच तो प्रसंग आला असतां ‘अमक्यातमक्याची’ किंवा ‘अमकीतमकीची’ सबब सांगून एकामागून एक कसे मोकळे झाले व त्या कारणानें सुधारणा कित्येक दिवस कशी मागे पडली, याची थोडक्यांत पण विचारानें लिहिलेली हकीकत रा. वैद्य यांच्या लेखाशिवाय दुसरे कोठेही वाचकास सांपडणार नाही. बहिष्कागाचें भय हल्लीं कमी झालें आहे किंवा बहुधा नाहीच म्हटलें तरी चालेल; पण तीस वर्षांपूर्वीची स्थिति याहुन अत्यंत भिन्न होती पेशवाईचा अम्मल नुकताच संपला होता व ज्याप्रमाणें हल्लीं बहुतेक बुद्धिवान लोक इंग्रजी विद्यासंपन्न असतात तसा तेव्हा प्रकार नसून जुन्या मतातली विद्वान् व वजनदार अशी पुष्कळ मंडळी होती; अशा वेळीं दहा पांच नव्या मताचे लोक एके ठिकाणी झाल्याखेरीज त्याचे हातून कोणतीही गोष्ट घडवून आणण्याचें तर राहूंद्याच, पण बोलवत देखील नसे. ही स्थिति सुधारण्यास मोठा हिऱ्या करून पांच दहा मंडळी तयार झाली, पण जेव्हा त्यांजवरच ‘बोले तैसा चालें’ याप्रमाणें वागण्याचा प्रसंग आला तेव्हा एकमेकास हरप्रसंगीं जिवास जीव देऊन मदत करूं अशा शपथाआणा झालेली मंडळीही इसापनीतीतील दोन प्रवाशाप्रमाणें कोणी झाडावर तर कोणी विहिरित अशी दडून राहिली ! मग अर्थात्च या मंडळीचा परस्परांवरील भरंवसा उडाला व काहीचे तर वाकडेही आले ! इकडे जुन्या पक्षाचा बोज राहावयाचा, पण या नवीन मंडळीस सरकार थोडेंबहुत अनुकूल असल्यामुळे श्रीशंकराचार्यांचेही वजन राहात नाहीसें झालें. तात्पर्य, हल्लीं सामाजिक बंधने शिथिल झाली म्हणून जी ओरड चालली आहे तिचें बीजही रा. वैद्य यांनी दिलेल्या सुधारणेच्या खटपटीच्या इतिहासातच सांपडेल. यानंतर मि. मलबारी शेटजींनी सुधारणेचे जें पुनरुज्जीवन केले व दिवाणबहादुर रघुनाथराव यानी तें काम पुढे चालू ठेविले आहे, त्याचीही थोडीबहुत हकीकत रा. वैद्य यांनी दिली आहे, परंतु या सर्वोपेक्षा महत्त्वाचा भाग म्हटला म्हणजे हल्लीं आपण जे नाना तऱ्हेचे

सुधारणेचे मार्ग

काढले आहेत त्यांचा शातपणे या ग्रंथांत केलेला विचार होय. मि. मलबारी शेटजींची तुतारी सुरू झाल्यापासून कायद्याखेरीज सुधारणा शक्य नाही असें कित्येकांचें ठाम मत झालें आहे. कित्येक जण सुधारणेच्छुलोकांनीं निराळा समाज काढावा असे प्रतिपादन करीत आहेत. कोणास धर्माध्यक्ष पाहिजेत, कोणास उपदेश पाहिजे, कोणास आचरण पाहिजे आणि कोणास ल्यूथरसारखे स्वार्थत्यागी सुधारणाग्रणी पाहिजेत. अशा वेळीं या प्रत्येक विषयावर खिस्ती,

मुसलमानी व बौद्धधर्माचा प्रसार करणारांची भरपूर उदाहरणे घेऊन वर निर्दिष्ट केलेल्या उपायांपैकी किती साध्य आहेत व तेही कोठवर साध्य आहेत याचा शांतपणे व तिन्हाईतपणे कोणी तरी विचार करावयास पाहिजे होता, तो रा० वैद्य यांनी केला आहे. पुस्तकाच्या आरंभी जी अनुक्रमणिका दिली आहे ती वरवर वाचिली असतांही आमच्या म्हणण्याची सत्यता वाचकास कळून येईल. सुधारणे-वर अशा तऱ्हेचें पुस्तक मराठींत तरी आजपर्यंत प्रसिद्ध झाले नव्हतें, व रा० वैद्य यांनी मनांत आणल्याप्रमाणें याच तऱ्हेची विचारानें लिहिलेलीं जर दहावाग पुस्तकें एकापाठीमागून एक प्रसिद्ध होतील तर त्याच्या हेतूप्रमाणें खरोखरच निदान मध्यम प्रतीच्या लोकांत तरी कांही चळवळ झाल्यावांचून राहणार नाहीं. वर्तमानपत्रांतील लेख कांहीं विशेष प्रसंगास अनुलक्षून असल्यामुळे त्यांतील 'निवडक निबंधांत' ही हल्लींच्या पुस्तकाप्रमाणें परिपूर्णता येत नाहीं. करिता हें पुस्तक एकदां तरी सर्वांनीं—मग तो इंग्रजी शिकलेला असो वा नसो—समग्र वाचावें अशी त्यांस आमची शिफारस आहे. तसेच देशाची सुधारणा होणें जर इष्ट आहे तर प्रत्येकानें यथाशक्ति हस्तेपरहस्ते त्या कामास मदतही केली पाहिजे हें उघड आहे. रा० वैद्य यांनी आपल्या पहिल्या पत्नीस हा ग्रंथ अर्पण केला आहे व तिचे स्मरणार्थ या कामी पदरचे हजार दोन हजार रु. खर्च करण्याचा विचारही आहे; पण तेवढ्यानेच १०।१२ पुस्तकाच्या पाच पांच हजार प्रति छापून वाटण्याचा खर्च भागेल असें नाहीं. करिता सर्व खऱ्या सुधारणेच्छूनीं या सुधारणा-धर्मकृत्यास यथाशक्ति

द्रव्यद्वारा मदत करावी

व सुधारणेचीं तत्त्वे सर्व लोकांत प्रसिद्ध करण्याचें अंशतः तरी श्रेय घ्यावें, अशी आमची त्यास प्रार्थना आहे. त्याचप्रमाणे आमच्या बंधूनीही ह्या पुस्तकावर आपला अभिप्राय देऊन लोकांच्या नजरेस त्याची उपयुक्तता आणून द्यावी अशी त्यासही विनंति करून आज हा लेख संपवितों.

*सामाजिक सुधारणा कशानें होईल ?

रा० रा० चिंतामणराव वैद्य यांचें पुस्तक वाटल्यास आज पंधरा दिवस झाले. इतक्या मुदतींत ते बूक बऱ्याच महाराष्ट्र वाचकांच्या हातून गेलें असेल. तेव्हां त्यामधील विचार व मते याबद्दल विस्तारकरून आज विवेचन करण्यास कांहीं हरकत दिसत नाहीं.

रा० वैद्य यांचें पुस्तक वाचणाऱ्या गृहस्थांच्या लक्षात ही गोष्ट आलीच असेल कीं, सुधारणा इष्ट आहे कीं नाहीं याचा त्यांनीं कोठेंच ऊहापोह केलेला

नाहीं. कोणतेही भिन्न भिन्न असे दोन समाज एकत्र आले असतां एकाचे आचार-विचारांचा दुसऱ्यावर साहजिक जो परिणाम घडतो तसा इंग्रजी विद्येचा व रीती-भार्तांचा आमच्यांपैकी शिकलेल्या लोकांच्या मनावर परिणाम घडत आहे. हा आपणांवर घडत असलेला परिणाम बंद पडावा अशी ज्यांची इच्छा असेल, त्यांनीं एक तर इंग्रज लोकांस येथून हाकून देण्याची तजवीज केली पाहिजे अगर आपण मेलों व जग बुडालें, या न्यायानें स्वतःचें चंबूगवाळें आटपून हिमालयाच्या अत्युच्च प्रदेशा कीं जेथे इंग्रजांच्या विमानांचें वारेदेखील लागणार नाहीं, अशा प्रदेशां जाऊन राहिले पाहिजे. ही किंवा अशाच प्रकारची दुसरी काहीं तरी विन-तोड युक्ति काढल्याखेरीज पाश्चात्यविद्येने आपणांवर जे संस्कार घडत आहेत, ते नाहींसे करण्याची आशा राहिली नाहीं. सुदैवानें म्हणा अगर दुदैवानें म्हणा, हिंदुस्थान देश सर्व जगाच्या भोंवऱ्यात सापडून इतर देशांबरोबर त्यास आज-मितीस फिरावें लागत आहे, व राष्ट्राच्या शर्यतींत आपलें पाऊल मार्गें न पडण्याची आपण उमेद बाळगिली व हिमतीने व धैर्यानें ती गोष्ट सिद्धीस नेण्याचा प्रयत्न केला तरच आपण आपलें कर्तव्य बजाविलेंसें होईल. इंग्रजी सरकारांनीं किंवा मलबारी शेटर्जींसारख्या परजातीयांनीं त्या कार्मीं पडून काहीं उपयोग होणार नाहीं, हें म्हणणें निराळें आणि आम्हांला मुळींच काहीं हलावयास नको, आमची आहे तीच स्थिति चांगली आहे, हा पक्ष निराळा. आजचा आमचा लेख किंवा रा० वैद्य यांचें पुस्तक दुसऱ्या पक्षास उद्देशून लिहिलें नाहीं, हें उघड आहे. तथापि गैरसमज दूर होण्याकरितां या गोष्टीचा येथे उल्लेख करणें जरूर होते. ज्यांस आमच्या समाजांत काहींही सुधारणा व्हावयास नकोत असें वाटत असेल, त्यांच्या तर्फेनें कोणताही महत्त्वाचा मुद्दा पुढें आणता येणार नाहीं, असें आम्ही म्हणत नाहीं; परंतु सध्या तो पक्ष बाजूस ठेवून ज्यास सुधारणा होणें इष्ट वाटत आहे त्यांच्या संबंधानेंच येथें विचार केला आहे.

हिंदुसमाजांत सुधारणा झाली पाहिजे असें प्रतिपादन करणारे लोकांचे सजातीय व विजातीय असे प्रथमतः दोन भेद करिता येतील. पैकीं परक्या जातीच्या मनुष्यानें कितीही शुद्ध अंतःकरणानें आपणास उपदेश केला तरी तो आपणास कदापिही चांगलासा रुचणार नाहीं, असें म्हणण्यांत काहीं मोठेंसें साहस नाही. परजातीयांस एक तर आमच्या व्यवहारांतलें खरें मर्म समजण्याची मोठी मुष्कील असते; व यदाकदाचित् तें मर्म कळलें असलें तरी बोलल्याप्रमाणें चालण्याची किती पंचा-ईत असते याचा त्यांस अनुभव नसल्यामुळे त्यांच्या सूचना बऱ्याच अंशी फाजील-पणाच्या होतात. याचें उत्कृष्ट उदाहरण मलबारी शेटर्जींचेंच होय. यांनीं या विषयावर जितका विचार केला आहे व जितकें लिहिलें आहे, तितकें किंबहुना त्याहून जास्तही आमच्या लोकांनीं लिहिलें आढळेल; परंतु मलबारी शेट हिंदु नसल्यामुळे बोलल्याप्रमाणें कृति करून दाखविण्याची वेळ आली असतां आमच्या सुधारकांची जशी गाळण होते व स्वतः मोठ्या इर्षेनें व उत्साहानें प्रतिपादन

केलेलें मतही गुंडाळून ठेवून रूढीस शरण जाण्याचा प्रसंग येतो. तशी वेळ शेटर्जी-वर कधीच गुदरत नाही, ह्यावरून त्याचें धैर्य अधिक असतें असे मात्र कोणी समजू नये. ते परजातीय असल्यामुळें हा त्यांस फायदा मिळतो परंतु त्या फायद्या-बरोबरच बोलल्याप्रमाणे आचरण करणाराचे विचार जितके लोकांस ग्राह्य होतील तितके परजातीयाचे विचार लोकांस ग्राह्य होत नाहींत. कित्येकांस तर त्याची चीड येते व कित्येक त्यांचा उपहास करितात. तात्पर्य, कोणत्याही ज्ञातीची सुधारणा करणें झाल्यास त्या ज्ञातीखेरीज बाहेरच्या लोकांनी त्यात पडून फारसा उपयोग होत नाहीं. डॉक्टर हंटर यांनी हिंदू विवाहपद्धतीवर विलायतच्या टाइम्स-पत्रात जे तीन मार्मिक लेख प्रसिद्ध केले आहेत, त्यातील सिद्धांतही अखेरीस आम्हीं वर लिहिल्याप्रमाणेंच आला आहे. मलबारी शेटर्जींनी प्रौढवयात लग्ने बंद करण्याच्या वगैरे ज्या कांही अनुचित सूचना केल्या होत्या त्यांजवर इटरसाहेबांनी खरपूस टीका केली आहे, परंतु सामाजिक सुधारणा कोणत्या रीतीने करावी हें सांगण्याची जेव्हा वेळ आली तेव्हा शिक्षणाच्या प्रसाराखेरीज हंटरसाहेवास दुसरी चांगली युक्ति सुचवितां आली नाहीं. यावरून परकीयांच्या हातून या विषयाची तड लागणे किती कठीण आहे हें वाचकांच्या लक्षात येईलच. त्यांच्यापैकीं साहसी असतात ते ज्या सूचना करितात त्या अविचारीपणाच्या असतात, व जे विचारी असतात त्यांस परजातीयांच्या आचारविचारात ढवळाढवळ करण्याचें साहस होत नाहीं. मध्यमप्रतीच्या लोकांचीं मने आपआपल्या धर्माच्या व रीतीभार्तीच्या अभिमानानें ग्रस्त झाल्यामुळें त्यांचाही या कार्मीं फारसा उपयोग होत नाही व झाला तरी तो केवळ परोपकारबुद्धीनेच होत असेल, व त्यात काही परधर्मांचा संबंध नसेल अशी लोकांची पुरी खात्री होत नाहीं. तेव्हां ही दिशा आपणांस अजीवात सोडून द्यावी लागते.

सारांश आपल्या व्यवहाराची व सामाजिक रीतीभार्तीची सुधारणा, करणें असल्यास ती आपली आपणांसच केली पाहिजे ही गोष्ट निर्विवाद आहे, व तसें करण्यासही मुख्य साधन म्हटलें म्हणजे राजश्री वैद्य म्हणतात त्याप्रमाणें स्त्रिया व मध्यमप्रतीचे लोक यांच्यांत या गोष्टीची विशेष चळवळ सुरू केली पाहिजे, हें होय. परकीय सरकार केवळ दहापांच लोकांच्या म्हणण्यावरूनच हिंदूलोकांच्या रीतीभार्तीत कोणताही महत्वाचा फरक कायद्यानें करण्यास धजणार नाहीं हें अगदीं उघड आहे तेव्हा कायदा कायदा म्हणून ज्यांनी ओरड मांडली आहे त्यांनीही लोकमत आपल्या बाजूचे करण्याची खटपट केली पाहिजे. बहुमत आपल्या बाजूचें झाल्याखेरीज हल्लींच्या काळात कोणास कोणत्याही प्रकरणीं यश येण्याची आशा राहिली नाहीं. त्यातूनही सामाजिक प्रश्नासंबंधीं आणखीं असा विशेष प्रश्न आहे की, अमुक अमुक गोष्ट करा असें लोकांस सांगणाऱ्या मंडळीच्या उपदेशात व आचरणांत कांहीं तरी मेळ असावा लागतो, नाहींपेक्षां इसाबनीतीतील बेदूक-वैद्याचा ज्याप्रमाणें उपहास झाला त्याच उपहासास हे उपदेशक पात्र होतात. ह्या

दोन्ही अडचणी लक्षांत आणून सुधारणेचा उद्योग चालविला पाहिजे, तसा उद्योग आजपर्यंत झाला नाही हें रा वैद्य यांनी सुधारणेच्या खटपटीचा जो इतिहास दिला आहे त्यावरून स्पष्ट होतें. सुधारलेल्या राष्ट्रांतून अशी रीत आहे कीं जेव्हां एखादी गोष्ट अमलात आणणें इष्ट आहे असे काहीं लोकांस वाटतें तेव्हा लागलीच ते लोक एखादी लहानशी मंडळी स्थापन करितात व जिवापाड श्रम करून स्वार्थाकडे नजर न देता एकसारखी लोकमत आपल्या बाजूचें करण्याची खटपट सुरू करितात. आमच्या देशापेक्षा विलायतेत वर्तमानपत्रांचा फैलाव जास्त असून त्यांचे वजनही अतिशय आहे. तथापि या उद्योगी मंडळीस फक्त वर्तमानपत्रांचेच साहाय्य पुरेसे वाटत नाही. कोणी आपला सर्व धदा सोडून लोकांस व्याख्याने देत हिंडतात, कोणी स्वतंत्र पुस्तके अगर पत्रके काढून त्यांच्या लाखो प्रती लोकांस फुकट वाटतात, कोणी जागोजाग आपल्या मताच्या प्रसारार्थ मंडळ्या व उप-मंडळ्या स्थापन करितात आणि कोणी आपल्या मताच्या मंडनार्थ नाटकें लिहून त्यांचा प्रयोग करितात. हे सर्व उपाय अमलांत आणण्यास द्रव्याची किती जरूर आहे हें सांगावयास नकोच. आमच्यात अशी म्हण आहे कीं, सर्व सोंगें येतात पण पैशाचें सोग येत नाही, परंतु पाश्चिमात्य देशातील लोकांची कार्य करण्याची हातोटी काहीं विलक्षण आहे. एकदा एखादी गोष्ट करावयाची असे त्यांनी मनांत आणलें म्हणजे मग त्या मताचे लोक आपलें सर्वस्व त्या कार्मी खर्चण्यास तयार असतात. त्यांतील असे कोणी म्हणत नाही कीं, “ पुनर्विवाह करावा असें आमचें पूर्ण मत आहे व कोणी असा विवाह केल्यास आमचा त्याच्या घरीं जेवावयास किंवा पानसुपारीस जाण्याचा सक्त निश्चय आहे, बाकी आम्हास पुनर्विवाह करावयास किंवा पुनर्विवाहापासून झालेल्या संततीशीं शरीरसंबंध करावयास सागाल तर तेवढी गोष्ट मात्र आमच्या वृद्ध मातोश्रींच्या भिडेखातर आम्हास करितां येत नाही. ” पंडिता रमाबाईस हिंदू विधवाची स्थिति सुधारण्याकरिता जी मदत मिळाली आहे ती देखील याच लोकाकडून ! तासत्य, हातों घेतलेलें काम कसे तडीस न्यावें याचा किताही पाश्चात्य लोकांकडूनच आपण उचलला पाहिजे, व तो जोपर्यंत आपण उचलला नाही तोपर्यंत सुधारणेची आमची बडबड व्यर्थ आहे; आम्हांस पैशाचा इतका लोभ आहे कीं लाखो रुपये जवळ झाले तरी तृप्ति होत नाही, कृति पाहावी तर (चोरून मारून केलेल्या गोष्टी सोडून द्या) घरात विचारल्याखेरीज एकही पाऊल पुढें पडत नाही, आणि हिमतीच्या व धैर्याच्या नांवानें आंवळ्या येवढें पूज्य ! एक मात्र गुण पूर्णपणे आमच्यात दृष्टीस येतो. आमचे विचार खुद्द मिल व स्पेन्सर यांच्याही पुढे धांव घेत असतात, आणि “ वाचि वीर्यं द्विजानाम् ” या न्यायानें आमची ओरड मात्र खूप चालली असते. अशा तऱ्हेच्या सुधारकास रा. वैद्य यांची मते अर्थातच रुचणार नाहीत हे आम्ही जाणतो, परंतु ज्या अर्थी रा. वैद्यांप्रमाणें

आम्हांस या कामी दुसरा कांहीं इलाज दिसत नाही त्या अर्थी कोणाच्या खुषी-नाखुषीकडे न पाहतां खरा प्रकार लोकांपुढें मांडला पाहिजे. रा. वैद्य यांनी स्त्रिया व मध्यम प्रतीचे लोक सुधारणेस अनुकूल करून घेतले पाहिजेत असें म्हटलें आहे तें अगदीं यथार्थ आहे. पण ती गोष्ट सिद्धीस नेण्यास फक्त चागर्बी पुस्तकें वांटूनच पुरें होणार नाही. रा. वैद्य यांनी आपला वेळ, बुद्धि व पैसा खर्च करून आपल्या हातून होणारी गोष्ट करण्याचें पत्करले आहे, हे ठीकच आहे; परंतु ज्यास त्याच्याप्रमाणें सुधारणा होणे इष्ट वाटत आहे त्यांनीं एखादी मंडळी स्थापन करून मिशनरी लोकांप्रमाणे या कामीं लेखन, वाचन व उदाहरण या तिन्ही रीतींनीं यथाशक्ती कां मदत करूं नये. हें आम्हांस समजत नाही. पुस्तकापेक्षाही कीर्तन किंवा व्याख्यानांपासून जास्त उपयोग होतो ही गोष्ट सर्वांस ठाऊकच आहे. त्याचप्रमाणे जागोजाग एकाच कामाकरिता मंडळ्या स्थापन करण्यापासूनही किती उपयोग होतो हें काँग्रेसच्या उदाहरणावरून लोकांच्या लक्षांत आलेंच आहे. मग सामाजिक सुधारणेच्या कामीं या साधनांचा आपण कां उपयोग करूं नये हें आम्हांस समजत नाही. लोकमत राजकीय विषयात व इतर बाबतींत आमच्या तर्फेंनें असणें जरूर आहे. मग सामाजिक बाबतींतच आम्ही त्यास सोडून कोठें जाणार ? करिता २५।३० वर्षांत कोणत्या गोष्टी घडून येणे शक्य आहेत याचा नीट विचार करून त्याप्रमाणें लेखन-वाचन-उदाहरण-द्वारा लोकमत आपल्या बाजूचें करण्यास प्रथमतः उद्योगास लागावें अशी सर्व सुधारणेच्यु जनास आमची प्रार्थना आहे.

नागपूर येथील सामाजिक परिषद*

या परिषदेची साग्र हकीकत दुसरीकडे दिलीच आहे, यास्तव येथील कांहीं पत्रातून जो मजकूर प्रसिद्ध झाला आहे त्यातील खोडसाळपणा वाचकाच्या लक्षांत येईलच. सामाजिक सभेचें काम यंदा चांगल्या रितीने पार पडलें याबद्दल आमच्या कित्येक बंधूंनीं आपला आनंद प्रदर्शित केला आहे. त्या त्याच्या आनंदांत आम्ही किमपीही अंतर पाडूं इच्छित नाहीं. प्रत्येक व्यक्तिमात्रास अर्थात् जनसमूहास आपलीं मते व्यक्त करण्यास किंवा त्याप्रमाणें आचरण ठेवण्यास पूर्ण अधिकार आहे, परंतु हा अधिकार चालवीत असता जेव्हा लोकांच्या अधिकारावर अतिक्रम होतो तेव्हां वादास सुरुवात होते. सामाजिक सभेनें राष्ट्रीयरूप धारण करण्याचा प्रयत्न न करिता राव. व. रानडे यांनीं कबूल केल्याप्रमाणें सुधारणाभक्त-मंडळीचेंच रूप आजपर्यंत धारण केले असतें तर यंदा नागपुरास जो बखेडा झाला तोही झाला नसता.

* (केसरी ता. १२ जानेवारी १८९२.)

सामाजिक सभा राष्ट्रीय नाही;

तिच्या ठरावाने कोणीही—मग तो सभेचा अध्यक्ष किंवा सेक्रेटरी कां असेना बाधला जात नाही, अगर सभेत पास झालेले ठराव अमलांत आलेच पाहिजेत अशी कोणावरही जबाबदारी नाही; पाहिजे त्यानें मत द्यावें, पाहिजे तर देऊं नये; सभेच्या अपूर्वतेमुळे येतील ते तिचे सभासद, मंडपांत राहतील ते तिचे मत देणारे आणि 'अमुक गोष्ट चांगली आहे' 'अमुक गोष्ट झाल्यास बरें' 'अमुक गोष्ट करण्याची परवानगी असावी' इत्यादि विध्यर्थक वाक्यांनीं होतील ते तिचे ठराव; असें जर वेळींच जाहीर झालें असतें तर नागपूरचा संभारंभ याहीपेक्षां मोठ्या थाटानें उरकला असता. रावब. रानडे यांनीं सञ्जेकट कमिटीते व परिषदेत जीं उत्तरें दिलीं तींच जरा अगोदर द्यावयास पाहिजे होतीं. तथापि 'अकरणान्मंदकरणः श्रेयान्' या न्यायानें रावब. रानडे यांनीं शेवटी तरी सभेची वस्तुस्थिति कबूल करून लोकांचा होत असलेला गैरसमज दूर केला याबद्दल त्यांचें आभार मानणें जरूर आहे ! सामाजिक परिषदेचें

अध्यक्ष

निवडण्याच्या कार्मीही रावब. रानडे यानी आपलें चातुर्य प्रदर्शित केलें; मि. खापर्डे हे वयानें व दर्जानें लहान असताही केवळ धैर्यानें त्यांनीं समिति कायद्या-विरुद्ध खटपट करण्याच्या कार्मी पुढाकार घेतला या करता त्याची रावबहादुरानी अध्यक्ष्याच्या जागीं निवडणूक केली हे रावबहादुराच्या गुणग्राहकत्वाचें मोठेच दर्शक आहे. संमतिययाचा कायदा जुलुमी असून अन्यायाचा आहे अशा अर्थाचा ठराव परिषदेत पास झाला असता तरी त्याची योग्यताही रावब. रानड्यांनीं स्व-संतोषानें मि. खापर्डे यास सामाजिक परिषदेचें अध्यक्षस्थान दिले याच्याशी ताडून पाहतां आम्हां कमी मानली असती. सामाजिक परिषदेसंबंधानें वर्तमान-पत्रातून वगैरे काहीं दिवस जी टीका येत होती तीवरून वारा कोणत्या दिशेने वाहात आहे हे रावबहादुराच्या लक्षात येऊन चुकलें होतें, व प्रसंग आल्याबरोबर एकदम वाण्यास पाठ देऊन त्यानी त्याची गति कुंठित केली ! परिषदेस

नवीन वळण

लाविलें पाहिजे असें त्यांच्या मनानें घेतले व तें स्पष्टपणें बोलून दाखविण्याचा त्यांचा धीर झाला. प्रतिवर्षीं निरनिराळ्या प्रांतातील सुधारक सभा या नांवानें रिपोर्टीत मोडणाऱ्या सभांची वार्षिक हकीकत परिषदेपुढें मांडून मंजूर करण्यांत येत असे; परंतु यंदा तो विधि तहकूब ठेवण्यांत आला. आता पुढे चोहोंकडून ळागून निरनिराळ्या सभांचे सामाजिक परिषदेसाठीं जे मुखत्यार येतील तेवढ्यानीच जमून काय करावयाचे असतील ते ठराव करावे व अमलांत आणावे, असें घडून आल्यास सभेस पुष्कळ लोकांची खरी मदत व साह्य मिळेल. सर्व मोठ्या गोष्टींची सुरघात स्वल्प असतें. रोम शहर एका दिवसांत बांधलें गेलें नाही अशा

अर्थाची इंग्रजीत एक म्हण आहे व आमच्याकडेही शतमुखानी सागरास मिळणाऱ्या गंगेचें मूळ हिमालयाच्या दरीतून कष्टानें दृग्गोचर होतें अशी यथार्थ समजूत आहे. या न्यायानें आज जरी सामाजिक सभेस ५-२५ सांपेक्षां जास्त मुखत्यार न आले तरी काहीं हरकत नाही. एकट्या बुद्धीनें नवीन धर्म प्रचारात आणला व एकट्या शंकराचार्यानींच वैदिक धर्माची पुनः स्थापना केली ! एकेकट्या गृहस्थाच्या हातून जर एवढी कामें होतात तर ५-२५ सुधारणाभक्त काय न करूं शकतील ? निश्चयाने सर्व गोष्टी सिद्ध होतात, करतां निश्चयी पुरुषांपुरतींच सामाजिक परिषदेची व्याप्ति ठरवून व त्या मंडळाचे अग्नेसरत्व पत्करून राववहादूर यंदा सुरू केलेल्या क्रमाप्रमाणे कोणाचेही मन न दुःखविता जर सुधारणेचा झेंडा उभारतील तर त्या जरीपटक्याभोवती त्याचे अनुयायी बरेच गोळा होतील. बाजारबुणग्यांची तर सध्याच भरती आहे. तिकडे रिकूट मिळवावयास नकोत ! तुम्ही विलायतेस जावयाचें म्हणा, ही मंडळी दोन्हीकडूनही हात वर करण्यास तयार आहे ! कोणत्याही पक्षाचा पगजय होवो अगर सरशी होवो; ज्यास फक्त लुटीचीच अपेक्षा त्यांस त्याचे काय होय ? असली मंडळी सैनिकांच्या पटावरून काढून टाकून त्याचीं नावें त्यास योग्य अशा स्थळीं म्हणजे पेंढाऱ्यांत घातली म्हणजे यंदा ज्याप्रमाणे सभेचे सुकाणू आपल्या हातून निसटतें कीं काय अशी अध्यक्षांस एकदोनदा भीति पडली. तसा प्रकार पुनः घडून येणार नाही. करिता आमच्या सूचनेचा सभेचे चालक योग्य विचार करतील अशी आमची उमेद आहे. खेरीज हल्लींच्या स्थितीत दोन पक्षांच्या विरोधांत ज्या प्रतिसूचना सभेत येऊन पास होतात अगर बखेडा करतात तसा प्रकार मग मुळीच होणार नाही.

सामाजिक बाबतीत कायदा नको.

हें तत्त्व परिषदेस कबूल आहे ? आता चुकूनमाकून एखाद्या ठरावाच्या मसुद्यांत अमुक गोष्ट कायद्याने बंद करावी असे येते ते प्रायः पूर्वं संचिताचे फळ असावें. ही खोड जाण्यास कांहीं अवधी लागेल, परंतु ती जाण्याच्या पंथात आहे एवढी समाधानकारक गोष्ट नागपूरच्या परिषदेपासून आम्ही घेण्याजोगी आहे. सभेची हल्लींची व्यवस्था कायम राहिल्यास अध्यक्षास मुलाचें बारावें वर्षी लग्न करण्यास अगर हवा तितका हुंडा घेण्यास अगर पुनर्विवाहांत कन्यादान करून पंक्तिप्रसादाची चुकवाचुकवी करण्यास फारशी अडचण येत नाही ही गोष्ट खरी आहे; तथापि परिषदेचे हेतू तडीस जाण्यास योडासा प्रत्यवाय येतो तो काढून टाकला आणि खरोखरच निस्सीम सुधारणाभक्ताचीच परिषद केली तर हें सुधारणेचें काम कोणाचीही अप्रीति संपादिल्याखेरीज अगर बखेडा माजविल्याखेरीज गुण्यागोविंदाने पार पडणार आहे. नागपूरच्या परिषदेत झालेल्या वादविवादाचा जर असा परिणाम झाला तर त्यात सर्वांचेच इष्ट हेतु सिद्धीस गेले असें म्हटलें पाहिजे.

अबलोन्नति लेखमाला. *

लेख तिसरा.

रा. ब. चिंतामणराव वैद्य यानी अबलोन्नति लेखमाला सुरू करून त्यातील तीन लेखांचा परिमल आपल्या खर्चाने लोकात प्रसृत केला याबद्दल त्यांचे आभार मानून त्यांच्या उद्योगाची तारीफ करणे हे आजचे पहिले काम आहे. गुदस्ता या लेखमालेस जेव्हा पहिल्याने सुरवात झाली तेव्हा या मालेचे उद्देश व त्यापासून होणारे फायदे यांचे आम्हीं दिग्दर्शन केलेच आहे. अशा रीतीने शातपणाने व मुद्देसूद लिहिलेले लेख महाराष्ट्रात क्वचितच सांपडतात. त्यातून सामाजिक विपया-संबंधाने तर अलीकडे शातपणाचा सर्वांनी निरोपच घेतल्यासारखा आहे ! अशा स्थितीत अबलोन्नति लेखमालेतील तिसरे पुष्प चिंतामणरावांनी आम्हांस सादर केले याबद्दल त्यांचे आभार मानून या पुष्पाच्या सौंदर्यात व परिमलात सत्या-सत्यतेचा कितपत भाग आहे याचे परीक्षण करू. मागील लेखाप्रमाणे हाही लेख, विचाराने, पोक्तपणाने व दोन्ही पक्षातील साधकबाधक प्रमाणे लक्षात आणून लिहिला आहे हे पुनः पुनः सांगण्याची जरूर नाही. करिता लेखातील इतर माहितीकडे वळू

बालविवाहापासून होणारे दुष्परिणाम राव. ब. वैद्य यानी सुरेख वर्णन केले आहे. वाढ परिपूर्ण होण्यापूर्वी वधुवरास मातापितृत्व प्राप्त व्हावे व त्याचे परिणाम पिढीनपिढी सुरू रहावेत ही गोष्ट कोणत्याही राष्ट्रास हितकारक व्हाव-याची नाही. त्यातून हल्लींच्या आमच्या परार्थीनावस्थेत बालविवाहापासून होणारे परिणाम अधिकच बळावत जात आहेत आणि ज्याप्रमाणे एखादा मोठा वृक्ष नाश पावून त्याच्या जागी लहान लहान रोपे स्वतंत्र रीतीने रुजावी त्याप्रमाणे मोठ-मोठी कुटुंबे मोडून जाऊन हल्लींच्या कालात त्याच्या जागी नवराचायकोची छोटे-खानी विठोवारखमाईची कुटुंबे वाढत चालली आहेत असे दिसून येते. निदान वरिष्ठ प्रतीच्या लोकात तरी हा प्रकार जारीने सुरू आहे असे म्हणण्यास काही हरकत नाही. इंग्रजी शिक्षणाने मुले चावट झाली अगर स्वतंत्रता जास्त प्रिय वाटू लागली अथवा अन्नाकरिता दाही दिशा भटक्याच्या लागल्या यांतून कोणतेही जरी कारण स्वीकारले तरी त्याने वस्तुस्थिति पालटत नाही. पूर्वीच्या कुटुंबव्यव-स्थेतील नियम शिथिल होऊं लागले आणि नवीन बंधने अद्याप अमलांत आली नाहीत, अशा काळी कोणच्याही व्यवस्थेतील गुणापेक्षा दुर्गुणांचेच जास्त प्राबल्य दिसावयाचे व त्याप्रमाणे ते दिसतही आहे. निराशा, नाउमेद, निर्बलता आणि निरुत्साह यानी आपणास तूर्त ग्रासून टाकिले हें निःसंशय आहे. ही स्थिति बाल-विवाहाचा परिणाम आहे असे चिंतामणरावांनी दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे.

किंबहुना प्रस्तुत लेखाचा बराचसा भाग या मुद्द्याच्या विचारासच वाहिला आहे असे म्हटले तरी चालेल. आमच्यामते हा अतिशयोक्तीचा भाग आहे, करतां येथे आज त्याचा थोडा जास्त विचार करावयाचें योजले आहे. बालविवाहापासून दुष्परिणाम होत नाहीत असे आमचें म्हणणें नाही. तथापि सर्व राष्ट्रीय व्हासाचें बीज बालविवाहातच आहे हें म्हणणें वयाच धाडसाचें होईल असें आम्हास वाटतें.

हिंदुस्थानचा इतिहास

ज्यानें लक्षपूर्वक पाहिला असेल त्यास सकृत्दर्शनींच राव. ब. वैद्य याचे सिद्धांत चमत्कारिक भासतील. बालविवाह हा हिंदुराष्ट्राच्या व्हासाचें बीज आहे अशी पहिल्यानें मनाची खात्री करूनच त्यांनी हिंदुस्थानच्या इतिहासाचें प्रकृत निबंध लिहिताना पर्यायलोचन केले असावे असें दिसते. हिंदुस्थानाच्या व्हासाचा काळ म्हटला म्हणजे मुसलमानी अमलास जेव्हापासून सुरवात झाली तेव्हापासूनचा होय. बालविवाह हा व्हासाचें कारण असल्यास तो अर्थातच त्या कालापूर्वी दोन-तीनशें वर्षे अमलांत असला पाहिजे. म्हणजे सुमारे सातव्या शतकात बालविवाह सुरू झाला असावा असें वरील कोटिक्रम स्वीकारणारास वाटेल. सातव्या आठव्या शतकातील मोठी उलाढाल म्हटली म्हणजे बुद्ध धर्माचा व्हास व ब्राह्मणधर्माची संस्थापना ही होय. अर्थात् शंकराचार्यांनी बालविवाह अमलात आणला असावा या विचारसरणीनें निष्पन्न होतें. हुएनसांग नावाचा चिनी प्रवासी सातव्या शतकात इकडे येऊन गेला; त्यानें हिंदुलोकात आलेला असंमतवैधव्याचा प्रकार आपल्या ग्रंथांत सांगितला आहे. परंतु बालविवाह सांगितला नाही. हुएनसांगचा हा लेख आणि पूर्वोक्त विचारसरणीनें निघालेले अनुमान या दोहोची सांगड घालून त्यावर चिंतामणराव वैद्य यांनी आपली बहुतेक इमारत रचली आहे; परंतु ही सांगड कितपत यथार्थ आहे याचा पहिल्याने विचार केला पाहिजे. हुएनसांगने अमूक एक गोष्ट सांगितली नाही म्हणून ती त्या वेळेस प्रचारात नव्हती हें म्हणणे बरोबर नाही. हुएनसांगच्यापूर्वी होऊन गेलेले आमच्यामधील पुष्कळ ग्रंथकार आहेत. मुख्य मुख्य स्मृति आणि सूत्रे हुएनसांगच्या वेळीं प्रचारांत असून पूज्य मानीत असत. या ग्रंथांतून मुलीच्या लग्नाचा काल आठवर्षांपासून ऋतुप्राप्तीपर्यंत सांगितला आहे. स्मृति व सूत्रकार यांनी प्रचारात असलेल्या चालींचाच उल्लेख केलेला असावा व तो उल्लेख खरा मानला म्हणजे अर्थातच बालविवाहाची पद्धत फार जुनी आहे असे म्हणावे लागते. हेमंतोत्सव व्याख्यानाच्या वेळीं ज्या स्मृति-ग्रंथांतील प्रमाणे चिंतामणराव वैद्य यांनी वाचून दाखविली त्यावरून आम्ही म्हणतो हें सिद्ध होईल. 'नामिकातु प्रशस्य ते गौरीं ददन्नाक पृष्टम्' इत्यादि वचनें हुएनसांगच्या अबोल्याविरुद्ध साक्ष देतात. कुमारपाल राजाच्या दरबारांत जो वाद झाला तो दोन जैनपंथांमध्ये झाला. त्याचा स्त्रियांच्या सामाजिक स्थितीशीं कांहीं संबंध होता असें दिसत नाही. सारांश गोभिलसूत्र, मनुस्मृति, पराशर,

संवर्त, महाभारत इत्यादि ग्रंथांतून जी वचने आढळतात त्यावरून ऋतुकालापूर्वी दोन तीन वर्षे तरी स्त्रियांचा विवाह करण्याची पद्धत निदान अडीचहजार वर्षांपासून तरी या देशात चालत आहे असें होतें. भवभूति व कालिदास यांनी आपल्या नायिका मोठ्या कल्पित्या म्हणून त्या वेळेचा प्रघात तसा होता हे म्हणणें प्रशस्त नाही.

ग० ब० वैद्य यांचा मुख्य मुद्दा

अशा रीतीने वादग्रस्त किंबहुना असंभवनीय असल्यामुळे त्यांच्या पायावर रचलेली इमारतही मनोराज्यातील इमारतीप्रमाणें मनोरम पण अशाश्वत आहे. बालविवाह आम्ही म्हणतो त्याप्रमाणे दोन अडीच हजार वर्षांचे जुने ठरल्यास शिकंदरच्या वेळेचे शूर शिपाई व पुलकेशी राजाचा भरभराट या दोन्हीही गोष्टी बालविवाह सुरू झाल्यानंतरच्याच आहेत असें मानावें लागतें. चिंतामणराव म्हणतात त्याप्रमाणें जर्मन अगर रोमन लोकांपेक्षा हिंदू लोक शरीरसामर्थ्यानें सामान्यतः कमी भरतील, परंतु हिंदू लोकांतील लढाऊ जातीही इतर देशांतील लढाऊ जातीपेक्षा अधिक भिऱ्या अगर पिळपिळीत आहेत असें मानण्यास आम्हास काहीं आधार दिसत नाही. जातिभेदामुळे आणि वर्णभेदामुळे प्रत्येक जातीकडे निरनिराळें काम सोपविलेले असे व त्या त्या कामाप्रमाणें ते ते आपली सामाजिक स्थिति राखीत. कुक्षेत्राच्या विस्तीर्ण मैदानावर कौरवपांडवांचे युद्ध चाललें असता शेजारच्या खेड्यापाड्यांतील शेतकरी मुकाट्यानें खाद्यावर आसूड टाकून आपल्या शेतांतून काम करीत नसत असें म्हणण्यास काहीं प्रमाण नाही. राज्य करण्याचा अधिकार रजपुतांचा. तो जर त्यांनी शेवटपर्यंत मनःपूर्वक चालविला असता तर हिंदुस्थानास मुसलमान लोकांच्या ताब्यांत जावे लागले नसते. दिल्ली व कनोज या दोन घराण्यांनी आपसांत कलह करून मुसलमानास आयताच दरवाजा उघडून दिला हें इतिहासांतील मर्म कोणाच्याही सहज लक्षात येण्यासारखें आहे. या रजपूत लोकांत अगदी शेवटपर्यंतही बालविवाहाचे प्रचार नव्हते व टाडसाहेबांनी यांच्या शौर्याची इतकी तारीफ केली आहे की, त्यांच्यामते यास हिंदुस्थानांतील स्पार्टन लोक असें म्हणण्यास हरकत नाही. असल्या शूर लोकांसही इंग्रज सरकारनें निःशस्त्र करून हतवीर्य केल्याबद्दल टाडसाहेबांनी आमच्या दयाळू सरकारास दोष दिला आहे. टाडसाहेबांचे हे उद्गार त्यांच्या देशबंधूस रुचणार नाहीत तथापि देशांतील लोकांची स्थिति, शौर्य आणि उत्साह, परकीय प्रभूच्या सत्तेखाली कशी लयास पावतात याचें हें उत्कृष्ट उदाहरण आहे. आतां रावब. चिंतामणराव वैद्य असें म्हणतील की, परकीयांच्या सत्तेखाली जाण्यासच बालविवाह कारण झाला आहे. परंतु ही कोटी इतिहासदृष्ट्या टिकेल असें आम्हास वाटत नाही. ऐरिश लोक आज सातशें वर्षे इंग्रज लोकांच्या अमलाखाली आहेत, ते बालविवाहामुळेच का? ग्रीक व रोमन लोकांचीं राज्ये बुडण्यास स्त्रियांची अनीति

कारण झाली असेल पण त्यांत बालविवाहाचा तरी समावेश होत नव्हता. नेपोलियनने इटली पादाक्रांत केली. तेव्हा त्या देशांतील लोक शूर होते परंतु त्यांत एकी नव्हती असें खुद्द नेपोलियन यानेंच लिहिलें आहे. सारांश, जेथे जेथे एका राष्ट्रानें दुसऱ्या राष्ट्राची पायमल्ली केली आहे, तेथें तेथें त्यास बालविवाह कारण झाला होता असें इतिहासावरून दिसून येत नाही. मग असा विलक्षण नियम हिदुस्थानासच कां लागू करावा हें आम्हास समजत नाही. आमच्या दयाळू सरकारच्या सैन्यांतही गुरखे, रोहिले, पुरभये, शीख वगैरे लोकांच्या पलटणी शौर्याने व हिमतीने दुसऱ्या कोणत्याही राष्ट्रातील शिपायांची बरोबरी करू शकतील परंतु स्वतंत्र राष्ट्रांमध्ये सेनानायक उत्पन्न होण्याची जी साधने असतात तीं सर्व आमच्या राज्यकर्त्यांनी आपल्या हाती घेतल्यामुळे गोऱ्या शिपायास भात व काळ्या शिपायास पेज देऊन त्यातच आम्ही मोठे भूषण मानू लागलों आहो. रा. व. चिंतामणराव वैद्य यास ही गोष्ट अवगत नाही असें नाही. आपल्या पुस्तकाच्या १२ व १३ कलमांत त्यांनी या गोष्टीचा थोडासा विचार केला आहे. परंतु त्यांचा प्रकृत विषय बालविवाह असल्यामुळे सदर देवतेचें स्तोल त्यांनी विशेष गाडलें आहे ! लोकामध्ये जी हताशा उत्पन्न झाली आहे ती काढण्यास बालविवाह बंद केल्याने फारशी मदत होईल असें नाही. खाण्यापिण्याची सुबत्ता, शस्त्रे वापरण्याचा अभ्यास असल्यामुळे व्यायाम करण्याची हौस, स्वतंत्रता व जबाबदारीची कामे प्रसंग येत असल्यामुळे त्यापासून साहजिक उत्पन्न होणारा उत्साह, अभिमान व धैर्य हीं सर्व राष्ट्रांमध्ये येण्यास प्रौढविवाहाखेरीज दुसऱ्या पुष्कळ गोष्टी झाल्या पाहिजेत.

तेजसान्न हि वयः समीक्षते

अशी संस्कृतात म्हण आहे. अग्नीच्या एका ठिणगीत जितके तेज असतें तितके हत्तीयेवढ्या शीलित्ती असत नाही, हें आपणास नेहमी लक्षांत बाळगावयास पाहिजे. आम्ही ज्या ज्या कांहीं सुधारणा करीत आहों त्या सर्व ऐरिशलोकात जारीनें सुरू आहेत, परंतु तेजाची ज्योती मालवल्यावर नुसत्या मरतमढ्यानें काय होणार ? बालविवाह बंद होतील तर चागले, ते बंद होण्याकरिता प्रयत्न केले पाहिजेत व कालेकरून ते बंदही होतील, या गोष्टी आम्हास मान्य आहेत परंतु केवळ या एकाच गोष्टीकडे लक्ष न देता दुसऱ्या अधिक महत्त्वाच्या गोष्टी घडवून आणण्यांत या बरोबरच आपणास प्रयत्न केला पाहिजे. रावव. वैद्य यांनी ह्या दुसऱ्या मुद्याकडे प्रकृत निबंधात फारसें लक्ष दिले नाही त्यामुळे हल्लींचा लेख जरा एकतर्फी झाला आहे. तथापि एकंदरीत पूर्वीच्या लेखाप्रमाणेंच हाही विचारपूर्वक माहिती मिळवून लिहिला असल्याकारणाने तो सर्वत्रास उपयुक्त होईल यांत शंका नाही.

अबलोल्लति लेखमाला-लेख ४ था *

आज केसरीबरोबर अबलोल्लति लेखमालेचा जो लेख वाटण्यात येत आहे हाच रावब. चिंतामणराव वैद्य यांनीं हेमंतोत्सव व्याख्यानमालेत वाचून दाखविला होता. रावब. वैद्य यांनीं अबलोल्लति लेख मालेचे आजपर्यंत जे अंक प्रसिद्ध केले आहेत त्यावरून त्याचे लेख आस्थापूर्वक व मननपूर्वक लिहिलेले असतात हे वाचकास ठाऊक झालेच असेल. 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' या न्यायानें रावब. वैद्य याचा व इतराचा मतभेद कोठें कोठे असू शकेल. तथापि मतवैचित्र्य क्षणभर बाजूस ठेवून जर कोणी सदर लेखमालेचें अवलोकन करील तर रावब. वैद्य यांच्या व्यापक बुद्धिचें, दीर्घपरिश्रमाचें व अवलोकनाचें त्यास आश्चर्य वाटल्यावाचून रहाणार नाही. प्रस्तुतचा अंक इतर अकांच्याच धर्तीवर लिहिला असून दिवाणबहादुरादि सुधारणाप्रिय लेखकानी ज्या प्रमाणें शास्त्राची वाताहत करून सोडली आहे तसा साहसी प्रकार रावब. वैद्य यांनीं केला नाही असे वाचकास आढळून येईल. प्रोफे. जिनसीवाले यांनीं रावब. वैद्य यांचे व्याख्यान वाचून झाल्यानंतर जी खरमरीत टीका केली होती ती अद्यापि बरीच दिवाणबहादुरादि लोकास अनुलक्षून होती. तथापि त्यातील बराच भाग रावब. वैद्यांच्या लेखास उत्तरा दाखल असावा अशी गैरसमजूत झाली असल्याचें दिसते; करता त्या संबधानें आमचें मत येथें स्पष्ट दाखल करतो. प्रो. जिनसीवाले यांनीं दिवाणबहादुरादिकांच्या ग्रंथातून ज्या चुका झाल्याचे सांगितले तसा प्रकार हल्लींच्या निबंधात केल्याचें आम्हास आढळून येत नाही. एक दोन ठिकाणीं मतभेदास जागा आहे. तथापि नुसता मतभेद आहे म्हणून रावब. वैद्य याजवर वचनाचा खोटा अर्थ केल्याचा आरोप ठेवता येणार नाही. मुद्दाम आडरानात शिरून वचनाची ओढाताण, अर्थविपर्यास अगर किचहुना अनर्थ करणे हा एक पक्ष आहे, व त्या पक्षांत कांहीं जाणती माणसेही शिरली आहेत हे सामाजिक सुधारणेंसंबंधाने शास्त्रीय लेख ज्यांनीं वाचले असतील त्यास निराळें सागावयास नकोच. रा. ब. वैद्य हे त्या पक्षातील नसून पूर्वींच्या रीतीस अनुसरूनच त्यांनीं निरनिराळ्या वचनाचे अर्थ लावले आहेत. सर्व वचनें एकत्र गोळा करून व त्याचें यथार्थ विवेचन करून त्याची एकवाक्यता करणे ही आमची जुनी शास्त्रार्थाची पद्धत आहे, व तीच रावब. वैद्य यांनीं आपल्या लेखात उचलली आहे. निरनिराळ्या ऋषींचीं वचने व ग्रंथकारांचे अभिप्राय हल्लींच्या लेखात अशा रीतीनें केल्यामुळे शास्त्रोक्त विवाहकालावर हा स्वतंत्रच ग्रंथ आहे असे म्हणण्यास हरकत नाही.

बालविवाह जर आपणांस संमत नाही तर असल्या शास्त्रार्थात पडून विना-कारण काथ्याकूट तरी करण्याची काय जरूर आहे अशा आशयाचे कांहीं प्रश्न

आमच्याकडे आले आहेत. एकास तर मनुच्या वेळी बालविवाह अमलांत होता असें जें आम्ही लिहिलें होतें त्याचा बराच राग येऊन त्यानें आमच्याकडे दहा पांच प्रश्नांची यादी पाठविली आहे. या पृच्छकांचा गैरसमज दूर होण्यासाठीं आम्हीं प्रथमतःच असें कळवितों कीं, बालविवाह यद्यपि सिद्ध असला तरी ज्या धर्माचे व शास्त्राचे आपणांस बंधन आहे त्यात काय आचार आहेत हे समदृष्टीने आपणांस पाहिलें पाहिजे. कादे खाणें वाग्भटानें हितकारक आहे म्हणून जरी सांगितलें तरी तेवढ्यावरून मनुमध्ये कादे खाण्याचा जो निषेध आहे, त्याचा भलाच अर्थ करण्याचा अधिकार आपणांस पोचत नाहीं. मनुने निषिद्ध मानलेल्या पुष्कळ गोष्टी आज आपण करीत आहो व त्यास समत असलेल्या गोष्टी आपण सोडून दिल्या आहेत. रूढीने व देशाचारानें प्रायः हा भेद झाला आहे ! परंतु ह्यावरून शास्त्रार्थाची किंमत जशी कमी होत नाहीं त्याचप्रमाणें बालविवाह व्यवहार दृष्ट्या सिद्ध झाले तरी ते शास्त्रसिद्ध आहेत की नाहीत या प्रश्नाचे महत्त्व कमी होत नाही. ज्यावेळेस सर्व शास्त्र झुगारून देऊन आपण मनःपूत आचरण करण्यास तयार होऊ त्यावेळेस उपयुक्ततावादाची अगर व्यवहाराची एकच कसोटी आपणास पुरी होईल; परंतु हल्लींचा प्रकार तशातला नसल्यामुळें धर्मशास्त्र, व्यवहारशास्त्र व आचार या तिघांच्याही मदतीने प्रत्येक प्रश्नाचा विचार करून नंतर त्यातून जो मथितार्थ निघेल तोच आपणास ग्रहण केला पाहिजे. कधी वैद्यकादि व्यवहारशास्त्राची धाव पुढे जाईल व कधी कधी आचार या दोहींसही मागे टाकील. तेव्हा या तिन्ही गोष्टींचा स्वतंत्रपणें विचार करून नंतर त्यांच्या एकवाक्यतेने जो शिष्टाचार निघेल तोच स्थाईक सुधारणेस कारणीभूत होईल. रा. ब. वैद्य यांनी बालविवाहाचा अशाच रितीने विचार केला आहे हे पाहून आम्हास आनंद वाटतो. अबलौन्नतिलेखमालेच्या तिसऱ्या लेखात बालविवाहापासून होणारे दुष्परिणाम चिंतामणरावानीं दाखविले आहेत. आजच्या लेखात शास्त्रास धरून या कामीं आपले पाऊल किती पुढें पडण्याचा संभव आहे याचा नीट विचार केला आहे. त्या दोन्हीही लेखातील गोष्टींचा विचार करून जो मार्ग निघेल तोच खरा.

आता या लेखातील शास्त्रार्थाकडे वळूं. या लेखात ' बालविवाह शास्त्रसंमत नाहीं ' हें प्रतिपाद्य आहे. तथापि एकंदर लेख पाहता ७-८ वर्षांच्या कन्येचा विवाह गौण आहे व विवाहाचा प्रशस्त काळ दहावर्षांपासून ऋतुप्राप्तीपर्यंतचा असून ऋतुप्राप्तीनंतर तीन वर्षेपर्यंत पुनः गौणकाल आहे इतकेच रावब. वैद्य यांनी प्रतिपादन केलें आहे असे दिसतें. मुलीस सामान्यतः १३-१४ व्या वर्षी ऋतुप्राप्ति होते असे मानलें तर मुलीचें ७ वर्षांपर्यंत मुळींच लग्न करू नये; ७ वर्षांनंतर १० वर्षांपर्यंत लग्न करण्याचा काल गौण आहे, दहापासून तेरा चौदापर्यंत प्रशस्त आहे व तेरा चौदापासून सोळा सतरापर्यंत पुनः गौण आहे; असें या लेखांत दाखविलें आहे. यात व प्रस्तुत आचारात फरक इतकाच कीं, यापैकी पहिला काल

लोकप्रशस्त समजतात, दुसरा गौण समजतात व तिसरा निषिद्ध मानतात. तथापि हल्लीं दुसरा काल प्रशस्त मानण्याकडे लोकांची उत्तरोत्तर जास्त जास्त प्रवृत्ति होत चालली आहे त्यामुळे मुख्य मुद्दा व मतभेद काय तो तिसऱ्या कालासंबंधाने म्हणजे ऋतुकालानंतर विवाह करावा किंवा नाही, यासंबंधानेच आहे असे म्हटले असता चालेल. या प्रकरणी “ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमतीसति । उर्ध्वं तु कालाद्द्वैतस्माद्द्विदेत सदृशं पति ॥ ” इत्यादि जी वचने रावबहादूर वैद्य यांनी दाखविली आहेत त्याचा विचार करण्याजोगा आहे गुणवान् वर न मिळाल्यास ऋतुप्राप्तीनंतर तीन वर्षेपर्यंत पित्याने वाट पहावी असे यावरून स्पष्ट होते. मात्र ऋतुदर्शन निमित्त प्रायश्चित्त केले पाहिजे. रा. ब. वैद्य यांनी इतर वचनाची व या वचनाची केलेली एकवाक्यताही विचार करण्यासारखी आहे, व त्यावरून ऋतुप्राप्तीनंतर काहीं कालपर्यंत कन्यादानाचा अधिकार पित्यास आहे असे निर्विवाद सिद्ध होते. कन्येस पितृगृही ऋतु प्राप्त झाला असता दोष सांगितला आहे खरा; पण रावबहादूर वैद्य म्हणतात त्याप्रमाणे त्यात जातिभ्रंश उत्पन्न होत नसून शात्यादि कर्मांनी ज्याप्रमाणे अशुभाचे निवारण करावयाचे तद्वतच येथेही प्रायश्चित्ताने ऋतु-निमित्त दोषाचे निरसन करावे असे सांगितले आहे.

“ विवाहोष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते । ”

“ सप्तमाद्वत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः ”

इत्यादि वचनांची एकवाक्यता करतांना मन्वादिस्मृतिकारानां अद्यपि आठ वर्षांच्या मुलीचा विवाह सांगितला आहे तथापि. “ त्र्यष्टवर्षोष्टवर्षा वा धर्मं सीदति सत्वरः ” या मनुवचनातील ‘सत्वर’ पदावरून तो प्रशस्त मानण्यापेक्षा गौण मानणे बरे असे रा. ब. वैद्य यांचे मत आहे, व त्याप्रमाणे त्यांनी ‘ विवाहोष्टमवर्षायाः ’ इत्यादि वचनात दोन वाक्ये कल्पून ‘ विवाहोष्टमवर्षायाः । म्हणजे आठ वर्षांच्या मुलीचा विवाह होतो; परंतु ‘ कन्यायास्तु प्रशस्यते ’ म्हणजे कन्येचा (अर्थात् १० वर्षांच्या मुलीचा) विवाह प्रशस्त आहे असा अर्थ केला आहे हा अर्थ एकवाक्यता करण्यास उपयोगी आहे व तो लावण्यात रा. ब. वैद्य यांनी बरेच चातुर्य दाखविले आहे, तथापि त्यात श्लोकाची थोडीबहुत ओढाताण करावी लागते. ‘ अष्टम वर्षायाः कन्यायाः ’ हा प्रयोग असंबद्ध आहे असे रा. ब. वैद्य यांचे म्हणणे आहे. पण कन्या शब्द पारिभाषिक घेतला तरच ही अडचण उपस्थित होते. या श्लोकापूर्वीच्या श्लोकात “ तस्माद्विवाहमेत् कन्यां यावर्तु-र्तुमती भवत् ” येथे कन्या शब्द पारिभाषिकच आहे असे म्हणण्याचे काही कारण दिसत नाही; व पुढील श्लोकातही तोच न्याय लागू केला असता रा. ब. वैद्य यांनी दाखविलेली असंबद्धता उत्पन्न होत नाही. यद्यपि रा. ब. वैद्य यांचा या श्लोकाचा अर्थ आपण मान्य केला नाही तरी त्यांत विशेषशी हानि होते असे नाही. आमच्यामते ऋतुप्राप्तीनंतर तीन वर्षे विवाहकाल शास्त्रसंमत आहे हा मुद्दा विशेष महत्त्वाचा आहे. आठ वर्षांचा काल प्रशस्त असेल वा नसेल

निदान गौण तरी आहेच व या गौणतेस आचाराची भर घातल्याने कदाचित त्यास अप्रशस्तता येऊ शकेल. पण हा विचार अगदी भिन्न आहे; व त्याचे विवेचन शास्त्राचाराची एक वाक्यता करतांना केले पाहिजे. आज आपणास नुसता शास्त्राचा विचार कर्तव्य आहे, तेव्हां जरी विवाहोष्टमवर्षायाः इत्यादि वचनांचा रावब. वैद्य यांनी केलेला अर्थ कोणास संमत नसला तरी एकंदरीने आठ वर्षांचा काल प्रशस्त आहे, १० वर्षांचा प्रशस्ततर आहे, १० पासून ऋतू प्राप्तीपर्यंत विहित आहे व ऋतुप्राप्तीपासून पुढे तीन वर्षे गौण आहे, इतके कोणासही कबूल करावे लागेल. इतके झाले तरी बस आहे. आता कित्येक तीव्र सुधारक की ज्यास पंचवीस पंचवीस तीस तीस वर्षांच्या मुली अविवाहीत राहणे इष्ट वाटत असेल, त्यास हा शास्त्रार्थाचा खटाटोप पसंत पडणार नाही; व त्यास हा प्रयत्न कदाचित अनुपयोगीही वाटेल. त्यास अशा लोकासाठी हा लेख लिहिला नाही हेच उत्तर आहे. सरते शेवटी रावब. चिंतामणराव वैद्य यांनी जो उद्योग आरंभिला आहे. व त्यासाठी आपल्या वेळेचा व पैशाचा जो ते व्यय करित आहेत, त्याबद्दल त्याचे आभार मानून व काही बाबतीत आमचा त्याचा मतभेद असल्यास तो स्पष्टपणे कळविल्याबद्दल त्याची माफी मागून हा लेख पुरा करतो. हे चार लेख रावब. वैद्य यांनी पदरच्या खर्चानेच प्रसिद्ध केले आहेत. या पुढचे ओझे तरी लोकांनी आपल्या अंगावर घेऊन त्यास मदत करणे जरूर आहे व त्याप्रमाणे काहीं तरी तजवीज होईल अशी आमची आशा आहे.

पत्रकर्त्यांच्या स्फुट सूचना*

रा. रा. मुधोळकर याची पत्नी नुकतीच निवर्तल्यामुळे मुधोळकरांस उपदेश करण्याची काहीं पत्रकारांस ही एक अमोत्य संधीच सापडली आहे. आपणावर जेव्हा जेव्हा प्रसंग येतील तेव्हा तेव्हा ज्याने त्याने आपल्या बोळण्याप्रमाणे चालावे हे योग्य व सर्वासच हितकारक आहे, तथापि सरकार सेवा करू देईना म्हणून स्वदेश सेवा करण्यास तयार झालेल्या पत्रकारांनी ऐन दुःखाच्या प्रसंगी आपल्या पुढ्यांस अशा तऱ्हेने टोचावे हे पाहून कोणासही क्षणभर आश्चर्य वाटल्यावाचून राहाणार नाही. आमच्या मते प्रत्येक सुधारणानुवादकाने वैधव्यपंकांत पडलेल्या गाई उद्धरण्याचा मक्ताच घेतला आहे हे म्हणणे बऱ्याच अंशी अतिशयोक्तीचे आहे. सर्व जग ब्रह्ममय असून आत्मपरभेद मोहाचे व मायेचे फल आहे असे प्रतिपादन करणाऱ्या स्वामीवर जेव्हा गजराजाची मर्जी सुप्रसन्न होऊन स्वामीमहाराज पेंचांत सापडले व यःपलायन करण्याच्या बेतांत

* [केसरी तारीख ९ फेब्रुवारी १८९२]

आले तेव्हां ' स्वामिन्, गजो मिथ्या ' अशी आठवण देणाऱ्याचें समाधान स्वामींनीं ज्याप्रमाणे ' मम पलायनमपि मिथ्या ' असें उत्तर देऊन केलें. त्याच-प्रमाणें प्रस्तुतचा प्रकार आहे. आजपर्यंत ह्या गोष्टीची वाटाघाट झाली आहे. त्यावरून बोलणें आणि करणे हे सुधारणेचे दोन स्वतंत्र मार्ग असून एका मार्गा-तील कुशल वाटाडेही दुसऱ्या मार्गात कवडीमोल ठरतात, हे अगदीं निर्विवाद सिद्ध झालें आहे. याउपपरी एखाद्या बोलक्या सुधारकास वैधव्यपंकांत पडलेल्या गाईची करुणा न येता जर तो अष्टवर्ष देशीय अगर दशवर्ष देशीय बचडीचाच स्वीकार करील तर यात काहीं आश्चर्य करण्यासारखें नाहीं. अशा वेळीं असल्या गृहस्थास बोलल्याप्रमाणें न चालल्याचा दोष न देतां " बाबारे, " आपल्या स्वतःच्या उदाहरणावरून लोकांस कशा व काय अडचणी असतात याचा नीट विचार कर व सुधारणेनें संचारित होऊन स्वतःच्या मनाची समता इतउत्तर विघडूं देऊं नकोस आणि विनाकारण आपल्या ज्ञातिबांधवांचीं मनें दुखवूं नकोस " असा उपदेश करणें आम्हास प्रशस्त वाटतें. आई, बाप, भाऊ, आतेमामी व इतर गणगोत हीं सर्वासच आहेत. या सर्वांच्या अनुमतानें व त्यांस बरोबर घेऊन जे आमचें पुढें पाऊल पडेल तेंच कायमचें व टिकाऊ होईल. याच्यासाठीं आमच्या मनातील विचार काहीं वेळ दाबून ठेवावे लागतील, काहीं वेळा माघार घ्यावी लागेल, व काही वेळा बोलावयास पुढे व करावयास मागें हाही प्रकार घडून येईल. या सवयी अगर कारणें नवीं असून तीं कोणा-सही नाकबूल होणार नाहीत; परंतु " मला आईबापाची भीड मोडतां येत नाहीं म्हणून मी असें करतो; तुम्ही मात्र आपल्या आईबापाची पर्वा ठेवूं नका; " असें प्रतिपादन करण्याचा जेव्हा शोक दिसून येतो तेव्हा मात्र वरच्यासारखी उदाहरणे लोकांच्या उपहास्यतेस व तिरस्कारास पात्र होतात; व त्याजकडून " तुम्हासच आईबाप आहेत; आम्हास नाहीत काय ? " असा जबाब मिळतो. आमच्या बेगडी सुधारकांच्या प्रथम व्याख्यानाचा भपका पाहून आमचे लोक दिपले होते व अनेक विद्यामूलतत्वांतील ताऱ्यावरून खाली आलेल्या मनुष्या-प्रमाणें त्याची काहीं वेळ स्थिति झाली होती; परंतु आतां उत्तरोत्तर सुधारक यासही आईबाप असून सदर आईबापास संतुष्ट ठेवण्याची हे राजश्री तजवीज ठेवितात असें लोकांच्या लक्षात येऊं लागलें आहे. आतां क्वचित् स्थलीं पहिल्या बाण्याचा एखादा सुधारक अद्यापीही असूं शकेल; तथापि सामान्य स्थिति पाहिली म्हणजे आम्ही वर सांगितल्याप्रमाणेंच झाली आहे. अशा वेळीं विना-कारण कोणाचें मन दुखविणें आम्हास योग्य दिसत नाहीं. शहाणा सरदार शिपा-यांची कुवत लक्षात आणूनच लढाईची सिद्धता करीत असतो; त्याप्रमाणें आमचे सुधारकाप्रणीही हीं उदाहरणें लक्षांत आणून आपल्या व्यवस्थेंत काहीं-फेरफार करतील तर हा तंटा लवकरच मिटेल आणि-अल्प कां होईना पण ती तरी कायमची सुधारणा होईल.

रावब० चिंतामणराव वैद्य यांचे पत्र गेल्या अंकांत छापून प्रसिद्ध केलेच आहे. त्यावरून त्यांचा व आमचा अबलोल्लतिलेखमालेच्या तिसऱ्या अकासबंधानें किती व कोठें मतभेद आहे हें वाचकांच्या लक्षात येईलच. बालविवाहापासून राष्ट्रचें व लोकांचें नुकसान होत नाहीं असें आम्हीं कोठेंही प्रतिपादन केले नाहीं. बालविवाह हा अवनतीस थोडाबहुत तरी कारण आहे ही गोष्ट निर्विवाद आहे; परंतु त्याचप्रमाणें फक्त बालविवाह बंद केल्यानेच राष्ट्राची उन्नति होऊ शकणार नाहीं अशी ऐरिश लोक प्रत्यक्ष साक्ष देत आहेत. एवढाच काय तो आमच्या लिहिण्याचा आशय होता. राव ब. चिंतामणराव वैद्य यांच्या मताप्रमाणेंच पुष्कळ अंशी आमची मते आहेत ही गोष्ट आम्हीं प्रथमतःच वाचकांस कळविली होती. तथापि हल्लींच्या लेखांत एकदोन गोष्टी विलक्षण दिसल्यामुळे त्यांचा आम्हीं प्रांजलपणें उल्लेख केला होता. 'व्रतानाम् उत्तमं व्रतम्' हा शेर ज्याप्रमाणें सर्व व्रतांत आढळतो तसाच काही अंशी या लेखाचा प्रकार झाला आहे. त्याबद्दल विशेष विवरण करण्याची जरूरी नाहीं. हुएनसागनें बालविवाहाचा उल्लेख केला नाहीं या गोष्टीस किती महत्त्व द्यावें याविषयी मतभेद कायम राहिल असें आम्हांस वाटतें. मनु, पराशर, महाभारत हे ग्रंथ निःसंशय पूर्वींचे आहेत व त्यांत बालविवाह आढळतो तर या ग्रंथांचा ऐतिहासिकरीत्या उपयोग करणें उचित नाहीं एवढ्याच कोटिक्रमानें आमचें समाधान होत नाहीं. अर्वाचीन पद्धतीवर लिहिलेले ग्रंथ अगर प्रवास वर्णने हींच जर इतिहासाचे आधार असतील तर आमच्या म्हणण्यास ऐतिहासिक काहीं आधार नाहीं हें आम्ही कबूल करतो; पण सूत्रस्मृतिग्रंथ जर ऐतिहासिक प्रमाणात ग्राह्य मानले तर आमच्या म्हणण्यास पुष्कळ आधार आहेत. सिलीसाहेबांनीं इंग्लंडच्या राज्य प्रसारावर जो एक ग्रंथ लिहिला आहे त्यांत हिंदू लोकांच्या अशक्ततेपेक्षा त्यांमधील फूटच त्यास त्यांच्या पारतंत्र्यास जास्त कारणीभूत झाली असे स्पष्ट दाखविलें आहे. इताली देशास पारतंत्र्य येण्यासही हेंच कारण झालें असा खुद्द बोनापार्ट याचा लेख आहे. तात्पर्य, आमच्या पारतंत्र्याचा दोष बालविवाहावर टाकणें योग्य होणार नाहीं. बालविवाह घातुक असून ते बंद झाले पाहिजेत ही गोष्ट आम्हांस संमत आहे व त्याकरितां रावब. वैद्य जी खटपट करीत आहेत त्यांचें आम्ही मनोभावेंकरून अभिनंदन करतो. आमचें म्हणणें इतकेंच कीं, इष्ट हेतु साध्य होण्यास दुसरीं महत्त्वाचीं अनेक अंगें व उपांगें लागतात. तीं सिद्ध करून जागृत ठेवणें हें प्रत्येक देशहितचिंतकाचें पहिलें काम आहे. बालविवाह बंद करणें ही त्यापैकीच एक गोष्ट आहे, परंतु इतर अंगाबरोबर तिचा विचार झाला असतां ती हल्लीं पेक्षाही विशेष सुलभ रीतीनें अमलांत येईल.

आपला धर्म*

हल्लीचा कालच असा विचित्र आला आहे की, सुबंधूने म्हटल्याप्रमाणे आपल्या डोळ्याचें महत्त्व लक्षांत येण्यास आर्शाची जरूर लागते. आमचें राज्य गेलें, आमची संपत्ति गेली, आमचें स्वातंत्र्य गेलें यामुळे आतां आम्हांस असें वाटूं लागले आहे की, आम्हीचसे काय पण आमचे पूर्वजही मूर्ख व अज्ञानी होते. राज्यव्यवस्था कशी ठेवावी, लष्करी खाते कसे वाढवावे प्रजेस गोड अभिवचनें देऊन त्याच्या जीवित्वाची सर्व किल्ली आपण आपल्या हातांत कशी राखावी इत्यादि गोष्टी आमच्या पूर्वजास ठाऊक नव्हत्याच; पण त्याचबरोबर धर्माची व ईश्वराचीही त्यास पुरी ओळख झाली नव्हती. परराज्याच्या चक्रामुळे ज्यांच्या आशा हत झाल्या आहेत त्यांच्या मुखांतून असे उद्गार निघणे साहजिकच आहे. “ कालो वा कारण प्राज्ञः । राजा वा काल कारणम् । इति ते संशयो माभूत् । राजा कालस्य कारणम् ॥ ” असा एक जुना श्लोक आहे तो पुष्कळ अंशी यथार्थ आहे. ज्यांच्या हातात सत्ता असते, जे जगामध्ये मान्यतेस व अधिकारास चढलेले असतात त्यांचेच आचारविचार लोकांस ग्राह्य वाटतात व तसे आपले आचारविचार झाल्याखेरीज आपणांस त्यांची पदवी प्राप्त होणार नाही असा स्वभावतःच समज होतो. धर्मासंबंधानें स्थितिही अशाच प्रकारची आहे. पाश्चिमात्य विद्येची ज्या वेळेस आमच्याकडे पहिल्यानें सुरवात झाली त्या वेळेस पाश्चिमात्यांचें शास्त्रीय ज्ञान व पद्धति पाहून काहीं मंडळी इतकी दिपून गेली होती कीं, घटपटादिकाची व्यर्थ खटपट अगर द्वैताद्वैतादि काध्याकूट त्यांस नीरस वाटून त्यांनीं एकदम पाश्चिमात्य तत्त्वज्ञानाकडे धांव घेतली. आमचा खरा धर्म कोणता आहे, जीवेश्वराचा काय संबंध आहे, ह्या विषयावर आपणांमध्ये कोणते ग्रंथ आहेत, त्यात कसा काय विचार केला आहे, या विचाराचा व बाह्य आचाराचा कितपत संबंध अगर कार्यकारण भाव आहे इत्यादि गोष्टींचा विचार न करिता निरीश्वर देवाच्या आधुनिक प्रार्थनेस भुलून या मंडळींनीं नानापंथ काढले व त्याचा यथाशक्ति प्रसार करण्याचाही प्रयत्न केला; परंतु ही प्रवृत्ति लवकरच कुंठित झाली. ज्ञान, कर्म व भक्ति याचा आमच्या ग्रंथकारांनीं केलेला ऊहापोह जरी या मंडळीस पसंत नव्हता तरी सदर ग्रंथांचें अध्ययन केलेल्या युरो-पियन लोकांचे लेख आमच्या मंडळींच्या डोळ्यांत अंजन घालण्यास कारणीभूत झाले. म्याक्समुलरादिकरून संस्कृतज्ञ इंग्रजांचे लेख व थिआसॉफिकल सोसायटी-सारख्या संस्था यांनीं हिंदुधर्माच्या उज्ज्वल तत्त्वास पुनरपि तेजी आणली. आपल्या ऋषींचे आत्मानात्म विचार व योग्यांचीं प्राणायामादि साधनें हीं अगदीं शुष्क व वायफळ आहेत असा जो समज होता तो पालटूं लागला. तत्त्वविचाराचे काहीं सिद्धांत दृश्य शास्त्राच्या आटोक्याबाहेरचे आहेत असें कळून आलें आणि

* (केसरी-तारीख २३ फेब्रुवारी १८९२).

एकंदर सर्व धर्मग्रंथांची तुलना करता तत्त्वविचाराच्या संबंधाने हिंदुस्थानचाच नंबर वर येईल अशी हल्लुहल्लू खातरी होत चालली. सारांश, आमच्या घरांत काय आहे त्याचें दिग्दर्शन जेव्हां परकीयांनीं केलें तेव्हांच आम्हांस त्याची योग्यता कळू लागली ! व आम्ही गेल्या पांचपंचवीस वर्षांत जो फुकट उपव्याप केला त्याची निरर्थकता आम्हांस भासू लागली. आमच्या धर्मविचारास हल्ली जें हें वळण लागत आहे तेंच चालू राहून कायम झाल्यास त्यापासून एकंदर राष्ट्राचें पुष्कळ हित होणार आहे.

वरील विचार आज सुचण्याचें कारण असें कीं, इंग्लंडांतील प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रोफे. म्याक्समुलर यांनीं धर्मावर इंग्लंडांत व्याख्यानें देण्यास सुरवात केली आहे व त्या व्याख्यानामुळे तिकडे बरीच चळवळ उपस्थित होऊन ती पुस्तकरूपानें लवकरच छापून प्रसिद्ध होतील असा संभव आहे. हिंदुलोकांच्या तत्त्वविचार ग्रंथांकडे पाश्चिमात्य लोकांचें जितकें लक्ष जावयास पाहिजे होतें तितकें अद्याप गेलें नाहीं व दुसऱ्याचा जीव कसा घ्यावा याचा अभ्यास न केल्यामुळे हिंदुलोक आज परचक्रात सापडले आहेत ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट आहे असें म्याक्समुलर साहेबानी एका व्याख्यानात बोलून दाखविले. अशा रीतीनें हिंदुस्थानाबद्दल खऱ्या कळवळ्याचे उद्गार काढणारे थोडेच युरोपियन सांपडतील. हिंदुस्थानावर आज ह्जारों वर्षे जो परकीय राजांचा अम्मल गाजत आहे त्यास म्याक्समुलर म्हणतात तेवढेंच कारण आहे किंवा दुसरीं कांही कारणे झालीं आहेत याचा आज आपणांस विचार कर्तव्य नाहीं. आमची आजची दुर्बलावस्था कशाही रीतीनें आलेली असो. किंबहुना आमचे तत्त्वविचारक ग्रंथही त्यास थोडेबहुत कारणीभूत झाले असतील असें मानलें तरी त्यामुळे सदर ग्रंथाची योग्यता कमी होत नाहीं. ज्या वेळेस जगांतील बहुतेक देश अज्ञानात बुडाले होते व धर्म म्हणजे कामऱ्याची ही त्यास पुरी ओळख झाली नव्हती. त्यावेळीं या देशांत धर्माचें खरें स्वरूप लोकांस अवगत झाले होते इतकेंच नव्हे, तर जीं तत्त्वे अलीकडे लोकांस समजली आहेत असे आपणांस वाटतें त्या तत्त्वांचा पूर्ण ऊहापोह करून आमच्या ऋषींनीं मार्गेच निर्णय केला आहे. जीवाचे धर्म ईश्वरांत कोणते आहेत अगर असणे शक्य आहे, सच्चिदानंद स्वरूपी ईश्वरांत ब्रह्मज्ञानाचा आचाराशीं कितपत संबंध आहे, धर्माचें खरें स्वरूप बाह्याचार होय का तत्त्वज्ञान होय इत्यादि प्रश्नांचा उलगडा आमच्या वेदातग्रंथातून फार चांगल्या रीतीनें केलेला आहे. आम्ही कितीही मूर्खूपासक असलों, जातीच्या संबंधानें भेदाभेद आमच्या आचारांत कितीही दिसून येत असला, नीतीचें व धर्माचें ऐक्य आहे असें जरी आम्ही पदोपरीं प्रतिपादन केलें, कर्म मार्गावर किती जरी आमची श्रद्धा असली अगर भक्तिमार्गानेंच परमेश्वर सामान्य जनांस, किंबहुना सर्वत्रांस श्रेय आहे

असें जरी आम्ही अनेकवार सांगितलें तरी वेदातविचार हें सर्व धर्मांचें मूल आहे अशी प्रत्येकाची समजूत आहे. आमच्यामध्ये कृतीही बरेवाईट पंथ असले तरी सर्व नद्या सागरांत ज्याप्रमाणें एकवट होतात त्याप्रमाणें हे सर्व पंथ ईश्वराकडेच नेणारे आहेत अशी आमची समजूत आहे. जगातील दुसऱ्या कोणत्याही धर्मांत इतकी उदारता अगर समजसपणा दृष्टीस पडावयाचा नाही. कोणी ईश्वराचा जगांमध्ये एकच अवतार झाला आहे असें मानतात; व कोणी मूर्तिपूजा सोडून देऊन निर्गुण परमेश्वराचें ध्यान करण्याचा आव घालतात परंतु आपल्या आचरणानें मूर्त्युपासक जितके आग्रही असतात तितकेंच निर्गुणोपासक असताही आपण आहो असें लोकांस दाखवितात. कोणताही धर्म ध्या. त्यांतील धर्म ग्रंथांत नीति तत्त्वांची सरमिसळ असावयाचीच, मग ती कोठें जास्ती असेल, कोठें कमी असेल, तात्पर्य या निव्वळ धर्म तत्त्वांचें इतर असारभूत गोष्टीपासून पृथक्करण करून सदर तत्त्वाचा केवळ सत्य दृष्टीनें ज्यांत विचार केला आहे असा आर्य-धर्माखेरीज इतर धर्म क्वचित्च सांपडेल. हीं तत्त्वे कोणतीं, त्याचा आपल्या जुन्या ग्रंथांतून कसा विचार केला आहे, ऐतिहासिक रीत्या त्याची उत्पात्ति व अभिवृद्धि कशी झाली इत्यादिक गोष्टींचा विचार वास्तविक पाहतां आमचा आम्हीच करावयास पाहिजे होता; परंतु वर लिहिल्याप्रमाणें आमचे सर्व विचार आदिभौतिक विद्याकडे वळल्यामुळें अध्यात्मविद्येचा हल्ली आम्हास कंटाळा आला आहे. प्रोफे. म्याक्लमुलर यांनीं या विषयाचा आज कित्येक वर्षे व्यासंग केला असून त्याचे विचार अर्थातच परिणत झाले आहेत तेव्हा त्याच्या व्याख्यानातून आमच्या अध्यात्मक ग्रंथासंबंधानें जे उद्गार निघतील ते अर्थातच प्रगल्भ असून विशेषतः आमच्या आधुनिक मंडळीस मान्य होतील अशी आशा आहे. आमच्यामध्ये अशा रीतीनें उद्योग करणारे लोक निघूं नयेत हे आमचें मोठे दुर्दैव आहे. तथापि दुःखात सुख एवढेंच कीं, सदर तत्त्वविचाराचा अजिबात लोप न होता त्यास पाश्चिमात्यांच्या हातून कां होईना, पण उत्तेजन मिळून त्याचा एका रीतीनें जीणांद्वार होत आहे. अशा रीतीनें तरी आमच्या जुन्या अध्यात्म ग्रंथांचें महत्त्व आमच्या लक्षात येवो म्हणजे झालें.

स्फुटें*

ग्रामण्य.

ग्रामण्यासंबंधानें मागील अंकी आमचा लेख लिहून गेल्यानंतर येथील चतुःशाखीय ब्रह्मवृंदांची दोन खटपटी गृहस्थानीं सभा बोलाविली होती. सुमारे १००० लोकास निमंत्रण केलें असून सभेस दोनप्रहरीं दोन वाजता सुरवात होणार होती; परंतु दोहोंचे तीन झाले, तिहींचे चार झाले तरी सभासद मंडळी कोठेंच दिसेना ! अखेरीस अगदीं सायंकाळीं चार शाखांच्या ऐवजीं एकाच शाखेचा पाला गोळा झाला आणि पोळिसाच्या पाहान्याखालीं सभेच्या कामास सुरवात झाली ! सभेंत जमलेल्या लोकांची एकंदर लोकसंख्या एक शतकापासून सार्ध-शतकापर्यंत कमजास्त होत होती ! निमंत्रण पत्रिकेत हल्लींच्या ग्रामण्यप्रकरणातील श्रीच्या अधिकाऱ्यांपुढे ग्रामण्यात झालेला पुरावा वाचून दाखविण्याकरिता वगैरे कामासाठीं सभा बोलाविली होती; परंतु पुरावा ग्राह्य कोणता ठरला हें ठाऊक नसल्यामुळें म्हणा अगर दुसऱ्या कोठें तरी मक्षिकापात झाल्याने म्हणा, सभेपुढें पुरावा वाचण्याचे काम निघालें नाहीं. कोणत्याही कारणानें का होईना; पण झाली ही गोष्ट शहाणपणाची झाली; व अशाच रीतीनें दुसरीही कामें पार पडलीं असतीं तर या चतुःशाखीय ब्रह्मवृंदसभेबद्दल आम्हांस कांहीं कमी जास्त लिहिण्याचें कारण घडलें नसलें. पण श्रीच्या अधिकाऱ्यांसमोर वादीप्रतिवादीच्या अभियोगांत झालेला पुरावा कोणत्या तरी सभेपुढे यथेच्छ वाचीत बसण्याचें साहस ज्याप्रमाणें सभासदानीं करण्याचें नाकारलें त्याचप्रमाणें इतर गोष्टीतही त्यानीं आपल्या मनाची समदृष्टता न ठेवल्यामुळें त्याच्या पुढील वर्तनावद्दल दोन शब्द लिहिणें जरूर आहे; व त्याबद्दल ब्रह्मवृंदाची माफी मागून आमचे म्हणणे सादर करतो.

श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य हे सर्व शाखाचे प्रमुख धर्माधिकारी आहेत. या-बद्दल निदान धर्माभिमानी म्हणविणाऱ्या लोकांत तरी शंका अगर अन्यथा ग्रह असू नये. श्रीपुढे अगर त्यांच्या अधिकाऱ्यापुढें जर एखादा खटला चालत असला तर त्याचा निकाल होईपर्यंत अर्थातच धर्मगुरूंचा अधिकार श्रीकडे ज्यानी सोपविला आहे त्यांनीं स्वस्थ बसलें पाहिजे. श्रीच्यापुढें चाललेल्या खटल्यांतील पुराव्याचा त्रयस्थ सभासदानीं (त्रयस्थ म्हणजे तिठ्यावरील लोक असा अर्थ करण्याची पाळी येणार आहे) स्वतंत्र रीतीनें विचार करणे व अमुक पुरावा ग्राह्य आहे अमुक पुराव्यावरून अमुक गोष्ट सिद्ध झालीच पाहिजे असें श्रीस कळविणें म्हणजे श्रीच्या गादीचा उपमर्द करण्यासारखेंच होय. चहा पिणाऱ्या लोकाकडून अशा तऱ्हेचें वर्तन घडले असतें तर त्यास कांहीं तरी सबब सागता आली असती;

परंतु धर्माभिमानानी लोकांनिंच जेव्हां अशा तऱ्हेचें वर्तन करण्यास आरंभ केला तेव्हां धर्मापेक्षां आग्रहानें व दुरभिमानानेंच या लोकांस जास्त ग्रासलें आहे असें उघड दिसून आलें. असो. पुरावा सभेंत वाचून दाखवावयाचा नाही असें ठरल्यावर याच शै—दीडशें लोकांनीं श्रीच्या अधिकाऱ्यापुढें चाललेल्या खटल्याची भवति न भवति करण्यास सुरवात केली. पुरावा काहींही असला तरी योग्य निकाल झाला पाहिजे असे कित्येकांचे प्रलाप निघाले; कित्येक स्वामी काय हवा तो निकाल करोत आमची जातगंगा ज्यास पुनीत करील तेच शुद्ध होतील असें आडमुटथासारखे बरळूं लागले; आणि कित्येकांनीं तर काहींही होवो, आम्ही आपल्या बाप आज्ञांचा धर्म सोडणार नाहीं असें निश्चून सांगितलें. अखेरीस सर्वांनुमतें असा ठराव झाला कीं, आपली सर्व हकीकत डेप्युटेशन—(हा प्रकार स्मूर्तीतून किंवा आमच्या बापआजाच्या तोडातून निघालेला आढळत नाही !) मार्फत श्रींस कळवावी व आपल्या मताप्रमाणें श्रींस निकाल करण्यास सल्ला द्यावी. नंतर सभा वरखास्त झाली व श्रीचे अधिकारी सुधारकांस फितले आहेत अशा रीतीची मूर्ख बडबड करित प्रायः एकशाखेचाच पाला घरोघर उडून गेला.

नंतर दोन दिवसांनीं रंगशास्त्र्यादि पुरस्सर १०-१२ मंडळी सभेचे हेतु श्रीच्या अधिकाऱ्यास कळविण्यास त्याजकडे गेली. त्यावेळीं तेथे प्रतिपक्षाची एकदोन मंडळी हजर होती. त्यांनीं सभेची हकीकत श्रीच्या अधिकाऱ्यास कळवून अशी विनंति केली कीं, वादीप्रतिवादीचा खटला श्रीपुढें यथाशास्त्र चालूं असून त्याचा निकाल करण्यास श्रींस पूर्ण अधिकार आहे व श्रींचा निकाल सर्वांनीं शिरसामान्य केला पाहिजे ! असे असता हे त्रयस्थ म्हणून अव्यापारेषु व्यापार करणारे गृहस्थ मध्येंच आमचे काही ऐकून घ्या असें जर म्हणत असतील तर निदान त्यांस काय सांगावयाचें असेल तें त्यांनीं वादीप्रतिवादीसमक्ष तरी सांगितलें पाहिजे. न्यायाधिशाकडे जाऊन वादीप्रतिवादीतर्फें एखादी गोष्ट गुप्त रीतीनें त्याच्या कानात सागणे सर्वथैव निघ आहे. डेप्युटेशनच्या गृहस्थांस ग्रामण्य प्रकरणातील वादीचा पक्ष अपुरा पडला असे वाटत असेल तर त्यांनीं तो पक्ष पुरा करण्यास पाहिजे तर वादीस मदत करावी; परंतु दोघांचा न्याय चालत असतां अनाहुत मध्येंच तोंड घालून त्रयस्थाचे कातडें पाघरून काही घोंटाळा करणें अगदीं रास्त नाही. प्रतिपक्षाची अशी तक्रार झाल्यामुळें डेप्युटेशन पुनः केव्हां तरी येऊन एकातीं गांठू असें म्हणून निरुत्तर होत्साते निघून गेलें.

येणेंप्रमाणें चतुःशाखीय ब्रह्मवृंदसभेचा चतुरहिक इतिहास आटपला. आता गेल्या खेपेस ग्रामण्यासंबंधाने आम्हीं ज्या गोष्टी लिहिल्या होत्या त्यावर कित्येकानी दोन तीन आक्षेप काढले आहेत त्यांचा विचार करूं. प्रथमतः प्रतिवादीसंबंधानें जो विनाकारण गैरसमज करण्याचा प्रयत्न केला आहे तो दूर केला

पाहिजे. चहा घेतला नाही, तो आमच्या हातचा नव्हता असें प्रतिवादींचें म्हणणें नाही. प्रतिवादीपैकीं कांहीं जणांनीं चहा घेतला ही गोष्ट पाहिल्यापासूनच सर्वत्रांस माहीत आहे, व गोपाळराव जोशी यांनीं आपल्या पत्रांतही त्याचा उल्लेख केला आहे. बाकी राहिलेल्या प्रतिवादीस जाणूनबुजून ब्राह्मणेतर जातीच्या हातचा चहा घेतल्याचें नाकबूल नाही. त्यांची तक्रार इतकीच आहे कीं, अशा रीतीनें चहा घेण्यास शास्त्रात जे प्रायश्चित्त निघेल तें श्रींनीं द्यावें व तें घेण्यास आपण तयार आहों, यात कोणत्याही तऱ्हेची छपवाछपवी नसून प्रतिवादींनीं आपल्याकडून सरळपणानें एकंदर प्रकार श्रींचे अधिकारी याजपुढे ठेविला आहे. वादींनींही अशाच तऱ्हेचें सरळ वर्तन केलें असतें तर या प्रकरणाचा एकदोन घटकेत निकाल लागला असता; परंतु डोळझांपणे लावून मुद्दाम आडरानात शिरण्यास जेव्हां मंडळी तयार झाली तेव्हां तेथें अर्थातच कोणाचा नाइलाज चालेना. अद्यापही या मंडळीचें वर्तन अशाच तऱ्हेचें असून त्यांस स्वतः जी गोष्ट करतां आली नाही ती घडवून आणण्यास चतुःशाखीय ब्रह्मवृंदसभेकडून श्रींच्या अधिकाऱ्यास धमकी देण्याच्या प्रयत्नांत ही मंडळी गुंतली आहे.

ब्रह्मवृंदसभेत कोणताही वाद व्हावयाचा म्हटला म्हणजे तो शास्त्रास धरून युक्तिपूर्वक व्हावयास पाहिजे. “प्रतिवादीच्या बापआजाचे वैश्वदेवाच्या वेळीं कच्छविसर्जन होत असे, परंतु सदर प्रतिवादी त्याप्रमाणें हल्लीं वागत नाहीं, करतां त्यास जातिबहिष्कृत करावा. यास प्रमाणः येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः ॥ येन यायात् सतां मार्गं । तेन गच्छन्न दुष्यति ॥” असें जर कोणी धर्माभिमानांनीं म्हणविणारा ब्राह्मण आडमुख्याप्रमाणें सभेत प्रतिपादन करूं लागला तर त्याची संभावना कोणत्याही शहाण्याच्या सभेत उपहासानेंच होईल हें आम्हीं सागावयास नकोच. आमचे बापआजे वेऱ्यागमन करित होते किंवा पैसे खात होते म्हणून आम्हीं तसें करण्यास काहीं हरकत नाही; परंतु ते चहा पीत नव्हते म्हणून आम्हीं चहा प्यालों तर मात्र जातिब्राह्म्य होऊं हें एखाद्या निरक्षर शूद्राने म्हटलें असता शोभेल. प्रस्तुत प्रकरणांतील वादीच्या पक्षास असला कोटीक्रम सर्वथैव अश्लाघ्य आहे. ब्राह्मणेतर लोकांच्या हातचा चहा घेतला असतां अगर अन्नग्रहण केलें असतां शास्त्रांत काय प्रायश्चित्त आहे हें पाहून जो न्याय होईल तोच खरा व त्यापासूनच खरें धर्मसंरक्षण होईल. वादीस धर्मशास्त्र माहीत नसलें तर त्यांनीं या प्रकरणाचा निकाल श्रींचे अधिकारी शास्त्रीद्वय याजवर सोंपवावयाचा होता, परंतु अशा रीतीनें सरळपणाचा व्यवहारच त्यांस कर्तव्य नाही. ब्राह्मणेतरांच्या हातचे उदक किंवा अन्नग्रहण केलें असतां शास्त्राप्रमाणें किती दोष येतो हें यास माहीत नाही अगर घेण्याची नाही; व श्रींच्या अधिकाऱ्यावरही यांचा विश्वास बसत नाही; व

तेव्हां आतां कांहीं तरी पुंडाई माजवावी याखेरीज त्यांस दुसरा मार्गच राहिला नाहीं. 'आमचे काय म्हणणें आहे तें त्यांत आहे' श्रींनी काशीरामेश्वरापर्यंत जाऊन अगर शास्त्रार्थ आणवून निकाल करावा असे यानीं रडगाणें चालविलें आहे; जणां काय श्रींचे अधिकारीही यांच्याप्रमाणेंच शास्त्रमूढ आहेत. श्रींचे अधिकारी यानीं काशीरामेश्वराहून शास्त्रार्थ आणून जर निकाल करावयाचा तर येथें त्यास बोलावले तरी कशास ?

दुसरा मुद्दा पुराव्याचा. या संबंधानेही असेच कांहीं शुष्क वाद काढले आहेत. वादींनी पुराव्यास दिलेले वर्तमानपत्रातील लेख पुराव्यास अग्राह्य आहेत असें आम्हीं लिहिलें होते, त्यावर कोणीही सयुक्तिक उत्तर दिलें नाहीं; तेव्हां त्या संबंधाने विशेष विचार करण्यास नको. तथापि जो तो वर्तमानपत्रकार आपापल्या पक्षाच्याच गोष्टी नमूद करित असतो. व त्याही त्यांनीं प्रत्यक्ष पाहिल्या नसता या गोष्टींचें येथे आमच्या प्रतिपक्षास स्मरण दिलें पाहिजे. केसरी पत्रातील लेख राजद्रोही असतात म्हणून त्यांवर वंगवासीप्रमाणें फिर्याद केली पाहिजे असे जर उद्या कोणी म्हणूं लागला तर त्यास उत्तर देणें जितकें आवश्यक आहे तितकेंच गांवात कोणीही मनुष्य चहा पिणारे लोक जात मोडण्याकरतां गेले होते असें म्हणेल तर त्यास उत्तर देणे अनवश्यक ठरेल. जाणून बुजून चहा घेतला ही गाष्ट कबूल आहे. जात मोडण्याकरिता चहा घेतला असे जर वादींचे म्हणणे असेल तर ते त्यास शाबूत केले पाहिजे; आणि ही शाबूती म्हणजे अर्थात् प्रतिवादींचे लेख, भाषण अगर क्रिया होत; परंतु यापैकी एकही पुरावा वादींस पुढे आणता आला नाहीं. त्याची भिस्त काय ती रिव्हिगटण साहेबावर व या साहेबाचा हवाला गोपाळराव जोशावर. गोळराव जोशी साक्षीस येण्यास एका पायावर तयार असता वादी आपण होऊन त्यास साक्षी करित नाहींत; कारण जात मोडण्याचा उद्देश सिद्ध न होता उलट याच्याच पक्षाची 'अंडीं पिळ्ळीं' गोपाळराव जोशी बाहेर काढणार. अशा रीतीने वादींचा चोहोंकडून कोडमारा झाला आहे. प्रतिवादींस जातच मोडावयाची होती तर स्वामींचा अधिकारच त्यांनीं कबूल केला नसता. ज्यास जात मोडावयाची तो प्रायश्चित्त द्या म्हणून तरी कशास म्हणेल ? परंतु हा विरोध आग्रहाने आंधळ्या झालेल्या वादींस कोठून दिसणार ? तेव्हा गरोदर स्त्रीवरच यानीं गर्भपात केल्याचा आरोप केला आहे. प्रत्येक निषिद्धाचरण ज्ञानतः केल्यानें जर जात मोडते तर बर्फ खाणारे, सोडा-पिणारे, कादे भक्षण करणारे आणि व्याजबद्ध्याचा व्यापार करणारे सर्वत्र ब्राह्मण लोक जातिबाह्य नाहींत काय ? कित्येक लोकांनीं अशी कोटी काढली आहे कीं, चहा हा पदार्थच पूर्वीं नव्हता, तेव्हां त्यास शास्त्रांत प्रायश्चित्तच नाहीं व म्हणून चहा पिणारे सर्व लोक जातिबाह्य आहेत; परंतु या कोटिबाजास असें कळत नाहीं

कीं, शास्त्रांत प्रायश्चित्त नसलें तर दोष कसचा ? अथवा दोष मानला तर बटाटे खाणारांस तरी तो कां लागू नये ? हिंदुशास्त्रकारास माहीत नसलेलीं जनावरें व पक्षी खाल्ले असतां चालेल काय ? साराश, शास्त्रकाराच्या वेळीं जे पदार्थ अज्ञात असतील त्याचा विचार सादर्यानें करावा लागतो. तसा विचार केला म्हणजे ब्राह्मणेतर लोकांच्या हातचा चहा घेण्यांत व अन्नग्रहण करण्यात कादे खाण्यापेक्षा किती तरी कमी दोष सांगितला आहे असे कोणासही स्पष्ट दिसून येईल. वादीस या अपराधाचा जो बाऊ वाटत आहे तो त्याच्या अज्ञानाचे, आग्रहाचे, दुर-भिमानाचें व असद्बुद्धीचे फळ आहे या बागुलबुवास पोरें फसतील. माहीतगार मंडळी फसणार नाहीत.

पुनर्विवाह.

गेल्या महिना दीड महिना गावात मोठ्या धामधुमीचा गेला. कोठें दुष्काळाची विवंचना, कोठे ग्रामण्याची वाटाघाट व कोठे इलेक्शनाची खटपट—मिळून एकंदर लोक काहीं तरी गडबडींत नेहमी दिसून येतच होते; परंतु ह्या सार्वजनिक बाबीपेक्षांही घरोघर लग्नमुंजीची एकच गर्दी उसळून गेल्यामुळे ताशे-चौघड्याचें कलकलाट, भिक्षुकाची धावपळ, बायकांच्या मिरवणुकी व लाडवाची चंगळ ह्यांनीं जी सर्वत्रांची जिकडे तिकडे विलक्षण धादल उडाली होती ती पुढें राष्ट्रहित, लोकहित, सुधारणा वगैरे शिळोप्याच्या वेळच्या चटसाच्या विषयांना थोडा वेळ रजा मिळाली यात नवल नाही. पुण्यात म्हणजे काहींना काहीं चळवळ चालूं नाही असें कधीं व्हावयाचें नाही; पण हल्लीं सर्व हालचालीला मंदी आल्यासारखी दिसते. लोकांचा अति आवडता विषय जो ग्रामण्य त्या संबंधानेही फारशी आस्था दिसून येत नाही. किंबहुना साक्षात् जगदुरूकडून प्रतिनिधि शास्त्री आले असता व वादीप्रतिवादीकडून अतोनात कंठशोष होत असतांही ग्रामण्य-कमिश्नास जाण्याविषयीं पोरसोराखेरीज कोणी फारशा उत्सुकताही दाखविली नाही. दुष्काळाच्या वर्षीं लग्नादिकासारखे फाजील खर्चाचे समारंभ कमी होतात असा जगाचा साधारण नियम आहे; पण आम्ही सर्वच साधारण नियमाना अपवाद आहोंत; तेव्हां यंदा येथे लग्नकार्यांचे कमी तर नाहीच, पण उलट दरवर्षापेक्षा थोडेबहुत जास्तीच प्रमाण आहे ह्यात आश्चर्य नाही. खेड्यापाड्यातून हजारों गरीब लोक धन्याच्या टंचाईमुळे एव्हांपासून निवडुगावर उपजीविका करूं लागले आहेत. पोटाकरिता घरदार सोडून बाहेर जाणाराची संख्या उत्तरोत्तर वाढत आहे. व ह्याहून अधिक वाढत जाण्याचा संभव दिसत आहे. यंदाचे साल सुखरूप कसें पार पडतें व पुढील वर्षीं काय स्थिति होते ह्याची सर्वास मोठी काळजी लागली आहे असे असून ही मोतीचूर जिल्ह्याची प्रयोजनावर प्रयो-

जनें झोडण्यांत मंडळी गर्क झाली आहे व रिकाम्या डामडौलाकरितां शेकडों रुपयाचा फत्ता पाडीत आहेत. जणू काय पुढील साल कसें जाईल कोण जाणें. चालती घडी साधून घ्यावी, अशीच सर्वांची समजूत दिसते. ह्यापेक्षां आमच्या परदुःख शीतलतेचें, अदूरदर्शित्वाचे व वेअकलेचें आणखी दुसरें निदर्शक कोणतें पाहिजे! आणि खरेच पंचपक्वानांनीं ढेंकर देत पोटावर हात फिरवितांना, ज्यांच्या कष्टावर आपणाला फुकट खायला मिळतें त्या बिचाऱ्या शेतकऱ्यांची व मजुरदारांची कशी अन्नान्नदशा झाली आहे किंवा लवकरच होण्याची भीति आली आहे, त्यांची आठवण आम्हांस कशाने येणार! असो. ह्या विषयाच्या संबधानें आज आम्हांला कांहीं लिहावयाचे नाही.

आपल्या पैशाचा हवा तसा दुरुपयोग करण्याचा प्रत्येकाला हक्क आहे. निदान कायदेशीर रीतीनें तरी त्याला कोणी प्रतिबंध करूं शकणार नाहीं. शिवाय एकंदर देशाचें दारिद्र्य वाढण्याचा क्रम असाच आणखी कांहीं वर्षे चालू राहिल्यास लवकरच थोडाबहुत पैसा येथें आहे तोही सरकारच्या व परकीयांच्या तिजोरींत जाऊन हल्लीं श्रीमंत व सुखवस्तु म्हणविणारांसही दरिद्र्यांच्या पंक्तीस बसावें लागेल आणि मग अर्थात् वरच्यासारखे अनेक वर्षे आमच्या हाडी खिळून गेलेले डोहाळे आपोआपच सुटतील. अशी स्थिति इष्ट आहे कीं नाही हा विचार येथें नको; कारण जोंपर्यें मागील ऐश्वर्याचा वृथा डौल विसरून हल्लींची आपली खरी स्थिति डोळे उघडून पाहण्यापुरती अक्कल व धैर्य आमच्यांत आली नाहीत, तोंपर्यंत वरील परिणाम टाळणें आमच्या हातांतली गोष्ट नाहीं.

आज आम्हांला एका निराळ्याच विषयाचा प्रस्ताव करावयाचा आहे. संमतविलाशां विरोध केल्यापासून सर्व सुधारणांचा अनन्योपभोग घेणारांनीं केसरीला आपल्या कपंतून हद्दपार केले व अलीकडे ग्रामण्यामुळे कांहीं धर्माभिमानी म्हणविणाऱ्या सदृहस्थांचीही आमच्यावर खप्पा मर्जी झाली आहे. वस्तुतः असत्य, लबाडी व ढोंग मग तीं कोठेंही आढळोत. त्याचा वेळच्या वेळीं परिस्फोट करणें हें केसरीचें ब्रीद व त्याकरितांच मुख्यत्वेकरून त्याचा अवतार झाला आहे. परस्पर सुधारकांच्या पोकेळ बडबडीचें खरें स्वरूप लोकांभुडें येणें जितकें इष्ट आहे तितकेच केवळ लब्धप्रतिष्ठितपणा मिळविण्याकरिता कामापुरतें धर्माभिमानीचें कातडें पांघरून एरवीं यथेच्छ वागणारांची काळीबेरी बाहेर काढणें श्रेयस्कर आहे. सर्वदा एकाच पक्षाचें मंडण करावयाचें असा ज्यांचा बाणा असेल त्यांनीं आपल्या बाजूवर बेतली म्हणजे हवा तसा लपंडाव करूं लागवें हें स्वाभाविकच आहे पण केसरीला कोणत्याही नव्याजुन्या पक्षातील बड्या मंडळीला खुष करण्याची जरूर वाटत नसल्यामुळे व आचारविचार विसंवादित्व सर्व पक्षांत सारखेच असल्यामुळे प्रसंगीं सर्वांचा रोष पत्करण्याची पाळी येते. व त्याबद्दल त्याला मुळींच वाईट वाटत नाहीं. ही गोष्ट येथें सांगण्याचें प्रयोजन हें कीं, ज्या विषयावर आज लिहिण्याचा आम्हीं संकल्प केला आहे तो अशाच प्रकारचा आहे.

आमच्या लिहिण्यानें नव्याजुन्या दोन्ही पक्षांतील पुष्कळ लोकांना वाईट वाटण्याचा संभव आहे, किंबहुना ज्या पुनर्विवाहाच्या प्रचाराविषयीं आम्ही आज लिहिणार तो इतका सार्वत्रिक आणि रूढ होऊन गेलेला आहे कीं, त्याशीं कोणत्यातरी रीतीनें संबंध येऊन पोचत नाहीं असा पुरुष फारच विरळा सांपडेल तेव्हां एवढ्या मोठ्या जनसमूहाने स्वीकृत केलेल्या प्रघाताला वाईट म्हणणार त्यापासून खरोखरच आमचे अतिशय अनहित होत आहे म्हणून हें निराळें सागावयास नको.

फार सहवासानें एखादी दुष्ट चालही मनुष्याला बरीशी वाटूं लागते, व ती बंद केल्यानें थोड्याबहुत व्यक्तींना तात्कालिक अडचण सोसावी लागत असल्यास मग तर त्या चालीचे मंडण करणारेही हवे तितके निघतात. आमच्या आंगवळणी पडून गेलेल्या पुनर्विवाहाची तरी अशीच गोष्ट आहे. पुनर्विवाह अर्थात् सुधारक वर्गाचा अति आवडता विषय होऊन गेलेला व कृतीनें नाही तरी लेक्चरार्ति-कलादिकांच्या द्वारानें तरी लोकाना परिचित झालेला बायकाचा नव्हे हें चाणाक्ष वाचकांच्या लक्षात आलेंच असेल. स्त्रीपुनर्विवाहाचे मंडण आजपर्यंत पुष्कळ झालें, व आणखी जरूर वाटल्यास लेखण्या पेंने सज्ज आहेत; तेव्हा सर्व सुधारकांचा मक्ता घेणारानीं आपलासा करून टाकलेल्या स्त्रीपुनर्विवाहासारख्या भानगडीच्या विषयांत मध्येच तोंड घालण्याची आम्हांला आज जरूर नाहीं, आणि इच्छाही पण नाही; परंतु पुरातन हिंदुधर्माचें पृथक्करण करून त्यांतील एकूण एक नासके कुसके भाग आपल्या तर्कशास्त्ररूपीं सूक्ष्मदर्शक यंत्राने शोधून काढण्याचें जबरदस्त काम पत्करणाऱ्या कुशाग्रबुद्धि सुधारकाग्रणींच्या, व तसेंच पुनर्विवाहाचें नांव काढल्याबरोबर माथें फिरून जाणाऱ्या व अंधपरंपरेनें प्राचीन स्मृत्यादि ग्रंथाचें गोडवे गाणाऱ्या धर्माभिमान्यांच्या लक्षांतून शास्त्रनिषिद्ध असून अलीकडे बोकळलेला हा पुरुषपुनर्विवाह कसा अजिबात गळला ह्याचें आम्हांस मोठें आश्चर्य वाटतें. अमुक वयापुढें लग्न करूं नये किंवा एक बायको असतांना दुसरी बायको करूं नये वगैरे नियम करावे असे क्वचित् निर्बंध ऐकू येतात खरे; पण ह्या विषयाचें खरे महत्त्व अजून कोणाच्या मनात फारसे बिंबलेले दिसत नाही व त्याचा विचारही आजपर्यंत व्हावा तसा झाला नाहीं, म्हणूनच ह्या गोष्टीचा उपक्रम करण्याचें आम्हीं आज मनात आणलें.

चालू असलेल्या हंगामात तेथें कित्येक लग्नें अशीं झालीं कीं, त्यांतील बधूवरांना, सोयऱ्याधायऱ्यांना व प्रेक्षकगणालाही खरोखर अतिशय लाज वाटावयाला पाहिजे होती. मे आणि डिसेंबर किंवा हेमन्त वसन्ताच्या संगमाची बरोबरी करणारीं जोडपीं इंग्लंडासारख्या सुधारलेल्या देशांतही आढळतात हें आम्ही नाकबूल करीत नाही. पैसा, पदवी, धूर्तता इत्यादिकाचे मनुष्यांच्या विकारांवर जोपर्यंत प्राबल्य चालेल तोपर्यंत 'अंगंगालितं पलितं मुण्डम्' अशा स्थितीस पोहोचलेल्या आजोबांच्या गळ्यांत माळ घालणाऱ्या मुग्धकुमारिका पुष्कळ आढळतील, व एखाद्या सुदामदेवाच्या गळ्यांत पडलेली रंभाही आढळेल आणि

बालविवाहानें ग्रासून टाकलेल्या हिंदुस्थानांतच नव्हे तर स्वयंवराचा पूर्ण अनुभव घेणाऱ्या पाश्चात्य देशांतूनही अंतःकरणात कळवळा आणि तिरस्कार उपन्न करणारी उदाहरणे सापडतात. परंतु आमच्या देशांत त्याला जें एक प्रकारचें व्यवस्थित स्वरूप आलें आहे व लोकांमध्येही त्याविषयी जी निर्विकार बुद्धि दिसून येते ती मात्र दुसऱ्या कांठे आढळावयाची नाही. पुरुषासंबंधानें तरी एक प्रकारचा बाजार अशीच लोकांची समजूत झालेली दिसते. गाय, म्हैस, घोडा, कुत्रा, वगैरेंपैकी एखादें मेलें किंवा निकामी झालें म्हणजे जसें दुसरें ध्यावयाचें त्याचप्रमाणें एक बायको मेली कीं दुसरी करावयाची अशीच बहुतेकांची कल्पना. लग्नमध्ये धर्मोत्तरे च कामेच असें शपथपुरस्सर जिवें पाणीग्रहण केलें, आपल्या संसाराचा जिवें अर्धा बोजा शिरावर घेतला, पतीचा सुखदुःखात वाटेकरी होणें जी आपले कर्तव्य समजत होती, व जिच्या समागमांत आनंदानें अनेक वर्षे गेलीं ती काळाच्या फेऱ्यात सापडून किंवा अनेक वेळा नवऱ्याचाच जाचामुळे अकार्लो परलोकवासी झाली तर दहा दिवसांच्या आतच तिला सवत शोधूं लागणें व महिना दोन महिने झालें नाही तोंच किंबहुना तेराव्याच दिवशीं पुनः संसारी बनणें ह्यासारखे आपली कृतघ्नता, निर्दयपणा व नीचत्व प्रगट करणारें दुसरें कोणतेही कृत्य नसेल. प्रेमातिरेकानें स्त्रीविरह दुःसह होऊन सदा विरक्त होण्याची गोष्ट तर लांबच; पण निदान मनलज्जा व लोकलज्जा बाळगून काहीं काळ तरी विधुरावस्था पाळण्याचें कोणाच्या मनांत येत नाही; इतकेंच नाही तर एखाद्यानें तसा निश्चय केलाच तर त्याचें अभिनदन होण्याचें एकीकडे राहून उलट सर्व आतवर्गाकडून मूर्खपणा मात्र पदरी ध्यावा लागतो. प्रथम स्त्रीच्या वर्षश्राद्धानंतर वर्षे दोन वर्षे तरी पुनः लग्न करूं नये असा आमच्या शास्त्रकारानीं निर्बंध केला; कारण येणें करून तरी लोकांच्या उच्छृंखल कामविकारांचे काहीं काळ बंधन व्हावें व इंद्रियनिग्रहाची लोकाना संवय लागावी. पण आमचे लोक कसले वस्ताद ! शास्त्रकाराचा मूळ उद्देश एकीकडेच राहून निर्बंधातून पळून जाण्याकरितां वर्षांचे आतच पुनर्लग्न करण्याचा त्यांनीं प्रघात सुरू केला ! आमच्यामते वरील निर्बंध आणखी कडक केला असता तर पहिली बायको मरण्यापूर्वीच आमच्या विषयलंपट बहादुरानीं दुसरीची तर्तूद करून ठेवण्यास मागेंपुढे पाहिलें नसतें.

वरील प्रकार एखाद-दुसरा वेळ घडेल तर क्षम्य होईल; पण अनेक वेळा पुनरावृत्ति करूनही पुनः व्यवहारात उजळ माथ्यानें हिंडणारे संभावीत लोक आमच्यांत थोडेथोडेकें नाहीत; व तेही अज्ञान धर्मवेड्या, जुन्या मतांच्या लोकांतच आढळतात असें नाही, तर हरएक सुधारणेच्या कामीं पुढाकार घेणाऱ्या व भूतदयेनें विरषळून जाणाऱ्या शहाण्या सुधारक चमूंतही पुष्कळ आहेत हें अत्यंत लज्जास्पद नाही काय ? आजन्म राहोच, पण दोनचार वर्षे तरी विधुरावस्थेंत घालविण्यापुरताही इंद्रियनिग्रह ज्यांना करवत नाही त्यांच्या हातून समाजसुधारणा

देशोन्नती वगैरे कामें कर्शा पार पडणार हें दिसतेंच आहे. बायको म्हणजे एक कामशांतीचें ईश्वरनिर्मित साधन व घरांत कावाडकष्ट करणारी एक मोल-करीण असें मानणारे व एकीची विल्हेवाट केली कीं लागलेच तिला पार विसरून जाऊन दुसरीबरोबर सर्व सोहाळे भोगण्यास तयार होणारे घोडनवरे ज्यांच्यामध्ये संभावीतपणानें मिरवितात त्यानीं आपल्या मुलीबाळांचा क्रयविक्रय करणाऱ्या व नवरा मेल्यास स्वर्गांत त्याच्या उपभोगाकरितां म्हणून त्याच्या शेंदोनशें बायकांस ठार मारणाऱ्या रानटी लोकांस कां हसावें हें आम्हांस समजत नाही. पहिलाच प्रसंग असेल तर पुनः लग्न केलेलें एकवेळ चालेल. पण केंस पिकले, चारपाच पोरे झालीं, लेंकीसुना घरांत चांगल्या नांदत्या झाल्या अशांनींही पुनः आठदहा वर्षांच्या सुकुमार मुलीला लेंक किंवा नात म्हणून नव्हे तर सहधर्मचारिणी म्हणून माडीवर घेणें व तिच्याशीं एखाद्या अल्पवयस्क नवरदेवाप्रमाणें सर्व विलास करणें म्हणजे त्या पवित्र विवाह-विधीची, त्या सहधर्मचारिणीची, आपल्या पौरुषाची व वृद्धपणाच्या अकलेची निवळ थट्टा करणें नव्हे काय ? आमचे हे शब्द पुष्कळांस कडू लागतील; पण आपल्या भावी स्थितीविषयी त्यानीं थोडा तरी विचार केल्यास त्याचें मूर्खपण त्यानाच कळून आल्याशिवाय राहणार नाही. बहुतेकाना त्याचे लवकरच प्रायश्चित्त भोगावें लागते. व अतिशय पश्चात्ताप होऊं लागतो असा नित्यानुभव आहे; पण लोकांच्या चुकावरून शाहणे न होता मॅटरांप्रमाणे डोळे झाकून त्याच खड्ड्यात उटी घालणारे शतशः लोक आढळतात त्यांना काय म्हणावें ? साधारण स्नेहालाही शील व्यवसायदिकाचें पुष्कळ सामर्थ्य लागतें. मग जेथे विचार, आचार, अनुभव, मनोविकार इत्यादि कोणत्याही बाबतींत ऐक्य नाही अशा बाला वृद्ध दंपतीमध्ये वैवाहिक संबंधासारख्या संबंधानें अत्यंत प्रेम उत्पन्न होण्याची आशा करणें वेडेपणा नाही तर काय ? आणि खरें प्रेम नसेल तर त्या करदी-पिकास्थानीं झालेल्या भार्येपासून त्याला, तिला व कुटुंबातील इतर मनुष्यांना कर्धाही सुख व्हावयाचें नाही हें अनुभवशिद्ध आहे. केवळ आपल्या सोयीखातर एका निरपराधी अज्ञान पोरीचा सर्व जन्म फुकट घालावयाचा तो जातोच, पण त्यामुळे आपल्याला काडीइतकेंही सुख न होतां मुद्दाम आपल्याला जबरदस्त हृद्रोग उत्पन्न करून घेऊन कण्वानें म्हटल्याप्रमाणें घरांत मोठी धोरली कुलव्याधि आपण होऊन आणण्यासारखें होतें. असल्या विजोड संबंधामुळे नावाजलेल्या कुटुंबास कलंक लागल्याची, पूर्वी सुखासमाधानानें नांदत आलेल्या घरांत कजे व द्वेष वाढून वाताहत झाल्याची, नवराबायको, मायलेक, भाऊभाऊ वगैरेमध्ये वैमनस्ये वाढून सर्वांचीच दुर्दशा झाल्याची शतशः उदाहरणें आपल्या नजरेखालून जात असतां केवळ क्षणिक सोयीकरिता भावी परिणामाविषयी डोळ्यावर कातडें ओढून विवाहरूपी दुर्लध्य पाशांत लोक पुनःपुनः पाय अडकवून घेतात त्या त्यांच्या मूर्खपणाला काय म्हणावें ? लहानपणीं आपल्या अनुमती वांचून आईबापांनीं आपल्या गळ्यांत स्त्रीरूपी सात मणांची बेडी अडकवून दिली म्हणत त्यांना नावें

ढेषणारी व बालविवाहाविरुद्ध व्याख्याने झोडणारी मंडळी अलीकडे पुष्कळ निपजुं लागली आहे; पण तीच कर्मधर्मसंयोगानें एकदा या पाशांतून मुक्त झाल्यास स्वहस्तानेंच आपल्या गळ्याभोंवतीं दुसरी बेडी विनदिकत अडकवून घेते किंवा फार दिवस गाडीला जुंपलेला बैल आपणच जूं खाद्यावर घेऊं लागतो, किंवा पुष्कळ वर्षे तुरंगवास भोगलेल्या कैद्याला मोकळ्या हवेंत चैन पडत होत नाहीसिं होतें तशी तर ह्याची स्थिति होत नसेल ना ? कसेही असो, संसाराच्या असारत्वाविषयी लांबलचक व्याख्याने देतांना सांगणारा एखादा धर्माभिमानी काय व आमच्या विवाहपद्धतींत व्यंगें काढणारा सुधारक काय, दोघेही ह्या कार्मीं सारखीच अनु-रता दाखवितात; तेव्हां त्याबद्दल अमक्याच पक्षाला दोष न देतां आमच्यांतील एकंदर प्राचीन उदात्त गुणांचा लोप, राष्ट्रीय अवनतीबरोबर आलेले शारीरिक व मानसिक दौर्बल्य आणि पूर्वी थोडी बहुत असलेली समाज बंधनें अजीवात तुटून गेल्यामुळे अतोनात वाढलेला उच्छृंखलपणा व बेपर्वाई हींच असल्या दुष्ट चालींना अलीकडे विशेष उत्तेजन मिळण्यास कारणें झालीं असें म्हटलें पाहिजे.

असो. ह्या विषयाचा एका बाजूने विचार झाला मुख्य सिद्धांताकडे पुढच्या खेपेस वळूं.

* [नंबर २]

पुरुषांना हवीं तितकीं लग्ने करण्याची मोकळीक दिल्याने, निदान लोकांची समजूत तशी झाली असल्याने तिचा कसा दुरुपयोग होऊं लागला आहे व तेणें-करून केवळ स्त्रीवर्गाचेंच नव्हे, तर खुद्द पुरुषांचें व त्याच्या एकंदर कुटुंबांचें किती नुकसान होत आहे ह्याचें एका तऱ्हेनें मागील अंकी दिग्दर्शन केलें. पण व्यक्तीपेक्षांही समाजाचें त्यापासून फारच अहित होत आहे, व म्हणून तद्विषयक निर्बंध केल्यानें व्यक्तिविशेषाला जरी कितीही अडचणी सोसाव्या लागल्या तरी सार्वजनिक हिताकरितां तसला निर्बंध करणें अत्यंत अवश्य आहे, हा आमचा मुख्य मुद्दा आहे. पुनर्विवाह म्हटला कीं विधवा डोळ्यापुढें दिसूं लागतात आणि मग प्रत्येकाच्या मताप्रमाणें निरनिराळे विकार त्याच्या मनांत उद्भवतात. वैधव्य-पंकांत रुतलेल्या गार्थींना उद्धरण्याकरितां 'मनसा वाचा हस्ताभ्यां' प्रयत्न करण्याचा एखाद्या तरतरीत सुधारणेच्छुला आवेश येतो; व बाबावाक्याला प्रमाण मानणाऱ्या व शास्त्ररूढीरूप प्रकारामागें दडून परपक्षावर शब्दवर्षाव करणाऱ्या धार्मिकमन्याकडून 'अब्रह्मण्यं' 'अब्रह्मण्यं' असा ध्वनि निघूं लागतो. पण विधवाविवाहापेक्षा शतपटीनें महत्त्वाच्या दुसऱ्या प्रकारच्या पुनर्विवाहाकडे लोकांचें लक्ष जात नाही. वस्तुतः ह्यांत फारसें आश्चर्य नाही; कारण इल्लीं सुधारणावादी काय आणि धर्माभिमानी काय, दोघांचेही आचरण स्वार्थदृष्टीचें आहे; तेव्हां

केवळ सार्वजनिक हिताकरितां एखादी गोष्ट अमलांत आणून स्वतः अडचण सोसण्यास तयार होण्यापुरतें नैतिक धैर्य कोणाच्याच अंगीं आढळूं नये हें स्वाभाविक आहे. स्त्रीपुरुषांची योग्यता सारखी करावयाची हा सुधारांचा हेतु स्तुत्य आहे, पण तत्प्रीत्यर्थ पुरुषांप्रमाणें स्त्रियांसही उच्चृंखल करण्यापेक्षां पुरुषांच्या स्वैर वर्तनालाच थोडाबहुत आळा घालणें अधिक श्रेयस्कर झालें असतें. विवाहबंधनें सैल करून आधीच बेताल झालेल्या विषयवासनेला उत्तेजन देण्यानें एखाद दुसऱ्या व्यक्तीचें दुःख निवारण झालें तरी ती खरी सुधारणा नव्हे हें आमच्या संसारेकपरायण सुधारकांच्या लक्षांत आलें नाहीं तें ठीकच आहे. तसेंच स्त्री-पुनर्विवाह शास्त्रनिषिद्ध एवढ्यावरून त्याजविरुद्ध ओरड करणाऱ्यांनीं आपण तितकेच किंवा त्याहूनही वाईट शास्त्रनिषिद्ध प्रकार हरषडीं आचरीत आहों हें मनांत आणूं नये हेंही त्यांच्या अप्पलपोटेपणाला अनुरूपच आहे. विधवांना शास्त्रकारांनीं संन्यासव्रत सांगितलें म्हणून त्यांची थोरवी गाऊन, त्याच शास्त्रकारांनीं विधुराविषयीं तितकेच कडक निर्बंध केले आहेत ते विसरून जाणें, व आपल्या सुनालेकींना पातिव्रत्य धर्माचा लांबलचक उपदेश करून स्वतः एकामागून किंबहुना एक जिवंत असतांनाही दुसऱ्या हव्या तितक्या बायका करणे, व इतकेही करून धर्मरक्षणाचा आपल्याकडेच मक्ता घेऊं पाहणें त्याला अप्पलपोटेपणा म्हणूं नये तर काय म्हणावें हें आम्हास समजत नाहीं. त्याचप्रमाणें समाजोन्नति, सुधारणा वगैरेवर लांब व्याख्यानें झोडून, इंद्रियनिग्रहाचें उदाहरण घालून देण्याचा स्वतःवर प्रसंग आला कीं, भागूवाईपणा पत्करणे व आपण होऊन बालपत्नीचे लोढणें गळ्यांत अडकवून पुनः घाण्याच्या बैलाप्रमाणें कुटुंबभरणात आपल्या अमोलिक आयुष्याचा दुर्व्यय करणें हेंही तितपतच निंद्य आहे. येणेप्रमाणें दोन्ही पक्ष या कार्मां सारखेच दोषी असल्यामुळें कोणी कोणास हसावयास नको हें खरें; व म्हणूनच ह्या विषयासंबंधानें बहुधा हल्लीं स्तब्ध वृत्ति दिसून येत असावी. पण देशाची खरी सुधारणा आणि उन्नति व्हावी अशी सर्वांची इच्छा असेल तर हल्लींचा प्रकार जितका लवकर बंद होईल तितका होणें इष्ट आहे, व म्हणूनच ह्या विषयास आम्ही हात घातला. लग्न करणें हें जन्मातील मोठें कर्तव्य अशी हल्लीं सर्वांची समजूत आहे ती कमी झाल्याखेरीज ह्या बाबतींत कोणतीही सुधारणा व्हावयाची नाहीं; व चतुर्भुज बनवण्याकरिता चोरी करणें किंवा परकऱ्यांचा प्रतिग्रह करणें ह्यापेक्षां विष्णुस्वरूपाप्रत पावण्याचे दुसरे उत्तम मार्ग आहेत. हें तत्त्व लहानापासून थोरापर्यंत सर्वांच्या मनांत बिंबल्याशिवाय त्यांच्या हातून कोणताही पुरुषार्थ व्हावयाचा नाहीं. तेव्हां लक्षाचें हल्लीं जें इतकें बंड माजलें आहे तें कमी करणें हाच खऱ्या सुधारणेचा उपाय आहे व त्यांतच खरें धर्मरक्षण आहे असें आम्ही दाखविणार आहों. येथें आम्हाला वर सांगितलेल्या दोनही प्रकारच्या लोकांची समजूत घालावयाची आहे. नवीन मताच्या पक्षाला

युक्तिवाद विशेष पसंत पडतो, तर धर्माभिमानांनी ह्यणविणारी मंडळी जुने शास्त्रकार सांगतील तेवढेच ग्राह्य असा आग्रह धरून बसणार. वस्तुतः दोन्ही पक्षांचा आग्रह केवळ बोलण्यापुरताच असतो; आचरण दोघांचेही एकसारखेच; म्हणजे 'मनः पूतं समाचरेत्' ह्या तत्त्वानुरोधानेच असते. प्रसंग पडला म्हणजे युक्तिवाद गुंडाळून ठेवणारी सुधारक मंडळी दृष्टीस पडते, तसे घडोघडी विहितभंग व निषिद्धाचरण करणारे धर्माभिमानांनीही शकडों आहेत; परंतु वादपद्धति दोघांची भिन्नभिन्न असल्यामुळे आम्हालाही प्रस्तुत विषयाचे शास्त्रदृष्ट्या व युक्तिदृष्ट्या अशा दोन्ही मार्गांनी विवेचन केले पाहिजे. शिवाय प्राचीन ऋषिमत सुधारणेला आड येते असा जो विनाकारण गैरसमज आहे तो ह्या विषयासंबंधाने तरी खोटा आहे असेही दाखविण्यास ही चांगली संधि आहे. तेव्हा आजच्या खेपेस प्राचीनकाळीं शास्त्रसंमत आचार क्रोणता होता हें पाहू; म्हणजे हल्लीं लोकांचे वर्तन युक्तिदृष्ट्या अत्यंत हानिकारक आहे इतकेच नाही, तर प्राचीन शास्त्रकारांनाही नापसंत व म्हणून अधर्मकारक आहे असे स्पष्ट दिसून येईल.

धर्मशास्त्रग्रंथांतून द्विजमात्राला सारख्याच योग्यतेचे सोळा संस्कार विहित असून केवळ विवाहालाच अलीकडे इतके प्राधान्य कां आले व इतरांचा बहुतेक लोप कां झाला? ह्यातील इंगित आमच्या मते हिंदु लोकांची न्हासकाळीं अति वाढलेली विषयलंपटता हेंच असावे. लग्नाखेरीज उपनयन मात्र कांहीं कांहीं जातींत आढळते, पण तेही बारा वर्षांचे एका दिवसांत आटपून टाकण्यापुरते संपुष्टांत आले आहे, व गुजराथ वगैरे प्रांतांत तर त्याला मुळीच फांटा मिळाला आहे. स्त्रियांचे मौजीबंधनपूर्वी होत असे असे म्हणतात, पण तेही लुप्त झाले. सारांश, लोकांनीं संसारपाशात लवकर पडून नये एवढ्याकरितां अडथळे म्हणून हें जे विवाहाचे पूर्वी १५ संस्कार लावून दिले होते, त्या सर्वांचा लोप करून वस्तुतः कनिष्ठ अशा विवाहाचेच लोकांनीं स्तोम माजविले ह्याला कारण त्यांची मानसिक अवनती व धर्मबुद्धिचा न्हास हेच असले पाहिजे. देवर्षिपितृऋणापैकीं पुत्रोत्पादन करून पितरांपासून ऋणमुक्त होण्याकरितां आयुष्य वेचणारे लोकच यज्ञाने व अध्ययनाने फिटणारीं, देवांचे व ऋषींचे अर्शी दुसरीं दोन ऋणे अजीवात विसरून गेले. मन्वादिकांनीं गृहस्थाश्रमाची प्रौढी वर्णन केली ती याजनाध्यापनाकरितां हे विसरून शंकराचार्यांनीं मंडणामिश्रांस म्हाटस्याप्रमाणें मातृ-स्वसृस्थांनीं झालेल्या स्त्रियांशीं रममाण होण्यांतच लोक कृतार्थता मानूं लागले. सारांश, प्राचीन ऋषींच्या नियमांतील मुख्य भाग टाकून आपल्या प्रखर झालेल्या विषयवासनेची यथेच्छ तृप्ति करण्यास अनुकूल तेवढाच भाग लोकांनीं उचलला; व आमची सर्व प्रकारें हल्लीं जी अवनति झाली आहे ती त्याचा परिणाम असें असून, रागतः स्वीकार केलेल्या हल्लींच्या प्रत्येक रूढीला त्या पुराणपुरुषाची संमति दाखवूं पहाणें म्हणजे त्यांची थड्या करणें नव्हे काय? वस्तुतः स्त्रियांप्रमाणें पुरुषांचें लग्न अवश्य झालेच पाहिजे अशी प्राचीन

शास्त्रकारांची समजूत नाही. प्रत्येकाला चारी आश्रम विहित असल्यामुळे एक विवाह फार तर केला तर चालेल; पण अनेक विवाहाचा व विशेषेकरून कांहीं विवक्षित वयानंतरच्या पुनर्विवाहाचा तर त्यांनी स्पष्ट निषेधच केला आहे; त्यावरून प्राचीन काळीं विवाहाला व तन्मूलक गृहस्थाश्रमाला फारसे महत्त्व देत नव्हते हें उघडच आहे.

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥

(मनु. ५-१५९)

ह्या मनुवचनांत तर विवाहाखेरीजही पुरुषार्थ किंवा स्वर्गप्राप्ति साधतां येते असें स्पष्ट सुचविलें आहे.

‘ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा

प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा ॥

(जावा. ४)

ह्या जावालश्रुतीनेही गृहस्थाश्रमाची म्हणजे विवाहाची मुळींच जरूर नाही, तर पाहिजे तेव्हां संन्यास घेता येतो असें म्हटलें आहे. इतकेंच नाही तर शेवटीं ‘ यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत् ’ अशीही अनुज्ञा दिली आहे. ‘ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ’ व ‘ विधिर्वा धारणयत् ’ (ब्रह्मसूत्र ३-४-१९-२०) ह्या सूत्रात बादरायणाचार्यांनी हाच सिद्धांत स्थापन केला आहे. तात्पर्य, गृहस्थाश्रम किंवा विवाह परमपुरुषार्थ साधनापैकीं नसल्यामुळे पुरुषांना आवश्यक नसून केवळ रागतः प्राप्त अतएव गौण आहेत. तेव्हा तीं नाहीं केलीं तरी चालतील इतकेंच नाहीं, तर त्यांच्यायोगानें दुसऱ्या महत्त्वाच्या कार्याला प्रतिबंध होत असला तर मुळींच करूं नये. ‘ यदहरेव विरजेत् ’ ह्या वाक्यांनी हेंच सूचित केलें आहे व म्हणून प्राचीन ऋषि-वर्षांना संमत असा उत्तम पक्ष म्हटला म्हणजे आमरण ब्रह्मचर्य किंवा संन्यास होय. विवाहाला फारसें महत्त्व दिलेले नाहीं. अगदीच नाहीं असें आमचे म्हणणें नाहीं,

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि

(मनु. ६-८९)

वगैरे ठिकाणीं त्यांनीं त्याची थोरवीही गाईली आहे. पण त्याचें कारण अर्थात् तेव्हांची विशेष प्रकारची लोकस्थिति होय हे सहज लक्षात येण्यासारखे आहे. देशाच्या मानानें लोकसंख्या थोडी असल्यामुळे प्रजोत्पादनाला उत्तेजन देणें त्या वेळेस अवश्य होतें. पण आतां तशी स्थिति नाही. लोकात दारिद्र्य वाढत चाललें असूनही गेल्या वर्षांत साडेतीन कोटि प्रजा वाढली ! तेव्हां प्रजोत्पादनाला उत्तेजन देण्यापेक्षां तें कमी करणेंच हल्लीं आवश्यक झालें आहे व तें करण्यास विवाहच कमी झाले पाहिजेत.

परंतु आमरण ब्रह्मचर्याचें पालन करणें साधारण मनुष्याच्या हातून व्हावयाचें नाहीं. तसेंच खरें वैराग्य झालें नसेल तर तें पाळण्याच्या भरीस पडूं नये हेंच एकार्थी चांगलें, असें समजूनच कीं काय, आमच्या शास्त्रकारांनीं दुसऱ्या एका गौणपक्षाची योजना करून ठेविली आहे. तो हा कीं समावर्तनानंतर ग्राह्यस्थ्य स्वीकारून संसारसुखाचा पाहिजे तर अनुभव घ्यावा; परंतु खऱ्या पुरुषाची जोड करावयाची असेल तर कांहीं काळानें तरी त्यापासून निवृत्त झाले पाहिजे.

“ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलितमात्मनः ।

अपत्य स्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

(मनु. ६-२)

म्हणजे तोंडावर सुरकुत्या पडल्या, केंस पांढरे झाले, मुलेंबाळे झालीं म्हणजे गृहस्थानें सर्वसंगपरित्याग करून वनांत जावें असें मनु म्हणतो. पण हल्लीं प्रकार कसा आहे बरें ? नदीवर गोवऱ्या गेल्या तरी एखाद्या अल्पवयस्क मुलीचें पाणिग्रहण करून आपल्याबरोबर चिताग्रीत नाहीं तरी वैधव्यरूप दावानलांत तिळा लोटूं पाहणारे नराधम सभ्य म्हणून खुशाल लोकांमध्ये मिरवितात !

“ द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ”

(मनु. ५-१६९)

म्हणजे अर्धें आयुष्य होईपर्यंत म्हणजे अर्थात् शिकस्त पन्नास वर्षेपर्यंत गृहस्थाश्रम ठेवून पुढें संसारत्याग करावा असे मनुचें म्हणणें आहे. ही गोष्ट अर्थात् शंभर वर्षांची आयुर्मर्यादा होती तेव्हांची झाली; पण हल्लीं ५० किंवा ६० हेंच आयुष्याचें मान झालें आहे. तेव्हां वरील मनुवचन पाळावयाचें म्हटलें म्हणजे तिसाव्या वर्षांच्या आंतच गृहस्थाश्रम पूर्ण करणें प्रत्येकाचें कर्तव्य होत नाहीं काय ? गौतमाचेंही असेंच दुसरें एक वचन आहे तें अधिक स्पष्ट आहे.

“ पंचाशद्वर्षादुर्ध्वं च न ग्राह्यं पाणिपीडनम् ।

कलयुर्गस्य दुष्टत्वाच्याज्य माहुर्मनीषिणः ॥

युवानं प्रेक्षयेन्नारी स्वयं जीर्णापि सर्वदा ।

व्याभिचारात्कुलं नश्येत् कुलनाशात्कुलांगनाः ।

भ्रंश्यति संकराभूत्वा संकरो नरकाय वै ।

नरकान्नानुवर्तेत तस्माद्दर्हान्ति ॥

म्हणजे एक वेळ वृद्ध स्त्रीनें तरुणाशीं लग्न केलेले पत्करेल; पण पन्नास वर्षांनंतर म्हताऱ्यानें कधींही लग्न करूं नये; कारण अशा लग्नाची स्त्री व्यभिचारिणी निधावयाची व मग सर्व कुलक्षय होतो. भगवद्गीतेच्या प्रथमाध्यायांत अर्जुनाचें असेंच म्हणणें आहे. तेव्हां वरील वचनांचा केवळ शब्दार्थ घेतला तरी पन्नास वर्षांनंतर विवाह करणें म्हणजे अतिशय मोठे अधर्माचरण करणें असें होतें. पण तें करणारावर हल्लीं कोणी ग्रामण्य करीत नाहीं. ह्या धर्मश्रद्धेस काय म्हणावें ? वस्तुतः वरील वचनांचा शब्दार्थ घेण्यापेक्षा शास्त्रकारांचें तात्पर्य घेणेंच अधिक इष्ट

आहे, व तें घेतलें म्हणजे विवाहाची उत्तरमर्यादा पन्नासाच्याही अलीकडे येईल हें वरती दाखविलेंच आहे. दुसऱ्या एका दृष्टीनें हीही मर्यादा अलीकडे येते.

“ त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां त्स्यां द्वादश वार्षिकी ” इत्यादि मनुवचनाप्रमाणें पुरुषाचा प्रथम विवाह तिसाव्या वर्षी झाला पाहिजे. “ त्र्यष्टवर्षाऽष्ट वर्षीयां ” हा कनिष्ठ पक्ष घेतला तरी तो काल २४ ठरतो आणि हल्लीं लग्नें तर बहुत करून १६-२० च्या दरम्यान होतात. मनुनें तिसापासून पन्नासांपर्यंत म्हणजे २० वर्षे गृहस्थाश्रम अनुभवण्यास परवागनी दिली आहे; तेव्हां मनुस्मृत्यनुसार ३६ पासून ४० च्या आंतच संसारत्याग करणें प्रत्येकाला हल्लीं भाग आहे. अर्थात् ४०-साव्या वर्षानंतर पुनः लग्न करणारा धर्माविरुद्ध आचरण करित असून आश्रम-भंगास सांगितलेल्या प्रायश्चित्तास म्हणजे जातिभ्रंशास पात्र आहे. गृहस्थाश्रमाला उचित अग्निहोत्रादि कर्में करणारांची ही गोष्ट; मग संध्या देखील विसरून ‘ न हिंदुर्न यवनः ’ बनलेल्या अर्वाचीन मंडळीस आमच्या शास्त्रकारांनीं मुळींच लग्न करण्याची तरी परवानगी दिली असती कीं नाहीं हा संशयच आहे.

येणेंप्रमाणें तीसचाळिसांचें दरम्यान संसारत्याग करून परमार्थ साधनाकडे लक्ष लाविलें पाहिजे. असें आमचें धर्मशास्त्र सांगतें, आणि जोंपर्यंत आमची धर्मबुद्धि जागृत होती, जोंपर्यंत विषयोपभोग हे आयुष्यातील इतिकर्तव्य नसून होईल तितकें लवकर संसारपाशांतून मुक्त होऊन इतर अत्यंत महत्त्वाच्या कार्यास लागवें असें पुष्कळ लोकांस वाटत होतें. तोंपर्यंत वरील नियमाप्रमाणें वागून आपली निग्रहशक्ति, निरपेक्षता व धैर्य दाखविणारीं माणसें आमच्यांत निपजत होती असें इतिहास साक्ष देतो.

ह्याप्रमाणें गृहस्थाश्रम संपवून वानप्रस्थाश्रम किंवा संन्यास स्वीकारावा असें शास्त्रकारांचें म्हणणें आहे. पण तसें वागणें सोपें नाहीं, म्हणून लोकांनीं अर्थात्च तिकडे दुर्लक्ष केलें; परंतु आम्हांला जर पुन्हां आपली पूर्वीची उन्नतावस्था प्राप्त करून घ्यावयाची असेल तर त्याप्रमाणें वर्तन करूं लागल्यावांचून गत्यंतर नाहीं हें उघड आहे. संन्यास शब्दानें लौकिक भगवा संन्यास मात्र घ्यावयाचा नसून खरा संन्यास म्हणजे सर्व काम्यवस्तूंचा व कर्मांचा परित्याग असाच अर्थ घेतला पाहिजे; व हें आम्हींच म्हणत नसून त्याला प्राचीन आधार आहे.

“ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफल त्यागं त्यागं प्राहुर्विच क्षणाः

(भ. गीता १८-२)

ह्या गीतेंतील भगवद्बचनाप्रमाणें खरा संन्यास म्हणजे सर्व कामकाज सोडून गुलाबी छाट्या फडकावीत यजमानाच्या पुढ्यावर पुष्ट होणें नव्हे, तर सर्व कर्में यथोक्त रीतीनें करित असतांही त्यांच्या फलाची अपेक्षा न ठेवणें हा होय. मनातील वासनारूप कषाय गेला नाहीं तोंपर्यंत नुसती बाहेर कषायवस्त्रें परिधान करणें,

किंवा आशेचें मंडण होण्यापूर्वीच शिखेचें मुंडण करणें व्यर्थ होय. व्याजो नारायण, मुद्दल नारायण, करणारे भिक्षू, गांवोगांव आहेत; पण,

“ एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।

(भ. गीता. १८-६)

ग्रामप्रमाणे जगांत राहूनही निष्काम बुद्धीनें सर्व व्यवहार करणारा महात्मा ऋचित्च आढळतो घरात राहून व लोकांमध्ये सर्व व्यवहार करून हा संन्यास पाघतां येतो असें श्रीकृष्णांनीं अर्जुनास केलेल्या उपदेशावरून व अनेक ऐतिहासिक पुरुषांच्या उदाहरणांवरून स्पष्ट होतें. तीस वर्षे भरली कीं इंग्रज सरकारही आपल्या नोकरांस पेन्शन घ्यावयास लावतें; पण आमच्या संसारयात्रेपासून प्रमाजीभास्कराचें बोलावणें येईपर्यंत देखील आम्ही रजा घेत नाहीं. ह्या आशाळ-भूतपणाला काय म्हणावें ? ४० व्या वर्षीं सर्वसंगपरित्याग करून भीक मागत हिंडावें अगार चाकरी वगैरे सर्व सोडून हरि-हरि म्हणत स्वस्थ बसावें असे आम्ही म्हणत नाहीं.

“ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥

(भग. १८-७)

ह्या भगवद्भजनाप्रमाणें नियमित कर्तव्याचा त्याग करणें कधींच इष्ट होणार नाहीं. मात्र तीं करताना स्वार्थबुद्धि असूं नये, परमार्थाकडे दृष्टि द्यावी, व उरलेलें आयुष्य निरपेक्ष बुद्धीने लोकहितार्थ झटण्यात घालवावे इतकेंच वरील विवेचनाचे तात्पर्य आहे.

[नंबर ३]*

त्रिवाहासबंधाने आमच्या ऋषिवर्यांचें काय मत आहे तें मागील खेपेस सांगितले. आमरण ब्रह्मचर्याचें पालन करणें हा उत्तम पक्ष, किंचित् काल गृहस्थाश्रम अनुभवून नंतर त्यापासून परावृत्त होणें हा मध्यम पक्ष, व यावज्जीव संसारपंकांत निमग्न राहून जसा जन्म झाला तसेंच यमराजाचा हुकूम येईल तेव्हा जगांतून प्रयाण करणें हा अधम पक्ष होय, असा सर्व शास्त्रांचा मथितार्थ आहे. हिंदुधर्मात वैराग्यप्रवृत्तीला फाजील महत्त्व देऊन ऐहिक वस्तूविषयी तिरस्कार दाखविला आहे म्हणून कित्येक विधर्मी व त्याचाच सूर ओढणारे आमच्यापैकी कित्येक लोक त्यास नावें ठेवतात; पण त्यातील खरे इंगित दोघानाही समजत नसतें. संसारत्याग करून विरक्त होणें म्हणजे घरादाराला आग लावून देऊन वनचरवृत्ति धारण करणे असेच केवळ नव्हे हे त्यांच्या ध्यानात येत नाहीं.

नुसता अरण्यवास केल्याने विषयवासना लय पावते असा नियम नाही. विषय-वासना जागृत आहे तोंपर्यंत परमार्थाकडे कधीही दृष्टि लागत नाही हे जसे खरे आहे, तसेच ऐहिक सुखाची हांव नाहीशी झाली असेल तर जगाशी संबंध ठेवून व घरात राहूनही परमार्थसाधन करता येते, अशाविषयी प्राचीन व अर्वाचीन-काळीं अनेक माहात्म्यांनी उदाहरणें घालून दिली आहेत. सार्वभौम राजाचें पौरोहित्य करीत असताही अंतःकरण निर्विकार ठेवून परमार्थचिंतेंत खल पडून देणाऱ्या वसिष्ठापासून तों अविधाची चाकरी करणारा दामाजीपंत किंवा शिवगुरु रामदास ह्यांच्या काळापर्यंत पाशमुक्त बुद्धीनें ऐहिक व पारमार्थिक कर्तव्ये चोख बजावून आपणांस, आपल्या कुळांस व एकदर देशास कृतार्थ करून घेणारे हजारों माहात्मे होऊन गेले अशी इतिहास साक्ष देतो. राज्यशासनासारखें अगदीं व्यावहारिक स्वार्थपर काम करणाऱ्या क्षत्रियांनाही

गुणवत्सुतरोपित श्रियः

परिणामेहि दिलीपवंशजाः ।

पदवीं तरुवल्कवाससा

प्रयताः संयमिना प्रपेदिरे ॥

असाच कुलधर्म सांगितला आहे. मनूनेही वीस वर्षे गृहस्थाश्रम अनुभवून नंतर त्याची अपेक्षा सोडावी असा नियम घालून दिला आहे. पण ज्या हिंदुधर्माचा हा आदिम सिद्धांत त्याचाच अभिमान बाळगणारे आम्ही क्षणोक्षणीं त्याची उपेक्षा करतो; इतकेच नाही तर आपल्या कृतीनें व पुष्कळदा वाचेनेंही लोकांस त्याच्या विरुद्ध उपदेश करतो ! मुलेंवाळें जाणतीं झाल्याबरोबर संसाराचा बोजा त्यांजवर टाकून मोकळे होणें हे प्रत्येकाचें कर्तव्य आहे, ही कल्पनाच अलीकडे लोकांच्या मनातून नाहीशी झालेली दिसते. मुलगा झाला कीं सून केव्हा पाहीन, सून आली कीं नातवंड केव्हां खेळवीन व नातू झाला कीं बाळ्याचें लग्न केव्हा करीन ह्या विवंचनेखालीं आम्हांला ह्या जगात येऊन दुसरीं पुष्कळ कर्तव्ये करावयाचीं आहेत हे आमच्या स्वप्नींमुद्धा येत नाही. यावज्जीव कडकडीत ब्रह्मचर्य पाळून आपल्या ब्रह्मतेजाने सार्वभौमांसही नमविणारे प्राचीन ऋषि कोणीकडे, व आपली व बायकापोरांची टीचभर खळी भरण्याकरिता वर्षानुवर्षे विषम लोकांच्या सेवेत बुटांच्या लाथा खाणारे त्याचे गोत्रज कोणीकडे ! परशुरामानें दान दिलेल्या पृथ्वीचाही अड्दर करणारा कश्यप किंवा अगदीं अलीकडे शिवाजीचें राज्य शिवाजीस परत देणारा रामदास ज्या भूमीवर अवतीर्ण झाला तेथेंच यत्किंचित् अर्थ-लाभाकरितां हवीं तीं निंद्य कर्म करणारे अधम निपजू लागावेत ह्याहून आमच्या धर्माची व नीतिमत्तेची आणखी विटबना ती कोणती ! आमची हल्लीं अवनति झाली आहे ती हिंदुधर्मांमुळे नव्हे, तर धर्म अजीबात सुटल्यामुळे झाली आहे ही गोष्ट धर्माभिमानी व सुधारक ह्या दोघानांनीं ध्यानात ठेवण्यासारखी आहे. विशेषेकरून तारुण्यांतील आपल्या सौंदर्याची प्रतिष्ठा सागणाऱ्या अर्धजरतीप्रमाणे अग्नीं

पूर्वी फार सुधारलेले होतो म्हणून डौल मारणारांनी आपल्या प्राचीन वैभवाच्या आठवणीनेच संतोष मानून न घेतां, ते गेलें कसें व पुनः कशानें आणतां येईल ह्याविषयी विचार करणें अधिक श्रेयस्कर होईल. जन्मदरिद्रापेक्षां वडिलार्जित संपत्ति उधळून कफळक बनलेला गर्भश्रीमंत अधिक निंदाई आहे हें जसें सर्वांना कबूल आहे, तसेंच आपला पूर्वीचा मोठेपणा व हल्लींची निकृष्टावस्था पाहून आपणांस अत्यंत लज्जा व उद्वेग उत्पन्न झाला पाहिजे.

असो. आपल्या पूर्वजांचे वैभव प्राप्त करून घ्यावयाचें असेल तर त्याचेंच अनुकरण केलें पाहिजे, ही गोष्ट निर्विवाद आहे. ज्या गुणांच्या योगानें हा हिंदुस्थानदेश प्राचीनकाळीं अखिल जगतावर ललामभूत होऊन बसला होता, ज्याच्या योगानें ग्रीस, रोम वगैरे प्राचीन राष्ट्रांची आध्यात्मिक व आधिभौतिक उन्नति झाली होती, व ज्याच्या योगाने अर्वाचीनकाळीं युरोप व अमेरिका-खंडातील देश सुधारणेच्या व स्वतंत्रतेच्या अत्युच्च शिखरावर जाऊन बसलेले आढळतात, त्या गुणांचें संपादन करण्याखेरीज आपल्या देशाचें पुनरुज्जीवन करण्यास दुसरा मार्ग नाही. अस्वार्थपरता, परमार्थदृष्टि, मानसिक औदार्य, आत्म-संयमन वगैरे गुण इंग्रज लोकांत जागृत आहेत म्हणूनच त्यांना एवढे वैभव प्राप्त झालें आहे; तेव्हा त्याचा किता गिरवावयाचा म्हणजे जाकीट, पाटलोन तेवढी न घेतां बरील गुण शिकले पाहिजेत, व तें करण्याला आम्ही वर सांगितलेला एकच उपाय आहे. देशाची उन्नति करणें असेल तर अगोदर आत्मसंयमन करण्यास शिकून स्वतःची मानसिक उन्नति केली पाहिजे; आणि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य परत मिळवावयाचें असेल तर आधी कुटुंबदास्यांतून पुष्कळ लोकांनी आपणांस मुक्त करून घेतलें पाहिजे.

कोर्णांचे लग्न करूं नये असें आम्ही म्हणत नाहीं. तसें म्हणणें वेडेपणाचें होईल व तसें घडणेंही अशक्य आहे; परंतु विवाहारावरील हल्लींची आसक्ति कमी झाली पाहिजे. आजन्म ब्रह्मचर्य पाळवलें नाही तरी निदान विजवरांचे पुनर्विवाह बंद केले पाहिजेत; आणि येणेंकरून तरी संसारपाशांतून मोकळे असे हजारां पुरुष देशकार्यासाठीं तनमनधन अर्पण करण्यास तयार झाले पाहिजेत. हल्लीं कोणतेही देशहिताचें काम हातीं घ्यावयाला दोन मोठ्या अडचणी येतात; एक द्रव्याची व दुसरी माणसाची. राष्ट्रीय सभा सर्वांना हवी, पण फंड देण्याला लोक तयार नाहीत; आणि ह्यूमसाहेबाप्रमाणें तत्प्रीत्यर्थ येथे रात्रंदिवस झटणारे किंवा विलायतेस, आपली दाद लावण्याकरितां, जाण्याचें धैर्य करणारे पुरुष नाहीत अशी कुरकुर ऐकूं येते. व्यापार, कारखाने, उद्योग वाढले पाहिजेत खरें, पण त्याला भांडवल नाही व श्रम करणारे लोकही नाहीत. सामाजिक व धार्मिक सुधारणांचीही तीच रडकथा; तेव्हां द्रव्यबल आणि मनुष्यबळ ह्यांची जी आम्हांस एवढी वाण पडतें त्याचे कारण काय ? आमच्याजवळ मुळींच द्रव्य नाही. दारूखालीं, चैनीबाजीखालीं, व रिकाम्या खर्चाखालीं लाखों रुपयांचा फला

दरवर्षी उडतो हें आपण प्रत्यक्ष पाहतों. तसेंच एवढा विद्याप्रसार झाला असतां देशोन्नतीवर व्याख्यानें देणारे पासरीभर निपजत असतां माणसाची न्यून्यता खरोखर असूं नये. पण स्वार्थपरायणतारूप राहून आमच्या सर्व उदासवृत्तीस ग्रासून टाकिलें आहे त्यामुळें आम्हाला अमे हताश व्हावें लागते. पैसे आहेत ते कुटुंब-पोषण व चैनीबाजी ह्यांत उडून जातात; आणि पुरुष आहेत तेवढ्यांना बायका-पोरें संभाळतांच पुरेवाट होते; तेव्हां त्यांच्या हातून देशहिताचा उद्योग तो काय होणार ? हिंदुस्थानांत दरसाल प्रजावृद्धि होते तेव्हा तेथें संपत्तिही वाढत असली पाहिजे, असें इंग्रज लोक म्हणतात. पण त्या वेष्ट्यांना हे कुठें माहीत आहे की, ह्या प्रजावृद्धीच्या पार्श्याच आमच्या सर्व संपत्तीचे, उमेदीचे, बुद्धीचे, नीतीचे आणि धर्माचे मातेरें होत आहे ? मोक्षमुल्लर भट्टांच्या विद्वत्तेची वाखाणणी करणारे येथें पुष्कळ आहेत; पण मोक्षमुल्लरास अविवाहित राहिल्यानेच एवढी विद्वत्ता व एवढे ग्रंथलेखन शक्य झालें हे एकाच्याही लक्षात येत नाही. मिल्ल-स्पेन्सरची बुके वाचून पोपटपंची करणें सोपें आहे; पण त्याच्यासारखे दीर्घकाल किंवा यावजीव ब्रह्मचर्य पाळून अहोरात्र शास्त्रव्यासंग करण्याला मात्र कोणाचेही धैर्य होत नाही ! कोणत्याही सुधारलेल्या देशाचा इतिहास पाहा, मोठ्या उमेदीचीं व धाडसाचीं कामे केली ती अशा पाशमुक्त पुरुषांनीच केली व म्हणूनच त्या त्या देशाची भरभराट झाली. संसारशकटाची स्त्री, पुरुष ही दोन्ही चाके खरी, व चांगल्या स्त्रियेपासून पुष्कळ वेळां मदत होते हेंही खरे; पण एक तर चांगल्या स्त्रिया दुर्मिळ व दुसरें कांही प्रसंगी दुचाकी खट्यापेक्षा चल्द धावणारी एकचाकी गाडी जशी बरी, तसेंच कित्येक कामे मनुष्य एकटा असेल तरच होऊं शकतात. आणि देशाची, समाजाची व मानव जातीची उन्नति अशाच कामावर अवलंबून असते. घरी बायको रडत आहे असे आठवताच समरागणी मोटमोठ्याचें-देखील धैर्य गळेल. पोराने लोटणे मागें असते तर गुरूत्कार्पणाचे, प्रकाशाचे व गणिताचे अनेक शोध न्यूनतच्या हातून झाले नसते संसारपाश गळ्यांत असता तर बुद्ध-खिस्त-प्रेषितांनीं धर्मप्रसारार्थ पृथ्वीपर्यटण केले नसतें. इंग्रज लोकाना व्यापाराचेद्वारे आपलें समुद्रवल्यांकित राज्य स्थापिता आपले नसतें; ते मातृभूमीच्या उध्दारासाठीं हजारों देशजननीभक्तांनीं प्राण दिले ते दिले नसते.

ह्यावचनावरून प्रस्तुत विषयाला आम्हीं इतके का महत्त्व दिलें हे वाचकांच्या बहुतेक लक्षात आलेंच असेल. तथापि बालब्रह्मचारी किंवा विधुरब्रह्मचारी असें पुष्कळ लोक आमच्यांत निपजू लागल्यास किती फायदे होणार आहेत ह्याचे थोडें दिदृशने करणें जरूर आहे.

हिंदुधर्मशास्त्राप्रमाणें विवाहाची मुळीच जरूर नाही हे मागें सांगितलें; तसेंच प्राचीन व अर्वाचीन वैद्यशास्त्राच्या दृष्टीनेंही त्याची आवश्यकता नाही. हे अनेक विद्वानांनीं सप्रमाण सिद्ध केले आहे. कोणास सशय असेल तर त्याने डॉ.

मोरेश्वर गोपाळ देशमुख ह्यांचें हेमंतव्याख्यान वाचावें. अविवाहित राहिल्यानें शारीरिक व मानसिक न्हास होत नाही इतकेंच नाही, तर उलट फार फायदा होतो असे उपपत्तीनें व अनेक पुरुषाच्या उदाहरणांनीं सिद्ध झालें आहे. प्रजोत्पादन किंवा कुटुंबपोषण ह्याकडे जो शक्तिव्यय व्हावयाचा तो इतर महत्त्वाच्या कामाकडे वळल्यास फायदाच होईल हे कोणासही समजण्यासारखें आहे. मात्र नुसते लग्न न केल्यानें ब्रह्मचर्य पाळल्यासारखें होते असें नाही; खरोखरच तसे वर्तन केले पाहिजे. अविवाहित राहण्याच्या मिषानें दररोज शुक्रवारांत शेंग खाऊन आरोग्याचा, वित्ताचा व अब्रूचा सत्यानाश करण्यापेक्षां घरीं चार बायका व दहा पोरे असलेली एक वेळ पत्करतील. लग्नाची आम्हाला इतकी जरूर पडू लागली ह्यांचें कारण तें आवश्यक आहे अशी आमची समजूतच, दुसरें काही नाही. तेव्हां ती समजूत काढून टाकल्यानें आपोआप ती जरूरीही नाहीशी होणार आहे.

येणेप्रमाणे केलेला शक्तिसंशय अर्थातच दुसऱ्या कामीं लावण्यास सोपा पडेल. हल्लीच्या सुशिक्षित मंडळीला विद्येची अभिरुचि किंवा विद्याव्यासंग चालविण्यापुरती उमेद नसते असे म्हणतात कशी असेल? दिवसभर दगदग केल्यानंतर शलावधि संसारचित्तानीं उद्विग्न झालेल्या त्याच्या मनास क्षणभरही विश्रांति नको काय? ती घेऊन विचाऱ्यानें व्यासंग तो केव्हा करावयाचा? आणि म्हणून कॉलेजातून पार झाल्याबरोबर बुके वाण्याकडे गेली तर नवल तें कोणतें? तोच मनुष्य एकटा असता तर आपले पोट त्याला सहज कोठेही चालविता येऊन बाकी वेळ विद्या, व्यापार, सुधारणा वगैरे कृत्याकडे देता आला असता. शिवाय मागे कुटुंब असलें म्हणजे धनसंचय करण्याची बुद्धि होते व तेणेकरून द्रव्याशा वाढते. पण एकट्याला त्याची काही जरूर नाही. पाठीमागे कोणाचा पाश नसल्यामुळे उत्साह, साहस, स्वार्थनिरपेक्षता वगैरे गुणही अशा मनुष्यात जास्ती वास करितात. आमचे कारखाने व व्यापार वाढावयास दूरदेशात प्रवास करणें जरूर आहे. राजकीय हक्क संपादनासाठी पुष्कळ माणसांनीं विलायतेस गेले पाहिजे. निरनिराळ्या कलाकौशल्याची माहिती संपादन करण्यास अमेरिकेंत जाऊन चारपाच वर्षे राहणारे लोक पाहिजेत. पण कुटुंबी मंडळीच्या हातून हीं कामें कशी होणार? तसेंच नव्या सामाजिक सुधारणा अमलांत आणण्यास नीति, धैर्य व थोडीबहुत वेपवाई पाहिजे. एकटा पुरुष तसा होऊं शकेल, कारण तो समाजावर इतका अवलंबून नसतो; पण संसारी माणसाला तें दुर्घट आहे. राष्ट्रहितासाठी अहोरात्र झटणारे पुरुष आम्हाला पाहिजे आहेत. असे पुरुष मिळण्यास त्याच्या पाठीमागे दुसरें कोणतेंही व्यवधान असतां कामा नये. धर्माध्यक्षांनीं लग्न करूं नये असा रोमन कॅथलिक पंथांत निर्बंध आहे. बौद्धांचे श्रमण व हिंदूंचे संन्यासी ह्यांनाही संसारत्याग अवश्य सांगितला आहे त्यांचें बीज हेंच. तेराव्या शतकात युरोपात फ्रांसिस्कन लोकांच्या व पुढें जेसुइट्यांच्या श्रमानें केवढीं महत्कायें

झालीं हैं इतिहासज्ञांस माहीत आहेच; तीं त्याच्यात आमरण दारिद्र्य व ब्रह्मचर्य ह्याविषयी कडक निर्वेध होते म्हणूनच झालीं ह्यात काही संशय नाही. आमच्या इकडेही असे पराक्रम केल्याची थोडीथोडकी उदाहरणे आहेत असे नाही. श्रीमत् शंकराचार्यांनी ३२ व्या वर्षाच्या आंत सकल विद्या संपादन करून व अनेक ग्रंथ लिहून धर्म संस्थापना केली; बौद्धप्रेषितानी अर्ध्या अधिक आशिया खंडावर आपला धर्म फैलावला; फार कशाला, अगदी अलीकडे दयानंदजीनी आपल्या आर्यसमाजाचा प्रसार केला; ही सर्व कशाचीं फळे? आर्य समाजाप्रमाणे प्रार्थना किंवा ब्रह्मोपंथाचाही प्रसार का होत नाही? बगाल्यातील ब्रह्मो धर्माचा विचका होण्याचें मूळ कारण बाबू केशवचंद्रानी कुचविहारच्या सपत्तीस मुलून आपल्या मुलीचा बालविवाह केला हे होय. बाबू केशवानीं मुलीचे लग्न केलें नसतें तर तो परिणाम टळला असता की नाही? तसेच राजकीय बाबतीत सरकाराविरुद्ध ब्र काढण्याची पुष्कळाची छाती होत नाही ती तुरुगाची किंवा स्वार्थहानीची भीति वाटते म्हणूनच नव्हे काय? तेव्हा अशा कामाला पाशरहित पुरुषांची आम्हांला किती जरूर आहे बरें? डोक्यावर कुटुंबपोषणाचा बोजा असलेल्या मनुष्यास 'बाबारे सरकारी रुपेरी वेडी कशाला पत्करतोस? कसे तरी पोट भरून बाजारच्या भाकरी भाज.' असा उपदेश करणे म्हणजे आपली परदुःखशीलता व्यक्त करणें होय. अशा कामाला सडेफटिंग लोकच पाहिजेत. ह्या सर्व गोष्टींचा विचार केल्यास आमच्या म्हणण्याची सत्यता सर्वांच्या लक्षात येईल.

पण देशाचे अनेक फायदे होतील एवढ्याकरिता अविवाहित राहावयाचें असें नाही. तर तसें करणे थोड्याबहुत अंशाने प्रत्येकाचे कर्तव्य आहे. मनुष्याची ऐहिक कर्तव्यकर्म तीन प्रकारची असतात; स्वतःमंत्र्याची, कुटुंबासंबंधाची व आपण ज्या समाजात राहातो त्या समाजासंबंधाची. त्यापैकी पहिल्या दोहोंसंबंधानें काहीं लिहिण्याची जरूर नाही; कारण तीं करण्याकडे मनुष्यमात्राची स्वाभाविकच प्रवृत्ति होत असते; परंतु तिसऱ्या संबधाने मात्र वरंचवर त्याला जागें करावें लागतें लोकांच्या हिताकरिता जे झटावयाचें ते परोपकार म्हणून नव्हे किंवा लोकानीं तसेच आपल्या उपयोगी पडावे अशाच स्वार्थ बुद्धीनेही नाही; तर समाजात राहिल्यापासून प्रतिक्षणी साक्षात् किंवा परंपरेने आपणास जे असंख्य फायदे होतात त्याच्या प्रत्युपकारार्थ समाजाच्या हिताकरिता झटणे आपले प्रत्येकाचें कर्तव्यच आहे मला लोकाची जरूर नाही असे म्हणणाराचें कधीही चालावयाचें नाही. समजून उमजून किंवा न समजता, आपले शत्रु, मित्र किंबहुना एकंदर लोकसामज, आपल्या सुखदुःखवृद्धीला कारण होत असतो. उदाहरणार्थ, रुपयाभरांत शंभर मैल चैनीने प्रवास करता येणे, दोन पैशांत दूरची बातमी समजणें वगैरे एकट्याला अशक्य असणाऱ्या गोष्टी संघशक्ती-

नेच सुलभ झाल्या आहेत. ह्या सर्वांचा फायदा जर आपण घेतों तर ज्या समाजात राहिल्याने त्या आपल्याला मिळतात त्याचे आपण ऋणी नाही काय ? शेजाऱ्याच्या घरी गाणें असलें तर घरी बसल्या फुकट ऐकावयास सांपडतें हा परंपरेनें त्या शेजाऱ्याचा आपणावर उपकारच नव्हे काय ? सारांश, समाजांत राहिल्याने आपणांस किती फायदे होतात ह्याची, एखाद्या ओसाड अरण्यात जाऊन पडल्यास आपली काय दशा होईल हें मनांत आणल्यानें, थोडीशी कल्पना होईल तीसुद्धा अपूरतीच. कारण जगदुत्पत्तीपासून समाजाच्या संहत प्रयत्नांनें जी सुधारणा झाली व जिचा अनुबंधिक सिद्धाताप्रमाणें जन्मतःच आपल्या मनावर सुसंस्कार घडलेला असतो तो कधीही जावयाचा नाही. तेव्हां या सर्व गोष्टींवरून त्या समाजाच्या हिताकरिता झटणें आपलें कर्तव्य नाही काय ? मागील पिढ्यांनीं जशी आपली सोय लावून दिली तशीच पुढील पिढ्यांचीही तर्तूद लावण्याची प्रत्येक मनुष्यावर जबाबदारी आहे; व अक्रोडाचें झाड लावणाऱ्या म्हाताऱ्या मनुष्यानें ह्याणाच्या बादशहास उत्तर दिलें त्याचें तात्पर्य हेंच. असो; तर हें समाजाचें ऋण फेडण्यास आपण काय प्रयत्न करतो ह्याचा प्रत्येकानें विचार करावा. चाकरी करून बायकापोराचे पोट भरल्याने हें कर्तव्य बजावलेंसें होत नाही. इंग्लंडसारख्या देशात सार्वजनिक कामासाठीं अहोरात्र मोठमोठे लोक खपतात ते ह्याकरिताच; व आम्ही जोपर्यंत त्याचे अनुकरण करूं लागलो नाही तोपर्यंत आमच्या डोक्यावर कृतघ्नेचा दोष कोणी लादला तरी वावगें होणार न हीं. मात्र आपल्या प्राचीन ग्रंथातून ऋणतयाची कल्पना आढळते तीतही हाच मुद्दा आहे. कालदेशभेदाने अक्षरार्थ न घेता तिचे तात्पर्य घेतलें आहे. सारांश, आपल्या आयुष्यांतील थोडाबहुत भाग सार्वजनिक उपयोगाकडे लावणें प्रत्येकाला अगत्याचें आहे, व तोही आम्ही फार मागतों असे नाही. हल्लीं सरासरी हिंदुस्थानातील लोकांचें आयुष्य पन्नास वर्षें; त्यापैकी पहिली वीस वर्षें अध्ययनात म्हणजे पुढील आयुष्य क्रमाच्या तयारीत किंवा आपले संबंधी कर्तव्य करण्यांत गेलीं. समजा पुढील वीस वर्षें, म्हणजे ४० वर्षें वयापर्यंतचा काळ संसार करण्यात म्हणजे दुसरें कुटुंबासंबंधी कर्तव्य करण्यात घालविला. इतकी सूट दिल्यावर उरलेलीं दहावर्षें म्हणजे सारें एकपंचमाश आयुष्य देखील लोकहिताकडे देण्यात लोकांनीं कांकू करावीना ? विवाहित स्थितीत समाजाहित साधणें दुर्घट आहे; तेव्हा हें लोकऋण फेडण्याला प्रसंग दोनच. एक विवाहापूर्वी किंवा कर्मधर्मसंयोगानें विधुरावस्था आली. तर ह्यापैकीं विवाहच लावणीवर टाकण्याचा पहिला मार्ग निःसंशय उत्तम कारण आयुष्याचा नियम नाही. पण बालविवाहाचे दास बनून गेलेल्या आम्हांस तो दुष्कर वाटत असेल तर निदान दुसरा मार्ग तरी पत्करणें लोकांना जरूर नाही काय ? एकदां बायको मेल्यावर पुनः चूलबोळकी जमवून शिळी भातुकली खेळूं लागण्यापेक्षां, नशिबानें मिळालें तेवढें संसारसुख पुरें झालें असा विवेक करून शेष आयुष्य लोककार्यासाठीं खर्च करणें हा अधिक शाहणपणाचा

व थोरपणाचा मार्ग असें आम्हास वाटतें. पण इतका विवेक असता तर आमची इतकी निकृष्टदशा कां झाली असती ? असो, तो जेव्हां येईल तो दिवस मुदिनच समजला पाहिजे.

नेटिव्ह व्हाइस चान्सलरांचें पहिलें भाषण.

गेल्या मंगळवारी मुंबईस युनिव्हर्सिटीच्या दिवाणखान्यात जो ग्रान्युएट लोकांस पदवी देण्याचा समारंभ झाला तो एकप्रकारें अपूर्व असून आमच्या युनिव्हर्सिटीच्या इतिहासात विशेष रीतीनें नमूद करून ठेवण्यासारखा होता. आमच्याकडे युनिव्हर्सिटीची स्थापना होऊन आज जवळ जवळ चाळीस वर्षे झालीं, तरी व्हाइस चान्सलराची जागा गेल्या एकदोन वर्षांच्या पूर्वी कोणाही नेटिव्हास देण्यात आली नव्हती. कै. डॉ. भाऊदाजी, रावसाहेब मंडलिक वगैरे गृहस्थ ह्या मानास योग्य नव्हते असे नाही; पण विश्वविद्यालयाच्या व्यवस्थेचें कामही इतर राज्यव्यवस्थाप्रमाणें केवळ सरकारच्या अनुरोधानें चालत असल्यामुळें त्यात लोकांचा व्हावा तसा प्रवेश झाला नव्हता वास्तविक पाहता म्युनिसिपालिटीच्या, लोकलबोर्डें आणि कायदेकौन्सिलें यांच्या पूर्वीच युनिव्हर्सिटींत लॉकनियुक्त सभासद आणि कामगार जावयास पाहिजे होते. पण आमच्या दुर्दैवानें युनिव्हर्सिटीचा नंबर सर्वांच्या शेवटी लागला आहे असे दिसतें. असो; लॉर्ड हारिस याच्या कारकीर्दीत ज्या काही चांगल्या गोष्टी घडून येण्याचा योग आला त्यापैकीच पहिल्या नेटिव्ह व्हाइसचान्सलराची नेमणूक ही एक होय. हा मान पहिल्यानें कै. नामदार तेलंग ह्यास मिळाला, व गुदस्ता त्याची प्रकृति चांगली असती तर पहिल्या नेटिव्ह व्हाइसचान्सलराचें पहिलें भाषणही त्याचेंच झालें असतें; परंतु ईश्वरीसत्तेने तसा योग घडून आला नाही, आणि आमच्यापैकी एका मोठ्या विद्वान् आणि उच्च पदास चढलेल्या गृहस्थास मृत्यूनें एकेचालिसाव्या वर्षीच ओढून नेलें ! याच्या मागून पुनः व्हाइसचान्सलराची जागा नेटिव्हासच देण्यांत आली, व डॉ. भाडारकरासारख्या विद्वान् व अनुभवशीर गृहस्थाची त्या जागीं नेमणूक झाली ही त्यांतल्यात्यांत एक समाधानाची गोष्ट मानली पाहिजे. अशा रीतीनें एकामागून एक दोन नेटिव्ह व्हाइसचान्सलर लागोपाठ नेमले जावें हें काहीं अंशीं आश्चर्यकारक खरेंच, व त्याबद्दल लॉर्ड हारिस याचें आम्ही मनापासून आभार मानितों. ह्या नेमणुका ज्याच्या हातून झाल्या त्यानींच नेटिव्ह व्हाइसचान्सलरांस आपण अध्यक्ष असताही बोलण्याची परवानगी द्यावी ही गोष्ट ओघानेंच प्राप्त झाली होती; व त्याप्रमाणे ना. गव्हर्नरसाहेबांनीं वर्तन केले ही युनिव्हर्सिटीच्या इतिहासात आम्ही वर सांगितल्याप्रमाणे अपूर्वच गोष्ट घडली

आहे. असला अपूर्व समारंभ आपल्या कारकीर्दीत झाला याबद्दल आपणांस फार आनंद होतो असे गव्हर्नरसाहेबांनी डॉ. भाडारकर यांच्या भाषणानंतर जे थोडेसे भाषण केले त्यांत स्पष्टपणे बोलून दाखविले आहे.

ह्या असल्या अपूर्व समारंभाच्या वेळीं नेटिव्ह व्हाइसचान्सलरांचे कसे काय भाषण होते इकडे सर्वांचे लक्ष लागले होते; व डॉ. भाडारकर यांचे ज्यांनी ज्यांनी भाषण वाचले असेल त्यास ते या अपूर्व समारंभास पूर्णपणे शोभण्यासारखे होते, असे वाटल्यावाचून राहणार नाही. डॉ. साहेबांची सर्व मते आम्हास ग्राह्य वाटत नाहीत हे आम्ही येथे नव्याने सागावयास पाहिजे असे नाही. त्यांच्या भाषणावर आज जी टीका करणार आहो त्यांच्यावरून आमचा व त्यांचा मत-भेद स्पष्ट कळून येईल. परंतु हा कितीही मोठा असला तरी डॉ. भाडारकर यांचे भाषण प्रसंगास अनुरूप, प्रौढ विचारांनी परिलुप्त, आणि मोठे विस्तृत व व्यापक होते, असे म्हणण्यास आम्हास कोणतीही हरकत वाटत नाही. इतकेंच नव्हे तर डॉ. भाडारकर यांनी निरनिराळ्या सामाजिक आणि राजकीय प्रश्नांसंबंधी आपले विचार निर्भीडपणे लोकांस कळविले हे पाहून आम्हास फार आनंद होतो, व पुढेही दुसऱ्या नेटिव्ह व्हाइसचान्सलरांची भाषणे ऐकण्याचा योग असाच पुनः पुनः येवो अशी आम्ही इच्छा करितों.

युनिव्हर्सिटीची स्थिति कशी असावी व ती हल्ली कोणत्या प्रकारची आहे याबद्दल डॉ. भाडारकर यांनी जे विचार प्रदर्शित केले आहेत ते प्रत्येक वरिष्ठ शिक्षणाच्या अभिमान्याने काळजीपूर्वक लक्षात ठेवण्यासारखे आहेत. निष्काम बुद्धीने जर कोठेही लोक विद्याभ्यास करित आले असले तर ते या देशातच होत असे आमच्या पूर्व इतिहासावरून उघड दिसून येते. युरोपातील राष्ट्रे सुधारण्यापूर्वी आमचे इकडे आधिभौतिक व आध्यात्मिक शास्त्रे, कला, आणि विद्या ही चांगली उदयास येऊन जागोजाग अध्ययनाध्यापना करिता लहानमोठ्या सस्था सर्व देशभर स्थापन झाल्या होत्या. इंग्रजी राज्यात लोकशिक्षणाचे काम जितकें जारीने सुरू आहे तशा प्रकारे सर्व प्रजेस एकसारखे शिक्षण देण्याचे आमच्या पूर्वीचे राजाच्या अगर विद्वानाच्या मनात आले नव्हते ही गोष्ट खरी आहे; पण हा सामान्य शिक्षणाचा प्रश्न सोडून दिला आणि वरिष्ठ शिक्षणाकडे पाहिले तर पूर्वीच्या काळी ज्या विद्या व जी शास्त्रे परिपक्व दशेस आली होती त्यांत जन्माच्या जन्म घालविणार शेंकडो विद्वान् लोक आमच्या देशांत असत, व मुसलमान राजाच्या भर आमदानींतही वरिष्ठ प्रतीच्या विद्यासंबंधी आमच्या मनात असणारी आस्था फारशी कमी झाली नाही. यावरून निष्कामबुद्धीने विद्यार्जन करण्याची संवय नेटिव्ह्हास युरोपियन लोकांनी शिकविनी पाहिजे असे नाही; असे कोणासही दिसून येईल. परंतु हल्लीची स्थिति लक्षात आणता ही आमची संवय नाहीशी होत आली अथवा ती कायम राहण्यास जी अनुकूल साधनाची अपेक्षा आहे ती साधने हल्ली उत्तरो-

त्तर कमी होत चालली असें आढळून येतें. तेव्हां युनिव्हर्सिटीसारख्या संस्थानच्या व्यवस्थापकांनी इकडे अवश्य लक्ष दिलें पाहिजे. युनिव्हर्सिटी ही वरिष्ठ शिक्षणाची संस्था होय. कोणत्याही शास्त्राचें साद्यंत अध्ययन केलेले पंडित या संस्थेतच आढळून यावयाचे व येथेंच निरनिराळ्या शास्त्रात व कलात नवे शोध करण्याची सर्व सामुग्री मिळावयाची. साराश, युनिव्हर्सिटी म्हणजे विद्येचे व विद्वानाचें मुख्य स्थान होय; व या सरस्वतीमंदिरात शिरल्याबरोबर निरनिराळ्या विषयांत पारंगत असलेले विद्वान जर दृष्टीस पडणार नाहीत, तर लोकानी, सरकारनें आणि युनिव्हर्सिटीनें आणले कर्तव्य बजावले नाही असेंच म्हटलें पाहिजे. प्राच्य विद्येपेक्षा इंग्रजी अथवा युरोपियन विद्या या देशातील लोकांस शिकविणे विशेष महत्त्वाचे व जरूरीचे आहे असा लार्ड मेकॉले साहेबानी जेव्हा आग्रह धरला, तेव्हा निष्काम बुद्धीनें पूर्वीची विद्याभ्यास करण्याची आमची सवय जाऊन, आम्ही युनिव्हर्सिटीची परिक्षा पास झाल्याबरोबर आपणांस कृतकृत्य मानण्यास लागवे, व पाश्चात्य विद्येचा खरा अंकुर या देशात उद्भवण्यास जीं साधनें अवश्य आहेत त्यापैकी कोणतीं साधनें आम्हास उपलब्ध होऊं नयेत असे त्याच्या मनात होतें असें आम्हास वाटत नाही. न्याय, व्याकरणशास्त्राच्या ऐवजी इतिहास, अर्थशास्त्र, पदार्थविज्ञान, आणि रसायनशास्त्र आदिकरून नवीं शास्त्र हल्ली आम्हास शिकार्वीं लागतात; पण त्यामुळे कोणत्याही शास्त्रात प्रवीणता संपादन करण्यास ज्या गुणाची व साधनाची आवश्यकता आहे ते गुण व तीं साधनें आता बदललीं आहेत असे नाही. यासाठी विश्वविद्यालयासारख्या संस्थेत शास्त्राध्ययनाची पूर्ण साधनें आहेत कीं नाहीत हे पाहणे जरूर आहे. गेल्या वर्षी खुद्द नामदार गव्हर्नर-साहेबानीच या गोष्टीचा आपल्या भाषणात उल्लेख केला होता. परंतु डॉ० भाडारकर यानी या विषयाबद्दल आपल्या भाषणात जितकी फोड केली आहे तितकी नामदार साहेबानी केली नव्हती. आमची युनिव्हर्सिटी खरोखरच विद्वत् परिषद अगर विविध विद्योगपचयस्थान होण्यास आमच्या कॉलेजातील प्रोफेसर चांगले पाहिजेत. इतकेच नव्हे तर खुद्द विश्वविद्यालयातही विद्यैक व्यासंग असणारे काही लोक मुद्दाम तेवढ्याच करिता पगार देऊन ठेविले पाहिजेत. असे पगारी प्रोफेसर ऑक्सफर्ड, केम्ब्रिज, आणि जर्मनी येथील युनिव्हर्सिटींमधून नेहमीं ठेवण्यात येतात व त्यामुळेंच जर्मनी आज नवीन शोधाचे आगम-स्थान होऊन बसली आहे. परंतु आमच्याकडे अशा प्रकारच्या प्रोफेसराची एकही जागा नाही इतकेंच नाही, तर कॉलेजातील प्रोफेसराच्या जागाही तिसऱ्या अगर चवथ्या प्रतीच्या युरोपियन लोकांस देण्यात येतात ! आज कॉलेजें स्थापन होऊन जवळ जवळ पन्नास वर्षे झाली; पण इतक्या मुदतीत जर्मन पंडितांखेरीज येथे आलेल्या कोणत्याही प्रोफेसरानें एकादा शास्त्रीय नवा ग्रंथ लिहिल्याचे आढळून येत नाही. असे जे डॉक्टर भाडारकर यानी सांगितलें तें अक्षरशः खरें आहे. असले प्रोफेसर असल्यावर मग आमची नवीन विद्वान्

मंडळी परिक्षा संपल्याबरोबरच पुस्तकास रजा देऊं लागल्यास त्यांत नवल तें कोणतें ? ही स्थिति सुधारून आमच्या युनिव्हर्सिटीस विद्वानांच्या मेळ्याचे जेंण करून स्वरूप येईल तशी तजवीज डॉक्टर भांडारकरासारख्या नेटिव्ह व्हाइस-चान्सलराच्या कारकीर्दीतच होणे शक्य व इष्ट आहे, असे आमच्या मते आहे. करितां डॉ. भांडारकर यानी आपल्या भाषणांत या विषयाचा जसा विचार केला आहे तसाच तो पुढें चालू ठेवून आमच्या युनिव्हर्सिटीस जर्मनीतील युनिव्हर्सिटीची योग्यता आणण्याचा होईल तेवढी तजवीज करावी अशी त्यास आमची विनंती आहे.

आमचे विद्वान् लोक अल्पायुषी का होतात. हा डॉ. भांडारकर यांच्या भाषणातील दुसरा मुद्दा होय. डॉक्टर साहेबानी सन १८६२-८० पर्यंत अठरा वर्षांत जे लोक एम्. ए. आणि बी. ए. ची परीक्षा पास झाले त्याची जी माहिती मिळविली आहे त्यावरून असें दिसून येते कीं, एम्. ए. पैकीं पंचवीस महाराष्ट्रातील लोक असून त्यातले अकरा म्हणजे शेकडा चव्वेचाळीस लोक मरण पावले आणि तितक्याच मुदतीत पास झालेल्या अठरा पार्शी गृहस्थापैकीं तीन म्हणजे शेकडा १६ मृत्यु पावले. याच मुदतीत एकंदर बी. ए. पास झालेल्या १९३ दक्षिणी लोकापैकी चाळीस, चाळीस गुजराथ्यापैकी नऊ, आणि त्रेसष्ट पार्श्यापैकी सहा पार्शी मेले. म्हणजे दक्षिणी शेकडा वीस, गुजराथी शेकडा बावीस आणि पार्शी सुमारे शेकडा नऊ मरण पावतात, असें दिसून येते. हें आकडे सागून मग ग्रॅज्युएट इतके कमी का मरतात याचें कारण डॉक्टरसाहेबानी सांगितले. ते म्हणाले कीं, पार्शी लोक अधिक चागले अन्न खातात, व्यायाम करतात आणि उशीरा लग्न करतात यामुळे त्यांची प्रकृति सुदृढ राहते व ते दीर्घायुषी होतात. डॉक्टरसाहेबांचे आकडे व त्याचें अनुमान ही कितपत विनचूक आहे याची आम्हास बरीच शंका आहे. पार्शीलोक आमच्यापेक्षा अधिक दिवस जगतात असें म्हणावे तर ग्लॅडस्टनसाहेबाप्रमाणे ऐंशी, पंचायशी अगर नव्वद नव्वद वर्षांचे पार्शी मुत्सद्दी अगर व्यापारी ह्यात असून एकसारखे काम करीत असल्याचे आमच्या कोठे आढळांत नाहीं. हिंदू लोकांत तर:—

आकर्णं पलितः श्यामो वयसाशीति पंचकः ।

रणे पर्यरचद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥

अशा तऱ्हेचे योद्धे अगर मुत्सद्दी भारती युद्धानंतर फारसे झाल्याचे इतिहासांत दिसत नाहीं. द्रोणाचार्यांचें हें वर्णन हल्लीं ग्लॅडस्टनसाहेबांस मात्र अगदीं अक्षरशः लागू पडते ! असो, मराठ्यांचा इतिहास घेतला तर साठाच्यावर ज्याची मजल गेलेली आहे असा एकही वीर अगर मुत्सद्दी सांपडणें कठीण आहे. शिवाजी आपल्या वयाच्या त्रिपन्नाव्याच वर्षीं मरण पावला, आणि बाजीराव, राघोबादादा आणि नाना फडणवीस हे साठीच्या आंतच आटपले. शानदेव आणि एकनाथ हे अगदीं अल्पायुषीच होते. तकाराम एकेचाळिसाव्या वर्षीं मरण

पावले. रामजोशी आणि मोरोपंत यांचे वय मरणसमयी अनुक्रमे ५० व ६५ वर्षांचेच होते. रामदास, मुक्तेश्वर आणि श्रीधर वगैरे काही कवींनी सत्तराव्या पुढे मजल मारिली होती; पण एकंदर मराठ्यांच्या इतिहासाचे अवलोकन केले असता काम करणारे आणि मेहनती गृहस्थ साठ वर्षांहून जास्त जगल्याचे क्वचितच आढळून येईल. साराश, विलायतच्या थंड हवेत ज्याप्रमाणे आयुष्याची मर्यादा ऐशी-नव्वदपर्यंत जाते तशी आमच्याकडे असल्याचे सामान्यतः आढळण्यांत येत नाही, व विशेषतः कामाचे, उद्योगी आणि सतत परिश्रम करणारे गृहस्थ फार दिवस वाचल्याची तर बहुधा गेल्या शेदीडशे वर्षांत फारशी उदाहरणे सापडतील, असे आम्हांस वाटत नाही. आमच्याकडे कोणत्याही मनुष्याच्या कर्तबगारीचा काळ म्हणजे पंचवीसपासून पंचेचाळीस वर्षांपर्यंतचा होय, व अलीकडे कित्येक विद्वान् गृहस्थ ४५ साचे पूर्वीच दुर्दैवाने मेल्याची जरी कित्येक उदाहरणे घडून आली आहेत, तरी एकंदरीने आमचे दक्षिणी लोक मराठे शाहीपेक्षा आता विशेष अत्यायुषी झाले आहेत असे आम्हांस वाटत नाही. सकस व पुष्टिदायक अन्न सेवन करावे, व्यायाम घ्यावा आणि स्त्री-पुरुषांनी जास्त दिवस व्रतस्थ राहावे, असा जो भाडारकर यानी उपदेश केला आहे ता गैरवाजवी आहे असे आम्ही म्हणत नाही. उलट होईल तितके करून प्रत्येकाने त्याप्रमाणे वर्तन करण्यास झटावे अशी आमचीही तरुण मंडळीस सूचना आहे. आमचे एवढेच म्हणणे आहे की, डॉ० भाडारकर यानी अलीकडे कित्येक विद्वान् लोक लवकर मरतात याचा युनिव्हर्सिटीच्या अभ्यासक्रमाशी काही एक संबंध न जोडता त्याचा सर्व दोष फक्त कदन्न, व्यायामाभाव आणि बालविवाह याजवरच लादण्याचा जो प्रयत्न केला आहे तो अगदी चुकीचा आहे. युनिव्हर्सिटीतून चागले विद्वान् निपजावेत, व त्यानी युरोपातील युनिव्हर्सिटीच्या प्रोफेसरांवरंगवर टक्कर मारावी अशी ही आमची मनापासून इच्छा आहे. हिंदु लोक युरोपियन लोकांपेक्षा बुद्धीने कमी आहेत असे आम्हांस वाटत नाही, व इंग्रजी राज्यत निष्काम विद्यार्जनास अनुकूल अशी जर साधने आम्हांस मिळतील तर आमच्यापैकी काही लोक निदान युरोपियन विद्वानाच्या तोडीचे निपजतील अशी आमची पूर्ण खात्री आहे; पण हे विद्वान् निपजण्यासाठी प्रत्येक बी. ए. होणाऱ्या मनुष्यास बाग बारा चौदा चौदा वर्षे अभ्यास करावयास लावून त्यास अगदी पिळून काढावा हे अगदी निर्दयपणाचे आणि वेडेपणाचे काम आहे. आम्हांस परकीय भाषेतून अभ्यास करावा लागतो हे लक्षांत आणून सामान्य बी. ए.ची यत्ता विलायती बी. ए.च्या यत्तेपेक्षा किंचित् कमीच असली पाहिजे. ही यत्ता वाढवून विद्वान् निपजतील अशी जर कोणाची समजूत असेल तर ती अगदी चुकीची आहे. एका हाताचीं सर्व बोटे जर कोणी ओढून सारलीं करूं म्हटले तर ज्याप्रमाणे तो आपणास उपहासास्पद करून घेईल त्याचप्रमाणे वरील सूचना करणाराची होय. आमच्या समा-

जाची स्थिति लक्षात आणता सामान्य लोकांस झेपेल इतकेच ओझे त्याजवर टाकावें. जे बळकट व हुषार असतील त्यांनींच पुढील अभ्यासक्रम पत्करावा हेंच आम्हांस श्रेयस्कर आहे व आमच्या युनिव्हर्सिटींतील अभ्यासक्रम याहून अगदीं भिन्न आहे हें आम्ही निराळें सांगावयास नकोच.

डॉ. भांडारकर यांच्या भाषणांतील तिसरा मुद्दा व्यक्तीस्वातंत्र्य, विचारस्वातंत्र्य, लेखनस्वातंत्र्य आणि देशस्वातंत्र्य इत्यादिकांसंबंधानें होता. डॉक्टरसाहेबांचे या बाबतींतले विचार बरेच एकतर्फी आणि कोते अतएव अग्राह्य असल्याचें मागें आम्ही लिहिलेंच आहे. करिता त्याची आज पुनरावृत्ति न करिता इतकेंच सांगतों की, युनिव्हर्सिटी मधल्या भाषणांत डॉ. साहेबांनीं हे विचार घातले नसते तर त्यावाचून काही अडलें होते असें नाहीं. समाजसुधारणा होऊन हिंदुस्थानातील सर्व जाती एकत्र झाल्याखेरीज राष्ट्रीय स्वातंत्र्याची गोष्टही बोलूं नये असल्या आशयाचा उपदेश आतां कोणासही रुचणार नाहीं इतकेच नव्हे, तर इतिहास दृष्ट्या तो कितपत यथार्थ आहे याचीही आम्हांस बळकट शंका आहे. राष्ट्रीयसभेसारख्या संस्थापासून हिंदुस्थान देशास एक-राष्ट्रीयत्व येण्यास किती मदत होत आहे हें ज्यानें प्रत्यक्ष पाहिलें आहे त्यास आमच्या म्हणण्यातील प्रतीति येईल. या बाबतींत मि. ह्यूम, मि. बानर्जी, मि. मेथा, मि. दादाभाई वैरै गृहस्थांच्या उपदेशास जितका मान मिळेल तितका डॉ. भांडारकर यांच्या उपदेशास मिळणार नाहीं. हें आम्ही आज उघडपणें सांगावयास पाहिजे असे नाहीं. डॉ. साहेब विद्वान आहेत विचारी आहेत आणि पोक्त आहेत ही गोष्ट आम्हांस पूर्णपणे मान्य आहे. परंतु त्यांच्या प्रमाणेंच राजकीय चळवळींत पुढें असणारे गृहस्थही आम्हांस पूज्य आहेत, व लोकांच्या अडचणी कोणत्या त्या निवारण्यास योग्य उपाय केले असतांही बड्याबड्या सरकारी कामगाराकडून अगर आंग्लोइंडियन लोकांकडून अशा अडचणी येतात इत्यादि गोष्टींचा डॉ. साहेबांच्या पक्षां आमच्या राजकीय पुढान्यास पुष्कळ चागला प्रत्यक्ष अनुभव आहे. तेव्हां डॉ. साहेबांच्या मतापेक्षां राजकीय बाबतींत या पुढान्याचेंच मत सर्व लोकांनीं घेतलें पाहिजे व घेतील अशी आमची खात्री आहे. सरकारी नोकरीत ज्यांनीं आपलें आयुष्य घालविलें आहे, ज्यास सामान्य लोकांत मिळून त्यांच्याशीं बरोबरीच्या नात्यानें वागण्याचा प्रसंग आलेला नाहीं, अलीकडे अलीकडे जें लोकमत जागृत झालें आहे तत्पूर्वींच ज्यांचे विचार परिपक्व होऊन ठाम झाले आहेत, व एकंदरींत कांहीं वेळ तरी स्वतःचा अधिकार, पदवी आणि विद्या विसरून स्वतंत्र रीतीनें सामान्य लोकांत वागून त्यांच्या बरोबर काम करण्याची ज्यास संवय नाहीं अशा लोकांस, अलीकडे व्यक्ति स्वातंत्र्याच्या आणि विचारस्वातंत्र्याच्या ज्या कल्पना वाढत चालल्या आहेत त्या अगदीं गैरवाजवी आणि टारगेपणाच्या वाटाव्या ह्यांत कांहीं आश्चर्य मानण्यासारखी गोष्ट नाहीं. इंग्लंडात व युरोपांतही नुकत्याच निवर्तलेल्या

देशी भाषांस उत्तेजन देण्यास युनिव्हर्सिटीने काय केले पाहिजे १५५

प्रो. टिंडालप्रमाणे पुष्कळ विद्वान् गृहस्थ आहेत. व डॉ. भांडारकर यांची गणना अशाच प्रकारच्या लोकांत केली पाहिजे. आमच्या राजकीय सस्था व चळवळी यांस डॉ. साहेबांच्या उद्गारांपासून विशेष जास्त धक्का पोहोचेल अशी आम्हास काडीमात्र देखील शंका वाटत नाही, व म्हणूनच व्यक्तिस्वातंत्र्याच्या वगैरेसंबंधाने त्यांनीं जें आपल्या व्हाइसचान्सलराच्या भाषणात उद्गार काढले ते न काढिले असते तरी फार चागले झाले असतें, असें जरी आमचे मत आहे तरी तिकडे विशेष लक्ष न देता वरिष्ठ शिक्षणाच्या अभिमान्यानी युनिव्हर्सिटीच्या खऱ्या स्वरूपाबद्दल डॉ. साहेबांनीं जें भाषण केले तिकडे चागलें लक्ष पुरवावें अशी त्यास आम्ही सूचना करितों. डॉ. साहेबांच्या मनाचा राजकीय बाबतीत असा का ग्रह झाला आहे याची कारणे शोधीत बसण्यात, अगर त्याबद्दल विशेष चर्चा करित बसण्यात आतां काहीं हसील नाहीं; कारण डॉ. साहेबांचे विचार त्यांच्या दृष्टीनें किती जरी सयुक्तिक असले तरी एकंदर समाजात असले बीं रुजण्याचा आता फारसा संभव आहे असें दिसत नाही.

देशी भाषांस उत्तेजन देण्यास युनिव्हर्सिटीने * काय केले पाहिजे ?

गेल्या अर्की लिहित्याप्रमाणे युनिव्हर्सिटीच्या सीनेटपुढे मराठी भाषेच्या संबंधाने जी सूचना आलेली आहे त्याच्यावर बराच वादविवाद होईल असा संभव आहे; करितां त्या विषयाचा आज आम्ही थोडासा जास्त विचार करणार आहों.

युनिव्हर्सिटींत देशी भाषांचा प्रवेश होऊन इंग्रजी, संस्कृत वगैरे प्रगल्भ भाषांच्या बरोबरीनें त्यांस स्थान मिळाल्यानें त्यांचा उत्कर्ष होऊन एका प्रकारे भाषोत्कर्षाबरोबरच देशोन्नतिही होणार आहे असा पुष्कळांचा समज आहे व तो बऱ्याच अंशी विचाराईही आहे. तथापि ही सुधारणा कोणत्या उपायाने घडवून आणावी व ती किती शक्य आहे याचा जितका विचार व्हावा तितका अद्याप झालेला दिसत नाही. देशी भाषांचा उत्कर्ष होऊन इंग्रजी, संस्कृत, फ्रेंच वगैरे परिणत भाषांचा प्रौढपणा त्याच्यात यावा हें सर्वत्रांस इष्ट आहे. इतकेच नव्हे, तर देशाभिमानाचे हें एक अपरिहार्य अंगच आहे असे कोणीही कबूल करील. परंतु ही स्थिति साध्य होण्यास ज्या साधनाची अपेक्षा आहे तीं सर्व आपल्यापार्शी आहेत की नाहीत याचा विचार करू लागले म्हणजे मन थोडेंसे उदासीन होतें. सगळ्या हिंदुस्थानचा विचार सोडून देऊन उदाहरणार्थ आपल्या महाराष्ट्र भाषेचाच आपण विचार केला तर आजपर्यंत स्वराज्य असते तर तिची काय स्थिति

* (केसरी-तारीख ६ मार्च १८९४.)

झाली असती याची आपणांस सहज कल्पना करता येईल; येथील लोकांस प्राच्य विद्या शिकवाव्या किंवा पाश्चिमात्य विद्या शिकवाव्या याबद्दल सन १८३३ सालीं जो मोठा वाद झाला व ज्या वादांत मेकॉलेसाहेबांनीं एक सणसणीत व जोरदार मिनिट लिहून सर्व हिंदुस्थानच्या रहिवाशास पाश्चिमात्य विद्यांचें इंग्रजींतूनच शिक्षण द्यावे असे प्रतिपादन केले, त्या वादाचा निकाल केवळ इंग्रजी भाषेच्या-तर्फेंच स्वराज्य कायम असतें तर आम्ही केला असता असें आम्हांस वाटत नाहीं. मेकॉलेसाहेबांनीं आपल्या मिनिटांत ज्या मुद्द्यावर विशेष जोर दिला आहे त्यांचा इंग्रजी भाषेशी म्हणजे विशेष संबध आहे असे तें मिनिट अगदीं वरवर वाचणाऱ्यासही वाटणार नाहीं. सन १८३३ सालापेक्षा हिंदुस्थानातील जुन्या विद्यांचें व शास्त्राचें महत्त्व हल्ली लोकांस जास्त कळू लागलें असून काहीं बाबतींत तरी आम्हांस पाश्चिमात्य लोकांपासून काहीं विशेष फायदा होण्याचा संभव नाहीं असें हल्लीं युरोपियन लोकांचेही मत झाले आहे. परंतु हा प्रकार तूर्त लक्षांत न घेतां व पाश्चिमात्य ज्ञान इकडील ज्ञानापक्षा सर्वांशीं श्रेष्ठ आहे असें जरी कबूल केलें तरी ते ज्ञान देशी भाषांच्याद्वारें आम्हांस देण्यास कोणची हरकत होती ? 'कोर्टांत', 'दुपिसात' 'रिपोर्टांत', 'कॉलेजांत' आणि 'रेल्वेत' मराठीनें किंवा दुसऱ्या कोणच्याही देशभाषेनें निर्वाह करता आला नसता असें नाहीं परंतु आमचे राज्यकर्ते परकीय पडल्यामुळे त्यांच्या राज्यव्यवस्थेच्या सौकर्याकरिता हिमालयापासून तो केंपकुमारीपर्यंत सर्वत्र राज्यकारभार इंग्रजीत चालू केला व आम्ही ताबेदार पडल्यामुळे आम्हांस ही गोष्ट अमलात आलेली हळूहळू बरी वाटू लागली. सर्व हिंदुस्थान देशातील निरनिराळ्या प्रांतातल्या लोकांचें दळणवळण वाढण्यास व राष्ट्रीय सभेसारख्या संस्था उत्पन्न होण्यास आणि चालविण्यास मेकॉलेसाहेबांच्या मिनिटांनें प्रचारांत आलेल्या इंग्रजी भाषेनें पुष्कळ साहाय्य झालें व होत आहे ही गोष्ट उघड आहे. पण एकाचा लाभ तर दुसऱ्याचा तोटा या न्यायानें आम्हांस जो हा फायदा मिळाला त्याचा वचपा देशी भाषावर निघून त्या हळूहळू मागे पडत चालल्या आहेत. व सर्वत्र व्यवहार इंग्रजीत चालू लागल्यामुळे देशी भाषेंत कोणी उत्तम ग्रंथ लिहीत नाहींत, व्याख्यानें देत नाहींत व भाषणेही करीत नाहींत. ही स्थिति सुधारून युरोपातील भाषाप्रमाणे देशी भाषांची सुधारणा होण्यास कोणते उपाय करावे इकडे कित्येक लोकांचे लक्ष लागलें आहे ही मोठ्या सुदैवाची गोष्ट आहे. पण वर सांगितल्याप्रमाणें या विषयाचा विचार करिताना आमच्यावर परकीय लोकांचें राज्य आहे ही गोष्ट जितक्या रीतीनें लक्षांत ठेवावयास पाहिजे तितकी ठेविली जात नाहीं असे कित्येक प्रसंगां दिसून येतें; ही गोष्ट आज विशेष रीतीनें सांगण्याचें कारण इतकेच की, देशी भाषास सरकारकडून अगर युनिव्हर्सिटी-कडून किती मदत मिळणे शक्य आहे हे पुरतेंपणीं वाचकांच्या लक्षांत यावें. युनिव्हर्सिटीची व्यवस्था बहुतेक युरोपियन लोकांच्याच हातात आहे असें म्हटलें तरी चालेल. करिता राज्यकारभाराचें धोरण एका बाजूस ठेवून "सौवर्णपर्त्री

सुरसासि गोडी न त्याहुनी पर्णपुटी न थोडी ” असे म्हणून मराठी भाषेचा गौरव करणारे सेनेटर आमच्या युनिव्हर्सिटीत फारभे सापडावयाचे नाहीत. हें आम्ही नेहमी लक्षात ठेविले पाहिजे. कोणतीही भाषा प्रगल्भदशेस येण्यास तिचा बाजागत, न्यायभाषेत, दरबारात वगैरे सर्व ठिकाणी अप्रतिहत संचार सुरू असला पाहिजे आमच्या देशी भाषास तशी सवलत हल्लीच्या राजकीय स्थितीत मिळणे शक्य दिसत नाही. पंजाबच्या युनिव्हर्सिटीत सर्व विषय देशी भाषात शिकवून, व आमचेकडे ज्याप्रमाणे परीक्षेस संस्कृत ठेविले आहे तशा रीतीने इंग्रजीचा अभ्यास करून विद्यार्थ्यांस बी. ए. ची पदवी देणारी एक शाखा आहे. पण सर्व विषय इंग्रजीत शिकून बी. ए. च्या परिक्षेत पास झालेल्या विद्यार्थ्यांपेक्षा असल्या प्राच्य बी. ए. चे महत्त्व कमी मानीत असल्यामुळे या शाखेत जितके विद्यार्थी परीक्षा देतात त्यापेक्षा इंग्रजी शाखेत परीक्षा देणाराची संख्या पुष्कळपटीने अधिक असते. साराश, देशी भाषांच्या उत्कर्षाकरिता खाजगी रीतीने आम्हीं किती जरी प्रयत्न केले तरी हल्लींच्या राज्यपद्धतीमुळे देशी भाषेच्या उत्कर्षास जो थोडाबहुत अडथळा आला आहे व येत आहे तो दूर करणे अशक्य आहे, हे लक्षात ठेवून देशी भाषेच्या उत्कर्षावद्दल ज्या कांहीं सूचना करावयाच्या त्या केल्या पाहिजेत.

इंग्रजीचे ज्ञान ज्या कारणामुळे आवश्यक अगर अपरिहार्य आहे त्या कारणाने नाही तरी अन्य कारणाने संस्कृतादि जुन्या भाषांचे ज्ञानही देशी भाषांच्या उत्कर्षास अवश्यक आहे असे थोड्या विचारांनी कळून येईल. गेल्या पाच-पंचवीस वर्षांत देशी भाषातून जे चांगले ग्रंथ झाले आहेत ते वाचले असता संस्कृतादि जुन्या भाषातील शब्दांचा त्यात किती भरणा असतो, व नवे नवे विचार देशी भाषेत व्यक्त करण्यास या जुन्या भाषांची किती मदत होते हे कोणासही उघड दिसून येईल. कोणत्याही भाषेत चांगली ग्रंथरचना होण्यास (१) शब्द सामुग्री, (२) विचारसंग्रह आणि (३) ग्रंथाची जरूरी या तिन्ही साहित्यांची अपेक्षा असते. पैकी पहिले साधन बहुतेक अशी आमच्या देशातील जुन्या भाषांच्या अभ्यासानेच प्राप्त होणार आहे. विचारांचा साठा बऱ्याच अंशी पाश्चिमात्य ग्रंथकारांकडून आपणास उसना घेतला पाहिजे. पण हे उसने विचार इकडील लोकास ग्राह्य होण्यास त्याची व जुन्या विचाराची सांगड घालून दोघासही इकडील पोषाख दिला पाहिजे. ही गोष्ट आमच्याकडील संस्कृतादि जुन्या भाषांचा ज्यास चांगला परिचय नाही त्याच्या हातून चांगलीशी वठेल असे आजपर्यंत घडलेल्या हकीकतीवरून आम्हास वाटत नाही. लॅटिन आणि ग्रीक या भाषांचे अध्ययन विलायतेतल्या युनिव्हर्सिटींतून आता चालू ठेवण्याची काही जरूर नाही अशी विलायतेत हल्ली चळवळ सुरू आहे; पण तो न्याय आपणास इकडे लागूकरितां येत नाही. लॅटिन व ग्रीक भाषांची इंग्रजीस जी मदत झाली आहे तितकी संस्कृतादि प्राच्य भाषांची आमच्या देशभाषास झाल्यावर या प्रश्नाचा आम्हास

विचार करितां येईल. हल्लींच्या स्थितीत देशी भाषांची आणि त्याच्या मातृश्रीची फारकत करून देणें आम्हांस सर्वांशीं अहितकारक आहे.

राज्यपद्धतीमुळे इंग्रजीचें आणि देशी भाषा प्रौढ दशेस आल्या नसल्यामुळे संस्कृतादि प्राच्यभाषांचें ज्ञान संपादन करणें आम्हांस अशक्य आहे हें वरच्या विवेचनावरून वाचकाच्या लक्षांत येईल. आता संस्कृत आणि इंग्रजी यांचें ज्ञान संपादन करून महाराष्ट्रादि देशभाषांचें ज्ञान संपादन करणे किती शक्य आहे अशा दृष्टीनें जरी या प्रश्नाचा विचार केला तरी युनिव्हर्सिटीच्या हल्लींच्या अभ्यासक्रमांत पुष्कळच सुधारणा करिता येण्यासारखी आहे असे आढळून येतें. मॅट्रिक्युलेशन परिक्षेस लागणारे विषय देशी भाषातून विद्यार्थ्यांस समजून देऊन पुढे दोन तीन वर्षे त्याजकडून इंग्रजी भाषेचा अभ्यास करविला तर विद्यार्थ्यांवरील परीक्षेचे ओझे बरेंच हलकें होईल असें पुष्कळ अनुभविक लोकांचें मत आहे; परंतु अशा प्रकारची व्यवस्था नसल्याचा दोष प्रत्यक्ष युनिव्हर्सिटीकडे येत नाही. मॅट्रिक्युलेशन-पर्यंत अभ्यासक्रम कसा चालवावयाचा याची व्यवस्था व नियम विशाखात्याकडून होत असतात, सबब तो भाग सोडून देऊन वरच्या परीक्षेसंबंधानेंच आपण येथे विचार करूं. महाराष्ट्रादि देशभाषांतून ज्या प्रकारचे ग्रंथ होणें आवश्यक आहे तशा प्रकारचे ग्रंथ केवळ देशी भाषांतील जुन्या ग्रंथांच्या अध्ययनाने निर्माण व्हेतील असें आम्हांस वाटत नाही. उदाहरणार्थ, आपण मराठी भाषा घेतली तरी केवळ मोरोपत, वामन वगैरे कवींच्या ग्रंथावाचून शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र इत्यादि उपयुक्त विषयावर मराठीत ग्रंथ पाहिजे आहेत असें नेटिव्ह प्रेसचे रिपोर्टर रावसाहेब साठे याचे म्हणणे आहे. असे ग्रंथ हाण्यास फारशी मदत होईल असें दिसत नाही. मराठी कवींचे ग्रंथ इंग्रजी अगर संस्कृत कवींच्या ग्रंथाप्रमाणें परिक्षेस नेमण्याच्या योग्यतेचे नाहीत असे आम्ही म्हणत नाही, परंतु ज्या हेतूसाठी मराठी भाषेचा युनिव्हर्सिटीत प्रवेश व्हावा असे लोकांचे म्हणणे आहे, तो हेतु सिद्धीस जाण्यास देशी भाषांतील जुन्या कवींचे ग्रंथ विद्यार्थ्यांकडून घोकविण्यापेक्षा निरनिराळ्या शास्त्रीय विषयांचा अभ्यास व मनन देशी भाषांतून त्याचेकडून करविल्यास जास्त उपयोग होईल हे उघड आहे. उपयुक्त विषयांवर देशी भाषांतून आधुनिक विद्वानाकडून व्हावे तितकें ग्रंथ होत नाहीत, व युनिव्हर्सिटीकडून अशा प्रकारच्या ग्रंथरचनेस जितके उत्तेजन मिळावें तितकें मिळत नाही असा रावसाहेब साठे याचा आक्षेप आहे. हा आक्षेप पुष्कळ अंशीं खरा आहे हे आम्ही वर लिहिलेंच आहे परंतु हा दोष काढून टाकण्यास अगर ही स्थिति सुधारण्यास युनिव्हर्सिटीखेरीज इतर संस्थानी व लोकांनीही प्रयत्न केला पाहिजे हें आम्हांस विसरता कामा नये. आधुनिक विद्वानांनीं उपयुक्त विषयांवर ग्रंथ लिहिण्याचें मनांत आणलें तर त्या सर्वांच्या छपाईचा खर्च ग्रंथांची विक्री होऊन निघेल कीं नाही याची आम्हांस थोडीशी शंकाच वाटते. कोणत्याही भाषेंत ग्रंथसंग्रह होण्यास ग्रंथाची जरूरी अथवा खप हें एक अंग आहे

देशी भाषांस उत्तेजन देण्यास युनिव्हर्सिटीने काय केले पाहिजे १५९

असे वर सांगितलेच आहे. जो माल खपतो तो पिकतो असा जो सर्वसामान्य नियम आहे तोच ग्रंथरचनेसही लागू पडतो. परंतु असे जरी आहे तरी युनिव्हर्सिटीत निदान काहीं विषयांचे अध्ययन देशी भाषांतून झाल्याने त्या भाषांस थोडेबहुत तरी खास उत्तेजन मिळेल अशी आमची समजूत आहे. अमुक एक विषय कॉलेजांतून देशी भाषांच्या द्वारे शिकवितात असे झाल्यावर देशी भाषांत त्या विषयावर लिहिलेली पुस्तके खपण्यास हे एक मुख्य साधनच होतें, आणि विद्यार्थ्यांस सदर विषयांची उत्तरे देशी भाषात लिहिणे जरूर असल्यामुळे त्याचीही तो विषय आपल्या भाषेकडे तयार करण्यास प्रवृत्ति होते. इंग्रजा भाषा आजमितीस जी इतकी सुधारली आहे त्याचे कारण शेक्सपियर व मिल्टन होत असे जर कोणी म्हणेल तर ते अगर्दा चुकीचे आहे. इतिहास, शास्त्रे, कला, इत्यादिकांचा अभ्यास आणि सर्व जगभर पसरलेला इंग्रजांचा व्यापार आणि राज्य, त्याचे सर्व व्यवहार इंग्रजी भाषेतच होत असल्यामुळे त्या भाषेच्या अंगी सहजच प्रौढपणा व व्यापकता हे दोन गुण आले आहेत, व ते गुण तितक्या अंशाने देशी भाषेत येण्यास तसे व्यवहार देशी भाषेतून होऊं लागले पाहिजेत हे उघड आहे. इतके व्यवहार देशी भाषांतून होऊं लागणे आज शक्य नाही हे वर सांगितलेच आहे, तथापि युनिव्हर्सिटीने ती गोष्ट मनात आणून काही उपयोग नाही. हल्लीच्या राज्यपद्धतीमुळे इंग्रजीचे जितके ज्ञान संपादन करण्यास विद्यार्थ्यांस आवश्यक आहे तितके विद्यार्थ्यांस मिळतें की नाही हे पाहून नंतर बाकीच्या काही विषयांची परीक्षा देशी भाषांतून घेण्यास युनिव्हर्सिटीस काही हरकत आहे असे आम्हास वाटत नाही. निरनिराळ्या विषयावर व्हावे तसे अद्याप ग्रंथ झाले नाहीत हे खरे आहे. पण पाच-पन्नास वर्षापूर्वी विलायतेंतही अशाच प्रकारची स्थिति होती, व अद्यापही पुष्कळ विषयांचे अध्ययन जर्मन व फ्रेंच ग्रंथावरून करून त्यांची उत्तरे विलायतेतील विद्यार्थ्यांस इंग्रजी भाषेत लिहावी लागतात. मग आमच्याकडेच असा प्रकार कां होऊं देऊं नये हे आम्हास कळत नाही. निदान हिंदुस्थानचा इतिहास, संस्कृत वगैरे विषयांची उत्तरे देशी भाषेत लिहू देण्यास तर कोणताच प्रत्यवाय दिसत नाही. आतां युनिव्हर्सिटीची रचना पाहता ही गोष्ट आजच साध्य होईल असे दिसत नाही, तथापि जर वर सांगितल्याप्रमाणे सुधारणा होणे इष्ट असेल तर त्या दिशेने जाण्याचा एव्हांपासून थोडथोडा प्रयत्न केला पाहिजे. पंजाबात ज्याप्रमाणें देशी भाषांतून शिकून तयार झालेले बी. ए. व इंग्रजींतून शिकून तयार झालेले बी. ए. असा भेद आहे, व त्या भेदामुळे त्याची योग्यता कमी जास्ती समजतात तशा प्रकारचा भेद आमच्याकडे न होईल तर बरे. म्हणजे अर्थात्च सर्व विषय देशी भाषांतून शिकवावे अगर विद्यार्थ्यांस त्यांची उत्तरे देशी भाषांतून देण्यास सांगावी असा नियम करण्यास युनिव्हर्सिटीस आम्हांस सांगतां येणार नाही, पण त्यामुळे एक दोन अथवा दोन तीन विषयांची उत्तरे

विद्यार्थ्यांस देशी भाषेत लिहिण्यास सांगण्यास कांहीं अडचण येते असें आम्हांस दिसत नाहीं. करितां इंग्रजी व संस्कृत या भाषांच्या ज्ञानाची यत्ता कमी न करितां एक दोन विषय देशी भाषेतून शिकविण्याची जर कॉलेजांतून सोय करितां आली तर सदर भाषास उत्तेजन देण्याचे कामीं युनिव्हर्सिटीनें आपलें कर्तव्य केलें असें होईल अशी आमची समजूत आहे. म्हणून युनिव्हर्सिटींत देशी भाषांचा प्रवेश करण्याबद्दल जी हल्ली खटपट सुरू आहे तीस होईल तितके करून अशा प्रकारचे वळण द्यावें अशी आमची सूचना आहे.

शंकर पांडुरंग पंडित *

रावबहादुर शंकर पांडुरंग पंडित यास गेल्या रविवारी मुंबईस देवाज्ञा झाल्याचें दुःखकारक वर्तमान आले आहे. हे आज पाच सहा महिने आजारी असून गेल्या आठ पंधरा दिवसात ह्याची तब्येत जरी सुधारत होती अशी बातमी आली होती, तरी एकंदरीत त्यास झालेला रोग दुःसाध्य आहे असे डॉक्टर लोकांचे मत होते. आमच्या ग्रॅज्युएट मंडळींत हुषार म्हणून जे गृहस्थ मानले जातात त्यात शंकरराव याची गणना होते. याची एम्. ए.ची परीक्षा सन १८६७ सालीं उतरली, व कॉलेजात असताच भाषाज्ञानाबद्दल याचा लौकिक झाला होता. रघुवश, मालविकाग्निमित्र आणि वेदार्थयत्न ह्या ग्रंथावरून याची विद्वत्ता व परिश्रम लोकांस कळून येतील. सरकारी नोकरींतही शंकररावाचा चांगला प्रवेश झाला असून काही दिवस त्यानी ओरिएण्टल ट्रॅन्सलेटरचे काम केले होतें, व हल्ली पोरबंदर स्थानाचे ते दिवाण होते. याचा स्वभाव तापट असल्यामुळें कित्येक प्रसंगी याजवर सरकारची नाराजी होत असे, पण तिकडे यांनीं कधीही विशेष लक्ष दिले नाही. मुलकी खात्यातील नोकरी संभाळून यांच्याप्रमाणें विशेष व्यासंग कायम ठेवणारे फारच थोडे गृहस्थ सापडतील. याचें वय सुमारे ५३ वर्षांचें होते. अखेरीस अखेरीस त्यांना हवा पालटण्याकरिता म्हणून मुंबईस रावबहादुर रानडे याचे घरी नेलें होतें; पण मृत्युपुढे सर्व मानवी प्रयत्न व्यर्थ आहेत. याच्या मृत्यूनें आमच्यामधील एक अनुभवीक, उद्योगी आणि विद्वान् गृहस्थ आज नाहीसे झाले. याची जागा पुढे भरेल तेव्हा खरी.

आमचे आधुनिक विद्वान् अकार्लीं कां मरतात ? *

गेल्या रविवारीं न्यायमूर्ति रा. व. रानडे यांचें मुंबईस जें व्याख्यान झालें तें फार महत्त्वाचें होतें. डॉ. भाडारकर यांचें व्हाईसचान्सलर या नात्यानें युनिव्हर्सिटींत भाषण झाल्या दिवसापासून या विषयांकडे लोकांचें विशेष लक्ष लागलें आहे. कित्येकांच्या मते डॉक्टरसाहेबांनी काढलेलीं अनुमानें सर्वाशी ग्राह्य नव्हतीं, पण ज्या रीतीनें डॉक्टरसाहेबांनी या प्रश्नाचा उहापोह केला होता, तशाच रीतीने परंतु त्याहून विशेष सूक्ष्म दृष्ट्या व शोधक बुद्धीनें या विषयाचें पुनः विवेचन करून काय सिद्धांत निघतात हैं कोणी तरी एका चागल्या विद्वानानें पुनः पाहावयास पाहिजे होतें. न्यायमूर्ति रा. व. महादेव गोविंद रानडे यांनी हे काम करण्याचें मनावर घेऊन बहुतेक प्रसिद्ध विद्वानास या संबधानें आपले अभिप्राय कळविण्यास आज बरेच दिवसांपूर्वी पत्रे लिहिलीं होती; व विशेषतः करून त्यास असें विचारलें होतें कीं, (१) ग्रॅज्युएट लोकांपैकीं अकार्लीं मेलेले आपणास किती गृहस्थ माहीत आहेत, व त्याच्या मृत्यूचीं कारणे काय ? आणि (२) ग्रॅज्युएट मंडळींतील किती लोकांनीं इंग्रजींत अगर देशी भाषेंत ग्रंथ प्रसिद्ध केले आहेत ? रा. व. रानडे यांनीं एकंदर सुमारे चारशें पत्रे लिहिली होती, पैकीं निरनिराळ्या ठिकाणच्या दक्षिणी, पार्शी, गुजराथी वगैरे लोकांकडून सुमारे १३६ उत्तरे आलीं व हीं उत्तरे पाठविणारांपैकीं कित्येकानी बडोदें, सोलापूर, रत्नागिरी, भावनगर, अहमदाबाद, इंदूर, पुणे, मुंबई, कोल्हापूर, कराची, धुळे, हुसंगाबाद, शिकारपूर वगैरे ठिकाणीं ग्रॅज्युएट लोकांच्या सभा भरवून त्या सभांचें मत रावबहादुरास कळविलें आहे. तेव्हा या उत्तरात दिलेल्या माहितीपासून जीं अनुमानें निघतील तीं एकतर्फीं अगर एकपक्षीय आहेत अशी तक्रार करण्यास आतां कोणतेही कारण राहिलें नाहीं. युनिव्हर्सिटींतून पास झालेले बरेच लोक अकार्लीं मरावे आणि जिवंत राहिलेल्या लोकांत ग्रंथकर्तृत्वादि विद्याव्यासंग करण्याची मुळींच अभिरुचि किंवा शक्ति नसावी हे दोन आक्षेप खरे असल्यास ते आधुनिक विद्वानांस भूषणास्पद नसून ते दूर करण्याचा त्यांनीं प्रयत्न केला पाहिजे. असें जें रा. व. रानडे यांनीं बोलून दाखविलें तें आम्हास पूर्णपणे मान्य आहे. प्रतिवर्षीं विद्येनें संस्कृत झालेल्या लोकांपैकीं बरेच लोक मृत्युच्यामुखीं पडावेत हैं कांही राष्ट्राचें सामान्य दुर्दैव नव्हे, व केवळ गृहादिकांच्या गतिस्थितिमुळे मनुष्यास

* केसरी ता. १७ एप्रिल १८९४.

मृत्यु येतो अशी ज्यांची समजूत नसेल त्यांनी या प्रश्नाचा व्यावहारिक दृष्ट्या विचार करण्यास लागावे हे त्यांचे कर्तव्य होय. डॉ. भांडारकर व न्यायमूर्ति रानडे या दोघां विद्वानांच्या हातून या प्रश्नाचे अशा रितीने परिक्षण झाले आहे ही मोठ्या सुदैवाची गोष्ट होय. व दोघाही विद्वानांच्या चर्चेने जे सिध्दांत अखेर कायम ते ग्राह्य मानण्यास कांहीं हरकत नाही.

वर जे दोन प्रश्न सांगितले त्यांपैकी ग्रॅज्युएट लोक अकाली मरतात की नाही याचे डॉ. भांडारकर यांनी जे विवेचन केले होते त्यात सन १८६२।८० पर्यंत पास झालेल्या एम्. ए. गृहस्थापैकी दक्षिणी शेंकडा ४४ आणि पार्शी शेंकडा १६ मरतात; आणि बी. ए. पैकी दक्षिणी शेंकडा २०, गुजराथी शेंकडा २२, आणि पार्शी शेंकडा ९ मरतात असे त्यांनी आकड्यांनी सिद्ध करून दाखविले होते. हे आकडे रावव. रानडे यानी पुनः तपासून घेऊन सन १८९३ अखेर-पर्यंत (सन १८९३ साली पास होऊन १८९४ च्या फेब्रुवारीत ज्यांनी डिग्री घेतली ते लोक सोडून देऊन) युनिव्हर्सिटीतून बाहेर पडलेल्या सर्व ग्रॅज्युएटांची हकीकत आणविली कित्येकांच्या मते ग्रॅज्युएट अकाली मरतात किंवा नाही हे पाहणे असल्यास दहा वर्षांपूर्वीचे ग्रॅज्युएट घेतले पाहिजेत; परंतु ही समज चुकीची आहे. जे लोक अकाली मरतात ते प्रायः ग्रॅज्युएट झाल्यापासून दहा पंधरा वर्षांतच मरतात; करिता आजपर्यंत पास झालेले सर्व ग्रॅज्युएट घेऊन व त्याची हकीकत पाहून जे अनुमान निघेल तेच अधिक विश्वसनीय मानले पाहिजे. खेरीज युनिव्हर्सिटी स्थापन झाल्याबरोबर पहिली काही वर्षे पार्शी व गुजराथी लोक यांचा कॉलेजांतून फारसा भरणा नसे. सबब डॉ. भांडारकर यांनी याप्रमाणे सन १८६२ पासून सन १८८० पर्यंत म्हणजे पहिल्या अठरा वर्षांचीच संख्या घेऊन अनुमाने काढिली आहेत, तसे केले असता निरनिराळ्या ज्ञातीतील परस्परप्रमाणही बरोबर कळण्याचा संभव नाही. ह्यामुळे रा. व. रानडे यांनी सन १८९३ अखेर सर्व ग्रॅज्युएट लोकांची संख्या घेऊन जे अनुमान केले आहे तेच अधिक प्रशस्त आहे असे मानले पाहिजे.

सन १८९३ अखेर एकंदर ग्रॅज्युएटाची संख्या २१९८ असून, पैकी १०५ एम्. ए.; १३२८ बी. ए., ३२ बी. एससी. ५ एम्. डी. ४२४ एल. एम्. एस्, १ एम्. सी. ई. व ३०३ एल. सी. ई. आहेत; आणि बी. ए. व एम्. ए. मिळून एकंदर १४३३ सांपैकी ३५६ एल्.एल्. बी. झाले आहेत. या सर्वांचे जातवार प्रमाण पाहू गेले असतां असे आढळून येते की, यांपैकी शेंकडा ४७ दक्षिणी, शेंकडा २५ पार्शी, १७ गुजराथी, ६ खिश्नन, २ सिंधी, आणि मुसलमान शेंकडा २ पेशाही कमी आहेत. पैकीं खिस्ती, ज्यू, मुसलमान आणि सिंधी ह्यांची संख्या फारच कमी असल्यामुळे त्यांच्याबद्दल

कोणतेंच निश्चयात्मक अनुमान बसविता येत नाही. बाकी दक्षिणी, गुजराथी, आणि पार्शी राहिले; यांची संख्या १९७२ आहे. पैकीं एम्. ए., बी. ए. वगैरे कोणकोणत्या ज्ञातींत किती किती आहेत, व त्यापैकीं अकार्लीं मेलेले किती हैं दुसरीकडे दिलेल्या दोन कोष्टकांवरून दिसून येईल. पार्शी लोक दक्षिणी किंवा गुजराथ्यापेक्षां एम्. ए.च्या किंवा एल्. एम्. एस्.च्या परीक्षेस जास्त जातात असें यावरून आढळून येतें; व ते मुंबईचेच स्थायिक राहणारे असतात यामुळे असें होणें अगदी साहजिक आहे. आता अकार्लीं मयत झालेल्या लोकांची संख्या व प्रमाण पाहतां असें आढळून येईल. कीं, एल्. सी. ई. सर्वांत कमी मरतात त्यापेक्षा बी. ए. झालेल्या लोकांत मरण्याचें प्रमाण (शेंकडा ७) जास्त आहे. नंतर वाढत्या प्रमाणानें एल्. एम्. एस्. एल्एल्. बी., आणि एम्. ए. ही पदवीवाले येतात; व सर्वांत एम्. ए. एल्एल्, बी. जास्त म्हणजे २४ पैकीं ९ अथवा शेंकडा ३३ या मानानें मेले आहेत असें आढळून येतें. हा सामान्य विचार झाला. जातीसंबंधाने पाहतां असें आढळून येतें की, मृत्यूचें प्रमाण पार्श्यांमध्ये शेंकडा ४५ गुजराथ्यामध्ये शेंकडा ५ व दक्षिणीमध्ये शेंकडा १० असें आहे. म्हणजे दक्षिणी लोकांमध्ये मृत्यूचें प्रमाण सर्वांहून जास्त आहे. व पार्शी आणि गुजराथी या दोहोंमध्ये या-संबंधानें फारसें अंतर नाही असें आकड्यावरून सिद्ध होते. दक्षिणी लोकां-पैकीं, डॉक्टरांत मृत्यूचें मान शेंकडा १९, एम्. ए. झालेल्यात शेंकडा २४, नुसत्या बी. ए. झालेल्या लोकांत शेंकडा ९, आणि एल्एल्. बी. झालेल्यात शेंकडा ८॥ आहे असें दुसरीकडे दिलेल्या कोष्टकावरून दिसून येईल, भगवान-दास—पुरुषोत्तमदास—स्कालरशिप म्हणून संस्कृतात एम्. ए.च्या परीक्षेत जो पहिला येईल. त्यास बक्षीस देण्यात येत असते. हे बक्षीस ज्यानीं आजपर्यंत मिळविलें आहे. अशा १५ गृहस्थापैकीं १० मयत आहेत, व यातच कै०वा० आपटे, वैद्य, गोखले, भिडे, आठल्ये याचा समावेश होतो. आकड्यांवरून व कोष्टकावरून जे ठळक ठळक सिद्धान्त निघतात ते वर लिहिल्याप्रमाणें आहेत. आता याचीं कारणें काय असावीत याचा विचार करूं.

डॉ० भांडारकर यानी असें म्हटलें होतें कीं, दक्षिणी लोकांत मृत्यूचें जें अधिक प्रमाण आढळून येतें त्याचीं मुख्य कारणें कदन्न, बालविवाह, आणि व्यायाम-विद्वेष ही होत. पार्शी लोक अधिक चांगलें अन्न खातात, अधिक व्यायाम घेतात व उशीरां लग्न करतात, तेव्हां ते अर्थातच दक्षिणी लोकांपेक्षा अधिक जगतात असें डॉक्टरसाहेबांचे म्हणणे होतें. हें म्हणणें आपणास कबूल नसल्याबद्दल आम्ही त्याच वेळीं लिहिलें होतें; व हल्लीं रा. व. रानडे यानी या विषयाचे जें शोधक-बुद्धीनें परीक्षण केलें आहे यावरूनही आमचेच म्हणणें खरें ठरते, डॉक्टरसाहेबांचे

अनुमान जर बरोबर धरिले तर पार्शापेक्षां गुजराथी लोकांतही मृत्यूचें प्रमाण अधिक असावयास पाहिजे. कारण गुजराथी लोकांचे आहारविहार हे आमच्या-प्रमाणेंच पार्शांहून भिन्न आहेत, परंतु ज्याअर्थी पार्शां आणि गुजराथी या दोन्ही जातींत मृत्यूचें प्रमाण जवळ जवळ सारखेंच आहे असें आकड्यांनीं सिद्ध होतें, त्याअर्थी डॉक्टरसाहेबांची कल्पना सोडून देऊन आहारविहार-विवाहादि स्थितींतील वैषम्यापेक्षां दुसरे कांहीं तरी कारण शोधून काढणें जरूर आहे. दक्षिणी, पार्शां आणि गुजराथी यांच्या सामान्य म्हणजे एकदर समाजांत [मग ते शिकलेले असोत वा नसोत] जें मृत्यूचें मान आढळून येतें त्यावरूनही डॉक्टरसाहेबांची कल्पना निराधार ठरते. रा. व. रानडे यांनीं असें दाखविलें आहे कीं, मुंबई शहरांत गेल्या पंधरा वर्षांत ब्राह्मण हजारी २२ व पार्शां हजारी २० मयत झाले; व सन १८९३ सालीं तर दोघांचेही प्रमाण हजारी २३ च होतें, पार्शांच्या आहारादिकामुळे जर ते अधिक दीर्घायु झाले असते तर वर दिलेलीं सामान्यप्रमाणें सारखीं राहिली नसतीं, यावरून व गुजराथी व पार्शां पदवीधरांत जे मृत्यूचें सारखेंच प्रमाण आढळून येतें त्यावरून डॉक्टरसाहेबांची कल्पना आंकड्यांशीं जुळत नाही असें म्हणणें भाग पडतें खेरीज पार्शां लोकांमध्ये व्यायामशाळा वगैरे व्यायाम घेण्याच्या सोयी गेल्या दहा पंधरावर्षांतच निघालेल्या आहेत, तेव्हां त्यामुळे आयुष्यमर्यादेंत कांहीं फेर झाला असल्यास तो ह्याच्यापुढें नजरेस यावयाचा गेल्या तीस वर्षांतील ग्रॅज्युएटच्या मृत्यूचें मान त्यामुळे कमीजास्त होण्याचा संभव नाही.

परंतु डॉक्टरसाहेबांची कल्पना अग्राह्य धरिली तरी दक्षिणी ग्रॅज्युएट गुजराथी अगर पार्शां ग्रॅज्युएटापेक्षा अकाली अधिक मरतात ही गोष्ट जर आंकड्यांनीं सिद्ध आहे तर तिचें कारण काय ह्याचें कांहीं तरी आपणास सयुक्तिक उत्तर दिले पाहिजे. पार्शां लोक अधिक चांगले अन्न खातात हें खरें कारण नाही असें वर दिलेल्या हकीकतीवरून उघड दिसून येतें; व विशेषतः गुजराथी व पार्शां ग्रॅज्युएट यांच्यामध्ये ज्याअर्थी मृत्यूचें मान समसमानच आहे त्याअर्थी डॉक्टरसाहेबांचा सिद्धान्त चुकीचा आहे असें निर्विवाद सिद्ध होतें. परंतु अमुक एक कल्पना चुकीची ठरली म्हणून तेवढ्यानेंच आपलें समाधान करून घेऊन उपयोगी नाही. मराठे लोक गुजराथी लोकांपेक्षा शरीरानें आणि मनानें अधिक कंटक व सशक्त आहेत. युनिव्हर्सिटीच्या पदव्या मिळविण्यांत, शेंकडा ५० म्हणजे त्यांचा पहिला नंबर आहे; व ग्रंथकर्तृत्वाच्या मानानेंही त्यांनी जितकें काम केलें आहे तितके दुसऱ्या कोणींच केले नाही. अशा स्थितींत आमच्या गुर्जर राष्ट्रीय बंधूपेक्षा आमच्याकडील विद्वान् लोक अकालीं का मरावेत हा मोठा महत्त्वाचा प्रश्न आहे. या प्रश्नाचें रा. व. रानडे यांनीं आपल्या व्याख्यानांत जें उत्तर दिलें आहे तेंच डॉक्टरसाहेबांच्या कल्पनेपेक्षा एकंदरीत अधिक

सयुक्तिक व यथार्थ आहे असें आम्हांस वाटते. ग्रॅज्युएट लोकांच्या वयाचें मान सरासरीं २० पासून ४० सापर्यंत धरितां येईल. या वयाच्या मुदतीत एकंदर समाजांत मृत्यूचें मान हजारी ३० आहे असें सन १८९२ सालच्या खानेसुमारीच्या रिपोर्टावरून आढळून येते. या मानानें पाहतां पार्शी व गुजराथी ग्रॅज्युएटाच्या मृत्यूचें मान सामान्य मानापेक्षां दुप्पट, आणि दक्षिणी ग्रॅज्युएट लोकांच्या तिपटीहून अधिक आहे असें दिसून येते. सामान्य लोकाप्रमाणें खाण्यापिण्याची विशेष भ्रात नसतां एकंदर ग्रॅज्युएट लोकांतच मृत्यूचें जर अधिक मान आहे तर हा परिणाम शिक्षणाच्या फार्जाल ओझ्यानें आणि दहशतीनें होतो असें म्हणावें लागतें. मृत्यूच्या सामान्य मानासंबंधानें हा विचार झाला. आतां मराठी किंवा दक्षिणी लोकांत सामान्य ग्रॅज्युएट लोकांपेक्षांही जें अधिक मृत्यूचें मान आढळते त्याचें कारण काय आहे तें पाहूं. एकंदर लोकांपेक्षां ग्रॅज्युएट अधिक मरतात व ग्रॅज्युएटांतही दक्षिणी अधिक लवकर मरतात हें आकड्यांनांच सिद्ध झालें आहे.

दक्षिणी ग्रॅज्युएट मंडळांत विशेष भरणा ब्राह्मण लोकांचाच आहे, आणि ब्राह्मण म्हणजे दरिद्री हें सर्वश्रुतच आहे. करितां दरिद्रावस्थेंत विद्याभ्यास करणाऱ्या लोकांस युनिव्हर्सिटीचा अभ्यासक्रम अकालमृत्युप्रद होतो असें सकृदर्शनी दिसून येते, व थोड्या विचारांतीं दक्षिणी ग्रॅज्युएटांत मृत्यूचें मान अधिक असण्याचें हेंच मुख्य कारण आहे अशी बहुतेकाची खात्री होईल. ब्राह्मणांतही सुखवस्तु गृहस्थाच्या मुलापेक्षा गरीबांचीं मुलें अधिक हुषार व मेहनती असतात ही गोष्ट सुप्रसिद्ध आहे. कौकणातील किती गरीब मुलें वाराने किंवा कोणी तरी आस अगर स्नेही यांच्या मदतीनें उदरनिर्वाह करून बी, ए, एम, ए, पर्यंत मजल मारतात हें येथे नवीन सांगावयास पाहिजे असें नाही. डॉ; भाडारकर यांसही ही स्थिति अवगत आहे; परंतु तिकडे थोडेंसें दुर्लक्ष करून “ लग्नात पैसे खर्च करावयास सांपडतात तर विद्याभ्यासासाठीं का खर्च करूं नये ” अशा रीतीनें सदर वर्गातील लोकांचा त्यांनीं थोडासा उपहास केला होता, रा. व. रानडे यांच्या मते हा उपहास अगदी गैरवाजवी आहे. असल्या गरीब विद्यार्थ्यांस मुली देणारे गृहस्थच लग्नाचा सर्व खर्च सोसून शिवाय त्यांच्या विद्याभ्यासाकरिताही कांहीं मदत करतात हें कदाचित् डॉक्टरसाहेबांच्या लक्षांत राहिलें नसेल. असो, अकाली मेलेल्या कै० वा. आगाशे, आपटे, गोखले, वैद्य, बाळ, टुळु, जोशी, क्षीरसागर, मिरजकर, वगैरे सुमारे पन्नास लोकांच्या गृहस्थितीची चौकशी करिता असें आढळून येते कीं, यापैकीं बहुतेक लोक अगदी गरीब स्थितीतून वाढले असून त्यांचा विद्याभ्यास वारानां, स्नेहांच्या मदतीनें किंवा स्कॉलरशिपनें झालेला आहे. इतकी दगदग व त्रास सोसून युनिव्हर्सिटीच्या सर्व परीक्षा जे पास होतात त्यांच्या

आयुष्याची दोरी बरीच ढिली व्हावी; व कोणत्याही कारणानें विषमज्वरासारखें दुखणें आल्यास त्यांतच त्यांचा अंत व्हावा यांत कांहीं नवल नाही. आमच्यामते भगवानदास—पुरुषोत्तमदास—स्कॉलरशिप मिळविलेल्या १५ एम्. ए. गृहस्थांपैकीं आजपर्यंत दहा गृहस्थ मेले ह्याचेही हेंच कारण होय. संस्कृतची स्कॉलरशिप बहुतकरून दक्षिणी लोकानींच मिळविली आहे; व त्यापैकीं बहुतेकास जगन्नाथ-शंकरशेटची स्कॉलरशिप मिळालेली होती या स्कॉलरशिपा मिळविण्याकरितां गरीब विद्यार्थी जितकी मेहनत करतात तितकी सुखवस्तु गृहस्थांची मुले करित नाहीत तेव्हा संस्कृताची स्कॉलरशिप पहिल्यापासून मिळवून जे गरीब विद्यार्थी एम् ए पर्यंत गेले व ज्यांनीं भगवानदास—पुरुषोत्तमदास स्कॉलरशिप मिळविली त्यास अकालीं मृत्यु यावा ह्यांत कांही विशेष आश्चर्य नाही. आता दरिद्री लोकानीं अशा रीतीनें वरिष्ठ शिक्षणाची हाव का धरावी असा कोणी प्रश्न करताल, तर त्यास उत्तर इतकेंच आहे कीं, दक्षिणेंतील ब्राह्मणांस शिक्षणाखेरीज इतर धंदे फारसे अद्याप प्रिय वाटूं लागले नाहीत व एका अर्थी इतर धंद्यास अवश्य लागणारे गुणही यांच्यामध्ये अद्याप कमी आहेत. दारिद्र्य आणि विद्याव्यासंग यांचें ब्राह्मणाशी आज हजारों वर्षांचे साहचर्य आहे, आणि हुशारी व मेहनत गरीब विद्यार्थ्यांच्या अंगां जितकी दिसून येते तितकी सुखवस्तु विद्यार्थ्यांत दिसून येत नाही. असा अनुभव आहे करितां या वर्गातील विद्यार्थ्यांस विशिष्ट शिक्षणापासून पराड्मुख न करिता त्यांच्या मार्गांत असलेल्या अडचणी काढून टाकून त्यास परंपरागत आलेला धंदा करण्यासच उत्तेजन द्यावे ह्यात एकदर राष्ट्राचें हित आहे. विद्याव्यासंग कायम ठेवून नवीन शोध अगर ग्रंथ करण्याचे कामही याच वर्गातील विद्यार्थ्यांकडून आज शकडों वर्षें होत आले आहे व पुढे होण्याचा संभव आहे. यासाठीं यांच्या अकाली घडणाऱ्या मृत्यूंची जी कारणें असतील तीं जेणेंकरून कमी होतील असे उपाय केले पाहिजेत. यापैकीं (१) पहिला उपाय सरकारच्या हातांत आहे. म्हणजे त्यांनी गरीब ब्राह्मण विद्यार्थ्यांस पगारी व नादारी विद्यार्थ्यांच्या जागा होईल तितक्या कमी देण्या । जो ठराव केला आहे तो बदलला पाहिजे (२) दुसरा उपाय युनिव्हर्सिटीचा शिक्षणक्रम हल्लींच्या पेशा अधिक सोपा करणें हा होय. सर्व विषय परीक्षा पास होते वेळीच विद्यार्थ्यांस अवगत असले पाहिजेत अशा समजुतीनें एकदर परीक्षा कठिण करण्यात काहीं हशील नाही. परीक्षेस १० विषय असले; व त्यापैकी विद्यार्थ्यांस ५ चांगले, ४ मध्यम आणि एक सुमाराचाच येत असला, तर त्या एका विषयाकरिता त्यास वारकरी बनविणें अगदी अप्रशस्त आहे. बी. ए.ची परीक्षाही कांहीं विद्वत्तेची सीमा नव्हे. साधारण रीत्या सुशिक्षित मनुष्यास जें ज्ञान असणें अवश्य आहे तितकें ज्यास मिळालें आहे त्यास बी.ए. होता यावे. कोणत्याही एका विशिष्ट विषयाचा व्यासंग करून

त्यांत लौकिक मिळविणें हें पुढील काम आहे. त्याचा सामान्य परीक्षेशीं कांहीं संबंध असूं नये; परंतु शिक्षणक्रम जरी अशा रीतीनें सुधारला तरी विद्यार्थ्यांच्या हातांतच अकालमृत्युहरणाचे जे उपाय आहेत ते त्यांनीं अवश्य केले पाहिजेत. यापैकीं मुख्य उपाय म्हटला म्हणजे (३) ब्रह्मचर्य होय. विद्या पुरी होईपर्यंत तरी हें व्रत विद्यार्थ्यांनीं अवश्य चालविलें पाहिजे. इंग्रजी राज्य होण्यापूर्वी आमच्या देशांत जे विद्वान् शास्त्री व पंडित झाले त्यांचा यासंबंधानें मोठा कटाक्ष असे; व एकंदरीत हल्लीच्या गरीब स्थितीत तर अशा प्रकारच्या व्रताची फार जरूर आहे. रा० ब० रानडे यांनी यापेक्षा काही जास्त सांगितलें नाहीं; तथापि आम्ही असें म्हणतो की, आजन्म किंवा दीर्घकाल ब्रह्मचर्य पाळणारे जर आमच्या-मध्ये काहीं विद्वान् लोक निघतील तर त्यापासून त्याचे व राष्ट्रचे पुष्कळच हित होईल.

असे; याप्रमाणे महाराष्ट्र-पदवीधर-विद्वानांच्या अकालिक मृत्यूच्या कारणांचा विचार झाल्यावर आधुनिक विद्वान् विद्याव्यासंगाचे काम परिक्षा संपल्यावर पुढे कोणत्या रीतीने चालवितात याची थोडीशी हक्कित सांगितली ती हक्कित त्यास आलेल्या जवाबावरून व विशेषतः नेटिव्ह प्रेसचे रिपोर्टर यांनी केलेल्या रजिस्टर झालेल्या पुस्तकाच्या यादीवरून घेतली आहे. त्यामुळे या संबंधीं सर्व अनुमान ग्रॅज्युएट लोकांनी लिहिलेल्या पुस्तकावरूनच केले आहे हें उघड आहे. ही रीत कित्येकांच्या मते बरोबर नाही; कारण त्यांच्या मते पुष्कळ ग्रॅज्युएट विद्याव्यासंगात निमग्न असतील, परंतु ग्रंथ लिहिण्याची त्यास इच्छा अगर सवड नसेल. हें म्हणणे काहीं अंशीं बरोबर आहे. प्रो. जिन्सीवाले यांचे नाव ग्रंथकाराच्या यादीत नसले तरी त्यांनी आपला विद्याव्यासंग कायम राखिला नाहीं असें कोणीही म्हणणार नाहीं. परंतु आम्हास जें अनुमान काढा-आहे तें व्यक्ति संबंधाने नसून सामान्य वर्गावद्दलच आहे, ही गोष्ट जर वरील आक्षेपकार नीट लक्षात आणतील तर ग्रंथप्रकाशना खेरीज सामान्य ग्रॅज्युएट वर्गाच्या परीक्षोत्तर विद्याव्यासंगाचें दुसरे कोणतेंही चागलें द्योतक चिन्ह नाहीं असें यांस आढळून येईल. गेल्या पंचवीस वर्षांतील देशी भाषातील ग्रंथांचें सरकारी वार्षिक रिपोर्ट रा. ब. रानडे यांनी तपासले आहेत. त्या रिपोर्टावरून असें अनुमान निघतें कीं ग्रंथकर्तृत्वाच्या कार्मीं दक्षिणी ग्रॅज्युएट लोकानी जितकें काम केले आहे त्यापेक्षां गुजराथी ग्रॅज्युएट मंडळांचे काम पुष्कळच कमी आहे व पार्शाचा नंबर तर दोहोंच्याही खाली लागतो. मराठी ग्रॅज्युएट मंडळांत डॉ. भांडारकर, कुंटेद्वय, पंडित तेलंग, चिपळूणकर, आपटे, वेद्य वगैरे पुष्कळ गृहस्थ आहेत. गुजराथी लोकांत त्रिवेदी, कोठारे, देसाई, द्विवेदी, शहा, गुजर, त्रिपाठी वगैरे बरींच नांवें आहेत; परंतु दक्षिणी लोकांपेक्षा त्यांची संख्या

कमी आहे. पार्शी लोकांत संजाना, वाडिया, बजोरजी, दस्तुर, नायगमवाला, वगैरे गृहस्थानीं कांही ग्रंथ लिहिले आहेत. परंतु ते सर्वांत कमी आहेत. या ग्रंथ-समूहापैकी बरेच ग्रंथ भाषांतररूपी आहेत हें खरें. पण इंग्रजी व युरोपीय विद्यांचा जर देशी भाषांत संग्रह करणें असेल तर तो भाषांतररूपानेंच केला पाहिजे हें लक्षांत आणलें असतां वरील दोषांचें महत्त्व कमी होतें. डॉ. भांडारकर, कुंटे, तेलंग, पंडित, आपटे, वैद्य, यांचे ग्रंथ केवळ भाषांतररूपी नाहींत हेंही लक्षांत आणले पाहिजे. सारांश दक्षिणी ऍज्युएटांपैकी पुष्कळ लोक जर अकार्ळी मरतात तर त्या मानाने कामही ते जास्त करितात हें विसरतां कामा नये. रा. रा. महादेवराव आपटे यांनीं स्थापिलेला आश्रमही या कार्मी आमच्या ग्रॅज्युएट मंडळींत वास करीत असलेल्या निरपेक्ष बुद्धीचीच साक्ष आहे. विभायेंत शेंकडा ५ विद्वानच कायते विद्याव्यासंग पुढें कायम ठेवतात. या मानानें पाहिले तर आमच्याकडे शेंकडा १० ग्रॅज्युएट आपलें वाचन कायम ठेवतात. हें कांही कमी नाही. दरिद्री ग्रॅज्युएट यापेक्षां आणखी जास्त काय करणार ? धंदेवाल्या ग्रॅज्युएटांत ग्रंथरचनेच्या कार्मी डॉक्टरांचा पहिला, कायदेपंडिताचा दुसरा, व इंजिनिअराचा तिसरा नंबर आहे.

याप्रमाणे भाषण झाल्यावर सरतेशेवटीं रा. व. रानडे यांनीं युनिव्हर्सिटीचा अभ्याक्रम सुधारावा, ब्रह्मचर्यव्रत जास्त राखण्याची तजवीज करावी. बाहेरगावच्या लोकांस अभ्यास पुढें चालविण्यास जेणेंकरून साधन मिळेल अशा संस्था स्थापाव्या अशा अर्थाच्या कांही सूचना केल्या, व नंतर त्यांचे आभार मानून सभा बरखास्त झाली.

सन १८९३ अखेरपर्यंतच्या ग्रॅज्युएटांची हकीकत.

कोष्टक १-ग्रॅज्युएटांची संख्या.

| | दक्षिणी | गुजराथी | पार्शी | एकूण. |
|----------------|---------|---------|--------|-------|
| एम्. ए. | ४६ | १३ | ४० | ९९ |
| बी. ए. | ७१८ | २४९ | २६४ | १२३१ |
| बी. एस्सी. | १० | ९ | ९ | २८ |
| एम्. डी. | ३ | ० | २ | ५ |
| एल्. एम्. एस्. | ८६ | ५० | १९४ | ३३० |
| एम्. सी. ई. | १ | ० | ० | १ |
| एल्. सी. इ. | १८० | ५१ | ४७ | २७८ |
| एल्. एल्. बी | १९० | ७१ | ६९ | ३३० |

कोष्टक २—अञ्चलमधील मृत्यूचे मान.

एकूण सर्वे

पार्श्वी

गुजराथी

दक्षिणी

| वर्गिका. | दक्षिणी | | | गुजराथी | | | पार्श्वी | | | एकूण सर्वे | | |
|----------------|---------------|----------|---------------|--------------|-----------|---------------|---------------|-----------|---------------|------------|------|---------------|
| | एकंदर संख्या. | पैकी मयत | शेकडा प्रमाण. | एकंदर संख्या | पैकी मयत. | शेकडा प्रमाण; | एकंदर संख्या. | पैकी मयत. | शेकडा प्रमाण. | संख्या. | मयत. | शेकडा प्रमाण. |
| बी. ए. | ७१८ | ६७ | ९.३ | २४९ | १३ | ५.३ | २६४ | ८ | ३ | १२३१ | ८८ | ७ |
| एम्. ए. | ४६ | ११ | २४ | १३ | ० | ० | ४० | ५ | १२.३ | ९९ | १६ | १६ |
| एल्. एम्. एम्. | ८६ | १६ | १९ | ५० | ४ | ८ | १९४ | ५ | २.३ | ३३० | २५ | ७.३ |
| एम्. डी. | ३ | १ | ... | ० | ० | ० | २ | ० | ० | ५ | १ | ० |
| एल्. सी. ई. | १८० | ७ | ४ | ५१ | १ | २ | ४७ | ३ | ६.३ | २७८ | ११ | ४ |
| बी. एस्. सी. | १० | | | ९ | | | ९ | | | २८ | | |
| एम्. सी. ई. | १ | | | | | | | | | १ | | |
| एकूण | १०४४ | १०२ | १० | ३७२ | १८ | ५ | ५५६ | २१ | ४ | १९७२ | १४१ | ५ |
| एल्. बी. | १९० | १७ | १८.३ | ७१ | ४ | ५.३ | ६९ | ५ | ७ | ३३० | २६ | ८ |

अञ्चलमधील मृत्यूचे मान.

* डॉ. भांडारकर आणि ऑनरे. रावबहादुर रानडे.

डॉ. भांडारकर यांनी युनिव्हर्सिटीचे व्हाइस चॅन्सलर या नात्याने केलेले भाषण आणि रावबहादुर रानडे यांचे त्यांतील दोन मुद्द्यांच्या गोष्टीसंबंधाने विचार हे केसरीतून प्रसिद्ध झालेच आहेत. रावबहादुर रानडे यांनी डॉक्टरसाहेबांच्या मताचे जे खंडण केले त्यावर डॉ. भांडारकर यांचे काही तरी प्रत्युत्तर येईल असे आम्हांस वाटत होतेच व ते काय येते ते पाहण्याकडे पुष्कळांचे डोळे लागले होते. सदर उत्तर गेल्या आठवड्यात इंग्रजी पत्रातून प्रसिद्ध झाले आहे. व ज्या अर्थी या वादातील दोन्ही लेखांचा आम्ही पूर्वी सारांश देऊन परीक्षण केले आहे, त्याअर्थी डॉ. भांडारकर यांच्या प्रत्युत्तराचाही आज येथे थोडासा विचार आम्हांस केला पाहिजे.

डॉ. भांडारकर यांच्या प्रत्युत्तराचे दोन भाग करता येतील. एक प्रस्तुत व दुसरा अप्रस्तुत. 'ग्रॅज्युएट लोक अकार्ली का मरतात' हा मुख्य प्रश्न आहे व सार्वजनिकदृष्ट्या याचा खल होईल तितका चांगलाच. 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' असे एक जुने वचन आहे, त्याप्रमाणे पाहिले म्हणजे या महत्त्वाच्या प्रश्नाचा जर काही निकाल लावणे असेल तर वादानेच लागेल. डॉ. भांडारकरांच्या उत्तरांतील दुसरा विषय म्हटला म्हणजे त्यांच्यावर रा. व. रानडे यांनी केलेला आत्मनिंदेचा व नैगड्यवादिवाचा आक्षेप हा होय हा मुद्दा जरासा व्यक्ति-विषयक असून अप्रस्तुत आहे सबब पहिल्याने मुख्य मुद्द्याचा विचार करून नंतर या दुसऱ्या मुद्द्याकडे वळू.

डॉ. भांडारकर व रा. व. रानडे यांची प्रकृत विषयासंबंधाने काय मते आहेत हे आम्ही पूर्वी सांगितलेच आहे. तथापि आज प्रसंगानुसार त्याची थोडीशी पुनरावृत्ति केली पाहिजे. डॉ. भांडारकर यांनी इ. स. १८६२ पासून सन १८८० पर्यंत युनिव्हर्सिटीची पदवी घेतलेल्या लोकांची माहिती मिळवून असे अनुमान काढले होते की, बी. ए. झालेल्या लोकांत पार्शी शेंकडा १६, गुजराथी शेंकडा २० आणि दक्षिणी शेंकडा २२ मरतात; व दक्षिणी व गुजराथी लोकांमधील मृत्यूचे प्रमाण पार्शी लोकांपेक्षा अधिक असण्यास आहारविहार आणि विवाह या तीन गोष्टींमध्ये पार्शी लोकांच्या चालीरीतीत असलेले महदंतर हे कारण होय. पार्शी लोक पौष्टिक अन्न खातात, व्यायाम करतात आणि उशिरा लग्न लावतात. यामुळे ते जास्त जगतात असे डॉक्टरसाहेबांचे म्हणणे होते; व सामाजिक सुधारणा केल्याखेरीज तुमचा निभाव लागणार नाही असाही त्यांनी हिंदूस उपदेश केला होता. रा. व. रानडे हेही सामाजिक सुधारकच आहेत, परंतु त्यास डॉक्टरसाहेबांचा वरील सिद्धान्त यथार्थ वाटला नाही. डॉक्टरसाहेबांनी पार्शी लोकांत विवाह व व्यायाम यासंबंधाने ज्या चालीरीती आहेत म्हणून सांगितले त्या गेल्या पंधरा

वीस वर्षांतल्या आहेत, हे रा. ब. रानडे यास माहित होतें. तेव्हा त्यांचा सन १८८० सालच्या पूर्वीच्या ग्रॅज्युएटार्शी सबध जोडण्यास डॉक्टरसाहेबांनी काहीं तरी चूक झालेली असावी असे त्यांच्या मनात आले. परंतु केवळ असल्या माहितीवर व मतावर अवलंबून न राहता त्यांनी चारशे पत्रे लिहून ठिकठिकाणाहून माहिती आणविली, व सन १८६२ पासून १८९३ पर्यंत आर्ट्स, लॉ, मेडिसिन, आणि इंजिनियरिंग या चारी शाखात झालेल्या ग्रॅज्युएटांपैकी अकालीं किती लोक मेले, कां मेले याची हकीगत गोळा केली, या हकीकतीवरून असे दिसून येते की, अकालीं मरण पावलेल्या ग्रॅज्युएटांचे डॉक्टरसाहेबांनी दिलेले प्रमाण चुकीचे असून सर्व शाखातील ग्रॅज्युएट घेतले तर पार्शीपैकी शेकडा चार, गुजराथ्यापैकी शेकडा ५ व दक्षिणीपैकी शेकडा १० मरण पावतात, म्हणजे गुजराथी लोकांत व पार्शी लोकांत मरणाचे प्रमाण सरासरीने सारखेच पडतें, व दक्षिणी लोकांत मात्र तें पार्शीगुजराथ्यापेक्षा जवळ जवळ दुपटीने जास्त आहे. रा. ब. रानडे यांचे हे आकडे खरे घरले तर डॉ. भांडारकर यांचा सिद्धान्त व त्यावर रचलेली समाजसुधारणेची इमारत आणि उपदेश ही दोन्ही ढासळून जातात; व दक्षिणी लोकामध्ये मृत्यूचे प्रमाण अधिक का असावे यास दुसरे काहीं तरी कारण लावावे लागतें. हे कारण दारिद्र्य होय असे रा. ब. रानडे यांनी प्रतिपादन केले होते व त्यांनी अकालीं मेलेल्या सुमारे पन्नास साठ ग्रॅज्युएटांची जी माहिती मिळवली आहे त्यावरून हेच अनुमान कायम होते. पार्शी आणि ब्राह्मण या दोन्ही जातींतील सामान्य लोकांच्या मृत्यूचे जे मान खानसुमारीच्या रिपोर्टीत दिले आहे तेही समसमान असल्यामुळे रा. ब. रानडे यांच्या सिद्धान्तास विशेष पुष्टीकरण येतें. साराश, डॉ. भांडारकर हे पार्शी एकीकडे व हिंदु एकीकडे असे दोन वर्ग करून एका वर्गातील लोक आहार-विहार-विवाहादि भेदांमुळे अकालीं जास्त मरतात असे म्हणत होते; व रा. ब. रानडे यांचे असे मत होतें की, हा भेद निर्मूल असून पार्शी आणि गुजराथी यांच्यामध्ये ज्याअर्थी मृत्यूचे मान एकसारखेच आहे त्याअर्थी दक्षिणी लोकांतील अकालीं होणाऱ्या जास्त मृत्यूचे दुसरे काहीं तरी कारण असले पाहिजे, व ते दारिद्र्याखेरीज दुसरे कोणतेही दिसत नाही. आता यावर डॉ. भांडारकर यांनी जे प्रत्युत्तर दिले आहे त्याचा विचार करूं.

पार्शी लोकांत व्यायाम आणि विवाह या संबधाच्या चालीरीती गेल्या दहापंधरा वर्षांतील आहेत या रा. ब. रानडे यांच्या आक्षेपास डॉ. भांडारकर यांनी काही उत्तर दिलेले नाही. डॉ. भांडारकर यांनी सन १८६२ पासून सन १८८० पर्यंत अठरा वर्षांतील ग्रॅज्युएटांची आणि तीही फक्त बी. ए. चीच - सख्या घेतली होती, व त्यामुळे त्यांनी काढलेले मृत्यूचे प्रमाण १९।२० आणि २२ असे निघाले होते. रा. ब. रानडे यांनी १८६२ पासून १८९३ पर्यंत बी. ए., एम. ए., एल. सी. ई. एल. एम्. एस. एल्. एल्. बी आदिकरून सर्व ग्रॅज्युएट घेऊन त्यांच्यातील अकाल मृत्यूचे प्रमाण पार्शी ४, गुजराथी ५, आणि दक्षिणी १०

असे काढले आहे. आतां डॉ० भांडारकर असें म्हणतात कीं, रा० ब० रानडे यांनीं १८९३ पर्यंत ग्रॅज्युएट घेऊन सरासरीनें त्यांच्यातील अकाल मृत्यूचे प्रमाण काढण्यांत जितका दोष आहे त्यापेक्षां डॉ० भांडारकर यांच्या पद्धतींत अधिक दोष आहेत असें कोणासही दिसून येईल. (१) पहिल्यानें ग्रॅज्युएट झाल्याबरोबरच कोणी मरत नाही असें म्हणणें चुकीचें आहे. टिळू, पटवर्धन, जोशी, दिवेकर, मराठे, वैद्य, तिघे, गोखले, आगाशे, मिरजकर, बि. सि. भांडारकर, अत्रे, डॉ० आठल्ये वगैरे बरेच लोक डिग्री घेतल्याबरोबर किंवा पुढें एक दोन वर्षांतच परलोकवासी झालेले आहेत. तेव्हां सामान्यतः आजपर्यंत झालेल्या ग्रॅज्युएटांची संख्या घेऊन अकालमृत्यूचें जें प्रमाण निघेल तेंच डॉ० भांडारकर यांनीं काढलेल्या अनुमानापेक्षां अधिक ग्राह्य मानलें पाहिजे. डॉ० भांडारकर यांच्या पद्धतीवर (२) दुसरा असा आक्षेप आहे कीं, पहिल्या अठरा वर्षांत म्हणजे युनिव्हर्सिटी स्थापन झाली तेव्हां पहिल्यापहिल्यानें दक्षिणी लोकांचाच कॉलेजातून फार भरणा असे. यामुळें पार्शी, गुजराथी, आणि दक्षिणी या तिन्ही जातीतील अकालमृत्यूचें बिनचूक प्रमाण काढण्यासही अठराच वर्षे घेऊन चांगलासा उपयोग व्हावयाचा नाही. (३) डॉ० भांडारकर यांच्या रितींत तिसरा दोष असा आहे कीं, जे ग्रॅज्युएट चाळिशी उलटून जाऊन पुढें मरण पावले त्यांची अकालमृत्यूमध्ये निरर्थक गणना करण्यांत येतें. शिवाय स्वल्प संख्या घेऊन सरासरीचें प्रमाण बसविण्यापेक्षां मोठी संख्या घेऊन असलीं प्रमाणें काढल्यानें तीं अधिक यथार्थ व बिनचूक निघण्याचा संभव असतो. या सर्व गोष्टींचा विचार केला म्हणजे वर सांगितलेल्या त्रिदोषांनी प्रस्त झालेल्या डॉ० भांडारकर यांच्या पद्धतीपेक्षां एक दोषाची रावबहादूर रानडे यांची पद्धत अधिक ग्राह्य आहे असें मानणें भाग पडतें. रा० ब० रानडे यांची रीत स्वीकारली म्हणजे अकाल मृत्यूचीं प्रमाणें ४, ५, १० हीं च ध्यावीं लागतात, व हीं प्रमाणें घेतलीं म्हणजे डॉ० भांडारकर यांचे सिद्धान्त ज्या पायावर रचले आहेत तो पायाच अजीबात अशुद्ध व चुकीचा आहे असें सिद्ध होतें.

वीस वर्षांपासून चाळीस वर्षांपर्यंतचें पार्शी आणि ब्राह्मण यांच्यामधील सामान्य मृत्यूचें मान जवळ जवळ सारखेंच आहे ही गोष्ट डॉ० भांडारकर हें नाकबूल करित नाहीत; पण त्याचे असें म्हणणें आहे कीं, हें अगर दुसरें सामान्य मृत्यूचे मान ग्रॅज्युएट लोकांस लावण्यांत रा. ब. रानडे यांनीं चूक केली आहे. कारण हीं सामान्य प्रमाणें वीस वर्षांचे जे लोक एकाकालीं ह्यात असतात त्यांपैकीच चाळीस वर्षांपर्यंत किती जगतात हें पाहून काढलीं आहेत. आतां ज्या-अर्थी सर्वत्र ग्रॅज्युएट एकसमयावच्छेदेंकरून वीस वर्षांचे असूं शकत नाहीत त्या अर्थी त्यांच्यामधील मृत्यूच्या मानाची वरील सामान्य लोकांच्या प्रमाणांशी तुलना करितां येणार नाही. डॉक्टरसाहेबांचा हा आक्षेप आम्हांस नीट कळत नाही हे आम्ही मोठ्या प्रांजलपणें कबूल करतो. प्रत्येक ग्रॅज्युएट केव्हांना केव्हां तरी

वीस वर्षांचा असतोच व त्या प्रत्येकाचा चाळीस वर्षेपर्यंत जगण्याचा संभव सामान्य मृत्यूच्या प्रमाणावरून काढावा लागतो. व प्रत्येक ग्रॅज्युएटास हे प्रमाण लावून सदर प्रमाणाची जर बेरीज घेतली तर सरासरीच्या हिशोबात काही चूक यावयाची नाही. करिता ग्रॅज्युएट लोकामधील मृत्यूचें मान आणि वीसपासून चाळीस वर्षांपर्यंतच्या सामान्य लोकामधील मृत्यूचें मान याची तुलना करण्यात रा. ब. रानडे याची चूक झाली आहे असे आम्हास वाटत नाही. सरासरीचे हिशोब असेच करावे लागतात.

युनिव्हर्सिटीतील परीक्षेच्या अभ्यासक्रमामुळे विद्यार्थ्यांवर फाजील ओझे पडतें ही गोष्ट डॉक्टर साहेबास कबूल आहे; परंतु डॉक्टर साहेबानी असा शेर दिला आहे की, रा. ब. रानडे यानीं ती सिद्ध केली नाही दोघासही कबूल असलेली गोष्ट सिद्ध करावयास कशास पाहिजे हेंच आधी आम्हास समजत नाही व त्यातूनही सामान्य मृत्यूच्या प्रमाणापेक्षा ज्या अर्थी ग्रॅज्युएट लोकामधील मृत्यूचें प्रमाण अधिक आहे व तेही वरच्या वरच्या परीक्षा झालेल्या लोकात जास्त जास्तच वाढत जात आहे असें रा. ब. रानडे यानीं आपल्या व्याख्यानात दाखविलें आहे त्या अर्थी ही गोष्ट सिद्ध केली नाही असा जो डाक्टरसाहेबाचा रा. ब. रानडे याजवर आक्षेप आहे तो काही तरी दोष काढण्याकरताच घेतलेला असावा असें अनुमान होतें. परीक्षेचा अभ्यासक्रम फाजील अवघड आहे असे म्हणावें तर अकाली मेलेले लोक परीक्षेत फारसे नापास झालेले नव्हते, असेंही डॉ. भांडारकर यानीं एके ठिकाणी म्हटलें आहे; पण ह्याचा अर्थ काय हें डॉक्टरसाहेबानीं लक्षात घेतले नसावें. जे ग्रॅज्युएट अकाली मेले ते जर परीक्षेत एकेक दोनदोनदां हुकलेले नसले तर (१) परीक्षा तरी सोप्या होत्या, अथवा (२) परीक्षा कठीण असून त्या उतरण्याकरिता फाजील अभ्यास करून हे लोक मेले, या दोहोपैकी कोणतें तरी अनुमान खरें असले पाहिजे. परीक्षेचे ओझे फाजील आहे ही गोष्ट डॉक्टरसाहेबानीच कबूल केली आहे तेव्हां दुसरे अनुमान खरें मानावे लागते, आणि तेच जर रा. ब. रानडे यानीं दिलें आहे तर त्याच्या लेखावर ही टीका डॉक्टरसाहेबानीं का केली याचें कारण आम्हास समजत नाही.

असो, एकंदरीत पाहता डॉक्टरसाहेबानी जे रा. ब. रानडे यास प्रत्युत्तर दिले आहे तें इतके निर्बल आहे की, रा. ब. रानडे याची मुख्य विषयासंबंधाची अनुमानें जास्त सयुक्तिक दिसतात असें म्हणावे लागतें. डॉ. भांडारकर याच्या विद्वत्तेकडे लक्ष दिलें असतां रा. ब. रानडे याच्या सिद्धांतावर जितके आक्षेप काढणें शक्य असतील तितके सर्व त्याच्या लेखात येतील असे मानणें अगदी स्वाभाविक आहे; व वर सांगितलेल्यापेक्षा ज्याअर्थी काहीं जास्त बलवत्तर आक्षेप त्यांनी आपल्या प्रत्युत्तरात दाखल केलें नाहीत, त्याअर्थी रा. ब. रानडे याच्या अनुमानावर यापेक्षा विशेष महत्त्वाच्या शंका निघावयाच्या राहिल्या असतील असें आम्हांस वाटत नाही.

आता सरतेशेवटी आरंभी सांगितलेल्या अप्रस्तुत प्रश्नासंबंधाने दोन शब्द लिहून हा लेख आटोपतो. डॉ. भाडारकर व रा. व. रानडे दोघेही विद्वान् आहेत, तेव्हा त्यापैकी एकाचे दुसऱ्यास नैराश्यावादी अथवा आत्मनिंदक म्हणावे याचा अर्थ काय असा आमचे कित्येक वाचक प्रश्न करतील, करितां हा स्वभाव-दोष आहे, इतकें पहिल्यानें सांगितले पाहिजे. युरोपांतून परत आल्या दिवसापासून डॉ. भाडारकर याच्या मनाची स्थिति बरीच पालटली आहे असें त्याच्या भाषणावरून दिसून येते. आम्ही हतवीर्य आहों, कुचकामाचे आहों, आमच्या हातून काहीं पराक्रम व्हावयाचा नाही, आमचे खाणे, पिणे, हिडणे, फिरणे लग्न करणे आदिकरून सर्व काहीं गोष्टी इतक्या काहीं विघडल्या आहेत की या सर्व बाबतींत सुधारणा झाल्याखेरीज आम्हास स्वतंत्रता मिळण्याची आशा नाही, इतकेंच नव्हे, तर प्रजेचे सामान्य हक्क मिळण्याबद्दल खटपट अगर श्रम करणे हेही डॉक्टरसाहेबांच्या दृष्टीनें एक मोठें पातकच आहे. 'वाडिलाची कीर्ति गाई तो एक मूर्ख' या तत्वाचा डॉक्टरसाहेबांनीं अलीकडे पूर्ण अंगीकार केला आहे. आमच्या समाजातील खरीखोटी चित्रे लवकरच डोक्यांत भरतात व ती वारंवार समाजापुढें माडून लोकांस सामाजिक सुधारणा करावयास लावणे हें आपले आदिकर्तव्य आहे अशी डॉक्टरसाहेबांची पूर्ण समजूत झाली आहे. आमच्या समाजात जे दोष आहेत त्याच्याच तोडीचे इंग्रज लोकांत दोष आहेत, सर्वांशी निर्दोष अशी कोणतीही समाजस्थिति नाही व त्यामुळे आपलें लंगडेपागळे लोक घेऊनच जो काय आपणांस उद्योग करावयाचा तो केला पाहिजे, असे जर कोणी प्रतिपादन करूं लागला तर ते डॉक्टर साहेबांस बिलकूल खपत नाही. व असला मनुष्य मूर्ख किंवा लुच्चा यापैकी कोणी तरी एक असावा असा त्यांच्या बुद्धीचा ग्रह झाला आहे डॉ० भाडारकर हे ज्या अर्थी वर दिलेल्या गोष्टी सत्य मानतात त्या अर्थी सत्यवक्तेपणाबद्दल आपणांस लोक आत्मनिंदक म्हणतात असे त्यांचे मत होणें अगदी स्वाभाविक आहे; आणि त्याजबरोबर आमच्या लोकांची स्तुति करणारे गृहस्थ लबाड आहेत असाही त्यांचे बोलण्याचा गर्भितार्थ आहे. डॉ. भाडारकर यांचें हे मत आणि त्यातील गर्भित अर्थ ही दोन्हीही चुकीची होत असा रा. व. रानडे व मि. सयानी यांचा आशय आहे आमच्यापेक्षा सामाजिक सुधारणेंत एक पाऊल मागे असणारी राष्ट्र स्वतंत्र आहेत व इंग्रजांच्या बरोबरीनें समाजसुधारणा ज्याच्यात आहे असे ऐरिश लोक परतंत्र आहेत. ही गोष्ट डॉक्टरसाहेबांच्या सिद्धांतास प्रतिकूल आहे. डॉक्टरसाहेब आपणांस सत्यवक्त्याच्या पंक्तीत घालून आपल्यावरचा दोषैकदृक्पणाचा आरोप ओढवूं पाहतात. पण या असल्या सामाजिक आणि राजकीय विषयात सत्य म्हणजे काय आणि ते एकट्या डॉक्टरसाहेबांच्या हातातच कसे सांपडले हें दोन महत्त्वाचे प्रश्न आहेत. व त्याचा निकाल झाल्याखेरीज सत्य कोणत्या पक्षास आहे हें सांगतां येणार नाही. जो तो आपल्या समाजाप्रमाणें खरें

आहे तें बोलतो अशी जर कल्पना केली तर डॉक्टरसाहेबाप्रमाणेंच त्यांस दोष देणारे लोकही सत्यवक्तेच मानले पाहिजेत. समाजाची उन्नति होण्यास एकाच वाजून सुधारणा होऊन उपयोगाचें नाहीं, कोणत्याही समाजरचनेंत थोडें तरी दोष असतातच; परंतु या दोषाकडे दुर्लक्ष करून लोकामध्ये एकप्रकारचा हुरूप, अभिमान, कर्तृत्वशक्ति, उन्नतीची आशा उत्पन्न करणे यांतच राष्ट्राचे हित आहे, व याकरिता सर्व प्रकारच्या चळवळींची आवश्यकता आहे इत्यादि तत्वाचा उपदेश करणारे लोक लबाड का व आमच्या डोळ्यापुढे आमचे दोष नेहमी मांडणारे व आमचे जें काही आहे ते वाईटच आहे असें प्रतिपादन करणारे डॉक्टरसाहेब सत्यवादी का हे आम्हास समजत नाही. डॉक्टरसाहेब यास आम्ही लबाड म्हणत नाही, पण त्याचा उपदेश ज्याअर्थी आधींच निरुत्साह झालेल्या लोकास अधिक नाउमेद करण्यासारखा आहे त्याअर्थी तो टाकाऊ आहे व रा. ब. रानडे यानी डॉक्टरसाहेबावर आणलेलें दाषैकटक्त्वाचे आणि आत्मनिंदेचे आक्षेप अगदी बरोबर आहेत असे म्हणणें अगदी ओघानेच प्राप्त होते. डॉक्टरसाहेबाच्या या मनोवृत्तीचा व मनाचा आम्ही मागेच उल्लेख केला आहे. रा. ब. रानडे यानी कारलाईल व रस्किन या प्रसिद्ध इंग्लिश ग्रथकारावर एके प्रसंगी हेच आक्षेप आणले होते तेव्हा त्याच्या पंक्तीस बसण्यास आपणास काही कमीपणा वाटत नाही असें डॉक्टरसाहेबानी आपल्या उत्तरात म्हटलें आहे. या कोटीनें डॉक्टरसाहेबाचे समाधान झाले असेल, पण दुसऱ्या कोणाचें होईल असें आम्हास वाटत नाही. ' कालोह्यय निरवधिर्विपुलां च पृथ्वी ' ही भवभूतीची उक्ती सर्वास टाऊकच आहे. तेव्हा डॉक्टरसाहेबाच्या विचाराचा पुरुष पूर्वी कधी निपजला नाही व पुढे कधी होणार नाहीं असे कोण म्हणेल ? एवढ्यानेच जर डॉक्टरसाहेबाचे समाधान होत असेल तर त्यात आम्हीही कोणतेही प्रकारे विघ्न आणू इच्छित नाही. बाकी समाजाची घटना व उन्नति यासंबंधाने एकंदरीत रा. ब. रानडे यांनीं मते, अधिक सयुक्तिक, हितावह व यथार्थ आहेत असे सामान्यतः म्हणण्यास प्रत्यवाय दिसत नाही. या दोषाही विद्वानाच्या मतापैकी आम्हास जी ग्राह्य वाटत नाहीत त्याचा आम्ही वेळोवेळीं उल्लेख केलेलाच आहे; पण आमच्यासंबंधाने प्रश्न नसल्यामुळे त्याचें विशेष विवरण करण्याची येथे जरूर नाही. रा. ब. रानडे व डॉक्टर भांडारकर या दोघा विद्वद्वर्यांच्या मताचे तारतम्य पाहून ग्राह्याग्राह्यतेचा निर्णय करणें एवढेच आमचें आजचें काम आहे.

स्फुटसूचना

रा. ब. रानडे व डॉ. भांडारकर यांच्या लेखांचा व उत्तराचा सारांश आणि त्यावरील आमचे विचार हे गेल्या खेपेस आम्ही दिलेच आहेत. या वादांत याहून आतां काहीं जास्त लिहिण्यासारखे राहिलें नाहीं, तथापि रा. ब. रानडे यांनीं डॉ. भांडारकर यांच्या उत्तरास जे प्रत्युत्तर दिले आहे तें त्या वेळीं प्रसिद्ध झाले नसल्यामुळे आज त्यांचे येथें थोडेसे विवेचन करणें जरूर आहे. रा. ब. रानडे यांनीं आपल्या उत्तरात प्रथमतः डॉ. भांडारकर यांच्या विद्वत्तेबद्दल जी पूज्य बुद्धि प्रगट केली आहे त्यामुळे त्यांनीं डॉ. भांडारकर यांचीं उत्तरे कबूल केली असा कित्येकांचा समज होण्याचा संभव आहे; परंतु रा. ब. रानडे यांचें प्रत्युत्तर जरा लक्षपूर्वक वाचलें असता हा समज चुकीचा आहे असें कोणासही कळून येईल. रा. ब. रानडे व डॉ. भांडारकर हे दोघेही विद्वान असून ते एकमेकांस मोठा मान देतात हे खरें आहे, पण त्यामुळे प्रस्तुत विषयासंबंधाने त्यांचा ज्या बाबतीत मतभेद व मतैक्य आहे त्या बाबी आता नार्होशा झाल्या असे म्हणता येणार नाहीं. रा. ब. रानडे हे आपल्या प्रत्युत्तरात असे स्पष्ट म्हणतात की, “आम्हीं दिलेले आंकडे व त्यावरून निघणारी अनुमानें हीं खोडून टाकण्याचा अद्याप कोणी प्रयत्न केला नाहीं,” म्हणजे अर्थातच डॉ. भांडारकर यांनी ती खोडलीं नाहींत असें रा. ब. रानडे यांचे म्हणणे आहे व तें अगदीं बरोबर आहे. दारिद्र्य, अवघड अभ्यासक्रम, आणि वार्हट सामाजिक चालीरीती या तीन कारणांपैकी अकालमृत्यु होण्यास कोणते कारण अधिक बलवत्तर आहे हाच वादाचा मुख्य मुद्दा आहे. डॉ. भांडारकर तिसरे कारण प्रमुख मानतात आणि रा. ब. रानडे पहिल्या दोहोंस विशेष महत्त्व देतात, एवढाच काय तो या दोन्ही विद्वानांच्या मतातील भेद आहे. व हा भेद एकाच विषयाचे दोन निरनिराळ्या दृष्टीने परीक्षण केल्याने उत्पन्न होतो असे रा. ब. रानडे यांनी आपल्या प्रत्युत्तरात लिहिले आहे. हिंदुलोकांच्या रीतीभार्तीत सुधारणा केली पाहिजे हें मत रा. ब. रानडे यांस ग्राह्य नाहींसें नाहीं. तेही डॉ. भांडारकर याजप्रमाणेच सुधारणेच्छु आहेत; पण ग्रॅज्युएट अकालीं कां मरतात याचा विचार करतेवेळीं ‘तुम्ही चागले अन्न खात जा’—असें विद्यार्थ्यांना सांगण्यात काहीं अर्थ नाहीं असें रा० ब० रानडे यांचें म्हणणे आहे; व गुजराथी आणि दक्षिणी याचा व्यायाम व आहार सारखाच असता दक्षिणीच अधिक का मरावे हा प्रश्न रा० ब० विशेष महत्त्वाचा मानतात. रा० ब० रानडे यांनीं डॉ० भांडारकर यांस ‘निदक’ व डॉ० भांडारकर यांनी रा० ब० रानडे यांस ‘स्तुतिपाठक’ अशीं विशेषणें दिली आहेत. व ती वाचून विश्वगुणादर्शातील गधर्वद्वयांची आमच्या संस्कृतज्ञ वाचकास आठवण झाल्याखेरीज राहणार नाहीं. सदर ग्रंथात

महाराष्ट्र लोक हे धर्मलंड अतएव त्याज्य असें एका गंधर्वानें, आणि यवनांशी लढाया करून हिंदुधर्माचें रक्षण करणारे असें दुसऱ्या गंधर्वाने म्हटलेले आमच्या कित्येक वाचकांस माहित असेलच. डॉ० भांडारकर व रा० ब० रानडे यांच्या वादाचा प्रकारही कांहीं अंशी या गंधर्वद्वयांच्या वर्णनाप्रमाणेच आहे. आपण नेहमी सत्य बोलतो व लोकांचे दोष बाहेर काढतो एवढ्याचसाठी आपणास कोणी नैराश्यवादी म्हणत असल्यास खुशाल म्हणोत, असें डॉ० भांडारकर यांनी जे खोंचून लिहिलें होतें त्यास रा० ब० रानडे यांनी असे उत्तर दिलें आहे की, “सत्यवादीपणाचा कोणीही इतका डौल मिरविण्याचे कारण नाही. समुद्राच्या बाहेरही पुष्कळ मासे सापडतात व सत्यवाद्यांचा प्रकारही त्यातलाच होय. सत्यवादीपणा पत्करला म्हणजे निंदकाचें व्रत घेतलेंच पाहिजे असें नाही. सत्य आणि प्रिय असें भाषण करतां येत नाही असें नाही इतकेच नव्हे, तर असले भाषण करणारे गृहस्थ लोकांच्या अधिक उपयोगी पडतात.” रा० ब० रानडे यांचे हे उत्तर अगदीं सयुक्तिक व यथार्थ आहे. युनिव्हर्सिटीच्या अभ्यासक्रमात काय काय सुधारणा केल्या पाहिजेत हें रा० ब० रानडे यांनी स्पष्ट सुचविले नाही असा त्यांजवर डॉ० भांडारकर यांचा एक आक्षेप होता. करिता पुढील सहा-माहीत युनिव्हर्सिटीच्या व्यवस्थापकांनी कोणत्या गोष्टीकडे विशेष लक्ष द्यावे हे रा० ब० यांनी आपल्या पत्रांत सरतेशेवटी सांगितलें आहे. युनिव्हर्सिटीच्या अभ्यासक्रम सुधारणेंत एकदोन विषयांत नापास झालेल्या विद्यार्थ्यांस तेवढ्याच विषयांत परीक्षेस बसण्याची सवलत ठेवणे, शरीरशिक्षणाची परीक्षा घेण्याची काही तरी तजवीज करणे आणि स्कॉलरशिपा वगैरे अविवाहित विद्यार्थ्यांस देण्याचा ठराव करून ब्रह्मचर्य पाळण्यास उत्तेजन देणे या रा० ब० रानडे यांच्या मुख्य सूचना होत. ह्या व इतर सूचनांचा युनिव्हर्सिटीनें आता काही तरी विचार करण्यास लागावें असें आम्हांस वाटतें. वादविवाद बरा झाला आहे व आमच्याकडील पहिल्या प्रतीच्या दोन विद्वान् गृहस्थांनी या एकंदर प्रकरणाचें परीक्षण केलें असल्यामुळे आतां त्यावर विशेष लिहिण्यासारखें काहीं राहिलें नाही. हा प्रश्न ज्या दोघा विद्वान् गृहस्थांनी लोकापुढे माडला त्यांचे लोकांच्या वतीनें आम्ही आभार मानतो व अशी सूचना करितो की, आता हा वाद संपून त्यापासून जी कांहीं निर्विवाद अनुमानें निघत आहेत तेवढी तरी अमलात आणण्याची युनिव्हर्सिटीनें काहीं तरी व्यवस्था करावी.

*झांशीची राणी

तेजस्विनि क्षमासारे नाति कर्कश्यमाचरेत् ।

अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादीप जायते ॥

सत्तावन सालची धामधूम होऊन अडतीस वर्षे झालीं, तथापि त्या प्रसंगाची आठवण झाल्याबरोबर मन चरकत नाही असा हिंदुस्थानांत माणूस विरळा. बऱ्या गदींचें साल हिंदुस्थानच्या इतिहासांत ठळक अक्षरानीं नमूद केलेलें राहिल. त्याचें नाव काढल्याबरोबर आवेश, भय, उद्वेग इत्यादि अनेक विकारानीं प्रत्येक हिंदुस्थानवासी पुरुषाचे मन ग्रस्त होऊन जातें, अंतःकरणवृत्ति उचंबळू लागते व आपल्या भूत भविष्यन् स्थितिविषयीं नानातऱ्हेचे कल्पना-तरंग सूचून चित्तास अस्वस्थता उत्पन्न होते. त्यावेळचे प्रसंग डोळ्यानीं पाहिलेलीं माणसें हळुहळू नाहीशी होत चालली आहेत व जीं थोडीं क्वचित् आढळतात त्यांना त्या गोष्टीविषयीं स्मरण किंवा भाषणही नकोसे झालेलें दिसतें. मागून आलेल्या स्वस्थतेच्या व आवादानाच्या काळात जन्मलेल्या पिढीचेंच हळीं चोहोंकडे प्राधान्य असल्यामुळे अर्थात्च त्या धामधुमीचीं नुसतीं वर्णनें वाचूनही अंगावर शहारे येतात; त्यातून तीं वर्णनें विकारवश इंग्रज ग्रंथकारानीं लिहिलेली एकतर्फी व अतिशयोक्तीनें पूर्ण भरलेली असल्याकारणाने तीं वाचणारांचीं त्या वेळीं घडलेल्या गोष्टीविषयीं व पुढे आलेल्या माणसांविषयीं अत्यंत क्लृप्त झालेलीं असावयाचीं. एकंदर धामधुमीला बड अशी संज्ञा प्राप्त झाली व नानासाहेब, तात्यासाहेब टोपे, झांशीची राणी इत्यादि प्रमुख व्यक्तींस बंडखोर, लुटारू, मारेकरी अशा थोर पदव्या मिळाल्या. ज्याच्या बायकापोराची धर्माभिमानाने वेडावंलल्या शिपायाच्या क्रोधाग्नीत आहुती पडली, ज्यांचीं स्वतःची जीवितें मोठ्या शर्तीने बचावली व ज्याचे समुद्रवलयंकित राज्य क्षणार्धांत नष्ट-प्राय होण्याच्या वेतात आलें होते, त्या इंग्रजांनीं वरील प्रकारची पुष्पवृष्टि करून कोपशांति करून घेतली तर नवल नाही, व त्याबद्दल त्यांना फारसा दोषही देतां येणार नाही. पण आमच्यांतीलच शहाणपणाचा व निःपक्षपातित्वाचा तेंभा मिरविणाऱ्या ग्रंथकारानीं इंग्रज ग्रंथकारावर सर्वस्वी भिस्त ठेवून स्वज्ञातीयासच चोर, दरबडे-खोरांपेक्षाही दुष्ट ठरविण्याचा प्रयत्न करावा यापरती गर्हणीय व हानिकारक गोष्ट ती कोणती ? बंड व्हावयाचे ते होऊन गेले, त्या भयंकर नाटकांत रंगभूमीवर आलेलीं पालें आपली इहलोकींची थोडीशी इतिकर्तव्यता संपवून नेपथ्यांतर्गत झाली, व सार्वभौम त्रिटिशसत्ता हालवून खुंटा बळकट केल्याप्रमाणें अधिकच चिरस्थायी झाली. असें असतां तत्कालिन पुरुषांची अवास्तव निंदा करून त्यांच्या वंशजाच्या दुःखावर डाग देण्यांत व त्यांच्या देशबांधवास खालीं पहावयास लाव-

ण्यांत कित्येकांना पुरुषार्थ वाटत असेल, पण आमच्यामते त्यापासून अतिशय नुकसान झाले आहे. इसापनीतीतील सिद्धांचे चित्र काढणाऱ्या चिंता-याप्रमाणे इंग्रजांनी आमचे इतिहास लिहावे व आम्ही ते श्रुतिप्रमाण मानून त्याचे पठण-पाठण करण्यातच संतोष मानावा ही आमच्या परावलंबनाची सीमा नव्हे काय ? तीस पसतीस वर्षापूर्वी झालेल्या आमच्यातील लोकाविषयी परकीयानी केलेले असत्प्रलाप जर आमच्याने खोडून टाकवत नाहीत तर हजार दोन हजार वर्षापूर्वी आमचे पूर्वज कसे होते हे आम्हांस कसे समजणार, व आमच्या विद्याकलादिकाचे पुनरुज्जीवन तरी कसे होणार ? कितीएक इंग्रजांनी सत्तावनच्या बंडाचे बरेवाईट इतिहास लिहून ठेविले आहेत; तथापि इंग्लिश लोकाना त्या धामधुमीचे खरे स्वरूप व महत्त्व कळत असल्यामुळे त्यांची जिज्ञासा अजून तृप्त होत नाही व नवीन ग्रंथ बाहेर पडला की त्याजवर वाचकांच्या उड्या पडत आहेत. पण आम्ही कसले खप्पी ! अगदी डोळ्यादेखत घडलेल्या गोष्टींचा विपर्यास होत असताही आम्ही बेफिकीर ! पेशव्यांच्या अन्नावर वाढलेली व पेशव्यांमुळे नांवारूपास आलेली शेंकडों घराणी जेथे ह्यात आहेत तेथे पेशव्यांचा शेवटचा वंश बंडखोर ठरतो, ताच्या टोपे लुटारूंचा नाईक होतो, व झाशीच्या राणीस कुलटेची पदवी मिळते तरी आम्हांस विलकुल पर्वा नाही; उलट आम्ही ते ग्रंथ मोठ्या आवडीने व आदराने वाचतो. आमच्या देशाविषयी प्राचीन माहिती मिळत नसल्याबद्दल हयगय दाखविण्यात येते, व आमच्या पूर्वजामध्ये गिवन, हालन, मेकॉले अवतीर्ण झाले नाहीत म्हणून त्यांचा उपहासही करण्यात येतो; पण तीसचाळीस वर्षापूर्वीची खरी हकीकत आम्हांस मिळू नये व ती मिळविण्याविषयी उत्कठाही वाटू नये हे आश्चर्य नव्हे काय ? किंवा आश्चर्य तरी कसले ? बंडखोर ठरलेल्या लोकाची यदाकदाचित् तरफदारी केली आणि खाविंद-सरकारची मर्जी खप्पा झाली तर उगीच पंचाईत; तेव्हा ही भानगड कोण करतो. आमची राजनिष्ठा इतकी जाज्वल्य आहे की यत्किचित् संशयाचा डागही तिला खपत नाही ! पण वस्तुतः सत्तावनच्या बंडाची खरी हकीकत जितकी बाहेर येईल तितके इंग्रज राज्यकर्त्यांना व लोकाना दोघानाही फायदेशीरच आहे हे आमच्या लोकांच्या अजून लक्षात येत नाही. डलहौसीसाहेबांनी जे अनन्वित प्रकार केले त्यामुळे पुढील अनर्थ गुदरला ही गोष्ट आता सर्वास महशूर आहे. के, इव्हान्स-बेलप्रभृति इंग्रज ग्रंथकारानीही ती प्राजलपणे कबूल केली आहे. तेव्हा घडलेल्या चुका व त्यांचे परिणाम याविषयी विश्वसनीय व सविस्तर माहिती आपणांस नको काय ? इवेंत चोहोंकडे सामसूम असता एकदम वावटळ किंवा धरणीकंप होतो तरी ? १८५७ एप्रिलअखेर एकाएकी कलकत्यापासून दिल्लीपर्यंत धूमाकूळ उडून गेल्यामुळे इंग्रज लोकांना हिंदुस्थानात केव्हा काय होईल कोण जाणे अशी दहशत बसून गेली आहे. पण वस्तुतः ते बंड कित्येक वर्षे आत धुमसत असून अधिकाऱ्यांच्या मूर्खपणामुळेच लवकर उमगले नाही हे आता निर्विवाद सिद्ध

झालें आहे. तेव्हा तसला मूर्खपणा पुनः होऊं न देण्याविषयी आपणास जपलें पाहिजे. तसेंच सत्तावनाची धामधूम व तिचे अखेर पर्यवसान यांपासून आणखीही पुष्कळ गोष्टी लोकांनी शिकण्यासारख्या आहेत. त्या काळाचा खरा इतिहास जेव्हां लिहिला जाईल तेव्हाच त्या नीटपणें उमगतील.

सध्या तरी हें अवघड काम आमच्यापैकीं कोणी हार्ती घेईल असें दिसत नाही. तथापि त्याची आवश्यकता भासू लागली आहे; व त्यापैकीं एक पूर्ण करण्याचे श्रेय आमच्या एका सन्मित्रानें नुकतेंच घेतलें आहे याबद्दल त्यांचें अभिनंदन करणें जरूर आहे. रा. रा. पारसनीस यांनीं लिहिलेलें झाशीकर लक्ष्मीबाईंचें चरित्र तीन चार महिन्यापूर्वी प्रसिद्ध झालें, व आजपर्यंत आमच्या वाचकापैकीं बरेच लोकांच्या पाहण्यांतही ते आलें असेल. ज्यांनीं तें वाचलें असेल त्यांना त्यातील गुण निराळे दाखविण्याची जरूर नाही, व ज्यांनीं पुस्तक पाहिलें नाही त्यांना सांगून त्याची गोडी कधीही कळावयाची नाही. तेव्हां निरर्थक प्रशंसा करण्यात कालक्षेप न करता, आम्ही इतकेच सांगतो कीं वर ज्याप्रकारचा इतिहास पाहिजे म्हणून सूचित केलें त्या धर्तांवर हे पुस्तक लिहिले असल्यामुळे इतिहासाभिज्ञांस तें पारच मोलवान् होईल.

सदहू पुस्तकात बंडाच्या एका अंगाचीच हकीकत दिली आहे. तथापि, ती विस्तृत, साधार व मोठ्या मार्मिक रीतीनें वाचकांपुढें मांडली असल्यामुळे ती-वरून एकंदर धामधुमीविषयी सहज अनुमान करता येतें. बंडातील नायकासंबंधानें इंग्रज कलमबहादुरांनीं कशा खोऱ्या गोष्टी लिहून ठेविल्या आहेत हें ज्याला पाहावयाचें असेल त्यानें पारसनीसाचे पुस्तक अवश्य वाचावें. महाराणी लक्ष्मीबाईंवर आणलेल्या अनेक आरोपांचे चरित्रकारानी ठिकठिकाणीं टीपा देऊन मुद्देसूद खंडन केले आहे. झाशीची राणी कोणी महत्त्वाकांक्षी बंडखोर—कृत्या नसून कपटपटु डलहौसीच्या अपहारबुद्धीने सर्वस्वी नाडलेली व अतिशय जुलुमा-मुळें बेफाम होऊन गेलेली गरीब गाय होती असें त्यांनीं मोठ्या खुबीनें दाखविले आहे निकट पाठलाग केला असता निरुपद्रवी हरीणही पारध्यावर उलटतात किंवा वरील अवतरणातर्गत सुभाषितांत म्हटल्याप्रमाणें अति घर्षणाने चंदनातून-ही ठिणग्या निघतात, तेव्हा लक्ष्मीबाईंसारखी मानी स्त्री आपलें नैसर्गिक भीरुत्व क्षणभर विसरून जाऊन बंडखोरास मिळाली यांत नवल तें कोणतें ? लॉर्ड डलहौसीचा अनावर लोभ कितीकांस जाचला हें पाहण्याचें हें स्थल नव्हते; पण लक्ष्मीबाईंसारख्या अनाथ विधवेवर हा त्यांचा अम्मल चालू व्हावा यावरून त्या वेळेचे मुख्य अधिकारी किती स्वार्थपरायण झाले होते व त्यांना पुनः ताळ्यावर आणण्यास बंडासारख्या कडक मात्तेची किती जरूर होती हें सहज लक्षांत येईल. नाना किंवा तात्या किंवा इतर बंडवाले यांचे दुसरे कांहीं हेतु असतील; पण झाशीची राणी तरी इंग्रजांच्या जुलूमाला त्रासून व स्वेच्छेविरुद्ध त्या भोवण्यात सापडली व स्त्रीजाति पडल्यामुळें लवकर निसटणें तिला दुरापास्त झालें, हें प्रस्तुत

चरित्रकारांनीं चागलें दाखविले आहे. ज्या दत्तकाचे हक्काबद्दल लक्ष्मीबाई दोन वर्षे इंग्रजसरकाराशीं भांडत होती व जो काढून घेण्याकरितां डलहौसीसाहेब इतके घडपडत होते, तो हक्क अठ्ठावनच्या जाहीरनाम्यानें बिनबोभाट आणि बिनतक्रार हिंदुस्थानातील सर्व राजेरजवाड्यास आणि संस्थानिकास देण्यात आला, तेव्हा लक्ष्मीबाईने अखेरीस दिलेली मात्रा लागू पडली नाहीं असें कोण म्हणेल? फ्रान्सातील जोन ऑफआर्कप्रमाणें ह्या झांशीच्या प्रतापशालिनी राणीनें धारातीर्था स्वदेहाचा बळी देऊन पुढील पिढीची संतति व संपत्ति सुरक्षित केली असें म्हणण्यास मुळींच प्रत्यवाय दिसत नाहीं.

प्रस्तुत चरित्र लिहिण्यास आपणास कशी स्फूर्ति झाली याची ग्रंथकारांनीं प्रस्थावनेंत मोठी मनोवेषक हकीकत दिली आहे. पाच वर्षापूर्वी पंडीत वसंतराव यांनीं हिरावागेत एक व्याख्यान दिलें. त्याचे सार प्रसिद्ध करण्याची आम्हांस त्या वेळी बुद्धि झाली, व तेणेंकरून झांशीच्या राणीचे दत्तक-पुत्र श्रीमंत दामोदरराव झांशीवाले याचे अस्तित्व रा. पारसनिसांस कळून प्रस्तुत चरित्र लिहिणें सुकर झालें. येणेंप्रमाणें प्रस्तुत पुस्तक लिहिले जाण्यास काकतालीय न्यायानें आम्ही कारण झालें याबद्दल आम्हांस अभिमान तर वाटतोच, पण त्याचे मुख्य श्रेय रा० पारसनिस व त्यांना खरी माहिती पुरविणारे श्रीमंत दामोदरराव यांसच दिले पाहिजे हें उघड आहे. प्रस्तुत चरित्राची आम्ही मागे एकदा ओळख करून दिलीच आहे, तथापि येथेंही त्यासंबंधानें दोन शब्द लिहिणें जरूर आहे. पुस्तकाची छपाई वगैरे बाह्यांग फार सुबक वठलें असून भाषा तर इतकी चटकदार साधली आहे की तें एकदा हार्ती घेतल्यावर संपविल्याशिवाय खाली ठेवत नाही. मधूनमधून कादंबरीच्या धर्तावर रसभरित वर्णने घालण्याचा ग्रंथकाराने प्रयत्न केलेला दिसतो, व तीं कितपत साधार आहेत हे कळत नसल्यामुळे केवळ ऐतिहासिक चरित्र या न्यायानें पुस्तकाची किंमत कमी वाटण्याचा संभव आहे; पण एकतर अशीं स्थळे थोडीं असून सहज उमगण्यासारखी आहेत, व दुसरें त्याच्या योगानें पुस्तकास निःसंशय मनोवेषकता आली आहे. लक्ष्मीबाईंची देवदर्शनास स्वारी, किल्ल्यावरील लढाई, नंतर गावात झालेली कत्तल वगैरे प्रसंगाची वर्णने आमच्या म्हणण्याची साक्ष देतील. त्याचप्रमाणें काहीं काहीं मुद्द्यांच्या गोष्टासंबंधानें हवी तितकी माहिती दिलेली नाहा. ता. ४ जूनच्या कत्तलीत राणीचे बिलकुल अंग नव्हतें हें चरित्रकारांनीं सप्रमाण सिद्ध केलें आहे. पण पुढे बंडखोराच्या मेळात ती कशी सामील झाली हें आमच्यामते जितक्या विस्तृत रीतीने सागावयाला पाहिजे होते तितके सांगितलेलें नाहीं. तसेच राणीनें इंग्रज सरकारास पाठविलेली पत्रे भोंवतालच्या लबाड लोकानी गहाळ केली असें चरित्रकाराचें म्हणणें आहे त्यालाही बळकटसा पुरावा नाहीं. राणी पूर्वीपासून इंग्रजाना अनुकूल होती तर सर ह्यू रोज आल्याबरोबर त्यास समक्ष भेटून सर्व संशयाचा निरास करण्यास तिनें मागेपुढें

पाहिलें नसतें; व तसें केलें असतें तर ह्युरोजसारख्या माणसानें तिचें कल्याण केलें असतें असें आम्हांस वाटतें. पण राणीनें इंग्रज आल्याबरोबर एकदम किल्ल्यांत तटबंदी करून लढाईस सुरुवात केली. कदाचित् भोवतालच्या लोकानीं तिला तसें करणें भाग पाडलें असेल; पण स्त्रीस्वभावाच्या साहजिक कोतेपणानें ती कोणाच्या तरी नार्दी लागून पुढें बंडवाल्यात अग्रगण्य झाली हें आपणास कबूल केलें पाहिजे. चरित्रनायिकेवर शत्रूंनीं आणलेल्या आरोपाचें खंडण करून तिची कीर्ती उज्ज्वल करण्याचा ग्रंथकारानीं प्रयत्न केला आहे तो स्तुत्य आहे. तथापि तसें करतांना दुसऱ्या टोंकाला जाऊन फाजील तरफदारी केल्याचा जो ह्या पुस्तकात क्वचित् भास होतो तसेंही करण्याची जरूर नव्हती. लक्ष्मीबाई किती झाली तरी माणूस, त्यांतून स्त्रीजाति, व त्यात मानी स्वभावाची असून डलहौसीसारख्या आधाशी गव्हर्नराच्या जुलमानें गाजलेली, तेव्हां तिच्या हातून एखादी राजकारणी चूक झाली असली तरी त्याबद्दल कोणी सुज्ञ मनुष्य तिला फारसा दोष देणार नाहीं. 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते' या न्यायानें तिच्या विमल कीर्तीस तेंणेंकरून बिलकूल डाग लागत नाहीं; व इंग्रज ग्रंथकार काहीं भकले तरी महाराष्ट्र-लोकांस असलें अद्वितीय स्त्रीरत्न आपल्यात निर्माण झाल्याबद्दल जो अभिमान वाटतो तो यत्किंचितही कमी होणार नाहीं.

लक्ष्मीबाई रावसाहेब पेशव्याला जाऊन मिळल्यानंतरची हकीकत जशी घावयाला पाहिजे होती तशी दिलेली नाहीं. बहुशः ग्रंथकारास तेव्हाची माहिती मिळाली नसावी. ग्वाल्हेरवर चाल करून जाण्याची मसलत लक्ष्मीबाईची, ती रावसाहेबांनीं ताबडतोब उचलली. पण पुढे तिचा सल्ला घेण्यात येईनासा झाला किंबहुना यापुढें तिची स्वतंत्र कर्तृत्वशक्ति बहुतेक नाहीशी होऊन ती केवळ हुकुमाची चाकर होऊन राहिल्यासारखी दिसते, हे मोठे गूढ आहे, व त्याचा उलगडा प्रस्तुत ग्रंथकारानीं नीट रीतीने केला नाही असे म्हणावें लागते. काल्पीच्या पराभवानंतर बंडवाल्याच्या कटात अधिकाधिक फाटाफूट आणि अव्यवस्था होऊं लागलेली दिसते. एरव्ही ग्वाल्हेर घेतल्यानंतर जो पाजीपणा झाला तो संभवत नाही. वस्तुतः हा भाग फार महत्त्वाचा असून चरित्रकारानीं अगदीं श्राटक माहिती दिली आहे; त्यामुळें एकप्रकारची निराशा होते. शेवटीं पुरवणीदाखल श्रीमंत दामोदररावाचा पुढील वृत्तात व झाशीच्या तहाची कलमें, वंशवृक्ष, व मधून मधून काही चित्रेही घातली आहेत. पुस्तकात नमूद केलेल्या स्थलांचा नकाशा जोडला असता तर निरनिराळ्या प्रसंगाचे वर्णन समजण्यास फार मदत झाली असती. असो; सदरू उणिवा पुढील आवृत्तींत भरून येतील अशी आम्हांस उमेद आहे. वर जी थोडींबहुत व्यंगें दाखविली त्यांनीं पुस्तकाची उत्कृष्टता चांगली व्यक्त होते, कारण प्रस्तुत चरित्रवाचनानें वाचकाची जिज्ञासा कशी दुणावते याचें द्योतक तीं आहेत. गोडगोड पक्वान्ने पाहिल्याबरोबर भूक वाढते असाच काहीं अंशीं ह्या पुस्तकाचा प्रकार झाला आहे.

असो; आमच्या चरित्रकार मित्राची रजा घेण्यापूर्वी आम्हांला पुनः मूळपदावर आले पाहिजे. सत्तावनच्या धामधुर्मांत नाणावलेल्या माणसांपैकीं एकाचें हुबेहूब चित्र रा० पारसनीस यानीं आपणापुढें मांडिलें आहे. इतरां-संबंधानेंही अशीच कोणी कामगिरी बजाविल काय? प्रधाननायक नानासाहेब ह्याचें चरित्र फारच मनोरंजक होईल असें वाटतें व तत्संबंधीं माहिती देणारे लोकही अजून कोठें कोठे सापडतील. येणेप्रमाणें एकेका अंगाचें सविस्तर निरूपण झाल्यावर समग्र इतिहास लिहिण्यास सुरू जाईल व आम्ही आरंभीं जी मोठी उणीव दाखविली आहे ती सहज भरून येईल. यासंबंधानें आणखी काहीं मजकूर लिहावयाचा आहे तो सवडीप्रमाणें पुढें एखादे खेपेस लिहूं.

* सामाजिक सुधारणेचे मार्ग.

महाराष्ट्रात गेले पाच सहा महिने जो तंटा चालू होता; व ज्यामुळें अखेरीस सामाजिक परिपदेस राष्ट्रीय सभेच्या मंडपांतून बाहेर पडावें लागलें त्या-संबंधाने अखेरचे दोन शब्द लिहिण्याचें आमच्या मनात आलें होतें; पण आता-पर्यंत कांही कारणामुळें तसे करिता आले नाही. डॉ. भाडारकर व न्या. रानडे यांची सामाजिक परिपदेसंबंधाची जीं भाषणे झाली त्यातही या प्रश्नाचा बराच विचार केलेला आहे; व आमच्या सुधारकवर्गाचे असे म्हणणें आहे की, महाराष्ट्रातील वादानें सामाजिक परिपदेस एक प्रकारचें व्यवस्थित स्वरूप मिळून तिचा फायदाच झाला आहे. खरोखरच अशी गोष्ट झाली असल्यास लाख रुपयाची गोष्ट झाली असे आम्ही म्हणतो. आम्हास तरी सुधारणा कोठें नको आहे? पण ती ज्या ज्या ठिकाणी 'इसमे मेरा चादभाई' या न्यायानें मात्र नको. रा. ब. रानडे म्हणतात त्याप्रमाणे हा प्रश्न व्यक्तिविषयक नाही. सुधारणा दोघासही हवी असली तरी तिचे स्वरूप आणि मार्गही दोघाच्या मते निरनिराळे आहेत. केसरी-कारांस रावबहादुरांचा मत्सर झाला आहे इत्यादि काहीं कुत्सित कल्पना रा. ब. च्या कल्याणशिष्यांनी काढिल्या आहेत. जणो काय केसरीकारांस न्या. रानडे यांची हायकोर्ट जज्जाची जागाच पटकावयाची आहे. ह्या सर्व मूर्ख कल्पना रा. ब. रानडे ह्यांनीं झुगारून देऊन वादाचें खरें स्वरूप बऱ्याच अंशानें लोकांपुढें मांडिलें याबद्दल आम्ही त्याचे आभार मानितों. आमची अशी समजूत झालेली आहे कीं, इंग्रजी विद्येच्या अन्वळ कैफात आमच्या काहीं विद्वानांनीं सुधारणेच्या ज्या दिशा अथवा मार्ग शोधून काढिले त्यापैकीं बहुतेक पंचवीस तीस वर्षांच्या अनुभवानें आणि सदरील मुदतीत झालेल्या ज्ञानप्रसारानें निरूपयोगी अथवा अप्रयोजक ठरले आहेत अथवा ठरत चालले आहेत. खुद्द रा. ब. रानडे

यांचेच जर आपण उदाहरण घेतले तर तेवढ्यावरूनही ही गोष्ट शाबीत होईल. प्रार्थनासमाजाच्या एका अध्वर्यूने शानेश्वरांचे चरित्र अथवा भाक्तिविजयांतील संत चरित्रे मोठ्या प्रेमळ अंतःकरणाने गाऊं लागवार्ति, अथवा दुसऱ्या एका गृहस्थाने अद्वैतमतांचा महिमा गावा हा कांहीं कालाचा लहानसहान प्रवाह नव्हे. हिंदुधर्म कसा आहे, त्यांत किती गोष्टी इतर धर्मापेशां चांगल्या आहेत, हिंदू लोकांच्या रितीभातीपैकीं सकारण अतएव ग्राह्य व निष्कारण अतएव त्याज्य कोणत्या इत्यादि गोष्टींचा खुलासा होण्यास आज जीं साधनें उपलब्ध आहेत तीं पंचवीस तीस वर्षांपूर्वीं नव्हती त्यावेळीं असे वाटत होते कीं, आम्ही आमच्या राज्यकर्त्यांच्या मानाने पाहिले तर किती वेडगळ आणि किती अडाणी ! काय त्या आमच्यांतील जाती आणि काय आमचे अज्ञान; आमच्या बायका तरी कायहो अडाण्यातल्या अडाणी. अशा रीतीनें अर्धांगवायू झालेला हा देश आपले डोके वर कसे काढणार ! करितां आतां कांहीं विलंब करून उपयोगी नाही. स्त्रियांच्या शाळा काढा, विधवांचीं लग्नें लावा, जातिभेद मोडून टाकून सवगोलकार करा आणि एका निराकार परमेश्वराची दर रविवारीं गुडघे टेंकून डोळे मिटून प्रार्थना करीत जा म्हणजे तो सच्चिदानंद परमात्मा तुमची मनकामना एका क्षणांत पूर्ण करील ! पंचविसाच्या ठिकाणीं तीस वर्षे झालीं; आमचे वेडे लोक या उपदेशास ताबडतोब भुलून जाऊन देशोन्नतीचा नवा पाया घालतील अशी या पूर्वे सुधारकाची समजूत झाली होती ती हळूहळू नाहीशी होत चालली आणि निराकार परमेश्वराच्या पंथाचा प्रसार करण्यास मक्त मिळावयाचे तेही निराकारच मिळाल्यामुळे त्या पंथास अजूनपर्यंतही कांहीं आकार आला नाही. विधवा विवाहाची ज्या लोकांनीं प्रवृत्ति पाडण्याचा उद्योग केला तेच स्वतः त्यापासून पराङ्मुख झाले आणि इंग्रजी शिक्षणाचा परिणाम मनुष्याच्या मनावर विपरीत होतो असे इंग्रजी शिकलेल्या विद्वान् लोकांच्या स्वैच्छ आचारविचार आहारविहारादि वर्तवून लोकांस पक्के कळून आले. रा. ब. रानडे यांनीं आपल्या दुसऱ्या व्याख्यानांत अशी प्रौढी गायिली आहे कीं, आम्हां सुधारकांस बहुजन समाजाचे पाठबळ नाही ही गोष्ट खरी आहे, पण हे पाठबळ नसले म्हणून काय झाले ? आमचा आधार याहून विशेष मजबूत आहे. तो कोणता म्हणाल तर सत्व व एकनिष्ठा हा होय. सत्य जोपर्यंत आमचे बाजूस आहे व जोपर्यंत आपण सत्याकरितां व न्यायाकरितां भांडत आहोंत तोपर्यंत आपलाच विजय होईल याबद्दल शंका नाही. रा. ब. रानडे यांचे हे शब्द खरोखरच सर्वांनीं लक्षांत ठेवण्यासारखे आहेत. सत्य व एकनिष्ठा नको आहे तरी कोणास ? दोन्ही पक्ष सत्याचकरितां भांडत असतात, पण एका प्रसिद्ध कवीनें म्हटल्याप्रमाणें सत्यमात्र दोघांचा अट्टर करीत असते. रा. ब. रानडे यांनीं मोठ्या मार्मिक रीतीनें आपल्या सुधारक मंडळीस खिस्ती संतांची उपमा दिल्यासारखी केलेले आहे; व डॉ. भांडारकर यांनींही सर्वेश बुद्धाच्या वचनाने आपल्या भाषणाचा उपसंहार केला

आहे. कोठें बुद्ध, कोठें लूथर आणि कोठे आमचे सुधारक. ज्या राजविड्या पुरुषानें आपल्या प्रिय पत्नीच्या व राज्याचा त्याग करून लोकांस सन्मार्गाचा उपदेश करण्यांत आपलें आयुष्य घालविले त्याची योग्यता कोणीकडे आणि आमच्या सरकारी नोकरी मार्गे धावणाऱ्या आणि जिव्हालौल्याकरिता आपल्या तर्कांत न झालेल्या गोष्टी करूं इच्छिणाऱ्या सुधारकाची योग्यता कोणीकडे ? आमचे बंधू अमृतबक्षार पत्रिकाकार म्हणतात त्याप्रमाणें सामाजिक सुधारणा म्हणजे सरकारी नोकरांतील काहीं इसमास पुढे येण्याचा हा एक मार्ग झालेला आहे. बाकी रामदास तुकारामाच्या गोष्टी त्यांनी सागाव्या आणि आम्ही ऐकाव्या इतकेंच. या भावी धर्मसंस्थापकापैकी एकानेही पदरास शीज लावून घेतली नाही अथवा रामदास तुकारामाप्रमाणें संसार त्याग केला नाही. असल्या लोकानी आरंभिलेल्या कृत्यास यश न येतां त्यांची व त्यांच्या कृत्याची उपहास्यता होऊं लागली तर त्यात अपराध तरी कोणाचा ? सामाजिक सुधारणा करण्याचे हिंदुस्थानच्या निरनिराळ्या प्रदेशातून निरनिराळे मार्ग आहेत ही गोष्ट जर रा. ब. रानडे यांस मान्य आहे तर मग सदर सुधारणेबद्दल महाराष्ट्रातच त्यांच्या पक्षाने एवढा बखेडा मोजविण्याचें कांहीं कारण नव्हते. आमच्यातील वेदाती लोकानी निरनिराळ्या धर्मपंथाची ज्याप्रमाणें निरभिमानबुद्धीनें एकवाक्यता करून घेतली आहे त्याचप्रमाणें सामाजिक सुधारकांनीं करून घ्यावयास नको आहे काय ? जुनें सोडून सुधारणा व्हावयाची नाही. जातिभेद मोडावयाचा असल्यास तो हलुहलू मोडला पाहिजे. सौन्याची सुरी म्हणून उरात मोंसकून घेण्यात कांहीं अर्थ नाही इत्यादि विचार डॉ. भांडारकर यांच्या भाषणात मधून मधून आलेले आहेत. पण त्याचबरोबर आमच्या जातिवाध्वास जर आपण आपले हक्क देण्यास तयार नाही, तर इंग्रजसरकारनें तरी आम्हास राजकीय हक्क कां द्यावे ? असे अव्वल इंग्रजींतील काही अपरिपक्व विचार प्रदर्शित केलेले आहेत. विचारसरणीमधील या भेदावरून डॉ. भांडारकर यांच्या विचारपद्धतीत हल्लीं जो थोडाबहुत फरक पडला आहे तो काहीं तरी बाह्यकारणामुळे पडला असावा असें अनुमान होतें. आम्हीं आपल्या बायकास शिक्षण दिलें नाही तर इंग्रजसरकार आपणास राजकीय हक्क देणार नाही इत्यादि विधानें आतां सर्वास अगदीं पोरकट वाटूं लागली आहेत. आमचे सुधारक ज्या काहीं सुधारणा हल्लीं करूं इच्छित आहेत त्या सर्व आयलंडात झालेल्या आहेत. विधवाविवाह आहे, प्रौढविवाह आहे, जातिभेद नाही, मासमद्यसेवन यथेच्छ सुरू आहे, पण विचारें आयलंड सातआठशें वर्षे धडपडत असताही अद्याप परवशतेच्या निरयस्थितांतून बाहेर पडत नाही, यामुळें सामाजिक सुधारणा नको असें आम्हीं म्हणतो असें कोणीही समजू नये. आमचें एवढेच म्हणणें आहे कीं, डॉ. भांडारकर यांनीं सामाजिक सुधारणेचा व राजकीय हक्काचा जो हा संबध जोडला आहे तो

अगदी भ्रांतिमूलक व निराधार आहे. मुंबईच्या एका इंग्रजी वर्तमानपत्राने डॉ. साहेबांच्या या वाक्यांचे अवतरण घेऊन स्पष्टोक्तिबद्दल त्यांचे मोठे अभिनंदन केलेले आहे; पण हे अभिनंदन इसापनितीतील झाडावर मांसाचा तुकडा चोंचीत घेऊन बसलेल्या कावळ्यांचे कोल्ह्याने जे अभिनंदन केले त्यासारखे आहे. जातिभेद सर्वांशी मोडल्याखेरीज एकराष्ट्रीयता व्हावयाची नाही व वरच्या जातींनी खालच्या जातींस आणि पुरुषांनी स्त्रियांस आपआपल्याप्रमाणेच सर्व हक्क दिल्याशिवाय ते राजकीय हक्कास पात्र होत नाहीत हे डॉ. साहेबांचे बोल ग्याझेट, टाइम्स-कर्त्यास का प्रिय होऊ नयेत ? पण ह्या पत्रकारास आमचे एवढेच विचारणे आहे की, तुमच्या देशाजवळच आयर्लंड देशात या सर्व सुधारणा कधीच झालेल्या असता व इंग्रजांचा व ऐरिश लोकांचा शरीरसंबंधही होत असता त्यांस हे हक्क अजून का मिळत नाहीत ? साराश, राजकीय हक्क मिळण्याचे अगर मिळविण्याचे मार्ग दुसरे आहेत. हिंदुस्थानातील दोन चार विधवांची लग्ने या सालांत जास्त लागली, किंवा दहा पाच विधवांनी केशवपन केले नाही तर त्याने या राजकीय प्रश्नाचा उलगडा होण्यास यत्किंचितही मदत होण्याचा संभव नाही. हे तंतु निराळें आहे व त्याकरिता उद्योगही निराळ्याच प्रकारचे व्हावयास पाहिजेत. महाराष्ट्रात ज्या वेळेस स्वतंत्रता वास करित होती, व ज्या वेळेस तेथील पुरुषांचे अंगात कर्तबगारी आणि शौर्य हीं खेळत होती त्या वेळेस त्यांनी त्यांस योग्य वाटल्या त्या सामाजिक सुधारणा विनदिकृत अमलांत आणल्या आहेत. त्या इतक्या की, बंगाल, मद्रास अगर हिंदुस्थानातील दुसरे प्रांत यापेक्षाही महाराष्ट्रांतील स्त्रियांस पुष्कळ अधिक स्वतंत्रता व मान आहे असे त्या त्या प्रांतांतील लोकही कबूल करितात. अशा स्थितीत आम्ही पुन्हा इंग्रजी ग्रंथकारांचे, अधिकाऱ्यांचे, किंवा वर्तमानपत्रकारांचे म्हणणे झेलून त्याप्रमाणे आपणही बोलण्यास लागावे हे मोठे लाळनास्पद आहे. आधी सामाजिक सुधारणा करून आणि मग देशोन्नतीस लागलेले किती दाखले डॉ. भांडारकर यांच्यापार्शी आहेत हे आम्हांस माहित नाही. आमच्या दृष्टीस जी एक दोन उदाहरणे पडतात ती त्यांच्या उलट आहेत. त्यावरून डॉ. भांडारकर याचा सिद्धान्त समर्थन होत नाही इतकेच नव्हे, तर त्यांचे अगदी विरुद्ध अनुमान निष्पन्न होतें. राजकीय हक्क संपादनाचे हे तत्त्व डॉ. भांडारकर यांनी पूर्णपणे लक्षात घ्यावयास पाहिजे होतें पण तसें न करिता त्यांनी आपल्या भाषणात जाता जाता राजकीय चळवळीस दूषणे देण्याचा जो प्रयत्न केला आहे तो अगदी असमंजसपणाचा आहे. स्थलसंकोचास्तव या विषयांवर जे अधिक लिहिणे आहे ते पुढील खेपेस लिहूं.

*सामाजिक सुधारणेचे मार्ग

सुधारणेचे निरनिराळे मार्ग असल्यामुळे मतभेद कसा होतो याबद्दल रा० ब० रानडे यांनी सामाजिक परिषदेच्या वेळीं जें भाषण केलें होतें, त्यावर आणि डॉ० भांडारकर यांनी अध्यक्ष या नात्यानें जें भाषण केले होतें त्याबद्दल आमचे जे कांहीं विचार होते त्यापैकीं कांहीं विचार गेल्या अंकीं दिले आहेत. आमचे सुधारक म्हणतात त्याप्रमाणें सामाजिक सुधारणा झाल्याखेरीज राजकीय हक्कास आम्ही पात्र होत नाही वगैरे डॉ० भांडारकर यांच्या भाषणात जीं कांहीं वाक्यें आहेत तीं समजसपणाचीं आहेत असें आम्हीं लिहिलेंच आहे. यावरून एवढें- मात्र सिद्ध होतें कीं, ही सुधारक मंडळी प्रसंग पडल्यास आपल्या हट्टाकरिता राजकीय चळवळीत व्यत्यय आणण्यास मार्गेंपुढें पाहणार नाहीत. हिंदुस्थानचे राज्य आमच्या हवाली करा, असें इंग्रजसरकारास सांगण्याचा कोणत्याही राजकीय चळवळीच्या पुरस्कर्त्यांचा हेतु नाही. अ.म्हास प्रस्तुतच्या राज्यपद्धतीत जे फेरफार पाहिजे आहेत, ते अशा प्रकारचे आहेत कीं, त्याच्याशीं जातिभेदाचा किंवा दुसऱ्या कोणत्याही सामाजिक प्रश्नाचा म्हणण्यासारखा संबंध पोंचत नाही. असें असता अमुक एक सामाजिक सुधारणा आम्ही करू तरच आम्ही राजकीय हक्क मिळण्यास पात्र होऊं, अशा रीतीनें आपले मत प्रदर्शित करणें म्हणजे आधींच नाखुष असलेल्या सरकारास लोकांच्या मागण्या नाकबूल करण्यास उत्तेजन देण्यासारखें नव्हे काय ? आणि ते कशाकरिता तर आपली समाजसुधारणेचीं मते लोकानीं कबूल करावीं म्हणून. म्हणजे समाज सुधारणेकरिता राजकीय सुधारणा अडकून राहिली तरी बेहेत्तर आहे, असेच म्हणण्यासारखें आहे. आम्हास हे म्हणणे अगदीं नापसंत आहे; व रा० ब० रानडे अथवा डॉ० भांडारकर यासारखे विद्वान् गृहस्थ जरी त्या मताचे असले तरी जोंपर्यंत ते मत आम्हास सयुक्तिक अथवा हितकारक वाटत नाही तोपर्यंत आमची प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष त्या मतास संमती देणें म्हणजे आम्हीं आपल्या कर्तव्यास विसरण्यासारखेच आहे. न्या० रानडे अथवा डॉ० भांडारकर यांच्या विद्वत्तेबद्दल आम्हासही त्यांच्या अनुयाया-प्रमाणेंच अभिमान वाटत आहे. पण यांच्यासारख्या विद्वानानीं २५।३० वर्षा-पूर्वीं ज्या गोष्टींचा उपक्रम केला, त्यांचा पाया चागल्या तत्त्वावर रचला गेला आहे, अशी आमची समजूत नसल्यामुळे आम्हांस त्यांच्या कृतीचें वास्तविक स्वरूप लोकांपुढें मांडावें लागतें त्यास आमचा नाइलाज आहे. इंग्रजी राज्याच्या आरंभीं पाश्चात्य शिक्षणामुळे एकदम जे मनोविकार जागृत झाले त्यापैकीं कांहीं-कांचा जोर गेल्या २५।३० वर्षांत बराच कमी झालेला आहे. आमचा धर्म अगदीं टाकाऊ आहे, आमची समाजरचना अगदीं चुकीची आहे, वर्णव्यवस्था सर्वोर्शां गैरफायद्याची व द्वैधीभाव वाढविणारी आहे, आणि

ती मोडल्याखेरीज देशाच्या भावी उत्कर्षाचा आरंभही व्हावयाचा नाही इत्यादि अपरिपक्व विचार आतां सर्वांशीं फारच थोड्या लोकांस ग्राह्य वाटतात अशी स्थिति आली आहे. ही स्थिति येण्यास इंग्रजी विद्येचा अतिपरिचय हें एक तर कारण खरेंच, पण त्याखेरीज आमच्या देशाच्या प्राचीन विद्येचें युरोपियन लोकानां केलेलें पुनरुज्जीवनही बऱ्याच अंशी हा परिणाम घडवून आणण्यास कारणीभूत झालेलें आहे. एक प्रसिद्ध इंग्रजी इतिहासज्ञ कायदेपंडिताचें असें मत आहे कीं, युरोपांतील राष्ट्रांची सुधारणा होण्यास त्यांतील वर्णव्यवस्था मोडून समाजाची रचना परस्परांच्या सोई व करार यांवर उभारली गेली हें मुख्य कारण होय. वर्णव्यवस्थेंत प्रत्येक मनुष्याचा घंदा अथवा उद्योग त्याच्या इच्छेंतून भिन्नकारणानीं नियंत्रित झालेला असतो. परंतु युरोपांतील स्वतंत्र देशात हवा तो घंदा हवा त्यास करण्यास मोकळीक असते, त्यामुळें परस्परांची चढाओढ लागून चागले तेवढेच लोक पुढें येतात व बाकीच्यास अज्ञाचीही भ्रात पडते असे आता पूर्णपणें आढळण्यात आले आहे. साराश, कोणतीही समाजरचना ध्या, ती सर्वांशीं निर्दोष म्हणून कधीही असावयाची नाही, हें तत्त्व आतां बऱ्याच लोकांच्या लक्षात येऊन चुकलें आहे. “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः” हा हिंदुसमाजाचा पाया आहे; व इच्छेस येईल तसें करण्यास प्रत्येकास, तो कराराने बांधला नसल्यास मोकळीक आहे, हें पाश्चात्य राष्ट्रांतील समाजरचनेचें तत्त्व आहे. आता रा. ब. रानडे वगैरे काहीं गृहस्थांचें असे म्हणणे आहे की, आमच्या समाजाची इमारत या पूर्वीच्या पायावरून ओढून या दुसऱ्या पायावर ठेविली पाहिजे. नाहीपेक्षा एकोणिसाव्या शतकाच्या राष्ट्रीय झगड्यांत आपला निभाव लागणार नाही! आमच्या मते हें सयुक्तिक नाही. युरोपांतील राष्ट्रांच्या समाजाची घटना जरी निगळ्या तत्त्वावर झाली असली तरी त्या राष्ट्रांतील समाज पद्धतीपासून वाईट परिणाम होत नाहीत असे नाही. ‘गाव आहे तेथे म्हारवडा आहेच’ या म्हणीप्रमाणें युरोपातील राष्ट्रांतही समाज सुधारणा होण्यास अद्याप पुष्कळ जागा आहे. चढाओढीच्या तत्त्वावर रचलेल्या समाजात संपत्तीची सारखी वाटणी न होतां कांहीं अतिशय श्रीमंत व कांहीं अतिशय दरिद्री अशी स्थिति प्राप्त होते; आणि विवाह संस्कारासही कराराचें स्वरूप आल्यामुळें विधवाच्या ऐवजीं कुमारिकांची संख्या वाढून गृहस्थाश्रमाच्या सुखास पुष्कळ स्त्रिया अंतरतात. या दोन उदाहरणांवरून अमुकच तत्त्वावर समाजाची रचना झाली असल्यास ते राष्ट्र सुखी होतें, हें म्हणणें किती अविचाराचें आहे हें लक्षात येईल. स्वतंत्रतेचा किंवा राष्ट्रीयत्वाचा अभिमान म्हणून जो कांही जोम आहे, तो जोपर्यंत जागृत असतो तोपर्यंत समाजरचना कशीही असली तरी त्यातील दोष राष्ट्रांच्या उन्नतीस अथवा भरभराटीस आड येत नाहीत. पण एकदा कां तो जोम नाहीसा झाला म्हणजे तेच दोष रावणाच्या धनुष्याप्रमाणें छातीवर बसून जगांत त्या लोकांची उपहास्यता

होण्यास कारण होतात ! साराश, समाजरचनेपेक्षा लोकांमध्ये एक प्रकारचा आपल्या संस्थाबद्दल व देशाबद्दल अभिमान जागृत ठेवण्याची प्रत्येक देशकल्याणाकरिता झटणाऱ्या माणसानें आधी तजवीज ठेविली पाहिजे. जुन्यास सोडून जाता कामा नये. असे नुसते शब्द वापरल्यानें हा कार्यभाग होत नाही. तो होण्यास जुन्या संस्थाबद्दल खरोखरच योग्य अभिमान वाटावयास पाहिजे. 'योग्य' असे म्हणण्याचे कारण एवढेंच की, हल्लीच्या काळात सर्वांशी अगर सर्वतोपरी जुन्या संस्था चालणे दुर्घट आहे, हें आम्हासही मान्य आहे. पाश्चात्य राष्ट्राची व आमची कर्मधर्मसंयोगामुळे जी सागड पडली आहे तिचा साखळीच्या दोन्ही दुव्यावर परिणाम झाल्याखेरीज रहावयाचा नाही. तथापि तेवढ्यामुळेच आमच्या समाजरचनेचा पाया खणून काढून पुनः नवा पाया घातल्याखेरीज चालावयाचें नाही, असे मात्र आम्हास वाटत नाही. १० ब० रानडे व डॉ० भाडारकर यांची दिशा याहून भिन्न आहे. जातिभेद मोडून स्त्रियास करारशास्त्रातील सिद्धाताप्रमाणें मोकळीक मिळाल्याखेरीज देशाचे पुढें पाऊल पडावयाचें नाही, असे त्यांच्या मुखानून अनेक वेळा उद्गार निघालेले आहेत; व या उद्गारास अनुरूप अशीच गेल्या २५।३० वर्षांतली त्यांची वर्तणूक आहे. अलीकडे अलीकडे या विद्वानांचे काही उद्गार निराळ्या तऱ्हेचे येऊ लागले आहेत, पण हा फेरफार अद्याप बराच बरकरणी आहे असें आम्हास वाटते. मिसिस ॲनि बिझांट यांची ज्याप्रमाणे युरोपातील समाजरचनेचा तत्त्वे चुकीची आहेत अशी खात्री झालेली आहे व तशी खाली झाल्यामुळे हिंदुसमाजाच्या समाजरचनेचीच मूलतत्त्वे इह व परलोकी प्रत्येकास अधिक हितावह आहेत असे त्या सागत फिरत आहेत, त्याप्रमाणे आमच्या सुधारकवर्गाची अद्याप परी समजूत झालेली नाही; व त्यामुळेच बूथसाहेब अगर पांडिता रमाबाई यांच्या सारख्यांच्या ते सहज नादी लागतात. हिंदुसमाजाच्या स्वरूपात अगर रचनेत फेरफार व्हावयास नको अगर तो व्हावयाचा नाही, असे आम्ही म्हणत नाही. प्राच्य व पाश्चात्य, अध्यात्मिक व आधिभौतिक अथवा वर्णव्यवस्थाकित व यदृच्छाचारप्रवर्तक अशा नव्या जुन्या सुधारणांचा संयोग झाल्याने जुन्या समाजरचनेच्या तत्त्वात काहीं तरी फेरफार झाला पाहिजे व होईल, हे म्हणणें कोणासही मान्य करावें लागेल त्याबद्दल वाद नाही. वाद काय तो एवढाच की, वर ज्या दोन तऱ्हेच्या सुधारणा सांगितल्या त्यांपैकीं एकीचा लोप करून दुसरी स्थापन करावयाची अथवा जुन्या संस्थेंतच योग्य असे काहीं फेरफार करून तिचें पुनरुज्जीन करावयाचे. रा. ब. रानडे म्हणतात तो मतभेद हाच होय. व याचकरितां प्रसंग विशेषीं मोठाली रणे माजतात. हिंदुस्थान देशात अनेक जातीचे, पंथांचे व धर्मांचे लोक आहेत. या सर्वांची एकवाक्यता करण्यास एक भाषा, एक धर्म, सर्वांचे एकमेकांशी अप्रतिबंध रोटीबिटीव्यवहार याखेरीज दुसरा मार्ग आहे कीं नाही व असल्यास तो कोणता हा एक अत्यंत महत्त्वाचा प्रश्न आहे. आमच्या

देशांत जातही एक नाही व धर्मही एक नाही, तर सर्वांची तोंडमिळवणी कशी होणार, असे विचार मनांत येणे अगदी साहजिक आहे; व अन्वळ इंग्रजांत या प्रश्नास ते उत्तर मिळाले त्याचेही आम्हास फारसे नवल वाटत नाही. पण या २५।३० वर्षांत हे विचार पालटण्यास बरीच कारणे झाली आहेत. वेदांता-सारख्या व्यापक धर्मांत सर्व धर्मांचा अंतर्भाव करून 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः' या किंवा 'येऽन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौतेय यजंत्य विधिपूर्वकम्' आणि 'मां हि पार्थ व्याश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्'। या भगवद्गचनांत सांगिल्याप्रमाणे सर्व धर्मांच्या व पंथांच्या लोकांचे ऐक्य होणे वर्णसंकर करून एकधर्म करण्यापेक्षा अधिक सुखकर व शक्य आहे असे पुष्कळांचे अलीकडे मत होऊं लागले आहे; व बंगाल्यांतील सामाजिक सुधारणेच्या इतिहासावरून या मतास जास्त बळकटी येऊं पहात आहे. हिंदुस्थान देशास हल्ली जी स्थिति प्राप्त झाली आहे, तशी स्थिति पूर्वी कोणत्याही राष्ट्रास प्राप्त झाली नव्हती, तेव्हा कोणत्याही राष्ट्राचा दाखला आमच्या सर्वांशी उपयोगी पडावयाचा नाही. युरोपांतील समाजरचनेचे तत्त्व आम्ही सर्वांशी येऊं म्हटले तर आमच्या प्रयत्नास यश येण्याची फारशी आशा बाळगावयास नको. वर्णव्यवस्थेमुळेच हजारो वर्षे आम्ही आपला आपलेपणा कायम राखून एकसारखे स्वतंत्र नाही तरी जिवंत तरी राहिलो आहो. हा आपलेपणा एकदा सोडून त्या म्हणजे आमचेजवळ आहे ते आम्ही गमावून बसूं; इतकेच नाही, तर 'इदंचनास्ति' आणि 'परच न लभ्यते' अशी आमची स्थिति होऊन इसापनीतींतील भाकरीचा तुकडा तोडात धरून जाणाऱ्या कुत्र्याप्रमाणे आम्ही अन्नासही मोताद होऊन जाऊं. सुधारणा कोणास नको आहे असे नाही, पण तिचे मार्ग अगदी भिन्न आहेत, हे वरील विवेचनावरून वाचकांच्या ध्यानात येईल. आतां याचा हल्लींच्या वादाशी कसा संबंध पोंचतो हे पुढे एखादे वेळेस सांगूं.

* खरें विद्यापीठ कोणतें ?

हिंदुस्थान देश प्राचीनकाळी जेव्हा विद्या व कला यांविषयी प्रसिद्ध होता तेव्हां या देशांत विद्वानांचे मोठमोठे मठ असून तेथे रात्रंदिवस अनेक शास्त्रांचा व विद्यांचा अभ्यास नेहमीं सुरू असे. बहुतेक क्षेत्रांच्या ठिकाणीं विद्वानांचा मोठा समुदाय असून त्यांचा सर्व काळ अध्ययन, अध्यापन व ग्रंथरचना यांत जाई. या गृहस्थांच्या तालमीत दुसरे पुष्कळ विद्वान् तयार होऊन देशभर

जात, आणि इतर ठिकाणी कोणी कोणत्याही शास्त्राचा अभ्यास केला असल्यास त्याच आपल्या विद्वत्तेची व गुणाची परीक्षा घेण्यास या नामांकित क्षेत्रांतून जावें लागत असे. तात्पर्य, अनेक शास्त्रांचा व विद्यांचा रात्रदिवस जेथें खल चाललेला आहे असे आश्रम जुन्या काळीं या देशांत पुष्कळ ठिकाणी आढळून येत असत. बुद्ध लोकांचा काळ हिंदुस्थानच्या इतिहासांत अर्वाचीन समजला होता, पण त्या काळींही नालंदप्रमाणें मोठमोठीं विद्यामंदिरे बाधली होती; व तेथे शेंकडों विद्यार्थी आपला विद्याभ्यास पुरा करून देशभर जात असत. शास्त्राचा अभ्यास सतत व मनन करणारे पुष्कळ विद्वान् ज्या ठिकाणी राहतात व त्याची किर्ति ऐकून दूरदूरचे शेंकडो विद्यार्थी विद्यार्जनाकरितां जेव्हा त्याजपाशीं येतात तेव्हां एखाद्या स्थलास विद्यापीठ, विद्यामंदिर, अथवा विद्याश्रम ही संज्ञा प्राप्त होते. इलीं सुधारलेल्या राष्ट्रांतूनही हाच प्रकार आढळून येतो. जर्मनी, इंग्लंड, फ्रान्स, अथवा अमेरिका या देशांत ज्या युनिव्हर्सिट्या आहेत त्या वर सांगितल्याप्रमाणेंच विद्येची माहेर घरे आहेत असें म्हटलें तरी चालेल. लोकांनीं तयार केलेल्या विद्यार्थ्यांची परीक्षा घेऊन आपलें काम मागले असे सुधारलेल्या राष्ट्रांतील युनिव्हर्सिट्यास वाटत नाही. शास्त्रांचा अभ्यास उत्तरोत्तर वाढत जावा, व प्रत्येक शास्त्रात काहींना तरी नवीन शोध व्हावा या हेतूनें त्या स्थापन झाल्या असतात; व तो हेतू तडीस नेण्याकरिता चांगल्या रीतीनें निर्वाह चालेल, असें वेतन देऊन बरेच विद्वान् गृहस्थ या युनिव्हर्सिट्यातून त्याची योग्यता पाहून केवळ विद्यावृद्धि करण्याच्या इराद्यानें ठेविलेले असतात. अशा प्रकारचीं विश्वविद्यालये असलीं म्हणजे शास्त्रास उत्तेजन येऊन विद्येची अभिवृद्धि कायमची होत असते. अलीकडे पदार्थविज्ञान शास्त्राचा अभ्यास मानसिकशास्त्रापेक्षां विशेष जरीनें सुरू आहे, करितां मोठमोठ्या विद्यालयातून या शास्त्राभ्यासास लागणारी यंत्रसामुग्रीही या विद्यालयातून भरपूर ठेवावी लागते. अशा प्रकारची विश्वविद्यालये अमेरिका, जर्मनी, फ्रान्स, वगैरे देशांत आहेत हें वर सांगितलेंच आहे; व त्याचेच अनुकरण करून आमच्या देशांत आमच्या दयाळू सरकारनें युनिव्हर्सिट्या स्थापन केल्या आहेत, अशाकरिता कीं, पाश्चात्य विद्याची व कलाची आम्हांस अभिरुचि लागून आमच्यापैकीं बुद्धिमान् लोकांनीं ज्ञानसंपन्न होऊन इतरास देशी भाषेच्या द्वारे आपल्या ज्ञानाचा फायदा करून द्यावा. हिंदु लोकांस प्राच्याविद्या शिकवाव्या कीं, पाश्चात्य विद्या शिकवाव्या याच्याबद्दल मेकॉलेसाहेबांच्या वेळी मोठा कडाक्याचा वाद होऊन अखेरीस युरोपियन लोकांच्या शास्त्रांचें आम्हांस अवश्य ज्ञान करून दिलें पाहिजे, असा निर्णय ठरविण्यांत आला; व त्या ठरावाप्रमाणे प्रत्येक इलाख्यांत विश्वविद्यालयाची स्थापना होऊन त्यांत अनेक विषयांत विद्यार्थ्यांच्या परीक्षा घेण्याचे काम सुरू होऊन परीक्षेत पास झालेल्या गृहस्थास विशिष्ट पदव्या मिळू लागल्या. येथपर्यंत सर्व ठीक झाले; परंतु गेल्या पन्नास वर्षांच्या अनुभवावरून आतां असें दिसून येत आहे कीं, दुष्टाने ज्याप्रमाणें ताकाचे अनुकरण करावयाचें त्याप्रमाणें युरोपियन

विद्यापीठांचें आमच्या देशांतील युनिव्हर्सिटीया हें अनुकरण होय. आमची पूर्वांचीं विद्यामंदिरे किंवा गुरूंचे आश्रम यांचा हळू हळू ऱ्हास होऊन ते आतां नामशेष झाले आहेत; व त्यांचे ऐवजी ज्या संस्था अस्तित्वात आल्या आहेत त्या जशा असाव्या तशा नसल्यामुळें कोणत्याही शास्त्राचा अथवा विद्येचा शोधक बुद्धीनें आस्थापूर्वक अभ्यास करणारे गृहस्थ आमच्या देशात अलीकडे पैदा होत नाहींत. नवीन शोध करण्याइतकी बुद्धि अथवा योग्यता आमच्या अंगात नाहीं असें नाहीं ज्या देशात पाणिनी, कणाद, शंकराचार्य, भास्कराचार्य वगैरे विद्वान् पूर्वकारी होऊन गेले त्यात सध्याचं काळीं पाश्चूर, एडिसन, स्पेन्सर, मिल्ल वगैरे गृहस्थाप्रमाणें विद्वान् का निपजूं नयेत याचें खरे कारण शोधून काढून त्याचा प्रतिकार करणे हे प्रत्येक विद्यावृद्धि इच्छिणाराचें कर्तव्य आहे. ब्राह्मण व त्याची विद्या या पुस्तकाच्या कर्त्याने या विषयाचा किंचित् विचार केलेला आहे. पण सदर कर्त्यांच्या एककल्ली विचाराचा त्यात ठिकठिकाणी बराच प्रादुर्भाव झाला असल्यामुळे या पुस्तकाचें पर्यवसान भलत्याच रीतीचें झालेंलें आहे. ज्या ब्राह्मणाच्या संस्था बुद्धन जाऊन त्या ऐवजी युनिव्हर्सिटीया स्थापन झाल्या त्याची योग्यता युनिव्हर्सिटीयास न आल्यास त्याचा दोष ब्राह्मणापेक्षा युनिव्हर्सिटी स्थापन करणाऱ्या किंवा चालविणाऱ्या गृहस्थाकडे विशेष रीतीनें येऊ पाहतो व वास्तविक रीतीनें म्हटलें म्हणजे या प्रश्नाचा खल सदर नूतन विद्यामंदिराच्या अधिपतींनीं अथवा त्याच्या दुय्यमानी केला पाहिजे. डॉ. भाडारकर यांच्या व्हाईस-चान्सेलरच्या कारकीर्दीत त्यांनी जें भाषण केले त्यात या विषयाचा उल्लेख केलेला होता; परंतु डॉ. साहेबाच्या काही आवडत्या कल्पना लोकापुढें माडणें त्यास जरूर वाटल्यावरून सदर कल्पनानीच त्याच्या भाषणाचा बराच भाग अडविला होता. यंदाचे साली डॉ. भाडारकर यांचे जागीं हायकोर्टाचे जज मि. जार्डिन याची नेमणूक झालेली आहे; व विद्वत्संबंधानें त्याचा जो लौकिक आहे त्यावरून त्याचे भाषण व्यापक, मुद्देसूद आणि कळकळीचें होईल असे सर्वास वाटत होतें. परंतु त्याचें गेल्या आठवड्यात पदवीदानसमारंभाचे वेळी जें भाषण झालें तें या कसोटीस लावून पहाता बरेंच कमी पडते. कदाचित् ह्या नव्या व्हाईस चान्सेलरास आपले भाषण तयार करण्यास पाहिजे तेवढा वेळ मिळाला नसेल. वास्तविक म्हटले म्हणजे लॉर्ड सॅडहर्स्ट हेच या समारंभाचे वेळीं अध्यक्ष व्हावयाचे; कारण हें त्याचें पहिलेंच वर्ष होतें. पण तसा योग न येतां जार्डिनसाहेबासच तो समारंभ साजरा करावा लागला. कसेंही असो, या नव्या व्हाईस-चान्सेलरांनीं आपल्या भाषणात ज्या दोन चार गोष्टी सांगितल्या आहेत त्या सर्वांनीं विचार करण्यासारख्या आहेत. याचें असें म्हणणें आहे की, हिंदु लोकांस विद्येची अभिरुचि किंवा शोधक बुद्धीने शास्त्राभ्यास करण्याची योग्यता नाहीं असें नाहीं. पण हल्लीं विश्वविद्यालयात जी व्यवस्था आहे व ज्या पद्धतीनें त्याचे काम चालत आहे, त्यामुळें पाश्चूरसारखे विद्वान् येथें निघत नाहींत. कोणत्याही सुधारलेल्या देशांत

युनिव्हर्सिटीच्यांची व्यवस्था शाळा व कॉलेजे यांतील गुरुपगुरूंकडे असते; ती व तशी असणे अगदी स्वाभाविक आहे. आपलें आयुष्य, अध्ययन व अध्यापन यांत घालवितात त्यांसच विद्यार्थ्यांचे खरे गुणदोष अथवा अडचणी समजून येणे शक्य असते. युरोपांतील प्रसिद्ध युनिव्हर्सिटींतून तेथील व्यवस्थेचें काम अशा प्रकारच्या विद्वानांकडेच असते. परंतु आमच्याकडील प्रकार त्याहून अगदी भिन्न आहे. आमच्या युनिव्हर्सिटींत विद्याभ्यासाकरितां एकही जागा ठेवलेली नाही. त्यामुळे युनिव्हर्सिटी ही एक परीक्षेचा शिक्षाच देण्याचें यंत्र बनून गेलें आहे. बरे, युनिव्हर्सिटींत उत्तम विद्वानाची सोय नाही तर नाही पण कॉलेजांतून तरी ती पाहिजे कीं नाही ? परंतु तेथे तिचा अभावच नजरेस पडतो. नेटिवास प्रोफेसरची जागा मिळणें अशक्यच, व विलायतेहून इकडे जे प्रोफेसर येतात ते तिकडील तिसऱ्या चवथ्या प्रतीचे ग्रॅज्युएट कोणाच्या तरी वशिल्यानं येत असल्यामुळे आमची विद्यापीठे म्हणजे विद्येचे पिठे झाले आहेत. संस्थातून उदरनिर्वाहाची काळजी न बाळगतां रात्रंदिवस विद्याभ्यासात निमग्न झालेली मंडळी आढळून यावयाची त्यात विलायतेंतून इकडे पैसे मिळविण्याकरितां आलेले गुरु आणि परीक्षेकरितां वुके घोकरणारे त्याचे छात्रवर्ग यांचा गलबला मात्र ऐकूं येतो. असल्या विद्यालयापासून विद्येची, छात्रवर्गाची अथवा देशाची उन्नति कशी होणार; गुरुपगुरूंच्या विद्याभ्यासाचा आणि सद्गर्तनाचा परिणाम शिष्याच्या मनावर होण्यास गुरुजी खरोखर विद्याव्यसनी असून छात्रवासी वर्गाशी प्रेमभावाने वागणारे असले पाहिजेत. दोहोंच्याही नांवानें आमच्याकडे पूज्यच. तेव्हां परीक्षेत पहिला नंबर येऊन पुढें आपल्या बुद्धिमत्तेचा कायदे शिकून द्रव्यार्जन करण्यांत उपयोग करणारे विद्यार्थी आमच्यांत निघाल्यास त्यात नवल कोणतें ? मुंबई युनिव्हर्सिटी १८५७ सालांत स्थापन झाली, पण तेव्हांपासून आतांपर्यंत सुमारे चाळीस वर्षांत या संस्थेंतून एकही जगप्रसिद्ध विद्वान् निर्घू नये हें आश्चर्य नव्हे काय ? तेलंग, रानडे, भांडारकर वगैरे कांहीं विद्वान् यापूर्वी युनिव्हर्सिटींतून निघालेले आहेत, पण त्यांपैकी इतर घंघ्यांत शिरल्यामुळे त्यांच्या बुद्धिमत्तेचा व विद्वत्तेचा शास्त्राभ्यासाच्या कामी जसा उपयोग व्हावा तसा झालेला नाही. आतां यामुळे इकडे शास्त्राभ्यासांत जी हानी झाली ती दुसरीकडे म्हणजे कायद्याचे अभ्यासांत भरून आली असें जाडिनचें म्हणणें आहे व तें एक अंशी खरें आहे. पण त्याचा उपयोग काय ? ज्यानें समरांगणी अश्वारूढ होऊन दोन हात करावयाचे त्यानें आपलें कौशल्य घरांत बायकोच्या नथेंतून तीर मारण्यात जर खर्च केलें तर त्यास ज्याप्रमाणें आपण नांवे ठेवूं त्याचप्रमाणेंच प्रस्तुतचा प्रकार आहे. आमच्या युनिव्हर्सिटींत आधीं खरे विद्याभ्यासंगी गुरु व उपगुरु नाहीत; त्यातूनही सदर युनिव्हर्सिटीची व्यवस्था अगदी तिन्हाइताच्या म्हणजे कॉलेजातील गुरुपगुरू-

खेरीज इतर धंद्याच्या ग्रहस्थितीचे हातांत आहे. युनिव्हर्सिटींत परीक्षा घेऊन बी. ए. एम्. ए. चे शिक्षे टोकण्यापलीकडे दुसरें कांहीं काम चालत नाही. चान्सेलरपासून सिंडकेटपर्यंत जो तो आपल्या धंद्यांत गुंतलेला. असल्या युनिव्हर्सिटीस विद्यामंदिर म्हणण्यापेक्षां परीक्षा घेण्याकरिता रजिस्टर झालेली कंपनी म्हटलें तरी चालेल. गव्हर्नरसाहेब हे कंपनीचे मुख्य डायरेक्टर होत आणि मुंबईतील बॅरिस्टर किंवा इतर धंद्यांचे लोक हे सदर कंपनीचे व्यवस्थापक आहेत. अशा कंपनीचें सर्टिफिकेट मिळवून बाहेर पडलेलीं माणसें विद्यार्जनात न गुंतता आपल्या 'व्यवसायात्मक' बुद्धीचा इतर धंद्यांत उपयोग करूं लागल्यास त्यात कांहींएक नवल नाही. मि. जस्टिस जार्डिन यांनी या गोष्टीचा आपल्या भाषणांत बराच खुलासा केला आहे व शेवटीं आमच्याकडील लक्ष्मीपुत्रास अशी विनंति केली आहे कीं, स्त्री आणि सरस्वती यांचा योग बहुधा घडत नाही, करितां देशांतील श्रीमंत लोकानी मोटमोठीं विद्यालये स्थापून त्यात सदोदित शास्त्राची चर्चा सुरू राहून त्यांचा पुढें उत्कर्ष होईल अशी व्यवस्था ठेविली पाहिजे. असें झाले तरच हिंदुस्थान देशांत पूर्वीप्रमाणे विद्यापीठ स्थापन होऊन व पाश्चात्य विद्येचें बीं येथें रुजून त्याचा लौकरच नामी वृक्ष तयार होईल. हल्लीच्या युनिव्हर्सिटीया म्हणजे परीक्षा घेण्याच्या कंपन्या आहेत; विद्यापीठें नव्हेत हें वर सांगितलेच आहे; व जार्डिनसाहेबांचाही अभिप्राय तसाच आहे. हें पाहून एक अशीं समाधान होतें व उमेद येते. व्हाईस चान्सेलराचे काम त्यांचे हातात आहे तोपर्यंत जर त्यांनीं कांहीं उद्योग केला तर वर सांगितल्यापैकीं आमच्या युनिव्हर्सिटीतील कांहीं तरी दोष निघून जातील. लक्ष्मीपुत्रांस त्यांनीं जो उपदेश केला आहे तोच सरकारासही करावयास पाहिजे. कारण, खऱ्या युनिव्हर्सिटीसारख्या संस्था स्थापण्याचें काम सरकाराखेरीज इतर गृहस्थाकडून होण्याचे दिवस अद्याप आमच्या देशास आलेले नाहीत. ऑक्सफर्ड, केम्ब्रिज वगैरे संस्थास ज्याप्रमाणें उत्पन्न तोडून दिलेली आहेत तशीच इकडच्या विश्वविद्यालयासही मिळाली पाहिजेत; व तीं मिळतील तेव्हांच त्यांचा खरा भाग्योदय होऊन सुधारलेल्या राष्ट्रांतील विद्यापिठांची त्यास योग्यता येईल.

*श्रीशिवदिग्विजय-स्फुट.

आमचे ग्रहच असे कांहीं विचित्र आहेत कीं, ज्याबद्दल एखादा चांगला शब्द वापरावा तोच आम्हांस शिव्या देण्यास तयार होतो. गेल्या खेपेस श्रीशिवदिग्विजयनामक बडोद्यास छापलेली श्रीशिवाजीमहाराजांची बखर तिचे प्रकाशक म्हणतात त्याप्रमाणें शके १६४० सालीं लिहिलेली नसून पुढें शंभर

वर्षांनीं म्हणजे शके १७४० सालीं ती लिहिली असावी असें मत आमचे पत्रांत प्रसिद्ध झालें होतें; व तें प्रसिद्ध करतांना सदर बखरीच्या प्रकाशकास अग्न मालकास कोणत्याही प्रकारें लावून न लिहिण्याबद्दल खबरदारी घेतली होती. पण एका 'इतिहासप्रिय' वाचकास आमचें हें करणें न आवडून त्यानें आपल्या ज्ञानाचा प्रकाश रामनवमीच्या सुहूर्तावर पाडिला आहे. या प्रकाशानें एखाद्याचे डोळेच दिपून जावयाचे; पण केसरीकारास असल्या खोट्या प्रकाशाची ओळख ही पहिल्यानेच होत नसल्यामुळें त्यास त्याचें काहीं एक महत्त्व वाटत नाहीं. त्यातून नुसतें 'इतिहासप्रिय' वाचक म्हटले म्हणजे प्रायः सारासार विचारशून्य असावयाचे असा बराच अनुभव असल्यामुळेंही असल्या लेखकाच्या तर्कशास्त्राचाही आम्हांस काहीं बाजू वाटत नाहीं. असो; आमचें काय म्हणणे आहे तें जरा जास्त स्पष्ट करून सागणें आतां जरूर आहे. श्रीशिवदिग्विजय हा ग्रंथ लक्षपूर्वक वाचणारास त्यांतील श्लोक, भाषा वगैरे गोष्टींवरून तो जुना नसावा अशी शंका येते. परंतु या नुसत्या शकेवरच आम्ही राहिलो नाहीं. ग्रंथाच्या आरंभीच "शालिवाहनार्क १६४० बहुधान्य नाम संवत्सरे तथा विक्रमार्क संवत् १७७५ विरोधीनामाद्रे (द्रे ?) नर्मदा दक्षिण तटे लिख्यते" असा ग्रंथलेखनाचा काल दिला आहे. पुढें चौथ्या पानावर एकंदर युधिष्ठिरापासून कलियुगातील सर्व राजाची हकीकत देण्याचेपूर्वी "शके १७४० पर्यंत एकंदर गतकली ४९१९" असे लिहिलें आहे; म्हणजे बखरींतच दोन शक सापडतात. एक १६४० व दुसरा १७४० यांपैकी खरा कोणता याचा निर्णय करणें जरूर आहे. प्रकाशक म्हणतात कीं, १६४० खरा, व १७४० फक्त 'भावीकल्पने' करितां घेतला; परंतु हे प्रकाशकांचे म्हणणें बरोबर नाहीं. दोहोंपैकी एक शक चुकीचा असला पाहिजे; व दोन्ही खरे होऊं शकत नाहींत. ही गोष्ट प्रकाशकांचे लक्षांत आली होती, व म्हणूनच त्यांनीं भावी कल्पनेची युक्ति लढवून आपल्या समजुतीप्रमाणें हा विरोध काढून टाकण्याचा प्रयत्न केला आहे. पण जी युक्ति सकारण आहे असें दाखविता येत नाहीं ती टिकणार कशी ! १६४० शक खरा, कीं १७४० खरा याचा निर्णय पुस्तकात दिलेल्या संवत्सराच्या नावावरून सहज होतो. शके १६४० म्हणजे संवत् १७७५ होतात; पण १६४० सालीं बहुधान्य संवत्सर येत नाहीं इतकेंच नव्हे तर, विक्रम संवत् १७७५ या सालीं विरोधी संवत्सरही येत नाहीं ! हे संवत्सर अनुक्रम शके १७४० व संवत् १८७५ या सालीं येतात. आता मोडी लिहिण्यात जर चुकी होण्याचा संभव असला तर १७४० च्या ठिकाणीं १६४० किंवा १८७५ च्या ठिकाणीं १७७५ असें आकड्यांत चुकीनें पडण्याचा जसा संभव आहे तसा 'बहुधान्य' किंवा 'विरोधी' हीं नावे अक्षरी लिहितांना नाहीं. एक वेळ आकड्यात चूक होऊं शकेल, एखादे अक्षर चुकेल, पण विक्रम आणि शालिवाहन या दोन्हीही सालांच्या संवत्सरांची नांवे चुकीनें भलतीं पडूं शकणार नाहींत. शिवाय बखरींतच जर पुढे १७४० हें साल सांगितलें आहे तर बखरींत

दिलेच्या दोन सालापैकी एक साळ खरें ठरविण्यास बखरीतील इतर प्रमाणांचा उपयोग करणें अगदीं स्वाभाविक आहे. पुष्कळ बनावट लेख अशाच रीतीनें उघडकीस येतात. प्रकृत स्थली हा दोष ज्यानें ग्रंथ लिहिला त्याचा नाही. कारण तसें असतें तर ग्रंथांतच पुढें त्यानें १७४० शक घातला नसता. ग्रंथारंभी-ही त्यानें १७४० च घातले असवे; पण मागाहून जांबई शोध करणारे निघाले त्यांनीं १७४० तील ७ चे ६ व १८१५ तील ८ चे ७ केले; व पुढें संवत्सरांचीं नांवां जशींच्या तशींच राहूं दिलीं ! आमचे ' इतिहासप्रिय ' वाचक अशा प्रकारचे जांबई शोध करणारापैकींच आहेत. कारण त्यांनीं आपल्या पत्रांत ग्रंथांतील जो उतारा घेतला आहे त्यांत ' विक्रमार्क संवत् १७७५.....लिख्यते ' असा मधले दोन चार शब्द सोडून उतारा घेतला आहे; व हे राजेश्री आम्हांस असा प्रश्न करीत आहेत कीं, " शके १६४० म्हणजे संवत् १७७५ होतात कीं, नाहीत ? मग चूक कोठे आहे ? बहुधान्य संवत्सर चुकला असेल, म्हणून काय झालें. १६४० व १७७५ असे दोन आंकडे चुकले म्हणण्यापेक्षा एक शब्द चुकला म्हणणें सोपें नाही काय ? " हा कोटिक्रम पाहून आम्हांस खरोखरच हसू येते; परंतु तें आवरून आम्ही ' इतिहासप्रिय ' वाचकांस असें सुचवितों कीं, १६४० व १७७५ हे दोन्ही आंकडे खरे मानल्यास बहुधान्यच चुकतो असें नाही तर विरोधीही चुकतो; व पुढें सांगितलेले १७४० आणि त्याबरोबरच दिलेला गतकली भावी कल्पनेकरिता सांगितला आहे असें मानून समाधान करून घ्यावें लागतें. इतका खटाटोप करून स्वतःचें समाधान करून घेण्याइतकें ज्याचे तर्कशास्त्र मंद असेल त्यानें तें खुशाल करून घ्यावें. श्रीशिवछत्रपतीबद्दल आम्हांस कितीही अभिमान असला तरी नवा लेख जुना आहेसें भासविण्याचा आम्हीं प्रयत्न करूं इच्छित नाही. खरोखरच कोणाजवळ जुने लेख असल्यास ते मोठ्या आनंदानें जुने आहेत असें कबूल करूं; पण श्रीशिवछत्रपतींच्या नावावर जुने आणि नवें एकाच मापानें लेखण्याची किंवा जुन्याचें नवें, अथवा नव्यानें जुने करण्याची आमची इच्छा नाही. जुन्या बखरी उपलब्ध असल्यास त्यापेक्षां नव्या बखरीची योग्यता पुराव्याच्या कामी सामान्यतः कमी समजली पाहिजे हें कोणी पोरही कबूल करील. इतक्या उपर ज्या गृहस्थाजवळ ही खबर सांपडली त्याज-पाशीं तिचें जुनेपणाबद्दल जास्त कांही पुरावा असल्यास तो प्रकाशकार्नी प्रसिद्ध करावा, म्हणजे त्याने कदाचित् वरील शकेचे निराकरण होऊन वादाचें कारण राहणार नाही.

* श्रीशिवदिग्विजय—स्फुट

श्रीशिवदिग्विजय या बखरीच्या जुनेपणावर आम्हीं जे आक्षेप काढले होते त्याबद्दल कित्येक पत्रातून बरीच चर्चा झालेली आहे; पण दुःखाची गोष्ट येवढीच की, आम्हास उत्तर देण्याचा म्हणून ज्यांनी प्रयत्न केला आहे त्यास असल्या ऐतिहासिक गोष्टींची कशी व किती बारीक चवकशी करावी लागते याचा गंधही असलेला आढळण्यांत येत नाही. बखर ज्यांनी लिहिली असे प्रकाशकाचे म्हणणे आहे त्याबद्दलचा पुरावा प्रकाशकांच्या दस्त्यातून बाहेर निघत नाही, इतकेच नव्हे तर आम्हीं केलेल्या आक्षेपाबद्दल मुद्दाम गौरसमज करण्याचा प्रयत्न चालू आहे. एकाने तर केसरीत दिलेल्या एका शकात आकड्याची जी चूक झाली आहे ती दाखवून त्यावर बरेच पाडित्य केले आहे. पण त्यास असे कळेना की, केसरीत जर एका आकड्याचा दुसरा आकडा होऊं शकतो तर बखरीत तसा प्रकार होण्यास काय अडचण आहे? आमची वाद वादविषयाची इच्छा नाही. ज्यास इतिहासाचे सूक्ष्म अवलोकन करावे लागते हे समजत नाही त्यास आम्हीं कितीही सांगितले तरी पालथ्या घड्यावर पाणीच; व ज्यास ह्या गोष्टी समजतात त्याची आम्ही लिहिलेल्या लेखावरून ही बखर जुनी नाही—निदान ती जुनी आहे असे मानण्यास पुढे आला आहे तेवढा पुरावा बस नाही—अशी खाली होईल. आमचा आक्षेप एवढाच आहे की, १६४० व १७४० असे दोन्ही शक जर बखरीतच आढळतात तर त्यापैकी एक कोणता तरी चूक असलाच पाहिजे. कोणता चुकला याचा निर्णय करण्याचे साधन बखरीतच आहे ते असे की, जेथे जेथे हे शक दिले आहेत तेथे तेथे त्या शकाची व त्याच वर्षी असलेल्या विक्रम संवत्सराची नावे दिली आहेत. ही नावे बहुधान्य व विरोधी ही होत. ही दोन्हीही नावे अनेक वेळा बखरीत आलेली आहेत, व हे दोन्हीही संवत्सर शके १७४० साली येतात; शके १६४० येत नाहीत. यावर एकाचे म्हणणे आहे की, आकड्यावरून गणित करताना हे चुकले असतील; परंतु ही शंका फुकट आहे. कारण ज्या सालात बखर लिहिली त्या सालचा संवत्सर गणिताने काढावयास नको, तो त्यावाचून माहित असतो. तसेच बहुधान्य हा संवत्सर शके १६८० साली येतो ही गोष्ट खरी आहे; पण शके १६४० व १७४० या दोहोपैकी कोणता खरा याचा जर निर्णय करावयाचा आहे तर त्यात १६८० चा सग्रह होऊं शकत नाही. सारांश, शके १६४० हा आकडा खरा मानल्यास १७४० चुकले असे म्हणावे लागते, इतकेच नव्हे, तर बहुधान्य व विरोधी ही नावेही सर्व ठिकाणी चुकीनेच लिहिली गेली असे म्हणावे लागेल. यापैकी अधिक संभवनीय गोष्ट कोणती याचा निकाल कोणासही समजण्यासारखा आहे.

*आमच्या बुद्धीस खरोखर उतरती कळा लागली

आहे काय ?

दोन तीन वर्षांपूर्वी डॉ. भांडारकर व न्या. रानडे यांनी आपले तरुण सुशिक्षित लोक अल्पायुषी होतात असे साधकबाधकप्रमाणे दाखवून सिद्ध केले; व आम्हास एक प्रकारची काळजी उत्पन्न केली. तिच्याच तोडीची काळजी प्रो. गोखले यानी नुकतीच उत्पन्न केली आहे. 'हल्लींचा शिक्षणक्रम' या विषयावर नुकताच त्यानी मुंबई येथील ग्रॅज्युएट असोसियेशन पुढे एक चागला निबंध वाचला; त्यात त्यांनी अनेक विषयांचे प्रतिपादन केले आहे. त्या सर्व मुद्याचा आज आम्ही येथे उल्लेख करित नाही, कारण ते मुद्दे नवीन नसून जुनेच आहेत. परंतु त्यापैकी एकाचा येथे उल्लेख केला पाहिजे. ते म्हणतात माझा अनुभव असा आहे की, हल्लीचे जे विद्यार्थी कॉलेजात येतात त्याच्या बुद्धीचा हळूहळू ऱ्हास होत आहे. पूर्वीच्या विद्यार्थ्यांसारखी त्याची बुद्धि तरतरीत नाही ही गोष्ट अगदी निर्विवाद असून उघड उघड दृष्टीस पडण्यासारखी आहे. प्रो. गोखले याचा नेहमी कॉलेजातील विद्यार्थ्यांशी निकट संबंध असतो तेव्हा त्यानी मननपूर्वक एखादे विधान केले, मग ते आपणास प्रिय असो वा अप्रिय असो, त्यांच्या म्हणण्यास सर्वांनी मान देऊन त्याचा विचार करावयास लागावे हे आपणांस उचित होय. मि. गोखले हे आपल्या निबंधात आपल्या एकट्याच्याच अभिप्रायावर भिस्त ठेवीत नाहीत. त्यांनी आपल्या म्हणण्याचे पुष्टीकरणार्थ येथील नामांकित प्रि. सेल्बीसाहेब हे या विषयासंबंधाने काय म्हणतात हे नमूद केले आहे. मि. सेल्बी याचा अभिप्राय आमच्या प्रोफेसरासारखाच आहे; परंतु पाच वर्षांपूर्वी डॉ. मॅकेनन यांनी याच मुद्यासंबंधाने आपल्या भाषणांत जो उल्लेख केला होता तो पाहाता त्यास प्रो. सेल्बी व गोखले यांसारखे वाटत नाही. उलट त्यास असे वाटते की, हल्लीचा उत्तम विद्यार्थी व पूर्वीचा उत्तम विद्यार्थी या दोघाची तुलना केली असता हल्लींच्या विद्यार्थ्यांचे पारडे वर जाईल अशी भीतीच बाळगावयास नको. मुंबईचे गॅझिटकर्ते ह्यांनी मि. गोखले यांच्या निबंधावर टीका करितांना प्रस्तुत मुद्याविषयी असे म्हटले आहे की, हा मुद्दा वादग्रस्त असून त्याजविषयी एखादे मत बनविण्याची वेळ अद्याप आली नाही. टाईम्स ऑफ इंडिया कर्त्यांनीही त्याजविषयी आपले मत दिले नाही. फक्त त्या मुद्याचे दिग्दर्शन मात्र केले आहे.

अशा वादग्रस्त विषयाविषयी एखादा अभिप्राय प्रकट केला तर हे एक प्रकारचे साहस आहे असे म्हणणारे पुष्कळ लोक निघतील. परंतु मेसर्स गोखले व सेल्बी हे कोण आहेत, हे काय करितात ह्याचे मनन केले म्हणजे मि.

गोखले यांनी साहस केले असे आमच्याने म्हणवत नाही. आमचा अलीकडे विद्यार्थ्यांशी फारसा निकट संबंध नाही तत्रापि आम्हासही मि. गोखले यांच्यासारखा वारंवार भास होतो. आम्हाजवळ जितका पुरावा असावा तितका नसल्यामुळे नुसता भास होतो असे म्हणूनच आजपर्यंत आम्ही आपले समाधान केले; व पुढेही बहुतेक असेच समाधान करावे लागेल. मि. गोखले यांनी मंडलीक, कुंटे, परमानंद, तेलंग, रानडे, भाडारकर व मेथा वगैरे बड्याबड्या धेंडाच्या नावांचा उच्चार करून आपल्या श्रोत्यास हल्लीच्या विद्यार्थीमंडळात असे पुरुष का दृष्टीस पडत नाहीत असा प्रश्न केला आहे. आपले विधान सिद्ध करण्याची ही पद्धत आम्हांस अगदी नापसत आहे. एक दोन ठळक पुरुष दिसले म्हणजे पूर्वीच्या लोकांची बुद्धिमत्ता मोठी होती असे म्हणणे हे न्यायास अनुसरून नाही; कारण सर्व पिढीत एखादा बुद्धिमान पुरुष निघत असतो. परंतु त्याजबरोबर लक्षावधि शंखशिरोमणि असतात त्याचा विचार कोणी करीत नाही. न्यायमूर्ति रानडे यांच्या मागे शंभर वर्षांत त्यांच्या तोडीचा मनुष्य दृष्टीस पडेल काय ? हल्ली एकनाथ, वामन, तुकाराम, मोरोपंतासारखे कवि निर्माण होत नाहीत म्हणून हल्लीचे लोक बुद्धीने नादान असे म्हणता कामा नये. जुन्या विद्यार्थ्यांचा अभ्यासक्रम निराळा, त्यास आलेले प्रसंग निराळे, किंबहुना त्याची राहणी निराळी हल्लीच्या विद्यार्थ्यांच्या भौवतालची वस्तुस्थिति अगदीच बदलून गेली आहे. हल्लीचा विचार इतकाच आहे की, सरासरीच्या मानाने हल्लीच्या विद्यार्थ्यांची बुद्धिमत्ता पूर्वीच्या लोकांहून कमी आहे की काय ?

आम्हास या विषयासंबंधाने जो भास होतो तो वर नमूद केलाच आहे. आम्ही जरी भास हा शब्द वापरला आहे तत्रापि तो अगदीच निराधार आहे असे नाही. लॅटिन भाषेत अशी एक म्हण आहे की, “ जर शरीर सडत असेल तर बुद्धीही तरतरीत असावयाची ” आणि ह्याच म्हणीचे रहस्य ह्या विषयाच्या मुळाशी आहे. न्यायमूर्ति रानडे यांनी सुशिक्षित लोक अल्पवयी मरतात ह्याचे कारण त्याची गरीबी असे दाखविले आहे. तेच कारण ह्या विषयास लागू असावे. आमच्या लोकांचा जो अनेक बाजूनी एक प्रकारचा न्हास होत आहे तोच प्रकार त्यांच्या बुद्धीस कां लागू होऊं नये ? आमच्या विद्यार्थ्यांस खावयास नाही, आमचे विद्यार्थी नेहमी जे अन्न खातात ते निःसत्त्व असते हे जगजाहीर आहे; तेही कित्येक प्रसंगी वेळेवर मिळण्याची मारामार पडते. साधारण असा नियम आहे की, तरुणाचे हाडपेर बावीस वर्षांपासून पसतीस वर्षांपर्यंत भरत असते. त्या वेळेसच त्याजवर शरिराची वाढ खुंटण्यासारखी दुसऱ्या प्रकारची जबाबदारी येऊन पडते. खाण्यास अन्न चांगले नसते, त्यातच संसाराची सुरवात होते; आणि त्याच सुमारास विकट अभ्यास करण्याचा त्यास प्रसंग येऊन व परीक्षाची काळजी लागून त्यांचे रक्त आंतल्याआंत जळून जाते. हल्लीच्या अभ्यासाचे दडपण इतके काही मोठे आहे की, चांगला विद्यार्थी देखील त्याखाली दडपून जातो. नवीन नियमप्रमाणे

बी. ए.च्या परीक्षेस जी पुस्तके नेमिलीं आहेत त्यांचीं पाने चाळून मोजून पाहिलीं तीं पांच हजार भरलीं. साधारण बुद्धीच्या विद्यार्थ्यांस देखील इतका अभ्यास मनासारखा होणें दुर्घट होय, हें आमच्या विद्यार्थ्यांवर टीका करणारे अगदीं विसरून जातात. असा विकट अभ्यासक्रम नेमिल्यामुळे अभ्यास नेमणाराचा इष्ट हेतु तर साधला नाहीच, परंतु त्याच्या उलट मात्र परिणाम झाला आहे. लॉजिक आणि मॉरलफिलासफी हे विषय व इतर विषय घेतलेल्या विद्यार्थ्यांची गेल्या दोन वर्षांतील संख्या ताडून पाहता सहज कळून येण्यासारखी आहे. तेव्हां विद्यार्थ्यांच्या नांवांनै उगीच ओरड करण्यात काहीं अर्थ नाही. इतकीं कारणे बुद्धीचा ऱ्हास होण्यास असल्यावर तिचा ऱ्हास का होऊं नये हें कोणाच्यानैही सागवणार नाहीं.

प्रो. गोखले यानीं हा मुद्दा जगापुढे माडिला ही एक त्यानीं समाजाची मोठी नौकरीच बजाविली. त्याचे त्यानी काम केले परंतु समाजातील विचारी पुरुषांना या विषयावर विसर पडता कामा नये. आज कोणताच निश्चय नाही, तत्रापि प्रो. गोखल्यांनी वेळीच आपणांस जागे केले आहे तेव्हा त्याचा खल झाला पाहिजे. खरोखरच आमच्या तरुण लोकांच्या बुद्धीचा ऱ्हास होत असेल व तो तसाच पुढें चालून आपल्या मुलावाळांचें अकल्याण होत असेल तर त्यास परलोकीं सुद्धा सदति होईल कीं नाही याची शंकाच आहे. आता ही स्थिति दुरुस्त होण्यास काय उपाय योजावा हा प्रश्न राहिला. वर दर्शित केलेल्या कारणापैकीं काहीं कारणे दूर करणें हें आपल्या समाजाचे हाती आहे. त्या कारणाची अनेक वेळां चर्चा झाली आहे तेव्हां त्याचा येथे उल्लेख करावयास नको. युरोपियन लोक आम्हाविषयीं लिहूं अथवा बोलूं लागले तर कळकळीने बोलतात खरें; परंतु त्यांचे हातून आमचे कल्याण होण्यासारखी एकही कृति होत नाहीं. टाइम्स ऑफ इंडियाकतें व मुंबई गॅझेटकतें ह्यानीं एके ठिकाणीं बसून युनिव्हर्सिटीनें बी. ए. सारख्या परीक्षेचा अभ्यास किती गहन करून ठेविला आहे, शिवाय परीक्षक लोक जे प्रश्न घालतात त्यांत घालण्यासारखा कोणता व न घालण्यासारखा कोणता याचा त्यांनीं कधी विचार केला आहे काय ? आम्हास असें आठवतें कीं, नुकताच एका परीक्षकांनै करन्सी कोणत्या तत्वावर असावी हा प्रश्न विद्यार्थ्यांस घातला होता. ह्यावरून त्या परीक्षकाचें तारतम्य केवढ्या किमतीचें आहे हें वाचकांस कळेलच. तेव्हां सर्व देशांनीं हा अभ्यासक्रम विद्यार्थ्यांस डोईजड न होईल असा फेरफार झालाच पाहिजे.

* आर्य वैद्यकांचें पुनरुज्जीवन.

आपल्याला ज्या दहापाच जुन्या विद्याचे व कलांचें पुनरुज्जीवन करणें जरूर झालें आहे त्यांपैकींच आपलें प्राचीन वैद्यक हें एक होय. ह्या वैद्यकाच्या गुणावगुणाबद्दल पूर्वी केसरीत बरेच लेख आले आहेत; परंतु त्या लेखांप्रमाणें कोणीही वर्तन केल्याचें आढळून न आल्यामुळें त्यासंबंधानें कोणाचेंही आजच्या-प्रमाणें अभिनंदन करण्याचा प्रसंग आला नव्हता. एकदां ज्याप्रमाणे पुण्यास काहीं खाजगी लोकानीं आर्ट्स कॉलेज स्थापन केलें आहे त्याचप्रमाणें डॉ. देश-मुखासारख्या गृहस्थानीं वैद्यकीचें कॉलेज स्थापून त्यांत प्राच्य व पाश्चात्य वैद्यकाचा विद्यार्थ्यांकडून अभ्यास करवून तें अभ्युदयास आणावें अशीही आम्हीं सूचना केली होती; परंतु तिचाही त्यावेळीं तादृश उपयोग झाला नाहीं. आमचें जुनें वैद्यक नव्या वैद्यकापेक्षां काहीं बाबतींत पुष्कळ मागें आहे, ही गोष्ट आम्हास मान्य आहे. वनस्पतीशास्त्र, रसायनशास्त्र, इद्रियविज्ञानशास्त्र, शारीरशास्त्र वगैरे वैद्यकीस उपयुक्त व आवश्यक शास्त्रांचा पश्चिमेकडील लोकानीं गेल्या एकदोन शतकांत चागला अभ्यास करून तीं शास्त्रें पुष्कळ पूर्णतेस आणिली आहेत; व त्यामुळें साहजिकच ते शास्त्रविद्येंत कुशल झालें असून कित्येक नव्या वनस्पति व तत्त्वें यांचीही त्यांस जुन्या वैद्यापेक्षा अधिक माहिती झाली आहे. त्याचप्रमाणें अलीकडील रोगनिदानाची पद्धतही वरील शास्त्रांच्या मदतीने काहीं काहीं बाबतींत अधिक सुधारली आहे. परंतु एवढ्यानें आमचे जुनें वैद्यशास्त्र अगदीं टाकाऊ झालें असें मात्र होत नाहीं. ख्रिस्ती शतकाच्यापूर्वी हजारों वर्षांपासून आर्य ऋषींचें या शास्त्राकडे लक्ष लागलेलें आहे; व त्या वेळीं जीं साधने उपलब्ध होती. त्या सर्वांच्या साहाय्यानें त्यांनीं हें शास्त्र आपल्या बुद्धीने होईल तितके परिपूर्णतेस आणिलें आहे. हिंदुस्थान देशांत स्वभावतःच वनस्पतीचा मोठा भरणा आहे, व त्या सर्वांच्या गुणदोषांचें अनुभव घेऊन परीक्षण केलेलें आहे. अनुभव घेऊन असे म्हणावयाचें कारण असें कीं, नुसत्या वनस्पतीशास्त्राने किंवा रसायनशास्त्राने एखाद्या वनस्पतीचा शरीरावर अमुक परिणाम होईल असें सागतां येत नाहीं. ही गोष्ट अनुभवानेंच कळते व तशा प्रकारचा अनुभव येण्यास बरींच वर्षे लागतात, व पुष्कळ ठिकाणीं घेतलेला अनुभव एकत्र करून त्यावरून अनुमान बाधावें लागतें. हे सर्व परिश्रम आर्य वैद्यांनीं पूर्वी घेतले असून त्यास ज्या ज्या गोष्टी समजल्या त्या त्यांनीं आपल्या ग्रंथांतून दाखल केल्या आहेत. अमुक रोगावर अमुक औषध चालतें ही गोष्ट अनुभवाने समजतें; व रोग बरे करणें हा वैद्य शास्त्राचा मुख्य उद्देश असल्यामुळें तसा अनुभव ज्या ज्या मानानें अधिक त्या त्या मानानें

* केसरी-ता. ५ मे १८९६.

ते तें वैद्यशास्त्र अधिकाधिक योग्यतेचें समजतात. अशा दृष्टीनें पाहिलें म्हणजे आमचें जुनें वैद्यक अद्यापही अत्यंत उपयुक्त आहे; व आपल्या देशास व राहणीस सोईचें असल्यामुळें आम्हीं आपलें जुनें वैद्यक बुद्धि न देण्याबद्दल होईल तितकी खटपट करणें हें आमचें कर्तव्य होय. चांगल्या विचारि इंज्र डॉक्टरांचेही असेंच मत आहे; व अलीकडे हिंदू डॉक्टरासही असेंच वाटू लागलें आहे. शास्त्रीय विषयांचें अध्ययन करतेवेळीं प्राच्य व पाश्चात्य हा भेद न मानितां सत्याचेच मधुकरवृत्तीने ग्रहण केलें पाहिजे हे तत्त्व आम्हास मान्य आहे. “ म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितं । ऋषिवत्ते हि पूज्यंते किं पुनर्देवविद्विजाः ॥ ” असें जें गीताचार्यानीं ज्योतिषाबद्दल म्हटलें आहे तोच न्याय वैद्यकासही लागू आहे. वर सांगितलेलीं वैद्यकीस उपयुक्त असलेलीं शास्त्रे अथवा कोयनेल, सॅटोनाईन, पोप्ट्याश आयोडाईड वगैरे विशिष्ट रोगांवर हटकून लागू पडणारी औषधेही आमचें वैद्यशास्त्र सुधारणे असल्यास त्यांत अवश्य सामील केलीं पाहिजेत. त्याचप्रमाणें होमिओप्याथिसारख्या ज्या औषध वापरण्याच्या व देण्याच्या काहीं पद्धति अलीकडे निघाल्या आहेत त्यांचाही शोध व विचार करून त्यांचा समावेश आपल्या शास्त्रात केला पाहिजे. ग्रीन इलेक्ट्रिसिटी गुढग्यावर किंवा कपाळावर लाविल्यानें तेथील दुःख राहतें आणि एखादी वनस्पती कपाळावर बांधली असतां तिच्या योगानें ताप जातो असें जुन्या वैद्यकांत सांगितलें असलें तर तेवढें मात्र अविश्वसनीय अशाप्रकारची मनाची वृत्ती ठेवून उपयोगी नाही. आग्रहास शास्त्रीय शोधात जागा नाही. अनुभवाच्या व परीक्षणाच्या कसोटीस उतरेल तीच गोष्ट असल्या प्रकरणीं खरी मानावी लागते. आमच्या जुन्या वैद्यकास ही गोष्ट पूर्णपणे संमत होती. व औषधांच्या गुणदोषांचें हेतूनीं परीक्षण करूं नये असे त्यानीं स्पष्ट म्हटलें आहे. औषध सूक्ष्म प्रमाणानें द्यावें किंवा तोळ्या माशानें द्यावे याबद्दलही त्यांचा कांहीं आग्रह नव्हता. सहस्रपुटी अभ्रकास जी हजार पुटे बसतात त्यामुळें जर त्यांचा गुण वाढत असेल तर प्रत्येक पुटाच्या नुसत्या वासानेंच कार्य करून घेण्याची युक्ति जेथें अनुभवानें सिद्ध झाली तेथें ती ग्रहण करण्यास आमच्या जुन्या वैद्यांनीं मागेंपुढे पाहिलें नाही असेंच म्हणावें लागते. साराश, कोणत्याही मताचा आग्रह न धरितां अनुभवानें आणि परिक्षेनें जें जें उत्तम ठरेल त्याचें ग्रहण करून आपलें शास्त्र परिपूर्णतेस आणणें हें तत्त्व आमच्या पूर्वजांस पूर्णपणें माहित होते; व या तत्त्वास धरूनच हजारों वर्षेपर्यंत एकसारखे परिश्रम करून ज्या वेळीं इतर राष्ट्रे अज्ञानदशेत होती अशा वेळींही आपल्या शास्त्रांचें त्यांनीं महत्त्व राखिलें होतें; परंतु इंज्रजी राज्यास सुरवात झाल्याबरोबर जो अभ्यासक्रम सुरू झाला त्यामुळें आमच्या जुन्या लोकानीं मिळविलेल्या सर्व ज्ञानाचें मातेरें होण्याचा प्रसंग आला आहे. मेडिकल कॉलेजांतून जे डॉक्टर बाहेर पडतात त्यांस टिक्कर जिंजर ऐवजी सुंटीचा काढा घ्या, अगर जालप अगर मॅग्ने-

शियाच्या बद्दल सोनामुखी घ्या असें सुद्धा रोग्यास सांगता येत नाही, ही मोठ्या दुर्दैवाची गोष्ट आहे. कोणत्याही स्वतंत्र राष्ट्रांत कोणत्याही शास्त्राचा अशा अर्धवट रीतीने अभ्यास होत नसेल. औषधें सर्व विलायतेहून तयार होऊन यावीं, नवीन शोध सर्व विलायतेस व्हावे आणि आमच्या पदवीधर डॉक्टरांनी कागदावर दोन ओळी खरडून देऊन रांग्यास ट्रेचरकडे जाण्यास सांगावे हा सर्व परवशतेचा परिणाम आहे; व ज्याला ज्याला म्हणून राष्ट्रीय वैद्यशास्त्र हवें असेल त्यानें हा मार्ग सोडून देऊन जुन्या आर्य वैद्यकाच्या पायावर हल्लींच्या वैद्यकाची इमारत उभारण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे. आमच्या युनिव्हर्सिटींची हल्ली जी स्थिति आहे त्या स्थितींत युनिव्हर्सिटीकडून अगर सरकाराकडून असल्या कामास फारसें उत्तेजन मिळेल असे वाटत नाही, एकाददुसऱ्या डॉक्टराखेरीज करून बहुतेक इंग्रज डॉक्टरांच्या मते त्याचें वैद्यशास्त्र पूर्णतेस आले आहे; व कोटें सुधारणा करणें असल्यास प्रथमतः त्या ठिकाणीं इंग्रजी पद्धतीप्रमाणे दवाखाना काढला म्हणजे आपलें काम झालें असें ते समजतात. हिंदुलोकाचें वैद्यशास्त्र कितपत उपयोगाचें आहे इकडे त्यांपैकी कोणीही लक्ष देत नाही. या असल्या दवाखान्यांनीं आमच्या देशाचा कितपत निभाव लागणार आहे याचा विचार आमच्या लोकांनींच केला पाहिजे. सरकारची मदत आज मिळणार नाही खरी; पण वैद्यशास्त्राचीं जीं मोठमोठीं विद्यालये आज मुंबईत चाललीं आहेत तीं केवळ सरकारच्याच मदतीनें चाललीं आहेत असें नाहीं. सर जमशेटजी जिजिभाई, गोकुळदास तेजपाल, वगैरे गृहस्थांनीं लाखो रुपये देऊन मोठमोठ्या दवाखान्याचे खर्च कायमचे चालविले आहेत; व मुंबईतील काहीं मेडिकल ग्रॅज्युएटांनीं स्वार्थाचा त्याग करून प्राच्य व पाश्चात्य वैद्यक एकत्र करून नवें हिंदुवैद्यक करण्याच्या उद्देशाने जर एक नवें व खाजगी कॉलेज काढिलें तर मुंबईतील हल्लींच्या श्रीमंत गृहस्थांकडून देशी दवाखाने काढण्यास पुनः मोठमोठ्या देणग्या मिळणार नाहीत असें नाहीं. आतां एम्. डी. पास झालेल्या महावैद्यास असलीं कामें करण्यास एखाद्या सामान्य बी. ए.पेक्षां पुष्कळ स्वार्थत्याग करावा लागेल हें खरें आहे, पण कामही त्याचप्रमाणे होणार आहे हें लक्षांत आणून आपले नुकसान किती होतें इकडे नजर पुरवितां कामा नये. डॉ. कुंटे, डॉ. देशमुख, डॉ. बहादुजी, डॉ. भालचंद्र यांनीं सगळा जन्म पैसे मिळविण्यातच घालवावा; व दहा हजार झाले कीं पंचवीस हजार, व पंचवीस हजार झाले कीं एक लक्ष मिळविण्याची हांव धरावी असा इश्वरी संकल्प खचित नसावा अशी आमची समजूत आहे; व आमच्या वैद्यकाचें कधीं पुनरुज्जीवन होणें असेल तर ते यांच्यासारखी मंडळी स्वार्थत्याग करील तेव्हाच होईल. बुद्धीनें अगर माहितीनें आमचे नवीन शिकलेले डॉक्टर युरोपियन डॉक्टरांपेक्षां कमी आहेत असें नाहीं. मग आम्ही अजून वैद्यशास्त्रासंबंधानें इतकें परावलंबी कां आहों याचा विचार केला तर त्याचें एकच उत्तर देतां येईल. तें हें कीं, आमच्या सर्व विद्वान् डॉक्टरास अहोरात्र रोग्यास

औषधे देऊन द्रव्यसंचय करण्यापलीकडे आपलें कांहीं कर्तव्य आहे असें अद्याप पुरतेपणीं वाटूं लागलें नाहीं. या समजुतींत थोडथोडा फेरफार होत चालला आहे हें आम्हांस माहित आहे; पण त्याची मजल जावी तितकी अद्याप गेलेली नाही.

परंतु पदवीधर देशी डॉक्टरच्या हातून ज्या गोष्टीस प्रारंभ व्हावयास पाहिजे होता ती गोष्ट करण्याची सुरवात नेटिव विद्यार्थ्यांनी प्रथमतः केली हें त्यास भूषणास्पद आहे. पनवेलीस वे. शा. कृष्णशास्त्री पुराणिक ह्यांनी आपल्या आर्य औषधालय या नांवाच्या एका मोठ्या कारखान्याचा नुकताच उत्सर्ग करून त्याला सार्वजनिक स्वरूप दिलें; व तो निरंतर चालून त्यापासून होणारा नफा आर्य-वैद्यकाचें पुनरुज्जीवन होण्याच्या कामी लागेल अशी योजना केली आहे. कृष्ण-शास्त्री पुराणिक हे कांहीं मोठे धनाढ्य नाहीत. तथापि त्यांनीं धैर्य करून जो हा कित्ता घालून दिला तो चांगल्या वैद्यांनीं व डॉक्टरांनीं गिरविण्यासारखा आहे. आपल्या कारखान्यापासून जें उत्पन्न होईल त्यापैकी आपल्या निर्वाहास लागेल तेवढेंच घेऊन बाकी सर्व सार्वजनिक कामाकडेच द्यावयाचें यापेक्षां जास्त स्वार्थ-त्याग कोणता ? आमचे कित्येक हुषार डॉक्टर व वैद्य यांनीं जर या मार्गाचा स्वीकार केला असता तर आज जी काही इस्टेट कित्येक रांडापोरांस खावयास मिळत आहे ती मिळाली नसती. गेल्या पंधरवड्यात मुंबईसही दुसरी अशाच तऱ्हेची गोष्ट घडून आली. वैद्य प्रभुराज जीवनराम व त्यांचे एल्. एम्. अँड एस. पास झालेले चिरंजीव डॉ. पोपटराम प्रभुराम यांच्या परिश्रमानें मुंबईस आर्य वैद्यकाच्या पुनरुज्जीवनार्थ एक विद्यालय काढण्याचे ठरलें असून त्या कामाकरता कांहीं थोर डॉक्टर, वैद्य व इतर गृहस्थ यांची एक कमिटी नेमण्यांत आली आहे. सर दिनशा पेटीट यांनीं या कामाप्रतीत्यर्थ दहा हजार व शेठ चतुर्भुज मुरारजी यांनीं सात हजार रुपये तूर्त दिले आहेत. विद्यालयाचा अभ्यासक्रम ठरलेला असून पहिलीं तीन वर्षे वनस्पतीशास्त्र, रसायनशास्त्र, वाग्भट वगैरे शिकून जो परीक्षा पास होईल त्यास वैद्य ही पदवी देण्यांत येईल. दुसऱ्या परीक्षेस शुश्रुत आहे व ही परीक्षा जो पास होईल त्यास वैद्यराज ही पदवी मिळावयाची; व पुढें चरक व शुश्रुत यात परीक्षा देऊन आर्य वैद्यकावर स्वतंत्र ग्रंथ लिहिल्यास त्यास धन्वंतरी हें पद मिळेल. डॉक्टर भालचंद्र, देशमुख, काणे वगैरे डॉक्टरांनीं या शाळेस मदत देण्याचें कबूल केलें आहे; व शंभर, पांचशें अगर हजार याप्रमाणें जे पैसे देतील ते या शाळेचे आश्रयदाते मानले जातील. विद्यार्थ्यांस अनुभवीक ज्ञान मिळावें म्हणून शाळेस एक धर्मार्थ दवाखाना जोडणार आहेत. येथपर्यंत योजना ठीक आहे. पण आमच्या मतें त्यांत आणखी एक दोन गोष्टींची भर पाहिजे आहे. पहिली गोष्ट अशी की, डॉ. भालचंद्र, देशमुख यांच्यासारख्या गृहस्थांनीं ही संस्था अंगावर घेऊन चालविली पाहिजे; आणि दुसरी ही की, यांत एल्. एम्. अँड एस.

परीक्षा पास झालेल्या लोकांस थोड्या वेळाचा अभ्यासक्रम ठेवून वैद्य पदवी मिळविण्याची सवड ठेविली पाहिजे. किंबहुना आमच्यामते ज्याप्रमाणे ग्रांट मेडिकल कॉलेज आहे त्याप्रमाणे हे एक प्राच्य वैद्यकाच्या पायावर आग्ल व प्राच्य वैद्यक शिकविण्याचे एक भव्य कॉलेज झाले पाहिजे. ही कल्पना मागे आम्ही एकदां प्रसिद्ध केलीच होती; परंतु पुन्हा प्रसंग आला म्हणून केली आहे. हल्लीचा उपक्रम इतक्या योग्यतेचा नाही. तथापि “अल्पारंभाः क्षेमकराः” या न्यायाने आम्ही त्याचे मनःपूर्वक अभिनंदन करतो. हाच प्रयत्न जर पुढे अशाच रीतीने चालू राहिला तर त्यापासून लवकरच आपणास इष्ट तीं फळे प्राप्त होतील अशी आम्हास आशा आहे. आर्य वैद्यकाचे पुनरुज्जीवन करण्यास आर्य वैद्यकाचा अभ्यास तर पाहिजेच; परंतु त्याजबरोबर वर निर्दिष्ट केलेल्या आधुनिक शास्त्रांचे अध्ययन, परीक्षण आणि शोध हीही कायम राहिली पाहिजेत. यासंबंधाने दुसरी उपयुक्त संस्था म्हटली म्हणजे म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डे यांनी काढिलेले देशी धर्मार्थ दवाखाने हे होत. पुण्यास अशा तऱ्हेचा म्युनिसिपालिटीने काढलेला एक दवाखाना आहे; व त्याच नमुन्यावर इतर ठिकाणी असेच दवाखाने निघतील तर त्यापासून देशी वैद्यकास बरेच उत्तेजन मिळेल. कसेही झाले तरी आमचेकडील सुशिक्षित, विद्वान् डॉक्टरांनी या कामी मन घालून केवळ परोपकारबुद्धीने व जुन्या आर्य वैद्यकाचे पुनरुज्जीवन करण्याच्या हेतूने या कामी आपले सर्वस्व खर्च केल्याखेरीज आमचा हेतु कधीही पूर्णपणे तडीस जावयाचा नाही. करितां पुनः एकवार हे काम हातीं घेण्याबद्दल त्यास व अशा कृत्यास पूर्ण मदत करण्याबद्दल मुंबईच्या व बाहेरच्या धनिक लोकांस विनंती करून हा लेख संपवितो.

ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या.

प्रि. महादेव शिवराम गोळे एम् ए. यांनी ब्राह्मण आणि त्याची विद्या या नांवाने प्रसिद्ध केलेला ग्रंथ आमचेकडे अभिप्रायास येऊन बरेच दिवस झाले; परंतु कांहीं कारणामुळे त्यांवर आम्हांस आपला अभिप्राय आजपर्यंत देता आला नाही. प्रि. गोळे यांनी प्रस्तावनेत लिहिल्याप्रमाणे त्यांच्यामते पथ्य परंतु अप्रिय अशा कांहीं गोष्टी ग्रंथाच्याद्वारे सांगण्याचा हा पहिलाच प्रसंग आहे; व ते काम कोणत्याही प्रकारचा पडदा न ठेविता प्रि. गोळे यांनी बजाविले याबद्दल त्याचे आमच्या लोकांनी आभार मानिले पाहिजेत. एका मोठ्या खाजगी विद्यालयाचे प्रधानाध्यापक या नात्याने, प्रि. गोळे यांचा पुढील पिढीच्या शारीरिक व मानसिक स्थितीचा अनुभव बराच मोठा आहे, व त्यांनी हातीं घेतलेल्या कामासंबंधी त्यांच्या सूचना पुष्कळ विचारार्ह आहेत, हे वाचकांस कळविण्यास

आमच्या शिफारशीची जरूर नाही. हल्लींचा शिक्षणक्रम बेलगामी, बऱ्याच ठिकाणीं निरुपयोगी, अव्यवस्थित आणि अविचाराचा आहे ही गोष्ट आम्हांसही मान्य आहे. आमच्या देशातील शिक्षणक्रम प्रथमतः ठरवितांना पाश्चात्य ज्ञान पाश्चात्य भाषेच्याद्वारे इकडील लोकांस शिकवावयाचें आहे ही गोष्ट ज्या अधिकाऱ्यांनीं हा शिक्षणक्रम ठरविला त्यांच्या पुरी लक्षांत आली नव्हती; त्यामुळे आणि पंचवीस तीस वर्षांपूर्वी निरनिराळ्या प्रतीच्या शाळांतील शिक्षणक्रमाकडे विचारी विद्वान् पुरुषांचे जितकें लक्ष जावे तितके गेलेलें नसल्यामुळे, इंग्रजी राज्याच्या स्थापनेनंतर लवकरच जो आमच्या शाळांतून शिक्षणक्रम ठरविण्यांत आला तो असावा तितका सयुक्तिक, मनोरंजक अगर इष्ट हेतू साध्य होण्यास अनुकूल नाही यांत कांहीं नवल नाही. जर्मनी, इंग्लंड, अमेरिका वगैरे देशांतून हल्लीं ज्या नव्या नव्या शिक्षणपद्धति निघत आहेत त्यांचें कांहीं अंशीं तरी आम्ही अनुकरण केल्यानें आमचा शिक्षणक्रम सुगम होईल इतकेंच नव्हे, तर त्यापासून लहान मुलांच्या मनावर जे अनिष्ट परिणाम घडतात तेही घडून येणार नाहीत हें निर्विवाद आहे. प्रि. गोळे यांच्या पुस्तकांत जर कांहीं ग्राह्यांश असला तर तो येवढाच होय; व त्याचा प्रथम उल्लेख करण्याचें कारण असें कीं, या पुस्तकापासून जो कांहीं फायदा होण्याचा संभव आहे त्याची वाचकांस पहिल्यानेंच ओळख व्हावी. प्रि. गोळे यांच्या लेखणीची दृष्टि ग्रंथकर्तृत्वाच्या भरांत बऱ्याच दुसऱ्या विषयांकडे वळलेली आहे. विद्यार्थ्यांच्या छातीची रुंदी, “ डू ” या क्रियापदाचे उपयोग कसे शिकवावें, प्रमदान व त्यात देवालय असण्याची आवश्यकता, आकाशांतील तारे, काग्रेस आणि कान्फरन्स, सुधारक व गैर सुधारक इत्यादि सर्व लहानमोठ्या गोष्टींवर साधेल तेव्हां व वाटेल तशी टीका करण्यास प्रि. गोळे यांनीं यत्किंचितही कसूर केलेली नाही. त्यामुळे कधीं एका पक्षास तर कधीं दुसऱ्यास, व कधीं कधीं दोहोंसही नांवें ठेवण्यास त्यांस चांगली सवड सांपडली आहे. केव्हां केव्हां तर आपण मागें काय लिहिलें याचाही त्यास विसर पडला आहे. ब्राह्मणाखेरीज इतर जातींचीं मुले अगर ब्राह्मणांतील इंग्रजी न शिकणाऱ्यांचीं मुले इंग्रजी शाळेंत शिकणाऱ्या मुलां-इतर्कींच दुर्बल व निरुत्साह असतात असें एके ठिकाणीं म्हटलेले आहे; व दुसऱ्या ठिकाणीं त्यांच्या उलट सर्व दुर्बलता अगर निरुत्साह इंग्रजी शिकलेल्या ब्राह्मण मुलांच्याच कपाळीं मारलेला आहे. राजकीय चळवळींत पडण्यापासून कांहीं एक फायदा नाही, फार झालें तर ही एक गंमत आहे असा एके ठिकाणीं अभिप्राय आहे; व दुसरीकडे परवशतेमुळे कुटुंब भ्रंशपूर्णतेकडे पुष्कळ नोकरांस आपलें कर्तव्य कांहीं आहेसें वाटत नाही असें म्हटलें आहे. हे व अशाच तऱ्हेचे दुसरे विरोध हा ग्रंथ जे जरा लक्षपूर्वक वाचतील त्यांच्या नजरेस येतील; किंबहुना ग्रंथाचीं पानें जसजशी जास्त वाचीत जावीं तसतसा ग्रंथकार विषयांतर करीत आहे असा जास्त जास्त ग्रह होत जातो; व सर्व ग्रंथ वाचून खालीं ठेविल्यावर

आपण कोठून निघालों व कोठें आलों याचा विचार करितां ब्राह्मणांच्या गरीब मुलांच्या अरुंद छातीच्या कारणान्चा शोध करितां आपण अचूक प्रमदावनांत येऊन पडलों असें नजरेस येतें; व सरतेशेवटीं तर आशावंत आणि अनुभवी हीं दोन नवीं नांवे धारण केलेले सामाजिक सुधारणेचे पक्ष आपल्यापुढें उभें राहतात आणि त्यांची भेट होऊन ग्रंथाची समाप्ति होते. तात्पर्य, ब्राह्मणवर्गाचा शारीरिक व मानसिक ऱ्हास व त्याचीं कारणें याचा काहीं तरी प्रि. गोळ्याच्यासारखे अनुभविक गृहस्थ व्यापकदृष्ट्या विचार करतील अशा दृष्टीनें दोन तीनशें पांनें वाचण्याचे जे श्रम वाचक घेतो ते बहुतेक निष्फळ झालें अशा समजुतीनें ग्रंथ खालीं ठेवावा लागतो. प्रि. गोळे यांचा शिक्षणक्रमाचा अनुभव बराच विस्तृत आहे हें व सांगितलेंच आहे; परंतु असल्या एकदेशीय अनुभवानें त्यांनीं हातात घेतलेल्या विषयाची मीमासा हाणें अशक्य आहे. एका जुन्या ग्रंथात अशी गोष्ट आहे कीं, पांचसहा आंधळ्याची टोळी हत्ती काय पदार्थ आहे हें पाहण्यास निघाली मोठ्या शिकस्तीनें त्यांची आणि एका हत्तीची गाठ पडली. परंतु हत्तीचे विशाल स्वरूप नेत्रांनीं एकदम आकलन करण्याची विचान्यास शक्ति नसल्यामुळे त्यांनीं निरनिराळ्या दिशेनें आपल्या स्पर्शेंद्रियांनींच हत्तीच्या स्वरूपाचा बोध करून घेण्याचा प्रयत्न केला. ज्याचे हातांत पाय सापडला होता तो हत्ती खावासारखा आहे म्हणून म्हणूं लागला; व ज्याचे हातास कान लागले तो उलट हत्ती सुपासारखा असतो असें प्रतिपादन करूं लागला. या दोघाचा तंटा चाललाच होता; इतक्यांत ज्याच्या हातां दांत लागले होते तो हत्ती खुंट्यासारखा आहे असें सांगूं लागला; व पुच्छग्राही मनुष्य खुंटीपेक्षा दोरखंडाशीं हत्तीचे अधिक साम्य आहे असा स्वानुभवावरून मोठ्या आग्रहानें इतरांशीं वाद करूं लागला. प्रि. गोळे यांची प्रकृत विषयासंबंधानें वरील आधळ्यांपैकीं कोणार्शी तरी तुलना केल्यास ती विशेष गैर-शिस्त होईल असें आम्हांस वाटत नाहीं. वर्गांत मुलांस शिकवितांना त्यांच्या छातीच्या अरुंदपणाचा अगर उंचीच्या कमीपणाचाच ज्यांस अनुभव आलेला आहे, अथवा जीं मुलें खालच्या यत्तून सतेज दिसतात तींच वर आली म्हणजे कशीं निस्तेज होतात यांचा ज्यांस प्रत्यही अनुभव घेण्याची संधि आहे व या पलीकडे विचारदृष्ट्या किंवा शारीरिकदृष्ट्या ज्यांनीं कांहीं पाहिलें नाहीं त्यांच्या मनांत ब्राह्मणांच्या शारीरिक आणि मानसिक ऱ्हासाचा व शिक्षणक्रमाचाच तेवढा संबंध यावा व त्या व्यतिरिक्त ह्याचें दुसरें कांही निदान असेल असें वाटूं नये हें अगदीं स्वाभाविक आहे. ब्राह्मण शब्दांत प्रि. गोळे म्हणतात त्याप्रमाणें सर्व कारकुनी पेशाच्या जातींचा संग्रह केला तर इंग्रजी होण्यापूर्वीं या वर्गाची महाराष्ट्रांत जी स्थिति होती त्यापेक्षा हल्लींची त्यांची स्थिति निकृष्ट आहे हें कोणीही कबूल करील; व या महत्त्वाच्या विषयाकडे प्रि. गोळे यांनीं लोकांचें लक्ष लावून दिलें याबद्दल त्यांचे आभारही मानिले पाहिजेत; परंतु प्रि. गोळे यांनीं या निकृष्ट स्थितीचें जें निदान केलें आहे तें मात्र आम्हांस कबूल नाहीं. ब्राह्मण

समाजासच काय, पण सर्व हिंदुसमाजास आज एक प्रकारची कुदशा प्राप्त झालेली आहे; व तिचा विचार न करितां केवळ ब्राह्मणांच्या निकृष्टावस्थेचें किंवा न्हासाचें निदान ठरविणें म्हणजे वर सांगितल्याप्रमाणें पुच्छग्राही अथवा पादग्राही आंध-
 व्यानै हस्तीच्या स्वरूपाची मीमांसा करण्यासारखे एकदेशीय व चुकीचें आहे. आमच्याकडे हल्लीं चालू असलेला शिक्षणक्रम पुष्कळ सुधारण्यासारखा आहे ही गोष्ट आम्हांसही मान्य असल्याबद्दल वर आम्ही लिहिलेंच आहे; पण ब्राह्मण-
 ज्ञातीचा न्हास एवढ्यानेच होत आहे असे म्हणण्याचें साहस करून ग्रंथास व्याप-
 कता आपण्याचा जो उपहासास्पद प्रयत्न प्रि. गोळे यांनीं केला आहे तो न करितां हल्लींचा शिक्षणक्रम गैरसोईचा व फुकट त्रासाचा आहे. करितां तो कोणत्या
 रीतीनें सुधारतां येईल येवढ्याच प्रश्नाचा जर प्रि. गोळे यांनीं विचार केला असता तर त्यांचा ग्रंथ अधिक संबद्ध, मनोरंजक, शिस्तवार, अनुभवी व उपयुक्त
 झाला असता; किंबहुना त्या विषयावर प्रि. गोळे यांचे विचार लोकांमध्ये अधिक प्रमाणभूत मानिले गेले असते असें आम्हांस वाटतें. पण ही विषयमर्यादा उलंघन
 करून ब्राह्मणज्ञातीच्या निकृष्टावस्थेचें प्रधान कारण हल्लींचा शिक्षणक्रमच आहे असें
 सिद्ध करून देण्याचा ग्रंथकारानी जो आव घातला आहे त्यामुळे “ प्रांशुलभ्ये फले
 मोहादुन्दाहुरिव वामनः ” अशी त्याची स्थिति झाली आहे. (ब्राह्मणाची त्यांत
 सर्व कारकुनी पेशाच्या ज्ञातींचा समावेश केलेला आहे) स्थिति हल्लींच्या
 राज्यांत पूर्वापेक्षां कमी योग्यतेची आहे हें सिद्ध करावयास विद्यार्थ्यांच्या वज-
 नाचें किंवा उंचीचें प्रमाण नको आहे. त्याचप्रमाणें या निकृष्टावस्थेचीं कार-
 णेही शोधून काढून त्यांच्यापैकीं जीं परिहार्य असतील त्यांचा परिहार करण्याच्या
 उद्योगास आपण लागलें पाहिजे, हेंही आतां बहुतेक लोकांस वाटू लागले आहे.
 प्रि. गोळे यांसारखा विचारारी व विद्वान् मनुष्याचा ग्रंथ आम्हीं प्रथम हातीं
 घेण्यास आमची ही वरील समजूतच कारणीभूत झाली; पण ग्रंथ समग्र वाचल्या-
 नंतर एक प्रकारची निराशा झाली, आणि ‘ स्वजातिर्दुरतिक्रमा ’ अशी जी पंच-
 तंत्रांत एक म्हण आहे त्याप्रमाणें शिक्षकांच्या घंघ्रांत ज्यांचे आयुष्य गेलें त्यांच्याच
 एकदेशीय दृष्टीनें या महत्त्वाच्या प्रश्नाचा या ग्रंथांत विचार झालेला आहे; व
 त्यामुळेच ब्राह्मणांच्या न्हासाचे बीज हल्लींच्या दुष्ट शिक्षणक्रमांत आहे असा
 सिद्धांत प्रि. गोळे यांनीं काढला असावा असें वाटू लागलें. प्रि. गोळे यांनीं
 पहिल्या एकदां भागांत विषयास स्वरूप देण्याचा थोडाबहुत प्रयत्न केला आहे
 खरा; पण तो अगदींच अल्प व कोत्या विचाराचा आहे. पहिल्या भागांत
 विद्यार्थ्यांच्या शारीरिक न्हासाचीं वर वर दिसणारीं कारणे या सदराखालीं
 अ, ब, क आणि ड अशा चार कारणांचा उपन्यास करून पैकीं तीन स-
 युक्तिक नाहींत असें दाखवून शेवटीं चौथें म्हणजे शिक्षणक्रमांतील दोष हेंच
 खरें कारण आहे असें मोठ्या युक्तीनें अनुमान केलेलें आहे. हा अनुमानविधि तर्क-
 शास्त्रदृष्ट्या अगदीं बरोबर आहे. एक कार्य घडून येण्यास चार कारणे असू शकतात असें

एकदां गृहीत धरलें व चोहोंपैकीं तिहींची अयथार्थता दाखविली म्हणजे युक्लिडच्या पद्धतीनें चौथें कारण सिद्ध होतें अशी प्रि. गोळे याच्या मनाची यथार्थ समजूत असल्यामुळे त्यांनीं हा अनुमानविधि पुस्तकांत घातला असावा हें आम्ही जाणून आहों; व या अनुमानपद्धतींत चूक काढणे अशक्य आहे हेही आम्हांस माहित आहे. चोहोंपैकीं तीन कारणांचें निरसन झाल्यानें चौथें कारण आपोआपच फलित होतें हें खरें आहे. प्रश्न काय तो येवढाच कीं, कारणाची संख्या चार आहे कीं चोहोंपेक्षा अधिक आहे, चार असल्यास प्रि. गोळे याचें अनुमान बरोबर आहे; व नसल्यास ज्या पायावर इमारत उभारली तो पायाच मजबूत नसल्यामुळे शेवटचें अनुमान एक देशीयत्वाच्या दोषानें दुष्ट झालेलें आहे असें म्हणणें भाग पडतें. ब्राह्मणवर्गाच्या न्हासाचें खरें कारण बालविवाहादि रूढ चाली होत असें जें सुधारकवर्गाचें म्हणणें आहे ते एकदेशीय म्हणून प्रि. गोळे यांनीं ज्याप्रमाणेंच सदर न्हासाचें कारण दुष्ट शिक्षणक्रम असें प्रि. गोळे यांचे मत आहे तेंही आमच्या दृष्टीनें एकदेशीय म्हणून त्याज्यच आहे. हा शिक्षणक्रम होईल तितका सुधारणें हें प्रत्येकाचें कर्तव्यकर्म आहे; व तो सुधारण्याकरिताच जर प्रि. गोळे यांनीं प्रस्तुतचा ग्रंथ लिहिला असेल, व त्याबद्दलचा विचार करण्यास लोकांनीं लागवें म्हणून ब्राह्मणवर्गाच्या न्हासाचें मुख्य कारण शिक्षणक्रम आहे असा बाजू दाखविला असेल तर त्याबद्दल आमचे काहीं म्हणणें नाहीं. शिक्षणक्रम सुधारण्याच्या कामी त्याची आमची एकवाक्यता आहे; मात्र त्यामुळेच सद्दरील न्हास झाला असें आम्हांस वाटत नाहीं. आमच्या येथील शिक्षणक्रम पंधरा वीस वर्षांपूर्वी इंग्लंड, जर्मनी, अमेरिका वगैरे राष्ट्रांतही शेकडों वर्षे चालू होता; तो सुधारण्याची कल्पना पचवीस तीस वर्षांतली आहे, व तीही युरोपातसुद्धा अद्याप पूर्णपणें अमलांत आली नाहीं. असे जर आहे तर तो शिक्षणक्रम युरोपात शेकडों वर्षे चालू नसूनही ज्यानें तेथील लोकांच्या बुद्धीचा न्हास झालेला नाहीं, त्याच शिक्षणक्रमाने तीस चाळीस वर्षांत ब्राह्मणवर्गाच्या शरीराचे व मनाचें पीठ झालें हें म्हणणें असमंजसपणाचे आहे. साराश, प्रि. गोळे यांनीं या मोठ्या महत्त्वाच्या प्रश्नाचा अगदीं एकदेशीय विचार केला आहे; व हाच त्याच्या ग्रंथावर मोठा आक्षेप आहे. ब्राह्मणाखेरीज इतर वर्गांतील लोकांचा शारीरिक व मानसिक न्हास होत आहे की नाहीं, व होत असल्यास तो कोणत्या कारणानें होतो, इतर प्रांतांतील अगर इलाख्यातील ब्राह्मणवर्गाची इल्लीं काय स्थिति आहे; तिची व आमच्या स्थितीची तुलना करितांना आमच्या न्हासाचीं जीं कारणें दिसतात तीं सामान्य आहेत किंवा आम्हांसच विशिष्ट रीतीने लागू पडतात; आमची पूर्व स्थिति इतर इलाख्यातील ब्राह्मणांच्या पूर्वस्थितीपेक्षा अधिक योग्यतेची होती कीं काय, इत्यादि पुष्कळ महत्त्वाचे प्रश्न प्रस्तुत प्रकरणां उपस्थित होतात; पण त्यांपैकीं एकाचाही प्रि. गोळे यांनीं विचार केलेला आमच्या

आढळण्यांत आला नाही. या प्रश्नाचें महत्त्व किती आहे हें पुढील खेपेस दाखवूं. आज जें विवेचन केलें येवढ्यावरून इतकें दिसून येईल कीं, ब्राह्मणांच्या न्हासास सुधारक बालविवाहाचें जसें कारण दाखवितात तद्वत्तच शिक्षक लोक त्याचा दोष शिक्षणक्रमाकडे देतात; व दोहांमध्येही एकदेशीयत्वाचा दोष सारख्याच मानानें बसत आहे असें म्हटलें तरी चालेल. हा दोष टाळून व्यापक दृष्टीनें या प्रश्नाचा कसा विचार केला पाहिजे हें पुढील खेपेस सांगूं.

(नंबर २.)

प्रि. गोळे यांनी आपल्या ग्रंथांत केलेले ब्राह्मणसमाजाच्या निकृष्टावस्थेचें निदान एकदेशीय आहे असें गेल्या अंकी दाखविलेंच आहे. आज हे निदान योग्य रीतीनें ठरविण्यास कोणत्या कोणत्या गोष्टींचा विचार केला पाहिजे त्याचें विवेचन करण्याचा हेतु आहे. एखादी इमारत सर्वच खचली असता ज्याप्रमाणें त्या इमारतीचा एखादा विशिष्ट खावच का खचला याचा स्वतंत्र रीतीनें उद्घाटन करणें अशक्य आहे त्याप्रमाणेंच प्रस्तुत विषयाची स्थिति आहे. प्रि. गोळे यांनी सामान्यतः महाराष्ट्र देशातील ब्राह्मण म्हणजे पादरपेथे उर्फ विद्याव्यासंगी वर्गाच्या निकृष्ट स्थितीचें वर्णन केलें आहे. त्यांच्या म्हणण्यातील सारांश असा आहे कीं, इंग्रजी राज्यापूर्वी अगर अव्वल इंग्रजींत ज्याप्रमाणें उत्साहयुक्त, धीराचे व उमेदीचे कर्ते पुरुष हाऊन गेले तसे आता कोठें दिसत नाहीत. जो पहावा तो शरीरानें आणि बुद्धीनें खुरटलेला. कोणास एखादा मोठा राजवाडा, रेल्वे अगर पूल बांधावयाचा असल्यास युरोपियन इंजिनियर आणावा लागतो; कोणी मोठा मनुष्य आजारी पडला की, बोलाव युरोपियन डॉक्टर, आणि एखादें हिमतीचें काम करावयाचें असल्यास, मग तें शास्त्रीय शोधाचे असो, शिक्षकाचें असो वा सेनानायकाचे असो, त्यासही युरोपियनांचेंच साहाय्य घ्यावें लागतें. प्रि. गोळे यांनी जी ही स्थिति वर्णन केली आहे ती अगदीं बरोबर आहे. या वस्तुस्थितीबद्दल त्यांचा आमचा मतभेद नाही; परंतु आमच्यामते या उत्साहशून्यतेची कारणे मात्र अगदीं निराळी आहेत. प्रि. गोळे यांच्या दृष्टीच्या टप्प्यांत तीं का आलीं नाहीत हें आम्हास सागतां येत नाही. तथापि खाली लिहिलेल्या गोष्टींवरून येवढें लक्षांत येईल कीं, ब्राह्मणवर्गाचा न्हास या महत्त्वाच्या विषयाचें जितक्या सूक्ष्म व विविध दृष्टीनें अवलोकन करावयास पाहिजे होतें तितकें प्रि. गोळे यांनी आपल्या ग्रंथात केलेलें नाही.

वर सांगितलेला इमारतीचा दृष्टांत घेऊन पाहिला तर असें नजरेस येईल कीं, सर्वच इमारतीचा पाया खचला असता त्यामुळें प्रत्येक खांबावर जो परिणाम झाला तो लक्षांत घेऊन, मग त्याहूनही खांब विशेष खचलेला दिसत असल्यास मग त्याचें विशिष्ट कारण शोधून काढणें शाल्मदृष्ट्या अधिक सोईचें व फायदेशीर आहे. अशा दृष्टीनें पाहिलें म्हणजे ब्राह्मणवर्गाची आमच्याच प्रांतातील इतर

वर्गांशी व इतर प्रांतांतील ब्राह्मणांशी व ब्राह्मणेतर वर्गांशी तुलना करून पहा-
वयास पाहिजे होती. रामशास्त्री, थोरले बाजीराव, नाना फडणिस, सखाराम
बापू, बाजी देशपांडे, यासारखें कर्ते पुरुष आता निपजत नाहीत ही गोष्ट खरी
आहे; पण त्याजवरोबर असाही विचार करावा लागतो, कीं, श्रीशिवाजीमहा-
राजांची गोष्ट सोडून दिली तरीही तानाजी, धनाजी, संताजी, जनकोजी, महादजी,
यांसारखें शूर मराठे तरी कां उपन्न होऊं नयेत? अथवा शूर पुरुषांची गोष्ट
राहू द्या. या इंग्रजी राज्यात साधूसंत होण्यास तर काहीं हरकत नाही ना? पण
ते तरी कोठे आहेत? ब्राह्मणही नाहीत आणि शूद्रही नाहीत. फार लाव कशाला?
गोधळी आणि तमासगीर यांच्या जातींत पाश्चात्य विद्येचा अजून काही प्रसार
झाला नाहीना? पण चमत्कार पहा कीं, चागले पोवाडे किंवा लावण्या करणारा
शूद्र कविही सध्यां दृष्टोत्पत्तीस येत नाही. हिराजीनें रायगड येथील जगदीश्वराचे
देऊळ बाधिलें, व पुण्यांतील नळाची कामेही आपल्याकडील भेस्व्यानींच केलीं
असा इतिहास आहे; पण तेही आतां नाहीसे झाले. पाश्चात्य शिक्षणक्रमानें या
जातींतील लोकांचीं मनें अथवा शरीरें न्हास पावली आहेत असें म्हणण्यास
मुळीच आधार नाही हें प्रि. गोळे स्वतः कबूल करताल. मग हा जो सर्वच
जातींचा एकसारखा न्हास होत आहे याचें कारण शिक्षणक्रमाहून काहीं तरी भिन्न
असलें पाहिजे असें सहजच अनुमान करावें लागतें

परंतु याहीपेक्षां या अनुमानास जास्त पुरावा पाहिजे असल्यास तो इतर
इलाख्यातील लोकांच्या स्थितीकडे पाहिलें असता मिळेल. हिंदुस्थानात इंग्रजी
राज्य होण्यापूर्वी महाराष्ट्रांतील पांढरपेशे लोकांची स्थिति इतर प्रांतातील पांढरपेशे
लोकांच्या स्थितीपेक्षां विशेष भरभराटीची व अमदानीची होती. या ब्राह्मणाचा
धंदा विद्यार्जन होता असें प्रि. गोळे याचें मत आहे; पण आमची समजूत
याहून जरा निराळी आहे. 'विद्याव्यासंग' या शब्दानें जर शास्त्राभ्यास, अध्य-
यन, अध्यापन आदिकरून व्यासंग ध्यावयाचे असतील तर महाराष्ट्र ब्राह्मणांचे
व्यासंग याहून त्या काळीं फार निराळ्या तऱ्हेचे होते. देशस्थ, कोकणस्थ,
कऱ्हाडे, शेणवी, परभू वगैरे जे काहीं कारकुनीपेशाचे लोक मराठी राज्यांत
उदयास आले ते वेद घोटून नव्हत किंवा शास्त्राध्ययन करूनही नव्हत;
शास्त्राभ्यासासंबंधानेंच पहावयाचें असल्यास महाराष्ट्रापेक्षा द्रविड देशात
अगर बंगाल्यात तो अधिक जारीनें चालूं होता. किंबहुना शास्त्री, पंडित
आणि वैदिक त्या काळीं महाराष्ट्राबाहेर जितके सांपडले असते तितके
महाराष्ट्रांत सांपडणें कठीण होते. पेशवाईच्या अखेरीस काहीं चागले शास्त्री
व पंडित येथें होऊं लागले होते; व स्वराज्याचे छत्र आणखी काही
दिवस पहिल्याप्रमाणेंच कायम राहिलें असतें तर त्या छत्राखालीं खऱ्या शास्त्रा-
ध्ययनास आणखी उत्तेजन मिळालें असतें; परंतु त्याचा विचार आपणांस येथें
कर्तव्य नाही. आमच्या म्हणण्याचें तात्पर्य येवढेच आहे कीं, महाराष्ट्र ब्राह्म-

णांस इंग्रजी राज्यापूर्वी जें महत्त्व प्राप्त झालें होतें तें शास्त्राभ्यासामुळे नव्हे, तर आपल्या बुद्धीचा त्यांनीं कारकुनीच्या किंवा ज्यास हल्लीं अॅड्मिनिस्ट्रेटर असें म्हणतात त्याच्या कामात उपयोग केल्यामुळे झालें होतें. हल्लीं ज्याप्रमाणें इंग्रजी-राज्य, सिव्हिलसर्व्हिस किंवा सनदी नोकर यांजवर अवलंबून आहे असें मानितात, तद्वतच मराठी राज्याचो भरभराट मराठी सरदारांच्या तलवारीवर आणि महाराष्ट्र ब्राह्मणांच्या कारकुनीवर अवलंबून होती. कारकून हा शब्द येथें लिहिणें-वाचणें किंवा जमाखर्च ठेवणें हें काम करणारा अशा अर्थानें वापरलेला नाहीं. खऱ्या लेखणीचें काम याहून फार निराळे आहे, व अलीकडच्या काळांत तें काम इंग्रजी सरकारचे युरोपियन नसदी नोकर बजावीत आहेत. राज्याचें हिताहित कशांत आहे, आपल्या सभोवार कोणती स्थिति आहे, राज्याची अंतर्व्यवस्था कोणत्या रीतीनें ठेविली पाहिजे, परकीय राज्याशीं संबंध कसा ठेवावा, लढाई केव्हां द्यावी व केव्हां देऊं नये इत्यादि पुष्कळ महत्त्वाच्या गोष्टींचा निर्णय करण्याचें काम मराठी राज्यांत बऱ्याच अंशीं ब्राह्मणवर्गीकडे होतें; व तें काम बजविण्याच्या कार्मीं त्यांनीं बरीच हुषारी, उमेद आणि कर्तबगारी दाखविली, इतकेंच नव्हे तर प्रसंगविशेषीं तलवार हातीं धरूनही आपले हेतु तडीस नेले. मराठे लोकांपैकीं महादजी शिंद्यासारखे काहीं गृहस्थ असल्या मुत्सद्दीपणात झाले होते, नाहीं असें नाहीं; पण स्थूल मानानें विचार केला असतां असे आढळून येईल कीं, ब्राह्मणांची लेखणी आणि मराठ्यांची तलवार या दोघांचेही मराठी राज्य कांही दिवस चालण्यास सारखेंच साहाय्य होतें. हल्लीं विलायतेहून येथें आलेला गोरा कामगार मुंबईहून कलकत्यास, कलकत्याहून सिमल्यास आणि सिमल्याहून मद्रासेस गेलेला पाहून आम्हांस मोठें आश्चर्य वाटतें. पण एकदा अशी वेळ आली होती कीं, महाराष्ट्रातील ब्राह्मणगडी कलकत्ता, दिल्ली, लाहोर, अटक, म्हैसूर आणि जिंजी पाहून आले होते. इतर प्रांतांतील ब्राह्मणांस अशी संधि त्या वेळीं मिळाली नव्हती म्हणून म्हणा, अगर दुसऱ्या काहीं कारणाने म्हणां, इंग्रजी राज्य होण्यापूर्वी पंजाब, औध, बंगाल आणि मद्रास वगैरे ठिकाणचे ब्राह्मण त्या कार्मीं अशा रीतीनें योग्यतेस चढले नव्हते. महाराष्ट्र ब्राह्मणांपेक्षां ते बुद्धीनें कमी होते अगर आहेत असे नाहीं. पूर्वींचें सर्व मोठमोठे शास्त्री बंगाल्यांतील व मद्रासेंतील आहेत. पण महाराष्ट्र ब्राह्मणांस (ब्राह्मण म्हणजे मागें सांगितल्याप्रमाणें सर्व कारकुनीपेशाच्या जाती समजावयाच्या) जी संधि मिळाली तशी त्यांस मिळाली नसल्यामुळे इंग्रजांनीं इतर प्रांत काबीज केले, तेव्हां त्या त्या प्रांतांतील ब्राह्मण कारकुनीपणांत अगर मुत्सद्दीपणांत तरबेज होऊन योग्यतेस चढले नव्हते. हें सांगण्याचें कारण येवढेंच कीं, मराठी राज्य जाऊन इंग्रजी राज्य आल्यानें आपली योग्यता व महत्त्व जितकें कमी झालें असें महाराष्ट्र ब्राह्मणांस वाटण्याचा संभव आहे त्या मानानें इतर प्रांतांतील ब्राह्मणांस वाटण्याचा संभव नाहीं. गुजराथ, पंजाब, औध, बंगाल वगैरे प्रांतांतून सध्याही ब्राह्मणांचें

फारसे महत्त्व नाही असे त्या प्रांतातून वर वर फिरून आलेला गृहस्थही सांगू शकेल. उत्तर हिंदुस्थानांत कायस्थ म्हणून एक कारकुनीपेशांच्या लोकांचा वर्ग आहे. पण महाराष्ट्रात ब्राह्मण लोकांस मराठेशाहींत जे उत्तेजन मिळाले ते मुसलमानी राज्यात या कायस्थ लोकांस न मिळाल्यामुळे त्यांची योग्यता महाराष्ट्र ब्राह्मणाहतकी इंग्रजी राज्याचे आरंभी वाढलेली नव्हती. अर्थात् इंग्रजी राज्यपद्धतीमुळे आमची योग्यता कमी झाली असें आम्हास वाटते तितकें त्यास वाटत नाही. आतां इतर प्रांतातून ब्राह्मणाशिवाय दुसऱ्या वर्गाची सध्याची स्थिति पाहिली तरीही वर सांगितल्याप्रमाणेच अनुमान निघेल रजपूत, शीख या जातींतून प्रि. गोळे याच्या मतानें मारक ठरलेल्या शिक्षणक्रमाचा अद्याप प्रसार झालेला नाही. तरीही पण या ज्ञातींतून पूर्वांचा उत्साह अगर कर्तबगारी असलेली आढळून येत नाही. मराठी लोकापेक्षा शरीरानें धिप्पाड असे उत्तर हिंदुस्थानात पुष्कळ लोक आहेत. पण उत्साह, धैर्य, साहसप्रियता, हिंमत अथवा कर्तबगारी या गुणासंबंधानें पाहिलें तर त्याचा बहुतेक पूर्ण अभावच या लोकांत आढळून येतो. हिंदुस्थानासारख्या उष्ण कटिबंधातल्या देशात थंड हवेतील देशापेक्षां स्वभावतःच उत्साह कमी असणार हें स्वाभाविक आहे, व इंग्रजी राज्यापूर्वी काहीं ज्ञातींत जो थोडाबहुत उत्साह होता तोही आता गैर अभ्यासानें बहुतेक नाहीसारखा झाला आहे. चौहोकडे हीच स्थिति आहे. व त्याचे मूळ कारण शिक्षणक्रम नव्हे, अथवा विधवाविवाहप्रतिबंधही नव्हे. इंग्रजानी येथे आपलें राज्य कसें स्थापिले व त्यास आमच्यामधील कोणत्या दोषाचे साहाय्य मिळाले हें सांगण्याचा आजचा प्रसंग नाही. प्रस्तुत विषयाचा विचार करिताना आपणास येवढेंच पाहणें आहे की, महाराष्ट्रातील ब्राह्मणवर्गाच्या उत्साहाचा जो न्हास झालेला आहे तो तेवढ्या वर्गापुरताच आहे किंवा एकंदर देशातही अशीच निकृष्टावस्था आलेली आहे, अशा दृष्टीने पाहिले म्हणजे वर लिहिलेल्या विवेचनावरून आपणास असें आढळून येईल की, हिंदुस्थानातील सर्व प्रांतातील व सर्व जातीतील लोकांस सारखीच निकृष्टावस्था प्राप्त झालेली आहे; व त्याचें प्रधान कारण म्हणजे परराज्य होय; कोणत्याही राष्ट्रातील लोकांच्या उत्साहबुद्धीवर परवशतेचा किती भयंकर परिणाम घडतो इकडे प्रि. गोळे यानीं जर नीट लक्ष पुरविलें असते तर देशातील एकंदर लोकांच्या उत्साहशून्यतेचें खरे कारण त्यास तेव्हांच कळून आलें असतें पण तसा विचार त्याच्या ग्रंथात कोठेही केलेला नाही इंग्रजी राज्यात सर्व लोकांस शांतता आणि सौख्य मिळत आहे हें म्हणणें काहीं अंशी खरें आहे. पण एकोणिसाव्या शतकातील सुधारलेल्या ह्या परकीय प्रभूची राज्यपद्धति अशी काही विलक्षण आहे की, त्यानीं हिंमतीची, शौर्याची, बुद्धिची, कल्पनेची, कारागिरीची अथवा कर्तबगारीची सर्व कामें आपल्याच हातात ठेविली आहेत. ही त्यांची राज्यपद्धति त्यानीं इतकी जारीने सुरू ठेविली आहे कीं नेटिव कितीही हुषार असला तरी त्यास मोठ्या कर्तबगारीचें काम

करण्याची संधि कधीच येत नाही. फार लांब कशाळा ? खुद्द शिवाजीमहाराज या कालात जन्मले असते तर त्यासही सुभेदार मेजरपेक्षा वरच्या पदवीची जागा मिळाली नसती. सारांश, हा कालच असा आहे की, उत्साह उत्पन्न करण्यासारखे किंवा अंगी असलेल्या उत्साहास अनुरूप असे एकही काम मिळू नये. हिंदुस्थानचें येवढें मोठें अवाढव्य राज्य चालले आहे, पण त्याच्या राज्यसूत्रातील अर्थ पाव तरी आपणास हलवावयास मिळतें आहे काय ? राष्ट्राचा उत्साह कायम ठेवण्यास त्या त्या राष्ट्रातील लोकांच्या हातून मोठमोठी कामे करण्याची सवय नेहमी कायम ठेविली पाहिजे. तसा प्रकार इंग्रजी राज्यांत बिलकूल घडून येत नाही. इंग्रज लोकपेक्षा सामर्थ्याने अगर हुषारीने आम्ही पुष्कळच कमी आहोंत; पण हे सामर्थ्य व हुषारी जेणेकरून आमच्यात येईल असे उपाय योजणे हे हिंदुस्थानच्या हितासाठीं येथें अवतीर्ण झालेल्या दयाळू सरकारचें काम होतें. जेथें स्वराज्य आहे अशा जपान देशातील सरकारनें हे आपलें कर्तव्य बजाविलें आहे. जपानी लोक आमच्यापेक्षां कांहीं जास्त सशक्त, हुषार अगर सधन आहेत असें नाही. पण तीस वर्षांत जपान सरकारनें जें काम केलें तें जर हिंदुस्थान सरकारास करिता येत नाही तर यातीस बीज कांहीं निराळे आहे असें होत नाही काय ? आमच्या एकंदर समाजात एकंदर इंग्लिश समाजापेक्षा उत्साहादि गुण कमी असतील; पण हल्लीं चोहोंकडे जी उत्साह-शून्यता आढळून येते ती आमची स्वाभाविक नसून सर्व राष्ट्रांवर जें एक मोठें अभ्र आले आहे त्याचा हा परिणाम आहे असें थोड्या विचारातीं कोणासही दिसून येईल. ब्राह्मण, मराठे, रजपूत, शीख, बंगाली अगर मद्रासी कोणतीही जात घेतली तरी ही स्थिति नजरेस येते. इंग्रजी राज्यापूर्वीं मराठेशाहींत महा-राष्ट्रब्राह्मण राज्यकारभार पाहात होते म्हणून राजातरामुळे त्याची स्थिति इतर जातींतील स्थितिपेक्षां अधिक निकृष्ट झाली आहे हें खरें आहे, पण तीही शिक्षण-क्रामांमुळे नव्हे, आमच्याकडील शिक्षणक्रमच बंगाल्यात व मद्रासेत आमच्यापेक्षां अधिक वर्षे चालू आहे; पण बंगाली व मद्रासी ब्राह्मणांच्या बुद्धीचा अगर उत्साहाचा न्हास झाला असें त्यांस वाटत नाही. उलट इंग्रजी राज्यांत त्यांची स्थिति थोडीबहुत सुधारली आहे असें म्हटले असता चालेल. हे असें कां व्हावें याचें कारण उघड आहे, इंग्रजां राज्याचा जो थोरला वरवंटा देशावर फिरविला जात आहे त्यामुळे उंच झाडाची डोकी टेंचून गेली आहेत; व हें राज्य होण्यापूर्वीच जीं कमी उंचीचीं झाडे होती त्यास इंच दोन इंच वाढण्यास सवड मिळाली आहे, त्यामुळे कांहीं जातींत थोडासा उत्साह राहिल्यासारखा दिसत आहे, पण तोही कांहीं कायमचा नव्हे. सर्व हिंदुस्थान देशभर झाडाची उंची नियमित व एकसारखी राहून इंग्रजी अंमलदार हींच काय ती मोठमोठी उंच झाडे मध्ये राहावीं, बाकी कोणीही डोकें वर काढूं नये असा इंग्रजी राज्यपद्धतीचा जो वरवंटा ऊर्फ रोलर आमच्या देशावर फिरत आहे त्याचा परिणाम

शाला आहे व होत आहे; व ज्या कोणास आपल्या निकृष्ट स्थितीचा विचार करावयाचा असेल व ती नाहीशी होण्याचा उपाय शोधून काढावयाचे असतील त्यानें या सर्व गोष्टींचें लक्षपूर्वक अवलोकन करून विचार केला पाहिजे.

(नंबर ३.)

परवशतेच्या वरदंटाखाळीं सबंध राष्ट्रातील लोक मग ते शिकलेले असोत वा नसोत एकसारखे कसे चेचले जातात ह्याचे थोडेसे दिग्दर्शन गेल्या खेपेस केलें होतें. आज फिरून त्याच विषयाचा जास्त उहापोह करावयाचा आहे. परराज्य पुष्कळ प्रकारचे असतें, व अमुक एक परराज्य दुसऱ्या परराज्यापेक्षा बरें किंवा वाईट असें म्हणण्यासही अनेक कारणे असतात; इतकेंच नव्हे तर परराज्य म्हणजे सर्वांशीं वाईट असलेच पाहिजे असे नाही. कित्येक देशात त्या देशाच्या बाहेरील लोक येऊन त्यानीं तेथे राज्य करणें हेंच एकंदर देशास परिणामी अधिक सुखकर असते. परराज्यापेक्षां स्वराज्य बरे, ही गोष्ट तर निर्विवादच आहे; पण प्रसंगविशेषीं कोणत्याही देशास इतर देशाची मदत लागत नाहीसे नाही. आम्ही हिंदुस्थानच्या सद्यःस्थितीचा जो विचार करणार आहोंत तो याच दृष्टीने करणार आहोंत. राणीसरकारचे राज्य आमच्या देशावर निरकाल राहिले तरी त्याबद्दल वाईट वाटण्याचें काहीं कारण नाही. हिंदुस्थानच्या सर्वभौम तत्त्वावर युधिष्ठिरासारखे पुष्प असले काय आणि अकबरासारखे पुरुष असले काय, ते आम्हांस सारखेच. राजापेक्षा राज्यपद्धतीचा विचार अधिक सूक्ष्म रीतीनें करावा लागतो. त्यातूनही सर्व राजसत्ता ज्या वेळीं कान्स्टिट्यूशनमध्ये किंवा राज्यपद्धतीत आलेली असते, त्यावेळीं तर राज्यपद्धतीचा विचार विशेष दक्षतेनें व बारकाईनें करावा लागतो. राणीसरकारचें राज्य यावच्छंद्र दिवाकरौ राहिलें तरी आम्हांस पाहिजेच आहे. आमची तक्रार काय ती राज्यपद्धतीबद्दल आहे. ती पद्धत सुधारली तर इंग्रजी राज्याबद्दल कोणासही कधीं वाईट वाटण्याचा संभव नाही.

असो, हल्लींची राज्यपद्धति कशा तऱ्हेची आहे हे मागें सांगितलेंच आहे. पेशवाईत किंवा मराठेशाईत ज्याप्रमाणे हल्लींच्या महाराष्ट्र ब्राह्मणांचे पूर्वज मर्दुकीची कामे करीत सर्व महाराष्ट्रभर हिडत, तसा अनुभव किंवा सवड आतां इंग्रजांखेरीज कोणासही राहिली नाही. व काय मोठी उडी ती डेप्युटी कलेक्टरच्या अगर फर्स्टक्लास सर्वाॅर्डिनेटच्या जागेपर्यंतच. इंग्रजी राज्यात वरच्या प्रतीच्या, अर्थात् मर्दुमकीच्या अथवा जबाबदारीच्या सर्व जागा युरोपियनांच्या, आणि सर्वाॅर्डिनेट म्हणजे खालच्या प्रतीच्या अर्थात् खडेंवाशींच्या तेवढ्या नेटिवांच्या. या खालच्या प्रतीच्या जागांपैकीं मोठ्यांत मोठी म्हणजे फर्स्टक्लास सर्वाॅर्डिनेट; म्हणजे पहिल्या प्रतीच्या खडेंवाशाची जागा आम्हांस मिळावयाची. प्रि. गोळे यानीं शाळेंतील मुलांची उत्साह-हीनता वर्णन केली आहे, पण याहीपेक्षा सरकारी नेटिव नोकरांत जी विशेष

उत्साहहीनता दिसून येते तिकडे त्यांचे लक्ष गेलेले नाही. कॉलेजांतून निघालेला एखादा कोरा तरतरीत ग्रॅज्युएट नोकरीत पाहिल्याने मोठ्या आवेशाने शिरत असतो; परंतु त्यास लौकरच असे आढळून येते की, आपली नौकरी सर्वॉर्डिनेट आहे, करितां आपणास वरिष्ठ साहेबांच्या तंत्रानेच चालावयास पाहिजे. यास काही युक्ति सुचली तर ती साहेबांस कळवावी, व तिचे श्रेय साहेबांनीं घ्यावे. असा क्रम अंगीकारावा लागतो; नाहीपेक्षा फर्स्टक्लास सर्वॉर्डिनेट होण्याची आशा सोडून द्यावी लागते. साराश, वीस रुपयांच्या कारकुनीच्या जाग्यापासून चढत चढत आमचे ग्रॅज्वेट जोपर्यंत फर्स्टक्लास सर्वॉर्डिनेटच्या योग्यतेला येतात तोपर्यंत त्यांचे अंगचे ओज (पूर्वांचे थोडेबहुत असल्यास) ते अगदी नाहीसे होऊन जाते; व याच स्थितीत प्रायः पेन्शन घेण्याची पाठी येत असल्यामुळे आमच्यातील पेन्शनर मंडळी म्हणजे ज्या वृद्ध मंडळींनीं समाजास वळण लावावयाचे तीही उत्साहशून्य झालेली असते. एका युरोपियानानें असे उद्गार काढलेले आमच्या ऐकण्यात आहेत की, नेटिव अंमलदार कितीही मोठे असले तरी त्याजवर युरोपियनाची देखरेख असल्याखेरीज त्यास मोठमोठी कामे करिता यावयाची नाहीत. खरेंच आहे; कशाला करितां येईल ? युरोपियन कामगार हिदुस्थानात आला म्हणजे तो मुंबई, मद्रास, पंजाब, कलकत्ता वगैरे निरनिराळ्या ठिकाणीं जबाबदारीची कामे करून अनुभवानें हुशार होतो; परंतु आमची मंडळी कितीही शहाणी असली तरी त्यांचा जन्म प्रातातल्या प्रातात सर्वॉर्डिनेट सर्व्हिसमध्ये गेल्यामुळे त्यांची दृष्टि संकुचित होऊन अनुभव कोता असतो, इतकेंच नव्हे तर त्यांच्या वृद्धापकाळीही त्यास ह्यम साहेबाप्रमाणें देशसेवेचीं स्वतंत्र कामे करण्याचीही हौस राहत नाही. परराज्यांचें नष्टचर्य जे चोहोकडून पाठीस लागत म्हणतात ते असें होय. मोठमोठ्या जागा नेटिवास न मिळान्यामुळे पैशाच्यापरी पैसे विलायतेस जातात ते जातातच; पण त्याखेरीस आमच्या देशातील होतकरू लोकास उत्साहप्रियतेचे शिक्षण मिळावयाचें ते मिळत नाही, आणि अखेरीस ज्या युरोपियन लोकास तो अनुभव मिळतो ते पेन्शन घेतल्यावर इंग्लंडात जाऊन रहात असल्यामुळे त्यांच्या अनुभवाचा आम्हांस फायदा मिळावयाचा तोही मिळत नाही. साराश, चोहोकडून आमची नागवणूक चाललेली आहे. मोठ्या जागा कोणी देत नाही, आपल्या प्रांताबाहेरच्या अनुभवाच्या नावानें शून्य, इषेचीं व मर्दुमकीचीं कामें युरोपियनांनीं पटकावलेलीं, लष्करांतल्या हुद्याच्या जागा मिळत नाहीत त्या नाहीतच, पण परवानगीखेरीज शस्त्रदेखील बाळगण्याची पंचाईत, अशा स्थितीत कोणत्या देशातील लोक शंभर वर्षांत नामद होणार नाहीत ? हुरूप आणि उत्साह राष्ट्रांतील प्रत्येक व्यक्तींत भरलेला असतो असें नाही. सर्व राज्यात राज्याच्या विस्ताराच्या मानानें जे थोडेबहुत पुढारी असतात त्यांच्यातच काय तो विशेष हुरूप व उत्साह नजरेस येत असतो; व त्यांच्या कमजास्त संख्येवरच राष्ट्राचे वैभव व शक्ति अवलंबून असते. व्यवस्थेच्या मानानें पेशव्यांची राज्यपद्धति कितीही

गचाळ असो, त्या पद्धतीत आपल्यापैकीं कर्ते पुरुष निघण्यास सवड होती. परंतु इंग्रजांच्या राज्यपद्धतीत तशी सवड नाही; इतकेंच नव्हे, पण तशी सवड ठेवण्याचा इरादाही नाही. यामुळे कै. रा. सा. मंडलीक याच्यासारख्या पुरुषासही गव्हर्नमेंट फ्रीडरच्या पायरीपलीकडे जास्त कर्तबगारीची जागा मिळाली नाही. आम्हीं मागे सांगितलेंच आहे कीं, श्रीशिवाजीमहाराज हे जर या कालांत जन्मास आले असते तर त्यांसही सुभेदार मेजरच्या पलीकडे जागा मिळाली नसती.

हा प्रकार राजकीय, लष्करी अगर कारकुनी पेशाच्या नोकरांतच घडून आला आहे असें नाही. व्यापारधंदे व शेतकी याची स्थितिही बहुतेक अंशी अशीच आहे. परदेशाशीं हिंदुस्थानचा जो व्यापार आहे तो बहुतेक युरोपियन व्यापाऱ्यांच्या हातांत आहे, आणि देशात जे पूर्वी निरनिराळे धंदे चालत होते ते नाहीसे होऊन सर्व लोकांस शेतकी अगर नोकरी याखेरीज उपजीविकेचें दुसरें चांगलें साधन या राज्यांत राहिलें नाही. बंगाल्यांतील बाबू सिव्हिल सर्व्हिसची परीक्षा देऊन राज्यकर्ते होणार; पण स्वभावतःच ते त्या कामास नालायक आहेत व त्यांच्यानें रजपूत, मराठे, मुसलमान, शीख वगैरे शिपाईं वाण्याच्या जातींवर अंमल करितां यावयाचा नाही असें युरोपियन लोकांचें म्हणणें आहे. परंतु हे त्यांचें म्हणणें केवळ मानभावीपणाचें आहे, यास लष्करात रजपूत अगर शीख लोकांसही मोठमोठ्या जागा देत नाहीत येवढा पुरावा बसस आहे. इंग्रज लोकांस आम्हा हिंदु लोकांचें शौर्य, साहस, दुरूप, कर्तृत्व अथवा व्यापारी थाडस यांपैकीं काहींएक नको आहे. हिंदुस्थानच्या लोकांनीं जमिनी नागरून अगर खालच्या प्रतीच्या नोकऱ्या करून प्राप्त होण्याजोगें असेल तेवढें धन अगर लौकिक मिळवावा, व बाकीच्या सर्व गोष्टींचा मक्ता राज्यकर्त्यांकडे सोपवावा असें हल्लींच्या राज्यपद्धतीचें धोरण आहे. त्याचा परिणाम लोकांवर कसा झाला आहे तो पहा. इंग्रजी राज्य होण्यापूर्वी ज्या काहीं जाती आपल्या कर्तबगारीवर पुढे सरसावल्या होत्या त्यास पिछेहाट करावी लागत आहे, व ज्या काहीं मागे पडल्या होत्या त्यांस नियमित मर्यादेपर्यंत पुढें आणण्याचे प्रयत्न चालले आहेत. उदाहरणार्थ, आमच्याकडील ब्राह्मण व मराठे या जाती घेऊं. वर सांगितलेंच आहे कीं, नोकरी व शेतकी याखेरीज आतां दुसरा चांगला धंदा राहिला नाही. मराठे लोकांचा खरा धंदा शिपाईगिरीचा; पण तो आतां त्यांस बहुतेक अजिबात बंद झाला आहे व सरकारचें त्यास असें सागणें आहे कीं, ब्राह्मण लोक तुम्हास फसवीत आहेत, करितां तुम्ही शालेंत जाऊन त्यांच्याप्रमाणें जागा मिळविण्याचा प्रयत्न करा. लष्करांत शिरून नाव मिळविण्याचा धंदा बंद झाल्यामुळे काही तरतरीत मराठे लोकांच्या मनांत हा उपदेश ठसून ते ब्राह्मणाप्रमाणे विद्यार्जनाच्या नादीं लागत चालले आहेत व असले लोक जोपर्यंत पुष्कळ झालेले नाहीत तोपर्यंत सरकारही त्यांचा गौरव करीत आहे. तथापि येवढ्यावरून असें मात्र कोणी समजू नये कीं,

ब्राह्मणांस ज्या जागा मिळत नव्हत्या त्या मराठ्यांस देण्यास सरकार तयार आहे. नेटिवांस कोणत्या जागा द्यावयाच्या त्याचा नियम निराळ्याच धोरणावर बांधला आहे. व तें धोरण सर्व नेटिवांस म्हणजे ब्राह्मण, मराठे, मुसलमान, पार्शी, शीख वगैरे लोकांस एकसारखेच लागू आहे. सारांश, मराठा कितीही तरतरीत असला तरी हल्लींच्या काळां महादजी शिंद्याची त्यास योग्यता यावयाची नाही. तें खातेंच त्यास बंद आहे. आता ब्राह्मणांस कांहीं खालच्या प्रतीच्या जागा ठेविलेल्या आहेत त्यात पाहिजे तर त्यानें आपला समावेश करून घ्यावा. मराठे लोकांची सुधारणा सुधारणा म्हणून जो कांहीं हल्लीं उद्योग चालला आहे तो याचकरिता होय. महाराष्ट्रातील ब्राह्मण व मराठे हे दोघेही आपापल्या विशिष्ट कर्तृत्वानें इंग्रजी राज्य होण्यापूर्वी उदयास आलेले होते. पैकीं इंग्रजी राज्यात ब्राह्मणांच्या कर्तृत्वास फारच थोडा अवकाश राहिलेला आहे व मराठ्यांचा विशिष्ट व्यवसाय बुद्धन त्यांस ब्राह्मणांबरोबर कारकुनी पेशाच्या धंद्यात शिरण्यास उत्तेजन मिळत आहे. या सर्व गोष्टींचा परिणाम पुढें कसा होणार तें नीट लक्षात आणिलें पाहिजे. कोणाचेंच कर्तृत्व इंग्रज सरकारास नको आहे. हिंदु लोकांस किती वाढूं द्यावयाचें त्याची यत्ना त्यानीं ठरवून टाकिली आहे. जीं झाडे या यत्नेपेक्षा जास्त वाढतील तीं तोडून टाकावयाचीं; व जीं या यत्नेपेक्षा कमी असतील त्याबद्दल मोठी उदार बुद्धि आणि कळकळ दाखवून “अरेरे तुम्ही मागें पडलांत काय, तुम्हास आम्ही ब्राह्मणांच्याबरोबर आणून ठेवितों.” असें वरपागीं निःपक्षपातबुद्धीनें उत्तेजन द्यावयाचे हा क्रम सुरू आहे. असल्या राजनीतीने कित्येक जाती सुधारत आहेत, व कित्येक खाली जात आहेत असें सकृदर्शनीं दिसून येतें; पण ही दृष्टीची भूल आहे. वास्तविक पाहता हिंदुस्थानातील सर्वेच जातीस नियमित मर्यादेपेक्षां वाढूं न देण्याचा हल्लींच्या राज्यपद्धतीचा रोंख आहे; व जर त्यामुळें एकाद्या जातीस उत्तेजन मिळत असलें तर वर सांगितलेल्या नियमित मर्यादेपर्यंत सरकार जातीभेद ठेवूं इच्छित नाही येवढेंच त्याचें खरें कारण आहे. जुलमी अवरंगजेबाच्या राज्यातही जयसिंगसारख्या रजपूत सरदारास स्वतंत्र रीतीनें पराक्रम करून दाखविण्यास सवड होती; पण तशा प्रकारचा आतां एकादा पुरुष असल्यास त्यानें सुभेदार मेजर व्हावें किंवा कायद्याची बुकें घोकून मामलेदार मुन्सफ व्हावे, याखेरीज दुसरा मार्ग नाही अशी स्थिति आली आहे. या कचाट्यातून आम्ही कसें सुटणार याचा नीट विचार करून आमच्या पुढाऱ्यांनीं आमच्या भावी उन्नतीची दिशा आम्हांस ठरवून दिली पाहिजे. बालविवाहादि सामाजिक व्यवस्थेच्या दोषांमुळें आम्ही एकंदर इंग्रज लोकपेक्षां सामान्यतः कमी ताकतवान असूं. पण आयर्लंडसारख्या देशाकडे दृष्टी दिली म्हणजे केवळ असल्या सामाजिक चालींमुळेंच आमचा उत्साह शून्य झाला आहे हें म्हणणें बरोबर वाटत नाही. शिक्षणक्रमाबद्दल प्रि. गोळे यांचें म्हणणेंही अशाच प्रकारचें आहे. या क्रमांत दोष नाहीत असें आमचें म्हणणें नाही, जलत ते दोष काढून टाकण्याचा

होईल तितका प्रयत्न आम्ही केला पाहिजे याबद्दल त्यांची व आमची एकवाक्यता आहे. मतभेद काय तो ब्राह्मणांच्या न्हासांचें मुख्य कारण कोणतें याबद्दलचाच आहे. आम्ही सांगितलेलें कारण हल्लींच्या स्थितीत तरी अपरिहार्य आहे हें आम्ही जाणून आहों. तथापि खरें कारण कळल्याखेरीज चांगल्या उपायांची योजना करतां येत नाही, किंबहुना चांगलें उपाय शोधून काढण्यास खरीं कारणे—मग तीं परिहार्य असोत या अपरिहार्य असोत—समजणे अवश्य आहे अशा समजुतीवर तीं आम्ही येथें दाखल केलीं आहेत. तीं कारणे लक्षात ठेऊन आम्हास आमची स्थिति सुधारण्यास जे काहीं इलाज करावयाचे असतील ते केले पाहिजेत. बाल-विवाह बंद करा, गतभर्तृकांचीं लग्ने लावा, अथवा शिक्षणक्रम प्रि. गोळे म्हणतात त्याप्रमाणें बदला. तेवढ्यानें देशावर हल्लीं आलेलें औदासिन्य नाहीसें होईल असें आम्हांस वाटत नाही. वर सांगितलेल्या उपायांनीं काहींच होणार नाहीं असें नाहीं. सद्बुद्धीनें कोणतेंही काम केलें तरी त्यापासून काहींना काहीं तरी फायदा होतोच होतो; व तसा शिक्षणक्रम सुधारल्यापासूनही होणार आहे. पण तेवढ्यानें आपला इष्ट हेतु साध्य होणार नाही. तो तडीस जाण्यास दुसरे काहीं उपाय योजिले पाहिजेत, ते कोणते ते पुढील खेपेस सांगूं.

[नंबर ४]

आजपर्यंत केलेल्या विवेचनावरून प्रि. गोळे याचा विचारक्रम किती कोता व गैरसमजाचा आहे हें दिसून येईल. ब्राह्मण किंवा विद्याव्यासंगी वर्गाच्या अव-नतीचीं मूळ कारणे ज्यास शोधून काढावयाचीं असतील त्यानें आपली दृष्टि न्यू-स्कूल किंवा फर्ग्युसन कॉलेजच्या चार भिंतीपलीकडे बरीच लांबवर पोंचविली पाहिजे. ब्राह्मण लोकांत अवलोकन शक्तीचा न्हास झालेला आहे असें प्रि. गोळे याचें म्हणणें आहे; व ब्राह्मण आणि त्याची विद्या हें पुस्तक पाहिलें म्हणजे प्रि. गोळे याचें म्हणणे खरें असावें असेंही वाटूं लागते. एरव्ही एका मोठ्या खाजगी विद्यालयाच्या प्रधानाध्यापकाकडून हल्लीं हिंदुस्थानांत परकीय राज्यामुळे सर्व प्रांतांत सर्व जातींची कोणत्या प्रकारची पायमल्ली होत आहे इकडे दुर्लक्ष झालें नसतें. प्रि. गोळे हे विद्वान् व विचारी आहेत हें ठिकठिकाणच्या त्यांच्या मार्मिक टीकेवरून उघड होतें; पण नेहमींच्या पाहण्यातील दहा पाच गोष्टींची मार्मिक चर्चा केल्यानें, अथवा लोकांस न रुचले तरी आपले विचार निर्भांडपणें लोका-पुढें मांडण्याचा आव घातल्यानें कोणत्याही विषयाचा सांगोपांग उहापोह होतो असें नाही. परवशतेपासून राष्ट्रवर कोणत्या प्रकारचे वाईट परिणाम होतात हें प्रि. गोळे यांस माहीत नाहीसें नाही. पण शिक्षणक्रमातील दोषावर लिहिलेल्या ग्रंथांस भपकेदार नांव देऊन नाकापेक्षां मोतीं जड या न्यायानें त्यांनीं आपल्या ग्रंथास विनाकारण उपहासास्पद करून घेतलें आहे. नुसत्या स्पष्टोक्तीनें अथवा लोकांस न आवडणारीं कृत्यें करण्यानें जर शहाणपण येत असेल तर उद्या एखाद्या

फटकळास किंवा वाटेल त्यास शिव्या देत सुटणाऱ्या वेडेपिरासही सुरगुरूच्या वर्गात ओढावा लागेल. असो; प्रि. गोळे यांच्या ग्रंथात आमच्यामते जो ग्राह्यांश आहे तो मागे आम्ही सांगितलाच आहे. याखेरीज दुसऱ्या ज्या कित्येक गोष्टी त्यांत सांगितल्या आहेत त्याचा विचार तूर्त तहकूब करून ब्राह्मण ज्ञातीच्या न्हासाची कारणे काय, व तीं निवारण्याचे उपाय कोणते हा जो महत्त्वाचा प्रश्न त्यांच्या ग्रंथाच्या नांवावरून त्यांनी लोकांपुढे मांडिला आहे त्याकडे वळू.

परकीय राजसत्तेमुळे जें ब्राह्मणवर्गास औदासिन्य आले आहे तें नुसत्या शिक्षणक्रमांत फेरफार केल्याने दूर व्हावयाचें नाहीं हें गेल्या अंकीं सांगितलेल्या गोष्टींवरून वाचकांच्या लक्षांत आलेच असेल. प्रि. गोळे म्हणतात त्याप्रमाणें सकलगुणसंपन्न एखादी शाळा निघून त्यांत पांच विद्यार्थी तयार झाले असें समजूं; व त्यांपैकीं प्रत्येक विद्यार्थी कालिदासाने वर्णन केल्याप्रमाणें “ युवा युग न्यायत बाहुरंसलः । कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः । ” असा आहे असेही मानूं; परंतु त्याची पुढे वाट काय ? त्यांपैकी एखादा पुढें नौकरीत शिरल्यास तो फर्स्टक्लास सर्वॉर्डिनेट होईपर्यंत बहुतेक निःसत्त्व होऊन निघावयाचा. अथवा दुसरा स्वतंत्र धंदा काढूं म्हणेल तर तिकडूनही त्यास अशाप्रकारची थप्पड मिळावयाची. देशातील प्रजा शौर्योत्साहवान होण्याचीं सर्वच द्वारे जेथे बंद झालीं आहेत तेथें प्रि. गोळे यांच्या कल्पनासृष्टीनें निर्मिलेली एकादी टुमदार शाळा निघाल्यानें काय होणार ? आमच्या अंगातील तेज, पराक्रम, उत्साह, ओज, पौरुष, शौर्य किंवा साहस आदिकरून गुणाची आमच्या राजकर्त्यांस अपेक्षाच उरली नाहीं; व या गुणांची आमच्या लोकांच्या अंगात वृद्धि व्हावी अशीही त्यांच्यापैकीं कोणाची उत्कट इच्छा नाहीं हे निर्विवाद आहे. या अशा राज्यव्यवस्थेचा पुढें काय परिणाम होणार याचे भाकित करणे फारसे कठीण नाहीं. ज्या लोकांनीं इतिहासांत एकदां आपलें नांव गाजविलें आहे असे लोक व जाती कालचक्रांत सांपडून गाईप्रमाणें झाल्याचीं उदाहरणें जगाच्या इतिहासांत नाहींतशीं नाहींत. युरोपात हॉलंड आणि पोर्चुगाल हे देश जरी स्वतंत्र आहेत तरी तेथील लोकांत साहसादि गुण पूर्वीप्रमाणें राहिले नाहींत हें सुप्रसिद्ध आहे; पण असलीं उदाहरणे शोधण्यास इतकें लाब जावयास नको. जे जैन अगर लिंगायत लोक हल्लीं व्यापारांत गढलेले आढळतात तेच काहीं शतकांपूर्वी मोठे विद्वान, व बुद्धिवान होते असें पूर्वेतिहासावरून दिसून येतें. रजपूत लोकांची हल्लींची स्थितिही अशाच प्रकारची आहे. ज्या लोकांनीं स्पार्टन लोकांपेक्षांही अधिक शौर्याचीं कामें केलीं, त्याचेच वंशज त्यास त्यांच्या स्वभावानुरूप काम मिळत नसल्यामुळे आपापल्या जागीं कुजत पडले आहेत. इंग्रज राज्यकर्ते त्यांस कारकून होऊन आपली स्थिति सुधारण्यास सांगत आहे; पण एकासही कर्नल अगर मेजर करण्यास तयार नाहींत. रजपूत लोकांनीं अद्याप आमच्या दयाळू सरकारचा उपदेश घेतला नाहीं; व कदाचित् तो घेणेंही त्यांस कधींच सर्वांशीं पसंत पडणार नाहीं. अशा स्थितीत आम्ही पुढें

काय करावयाचें हा एक मोठाच प्रश्न उपस्थित होतो. हल्लीं आहे हीच स्थिति जर कायम राहिली तर काहीं वर्षांनीं हिदुस्थान म्हणजे सर्वांशीं इंग्रजांवर अवलंबून राहणारा एक देश आहे असें होईल; आणि त्यामुळे अखेरीस आमच्या राज्यकर्त्यांसही आपल्या राज्यव्यवस्थेचे प्रायश्चित्त भोगण्याचा प्रसंग येईल असें दिसतें. तीस कोटी प्रजेस हतवीर्य आणि निरुत्साह करून त्यांच्या संरक्षणाची जबाबदारी घेण्याइतकी धमक इंग्रज राज्यकर्त्यांच्या अंगांत आज आहे खरी; पण ही धमक सदोदित कायम राहते असें नाहीं; व ती धमक कायम राहिली नाहीं तर अखेरीस तीस कोटी मेढरें निराश्रित उघडीं पडण्याचा अथवा दुसऱ्या कोणत्या तरी एखाद्या लांडग्याच्या तडाख्यात सापडण्याचा प्रसंग यावयाचा. करितां शहाण्या राज्यकर्त्यांनीं वेळींच सावध राहून प्रजेस अगदी सत्त्वहीन, बलहीन व द्रव्यहीन करता कामा नये. अशांनै कदाचित् पुढें मागे राज्यास धोका येईल अशी कित्येकांची शंका आहे; पण दूरवर विचार केला असतां असें आढळून येईल कीं, ज्या प्रजेवर राज्य करून आपण कित्येक वर्षे चैन चालविली तीस पुढें मागे दुसऱ्यास बळी देण्यापेक्षा चांगले शिक्षण देऊन ती स्वतंत्र झालेली पाहणें काहीं वाईट नाहीं. असो; हा विचार फार दूरचा आहे. शिवाय राज्यकर्त्यांनीं काय केले पाहिजे याचा आपणास तूर्त विचार करावयाचा नाहीं. आपण काय केले पाहिजे अथवा आपल्या हातांत कोणते उपाय आहेत हे पहावयाचे आहे. करितां त्या विषयाकडे वळूं.

आमची अशी समजूत आहे की, हिदुस्थानास सध्या जी स्थिति प्राप्त झाली आहे ती आपल्या हातून होईल तितकी सुधारण्याची खटपट करणें हेंच ब्राह्मणज्ञातीचें पहिले मुख्य कर्तव्यकर्म आहे. प्रि. गोळे यांनीं राजकारणात पडलेल्या ब्राह्मणांच्या खटपटीचा काहीं ठिकाणीं बराच उपहास केलेला आहे, व दुसऱ्या ठिकाणीं ब्राह्मणांनीं नोकरी न धरिता स्वतंत्र राहून बंधूंप्रीतीचें, लोकानुकंपेचें व परहितार्थ खटपट करण्याचे उदाहरण घालून द्यावें असेंही सांगितलें आहे. परंतु असला विरोध ज्या अर्थी ग्रंथांत 'दुसऱ्याही बाबतींत आढळतो, त्या-अर्थी त्याची येथे विशेष चर्चा करण्याचे काहीं कारण नाहीं. खोर्लीत बसून ज्याची त्याची थड्या करावयाची हाच जेथें ग्रंथकाराचा मुख्य हेतु असतो तेथें त्याच्या लेखांत विरोध व विसंगतताही असावयाचीच. प्रि. गोळे यांनीं ठरविलेले ब्राह्मणांच्या निकृष्ट स्थितीचें निदान जितकें चुकीचें आहे तितकेंच त्यांनीं सुचविलेले उपायही अयोग्य आहेत. यासाठीं त्यांच्या दिशेनें न जाता निराळ्या बाजूनेंच या प्रश्नाचा निकाल केला पाहिजे. उत्साह, शौर्य, किंवा कर्तबगारी दाखविण्याची हल्लींच्या राज्यांत सवड न राहिल्यामुळे जर आम्ही निःसत्त्व झालों असलों तर तशी सवड जेणेंकरून मिळेल असलेच उपाय प्रथमतः आपणांस योजिले पाहिजेत हें उघड आहे. जसा रोग तसें औषध, या न्यायानें आम्ही आतां जो उपदेश करणार तो असा पाहिजे कीं, त्यामुळे आमच्या अंगचा

उत्साह वाढण्याचे मार्ग आपणांस अधिकाधिक खुले होतील. आतां असले मार्ग कांहीं आहेत कीं काय असा प्रश्न सहज उत्पन्न होतो. याचें उत्तर देणें बरेंच कठिण आहे; व कदाचित् त्या उत्तरानें गैरसमज होण्याचा संभव आहे; परंतु विषयानुरोधानें ते मार्ग दाखविणें हें आमचें कर्तव्य असल्यामुळें आमचे त्या-बद्दलचे विचार आम्हास येथें नमूद केले पाहिजेत. या बाबतींत पुष्कळ विचारी पुरुषांचा बराच मतभेद आहे हे आम्ही जाणून आहों. आमचा देश परकीय सत्तेखालीं जाण्यास किंवा निकृष्टावस्थेस येण्यास काय काय कारणें झालीं याबद्दल जो मतभेद आहे तोच निरनिराळ्या लोकांनीं सुचविलेल्या उपायामध्येही दृष्टोत्पत्तीस येतो. जातिभेदामुळे हिंदुस्थानचा नाश झाला असे ज्यांचे मत आहे त्याचें मत सर्व जातींचा एक गोलंकार झाल्याखेरीज हिंदुस्थान देश कधीही सुधारावयाचा नाही असें आहे. दुसरे कित्येक लोक असें म्हणतात की, हिंदुस्थानातील सर्व लोक जेव्हा ख्रिस्ती धर्मासारखा एक धर्म पत्करतील तेव्हांच ते वीर्यवान व उत्साहवान होऊं शकतील. सामाजिक सुधारणावादीही अशाच प्रकारें आपले घोडे पुढे ढकलित असतात. बालविवाह बंद झाल्याखेरीज लोकांच्या अंगांत उमेद कधीही यावयाची नाही; व याकीरतां सामाजिक सुधारणा आधीं केली पाहिजे असें ते प्रतिपादन करीत असतात. हे व असले दुसरे उपाय कांहीं चुकीचे तर कांहीं एकपक्षीय आहेत हें आम्हीं मागें सांगितलेंच आहे; व प्रि. गोळे यांच्या ग्रंथातही त्यांनीं सुचविलेला उपाय खेरीज करून इतरावर अशाच तऱ्हेचे आक्षेप घेतलेले आहेत. करिता त्याची पुनरुक्ति करण्याची जरूर नाही. आमचें असे मत आहे कीं, ब्राह्मणवर्गास आणि विशेषकरून दक्षिणेंतील ब्राह्मणवर्गास जें पूर्वी महत्त्व होतें तें राजकारभारांत अग्रेसरत्व मिळाल्यामुळे होते; व तसें अगर त्याच्याहून थोडे कमी अग्रेसरत्व जेणेंकरून पुन्हा मिळेल अशा उद्योगास आपण लागले पाहिजे. हें अग्रेसरत्व प्राप्त होण्यास समाजस्थितींत किंवा गृहस्थितींत ज्या कांहीं सुधारणा कराव्या लागतील त्या अनायासेंच घडून येणार आहेत. त्याजकडे निराळें लक्ष पुरवून त्यांचे देव्हारे माजविण्याचें कांहीं कारण नाही. लष्करी पेशाच्या ज्ञातीचे धंदे जाऊन त्यांस कारकुनी पेशांत येणें भाग पडल्यामुळें राजकारणांत अग्रेसरत्व अगदीं पहिल्याप्रमाणें ब्राह्मणांस आतां मिळावयाचें नाही हें खरें आहे; तथापि एकंदर हिंदुसमाजाचा विचार करितां ब्राह्मणवर्गानें राजकारणी खटपट सोडून स्वतः सुताराचे, लोहाराचे किंवा वैश्याचे धंदे केल्यापासून देशाचा अधिक फायदा होईल असें आम्हांस वाटत नाही. हिंदुसमाजाची रचना यूरोपातील समाजरचनेहून अगदीं भिन्न आहे. हें प्रत्येक देशहितचिंतकानें लक्षात ठेविलें पाहिजे. ज्या-प्रमाणें ब्राह्मणास आपली स्थिति सुधारावी असें वाटतें त्याचप्रमाणे देशांतील प्रत्येक ज्ञातीस आपापली स्थिति सुधारत जावी असे वाटणें अगदीं स्वाभाविक आहे; व ब्राह्मणज्ञातींतील लोक जर सर्व धंद्यांतील अग्रेसरत्व आपणाकडेच घेण्याचा प्रयत्न करताल तर त्यांचा व इतर ज्ञातींचा सहज विरोध उत्पन्न होईल.

हा विरोध टाळून सर्व जातींस आपापली स्थिति सुधारण्यास लावणें हें आमचें कर्तव्य आहे; व आम्हीं जो कांहीं उद्योग करणार तो हें लक्षांत ठेवूनच केला पाहिजे. एकाच जातीनें किंवा एकाच प्रांतांतील लोकांनीं सर्व हिंदुस्थानभर आपलें वर्चस्व स्थापण्याचे आतां दिवस राहिले नाहींत. मराठेशाहीच्या काळांत व इल्लींच्या काळांत मोठा फरक आहे तो हाच होय. त्या वेळीं एकट्या मराठे लोकांनीं सर्व प्रांतांवर आपलें स्वामित्व स्थापण्याचा प्रयत्न केला होता तसा प्रयत्न होणें आतां शक्य नाहीं. जें काहीं करावयाचें असेल तें सर्व जातीकरिता व सर्व प्रांतांतिल लोकांकरितां. त्यांस बरोबर घेऊन त्यांच्या साहाय्यानेंच केलें पाहिजे. परंतु असें झालें तरी ज्या जातीनें आजपर्यंत राजकारणांच्या कामात पुढाकार घेतला आहे, त्याचें महत्त्व कमी होतें असें मात्र समजू नये. शंभर वर्षांपूर्वी दक्षिणेंतील ब्राह्मणांनीं इतर प्रात काबीज करण्याचे कामी आपलें शौर्य व साहस प्रगट केलें होतें. आतां तसें करता येणार नाही हे खरें; तथापि कोणत्याही सार्वजनिक हिताच्या कामी पुढाकार घेऊन ती चळवळ सर्व राष्ट्रभर पसरण्याचें काम महाराष्ट्रातील ब्राह्मणांनींच अंगावर घेतलें पाहिजे. ज्ञातीज्ञातींत जे विशिष्ट गुण आहेत त्याचा एकमेकांवर वरचष्मा करण्याच्या कामी उपयोग न करिता सर्वांचें जेणेंकरून हित होईल त्याच कामांत उपयोग केला पाहिजे; व अशा रीतीने सार्वजनिक कामें चाललीं तरच सर्व लोकांची एकी होण्याचा संभव आहे. सारांश, आजपर्यंत शिकलेल्या इतर ज्ञातीतील किंवा प्रांतांतील लोकांशीं विशेष दळणवळण न ठेवतां सरकारची नौकरी पत्करून सार्वजनिक कामात चळवळ करण्याची जी वहिवाट ठेविली आहे ती सोडून स्वतंत्रतेनें व रयतेबद्दल खरी कळकळ बाळगून त्यांनीं या उद्योगास लागलें पाहिजे. कोणत्याही लोकांचा प्रत्येक देशात एक विशिष्ट वर्ग असतो; व हिंदुस्थानातील तसा वर्ग म्हटला म्हणजे ब्राह्मण लोक होत. वर सांगितलेल्या तर्क गोष्टी लक्षात आणून राजकीय कामात पुढाकार घेणें हें त्यांस भूषणास्पद आहे इतकेच नव्हे, तर त्याचें मुख्य कर्तव्य आहे असें आम्हास वाटते; व म्हणूनच प्रि. गोळे यांनी असल्या कामात पडणाऱ्या लोकांचा जो उपहास केला आहे तो अगदीं पोरकट व अविचाराचा आहे असें आम्ही म्हणतो.

(नंबर ५.)

ब्राह्मण लोकांमध्ये पूर्वीप्रमाणें नैसर्गिक तेज अथवा कर्तबगारी उत्पन्न होण्याकरितां केवळ शिक्षणक्रमांत सुधारणा करून उपयोगी नाहीं, अथवा प्रि. गोळे यांनीं सांगितल्याप्रमाणे सार्वजनिक चळवळींत न पडूनही चालणार नाहीं, असें या विषयांवरील शेवटच्या लेखात दाखविलेंच आहे. राज्यक्रांतीमुळें म्हणा किंवा अन्यकारणामुळें म्हणा, आमच्यामते राज्यक्रांति व नवीन प्रचारांत आलेली राज्यपद्धति हेच मुख्य कारण आहे. दक्षिणेंतील ब्राह्मण अगर पाठरपेशे लोकांमधील स्वाभाविक तेज पुष्कळ कमी झालें आहे ही गोष्ट प्रि. गोळे यांच्याप्रमाणें

आम्हांसही मान्य आहे. परंतु ही स्थिति कशामुळें प्राप्त झाली याचें निदान आमच्यामते निराळें असल्यामुळें प्रि. गोळे यांनीं सुचविलेल्या उपायांत आणि आम्हीं सुचविलेल्या उपायांत भेद असणें अगदी स्वाभाविक आहे. हा भेद कोणता हें सांगून ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या या ग्रंथाचें परीक्षण पुरें करण्याचा आमचा विचार आहे.

एकंदर देशातील लोकांचा व त्याबरोबरच ब्राह्मण ज्ञातीचा हुरूप अगर उत्साह नाहीसा होण्याचे आम्हीं दर्शविलेलें कारण जर खरें असेल, तर ही अनिष्ट स्थिति नाहीशी होण्यास काय काय केलें पाहिजे हें सहज ध्यानात येण्यासारखे आहे. आमच्या हल्लींच्या शाळांतील शिक्षणक्रम कितीही बदलला तरी, जोंपर्यंत या शाळांतील विद्यार्थी कारकुनाच्या धंद्याकरितांच तयार करितात तोंपर्यंत त्यांचे अंगांत मर्दुमकीचा संचार झालेला कधीही दृष्टोत्पत्तीस यावयाचा नाही. विद्यार्थ्यांचा निरुत्साहीपणाच प्रि. गोळे यांच्या विशेष नजरेस येण्याचें हेंच कारण होय. कारकून तयार करणाऱ्या गिरणीचे मॅनेजरास आपल्या कारखान्यातील मुलें अरुंद छातीचीं आढळल्यास त्यांत कांहीं नवल नाही. साराश, यावजीव दास्यत्व करण्यापलीकडे कीर्ति व द्रव्य संपादण्याचा अगर उदरपोषण करण्याचा जोंपर्यंत दुसरा चांगला मार्गच खुला नाही, तोंपर्यंत डू या क्रियापदाचा उपयोग असा शिकविला काय आणि तसा शिकविला काय, युनिव्हर्सिटीच्या परीक्षा तीन केल्या काय आणि दोन केल्या काय, त्यापासून इष्ट साध्य होण्यास फारशी कधीही मदत होणार नाही. दुधाच्याऐवजीं ताकावर तहान भागविण्याची सर्वांस वेळ आली आहे; मग तें ताक उन करून फोडणी देऊन प्या किंवा साधें प्या, अर्थ एकच. यांत कांही सुधारणा होण्यास थोडेबहुत दूध मिळविण्याचाच प्रयत्न केला पाहिजे, एरवीं तरणोपाय नाही. धैर्य, उत्साह, साहस आदिकरून गुण ज्या जातीच्या लोकांत होते व अजून थोड्याबहुत अंशानें दिसत आहेत ते कायम राहण्यास अथवा त्यांचा थोडाबहुत विकास होण्यास सदर गुणांस अनुरूप अशीं कामे करण्याची त्यास संधी मिळाली पाहिजे. 'खरें' यांच्या प्रश्नाचें जें एक उत्तर आज दुसरीकडे छापिलें आहे त्यांत हीच गोष्ट शास्त्रीय रीत्या दाखविली आहे, व नेटिव लोकांस सिव्हिल सर्व्हिसच्या जागा मिळाल्या म्हणून अश्रांत व आजन्म खटपट करणारे मि. दादाभाई नौरोजी यांचेही असेच मत आहे. इंग्रज सरकारचें सार्वभौम राज्य जें आज हिंदुस्थानावर अबाधित चालत आहे, तें साहसादि गुणावांचून चाललें आहे असें नाही. पण हीं साहसाचीं अगर कर्तबगारीचीं कामें करण्याचा मक्ता राज्यकर्त्यांनीं आपल्या हातांत ठेविला आहे. एल-फिन्स्टन, मालकम, औटराम, लेक, वेलस्ली वगैरे जुने मुत्सद्दी व योद्धे अथवा सिव्हिल किंवा मिलिटरी सर्व्हिसमध्ये हल्लीं असलेले किंवा ती सोडून नुकतेच स्वदेशास परत गेलेले हंटर, राबर्टस आदिकरून युरोपियन कामगार यांची चरित्रें पाहिलीं तर हीच गोष्ट आपल्या प्रत्ययास येते. महाराज जयाजीराव शिंदे यांनीं

ब्रह्मदेश काबीज केला नसता असें नाही, अगर राजपुतान्यांतील अथवा पंजाबांतील एखाद्या सरदारानेही अफगाणिस्थानावर हल्ला करूव जय मिळविला नसता असेंही नाही, पण हीं कामें आम्हांस सांगतो कोण ? जनरल पेंडरघास्ट अगर लॉर्ड रॉबर्ट्स यांच्याच वाट्यास तीं जावीत अशीच हल्लींची राज्यव्यवस्था आहे. जमिनीची मोजणी करण्याचें किंवा हिशेब राखण्याचें काम तर मोठ्या शौर्याचें नाहीना ? मुसलमानी राज्यातही तोडरमल्लासारख्या कामगारास हीं कामें मिळत असत; पण हल्लींच्या इंग्रजी राज्यांत फिन्यान्स मिनिस्टरची जागा नेटिवांस मिळण्याचा कधीं तरी संभव आहे काय ? लष्करांतील, मुलकांतील, जंगलखात्यातील अथवा तार, पोस्ट, पब्लिकवर्क्स वगैरे झाडून सर्व खात्यातील जबाबदारीच्या जागा युरोपियनासच मिळतात. हे युरोपियन जन्मतःच हीं खातीं चालविण्याची बुद्धी ईश्वरापासून घेऊन आलेले असतात असें नाही. विलायतेहून लालबुद तरणा बाड जेव्हां इकडे येतो तेव्हां तो आडमुठ्याच असतो. कोणास लेव्हल लावितां येत नाही, तर कोणास हिशेब कळत नाहीत अशी स्थिति असते. पण लौकरच ही गौर बालकें स्वजातीय वरिष्ठ अधिकाऱ्याच्या कृपादृष्टीनें खालील अधिकाऱ्यापासून काम शिकून घेऊन ज्ञानाने व वयानें आपले बाप शोभतील अशा सर्वॉर्डिनेट नेटिव्ह ऑफिसरावर अंमल करण्यास तयार होतात. नेटिव लोकांस वरिष्ठ जागा न मिळाल्यामुळे सर्व राष्ट्रचे जें खरोखर नुकसान होत आहे तें यांतच आहे. युरोपियन लोकांइतका नेटिव लोकांस पगार दिला नाही तरी हरकत नाही; पण युरोपियन अधिकाऱ्यास कामे करण्यास जी संधी मिळते ती आम्हांस द्या, असें जें मि. दादाभाई नौरोजी याचे म्हणणे आहे त्यातील ईंगितही हेंच होय. हिंदुस्थानच्या फडणिसांचें काम करणाऱ्या गृहस्थास हल्ली सालिना साठ हजार रुपये द्यावे लागतात. हेच काम पेशवाईत मोरोबादादा फडणीस सालिना दोन तीन हजार रुपये घेऊन करीत असत, व तें आजमितीसही आमच्यापैकी कोणीही साठ हजाराच्या निम्मे पैसे घेऊन हल्लींच्या फिन्यान्स मिनिस्टराइतकें चांगलें काम करण्यास तयार होईल. पण ते मिळावें कसें हाच मोठा प्रश्न आहे. पेशवाईत इतकी धामधूम असताही राज्याचे हिशेब आम्ही कसे चोख राखले होते, किंबहुना त्या वेळी कारकुनानीं काहीं काम केले असलें तर हेंच होय; पण आता तेंच काम करण्यास आम्ही नालायक ठरलों आहोंत. याचा परिणाम असा होणार आहे कीं, काहीं दिवसांनीं आम्हास हिशेब करितां येत होते कीं नाही याची देखील लोकांस शंका वाटणार. शास्त्रीय शोध करणें, परदेशात अगर परमुलखांत जाऊन तेथील लोकांवर हुकमत चालविणे, मुलुखगिरी करून नवीन प्रदेश हस्तगत करणें अथवा पोस्टासारख्या एखाद्या मोठ्या अवाढव्य खात्याची उभारणी करून व्यवस्था लाविणे हीं कामे आता आम्हास अपरिचित होऊं लागली आहेत. लिबार्नर, पील, प्रीचर्ड यांच्याइतके आम्ही बुद्धिवान

असलो तरी त्यांचा अनुभव मिळण्याचें साधन आम्हास नाही. नेटिव संस्थानांतून काही थोडा मिळावयाचा; पण तेथेही आमच्या दुर्दैवानें चांगली व्यवस्था आढळत नाही. साराश, चोहोकडून कोडले गेल्यामुळें आमची बुद्धि व साहस सर्बार्डिनेट सर्व्हिस किंवा प्रोव्हिन्शियल सर्व्हिसमध्येच कुजत आहे. ही स्थिति आजच्यापेक्षा अधिक उत्साहाचे व साहसाचे लोक या देशांत येऊन त्यांनीं राज्य कमविल्यामुळें झाली आहे हे खरें आहे; पण तेवढ्यानें हताश होण्यांत काहीं अर्थ नाही. आमच्या राज्यकर्त्यांच्या अंगीं जसे काहीं गुण आहेत तशा त्यास काहीं अडचणीही आहेत. करिता त्यांच्याकडून सर्वांशी आमचा व्हास होणें शक्य नाही. मात्र आम्ही आपली स्थिति कशी सुधारावी याचा नीट विचार करून त्याप्रमाणें होईल तितक्या लौकर उद्योगास लागलें पाहिजे.

अशा दृष्टीनें विचार करू गेले म्हणजे आपल्या अंगचें साहस, शौर्य, मर्दुमकी वगैरे गुण ज्यात व्यक्त होतील अशी सर्ब कामे आम्हास न मिळण्यासारखीं झाली आहेत काय असा प्रश्न सहजच उत्पन्न होतो. लष्करीखातें अर्थात् सदर खात्यातील अधिकाऱ्यांचा जागा आम्हास दुष्प्राप्य किंवा अप्राप्य झालेल्या आहेत खऱ्या; पण इतर खात्याची सर्वांशी तशी स्थिति नाही. तेथे हीही गोष्ट सांगितली पाहिजे की, इंग्रजी राज्य जरी राणीसरकारच्या नांवानें चालत आहे तरी इंग्रजी राज्यव्यवस्थेप्रमाणे खरी राजसत्ता महाराणीसरकारचे हातात नाही. महाराणीसाहेब म्हणजे इंग्रजी राज्यव्यवस्थेचा एक मुगुटमणी आहे. हिंदुस्थानचें राज्य कंपनीनें मिळविले आणि सिव्हिल सर्व्हिस चालवीत आहे असा खरा प्रकार आहे. या अधिकारमंडळात जितका आमचा जास्ती प्रवेश होईल तितके साहसादि गुण दाखविण्याचा आम्हास जास्त प्रसंग येईल हें उघड आहे; इतकेंच नव्हे, तर सदर गुण दाखविण्याचा वारंवार प्रसंग आल्यानें अभ्यासानें त्यांचा विकास होऊन ते देशातील लोकांच्या अंगी उत्तरोत्तर विशेष जागृत होत जातील. करिता सदर अधिकारीमंडळात आमचा प्रवेश कसा व्हावा याचा विचार आम्हास केला पाहिजे. इंग्रजी राज्यव्यवस्थेंत या अधिकारीमंडळात नेटिवाचा प्रवेश होण्याचीं द्वारे मुद्दाम होतील तितकीं दुर्गम व संकुचित करून ठेविलीं आहेत. मीठ, जंगल, पोलीस, कस्टम, तार पोस्ट वगैरे खात्यांचा बंदोबस्त आम्हांस ठेविता येणार नाही काय ? पण सिव्हिल सर्व्हिस परीक्षेप्रमाणें या खात्यापैकीं बऱ्याच खात्यांच्या अधिकाऱ्यांची परीक्षा विलायतेंतच होत असते. सिव्हिल सर्व्हिसची व ह्या दुसऱ्या परीक्षा हिंदुस्थानात होऊन सर्ब दिवाणी व मुलकी खात्यात नेटिवाचा जेव्हा प्रवेश होईल, व लष्करी खात्यांतही हुद्द्यांच्या जागा आम्हास मिळू लागतील तेव्हाच धैर्यांसाहादि राजगुण आमच्या अंगीं दिसू लागतील. हा सुदिन प्राप्त होणें अवधीचें काम आहे खरे; पण तो प्राप्त होणार नाही असें मात्र आम्हांस वाटत नाही. आमची अशी समजूत आहे की, या कामीं व्हावा तितका प्रयत्नच आमचे हातून झाला

नाहीं. कॉंग्रेसमध्ये व कॉन्फरन्समध्ये हिंदुस्थान व इंग्लंड देशांत समकालीन परिक्षा व्हाव्या म्हणून आम्ही ओरड चालविली आहे खरी, पण ही ओरड करण्यापूर्वी हल्लीं जीं द्वारे खुलीं आहेत त्यांचा तरी आम्ही पूर्ण उपयोग करून घेतला आहे काय ? मेडिकल, इंजिनियरिंग, पोलीस, जंगल, तार आणि मुलकी (सिव्हिल सर्व्हिस) खात्यातील. हुद्द्याच्या जागाकरिता विलायतेत ज्या परीक्षा होतात तेथें सर्वास जाण्याची मोकळीक आहे; पण आपले लोक तिकडे कितीसे जात आहेत ? परराज्यामुळे येथे व्यावसायिक परीक्षा विलायतेस द्यावी लागते हें एक संकट तरी खरेंच; पण जोंपर्यंत परराज्य आहे तोंपर्यंत असलीं सकटे सोसूनच त्यांतलेंत्यांत मार्ग काढिला पाहिजे. आमच्याकडील सरदार घराण्यांतील मंडळी कीं, ज्यांनीं मराठी राज्यांत महस्वार्चीं राजकार्ये केलीं होती त्यांनीं हे स्थित्यंतर लक्षांत आणून हल्लींच्या काळास योग्य अशा दिशेकडे आपला मोर्चा फिरविला पाहिजे. या मंडळीपैकीं बरेच लोक संपन्न बुद्धिमान् असतात; तरी त्यांनीं विलायतेस जाऊन राज्यातील मोठमोठीं कामे आमच्या लोकांस मिळण्याचा जो एकच राजमार्ग हल्लीं खुला आहे तेथे का गर्दी करूं नये हे आम्हांस समजत नाहीं. इंग्रज लोकानीं आम्हांस अधिकारीमंडळात न घेण्याच्या तजविजी करीत असवें; व आम्ही अधिकारी मंडळांत जेणेंकरून प्रवेश होईल असा उद्योग करावा अशी दोघामध्ये झटापट सुरू झाली पाहिजे. येथें लष्करी शिक्षणाची शाळा नसून आमच्या मराठे सरदारांच्या वंशजांस आपला पूर्वीचा धंदा चालविण्यास सवड नाहींशीं झाली आहे, तरी ही दुःस्थिति दूर करण्याचा आम्हीं प्रयत्न केला पाहिजे. परंतु तसा प्रयत्न न होतां आमचे पुढारी राज्यकर्त्यांप्रमाणे आमच्या मराठे मंडळीस असा उपदेश करूं लागले आहेत कीं, तुम्ही डि ओ डू शिकून कलमवहादूर व्हा. असो; साराश येवढाच कीं, आपल्या अंगी आपणास जर राजगुण यावयास पाहिजे असतील तर राजाधिकारी मंडळात आपला प्रवेश करून घेतला पाहिजे. या कामीं काडीइतकी देखील कसूर उपयोगी नाही. परीक्षा विलायतेत होवो किंवा पाताळात होवो; तेथें आम्ही सर्व अडचणी सोसून हजर असले पाहिजे. परकीय राज्याखाली आम्हास जे हक्क प्राप्त व्हावयाचे ते काहीं अंशी आमच्या उद्योगानें व काही अंशी राज्यकर्त्यांच्या सदिच्छेनेंच होणार आहेत; पण आम्ही आपण होऊनच जर अडून बसूं लागलो तर ही गोष्ट होणें शक्य नाहीं. तुम्हाला जास्त हक्क हवे असल्यास पुढें मिळतील; पण मिळाले आहेत तेवढ्याचा तरी तुम्ही नीट उपयोग करून घेत आहां काय ? इंग्रजी शाळेत जाऊन शिक्षणाच्या मुलाची संख्या इतकी वाढत चालली आहे कीं, त्यापैकी पाच पन्नास विलायतेस पाठवून तीं तेथें मेलीं तरीही देशांत काहीं कमती पडावयाचें नाहीं; व हाच न्याय भाटे, गुजराथी, मारवाडी वगैरे व्यापार करणाऱ्या ज्ञातीसही लागू आहे. हिंदुस्थानांत धंद्याची वाटणी जातवार झालेली आहे. विलायतेतल्या लोकांप्रमाणे वाटेल त्यास वाटेल तो धंदा येथें कोणी करीत नसे. ही स्थिति बरी किंवा वाईट हा प्रश्न निराळा; पण

अशी स्थिति असल्यामुळे सर्व जातींच्या लोकानींच विलायतसारख्या परदेशांत गेल्याखेरीज आतां गत्यंतर नाही. विलायतेतल्या लष्करी कॉलेजांत मराठे लोकांस घेत असले तर त्यांनीं तेथे गेले पाहिजे, व त्याचप्रमाणे भाट, गुजराथी, मारवाडी वगैरे व्यापारी लोकांनाही विलायतेस आपल्या पेढ्या करून आमच्या देशांतले गहू विलायतेत विकण्याकरितां जो युरोपियन व्यापारी नफा खातात तो आपल्या पदरात पाडला पाहिजे. परंतु हें सर्व काम आजमित्तिस सुशिक्षित ब्राह्मणांनींच पुढाकार घेऊन केले पाहिजे. म्हणजे ब्राह्मणांनींच उदमी व्हावें असे आम्ही म्हणत नाही; कारण आमचे असें मत आहे की, सुशिक्षित ब्राह्मण लोक अशा प्रकारे जेव्हा सर्व जातीचे धंदे आपणच करण्याची इच्छा धरतील तेव्हां इतर जातींचा त्यांच्यावर जो काहीं थोडाबहुत विश्वास आहे तोही नाहीसा होईल. सर्व धंद्यांची सुधारणा होणें व त्या त्या धंद्यातील जोखमीची व कर्तबगारीची कामें आपल्या हातांत येणें याचा खरा अर्थ आमच्या देशाच्या मानानें पाहिला तर असा आहे की, हे धंदे ज्या जातीतील लोक करितात त्या सर्वांशीं मिळूनमिसळून त्या सर्वांचा उत्कर्ष करण्याची इच्छा ब्राह्मणानी मनात ठेविली पाहिजे. निष्काम पुढारीपणा पत्करण्याचें रहस्य यांतच आहे. व तसा पुढारीपणा आमच्या सुशिक्षित वर्गापैकीं फारच थोड्या लोकांनीं पत्करला आहे; किंबहुना कोणीच पत्करला नाही असें म्हटलें तरी चालेल. आमचे काहीं लोक विलायतेहून जाऊन आले आहेत. पण त्यापैकीं बहुतेक असे आहेत की, त्यांची येथें कोठे डाळ शिजेना म्हणून विलायती पदव्या घेऊन येथें आले. अशा लोकांकडून कोणत्याही प्रकारची सुधारणा होणें शक्य नाही. किंबहुना ते त्याकरितां विलायतेस जातही नाहीत. बॅरिस्टर होऊन विलायतेहून आले म्हणजे काहीं विलायती संवयी त्यांस लागतात यापेक्षां दुसरा कोणताही फायदा होत नाही. असा; यांच्याशीं आपणांस तूर्त काही करावयाचें नाही. आमचें एवढेच म्हणणें आहे की, व्यापार, उद्योगधंदे अगर निरनिराळ्या खात्यातील मोठमोठ्या नोकऱ्या यात जर आपला प्रवेश होऊन उत्साहाची व कर्तबगारीचीं कामें (शक्य असतील तेवढींच) आपणास मिळावयास पाहिजे असतील तर ती गोष्ट साध्य होण्यास हल्लीं जे द्वार खुलें आहे तेथेच आपणास पहिल्यानें गर्दी केली पाहिजे. हा विचार आमच्या सुदैवाने काही लोकांच्या मनात येऊं लागला आहे; पण अद्याप त्याची जितकी चर्चा व्हावयास पाहिजे तितकी झालेली नाही. करितां हाच विषय पुन्हा घेऊन या संबंधाने आम्हांस आणखी जे काहीं विचार सांगणें आहेत ते पुढील खेपेस सांगूं.

(नंबर ६)

आजपर्यंत या विषयावर आम्हीं जे लेख लिहिले त्यांवरून पूर्वीच्या राज्यांत उदयास आलेल्या ब्राह्मणादि कारकुनी पेशांतील लोकांच्या बुद्धीचा,

शौर्याचा, साहसाचा अगर इतर गुणांचा हल्लींच्या राज्यांत कां विकास होत नाही याची आमच्या मताप्रमाणें जीं कारणें आहेत तीं वाचकाच्या लक्षांत आलीं असतील. ब्राह्मणांच्या गुणांचा हल्लीं विकास होत नाही ही गोष्ट प्रि. गोळे याच्याप्रमाणे आम्हासही मान्य आहे. आमचें एवढेंच म्हणणे आहे की, ब्राह्मणांचीच अशी स्थिति झाली असे नाही, तर इतर जातींवरही परकीय राज्यामुळे असाच प्रसंग आलेला आहे; व त्यांतून आपली सुटका करून ध्यावयाची असल्यास जेणेंकरून आमच्या हातून हल्लीं उपलब्ध असलेल्या सर्व साधनांचा उपयोग होईल, व सर्व जातींच्या लोकांस आपल्या पूर्वजांच्या धंद्याची, धाडसाची, चतुराईची अगर शहाणपणाची थोडोबहुत कामें करिता येतील, असे उपाय आम्ही योजले पाहिजेत. त्यातूनही ब्राह्मणांवर विशेष बोजा असा आहे की, त्यांनीं हे उपाय कोणते ते वाचनें व कृतीने आपल्या देशबाधवाच्या मनान भरवून दिले पाहिजेत. देशस्थितांचा विचार करून ती सुधारणेचे योग्य मार्ग कोणते हे लोकांस समजावून देणें व त्या मार्गाकडे त्यांची प्रवृत्ति करणें हेंच देशातील सुशिक्षित लोकांचें मुख्य कर्तव्य आहे; व ब्राह्मण जर आपणांस सुशिक्षित म्हणाविताने तर त्यांनीं ही गोष्ट पहिल्यानें केली पाहिजे नाहीपेक्षां प्रि. गोळे यांनीं भाकित केल्याप्रमाणें त्याचे तेज लौकरच नाहीसैं होऊन त्यांस श्ववृत्तीतच दिवस काढावे लागतील. हल्लीं अशी स्थिति आहे की, ब्राह्मणवर्गातील कोणाही शहाण्या वृद्ध मनुष्यास असें विचारिलें की काय हो, आपण आजपर्यंत काय केलेत, तर शेंकडा नव्याणव हिस्से त्याच्याकडून उत्तर येईल की, “ राजसेवा करून द्रव्यार्जन केले, संसार चालविला व राजदरबारात प्रतिष्ठा मिळविली. ” परंतु परवा मि. वीरचंद गाधी यानी आपल्या व्याख्यानात सांगितल्याप्रमाणें अशा प्रकारच्या वृद्ध गृहस्थास लागलीच असा उलट जबाब मिळेल की “ अहो, सरकारची नौकरी केली यात आपण काहीं मोठी कर्तबगारी केलीत असे नाही. आपला देह विकला होता, पण तो आता निरुपयोगी झाल्यामुळे सरकारने मोकळा केला आहे. देशाकरिता अगर स्वतंत्र रीतीनें दुसरें काही केलें असल्यास सागा. ” आमच्याकडच्या सुशिक्षित व पुढारी लोकांच्या विचारात व अमेरिकेसारख्या सुशिक्षित व स्वतंत्र पुढारी लोकांच्या विचारांत जें अंतर आहे तें हेंच.

असो; आता कोणी असा प्रश्न करतील की, “ तुम्ही म्हणता ही गोष्ट खरी आहे. देशांतील सुशिक्षित लोकांनी साहसाची कामें करण्याची संवय ठेविल्याखेरीज अथवा तीं त्यांस करावयास सापडल्याखेरीज त्यांच्या अंगी तेज रहावयाचें नाही; पण हीं कामें त्यांस करावयास मिळावीं कशीं ? तुम्हीच म्हणता कीं असल्या प्रकारचीं सर्व कामें इंग्रज लोकांनीं आपल्या हातांत ठेविली आहेत, आणि युक्तिवादानें या अधिकाऱ्यांचीं मने वळाविणें अशक्य आहे, तर मग काय आम्ही बंड करावें ? ” आमचें असा प्रश्न विचार-

पारांस येवढेंच सांगणें आहे कीं, इतक्या घाईवर येण्याचें आज काहीं कारण नाही. राजकतें या नात्याने इंग्रज लोकाची बुद्धि आम्हांस होईल तितकें निर्बल व सत्त्वहीन करावें अशी जरी असली, तथापि त्यांस एकोणिसाव्या शतकांतील सुधारलेल्या राज्यपद्धतीस अनुसरून काहीं गोष्टींत सर्वच झोटीगपाच्छाई करता येत नाही; व जेथे अशी अरेरावी ते करीत नाहीत तेथे आपण आपला प्रवेश पहिल्याने करून घेतला पाहिजे. व्यापारधंद्यात त्यांनीं सध्या तरी आपणांस मोकळीक ठेविलेली आहे. लोकांत मिसळून वागण्यात व त्यांस हल्लींच्या राज्यपद्धतीच्या दुष्परिणामांचें ज्ञान करून देण्यास इंग्रजी कायद्याप्रमाणे आम्हांस पूर्ण सवड आहे. देशोदेशीं जाऊन स्वामी विवेकानंदाप्रमाणें आमच्या धर्माचा व ब्रह्मविद्येचा परकीयास उपदेश करण्याची मोकळीक आहे; आणि कसेहीं झालें तरी आम्ही इंग्लंडास जाऊन राहण्यास तयार असलो तर राज्यकारभारातील जबाबदारीच्या जागा मिळण्यासाठीं तेथें परीक्षा देण्याची आम्हांस कोणी मनाई केलेली नाही. तात्पर्य, परकीय अमलाचा वरवंटा जरी आमच्यावर फिरत आहे तरी या वरवंट्यास कोठें कोठें बरेच मोठे खळगे आहेत, तें कोणते त्याचें नीट अवलोकन करून तेवढ्यापुरती तरी आपली वाढ होण्याचा प्रयत्न करा, म्हणजे कालेकरून याहीपेक्षा जास्त उद्योग करण्याची शक्ति तुमचे अंगात येईल. यापेक्षा सध्याच्या पिढ्याच्या हातून जास्त काहीं होणें अशक्य आहे.

परंतु जास्त जरी झाले नाही तरी आम्ही वर सांगितले तेवढेच आमच्या पिढीच्या हातून होत नाही अशी सध्याची स्थिति आहे; व ती कशी सुधारेल याचा प्रत्येकानें विचार केला पाहिजे. प्रि. गोळे यांचे या बाबतींतील उत्तर जरी आम्हांस मान्य नसलें तरी हा प्रश्न त्यांनीं उपस्थित केल्याबद्दल त्यांचे आभार मानिलें पाहिजेत. आमच्या एशियाखंडातीलच जपान देश घ्या. गेल्या तीस वर्षांत त्या देशातील लोकानी आपल्या उद्योगानें व साहसाने आपली स्थिती इतकी सुधारली आहे कीं जगातील सर्व लोकांस त्यांचे आश्चर्य वाटत आहे. जपानी लोकापेक्षां आम्ही बुद्धीने अगर शक्तीने खचित कमी नाहीं. मग आम्हांस त्यांच्या निम्न्याने नाही तर चतुर्थांशाने तरी उद्योग करण्याची बुद्धि का होऊं नये ! साहसाचीं व उद्योगाचीं सर्वद्वारें आपणांस बंद झालीं आहेत असे नाहीं. तर जीं द्वारें उघडीं आहेत तेथें भिक्षुकाप्रमाणे आपण गर्दीं कां करूं नये, हे आम्हांस समजत नाहीं. जपानी लोकांस राजाश्रय होता व आम्हांस तो नाही हा त्यांच्यात व आमच्यात मोठा भेद आहे खरा; पण या भेदासुळे आम्ही उद्योग केल्यास त्यांचे फळ केवळ शून्यलब्धीनेच मोजावें लागेल असें नाहीं. वास्तविक पाहिले म्हणजे या कामीं आमच्या पुढाऱ्यांनी आम्हांस किता घालून दिला पाहिजे; परंतु मागील लेखात सांगितल्याप्रमाणें ह्या पुढारी मंडळीने फर्स्टक्लास सर्वाॅर्डिनेट होण्यापलीकडे अद्याप फारसें लक्ष घातलेलें नाही. काँग्रेस, कॉन्फरन्स वगैरे संस्थामुळे देशहिताच्या काहीं काहीं मार्गांचें ज्ञान आपणांस होऊं लागलें आहे; पण काँग्रेस

अगर कान्फरन्स या केवळ वादविवाद व विचार करण्याच्या संस्था असल्यामुळे निरनिराळ्या दिशेने आम्हीं जे उद्योग आरंभिले पाहिजेत ते सदर संस्थांचे हातून तडीस जाण्याची मुळीच आशा नाही. याकरितां दुसऱ्या निराळ्या संस्था उभारल्या पाहिजेत; व त्या जर लौकर उभारल्या जाणार नाहीत तर आपली घडगत लागावयाची नाही. काँग्रेसकरिता ज्याप्रमाणे दरसाल पन्नास साठ हजार खर्च करण्यास आपण तयार झालो आहोत, त्याप्रमाणे आपण देशात राहून अगर परदेशात जाऊन उद्योगधंद्याचें ज्ञान संपादनं अगर राजकीय चळवळ करणें या कामाकरिता यावर्जाव खटपट करणाऱ्या लोकांच्या संस्था उत्पन्न करून चालविण्यास पैशाची आपण मदत केली पाहिजे. आमच्या देशास हल्ली जी मोठी उणीव आहे ती खरोखर कळकळीनें सार्वजनिक काम करणाऱ्या माणसांची होय. वकिलीच्या अगर बॅरिस्टरीच्या धंद्यात पैसे मिळवीत असता अगर सरकारी नोकरीत राहून फावल्या वेळात सार्वजनिक कामे करणारे आमच्यामध्ये काहीं गृहस्थ निघूं लागले आहेत; पण एवढ्याने आमचे काम भागत नाही व भागणारही नाही. आज आम्हास जें ओझे उचलावयाचें आहे ते इतके जबरदस्त आहे की, असल्या फावल्या वेळी सार्वजनिक काम करणाऱ्यांच्या हातून ते थोडे देखील उचलले जाणें अशक्य आहे. करिता आमच्या तरुण पिढीस आमची अशी विनती आहे की, त्यांनी हाच किता घेऊन पुढें चालूं नये. स्वामी विवेकानंद अगर मि. वीरचंद गार्धी यांच्यासारखे गृहस्थ अमेरिकेत जाऊन जर तेथील लोकांस हिंदुधर्माची दीक्षा देत आहेत तर इतर सुशिक्षित लोकांस हें काम फारसे कठिण जाईल असें नाही. आपापल्या प्रांतात, किंबहुना आपल्या गावात राहून आम्ही कुजत चाललो आहोंत; व जबाबदारीचीं कामे करण्याचा बरेच दिवस सहवास नसल्यामुळे आमच्या अंगी कांही तेज आहे किंवा नाही याचा आमचा आम्हांसच संशय येऊं लागला आहे; व आम्हास असे वाटूं लागले आहे की, आता आमच्या बायका शिकल्या म्हणजे मात्र आमचीं पोरें चांगली निपजतील. परंतु हा निव्वळ भ्रम आहे. बुडत्याचा पाय खोलांत अशी जी म्हण आहे त्याप्रमाणे हे सर्व विचार सत्त्वहीनपणाचें द्योतक आहेत. स्त्रीशिक्षण नको असे नाही; पण जोंपर्यंत देशांतील सुशिक्षित पुरुषांनीं आपला हुरूप कायम राखिला नाही, अगर वाढविण्याची तजवीज केली नाही तोंपर्यंत आमच्या बायका आम्हास साहसाच्या कामी मदत करतील अशी आशा करणें व्यर्थ आहे. परकीय राज्याखाली आम्हीं बलहीन व सत्त्वहीन होत चाललों आहोंत; व आम्हीं आहों तसेंच राहिलों तर आणखीही होत जाऊं; ते इतके की कधी काळीं इंग्रजी राज्य नाहीसें होण्याचा प्रसंग आला तर आम्ही आपले मेंढराप्रमाणे दुसऱ्याच्या ताब्यांत जाण्यास तयार होऊं. ही स्थिति सुधारण्याचा कांहीं मार्ग आहे काय ? हा प्रश्न प्रत्येक विचारी मनुष्यानें आपल्यापुढें ठेविला पाहिजे. याचें उत्तर देणें जरी सोपें नाही तरी तें अशक्य आहे असे नाही. ज्या

महाराष्ट्रांतील तरुण मंडळींनै एकदां सर्व हिंदुस्थानभर आपले घोडे फिरविले होते, त्यांस कालमानाप्रमाणे नव्या उद्देशाने व नव्या कारणाकरितां पुन्हां हिंदुस्थानभर नव्हे तर सर्व पृथ्वीभर पसरणे म्हणजे कांहीं दुरापास्त नाही. मात्र स्वदेशाकरितां एकनिष्ठपणाने आपले सर्व आयुष्य व बुद्धि खर्च करण्याचा त्यांनीं रामबाण निश्चय केला पाहिजे. आम्हीं ही जी सूचना करितों ती सर्वासच अनुलक्षून करित आहोंत; पण त्यांतूनही ब्राह्मणावर आमचा विशेष कटाक्ष आहे. इंग्रजी विद्येने ब्राह्मणाच्या अंगी जो विनाकारण अहंपणा उत्पन्न झाला आहे तो त्यांनीं सोडला पाहिजे. सर्व प्रकारच्या, सर्व दर्जांच्या व सर्व जातींच्या लोकांत मिसळून किबहुना त्यांच्यांत व त्यांच्याप्रमाणे राहूनही त्यांनीं आपली स्थिति कशी सुधारावी हे त्यास आम्हीं समजावून दिले पाहिजे. हे लोक पशु आहेत म्हणून त्यांचा तिरस्कार करणे कांहीं पुरुषार्थ नाही. त्यांचा व आमचा गळा एकेठिकाणीं बांधलेला आहे; व अखेरीस आम्हास जर कोणी तारणार किंवा मारणार असला तर हेच तारतील किंवा मारतील. क्षणभर युरोपियन लोकांत मिसळून वाहवा मिळविल्याने आमचा कांहीं निभाव लागणार नाही. अगर युरोपियन राजकर्ते आमची विद्वत्ता पाहून आम्हास कोणत्याही प्रकारचे हक्क देणार नाहीत. उलट राघू विशेष बोलावयास लागला तर त्यास पिंजऱ्यात घालून त्या पिंजऱ्याचा ते जास्त बंदोबस्त ठेवितील. सार्वजनिक हित साधण्याची दिशा याहून भिन्न आहे. त्याकरितां खरोखरीच सर्व प्रकारच्या व सर्व जातींच्या लोकांत आम्हीं मिळून-मिसळून वागले पाहिजे; व आमच्या स्वतःचे सर्व हित सोडून केवळ निष्काम बुद्धीने रामदाशाप्रमाणे अथवा साल्व्हेशनिस्टाप्रमाणे या बाबतींत उपदेशकाचा व मार्गदर्शकाचा धंदा स्वीकारला पाहिजे. ख्रिस्ती धर्मोपदेशकाची धाव किती अनिवार व अमर्यादित आहे ती पाहा. सर्व हिंदुस्थान किबहुना सर्व जग ख्रिस्ती करण्याच्या ते उद्योगास लागले आहेत; व एकदां आपणही (बौद्धधर्माच्या प्रसाराच्या वेळीं) अशाच हेतूने त्या वेळीं माहित असलेल्या जगाच्या सर्व प्रदेशावर पसरलों होतो. ज्याला ज्याला म्हणून आपल्या देशाकरितां कांहीं कर्तव्य करावयाचें आहे, अथवा ज्याचें अंतःकरण आपल्या देशाकरितां तुटत आहे त्याला हल्लींच्या काळांही याच मार्गाचें अवलंबन केलें पाहिजे. महाराष्ट्रांतचसें काय, पण झाडून सर्व हिंदुस्थानभर पसरून लोकांस आपल्या कर्तव्याची आम्ही ओखळ करून दिली पाहिजे, व जरूर लागल्यास देशांतरही करण्यास आम्हीं तयार असले पाहिजे. इंग्रजी शिक्षणपद्धति आमच्यामध्ये शिरून आज पाऊणशें अगर कांहीं ठिकाणीं शंभर वर्षे झालीं, इतक्या कालांत आमच्यामध्ये बूथ, ब्राडला अगर ह्यूम ह्यांच्यासारखीं माणसें निघूं नयेत ही मोठ्या दुःखाची व शरमेची गोष्ट नव्हे काय ? सरकारची आम्हांस मदत नाही खरीच; पण आपणच जर उद्योग केला नाही तर लोक तरी आपणास मदत करण्यास कसे प्रवृत्त होतील ? बरे, सरकारनें मदत केली नाही तरी तेवढ्यानें आम्ही आपले कर्तव्य करूं नये

असें होत नाही. ज्याने त्याने आपापल्या बुद्धीप्रमाणे स्थितिप्रमाणे आणि योग्यतेप्रमाणे आपले काम केलेच पाहिजे. हे काम आम्ही आजपर्यंत कितपत केले आहे याचा प्रत्येकाने विचार करावा. आमच्या मनांत जळत असलेले विचार इतर लोकांस कळविण्याची आम्ही कधी खटपट केली आहे काय ? अथवा परकी लोक आमच्या धर्माची व आमची एकसारखी निंदा करित असता आम्ही त्याचा काही प्रतिकार केला आहे काय ? नाही. मग उगीच राज्यकर्त्यांच्या नांवाने खडे फोडण्यात काही हंशील नाही. आम्ही पंगू तर खरेच; पण मनात आणिल्यास परमेश्वरसत्तेने अद्यापही हिमालय नाही तरी सहाय्यि तरी चढून जाऊं; पण तशा उद्योगास कोणीच लागलेला दिसत नाही. आजमितीस निरनिराळीं सार्वजनिक कामें करण्याकरिता राहिलेल्या मंडळीचे शेंकडों मठ अगर संस्था निघावयास पाहिजे होत्या; व जपानी लोकांप्रमाणे परदेशात जाऊन निरनिराळे उद्योगधंदे आम्ही धुडाळून आणावयास पाहिजे होते. परंतु आजपर्यंत ही गोष्ट केली नाही म्हणून अद्यापही ती करण्याची वेळ राहिली नाही असे नाही. अद्यापही पुष्कळ गोष्टी होण्यासारख्या आहेत. मात्र त्याकरिता मोठमोठे मठ अगर संस्था निघून त्यांनीं निरनिराळ्या दिशानी लोकांस जागृत करण्याची आणि त्यांची स्थिति सुधारण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे. आमची या बाबतीत महाराष्ट्रावर विशेष भिस्त आहे हे सागावयास नकोच. देशहिताकरिता भगवीं वस्त्रे धारण करण्याचा मार्ग महाराष्ट्रीयीयास अपरिचित आहे असें नाही, व तोच कित्ता जर त्यांनीं पुढे वळविला तर सिव्हिल सर्व्हिसची परीक्षा इंग्लंडात घेतली अथवा कापसाच्या मालावर जकात बसवून आमचा व्यापार विनाकारण कमी करण्याचा सरकारनें प्रयत्न केला तरी त्यापासून आमचे फारसे नुकसान व्हावयाचे नाही. साराश, देशहिताची जी जी म्हणून कामे करणें शक्य आहे तीं करण्यास साल्व्हेशनिस्टप्रमाणे वाहिलेली मंडळी आमच्यात निघाली पाहिजे. खिस्ती मिशनरी लोकांस कुळब्यामाळ्यात अगर महारापोरांत मिसळण्यास जर लाज वाटत नाही, तर आमच्या सुशिक्षित तरुण लोकांस ती का वाटावी हे आम्हांस कळत नाही. लोकांत मिसळणें, त्यांना त्यांच्या हिताच्या गोष्टी समजावून सागणें, परदेशांत जाऊन म्हणा अगर स्वदेशात राहून म्हणा जेणेंकरून आपले कल्याण होईल त्या सर्व गोष्टी घडवून आणण्याचा प्रयत्न करणें, आशा न सोडतां यावज्जीव एकसारखी दूरवर दृष्टि ठेवून उद्योग करणें आणि सर्वास घेऊन पुढे जाणें हा खऱ्या देशहिताचा मार्ग आहे. हे काम जेव्हा आपले लोक करूं लागतील, अथवा याकरिता जेव्हा ग्रॅज्युएट रामदासी हिंदुस्थानात अगर इतर देशांत संचार करित असलेले आढळण्यात येतील तेव्हांच आमच्या अंगी असलेल्या गुणांचा कांहीं विकास झाला तर होईल व स्थिति सुधारेल. नाहीपेक्षा परकीय राज्यांखाली क्षीणबल होत जाऊन अखेरीस रोमच्या विस्तृत राज्यातील प्रजेची

ज्याप्रमाणें स्थिति झाली त्याप्रमाणें आमची स्थिति होईल कीं काय अशी भीति वाटत आहे. करितां पुनः एकवार आमच्या तरुण मंडळीस आम्ही अशी विनंती करतो कीं, त्यांनीं या विषयाकडे दुर्लक्ष न करितां वर दर्शविल्या-प्रमाणें आपला देह, देशहिताच्या कामीं खर्च करण्याचा संकल्प करून व आपण आपल्या जन्मात काहीं तरी करून दाखवूं अशी बुद्धि मनांत बाळगून त्याप्रमाणें उद्योगास प्रवृत्त व्हावे. या कामात यश येण्यापूर्वी आमचीं बरींच माणसें खर्ची पडतील हें आम्ही जाणून आहो; पण येथे राहून तीस कोटी प्रजेत आणखी भर पाडण्यापेक्षा अशा रीतीनें देह ठेवण्याची पाळी आली तरीही त्यांत यत्किंचितही वाईट वाटण्याचे काहीं कारण नाही. आज अशा प्रकारचीं सर्व हिदुस्थानांत पन्नास साठ नाहीं तर पांच पंचवीस माणसे निघालीं तरी बस्स आहे; पण तेवढीं तरी आहेत कोठे ? प्रि. गोळे यांस जर शिक्षणपद्धतींत काहीं फरक करावयाचा असला तर ही बुद्धि विद्यार्थ्यांच्या मनात उत्पन्न होण्यासारखा केला पाहिजे; परंतु त्यांच्या ग्रंथांत ही दिशाच अजिबात सोडून दिलेली आहे.

(नंबर ७.)

प्रि. गोळे यांनीं आपल्या पुस्तकास व्यापक स्वरूप देण्याचा जो प्रयत्न केला आहे त्यासंबंधानें आमचें काय मत आहे ते कळविलें. आतां त्यांच्या ग्रंथां-तील जे दुसरे भाग आहेत त्यासंबंधानें दोन शब्द लिहून आमचे मित्र प्रि. गोळे यांची रजा घेण्याचा आमचा विचार आहे. आमचें असें मत आहे कीं, ब्राह्मण आणि त्याची विद्या असल्या प्रकारचे भपकेदार नाव न देतां प्रि. गोळे यांनीं जर “ प्रस्तुतच्या शिक्षणपद्धतीतील दोष ” असें आपल्या ग्रंथास नाव दिले असतें तर ते अधिक शोभलें असतें; व त्यांची पुष्कळ मते आम्हांस ग्राह्य आहेत असें म्हणण्यास सवड झाली असती. परंतु हा योग त्यांनीं आणून दिला नाही यास आमचा नाइलाज आहे. मागील लेखातून या विषयाचें जें विवेचन झालें आहे त्यावरून स्वदेशासंबंधें ब्राह्मण जातीचें काय कर्तव्य आहे याबद्दलचें आमचें मत-वाचकांस कळलेंच असेल. आपल्या देशाची हल्लींची स्थिति कशी आहे, ती इतकी निकृष्ट होण्याचें कारण काय, व ती सुधारण्यास कोणते उपाय करावे याचा प्रत्येक सुशिक्षित मनुष्यानें विचार केला पाहिजे. परंतु त्यांतले त्यांतही जातिधर्मानें म्हणा, अगर पूर्व संस्कारानें म्हणा, ब्राह्मण लोकांवर व विशेषतः महाराष्ट्रांतील ब्राह्मण लोकांवर असले विचार वरण्याची व मार्ग शोधून काढण्याची विशेष जबाबदारी आहे असे आम्ही समजतो. ब्राह्मण जातीचें अर्थात् ज्या लोकांनीं एकदा पुढाकार घेऊन स्वराज्याची स्थापना केली त्यांच्या वंशजाचें जर या जगात काहीं इतिकर्तव्य असलें तर हेंच होय. तुमच्या अंगांत ताकद नसली तर ती संपादन करा, उत्साह जात असला तर तो जाऊं देऊं नका; सारांश, काहींही करा पण हें जें स्वदेशाचें मोठें काम आहे, ह्यापासून पराङ्गमुख होऊं नका.

पूर्वेतिहासावरून हें काम करण्याचा अधिकार ब्राह्मणाकडेच आहे. व तो त्यांनीं सोडून दिला तर आज त्यांचे जागीं येऊन दुसरे लोक काम करतील असा संभवही नाही. यासाठीं महाराष्ट्रांतील ब्राह्मण उर्फ पादरपेशे लोकांस आमची पुनः पुनः अशी विनंति आहे कीं त्यांनीं आपलें बुद्धिवैभव व सामर्थ्य केवळ सरकार-चरणीं खर्च करण्याचा संकल्प करून आयुष्य घालवूं नये. लोकांस त्यांच्या हक्कांचें ज्ञान करून देऊन त्यांस सुखप्राप्तीचे मार्ग दाखविणें व जेणे करून परकीय लोकांच्या खटपटीनें आमच्या लोकांतील आपलेपणा नाहीसा होणार नाही अशी तजवीज करणें हीं कामें ब्राह्मणांचींच आहेत. आमची राजसत्ता लयास गेलीच आहे, आहे, पण आमचा धर्म, आमचा व्यापार, आमची शक्ती ही देखील लयास जातात कीं काय अशी परकीयांच्या सुळसुळाटाने आम्हास भीती वाटू लागली आहे. या भीतीचा प्रतिकार करून होईल तितके जास्त राजकीय हक्क संपादन करण्यास आम्ही उद्युक्त झालें पाहिजे. हा उद्योग काहीं लहान सहान नाही. तो करण्यास कित्येक चागल्या मनुष्यांस आपलें आयुष्य खर्च करावें लागेल, व इतकें करूनही एक दोन पिढ्यातच या कामात सिद्धि येईल असें नाही, तरीही पण हा उद्योग इतका महत्त्वाचा आहे कीं, तो केव्हांना-केव्हां केल्याखेरीज गत्यंतर नाही; व तो जितका लवकर सुरू होईल तितका चांगला. मिशनरी लोकांच्या मोठमोठ्या संस्था पाहिल्या म्हणजे आमच्यामध्ये तशा संस्था कां होत नाहीत असा सहजच प्रश्न उद्भवतो. पूर्वी अशा संस्था नव्हत्या असें नाही; पण हल्लींच्या काळात शिक्षणाचा व विचाराचा ओघ फारच सकुचित होऊन एकाच गतीनें वहात असल्यामुळे कोणासही कॉलेजात जाऊन बी. ए. व्हावयाचें व पुढें मोठी नोकरी मिळावयाची यापेक्षां काहीं एक जास्त दिसेनासें झालें आहे. आमच्या शिक्षणक्रमात जर काही एक फरक पाहिजे असला तर तो असल्या विचाराचा ओघ जेणेंकरून बदलल अशा विचाराचा पाहिजे; व प्रि. गोळे यांच्या ग्रंथांत अशा प्रकारच्या ज्या काहीं सूचना आहेत त्या आम्हास ग्राह्य आहेत.

ब्राह्मणांच्या कर्तव्यापैकीं मुख्य कर्तव्याचा हा विचार झाला. परंतु सर्वच ब्राह्मण या कर्तव्याला लागतात असे नाही. पुष्कळाची हाव काहीं तरी धदा करून संसार चालवावा एवढीच असणार; व ही त्यांची इच्छा जेणेंकरून तडीस जाईल अशा रीतीचें त्यांस शिक्षण मिळणे अगदीं आवश्यक आहे. केवळ शाळे-तील शिक्षणक्रम बदलल्यानें ब्राह्मणांच्या स्वऱ्या कर्तव्याची त्यांस ओळख होऊन ते कर्तव्यगारीचीं कामें करूं लागतील हें म्हणणे आम्हास रास्त दिसत नाही असें मागें सांगितलेंच आहे. शिक्षणपद्धतीतील दोषामुळेच आमच्यामधील साहसादि गुण नष्ट झाले, हेंच जर आम्हांस खरें वाटत नाही तर तो क्रम बदलल्यानें सदर गुण आमच्या अंगीं येतील असें न वाटणेंही स्वाभाविक आहे. आमच्या साहसाची, बुद्धिमत्तेची व कर्तव्यगारीची आमच्या राज्यकर्त्यांस जरूर नाही; व

आम्हीं शिकस्त म्हणजे किती उच्च उडी मारावी हें त्यांनीं ठरवून टाकिलें आहे अशा स्थितींतही आम्हांस आमचा दुरूप कायम ठेविला पाहिजे. परंतु तो किंडर गार्डन सिस्टिम शाळांत सुरू ठेविल्याने राहिल अशी आमची मनोदेवता आम्हांस सागत नाहीं. परंतु आमच्या व प्रि. गोळे यांच्या मतांत जरी या बाबतींत भेद आहे तरी त्यांनीं ज्या काही शिक्षणक्रमांत लहान मोठ्या सुधारणा सुचविल्या आहेत त्यापैकी बऱ्याच विचार करण्यासारख्या आहेत हें आम्हीं मोठ्या संतोषानें कबूल करितो. आमच्या मुलावरील शिक्षणाचें ओझें जितकें कमी होईल, त्यास शिक्षण देण्याचे मार्ग जितके सुलभ होतील तितके आम्हांस पाहिजे आहेत. पूर्वीच्या राज्यात जे शिक्षण लागत होतें त्यापेक्षां हल्लींच्या राज्यात सामान्यतः तें दसपट अधिक लागत आहे, व वरच्यावरच्या लोकांस ते शतपटही अधिक लागतें असे म्हटले तरी चालेल. हें सर्व ओझें जितकें हलकें होईल तितके करण्यास शाळेच्या अधिकाऱ्यांनी व विशेषतः खाजगी शाळांच्या अधिकाऱ्यांनीं मनापासून झटलें पाहिजे. सरकारच्या दृष्टीनें खाजगी शाळांचा एवढाच उपयोग आहे कीं, सरकारास जें काम करण्यास पैशाची अडचण आहे ते काम खाजगी शाळा थोड्या खर्चाने करूं शकतात. म्हणजे सरकारच्या मनात शाळा जास्त व्हाव्या असें आहे, पण पैसे जास्त द्यावयाचे नाहींत. करितां एका हायस्कूलच्या खर्चांत दोन खाजगी शाळा चालल्यास त्यास हव्या आहेत; व त्या होईल तितक्या करून त्याच्या पद्धतीने चालव्या अशी त्याची इच्छा आहे. या इच्छेस खाजगी शाळांच्या व्यवस्थापकांनी कितपत मान द्यावा हाही हल्लींच्या शिक्षणपद्धतींत एक मोठा महत्त्वाचा प्रश्न आहे, पण त्याचाही कोठें प्रि. गोळे यांनीं विचार केलेला नाहीं उलट आपल्या विचाराबद्दल आपल्या सोसायटींतील स्नेही जबाबदार नाहींत अशी त्यांनीं आरंभीच इशारत दिली आहे. शिक्षणासंबंधी ज्या काहीं सुधारणा करावयाच्या त्या स्वार्थावर दृष्टी न देतां काढलेल्या शाळांतून जर व्हावयाच्या नाहींत तर व्हावयाच्या तरी कोठे हे आम्हांस समजत नाहीं. शिक्षण जितके सुगम व सुलभ करितां येईल तितकें करणे हेंच खाजगी शाळांचे मुख्य कर्तव्य आहे; व ते जर त्यांनीं बजाविलें तर प्रि. गोळे यांच्या ग्रंथातला जो ग्राह्य भाग आहे तेवढा त्यास सहज अमलात आणिता येईल.

ब्राह्मणांच्या व्यवसायासंबंधानें प्रि. गोळे यांचें दुसरे एक मतही आम्हांस ग्राह्य आहे. तें हें कीं, ब्राह्मणानें आपली दृष्टी इतर धंद्याकडेही आता थोडीथोडी वळविली पाहिजे. राज्यकारभारातील अगर व्यापारातील मोठ्या फायद्याचा भाग इंग्रजांनीं आपल्या हातांतच ठेविला आहे, व तो त्यांच्या मगरमिठींतून सुटेल तेव्हा सुटेल. तोंपर्यंत लोणी युगेपियनास जाऊन खाली राहिलेल्या ताकांतच आम्हांस आपली तहान भागविली पाहिजे. ब्राह्मणांच्या पूर्वीच्या व्यवसायांपैकी बराच भाग राज्यकर्त्यांनीं आपल्या ताब्यांत घेतला आहे, व जो अवशिष्ट राहिला आहे त्यांतही इतर लोकांनीं ब्राह्मणांचे वाटेकरी व्हावे अशीं इंग्रज लोकांची पूर्ण

इच्छा असून त्याबद्दल त्याचे प्रयत्नही चालू आहेत. ह्या स्थितीत केवळ नौकरी-वर ब्राह्मणाचा निर्वाह लागेल असे दिसत नाही. कारकुनीच्या धंद्यात ज्याप्रमाणे इतर लोक प्रवेश करित आहेत त्याचप्रमाणे इतर लोकांच्या धंद्यातही ब्राह्मणास थोडाबहुत प्रवेश करावा लागेल. परंतु असा प्रवेश करिते वेळी दोन गोष्टींची खबरदारी घेतली पाहिजे. एक अशी की, त्यामुळे ब्राह्मण वर सांगितलेल्या आपल्या मुख्य कर्तव्यास विसरणार नाहीत, नाहीतर उत्साहवृद्धि करण्याच्या कामांत सर्वच हमळो वनण्याचा प्रसंग येईल. दुसरी गोष्ट अशी की, ज्या इतर जातीचे धंदे ब्राह्मणांनी करावयाचे ते धंदे त्यांनी अशा रीतीने केले पाहिजे की, त्यामुळे त्या जातीतील लोकांचाही थोडा-बहुत फायदा होईल. असे न झाले तर खोखोच्या डावाची अवस्था होणार आहे. कर्तबगारीच्या व जबाबदारीच्या जागावरून युरोपियनानी ब्राह्मणांस खो दिला म्हणून ब्राह्मणांनी वैश्यास व शूद्रास खो देऊन स्वरक्षण करावे हे तत्त्व डार्विनच्या मताप्रमाणे खरे दिसेल, पण सामाजिक नीतिमत्तेच्या अथवा देशहिताच्या दृष्टीने असा खोखोचा प्रकार होणे आम्हास इष्ट नाही. इंग्रजी राज्यकर्त्यांनी सर्वासच खो दिला आहे, व सर्वांनी मिळून ज्या जागातून खो देऊन आपणांस काढिले आहे त्या जागापैकी थोडीबहुत जागा तरी आपल्या कव्हात घेण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे. इंग्रज राज्यकर्त्यांचे असे म्हणणे आहे की, आम्ही तुम्हास खो दिला आहे खरा, पण आम्ही तुमची अर्धा भाकरी घेतो म्हणून तुम्हास अर्धा तरी सुखाने खावयास मिळते. परंतु हे त्याचे म्हणणे केवळ अपमतलविपणाचे आहे, गोऱ्या लोकांनी हिंदुस्थानात पाय ठेविला नसता तर आज आम्ही सर्व रानटी अवस्थेत असतो या म्हणण्यांत जितके हंसील आहे तितकेच राज्यकर्त्यांच्या वर दिलेल्या कल्पनेत आहे. परंतु असल्या कल्पनेस पुष्टीकरण मिळण्यासारखाही काही मजकूर प्रि. गोळे यांच्या ग्रंथात एक दोन टिकाणी आलेला आहे.

असो; प्रि. गोळे यांनी आपल्या ग्रंथात प्रासंगिकतेचा विचार न करिता ठिकठिकाणी इतक्या अप्रस्तुत गोष्टी घातल्या आहेत की, त्या सर्वांचे विवेचन करण्यास लागले तर त्याच्या ग्रंथापेक्षा दुपट मोठा ग्रंथ लिहावा लागेल. घरच्या-घरी बसून जगात चाललेल्या लहान मोठ्या गोष्टींवर विनदिकत टीका करण्याची व बहुतेक गोष्टीत दोन्हीही पक्षास मूर्ख ठरविण्याची प्रि. गोळे यांची हौस इतकी अनिवार आहे की, तिच्या टप्प्यातून बहुतेक कोणताच विषय सुटलेला नाही. जणोकाय आपणास जो हा ग्रंथ लिहिण्याचा प्रसंग आला आहे यात आपले विचार दाखल न केल्यास ते लुप्तप्राय होऊन जगाची हानि होण्याचा संभव आहे अशी ग्रंथकर्त्यांची पुरी समजूत झालेली होती. प्रि. गोळे यांचा ग्रंथ अलीकडे भाषातराचे किंवा उष्ट्या विचाराचे जे काही ग्रंथ होतात त्यापेक्षा अधिक योग्य-तेचा आहे, व कांही तरी नवीन गोष्टी सांगण्याचा ग्रंथकर्त्यांचा हेतु असल्यामुळे, व त्याची भाषासरणीही चांगली जोरदार असल्यामुळे, एकंदर ग्रंथ अपरिपक्व

विचारांचा असला तरी वाचण्याजोगा झालेला आहे असे म्हणण्यास आम्हांस कोणतीच हरकत दिसत नाही. प्रि. गोळे यांचे विचार आम्हांस मान्य नसले तरी ते एकदा वाचण्यासारखेही नाहीत असे आम्ही म्हणत नाही. हेच विचार याहीपेक्षा व्यवस्थित रीतीने प्रि. गोळे यांस लोकापुढे मांडता आले असते, परंतु नसते विषय मध्ये आणून सर्व पक्षांच्या व विचारांच्या लोकाची टवाळी करण्याची जी ग्रंथकाराची बुद्धी आहे त्यामुळे विसंगतता, अप्रासंगिकता व अप्रयोजकता या त्रिदोषाने या ग्रंथाची किंमत बरीच कमी झालेली आहे हे दोष काढून टाकून जर प्रि. गोळे शास्त्रीय पद्धतीने एखाद्या विषयाचे आमूलाग्र विवेचन करतील तर त्यांचा ग्रंथ इतका चटकदार न झाला तरी अधिक उपयुक्त व विचारणीय होईल अशी आमची खात्री आहे. ही सूचना प्रि. गोळे यास पसंत पडेलच असे आम्ही सांगू शकत नाही; तथापि ती करणे आमचे कर्तव्य आहे. करितां त्याबद्दल जर प्रिन्सिपलसाहेबास वार्डट वाटत असेल तर त्याची माफी मागून व आज पांच सात आठवडे त्यांनी आपल्या ग्रंथाने आमचे विचार लोकांस कळविण्याची आम्हांस जी संधि दिली त्याबद्दल त्याचे आभार मानून हे त्यांच्या ग्रंथातील प्रमुख मुद्द्यांचे स्वल्प परीक्षण पुढे करितो.

*अज्ञेयवाद.

आमचे मित्र रा. रा. नारायण लक्ष्मण फडके वी. ए. यांनी स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथाच्या आधारे मराठीत अज्ञेय मीमांसा या नावाचा तयार केलेला ग्रंथ सदर ग्रंथाचे प्रकाशक रा. रा. दामोळकर याचेमार्फत आमचेकडे येऊन दोन तीन महिने झाले. परंतु दुसऱ्या विषयांच्या गर्दीमुळे त्या ग्रंथाकडे वळण्यास आम्हांस आतापर्यंत फुरसद झाली नाही. ग्रंथाचे बाह्यस्वरूप रा. रा. दामोळकर यांच्या उपयुक्त ग्रंथमालेतील इतर ग्रंथाप्रमाणेच सुबक झालेले आहे; व एकंदरीत त्यांनी प्रसिद्ध केलेल्या ग्रंथमालेस हल्लीचा ग्रंथ पूर्णपणे समजण्यासारखा झाला आहे. रा. रा. फडके यांनी ग्रंथाच्या अखेरीस हर्बर्ट स्पेन्सर यांचे स्वल्प चरित्र जोडले असल्यामुळे हा ग्रंथ अधिक उपयुक्त झालेला आहे. ग्रंथाची भाषा विषयानुरोधाने कठीण असावयाचीच; परंतु त्यातलेत्यात ती सुगम होण्याचा जितका करवेल तितका प्रयत्न रा. रा. फडके यांनी केलेला आहे. जगात ज्या ज्या वस्तु आपणांस इंद्रियगोचर होतात त्यांचे यथार्थज्ञान होणे आपणास अशक्य आहे, हे अलीकडील पदार्थविज्ञानादि शास्त्रांच्या आधाराने सिद्ध केलेले ज्यास पहावयाचे असेल त्यास हा ग्रंथ वाचून पुष्कळच फायदा होईल हे सांगावयास नकोच. आपणास जगाचे जे ज्ञान होत आहे ते कोणत्या प्रकारचे आहे याचा स्पेन्सर साहेबानी जसा अलीकडील

शास्त्रास धरून सूक्ष्मरीतीने विचार केला आहे तसा आमच्या जुन्या ग्रंथांत नाही, हे आम्हांस मान्य आहे. पण दिक्कालादि पदार्थांच्या अज्ञेयत्वाची उदात्त कल्पना आमच्या मनावर ठसवून देण्यास स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथांचीच आमच्या लोकांस जरूर आहे असे आम्हांस वाटत नाही. यासंबंधाने रा.रा.फडकेयांचा आमच्याबद्दल थोडासा गैरसमज झाला आहे तोही येथे दूर केला पाहिजे. रा. रा. फडके यांनी या ग्रंथाच्या शेवटी जोडलेल्या हर्बर्ट स्पेन्सर याच्या चरित्राचा उपोद्घात केसरी-कार घ्या, सुधारककार घ्या किंवा मलबारी शेट घ्या त्या सर्वांस स्पेन्सर साहेबांची मते सारखीच मान्य आहेत. “ नामदार टिळक यांचा या बाबतीत कै. आगरकराशी कांही मतभेद होता अगर असेल तर तो स्पेन्सरसाहेबांच्या विचाराच्या याथार्थ्याबद्दल किंवा अयाथार्थ्याबद्दल नव्हे; तर प्रस्तुतकार्णी व प्रस्तुतस्थिततीत ते आपणास किती व किती प्रमाणाने लागू करितां येतील याबद्दलच होता किंवा असेल. ” रा. रा. फडके यांनी आमच्याबद्दल हा जो अभिप्राय दिलेला आहे तो चुकीचा आहे असे त्यास कळविणे भाग आहे, यापैकी पहिल्या भागांत स्पेन्सरसाहेबांची मते आम्हांस दोघांसही यथार्थ वाटतात असे लिहिले आहे ते अगदी बरोबर आहे; परंतु पुढे जो भेद दाखविला आहे तो मात्र वास्तविक नाही. आमचे मित्र कै. आगरकर अथवा सुधारकाचे प्रस्तुतचे एडिटर याच्या व आमच्यामध्ये जर काही मतभेद असला तर तो रा. रा. फडके समजतात त्यापेक्षा निराळ्या तऱ्हेचा आहे. आमचे असे म्हणणे आहे की, स्पेन्सरसाहेबांच्या अज्ञेय-सिद्धान्ताचे आमच्या बंधूस जितके महत्त्व वाटते तितके हिंदुस्थानात जन्मून आम्हांस वाटण्याची जरूर नाही. “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” अशा रीतीने आत्म्याची व्याख्या ज्या लोकांच्या ग्रंथातून केली आहे त्यास जगाच्या मूळाशी काही अज्ञेय आहे त्याचे स्वरूप कळले नाही तरी त्याचे अस्तित्व कबूल करावे लागते; अर्थात् ते सत् आहे, व शास्त्र व धर्म यांची या बाबतीत एकवाक्यता होण्याचा संभव आहे, ही तत्त्वे सांगण्यास स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथाची अवश्यकताच आहे असे आम्हांस वाटत नाही. इंद्रियार्थ सन्निकर्षापासून झालेले ज्ञान प्रत्यक्ष असते व तसे प्रत्यक्ष ज्ञान “इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु पराबुद्धि र्यद्बुद्धेः परतस्तु सः । ” असल्या विषयाबद्दल होणे शक्य नाही हे तत्त्व आमच्या पूर्वीच्या वेदांत्यास दर्शनानुसाशन, पदार्थविज्ञानशास्त्र अथवा जीवनशास्त्र यांच्या साहाय्याने जरी सिद्ध करितां आले नसले तरी त्या तत्त्वाची त्यास इतकी पुरी ओळख पटली होती की, त्याबद्दल जास्त पुराव्याची त्यास यत्किंचितही जरूर नव्हती; किंबहुना स्पेन्सरसाहेबांनी या अज्ञेयवादास जे स्वरूप आणिले आहे त्यापेक्षाही परिणत स्वरूप आमच्या ग्रंथांतून या तत्त्वास प्राप्त झाले आहे. अशी स्थिति असतां दिक्कालादिकांनांसुद्धा अनवल्लिन्न अतएव त्यांच्या मुळाशी असूनही स्वरूपतः अज्ञात अशा तत्त्वाचा केवळ स्पेन्सरच्या आधारावर आम्हांस उपदेश करू पाहणे म्हणजे एक प्रकारे घरेचे सोने विसरून जाऊन लोकांच्या रुप्याकरितां धांव

घेण्यासारखें आहे. यावरून स्पेन्सरसाहेबांची योग्यता आमच्या बंधूपेक्षां आम्ही कमी मानतो असें कोणीही समजू नये. उत्क्रमण तत्त्वाचा (उत्क्रमण हा शब्द इव्होल्यूशनचा अर्थ जितक्या चागल्या रीतीनें दाखविला गेला पाहिजे तितक्या चागल्या रीतीनें दाखवीत नाही) पूर्ण विकास करून हें तत्त्व चोहोंकडे लावण्याचा ज्या तत्त्ववेत्त्यानें प्रयत्न केला त्याचे महत्त्व आम्ही वर्णावे तितकें थोडेंच. किंबहुना सर्व पाश्चात्य तत्त्व विचारास या महातत्त्ववेत्त्यानें एक प्रकारचे निराळेंच वळण लावून दिलें आहे असें म्हटले तरी चालेल. आमच्या व आमच्या बंधूचा जो मतभेद आहे तो स्पेन्सरसाहेबांच्या यथार्थतेबद्दल नव्हे अथवा त्यांच्या योग्यतेबद्दलही नव्हे. हे आधुनिक काळचे ऋषिवर्य आम्हासही पूज्य व वंद्य आहेत. पण त्यामुळे आम्ही आपल्या पूर्वीच्या ऋषिवर्यास विसरून जाऊन केवळ स्पेन्सरसाहेबांचेच पोवाडे गात बसावे हे आम्हास बरे वाटत नाही. सुधारकात अथवा रा. रा. फडके यांच्या प्रस्तुतच्या पुस्तकांत जो दोष आहे तो हाच होय. केवळ स्पेन्सरच्या ग्रंथाचेच भाषांतर अथवा गोषवारा वाचकापुढे मांडिल्यानें हें एक काहीं नवेंच तत्त्व ग्रंथकार आपणापुढें मांडीत आहे असा काही भास होतो, व त्यामुळे त्याचा गैरसमज होऊन त्यांच्या विचारासही अनिष्ट वळण लागतें तशी स्थिति होणें इष्ट नाही. करिता ज्यास स्पेन्सरसाहेबासारख्याचे तत्त्वविचार आमच्या लोकापुढे मांडावयाचे असतील त्यांनीं ते इकडील पूर्वीच्या विचाराशी ताडून पाहून परस्परांचे साम्य अगर भेद लक्षात आणून मग लोकापुढें मांडिले पाहिजे. कारण हिदुस्थानची जर कशाबद्दलची ख्याति असली तर ती धर्मविचाराबद्दल होय. हे विचार हल्लींच्या शास्त्रीय पद्धतीनें आम्हास सुचले नसतील अगर आम्हीं त्यांचे प्रतिपादन केलें नसेल, परंतु त्यामुळें त्याची किंमत काही कमी होते असें नाही. यामाठीं केवळ स्पेन्सरसाहेबांचा ग्रंथ आपल्या हातात नव्याने पडला अथवा उदात्त विचाराची त्यांच्या ग्रंथ वाचनानेंच प्रथमतः आपणास ओळख झाली येवढ्यावरून आमच्या देशांतील वाचकापुढें हे तत्त्व त्यास नवे भासेल अशा रीतीने मांडण्यास आम्ही उद्युक्त होऊं नये. निदान हें विवेचन करिते वेळीं आमच्या जुन्या ग्रंथातील विचारांचें याच्याशी होईल तितकें साम्य दाखविण्याचा तरी आत्रणांस उद्योग केला पाहिजे. हें काम जरा जोखमीचे व विचारांचें आहे खरें, परंतु तत्त्वविचाराचे ग्रंथ ज्या अर्थी नेहमीच प्रसिद्ध होतात असें नाही त्या अर्थी या असल्या ग्रंथातून, पहिल्यानेच आम्ही वर सांगितल्याप्रमाणें, प्राच्य व पाश्चात्य विचारांचे साम्य दाखविण्यांत आलें पाहिजे. साराश रा. रा. फडके यांनी आमच्या सुधारकाचा जो मतभेद दाखविला आहे तो बरोबर नसून खरा भेद निराळ्या प्रकारचाच आहे. स्पेन्सरसाहेबांची मते प्रस्तुत स्थितीत व प्रस्तुत काळीं आपणास किती व किती प्रमाणानें लागू करिता येतील याबद्दल मतभेद असल्यामुळे आम्ही ती विस्तारें सागत बसत नाही असें नाही, तर आमचें असें मत आहे कीं, हें तत्त्वच आम्हास नवीन नाही, व यद्यपि

त्याची भीमांसा आम्ही स्पेन्सरसाहेबासारखी केली नसली तरी विश्वाच्या बुडाशी जें काही आहे तें केवळ सत् आहे, इतकेंच नव्हे तर, चिदानंदात्मकही आहे, येथपर्यंत आमची मजल गेलेली आहे. या मजलेची ज्यास ओळख झालेली नाही त्यास स्पेन्सरसाहेबाची विचारसरणी जितकी मोहक व प्रगल्भ वाटेल तितकी ती केसरीकारास न वाटणें अगदी स्वाभाविक आहे. अज्ञेयमीमांसेचीं तत्त्वे आम्हांस किती लागू करावयाचीं हा प्रश्न आमच्यामते उपस्थित होत नाही. हीं तत्त्वे आमच्या देशात ज्या कोणास थोडाबहुत विचार करण्याची शक्ति आहे, मग तो जुना असो वा नवा असो—त्या सर्वांसही एकसारखी लागू आहेत. त्यात मतभेदास कांही जागा नाही. परंतु आम्ही जर तीं सांगू लागलो तर आमच्या मित्रापेक्षां तीं काहीं तरी निराळ्या रीतीनें सांगू; व रा. रा. फडके यासही आमची अशी विनंती आहे कीं, या ग्रंथाची पुनरावृत्ति काढण्याचा त्यास प्रसंग आल्यास त्यानी आम्ही वर सुचविल्याप्रमाणें अवश्य व्यवस्था करावी. यापेक्षा ह्यात तत्त्वज्ञानाबद्दल दुसरा कोणताही मतभेद आमच्यामध्ये व आमच्या बंधूमध्ये आहे असें आम्हांस वाटत नाही. स्पेन्सरच्या ग्रंथाचे नुसतें भाषांतर झाले तरीही काही लहान काम झालें असें नाही. कारण खुद्द इंंग्रजीतही जर असले ग्रंथ स्वपण्याची मारामार पडली होती तर आमच्याकडची कथा काय ? रा. रा. दामोळकर यांचे जे आभार मानावयाचे ते ह्याचसाठीं होत. स्पेन्सरच्या बऱ्याच ग्रंथाचा महाराष्ट्र वाचकास त्यानीं परिचय करून दिला आहे, व असाच उद्योग कायम ठेवून या ऋषिवर्यांचे ग्रंथ आम्हांस जितके अधिक वाचावयास मिळतील तितका उद्योग करावा अशी त्यास आमची शिफारस आहे. स्पेन्सरसाहेबाच्या मताचा यथार्थतेबद्दल वादविवाद करण्याचें हें स्थळ नव्हे, करिता ग्रंथकाराचे व प्रकाशकाचे पुनः एकवार आभार मानून हा लेख संपवितो.

(केसरी ता. १८ आगस्ट १८९६).

* न्यायमूर्ति रानडे यांची ब्रह्ममीमांसा

डॉ. प्रेझर यानीं वरील विषयावर दिलेल्या व्याख्यानाचा सारांश देऊन त्या सारांशाबरोबरच इकडील वेदात्याचे सद्य विचार किंवा प्रमेयें इकडील लोकास समजून देण्याचा नामदार न्यायमूर्ति रावबहादुर रानडे यानीं मुंबईतील वुड्सन कॉलेजात “फिलॉसफी ऑफ थिइझम” या विषयावर व्याख्यान देऊन जो प्रयत्न केला तो खरोखरच फार प्रशंसनीय होय. धर्माचीं रहस्ये आमच्या जुन्या धर्मात किती चांगल्या रीतीने सांगितली आहेत याचें न्यायमूर्तीसारख्या बहुश्रुत व पुढारी

*[केसरी, ता. १२ आक्टोबर १८९६].

गृहस्थांनी आमच्या इंग्रजी शिकलेल्या मंडळीस बोध करून देण्याचें मनांत आणिलें हीच आधीं आमच्या मते मोठी महत्त्वाची गोष्ट आहे. सर्व धर्मीतील ईश्वरप्रणीत ग्रंथाची भट्टी लावून आपल्या बुद्धीच्या तेजःसामर्थ्यानें त्यातून गाळून निघालेला अर्क आटा आटा दिवसानीं प्रार्थना मंदिरांत जमणाऱ्या आधुनिक भाविक जनास श्रोतृपेय करण्याचे आध्वर्युत्व आज ज्यांनीं बरेच दिवस पत्करिलें होतं, त्याचे तोंडून अगदीं नूतन पाश्चात्य विचारांच्या तोडीस तोड देण्यासारखे आमच्या जुन्या प्राच्य ग्रंथात विचार आहेत, येवढें तरी विधान त्याच्या दृष्टीनें च कां होईना, पण सप्रमाण निघाले हे पाहून आम्हांस फार संतोष होतो; व मनात अशी उमेद येते कीं, आमच्या रावबहादुराच्या विचारास जी हल्लीं दिशा मिळाली आहे तिचा रोख तसाच कायम राहिल्यास शंकराचार्यांच्या अद्वैत सिद्धान्ताची आणि रावबहादुराच्या विचाराची केव्हांना केव्हां तरी एकवाक्यता होण्याचा खास प्रसंग येईल. जर्मनीतील बरेच तत्त्ववेत्ते अलीकडे शंकराचार्यांच्या मताचा स्वीकार करूं लागले आहेत, व कित्येकानीं तर अद्वैत सिद्धान्त हाच काय तो तर्कशास्त्राच्या कसोटीला टिकतो अगर टिकण्यासारखा आहे असे साफ लिहिलें आहे. न्या. रानडे यांच्यासारख्या प्रार्थनासमाजातून अद्याप पूर्णपणें बाहेर न पडलेल्या गृहस्थास जर्मन तत्त्ववेत्त्यांचे शंकराचार्यांच्या सिद्धान्ताबद्दलचे अभिप्राय पूर्णपणें कधीही संमत व्हावयाचें नाहीत हे आम्हीं जाणून आहो. भक्तिमार्गास जीव आणि ब्रह्म याचें ऐक्य विघातक आहे अशी रा. व. रानडे यांची समजूत आहे असें त्यांच्या लेखांवरून स्पष्ट होतें; पण आमच्याकडील संतमंडळांच्या मतेही ही समजूत चुकीची आहे हे लक्षात ठेविलें पाहिजे. ज्ञानमार्गानें प्राप्त होणारी सायुज्यता भक्तिमार्गानेही प्राप्त होते असें भगवद्गीतेंत स्पष्ट सांगितलें आहे. भागवत धर्मास द्वैत अगर विशिष्टाद्वैत मताचाच स्वीकार केला पाहिजे अशी जी अलीकडे कित्येकांची समजूत झाली आहे ती चुकीची आहे असें इतिसाहावरून सहज दाखविता येईल. शंकराचार्यानंतर काही शतकांनीं मध्वाचार्य व रामानुजाचार्य उत्पन्न झाले, व भागवत धर्माची उत्पत्ति पाहिली तर ती किमानपक्षी भारतकालापूर्वीची आहे असें भारतांत व गीतेंत या धर्माबद्दल जे उल्लेख आहेत त्यावरून कबूल करावे लागतें. भारताचा काळ ख्रिस्ती शकापूर्वी तीन चारशेवर्षे आहे असें मानलें तरी तेथपासून शंकराचार्यांच्या कालापर्यंत म्हणजे निदान एक हजार बाराशें वर्षे व त्यानंतर दोनतीनशें वर्षे म्हणजे एकंदरीत पंधराशें वर्षेपर्यंत मध्वाचार्य किंवा रामानुज यांच्या द्वैत किंवा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्ताखेरीज 'भक्तियोगाचें' समर्थन झालें होतें असें मानल्याखेरीज गत्यंतर नाही; व तसें मानलें म्हणजे भक्तिमार्गास द्वैत किंवा विशिष्टाद्वैत ब्रह्मविचारांचा आधार घेतलाच पाहिजे या मतास कांहींएक प्रमाण रहात नाही. मध्वाचार्य किंवा रामानुजाचार्य यांनीं आपापल्या भागवत सांप्रदायास अनुकूल ब्रह्ममीमासा केल्यावर त्यांच्या अनुयायांनीं त्यांच्या ब्रह्मविचाराची त्यांच्या सांप्रदायाशीं सांगड घालून दिली, येवढ्या-

वरून सदर साप्रदायास या आचार्यांच्या सदर ब्रह्मविचारांच्या पायाची जरूर होती किंवा आहे असें सिद्ध होऊं शकत नाही. यास प्रत्यंनर पाहणें असल्यास पार लाव जावयास नको. आपल्याकडील सतमंडळी पूर्ण भक्तिपंथातील असतां-ही त्यांनीं माध्व किंवा रामानुज मताचा स्वीकार आणि शांकर मताचा त्याग केल्याचें उदाहरण क्वचितच सापडेल. भक्तिमार्गास सगुण ब्रह्माची आवश्यकता आहे, व जीवाचें व ईश्वराचे सकृद्दर्शनी तरी ऐक्य मानता येत नाहीं हें उघड आहे. तथापि भक्तिमार्गानें एकदा मन पवित्र झाल्यावर मग “अवघें मनचि राम झाले” अशा तऱ्हेच्या अद्वैत विचाराच्या स्फूर्तिचे द्योतकउद्गार तोंटावाटे सहज बाहेर पडून जातात हें तुकारामासारख्या साधूच्या ग्रंथावरून कोणासही सहज कळून येण्यासारखे आहे. ईश्वर सकल गुणांचे अधिष्ठान आहे असे कल्पून त्याच्या सेवेतच जीवास काय ते परमसौख्य आहे, व तेच सौख्य सदा आपणास मिळावें, त्या पलीकडे जाण्याची आपली इच्छा नाही. अशा अर्थाची महाराष्ट्र-भगवद्भक्त शिरोमणीच्या तोंडातून काहीं वचनें सहज काढून देता येतील; पण ते काहीं भक्तिमार्गाचे पर्यवसान नव्हे असें थोड्या विचारार्ती कोणासही समजेल. तुकारामाच्या गाथेत काहीं द्वैतपर व काही अद्वैतपर असे जे अभंग आढळून येतात त्याची द्वैत्यानी किंवा अद्वैत्यानी ओढाताण करून आपापल्या मतास अनुकूल असा अर्थ करण्यापेक्षां हे निरानिराळ्या वेदात मताचे प्रतिपादक श्लोक देशभेदानें, कालभेदानें व अधिकार भेदाने लावावे हे आम्हास अधिक प्रशस्त दिसतें. श्रीमद्भगवद्गीतेतही ज्ञान, भक्ति आणि योग असे तीन स्वतंत्र ईश्वरप्राप्तीचे मार्ग सांगितले आहेत; व त्यात कोठेही ज्ञानमार्गाच्या अमुकपंथाशीं भक्तिमार्ग संयुक्त असलाच पाहिजे असें प्रतिपादन केलेलें नाही. शंकराचार्य, मध्वाचार्य व रामानुजाचार्य यांपैकी प्रत्येकाने भगवद्गीता आपापल्या मताकडे ओढून घेण्याचा प्रयत्न केलेला आहे; पण गीतेचे खरे रहस्य अशा रीतीने त्रिधा किंवा अनेकधा होऊं शकत नाही हे थोडेही ज्यानें शास्त्राचे अध्ययन केलें असेल त्यास कळून येईल. ज्ञान हा जसा एक मोक्षप्राप्तीचा मार्ग सांगितला आहे तसाच भक्ति हाही होय जें कार्य ज्ञानाने होऊं शकते तेंच भक्तीनें होऊं शकते असा गीतेचा सिद्धान्त आहे; इतकेंच नव्हे तर, “क्लेशोऽधिकरस्तेषामव्यक्ता सक्तचेतसा” अशी ज्ञानमार्गाची थोडीशी उणीवही दाखविली आहे. “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन” या वाक्यावर भिस्त ठेऊन भक्तीनें अखेरीस ज्ञान प्राप्त होऊन तद्वारा मोक्षप्राप्ति असें ज्ञानमार्गातील लोकानां, व “तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते” या वचनावरून भक्ति असल्याखेरीज नुसत्या ज्ञानाने मोक्ष नाही हे साहाजिकच आहे; पण जरा खोल विचार केला असता असें आढळून येईल कीं, भक्तिमार्गाचें जें महत्त्व आहे तें अमुक एका विशिष्ट तत्त्वविचारावर अवलंबून आहे असें नाही. कितीही शाब्दिक ज्ञान झालें झालें तरी मोक्ष नाही हे जितकें खरें आहे तितकेंच कितीही औपचारिक भक्ति

झाली तरी त्यापासून समाधान अगर मोक्षप्राप्ति नाहीं हें खरें होय. भक्ति आणि ज्ञान हीं साधनें आहेत, व त्यांचा एकंदर मनावर जर कांहीं परिणाम झालेला नाही तर दोन्हीही फुकट होत; आणि परिणाम झाला असेल तर “ सांख्ययोगौ प्रथग्वालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ” या वाक्यांत सांख्ययोग शब्दांत भक्तीचाही अंतर्भाव केला पाहिजे. भगवद्गीतेत सांगितलेल्या ईश्वरप्राप्तीच्या निरनिराळ्या मार्गांची एकरूपता परिणामी अथवा साध्य कोटींत आहे, साधन कोटींत नाही हें “ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ” या गीता वाक्यावरून उघड होते. सारांश, ज्ञान, भक्ति आणि कर्म अथवा योग हे परस्पर सापेक्ष असण्याची काही जरूर नाही, म्हणजे हे तिन्ही मार्ग सापेक्ष असले काय आणि नसले काय सारखेच. या तिन्ही मार्गांनी ज्या स्थानी जावयाचें ते स्थान एकच आहे, व आकाशातून पडलेले पाणी निरनिराळ्या मार्गांनी गेलें तरी तें जसें समुद्रातच जाऊन पडत तद्वत् या तिन्ही मार्गांनी जाणाऱ्या लोकांस अखेरीस प्राप्य वस्तु एकच आहे हेंच “ एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ” या वाक्याचें रहस्य आहे. ईश्वरस्वरूपाची कोणत्याही मार्गांनीं कां होईना पण एकदा ओळख झाल्यावर त्यात कधी द्वैत व कधी अद्वैत असे विचारभेद होऊ शकतील, पण ज्ञानयोग, भक्तियोग आणि कर्मयोग असे जेव्हा ईश्वरप्राप्तीचे तीन मार्ग सांगतात तेव्हा त्यांपैकीं दोघाचा अथवा तिघाचा अन्योन्याश्रय आहे असें येवढ्यावरून म्हणता येत नाही.

सारांश, भागवतधर्मास अगर भक्तिमार्गास प्रथमतः जरी जीव आणि ब्रह्म ही प्रथक् मानण्याची आवश्यकता वाटत असली तरी अखेरीस सिध्दातपर्क्षा हा समज कायम ठेवण्याची कांहीं जरूरी नाही असें भगवद्गीतेवरून आणि महाराष्ट्र-संत मंडळींच्या उद्गारावरून उघड होतें. न्यायमूर्ति राववहादुर रानडे यानीं-आपल्या व्याख्यानात हा भेद असावा तितका ठेवला नाही; व ज्ञान, भक्ति आणि ख्रिस्ती तत्त्वविचार याची संगत घालण्याचा प्रयत्न करितांना तिन्ही पथाची बरीच ओढाताण केलेली आहे. सत् चित् आणि आनंद या तिहींची ख्रिस्तीत्रयीशीं केलेली तुलना बरीस तिन्ही शब्दाचा अर्थविपर्यास, भागवतधर्माची महती गाता गाता तो धर्म एकाच ईश्वरप्रणिता ग्रंथावर रचलेला नाही अशी समाजिस्टांचीं मते त्यात मध्येच घुसडून देण्याची शैली वगैरे न्यायमूर्तींच्या निबंधातील काही ठळक गोष्टी किंवा गैरसमज यावर टीका करण्याचा आज आमचा विचार होता. पण प्रस्तावनेतच पुष्कळ जागा आडल्यामुळें तो विचार सध्यां एक आठवडाभर तहकूब ठेवावा लागत आहे. तथापि वर केलेल्या विवेचनावरून येवढे लक्षात येईल कीं, माध्व किंवा रामानुज मताची भक्तिमार्गाशी जी कित्येकांच्या मते एकवाक्यता झालेली आहे ती मूळची नसून अलीकडच्या ग्रंथकारानी प्रचारांत आणिली आहे. भागवत किंवा भक्तिमार्ग हा ह्या बाबतीत बाधलेला नसून ज्याच्या त्याच्या अनुभवाप्रमाणें जो तो द्वैति

किंवा अद्वैति अथवा एक कालीं द्वैति व अन्य काली अद्वैति असू शकेल; व येवढी गोष्ट जर वाचकाच्या मनात बिंबली तर पुढील मार्ग क्रमण्यास त्यास बरेच सुलभ जाईल.

[नंबर २].

गेल्या अंकीं आम्ही जें विवेचन केले आहे त्यावरून भक्तिमार्गाचा एखाद्या विशिष्ट ज्ञानमार्गाशी नित्यसंबंध असण्याची आवश्यकता नाही, हे वाचकाच्या लक्षात आलें असेल. भक्ति हा अंतःकरणाचा धर्म आहे व ज्ञान हें बुद्धिगम्य आहे. 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' या गीतावाक्याप्रमाणे भक्तीचें पर्यवसान ज्ञानात होऊन तद्द्वारा मोक्षप्राप्ति होते असें शंकराचार्यांचे मत आहे पण हे ज्ञान अद्वैतात्मकच असले पाहिजे किंवा विशिष्टाद्वैतात्मक असले पाहिजे याचा खुलासा वरील वाक्यात केलेला नाही. भगवंताविषयीचे प्रेम निरतिशय झाल्यावर त्याचा बुद्धीवर जसा परिणाम घडेल त्याप्रमाणे द्वैत, अद्वैत किंवा विशिष्टाद्वैताचा भगवद्भक्ताचे मनास बोध व्हावयाचा; व हा बोध सामान्यतः प्रत्येक मनुष्याच्या बुद्धीच्या प्रवृत्तीवर अवलंबून असणार हें उघड आहे. भक्तीच्या प्रारंभीं उपास्य-उपासकभाव कल्पावा लागतो; पण हाच शेवटपर्यंत कायम असण्याची काहीं जरूर नाही. सोंगट्याचा किल्ला तयार केल्यावर त्याच्या खालच्या सोंगट्या ज्याप्रमाणे काढून घेतात, त्याचप्रमाणे भक्तिमार्गाची व योगमार्गाची गोष्ट आहे. भक्तिमार्गात भक्तीस आणि योगमार्गात चित्तसमाधिसिद्धयर्थ प्रथमतः काहीं तरी विषय घ्यावा लागतो; पण अखेरीस पायरीपायरीने योगात ज्याप्रमाणे निर्विकल्प समाधीची शेवटची अवस्था प्राप्त होते, त्याचप्रमाणे भक्त्युद्रेकाने अखेरीस निर्गुण ब्रह्माचे व जीवाचे ऐक्य अनुभवास येते. ही स्थिति कशी व केव्हा प्राप्त होते याचा सध्या विचार करण्याची जरूर नाही. रामानुजपंथाखेरीज इतर पंथातही भक्तिमार्गी लोक आहेत, एवढ्यावरून आम्ही म्हणतो ती गोष्ट सहज सिद्ध होते. व महाराष्ट्र-सतमंडळींच्या इतिहासावरूनही त्यास पुष्टीकरण मिळते.

असो; आता न्यायमूर्ति रानडेच्या निबधातील दुसऱ्या मुद्द्याकडे वळूं. ब्रह्माचा विचार करताना मनुष्याचें मन तीन तऱ्हांनी फाकले जात असते हें तीन निरनिराळीं मते प्रचारांत येण्यास मुख्य कारण आहे असा डॉ. फ्रेजर याच्या म्हणण्याचा आशय रावबहादुरांनीं दिला आहे. सृष्टीचे वैभव पाहून दिपून जाणाऱ्या मनुष्यास सृष्टीच्या पलीकडे काहीं अज्ञेय आहे असे वाटत नाही व त्यामुळे काही लोक स्वभाववादी बनतात असे निबधांत लिहिलेले आहे. दुसरा वर्ग आत्मवाद्याचा होय. यास सर्व जग हें मनुष्याच्या इंद्रियशक्तीने निर्माण झालेले असे वाटते. मला ज्या काही वस्तु दिसतात त्या मी पाहतो म्हणून आहेत; मी गेलो म्हणजे काहीं नाही, अशा तऱ्हेच्या विचारांचें या मतांत प्राधान्य आहे; पण त्यामुळे मनाचें समाधान न होतां जगाचे अस्तित्व आपल्याहून भिन्न

आहे अशी जी स्वभावतः आपली समजूत आहे त्यास विरोध येतो. तिसरें मत जीवास गौणत्व देऊन ईश्वराचे प्राधान्य मानणें हें होय. हेंच मत जर्मनीं-तील सांप्रतचे तत्त्वज्ञानी यांनी स्वीकारिलें आहे; व त्याच्याच आमच्या जुन्या वेदात ग्रंथात विचार केलेला आहे. “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः” असें अर्ध्या श्लोकात जें ब्रह्ममीमांसेचे तत्त्व सांगितलेलें आहे तें या तिसऱ्या वर्गांतच येतें. परंतु न्यायमूर्ति रानडे याचे असे म्हणणे आहे कीं, परमेश्वर सकल गुणातीत व उदासीन मानून त्याचे व जीवाचें ऐक्य मानले तर सत्, चित् आणि आनंद ही तीन विधाने परब्रह्मास लागू शकत नाहीत. न्यायमूर्तिंच्या या विचाराचा आम्हीं पुढे विचार करणार आहो. सध्या इतकेंच सागावयाचें आहे की, याप्रमाणें स्वभाववादी, आत्मवादी व ब्रह्मवादी असे जे युरोपियन तत्त्वज्ञानी तीन मार्ग काढले आहेत त्या प्रत्येकास सटश असे जुने हिंदु मार्ग आढळतात. पंकी स्वभाववाद्याशी कपिलाचें व कणादाचे साटश आहे व तिसऱ्याचे अद्वैत किंवा विशिष्टाद्वैताशी साटश आहे असे रा. ब. रानडे याचे म्हणणें आहे. शेवटचे साटश दाखविताना त्यांनी अद्वैतापेक्षा विशिष्टाद्वैताकडे व भागवत मार्गाकडे असलेला आपला ओढा व्यक्त केला आहे न्यायमूर्तिंच्या निबंधाचा साराश सामान्यतः वर लिहिल्याप्रमाणें आहे. डॉ. फ्रेझर यांचें मत थोडक्यात सागून तत्सदृश हिंदुतत्त्वज्ञानाच्या मताचा उल्लेख करावा व हिंदुतत्त्वज्ञानाच्या विचारांचे महत्त्व लोकांपुढे माडावें, हा या निबंधाचा मुख्य हेतु होता व तो हेतु सिद्धीस जावा अशी आमचीही इच्छा आहे; पण त्याचबरोबर आमच्याकडील तत्त्वविचारांचे खरें ज्ञान लोकांस व्हाव व आज जर्मनीतील तत्त्ववेत्त्यासही मान्य झालेल्या तर्कशास्त्रदृष्ट्या अबाधित ठरलेल्या अद्वैत सिद्धान्तास विनाकारण गौणत्व येऊ नये एवढ्याचकरिता आम्हीं या निबंधावर थोडीशी टीका करण्याचें योजिले आहे. बाकी प्रार्थनासमाजाची कोण शिला स्थापन करणाऱ्या न्यायमूर्तिसारख्या विद्वानाकडून उशिराच का होईना, पण “आमच्या धर्मग्रंथात पाश्चात्य अधुनिक विचाराच्या तोडीचें विचार आढळतात; व एवढ्याकरिता आमच्या जुन्या ग्रंथांचे सर्वांनीं परिशीलन करणे अवश्य आहे.” असा उपदेश लोकांस केला जातो हे काहीं कालगतीचे लहानसहान द्योतक नव्हे. हळूहळूच का होईना, पण धर्मवाबतीत विचारी पुरुषाची मनें पश्चिमेकडे वाहवली होती ती आता पूर्वेकडे येऊं लागली आहेत हें यावरून चागलें व्यक्त होतें! हाच विचारौध असाच चालला तर “पुरा यत्र स्रोतः पुलिन मधुना तत्र सरिता” याच न्यायाने प्रार्थना समाजाच्या भव्य इमारतीच्या ठिकाणी काय दृष्टीस पडतील याची वाचकांनीच कल्पना करावी.

न्यायमूर्ति रानड्यांनीं जीं दोन सादृश्ये दाखविलीं आहेत त्यापैकी पहिल्याचा आज आम्ही विचार करणार आहों. कपिलाची स्वभाववाद्यात न्यायमूर्तींनी जी गणना केली आहे ती चुकीची आहे. कपिलाच्या सांख्य मताचा कधी कधी नास्तिक दर्शनांत समावेश केलेला असतो एवढ्यावरून न्यायमूर्तींची ही गैरसमजूत

झाली असावी. कपिलाचें मुख्य मत म्हटलें म्हणजे प्रकृतिपुरुषवाद होय. पुरुष हा उदासीन राहून प्रकृतीच्या संगानें प्रकृतिगुणाचा उपभोग घेतो; परंतु तेवढ्यानें तो अनुदासीन होऊन कार्यकारणकर्तृत्वास हेतूभूत होत नाही व प्रकृति आणि पुरुष हीं दोन्हीही अनादि असून प्रकृतीच्या एका गुणापासून दुसरा गुण अशा क्रमानें गुणांची उत्पत्ति होतें हे सांख्येचें मत आहे. (गीता अ. १३, १९-२१) हें मत स्वरोखर म्हटलें म्हणजे ज्ञानमार्गातलेंच होय; परंतु त्यास नास्तिक म्हणण्याचे कारण येवढेच की, शंकराचार्यांनी प्रकृतीस मायेचें रूप देऊन आपल्या मताची वैदिक पायावर उभारणी केली, तसें कपिलाचार्यांनी न करिता कॅटप्रमाणें केवळ तर्कशास्त्ररचनाच्या जेरावर आपल्या मताची केली आहे. उपनिषद्ग्रंथातील अव्यवस्थित विचारास व्यवस्थित रूप देण्यापेक्षा त्यातील विचार घेऊन स्वतंत्र एक पद्धत बांधणें हेंच कपिलास अधिक इष्ट व योग्य वाटलें असावें. सारांश, कपिलाचा साख्य योग हा एक ज्ञानमार्गच असून वेदातार्शा त्याचें इतके साम्य आहे कीं, अद्वैतवाद्यांनी साख्यमतात एकदोन उणीवा होत्या तेवढ्या काढून शंकराचार्यांनी आपलें मत स्थापन केलें असें म्हणण्यास हरकत नाही. ‘ ज्ञानयोगेन साख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ’ या गीतावाक्यातील रहस्यही हेच आहे. किंबहुना तत्त्वविचाराना व्यवस्थित रूप देण्याची कल्पना कपिलापासूनच उत्पन्न झाली; व कपिलाच्या पलीकडे फारशी तिची मजल गेली नाही असे म्हटलें तरीही चालेल. महाभारतात “ ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् साख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ” असे जे एके ठिकाणी लिहिले आहे ते अगदी अक्षरशः खरे आहे. व कपिलाच्या दर्शनाची न्यायमूर्तिस चागली ओळख असती तर त्यांनी सर्व वेदात-विचारांचें उगमस्थान जें साख्यदर्शन त्याच्या कर्त्याची स्वभाववाद्यात गणना केली नसती. यावद्दलचें जास्त विवेचन दुसऱ्या सादृश्याचा विचार करताना पुढील खेपेस करू.

[केसरी ता. २७ आक्टोबर १८९६.]

(नंबर ३.)

गेल्या अंकीं कपिलाचार्यांचें साख्यमत स्वभाववाद्यात घालतां येण्यासारखें नाही, तर तो एक तत्त्वज्ञानाचा पंथ आहे, व त्यात ब्रह्माचे पुरुष या नावानें जें स्वरूप वर्णिलें आहे ते जरी औपनिषधपंथास कबूल नसलें तरी तेवढ्यावरून साख्यमार्ग ज्ञानमार्ग नव्हे असें सिद्ध होत नाही, असें थोडक्यात दाखविलें. आज त्याचाच थोडासा जास्त विचार करून वेदातमताचा व त्याचा कसा काय संबंध आहे याचें व सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूपाचें थोडेसें प्रकृत विषयास धरून विवेचन करावयाचें आहे. या विषयावर सविस्तर लिहीत बसल्यास महिन्यांच्या महिनेही पुरणार नाहीत हें सांगावयास नकोच.

ज्ञानमार्गाच्या संबंधानें कोणता मार्ग प्राचीन व कोणता अर्वाचीन हें हल्लींच्या ऐतिहासिक माहितीवरून ठरवितां येणें कठिण आहे; तथापि उपनिषदांची आर्षरचना व कपिलाचार्याची न्यायानें व युक्तीने तत्त्वज्ञान पद्धति यांचा विचार करितां असें अनुमान होतें कीं, उपनिषद ग्रंथात चौहोंकडे पसरलेलीं तत्त्वज्ञानाचीं रत्नें घासूनपुसून त्याचा एक हार करण्याचा पहिला प्रयत्न कपिलाचार्यांनीं केला असावा. कपिलाचार्यांच्या पद्धतीत म्हणजे सांख्यमतात व्यंग काय ते येवढेच कीं, ते केवळ युक्तीवर, तर्कावर आणि न्यायावर बसविलेले आहे. अशा मतास उपनिषदप्रमाण मानणाऱ्या तत्त्ववेद्यांनीं नास्तिक मत म्हणावे हें एका अर्थी स्वाभाविक आहे; पण कसेही झाले तरी प्रकृति आणि पुरुष किंवा सामान्यतः इंद्रजित ज्यास मॅटर आणि स्पिरिट किंवा फोर्स असें म्हणतात ही दोन्ही तत्त्वे भिन्न व अनादि आहेत; प्रकृतीचे गुणसृष्टीच्या आरंभी विकास पावून परंपरेनें 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' या न्यायाने भिन्न गुणात्मक जग निर्माण करतात; अंतकालीं तेच गुण प्रकृतीत विलय पावतात; आणि पुरुष हा जरी सुखदुःखाच्या भोक्तृत्वास हेतुभूत असला तरी तो खरोखर त्या सुखदुःखासंबंधाने उदासीन असतो इत्यादि जी साख्याचीं मते तींच ब्रह्मसूत्रात रूपातराने नजरेस येतात. साराश, ब्रह्मविचार कितीही जुने असले तरी त्याची पद्धतशीर रचना प्रथमतः साख्यानीच घालून दिली असावी; व त्यानंतर वेदातसूत्रकारानी त्या पद्धतीत श्रुतीस धरून चालण्यास जरूर तेवढे फेरफार करून ब्रह्म आणि माया अशा प्रकारचा बेत केला असावा असे आम्हास वाटते. कोणाही एखाद्या मोठ्या विशाल बुद्धीच्या आचार्याने एखादी सयुक्तिक नवीन कल्पना काढिली म्हणजे त्याच्या मागून जन्मास आलेले आचार्य त्याच पद्धतीचे अनुकरण किंवा रूपातर करून ते शास्त्र अधिकाधिक परिणतावस्थेस आणतात हें सर्वत्र आहे. न्यूटननें पृथ्वीच्या किंवा पदार्थांच्या आकर्षणशक्तीची कल्पना काढिल्याबरोबर अथवा डार्विनसाहेबानीं विकासधर्माचें मत प्रसिद्ध केल्यावर त्याचा पुढें कसा प्रसार झाला हे ज्यास माहीत आहे त्यास कपिलाचार्यानी प्रकृति आणि पुरुष हा जो भेद स्पष्ट रीतीनें व पद्धतशीर प्रथमतः जगापुढें मांडिला त्याचेंच पुढें ब्रह्म व माया हें कसें रूपातर झालें हें लक्षांत येईल. जें काय ज्ञान आहे तें सर्व साख्यापासून निघालें असें जें महाभारतात म्हटलें आहे त्याचाही अर्थ हाच होय. सांख्यमताच्या प्रवर्तकांनीं उपनिषदाचा थोडाबहुत जर स्पष्ट आधार घेतला असता तर वेदान्तसूत्रांत सांगितलेल्या पद्धतीची कदाचित् उत्पत्तिही झाली नसती. कसेही असो; ज्या अर्थी ब्रह्मसूत्रात साख्याचें खंडण आहे त्या अर्थी हें मत ब्रह्मसूत्रकालाच्या पूर्वीचे आहे; व बहुतेकरून पद्धतशीर तत्त्वविचाराचा उगम साख्यापासूनच झाला असावा असें अनुमान करावें लागतें.

असो; न्यायमूर्ति रानडे यांनीं सच्चिदानंद स्वरूपांवर जी थोडीशी आपल्या निबंधात टीका केली आहे तिचा आतां थोडासा विचार करूं. अह

हे ब्रह्म आहे, मन हे ब्रह्म आहे इत्यादि जी विधाने आहेत ती पारमार्थिक नसून मार्गोपदेशक आहेत हे ब्रह्मसूत्रभाष्यांत व इतर ठिकाणी अनेकशः व्यक्त केलेले आहे. मन, बुद्धि इत्यादि इंद्रियांच्या पलीकडे व त्यांना अगोचर ब्रह्मस्वरूप आहे हे “ इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यद्बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ” या गीतावचनावरून उघड होतें. अशा ब्रह्माचें ऊर्फ अज्ञे याचें स्वरूप काय आहे हे सांगण्याची मोठी मुश्किल आहे. कोणी एका ऋषीस ब्रह्म काय आहे म्हणून विचारलें असा तो गप्प बसला त्यांतीलही बीज हेंच. तथापि हे जे कांहीं अज्ञेय तें ‘आहे’ येवढे मात्र आपणास कळून येतें; व याचमुळे त्याच्या स्वरूपाबद्दल ‘सत्’ हें विधान करिता येतें. त्याचप्रमाणें प्रकृती-हून किंवा जड सृष्टीहून ब्रह्माचा भेद दाखविण्याकरिता ‘चित्’ हेंही पण ब्रह्म-स्वरूपाचें विधान बरोबर आहे असें म्हटलें पाहिजे. येथपर्यंत न्यायमूर्ति रानडे यांचा व अद्वैतवाद्यांचा फारसा मतभेद नाही. मतभेद काय तो आनंदस्वरूपाबद्दल आहे. आनंद अनेक प्रकारचे आहेत. मनु-ष्याचा, पितरांचा, देवाचा इत्यादि. यांपैकी ब्रह्मस्वरूपाचा आनंद कोणता हाच काय तो मुख्य प्रश्न होय. जगामध्ये जे सुख, समाधान व शांति दृष्टीस पडते तीच अथवा तशा प्रकारचीच शांति अगर सुख ब्रह्मस्वरूपात असावें व पहिल्याची उत्पत्तीही दुसऱ्यापासूनच झाली असावी असा न्यायमूर्ति रानडे यांच्या लिहि-ण्याचा शौक आहे; व भक्तिमार्गाच्या दृष्टीने ब्रह्मस्वरूपाची अशा तऱ्हेची कल्पना अधिक ग्राह्य आहे या मार्गानें जाणाऱ्या लोकांस अशा तऱ्हेच्या आनंदस्वरूप ब्रह्माची झटकन ओळख पटून ब्रह्मानंदीं त्याची टाळी लागण्यास सुलभ पडते हें आम्हांसही मान्य आहे, पण तात्त्विकदृष्ट्या विचार करता व्यावहारिक सुखदुःखाचा ब्रह्मस्वरूपांत अतर्भाव करणें म्हणजे ब्रह्मस्वरूप मानवी मनोधर्मानी व्याप्त अतएव विनाशी आहे असें अप्रत्यक्ष रीतीने कबूल करण्यासारखे आहे. भक्ति-मार्गांत व वेदांतविचारात जो भेद आहे तो हाच; तथापि भक्तिमार्गाचे अखेर पर्यवसान अद्वैतांतही होऊं शकतें हे आम्ही मागे दाखविलेच आहे. सुख दोन प्रकारचें आहे. एक निरानिराळ्या विषयांपासून प्रतिकूल वेदनानिवारक व अनु-कूल वेदनाजन्य आणि दुसरें सर्वत्र समबुद्धि होऊन प्रसन्नातःकरणापासून उत्पन्न झालेले. भर्तृहरिनें हीं दोन्ही सुखे “ प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ” आणि मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ” या दोन चरणात थोडक्यात फार चांगल्या रीतीने सांगितलेली आहेत. यापैकी ज्या लोकाचा ओढा पहिल्या सुखाकडे असेल त्यास ब्रह्मस्वरूपाची कल्पना न्यायमूर्ति रानडे हे सांगतात तसल्या प्रकारची आनंदमय होईल. परंतु ज्यास व्यावहारिक सुखाहून भिन्न आनंद आहे असें वाटतें, त्यांच्यामते ब्रह्मानंद अगदी निराळ्याच प्रकारचा असला पाहिजे. असल्या आनंदांत ‘रस’ नाही असे न्यायमूर्तींस वाटण्याचा संभव आहे;

व शंकराचार्यांनी सांगितलेले ब्रह्मस्वरूप निरस आहे असे म्हणण्याचा त्यांचा झोंक आहे; आनंदाच्या व्याख्येतच जेथे मतभेद तेथे आनंदमय ब्रह्मस्वरूपाच्या समजातही फरक झाल्यास त्यांत काहीं नवल नाही. यासंबंधाने भगवद्गीतेत पुढील श्लोक दिलेला आहे:—

विप्रया विनिवर्तते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य पंग्दृश निवर्तते ॥

यावरून आनंदमय ब्रह्मस्वरूपाची ओळख झाल्यावर 'रस' नाहीसा होतो असा भगवद्गीतेचा उघड आशय आहे. न्यायमूर्ति रानडे यांस तो रस पहावयास पाहिजे आहे, तेव्हां त्यांचे ब्रह्म याहून खालच्या पायरीचे आहे असे म्हणणे माग येते.

सरतेशेवटीं हिंदुधर्मातील तत्त्वविचार व ख्रिस्ती धर्मातील तत्त्वविचार यांची जी त्यांनी तुलना केली आहे. त्यासंबंधाने दोन शब्द सांगून त्याच्या व्याख्यानाचे हे परीक्षण संपवितो. ख्रिस्ती धर्माचे बाह्यस्वरूप म्हणजे त्यांच्या मठांची व धर्मसंस्थांची व्यवस्था ही कांही अनुकरणीय आहे हे न्यायमूर्तीचे म्हणणे लक्षांत ठेवण्यासारखे आहे. श्रीशंकराचार्य अथवा रामदास यांनी जेव्हां धर्मसंस्थापना करण्याचे मनात आणिले तेव्हां निरनिराळ्या ठिकाणी मठ स्थापन करून धर्मसंस्थांची त्यांनी अगोदर व्यवस्था लाविली, हे इतिहासावरून आपणांस दिसून येते. परंतु धर्माची खरी योग्यता केवळ धर्मसंस्थांच्या व्यवस्थेवर अवलंबून नसते हेही केवळ विस्मयतां कामा नये. ज्या धर्मात ईश्वर व जीव यांच्या परस्परसंबंधाचे अतिसूक्ष्म रीतीने विवेचन झालेले नाही तो धर्म कोणत्याही शिकलेल्या लोकांत प्रसृत होण्याची आशा नको. ख्रिस्ती धर्माची सांप्रतची स्थिति अशा प्रकारची आहे. सच्चिदानंद या तीन प्रकारच्या स्वरूपाचे ख्रिस्ती धर्मातील तीन गोष्टीशी जे न्यायमूर्तींनी साम्य दाखविले आहे ते पुष्कळच ओढून ताणून बसविलेले आहे. दारूस व भाकरीस ख्रिस्ताच्या रक्तामांसाचे प्रतिनिधि बनविणे हे जीव आणि ईश्वर यांचे ऐक्य मानण्यासारखेच आहे असे म्हणणे आमच्या मते अगदीच उपहास्यास्पद आहे. यापेक्षा याचे साम्य रानटी लोक आपल्या आवडत्या मनुष्यास मारून त्याचे मांस खातात याच्याशी अधिक आहे, असे जे स्वामी विवेकानंदांनी एके ठिकाणी म्हटले आहे ते अधिक सयुक्तिक आहे. ख्रिस्ती धर्मात व हिंदुधर्मातील भक्तिमार्गात न्यायमूर्ति रानडे यांनी असा एक दुसरा भेद दाखविला आहे की, ख्रिस्ती धर्मात एकच ग्रंथ ईश्वरप्रणीत मानला जातो. भागवत धर्मात सर्वच धर्म व धर्मग्रंथ ईश्वरप्रणीत मानतात आमच्या मते हे विधान जरा चुकीचे आहे. भागवत धर्मातील लोक प्रार्थनासमाजातील लोकांप्रमाणे कुराण, बायबल आणि वेद हे सर्वच सारख्या योग्यतेचे मानून आपल्या विचाराप्रमाणे या सर्व ग्रंथांतील

गोष्ठीची एकवाक्यता करून त्याप्रमाणें चालण्यास तयार असतात असें आम्हांस वाटत नाही. भागवत धर्मांत भक्तीचे महत्त्व आहे, उपास्य देवतेचें नाही हें:—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥

या गीतेंतील श्लोकावरून उघड होतें. सर्व ग्रथ सारखेच ईश्वरप्रणीत आहेत असें जरी भागवतधर्मांत मानलें असले तरी ख्रिस्त्यांचा विधि पारशांनीं आणि पारशांचा विधि मुसलमानांनीं उचलावा असा त्याचा अर्थ नाही. ज्याच्या त्याच्या धर्माप्रमाणें ज्यानें त्यानें श्रद्धापूर्वक ईश्वराचें भजन केलें असतां त्यास मोक्षप्राप्ति होते. अरेबियन नाईटमधील एका गोष्ठींत सांगितल्याप्रमाणे भक्तीचा विषय ख्रिस्त असल्यासच स्वर्गाचे दरवाजे उघडतील हे खुणेचे शब्द न पटल्यास तें दार उघडणार नाहीं असें हिंदुधर्माचें तत्त्व नाहीं; व हें तत्त्व ख्रिस्ती-धर्मोपासकांच्या मनांत शिरण्यास अद्याप कित्थेक शतकें लोटलीं पाहिजेत. ख्रिस्ती धर्मापेक्षा हिंदुधर्माचें महत्त्व विशेष आहे असें या एकाच गोष्ठीवरून सिद्ध होतें, मग आमचे ख्रिस्ती भट आपल्या उपास्य देवतेच्या नांवानें कितीही ओरडा करोत. न्यायमूर्ति रावबहादुर रानडे यानीं जें हें हिंदुधर्माचें महत्त्व दाखविलें आहे तें खरोखरच सर्वांनीं व विशेषतः सुशिक्षितांनीं नेहमीं ध्यानांत ठेवण्यासारखे आहे. या बाबतीत त्याचा आमचा बिलकूल मतभेद नाही. मतभेदाचीं स्थळें निराळींच आहेत. व तींही उत्तरोत्तर कमी होत चाललीं आहेत हें पाहून आम्हास फार समाधान वाटतें. न्यायमूर्ति रानडे याची विशाल बुद्धि. प्रार्थनासमाजाच्या पंथांतून भागवतधर्मांत शिरून तेथून उपनिषद् मार्गाकडे वळली यावरून पुढें लवकरच ती अद्वैत सिद्धांतांत शिरून तेथे स्थिर होईल अशी आम्हास उमेद आहे.

[केसरी, तारीख २७ आक्टोबर १८९६]

*भारतवर्ष.

भारतवर्ष या नावाच्या नवीन निघालेल्या मासिक पुस्तकाचे दोन अंक आमचेकडे आलेले आहेत, व त्यांत लिहिलेल्या विषयावरून पाहतां माजी काव्येतिहाससंग्रहाप्रमाणें ही पुस्तक 'मराठ्यांच्या इतिहासाचीं साधनें' सर्वास प्राप्त करून देण्याच्या फार उपयोगी पडेल असें आमचें मत आहे. पुस्तकाची छपाई व बाह्यस्वरूप चांगलें असून त्याची वर्षाची किंमत टपाल हंशिलाखेरीज चार रुपये ठेविली आहे. हें पुस्तक येथे नवीन निघालेल्या डेक्कन व्हर्नाक्यूलर सोसा-

यटीच्या मदतीने काढिले आहे; तथापि त्याचें अस्तित्व बऱ्याच अंशी लोकाश्रया-
 वर अवलंबून असल्यामुळे त्यास लोकांकडून जर चांगला आश्रय मिळाला
 नाही तर खुद्द काव्येतिहाससंग्रहाची जी अवस्था झाली व त्याच्या पूर्वाधांची
 जी होत आहे, तीच त्याच्या ह्या 'उत्तर भागा'चीही होईल हें मराठ्यांच्या इति-
 हासाचा व भाषेचा अभिमान बाळगणाऱ्या प्रत्येक गृहस्थानें लक्षांत ठेविलें पाहिजे.
 मराठ्यांच्या इतिहासात महस्वाचे कोणते भाग आहेत व त्यापासून आम्हांस
 कोणता उपयोग होण्यासारखा आहे, हा इतिहास राष्ट्राचा आहे का व्यक्तीचा
 आहे; मराठ्यांनी जे पराक्रम केले ते धर्मप्रेरणेने केले किंवा स्वातंत्र्य संपादण्या-
 करिता केले; जे गुण अव्वल मराठेशाहींत महाराष्ट्रांत दिसत होते ते आतां लुप्त-
 प्राय झाले कीं काय; कोणत्या प्रसंगातून कशा युक्तीनें आम्ही आपली सुटका
 केली; आमच्या राष्ट्राची उन्नति होण्यास कोण कसे कारणीभूत झाले, त्यास काय
 काय युक्त्या योजाव्या लागल्या आणि ज्यानी या कामीं आपल्या देशबांधवांचें
 हित लक्षात न आणितां अडथळे आणिले त्याचें निवारण कसें करावें लागलें;
 किंबहुना दीड पावणेदोनशें वर्षेपर्यंत महाराष्ट्रातच नव्हे, तर सर्व हिंदुस्थानभर
 आमच्या वीरांनीं जो पराक्रम गाजविला त्याचें मूळ बीज व साधनें कोणतीं व
 पर्यवसान काय झाले याची सकारण, सशस्त्र व मार्मिक माहिती करून घेऊन त्या-
 वरून आमच्या भावी स्थितीसंबंधाने काही अनुमान करितां येण्याजोगें असल्यास ते
 करावें, निदान या इतिहासावरून जेवढा बोध घेण्यासारखा असेल तेवढा लोकांस
 करून द्यावा अशी इच्छा अलीकडे पुष्कळांस होऊं लागली आहे. हे ज्यानें
 गेल्या दोन चार वर्षांतील महाराष्ट्र देशातील चळवळीचें व इतिहासग्रंथाचें अव-
 लोकन केलें असेल त्यास तेव्हाच कळून येईल. मराठ्यांचा इतिहासाची जी
 अभिरुचि अव्वल इंग्रजांत फक्त इंग्रज लोकांतच आढळून येत होती. परंतु अली-
 कडे कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांनी महाराष्ट्रातील लोकांच्या विचारसरणीस जें
 वळण लाविले त्यामुळें आपल्या इतिहासाबद्दलची आस्था व अभिमान हीं विशेष
 जागृत होऊन त्यांचीं फलेंही आपल्या नजरेस येऊं लागलीं आहेत; व यांतीलच
 भारतवर्ष हें एक फळ होय. या मासिक पुस्तकाच्या चौसष्ट पृष्ठांपैकीं चौवीस
 पानें जुन्या बखरी, ऐतिहासिक पत्रें, यादी यांच्या प्रकाशनार्थ देण्याचा मासिक
 पुस्तककर्त्यांचा हेतु आहे. बाकी आठ पाने पत्रव्यवहारांकरितां, व बत्तीस पानें
 वाङ्मयात्मक किंवा ऐतिहासिक स्वतंत्र निबंधाकरितां राखून ठेविलीं आहेत. पहिल्या
 दोन अंकांत 'मराठ्यांच्या इतिहासाची सासुग्री' व 'ऋग्वेद' हे दोन विषय आलेले
 चांगले आहेत, तथापि भारतवर्षासारखे पुस्तक होईल तितकें ऐतिहासिक बखरी,
 जुने कागद किंवा निबंध यांच्या प्रकाशनार्थच चालावें असें आमचें मत असल्या-
 मुळे ऋग्वेदासारख्या विषयांवरील निबंधाचा संग्रह या पुस्तकांत न झाल्यास त्या-
 पासून पुस्तकाची योग्यता कांहीं कमी होईल असें आम्हांस वाटत नाही. काव्ये-
 तिहास संग्रहांत, मराठी कविता, संस्कृत काव्यें, आणि महाराष्ट्र इतिहास या

तीनही विषयांचा समावेश केल्याने त्या मासिक पुस्तकाचें मराठ्यांच्या इतिहासास जितकें सहाय्य व्हावें तितकें झालें नाही, इतकेंच नव्हे तर एकपक्षी थोडासा अडथळाही झाला असें म्हणण्यास हरकत नाही. यापैकी काव्यसंग्रह कसावसा का होईना, पण स्वतंत्र रीतीनें निघाला असून तो अद्याप चालू आहे. इतिहास संग्रह अशाच प्रकारे चालू झाला असतां तर बरें झाले असते. वाङ्मयाची त्यांत भर घातल्यानें त्याची लोकप्रियता अधिक वाढेल असे आमहास वाटत नाही; व याचकरिता या दोन्ही गोष्टी एकत्र करूं नयेत अशी प्रकाशकास आमची सूचना आहे. किंबहुना आनंदाश्रमात ज्याप्रमाणें संस्कृतग्रंथ छापून निघतात त्याप्रमाणें वर्षातून कांही मराठ्यांच्या इतिहासावरील नियमित जुने ग्रंथ व लेख वर्गणीदारांस मिळत असतील तर दरमहा ह्मेश्वदीनें वीसपंचवीस पृष्ठे दिल्यानें जो उपयोग होतो त्याहून अधिक उपयोग होऊन मराठ्यांच्या इतिहासाचे पुनरुज्जीवन करण्याचा जो हेतू तो अधिक सिद्धीस जाईल अशी आमची पूर्ण समजूत आहे. दोन ओशी एकावरच लादण्याचा होईल तितके करून प्रयत्न करूं नये. मराठ्यांच्या इतिहासाची साधनें अद्याप पुष्कळ प्रसिद्ध व्हावयाची आहेत असें पहिल्या अंकातील लेखावरूनच उघड होतें; व असें जर आहे तर त्या कार्मीच या मासिक पुस्तकाचा सर्वांशांच उपयोग करावा असें आमहांस वाटतें.

असो; आतां यातील काहीं लेखांचा विचार करूं. मराठ्यांच्या इतिहासाची सामुग्री हा निबंध खरोखरच वाचण्यासारखा आहे. इंग्लिश ग्रंथकारांनी कोणते जुने ग्रंथ मिळविले, ते अगर त्याची भाषातरे उपलब्ध आहेत कीं नाहीत, फारशी भाषेत कोणते ग्रंथ मिळू शकतील, जुन्या सरदाराकडे अगर संस्थानिकांकडे कोणते कागद मिळण्यासारखे आहेत इत्यादि गोष्टींचें या निबंधांत उत्तम विवेचन केलेलें आहे; व विशेषतः ग्रॅटडफसाहेबांनी आपणास मिळालेलीं पत्रें जाळलीं असावीत असा जो त्याजवर एक आक्षेप होता तो मुद्देसूद रीतीनें खोडून काढलेला आहे. तथापि परकीयांनीं आमचा इतिहास लिहिण्यांत व आमचा आम्ही लिहिण्यांत खरे काय अंतर आहे याबद्दल जितके विवरण व्हावयास पाहिजे होतें तितकें या निबंधात नाही. आमचें तर असें मत आहे की, आमच्या राष्ट्राचा, लोकांचा, भाषेचा आणि धर्माचा योग्य अभिमान बाळगणारा विद्वान् व मार्मिक इतिहासकार आमच्यांत निपजणे हें मराठ्यांच्या इतिहासाच्या साहित्यापैकी प्रमुख साहित्य आहे, व ते जोपर्यंत आमच्या देशात मिळत नाही तोंपर्यंत आमच्या अंतःकरणास मोहून टाकणारा आमच्या देशाचा इतिहास आमहास वाचावयास मिळण्याची कर्धाही आशा नको. ग्रॅटडफसाहेबा इतिहास कितीही निःपक्षपातबुद्धीनें लिहिलेला असला तरी त्यांत मेकॉलेच्या इंग्लंडच्या इतिहासांत जी गोडी आहे ती कोठेंच आढळून येत नाही. परंतु यासंबंधानें येथे आज सविस्तर वर्णन करिता येत नाही. मराठ्यांच्या इतिहासाचे निबंधात जे चार भाग केले आहेत ते थोडे बदलून पांच भाग करावे असें

आम्हास वाटते. पहिला भाग शिवाजीपूर्वीचा, दुसरा फक्त शिवाजीचा, तिसरा बाजीरावापर्यंतचा, चौथा पानपतच्या युद्धापर्यंतचा आणि पांचवा नाना फडणीसाच्या मृत्यूपर्यंतचा. हे भाग कोणत्या तत्त्वावर आम्ही केले आहेत हे वाचकांच्या सहज लक्षात येईल. आमच्या मते शिवाजीमहाराजांचा आणि त्यांच्या मार्गे संभाजी, राजाराम व शाहू यांचा असे दोन निराळे काळ मानले पाहिजेत, परंतु हा भेद ग्रीन साहेबांच्या इंग्लिश लोकांच्या इतिहासाप्रमाणे महाराष्ट्र लोकांचा जर कोणा इतिहास लिहू लागला तर त्या वेळी विचार करण्यासारखा आहे. यामुळे हल्लीच्या निबंधास काही कमीपणा येत नाही. बखरीवर ज्या टीपा दिल्या आहेत त्या अधिक काळजीने द्याव्यास पाहिजेत. उदाहरणार्थ, दुसऱ्या अंकातील बावीस पानातील संस्कृत श्लोकावरील टीप पहा. हा श्लोक रायगड येथील जगदीश्वराच्या देवळावर कोरलेल्या श्लोकाचा अपभ्रंश पर्याय आहे, पण त्याबद्दल टीकेत काही उल्लेख नाही. शिवाजीमहाराजांच्या पहिल्या अकात चौथ्या पानांवर दिलेल्या जन्मतिथीसंबंधानेही टीपेत दुसऱ्या दोन तिथी इतरत्र दिल्या आहेत त्यांचा उल्लेख कराव्यास पाहिजे होता. मोडीचे बालबोध करतानाही कांही चुका झाल्या आहेत. उदाहरणार्थ अंक एक पृष्ठ चार यात 'भीमेने उतार देऊन पलीकडे जल' असे आहे ते "पलीकडे नेले" असे पाहिजे. असो, सरतेशेवटी लोकांनी या पुस्तकास अवश्य आश्रय देऊन मराठ्यांच्या इतिहासाची साधने अधिकधिक उपलब्ध करण्याचे श्रेय संपादाचे अशी त्यास विनंती करून व प्रकाशकांनी आरंभिलेल्या उद्योगाबद्दल त्यांचे अभिनेदन करून हा लेख पुरा करितो.

विलायतेंत नुकताच सामाजिक सुधारणेसंबंधाने जो एक कायदा पास झाला तो मंजूर करिते वेळीं पार्लमेंट सभेत जो वादविवाद झाला त्याची प्रसिद्ध झालेली हकीकत वाचण्यासारखी आहे. विलायतेंत अमुक एका सभेने किंवा अधिकाऱ्याने ठरविलेली गोष्ट लोकांनी मान्य करावयाची, व त्याप्रमाणे निर्वेध असू नये अशी कोणाची इच्छा असल्यास त्याने लोकांत चळवळ करून पुन्हा सभेकडून तो निर्वेध फिरवून घ्यावा, व असा निर्वेध फिरवून घेईपर्यंत त्याने सभेच्या पूर्वीच्या नियमाप्रमाणे वागलें पाहिजे अशी व्यवस्था असल्यामुळे आमच्याकडील सुधारकाप्रमाणे तिकडील सुधारकात बजबजपुरी मात्र नाही. सर्व कामे लोकांच्या प्रतिनिधींच्या बहुमतानेच अखेरीस निकालास लागतात, व तो निकाल सर्वांस कबूल करावा लागतो. आपल्या इकडे मेलेल्या बायकोच्या बहिणीशी लग्न करण्यास धर्मशास्त्राप्रमाणे कोणतीही अडचण नाही. कारण बाय-

कोच्या आत्ताशी नवऱ्याचा संपिंड्य संबंध येत नाही. पण खिस्तीधर्मशास्त्रा-प्रमाणें आणि कायद्याप्रमाणें आपलें व आपल्या बायकोचें संपिंड विवाहासारखेच वर्ज धरितात. पैकीं बायकोचें संपिंड निदान बायकोची बहीण तरी विवाह्य असावी अशाबद्दल आज इंग्लंडांत पन्नास वर्षे खटपट सुरू आहे; व पार्लमेंट सभेपुढें याबद्दलच्या कायद्याचा अनेक वेळां मसुदा येऊन तो आजपर्यंत अनेक वेळा नामंजूर झालेला होता. कारण सर्व मिशनरी लोक, म्हणजे हाऊस ऑफ लॉर्ड्समध्ये असणारे बिशप वगैरे, हे अशा प्रकारच्या विवाहास अनाचार किंवा दुराचार समजत असल्यामुळें प्रतिकूल होते; व त्याच्याप्रमाणेच नवऱ्याच लॉर्ड-स्त्रीं मते होती. पाद्री लोकांचें दुसरें असेही म्हणणें होतें कीं, अशा तऱ्हेचे विवाह कार्यदेशीर झाल्यानें घरातील नीति विघडून जाईल. कारण मग एका-द्याची स्त्री मयत झाली तर त्याच्या मुलाबाळांची काळजी घेण्याकरिता त्याच्या बायकोची बहीण घरात आली तर तिच्याबद्दलची बहीणीची बुद्धि नाहीशी होऊन पुढें एकंदर अनाचार होईल. साराश ज्यू लोकांच्या रितीभाती, बायबलची शास्त्रज्ञा, इतर देशातील खिस्ती लोकांचे आचार वगैरे यांबद्दल पुष्कळ भवति न भवति, वाद, चर्चा व तंटे दरेवेळी होत आलेले आहेत. हे तंटे सतत पन्नास वर्षे जेव्हां चालले तेव्हा यंदा अखेरीस या विलाचे हाऊस ऑफ लॉर्ड्स-मध्ये तिसरे वाचन होऊन तें एकदाचें पास झाले. तरीही डयूक ऑफ आर्गाईल, व्हायकाऊंट हॅलीफक्स वगैरे लॉर्ड्स व बहुतेक बिशप या विलाच्या विरुद्ध होते. मेलेल्या बायकोच्या बहिणीशीं लग्न करण्याची परवानगी मिळण्याकरिता जर इंग्लंडसारख्या सुधारलेल्या देशात विवाहसुधारणेच्छु मंडळीस पन्नास वर्षे एकसारखी खटपट करावी लागली तर आमच्यासारख्या देशात पुनर्विवाहाची मोकळीक दहा वीस वर्षांत मिळाली नाही म्हणून सुधारक मंडळीने बंड करण्यास तयार व्हावे ही आश्चर्याची गोष्ट नव्हे काय ? समजा पुढे तोच तोच विषय पुनः पुनः माडणें व त्यांतील लोक शहाणे असोत वा मूर्ख असोत, तरी त्याच्याचबरोबर वाद करून एकदां नाही तर दोनदां, दोनदां नाही तर चारदा, त्यांची खात्री करून देण्याचा प्रयत्न करणें व अखेरीस बहुमत आपल्यासारखे करून घेऊन आपला हेतु तडीस नेणे हेंच खऱ्या सुधारकाचें कर्तव्य आहे. परंतु आमच्या दुर्दैवाने आमच्याकडे जुनें किंवा नवे यांपैकीं कोणीच अशाप्रकारच्या पद्धतीचा अंगीकार करीत नाहीत. पुनर्विवाहाकरिता पंच-वीस वर्षांमागें श्रीशंकराचार्यामार्फत पुण्यास शास्त्री व गृहस्थ यांची मोठी सभा भरली होती, तिचा निकाल सुधारकास प्रतिकूल झाला. परंतु पुढें तशाच प्रकारें लोकांपुढें हा विषय ठेवून दर दहा वर्षांनीं जर पुनः पुनः अशा सभा भरविल्या तर केव्हांना केव्हा तरी पुनर्विवाहास थोडीबहुत मोकळीक मिळेल. पण येवढा खटपट करावा कोणी ! एकदां आपल्याविरुद्ध निकाल झाल्यावर इकडे स्वैच्छ वागण्यास मोकळीकच झाली व आतां मजल येथपर्यंत येऊन ठेपली आहे कीं,

स्वामीस अर्ज ऊर्फ नोटीस पाठवावयाची ती अशी की, तुम्ही विधवाविवाहास परवानगी द्या, नाही तर आम्ही हवे तसें वागूं. ही पद्धत बंडाची आहे. सुधारणेची नव्हे, हें आम्ही सांगावयास नकोच. वर सांगितलेल्या मेलेल्या बायकोच्या बहिणीशी लग्न करण्याबद्दल इंग्लंडांत जो कायदा पास झाला त्याच्या हकीगतीवरून आमच्या सुधारकांनी बराच बोध घेण्यासारखा आहे. हल्लीं समाजाची बरीच अनवस्था होत चालली आहे. राज्यकर्त्यांच्या कायदेकौन्सिलात लोकांचे पाहिजे तितके प्रतिनिधी नाहीत; व असले तरी विधवाविवाहाच्या कामांत कायद्याने झालें आहे त्यापेक्षा जास्त करिता येईल की नाही, व करावें कीं नाही याबद्दल बरीच वानवा आहे. तेव्हा अशा स्थितीत समाजाला नियमन करणाऱ्या ज्या पूर्वीच्या संस्था आहेत त्यापैकी एखादीचें पुनरुज्जीवन करण्याचा आम्हीं उद्योग करावा किंवा नाही, हा आपल्यापुढे एक मोठा प्रश्न आहे. परंतु त्याचा व्हावा तरा विचार झाला आहे असे आम्हास वाटत नाही. सामाजिक परिपद हे काम करण्यास नालायक आहे हे आम्हीं पूर्वी अनेक वेळा सांगितलेंच आहे.

[केसरी—ता. ११ ऑगस्ट १८९६]

यासंबंधाने लिहीत असता गेल्याअंकीं आम्ही येथील शुद्ध पक्षीयांबद्दल जें लिहिले होते त्यास प्रत्युत्तर म्हणून त्यांच्या एका कैवाऱ्यानें जो मजकूर प्रसिद्ध केला आहे त्याबद्दल पुन्हा एकवार दोन शब्द सांगणें जरूर आहे. गेल्या आठवड्यात येथें वे. शा. सं. महामहोपाध्याय गोपाळाचार्य कऱ्हाडकर हे आले होते. चार चार पाच पाच शास्त्रें अध्ययन केलेल्या जुन्या शास्त्री मंडळपैकीं वयानें, विद्वत्तेनें अथवा स्वभावाने याची बरोबरी करणारे आतां क्वचित्च आढळतील. पुनर्विवाहाचा जो येथे मोठा वाद झाला त्यांत सर्वांनुमतें यांस सरपंच नेमिले होतें. असो; आचार्य येथें आल्यावर आमची वे. शा. शून्य मंडळी त्यांच्याकडे लागलीच खेपा घालूं लागली. एकानें त्यास असें सांगितलें की, आपण मागें शास्त्रार्थ दिलाच आहे तो येथें भरसभेंत सागून धर्मरक्षणाचें श्रेय घ्यावें. शास्त्रीबुवांनीं ती गोष्ट करण्याची नाकारिली तेव्हां त्यास नुसत्याच पानसुपारीस आमंत्रण केलें. त्यासही गोपाळाचार्य जात नव्हते, पण अखेरीस त्यांनीं ती गोष्ट कबूल केली. पुढे पानसुपारी देण्यापूर्वी जीं भाषणे झालीं, त्यांत ग्रामण्याचा विषय काढलाच, व जवळच्या मंडळींनीं शास्त्रीबुवाशी बोलतांना शास्त्रीबुवास असें सुचविले कीं, श्रींची आज्ञा सशास्त्र नाही तेव्हां तिचा आम्ही कसा अंमल करावा. यावर महामहोपाध्याय यानीं ताबडतोब असा जबाब दिला कीं श्रींची आज्ञा श्रींनींच फिरविली पाहिजे. तात्पर्य, श्रींची आज्ञा सशास्त्र आहे कीं नाही हे ठरविण्याचा व सशास्त्र असल्यास ती मानावयाची, नाहीपेक्षा नाही, हा जो अधिकार येथील वेदशास्त्रशून्य मंडळीनें आपणांकडे घेण्याचा चालविला आहे,

हा वेदशास्त्रसंपन्न महामहोपाध्यायांस बिलकूल पसंत नाही व कधीं होणारही नाही. हायकोर्टाचा हुकूम कायदेशीर असला तर मी मानीन, असें जर कोणी उद्यां म्हणूं लागला तर बेलीफ त्यास न जुमानतां त्याच्या घरांतील भांडी जप्त करून खुशाल घेऊन जाईल. आचार्यांचें मत तसेंच आहे. श्रींनीं केलेली आज्ञा श्रींनीं फिरविल्याखेरीज त्यांस गत्यंतर नाही. ही पानसुपारी झाल्यानंतर दुसऱ्या दिवशीं एका पत्तावर आचार्यांची सही घेण्याकरितां शुक्लपक्षीय मंडळी त्यांच्या घरां गेली होती. हें पत्र श्रींकडे जाण्याचें असून त्यात आपण शास्त्रांप्रमाणें हुकूम द्यावा अशी विनंति केली होती; म्हणजे अर्थात् झालेला हुकूम शास्त्राप्रमाणे नाही. चतुःशास्त्रांत पारंगत असलेल्या विद्वानास ही कारकुनी कळणार नाही असा कित्येक सरदारांचा समज होता, पण आचार्यांस लगेच ही मख्खी समजून त्यांनीं सही करण्याचें नाकारिलें. तेव्हां शास्त्राप्रमाणें हे शब्द काढून टाकिले व अखेरीस कशी तरी आचार्यांची त्यावर सही करून घेतली. ह्यावरून उघड दिसून येईल कीं श्रीजगद्गुरूंची आज्ञा सशास्त्र किंवा अशास्त्र ठरविण्याचा अधिकार आपल्याकडे घेण्याचें जे येथें कांहीं निव्वळ गृहस्थ मंडळींनीं बंड माजविले आहे तें आचार्यांस बिलकूल पसंत नाही. कसेंही असले तरी पुनः श्रींकडे जाणें हाच त्यांस मार्ग आहे, असें त्यांनीं निश्चून सांगितलें. आम्ही गेल्या अंकी दिलेली हकीकत अक्षरशः बरोबर आहे; परंतु यासंबंधानें आमच्या सरदार मंडळींस शंका असेल तर ती त्यांनीं आम्हांस कळवावी म्हणजे ती आम्ही आचार्यांकडे पाठवून त्यांच्याकडून ती मंजूर होऊन आल्यास आपल्या लेखात मोठ्या आनंदानें दुरुस्ती करू.

[केसरी-ता. ११ आगस्ट १८९६].

* श्रीशिवाजीमहाराजांची जन्मतिथि.

आज हा विषय हातीं घेण्याचे कारण येत्या सोमवारी रायगड येथे व अन्यत्र होणारा श्रीशिवजयंत्युत्सव हें एक तर खरेंच, पण याशिवाय या विषयाकडे लक्ष जाण्यास रा. रा. विश्वनाथ काशिनाथ राजवाडे यांनीं नुकतेंच प्रसिद्ध केलेले “ मराठ्यांच्या इतिहासाचीं साधनें, खंड ४ था ” हें पुस्तकही मुख्यत्वेकरून कारण झालें आहे. रा. रा. राजवाडे यांनीं आपल्या नेहमीच्या पद्धतीप्रमाणे या पुस्तकास १४० पृष्ठांची एक मोठी प्रस्तावना जोडून पुढें पांच ऐतिहासिक ग्रंथ छापलेले आहेत. हे ग्रंथ पेशवाईच्या इतिहासासंबंधाचे आहेत. पण प्रस्तावनेत जे निरनिराळे विषय घेतले आहेत, ते सर्व शिवाजीमहाराजांच्या कारकीर्दीबद्दलचे

* (केसरी-ता. २४ एप्रिल १९००).

असून त्यांची चर्चा रा. रा. राजवाडे यांनी शोधकबुद्धीने काळजीने केलेली आहे. शिवाजीचे वेळच्या इतिहासासंबंधाने गेल्या वर्षात प्रसिद्ध झालेलें महत्त्वाचें असें हें एकच पुस्तक होय. निरनिराळ्या वादग्रस्त विषयांवर बखरींतून किंवा अन्यत्र ठिकाणी मिळालेली माहिती एकत्र गोळा करून ती परस्परविरोधी असल्यास त्यांपैकी खरी कोणती व खोटी कोणती याचा निर्णय करण्याचें काम किती नाजूक आहे हें रा. रा. राजवाडे यांच्या ग्रंथावरून कोणाच्याहि सहज नजरेस येण्यासारखें आहे; व आमची अशी आशा आहे की, रा.रा.राजवाडे हे मराठ्यांच्या इतिहासांतील निरनिराळ्या शंकास्थानाचें असेंच परीक्षण करून त्यासंबंधानें योग्य माहिती लोकांपुढें माडण्याचा आपला क्रम पुढेही चालू ठेवतील.

रा. रा. राजवाडे यांच्या पुस्तकाच्या प्रस्तावनेतील पान ४१ यांत शिवाजी-महाराजांच्या निरनिराळ्या बखरींत सांपडणाऱ्या जन्मतिथी देऊन अखेरीस शके १५४९ वैशाख शुद्ध ५, सोमवार, रोहिणी नक्षत्र ही तिथी विश्वसनीय आहे असें ठरविलें आहे. रा. रा. राजवाडे यांच्या या निकालासंबंधानें आज येथें विवेचन करण्याचा आमचा इरादा आहे. फक्त २७५ वर्षांपूर्वी जन्मास आलेल्या शिवाजीमहाराजांच्या जन्मतिथीसंबंधानें बखरींत व जुन्या कागदपत्रांत इतका घोटाळा असावा हें मोठेंच आश्चर्य होय. पण वस्तुस्थिति तशी आहे खरी. जुन्या कागदपत्रातून शिवाजीमहाराजांचा जन्मकाल पांच सहा प्रकारें दिलेला आहे व हे काल इतके भिन्न आहेत कीं शक, संवत्सर आणि तिथी यासंबंधानें एकाचा मेळ दुसऱ्याशी पडत नाही. महिना मात्र सर्वत्र वैशाख आहे तेव्हां तो बरोबर असावा येवढेंच काय ते त्यावरून सत्कृद्दर्शनीं खात्रीनें सांगतां येईल. बाकीच्या बाबतींत नीट चौकशी करूनच निकाल दिला पाहिजे हें उघड आहे.

निरनिराळ्या जन्मतिथी व त्यावरील आक्षेप.

प्रथमतः निरनिराळ्या बखरींतून किंवा जुन्या कागदपत्रांतून कोणकोणत्या तिथी दिल्या आहेत व त्यावर काय काय आक्षेप आहेत तें पाहूं.

(१) शिवाजीमहाराजांचा समकालीन व आश्रित भूषणकवी याच्या शिव-भूषण-काव्यात महाराजांच्या जन्मतिथीचा उल्लेख नाही.

(२) त्यानंतर सभासद व चित्रगुप्त यांच्या बखरी. सभासदांची बखर शिवाजीमहाराजांचें देहावसान झाल्यावर १४ किंवा १७ (शके १६१६ किंवा १६१९) वर्षांचे आंत तयार झालेली आहे व चित्रगुप्तांनीं हीच वाढवून लिहिली आहे. या दोहोंतही जन्मतिथी दाखल केलेली नाही. शिवाजीमहाराज व जिजाबाई शहाजीस भेटण्यास बेगळूरास गेलीं “ ते समर्यां राजियास वर्षे बारा होती ” हाच काय तो या बखरींत वयाचा पहिला उल्लेख आहे.

(३) तिसरी बखर मन्हारराव रामराव चिटणीस यांची. यांत जन्मतिथी “ शके १५४९, प्रभवनाम संवत्सरे, वैशाख शुद्ध २ गुरुवार ” अशी दिलेली असून पुढें सहा ग्रह उंच पडले असें लिहिलें आहे. गणितानें पाहतां या दिवशीं

गुरुवार येत नाही, शनिवार येतो; व नक्षत्रही भरणी येते. म्हणजे शिवाजीचे नंतर सुमारे १३० वर्षांनी लिहिलेली आहे.

(४) रायरीची बखर प्रो. फारेस्टसाहेबांच्या सिलेक्शनमध्ये प्रसिद्ध झालेली. यांत आरंभी शिवाजीचा जन्म शक १५४८ लिहिला आहे. पण बखरीच्या सरतेशेवटी “शिवाजी शालिवाहन शके १५४९ वैशाखमासी जन्मले, आणि शके १६०२ साली रायगड येथे वारले” असे लिहून पुढे “त्यांचे आयुष्य ५३ वर्षे पैकीं गादीवर १७ व पुंडाईत ३६ गेलीं!” असे लिहिले आहे. दादोजी कोंडदेव वारले तेव्हां शिवाजी १६ वर्षांचे होते असाही मध्ये लेख आहे. यांत तिथीचा कोठेही उल्लेख नाही. पण रा. रा. राजवाडे असे लिहितात की, त्यांजवळ असलेल्या रायरीच्या बखरीच्या प्रतीत शिवाजीचा जन्म “शके १५४८, क्षयनाम संवत्सर, वैशाख शुद्ध ५, चंद्रवार” असा दिला आहे. गणिताने या दिवशी सोमवार येत नाही, गुरुवार येतो; व नक्षत्र आर्द्रा येते. रायरीच्या बखरीचे इंग्रजी भाषांतर इ० सन १८०६ त झालेले आहे हेही लक्षात ठेविले पाहिजे.

(५) काव्येतिहास संग्रहकारांकडे धारेहून पाठविलेल्या एका जंत्रीत शिवाजीचा जन्म शके १५४९, प्रभव, वैशाख शुद्ध ५, सोमवार म्हणून दिला आहे. सोमवारी संध्याकाळी पंचमी लागते असे गणितारून कळते. या दिवशी नक्षत्र रोहिणी असावे असे वाटते असे रा. राजवाडे म्हणतात. पण गणिताने मृग किंवा आर्द्रा निघते. रोहिणी निघत नाही. तिथिनिर्णयाचे कामी नक्षत्र जमेश धरणे असल्यास गणिताने रोहिणी पंचमीस येणे शक्य नाही हा वैशाख शुद्ध पंचमीवर एक मोठाच आक्षेप आहे.

(६) बडोदे येथे छापलेल्या “श्री शिवदिविजय” नांवाच्या बखरीत श्रीशिवाजीची जन्मतीथ शके १५४९ प्रभव, वैशाख शु॥ २, गुरुवार, रोहिणी नक्षत्र अशी दिली आहे. प्रण शुद्ध द्वितीयेस गुरुवार किंवा रोहिणी नक्षत्र येत नाही हे वर सांगितलेच आहे. यासंबंधाने या बखरीत पुरातन म्हणून तीन श्लोक दिले आहेत. त्यांचा विचार पुढे येईल. ही बखर शके १७४० त लिहिलेली आहे असे मागे केशरीत आलेच आहे. शके १७४० म्हणजे सन १८१८; तथापि रा. राजवाडे लिहितात त्याप्रमाणे हीत माहिती जुन्या कागदपत्रांवरून घेतली आहेसे दिसते.

(७) बडोद्यास छापलेल्या “श्रीशिवप्रताप” या बखरीत शिवाजी महाराजांचा जन्मकाळ “शके १५४९ रक्ताक्षीनाम संवत्सर” असा लिहिला आहे. पण शके १५४९ साली संवत्सर प्रभव येतो; आणि रक्ताक्षी संवत्सर शके १५४६ साली पडतो.

(८) पुरुषोत्तम कविकृत संस्कृत शिवकाव्यात शिवाजीची जन्मतीथ नाही.

(९) काव्येतिहासांत छापलेली “मराठी साम्राज्याची छोटी बखर”

यांत शिवाजी राजांचा जन्मशक “ १५४९ क्षयनाम संवत्सरे, माहे वैशाख शु॥ ५, चंद्रवासरी ” असा लिहिला आहे; पण शके १५४९ त संवत्सराचें नांव प्रभव येतें, क्षय येत नाही; आणि सोमवारी उदयास चतुर्थी असून रात्रौ पंचमी लागते.

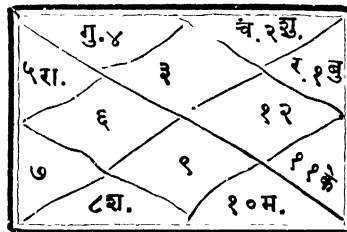
(१०) भारतवर्ष यांत शिवछत्रपतीची ९१ कलमी बखर छापली आहे. तींत कलम १५ यांत शिवाजीराजे यांचा जन्मशक शके “ १५५९ क्षयनाम संवत्सर, वैशाख मास, शुद्ध ५, चंद्रवारी ” असा लिहिला आहे. १५५९ ही चूक असावी त्या ठिकाणी १५४९ पाहिजे. म्हणजे मराठी साम्राज्याच्या छोट्या बखरींतील आणि ही तीथ एकच येते. अर्थात दोहोंवर आक्षेपही एकच येतात.

(११) भारतवर्षांत छापलेली “ छत्रपतींची वंशावलिबद्ध यादि ” यांतही “ शके १५४९ वैशाख शुद्ध ५ ” अशी तीथ दिलेली आहे. पण वार वगैरे घातला नाही, तेव्हां पडताळा पाहाण्यास जागा नाही.

(१२) भारतवर्षांत न्यायशास्त्री पंडितराव यांच्या बखरींत शिवाजीराजे यांचा जन्मकाल “ शके १५४९ प्रभव ” एवढाच लिहिला आहे.

(१३) भारतवर्षातील पंतप्रतिनिधीच्या बखरींत शिवाजीराजे यांची जन्म-तीथ “ शके १५४९ प्रभवनाम संवत्सरे, वैशाख शुद्ध १५, इंदुवार ” अशी दिली आहे. येथें “ शुद्ध १५ ” ही हस्तदोषानें शु॥५ ऐवजी पडलेली दिसते. वैशाख शुद्ध १५ स चंद्रवार येत नाही. यावर भारतवर्षकार अशी टीप देतात कीं, “ शिवाजीची जन्मतीथ आजपर्यंत वैशाख शुद्ध ५ आणि २ अशी आढळतात आली. या बखरींत १५ आहे, व एका यादींत तृतीया आहे. बहुमतानें द्वितीया कायम झालेली आहे ” ‘ व्होटे ’ घेऊन तीथ कायम करण्याची ही रीत अपूर्व आहे !

(१४) काव्येतिहाससंग्रहांत छापलेलें सभासद कृत शिवछत्रपतींचें चरित्र रा. सा. काशिनाथ नारायण साने यांनीं निराळें प्रसिद्ध केलें आहे. त्याचें परिशिष्ट ३ यात रा. रा. साने यास उपलब्ध झालेली शिवछत्रपतीची म्हणून एक लग्न-कुंडली दिली आहे ती:—



या जन्मकुंडलींत उच्चिंचे ग्रह सहा न येतां चारच म्हणजे गुरु, मंगळ,

रवी आणि चंद्र इतके येतात; व शुक्र स्वर्गर्हांचा येतो. पण ही कुंडली गणिताने विश्वसनीय मानतां येत नाही. कुंडलीमध्ये रविमेषांचा व चंद्र वृषभांचा आहे. तेव्हां महिना वैशाख होऊं शकतो. गुरु कर्काचा म्हणजे चोहोंच्या आंकड्यांवर आहे. गणिताने पाहतां वैशाखमासी कर्कराशीत गुरु शके १५४५ साली होता. तेव्हां या कुंडलीवरून शके १५४५ वैशाख शु॥ २ अगर ३ रोजी १० वाजल्यापुढे म्हणजे मिथुन लग्नावर शिवाजी जन्मला असें रवि, चंद्र आणि गुरु यांच्या स्थितीवरून होतें. या साली वैशाख शु॥ २ स सोमवार येतो व सूर्योदयानंतर ९।१० घटकांनी रोहिणी नक्षत्रही लागतें. संवत्सराचें नाव रुधिराद्वारी येतें. म्हणजे रवि, चंद्र आणि गुरु यांची स्थिति खरी मानली तर शिवाजीराजे यांची जन्मतिथि 'शके १५४५' रुधिराद्वारी संवत्सरे, वैशाख शु॥ २ व सोमवार सूर्योदयात् गतघटी सुमारे १०।११ नक्षत्र रोहिणी अशी येते. परंतु १५४५ हा शक कोणत्याही बखरीत दिलेला नाही. तेव्हां पत्रिकेंतील गुरु चुकला असावा असें मानणें भाग येतें. या कुंडलीवर दुसरा आक्षेप असा आहे कीं, शके १५४५ साली गणिताने शनि वृश्चिकेचा न येतां कर्काचाच येतो आणि राहू सिंहीचा न येतां तूलेचा येतो. तात्पर्य, गुरूवरून शके १५४५ हें साल कायम केले तर पत्रिकेंतील शनि व राहू जमत नाहीत; आणि पत्रिकेंतील राहू किंवा शनि कायम धरला तर गुरु जमत नाही. अर्थात् ही कुंडली विश्वसनीय नाही. मागाहून कोणी तरी गणित ज्योतिष न जाणणाराने रचली असावी असें दिसतें.

गोषवारा

वर जे १४ निरनिराळे आधार दिले आहेत ते सर्व एकवट करून परीक्षण केल्यास असें आढळून येईल कीं, भूषणकवी, सभासद आणि चित्रगुप्त यांच्या जुन्या ग्रंथांतून शिवाजीराजे यांची जन्मतिथि दिलेली नाही शिवाजीराजे यांचे समकालीन किंवा ते वारल्यानंतर १०।२० वर्षांचे आंत लिहिलेल्या बखरींतून अगर ग्रंथांतून त्यांची जन्मतिथि नसावी हें जरा चमत्कारिक दिसतें. जन्मतिथीचा पहिला उल्लेख रायरीची बखर व चिटणीसाची बखर यांत आढळतो. शिवदिग्विजयांत त्याचें स्पष्टीकरण आहे व नक्षत्रही दिलें आहे. जन्मकुंडली विश्वसनीय धरतां येत नाही हें वर सांगितलेंच आहे. शिवाय ती कोणत्याही बखरीत दिलेली नाही, हेंही ध्यानांत ठेवण्यासारखे आहे. वैशाख मास सर्वत्र दिलेला आहे, त्या बद्दल मतभेद नाही. शक कोणी १५४८ देतात व कोणी १५४९ देतात. तीथ (२) द्वितीया आणि (५) पंचमी अशी दोन प्रकारें दिलेली आढळते. वारही दोन आहेत, गुरुवार आणि चंद्रवार. नक्षत्र एकच ग्रंथांत म्हणजे श्रीशिवादिग्विजयांत दिलेले आहे आणि तें रोहिणी आहे. सारांशः—

(१) शके १५४९ प्रभावनाम संवत्सरे, वैशाख शु. २ गुरुवार; अगर शुद्ध ५ चंद्रवार.

(२) शके १५४८ क्षयनाम संवत्सरे, वैशाख शुद्ध २ अगर वैशाख शुद्ध ५ चंद्रवार.

या चार तिथीपैकी कोणती तरी तीथ वरील चौदा आधारांवरून निष्पन्न होते. यापैकी कोणती खरी हें पाहण्यापूर्वी गणित करून कोणत्या तिथीस कोणते वार व नक्षत्र पडते हें पाहिलें पाहिजे. कारण बहुमतानें निर्णय करण्यापेक्षां रा. रा. राजवाडे यांनीं लिहिल्याप्रमाणें कालनिर्णय करण्याच्या कार्मीं शक, सन, महिना, तीथ, वार, नक्षत्र, करण इत्यादि जास्त तपशीलवार माहिती जर कोणी दिली असेल व ती गणितानें खरी ठरत असेल तर तीच तिथी खरी व विश्वासनीय मानणें अधिक न्याय व समंजस आहे. हा तोडगा करण्यापूर्वी ज्योतिर्गणिताप्रमाणें तीथवार कोणते येतात हें पाहिलें पाहिजे. तें पाहण्यास मुख्य साधन म्हटलें म्हणजे कै० रा. रा. शंकर बाळकृष्ण दिक्षित आणि मि. राबर्ट सिवेल या दोघांनीं सन १८९६ सालीं प्रसिद्ध केलेलें “हिंदुपंचांग” हें पुस्तक होय. या पुस्तकांत इसवी सन ३०० पासून इसवी सन १९०० पर्यंत कोणत्या तारखेस कोणता वार, तीथ अगर नक्षत्र होतें हें काढण्याकरितां कोष्टकें दिलेलीं आहेत. याप्रमाणें गणित केलें तर खालीं लिहिल्याप्रमाणें तीथ, वार, शक, सन, नक्षत्र वगैरे गणितरीत्या निष्पन्न होतात. यांत शक धरला आहे तो गत आहे. वर्तमान नव्हे. जसें, शके १५४९ याचा अर्थ आम्हीं शालिवाहन शकाचीं १५४९ गतवर्षे असा करितों; पण दीक्षित याचे पुस्तकांत यासच १५५० वर्तमान शक असे म्हटले आहे. यंदांच्या पंचागांतून शक १८२२ दिला आहे, पण दिक्षित याचे पुस्तकांत त्याचे गणित १८२३ शकापुढें सांपडेल, हें पुस्तक पाहणारांनीं ध्यानांत ठेवलें पाहिजे. असो, या पुस्तकावरून तिथ, वार वगैरे निघतात ते येणेंप्रमाणे:—

१. शके १५४९, प्रभव, वैशाख शुद्ध २ रोजी वार शनवार येतो व सूर्योदयीं भरणी नक्षत्राचा चतुर्थचरण येतो. इंग्रजी तारीख ७ एप्रिल १६२७ अशी आहे.

२. शके १५४९, प्रभव, वैशाख शुद्ध ५ रोजी मंगळवार येऊन उजाडत्या मंगळवारीं आर्द्रा नक्षत्राचा पहिला चरण येतो. परंतु पंचमीस सोमवारीं रात्रीच सुरवात झालेली आहे. इंग्रजी तारीख १० एप्रिल १६२७ अशी येते.

३. शके १५४८, क्षय संवत्सरे, वैशाख शुद्ध २ स सोमवार येतो. सोमवारीं सूर्योदयीं किंवा किंचित् नंतर द्वितीया लागते. नक्षत्र कृत्तिका आहे. पण सोमवारीं मध्यरात्रीच्या सुमारास रोहिणी लागते. इंग्रजी तारीख २७ एप्रिल १६२६ अशी येते.

४. शके १५४८ क्षय, वैशाख शुद्ध ५ स गुरुवार येतो. सकाळीं आर्द्रेचा प्रथम चरण आहे. इंग्रजी तारीख २० एप्रिल १६२६ अशी येते.

गणितानें ही स्थिति येते. इचा व बखरीतील तिथीचा मेळ कसा घालावा हाच मुख्य प्रश्न आहे प्रथमतः सालाचा निकाल केला पाहिजे. म्हणजे शके १५४८ किंवा शके १५४९ याचा निर्णय झाला पाहिजे. तो करण्यास 'बहुमता' खेरीज अन्यप्रमाण म्हटलें म्हणजे शिवाजीची मृत्युतीथ शके १६०२ चैत्र शुद्ध १५ रविवार व तेव्हां त्याचें ५३ वर्षांचें वय होतें हे लेख होत. मृत्युतिथीबद्दल मतभेद नाही. त्याचप्रमाणें शिवाजीच्या आयुष्यक्रमांत १२ वर्षे निमूटपणें गृहवास, ३६ वर्षे पुंडाई आणि ५ वर्षे राज्यभोग असेही अनेक उल्लेख आहेत. बेंगळुरास शहाजी गेला तेव्हां तो १२ वर्षांचा होता असा सभासदांनीं जो उल्लेख केला आहे आहे त्यावरूनही शके १५४९ च निघतात. शके १५४९ घालून पुढें संवत्सराचें नांव क्षय असें जे कांहीं बखरींत दिलें आहे तें चूक आहे. सारांश, मृत्युतिथीच्या वेळीं बखरीतील शिवाजीच्या वयासंबंधानें आलेले उल्लेख पाहतां शिवाजीमहाराज यांचा जन्म शके १५४९ तच धरावा लागतो. वैशाख महिना सर्वासच मान्य आहे. तेव्हां शके १५४९, प्रभव, वैशाखमास, येथपर्यंत जन्मतिथीचा पुष्कळ अंशीं निर्णय झाल्यासारखाच आहे. आतां शुद्ध २ किंवा ५ एवढ्याचाच निर्णय कर्तव्य आहे. ह्यात

शंकास्थान

असें आहे कीं शुद्ध द्वितीया (२) ही तीथ कायम केल्यास चिटणीसाच्या बखरी-प्रमाणें गुरुवार येत नाही; आणि वैशाख शुद्ध ५ [१५४९] कायम केल्यास सोमवारीं रात्री पंचमी पडते खरी, पण सूर्योदयाची पंचमी मंगळवारीं येते. तथापि रात्रीं जन्म झाला असें धरल्यास शके १५४९, वैशाख शुद्ध ५, सोमवार येथपर्यंत जुळतें, व एवढ्यावरून रा. रा. राजवाडे यांनीं ही तिथी विश्वसनीय धरली आहे. पण रा. रा राजवाडे म्हणतात त्याप्रमाणें "सोमवार सरतां सरतां रोहिणी नक्षल येत नाही, मृग नक्षत्र येतें. किंबहुना वैशाख शुद्ध ५ स (मग ती १५४९ ची घरा अगर १५४८ ची घरा) रोहिणी नक्षत्र येण्याचा संभवच नाही असें म्हटलें तरी चालेल. आतां शके १५४८ हा शक खरा मानला तर शुद्ध द्वितीयेस सोमवार येऊन मध्यरात्रीस रोहिणी नक्षल येतें. पण रोहिणी नक्षत्र ज्यांनीं दिलें आहे त्यांनीं सोमवार न सांगतां गुरुवार सांगितला असल्यामुळे हीं तीथ खरी धरतां येत नाही. शके १५४८, वैशाख शुद्ध पंचमी रोजीं गुरुवार येतो, पण रोहिणी नक्षत्र येत नाही. शिवाय ज्यांनीं रोहिणी नक्षत्र दिलें आहे त्यांनीं प्रभव संवत्सर दिला आहे. तो संवत्सर १५४९ सालीं पडत नाही. सारांश, कोणतीही तीथ घेतली तरी तीत गणितदृष्ट्या कांहींना कांहीं तरी दोष येतोच. तेव्हां ह्या कोड्याचा उलगडा

कसा करावा हा एक मोठाच प्रश्न आहे. तीथ, वार, नक्षत्र या तिहींवरून जंर कोणती वेळ कायम होईल तर तीच ग्राह्य मानली पाहिजे. पण तीथ आहे तर वार नाही आणि वार आहे तर नक्षत्र नाही, आणि तीथवार जुळली तर साल जुळत नाही अशी स्थिति हल्ली उपलब्ध असलेल्या लेखांवरून निष्पन्न होते. तेव्हां याचा निर्णय करण्यास बखरींतील जन्मतिथीस मूल आधारभूत म्हणून जे दाखले दिले आहेत त्यांचा आमच्यामते प्रथमतः सूक्ष्म विचार केला पाहिजे. शकानुक्रमाने पाहिले म्हणजे जन्मतिथीबद्दल तपशीलवार माहिती चिटणीसांच्या बखरींतच प्रथमतः मिळते. परंतु श्रीशिवादिग्विजय या बखरींत दिलेले जन्मतिथींचे तीन श्लोक त्याहूनही जुने असावेत असे वाटते. निदान मल्हारराव चिटणीस यांनी दिलेली आणि या श्लोकांत सांगितलेली तीथ व वार एकच आहेत. तेव्हां चिटणीसांच्या गद्यापेक्षां शिवदिग्विजयांतील पद्ये पुराव्यास अधिक मातवरीची धरली पाहिजेत. कारण गद्यांत जितका लवकर फेरफार करता येतो तितका करता येत नाही. हे श्लोक येणेप्रमाणे:—

अब्दे वै प्रभवामिधे नरपते शालिप्रवाहात्परम् ।

शाके वेदनवाधिकंदुशरेक मासे च सन्माधवे ॥

नक्षत्रे च तिथौ विधौ गुरु दिने पक्षे सिते शाहजेः ।

जातो नाम शिवाजिको नरवरो यो वै हुतांशो हिते ॥

प्रभवार्द्धी गुरुवासरींच जहला वैशाख शुक्लीं त्रिंजी ।

शक्ती (शार्का ?) सोम-पतत्रि-वेद-निधिच्या नक्ष ते रोहिणी ॥

ज्याच्या (तीत्र ?) प्रताप सूर्य किरणें शत्रूतमा नासुनी ।

शिव्नेरीस (सु) भूपसूर्य उदयो उद्युक्त सद्रक्षणीं ॥

शिवाजीवर्मा नृपतिर्बभूव ।

विशाखमासे सितपक्षमध्ये ॥

गुरौ द्वितीया विधि भान्वितेहि

नागाद् (विध) नूनं शशिबाणवर्षे ॥

हे श्लोक अशुद्ध आहेत; पण त्यांतील कालवाचक पदे संदिग्ध नाहीत हे एक सुदैवच समजले पाहिजे. या तीन श्लोकांत पहिला श्लोक मूळ असून दुसरे दोन त्याच्याच आधारें दिलेले दिसतात. तिहींमध्ये शालिवाहन वर्ष एकच म्हणजे १५४९ आहे, व संवत्सर प्रभव आणि मास वैशाख आहे. वारही गुरुवारच आहे. पहिल्या श्लोकांत 'वेदनवाधिकंदुशरके' याचा अर्थ वेद = ४, नव = ९, अधिक इंद्रु = १ आणि शर = ५, म्हणजे १५ वर ४९ = १५४९ असा आहे "अंकानां वामतो गतिः" हा नियम या किंवा पुढील दोन्ही श्लोकांत स्वीकारलेला नाही. दुसऱ्या श्लोकांत "सोम-पतत्रि-वेद-निधी" याचा अर्थ सोम = १, पतत्रि म्हणजे बाण ५, वेद = ४ निधी = ९, म्हणजे १५४९ असाच

आहे. त्याचप्रमाणें तिसऱ्या श्लोकांत ' नागाब्धि ' म्हणजे ४९ आणि ' शशि-
बाण ' म्हणजे १५ अर्थात् १५४९ शक असेंच आहे. तात्पर्य तिन्ही श्लोकांत
१५४९ शक एकसारखाच आहे. प्रभवसंवत्सर, वैशाखमास, शुक्लपक्ष, आणि
गुरुवार हेही तिन्ही श्लोकांत एकच आहेत. म्हणजे " शके १५४९, प्रभव-
नाम संवत्सर, वैशाखमास, शुक्लपक्ष गुरुवार " येथपर्यंत तिन्ही श्लोकांची एक-
वाक्यता आहे. आतां तिथी आणि नक्षत्र यांचा विचार करावयाचा. नक्षत्र या
तीन श्लोकांखेरीज अन्यत्र कोठेही श्लोकांत किंवा बखरींत दिलेले नाही, हें वर
लिहिलेल्या आधारावरून वाचकांच्या लक्षांत आलेच असेल. तेव्हां मक्षत्रावरून
तिथीचा विचार कर्तव्य असल्यास या तीन श्लोकांखेरीज दुसरा कोणताही जुना
आधार नाही, हें सिद्ध आहे. पहिल्या श्लोकांत ' नक्षत्रे च तिथौ विधौ ' अशा-
प्रकारें तीथ व नक्षत्र सांगितले आहे. आणि दुसऱ्या व तिसऱ्या श्लोकांत नक्षत्र
रोहिणी आणि तीथ द्वितीया असे स्पष्ट आहे. म्हणजे ' नक्षत्रेच तिथौ विधौ या
पदांचा अर्थ " रोहिणी नक्षत्र आणि द्वितीया तीथ " असा पुढील दोन श्लोक
करणारानीं केला आहे. ' विधौ ' या पदाचे संस्कृतात दोन अर्थ होतात. ' विधी ' म्हणजे
ब्रह्मदेव या शब्दाची सप्तमी ' विधौ ' अशी होते; आणि ' विधु ' म्हणजे
चंद्र या शब्दाची सप्तमीही विधौ अशीच होते. काव्यप्रकाशांतील ' यानि विधा-
वभ्युदिते ' हा इकारांत व उकारांत (विधी व विधु) शब्दाचा श्लेष सर्वप्रसिद्ध
आहे. या श्लेषाप्रमाणें पाहिलें तर पहिल्या श्लोकांतील ' विधौ ' या पदाचे दोन
अर्थ संभवतात. एक ' विधि ' म्हणजे ' प्रजापति; ' आणि त्याची तीथ व नक्षत्र
म्हणजे द्वितीया व रोहिणी. कारण द्वितीयेची देवता प्रजापति आणि रोहिणीची
देवता प्रजापति आहे. ' नक्षत्रेच तिथौ विधौ ' या श्लोकाचा याप्रमाणें अर्थ
केल्यास (२ ऱ्या व तिसऱ्या श्लोकांत असाच केला आहे.) शिवाजीराजे यांची
जन्मतीथ " शके १५४९, प्रभव संवत्सर, वैशाख शुद्ध २, गुरुवार, रोहिणी " अशी
निघते. चिटणीसांनीं नक्षत्राखेरीज हीच तिथी दिली आहे. पण गणितानें
शुद्ध द्वितीयेस शनवार येतो व शुद्ध नक्षत्रही भरणी येते तेव्हां गणितदृष्ट्या हा
अर्थ बरोबर दिसत नाही. त्यामुळें दुसरा कोणता तरी अर्थ लावणें भाग आहे.
' विधौ ' या शब्दाचे दोन अर्थ होऊं शकतात हें वर सांगितलेच आहे.
' विधौ ' ही ' विधु ' याची सप्तमी मानल्यास ' नक्षत्रेच तिथौ विधौ ' याचा अर्थ
नक्षत्र आणि तीथ विधु=१ ' असा होतो; म्हणजे नक्षत्र आणि पहिली तीथ
अथवा प्रतिपदा व अश्विनी नक्षत्र असा अर्थ निघतो. विधु, इंद्रु, सोम, चंद्र हीं
पदें एक (१) या संख्येबद्दल घालण्याची नेहमींचीच वहिवाट आहे. वरील
तीन श्लोकांत इंद्रु, सोम आणि शशि हे १ या अर्थी वापरलेले आहेत. तेव्हां
' विधौ ' हा शब्द विधु शब्दाची सप्तमी म्हणूनच वापरला असावा हें अनुमान
अधिक दृढ होतें. असा अर्थ केला म्हणजे शिवाजीराजे यांची जन्मतीथ " शके

१५४९ प्रभव संवत्सर, वैशाख मास शुद्ध १, गुरुवार, अश्विनी नक्षत्र ” अशी निघते. आतां गणिताप्रमाणें पाहिलें तर प्रतिपदेस अश्विनी नक्षत्र व शुक्रवार येतो. पण प्रतिपदा शुक्रवारी सूर्योदय होण्यापूर्वीच सुमारे ५ तास १२ घटका ~~खाली~~ आमच्याकडे वार सूर्योदयापासून सूर्योदयापर्यंत मोजतात. त्या मानानें पाहिलें म्हणजे गुरुवारी उत्तररात्री प्रतिपदाच तीथ येते. तात्पर्य शके १५४९ वैशाखांत गुरुवारी उत्तररात्री अथवा उजाडत्या शुक्रवारी पहाटेस शिवाजीराजे यांचा जन्म झाला असें मानलें तर जन्मतीथ “वैशाख शुभ १ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र” अशी येते. ‘नक्षत्रे च तिथौ विधौ’ यांत “विधौ” ही विधु शब्दाची सप्तमी मानल्यास हाच अर्थ निघतो व गणितानें तो बरोबर ठरतो; करितां हाच अर्थ ग्राह्य आहे असे मानावें लागतें.

सारांश, “नक्षत्रे च तिथौ विधौ” या पहिल्या श्लोकांतील पदांचे दोन अर्थ होऊं शकतात—[१] वैशाख शु। २ गुरुवार, रोहिणी; आणि [२] वैशाख शुद्ध १, गुरुवार अश्विनी पैकीं पहिला अर्थ स्वीकारल्यास गणित बरोबर जुळत नाही. दुसरा घेतल्यास बरोबर जुळतें म्हणून दुसराच अर्थ घ्यावा लागतो. यावर कोणी अशी शंका घेतील कीं, “तुम्ही पहिल्या श्लोकाचा अर्थ केला, पण दुसऱ्या आणि तिसऱ्या श्लोकांत जर वरील दोन अर्थपैकीं पहिला अर्थ स्वीकारला आहे तर पहिल्या श्लोकाचाच याहून निराळा असा दुसरा अर्थ कां करावा ?” शंका बरोबर आहे. परंतु त्यास उत्तर एवढेंच आहे की, ‘विधौ’ याचे जर दोन अर्थ संभवतात तर त्यांतला गणितसिद्ध अर्थ घेणेच जरूर आहे. शिवाय वर शिवदिग्विजयांतून घेतलेले हे तिन्ही श्लोक एकदम केलेले असतील असें मुळीच संभवत नाही. कारण एकच अर्थ व्यक्त करण्याकरतां एकच मनुष्य एका कालीं तीन श्लोक तयार करील हे संभवत नाही. तेव्हां या तिहीपैकीं कोणता तरी एक श्लोक जुना व दोन श्लोक मागाहून कोणी तरी केलेले असावेत असें मानावें लागतें. शिवदिग्विजयात “नक्षत्रे च तिथौ विधौ” हीं पदे असलेला श्लोक ज्या-अर्थी पहिल्यानें दिला आहे त्याअर्थी तोच जुना असावा असें अनुमान करण्यास जागा आहे. शिवाय तिसऱ्या श्लोकांत ‘विधिमान्वित’ म्हणजे ‘विधी’ किंवा प्रजापतीचें भा म्हणजे नक्षत्र असा जो उल्लेख आहे तो पहिल्या श्लोकांतील ‘विधौ’ हें पद ‘विधि’ या शब्दाची सप्तमी मानून तदनुसार केला आहे असें सहज दिसतें. तेव्हां यावरूनही पहिला श्लोक मूळचा, व दुसरे दोन त्याचा एक प्रकारचा अर्थ मनांत आणून मागाहून केलेले असें अनुमान होतें. शिवाजीचें जन्मनक्षत्र दुसऱ्या कोणीही दिलेलें नाही तेव्हां नक्षत्राहून जन्मतीथ कायम करण्यास दुसरें कोणतेंच साधन नाही हें वर सांगितलेंच आहे.

उपसंहार.

वरील सर्व विवेचनावरून असा निर्णय निघतो कीं, शिवाजी महाराजांच्या पश्चात् काहीं दिवसपर्यंत म्हणजे सभासदी बखरीपर्यंत त्यांची नक्की जन्मतीथ कोणी

दिलेली अद्याप उपलब्ध झालेली नाही. “नक्षत्रे च तिथौ विधौ” हा ज्या श्लोकांत पाठ आहे तो प्रायः जुना असावा. याचे दोन अर्थ होऊ शकतात. पैकीं “शुद्ध द्वितीया, गुरुवार, रोहिणी” हाच अर्थ महारराव चिटणीसाचे वेळीं म्हणजे शिवाजीचे उत्तर सुमारे १२५ वर्षांनंतर प्रचारांत होता; व पुढें बखरकारांनीं प्रायः तोच अर्थ घेऊन आपआपल्या बखरींत ग्रथित केला असावा. हा अर्थ गणितास जुळत नाही इकडे त्यांचे लक्षण न जाणें अगदीं स्वाभाविक आहे. कारण १०० किंवा १५० वर्षांपूर्वींचें तिथ्यादि गणित फारच थोड्या लोकांस अवगत असतें, व तितका शोध करण्याचीही लोकांची प्रवृत्ति नसते. सुदैवानें आपल्या नजरेस जर ही चूक आज आली आहे तर सर्व पुराव्याचा विचार करून सर्वास मूळ आधारभूत दस्तऐवज कोणता हें पाहून त्यावरून आपणांस अर्थनिर्णय केला पाहिजे. तसा अर्थ निर्णय करावयास लागलें म्हणजे “नक्षत्रे च तिथौ विधौ” याचा दुसरा अर्थ, म्हणजे तिथि शु॥ १ व नक्षत्र अश्विनी किंवा तीथ पहिली आणि नक्षत्र पहिलें हा सहज लक्षांत येतो. आणि गणित करून पाहिलें तर ह्या तिथी, वार व नक्षत्र यांचा सुरेख मेळ बसतो. गणिताचा आणि या अर्थाचा मेळ काकतालीय न्यायानें होत असेल हें म्हणणें बरोबर नाही. करितां हल्लीं जो पुरावा उपलब्ध आहे त्या सर्वांचा विचार करता शिवाजीमहाराजांची जन्मतीथः—

शके १५४९ प्रभव, वैशाख शुद्ध प्रतिपदा,

गुरुवार उत्तर रात्र, अश्विनी नक्षत्र,

ता. ६ माहे एप्रिल सन १६२७.

हीच साधार आहे असें मानावें लागतें. गणिताचे कसोटीस दुसरी कोणतीही तिथि उतरत नाही. “विधौ” याचा अर्थ निराळा करावा लागतो, पण मग गणित सर्व जुळतें हा मुद्दा अत्यंत महत्त्वाचा आहे. चिटणीसांची व इतर बखरकारांची चूक कशी व कां झाली असावी याचें कारण वर सांगितलेंच आहे. इंग्रजी पद्धतीप्रमाणें वारास मध्यरात्रीं सुरवात होते. करितां गुरुवार उत्तर रात्र म्हणजे इंग्रजी पद्धतीनें शुक्रवार धरून वर इंग्रजी तारीख ६ एप्रिल दिली आहे. सुमारे २७५ वर्षांपूर्वीं जन्मलेल्या शिवाजीमहाराजांच्या जन्मतिथीबद्दल जुन्या ग्रंथांतून इतका घोंटाळा असावा हें जरा चमत्कारिक तर खरेंच, पण नेपोलियनचा पराभव करणारा प्रसिद्ध इंग्रजी योद्धा व मुत्सद्दी ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन याची जन्मतारीखही अशीच अद्याप अनिश्चित आहे हें लक्षांत आणले म्हणजे याबद्दल फारसें आश्चर्य वाटणार नाही. कोणीही पुरुष जन्मतेवेळींच तो पुढें मोठा होणार हें समजत नसतें. त्यांतून जिजाबाईसारखी नावडती बायको धामधुमीच्या प्रसंगीं शिवनेरीस प्रसूत झाली. तेव्हां तेथें जन्मलेल्या मुलाची जन्मवेळा कदाचित् काळजीनें तेव्हांचें तेव्हांच कोणीं टिपून ठेविली नसेल. कसेंही असो, जन्मतिथीबद्दल उपलब्ध असलेल्या कागदपत्रांतून पाहतां बराच घोंटाळा आहे. याचा

निर्णय लावण्याचा आमच्या बुद्धीप्रमाणें आम्हीं प्रयत्न केलेला आहे; पण या-
शिवाय जुन्या कागदपत्रांच्या आधारानें कोणास काहीं म्हणणें असल्यास तें आम्ही
मोठ्या आनंदानें प्रसिद्ध करूं.

* पंचांगशोधन

गेल्या महिन्या दीड महिन्यांत या विषयाच्यासंबंधानें पुण्याच्या गृहस्थ-
मंडळींत काहीं चर्चा होण्यास पुन आरंभ झाला आहे ही मोठी समाधानाची
गोष्ट होय. पुनः असें म्हणण्याचें कारण असें कीं, कै. प्रो. केरूनाना छत्रे हे
ह्यात असतां त्यांनीं या गोष्टीचा पहिल्यानें उपक्रम करून शुद्ध पंचांग छापण्यास
सुरवात केली इतकेंच नव्हे, तर तें किंवा तशाप्रकारचें शुद्ध पंचांग प्रचारांत
आणण्याबद्दल त्या वेळीं येथील प्रमुख लोकांच्या व ज्योतिष्यांच्या तीन चार
सभाही झालेल्या होत्या. परंतु त्या वेळीं केरोपंतांनीं काढलेली पद्धत नवीनच अस-
ल्यामुळे तिजविरुद्ध अनेक आक्षेप किंवा अडचणी दाखविण्यांत आल्या. ग्रह-
लाघवादि जुन्या ग्रंथांतील ग्रहगतींचीं मानें किंवा वर्षमानें बरोबर आहेत, पण
गणित करतांना जोशांच्या काहीं चुका झाल्या असतील तर मूळ ग्रंथांवरून त्या
दुरुस्त करून घेतल्या म्हणजे झालें असें म्हणणारांचा त्या वेळीं एक पक्ष होता.
दुसरा पक्ष युरोपियन ग्रंथांतील ग्रहगतींचीं मानें किंवा वर्षमान अधिक सूक्ष्म व
दृक्प्रत्ययास येणारे आहे हें कबूल करणारांचा होता; पण हीं नवीन मानें धरून
ग्रहलाघवासारखा एखादा नवीन करणग्रंथ झाल्याखेरीज जुने संस्कृत ग्रंथ सोडणें
वाजवी नाहीं असा त्याचा आक्षेप होता. तिसरा पक्ष अर्थातच नवीन पंचांगाच्या
अभिमान्यांचा होय. इंग्लिश किंवा फ्रेंच ग्रंथांच्या आधारे जें सूक्ष्म ग्रह निघतात
ते घेऊन त्याप्रमाणें चालण्यास आज सुरवात करावी, ग्रंथ मागाहून होतील असें
यांचें म्हणणें होतें. केरोपंती किंवा पटवर्धनी पंचांग प्रसिद्ध होऊं लागल्यावर
आणखी एक पक्ष उपस्थित झाला तो सायनवाद्यांचा होय. कै. लेले, दीक्षित,
मोडक हे याचे पुरस्कर्ते होते. यांच्या मतें पंचांगशोधन करावयाचें असल्यास
केवळ युरोपांतील ज्योतिषांचीं सूक्ष्म मानें घेऊनच चालावयाचें नाहीं तर ग्रहलाघ-
वावरून निरयणरीतीनें पंचांग करण्याची पद्धतही सोडून दिली पाहिजे; किंबहुना
सायनपद्धतच शास्त्रोक्त आहे, निरयण नाहीं असें या पक्षाचें म्हणणें आहे, व
त्यांनीं सायनपंचांग म्हणून निराळें पंचांग काढण्यास सुरवातही केलेली आहे.
पंचांगशुद्धीबद्दल महाराष्ट्रांतच अशा प्रकारची चळवळ होऊन राहिली असें नाहीं.
गेल्या दोन शतकांत युरोपांतील राष्ट्रांतून ज्योतिषशास्त्राचें जे शोध झाले त्याची
माहिती इंग्रजी ग्रंथाद्वारां आमच्या ज्योतिषांस झाल्यावर पुणें-मुंबईप्रमाणेंच काशी

व मद्रास येथेहि जुने व नवे असे दोन पक्ष होऊन कै. बापूदेवशास्त्री व चिंतामणी रघुनाथाचार्य ह्यांनीं केरोपंतांप्रमाणें दृक्तुल्य प्रत्ययाचीं नवीन पंचांगें या दोन्ही इलाख्यांत सुरू केलीं. केरोपंती पंचांग आणि या दोन्ही पंचांगांत अयनांश जरी निरानिराळे मानले आहेत तरी सर्व हीं सर्व निरयण पंचांगें आहेत व तंजावर येथील सुंदरेश्वर श्रौती यांचे पंचांगही याच वर्गातलें आहे हें ध्यानांत ठेविलें पाहिजे.

केरोपंती पंचांग प्रसिद्ध झाल्या दिवसापासून गेल्या ३६ वर्षांतलीं पंचांगा-संबंधाची सामान्य स्थिति वर दिली आहे. इंग्रजी ज्योतिषग्रंथ आमच्याकडे लोकांस अवगत झाल्यावर कै० केरोपंत, चिंतामणी रघुनाथाचार्य किंवा बापू-देवशास्त्री यांच्यासारख्या प्रसिद्ध ज्योतिष्यांच्या मनावर त्याचा काय परिणाम झाला हें यावरून उघड होतें. ग्रीक व मुसलमानी ज्योतिषशास्त्राचे काहीं ग्रंथ वराहमिहिरादि प्राचीन ज्योतिष्यांच्या पहिल्यानें नजरेस पडल्याबरोबर त्यांच्या मनावर जो संस्कार झाला तो आणि केरोपंतादिकांच्या मनावर युरोपियन ज्योतिष-ग्रंथांचा जो परिणाम झाला तो यांच्यामध्ये पुष्कळ किंवा सर्वांशीं साम्य आहे असें म्हटलें तरी चालेल. ज्योतिष्यांचे दोन वर्ग आहेत. एक सिद्धान्तज्योतिषी आणि दुसरे पंचांगज्योतिषी. पैकीं पंचांगज्योतिषी हे ग्रहग्रतीचीं मानें किंवा वर्ष-मानें वगैरे सिद्धान्तांतील मूलभूत गोष्टींची कधींही चिकित्सा करीत नाहींत. ग्रहलाघवासारख्या करणग्रंथात दिलेलीं मानें घेऊन सालोसालचीं पंचांगें करणें एवढेंच यांचें काम आहे. पण सिद्धान्तज्योतिषी यांचा प्रकार निराळा आहे. प्रत्यक्ष वेधानें, सूर्य, चंद्र किंवा ग्रह यांची जी स्थिति येते ती पूर्वीच्या ग्रंथांतील मानें धरून गणितानें काढलेल्या स्थितीशीं जुळते कीं नाहीं हें पाहून ती जुळत नसल्यास पूर्वीच्या ग्रंथोक्त ग्रहगतींच्या मानात कांहीं फेरफार करून नवे ग्रंथ केले पाहिजेत कीं काय हें ठरविण्याचें यांचे काम आहे. प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्करा-चार्य ह्यांनीं आपल्या ग्रंथांत हीच पद्धत स्वीकारून स्वकृत वेधास जुळतील अशीं मानें सिद्धान्तांत घेतलीं आहेत. भास्कराचार्य यांचा जन्म शके १०३६त झालें. तत्पूर्वीं म्हणजे शके ५२० सालीं जन्मास आलेल्या ब्रह्मगुप्तानेंही आर्यभटाचे गणितास दोष दिलेले आहेत. व आपल्या सिद्धान्तांत “ ब्रह्मदेवानें सांगितलेलें ग्रहगणित महान् काळ गेल्यामुळे खिळखिळें झालें आहे तें मी जिष्णुसुत ब्रह्मगुप्त स्पष्ट करून सांगतों, ” अशी ग्रंथारंभी प्रतिज्ञा केली आहे. ब्रह्मगुप्ताच्याही पूर्वींचे गर्गादि ग्रंथकार होत. ह्यांस यवनाचार्यांचे ज्योतिषग्रंथ जेव्हां पहिल्यानें मिळाले तेव्हां त्यांतील प्राह्लांश घेऊन आर्यज्योतिषांतील चुका दुरुस्त करण्यास त्यांनीं किमपि आळस केला नाहीं हें “ म्लेंच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितं । ऋषि-वत्ते हि पूज्यंते किं पुनर्देवद्विजाः ” या गर्गवचनावरून उघड दिसून येतें. वराह-मिहिरादिकांनीं यवनाचार्यांचा आपल्या सिद्धान्तांत उल्लेख केला आहे हें त्यांचे ग्रंथ पाहिलें असतां कळून येईल. यासंबंधाची आणखी विशेष माहिती कोणास पाहणें असल्यास ती कै० दिक्षित यांच्या “ भारतीय ज्योतिषशास्त्रांत ” मिळेल. येथे

या गोष्टीचा उल्लेख करण्याचें कारण एवढेंच कीं, ज्योतिषशास्त्राची आणि धर्मशास्त्राची परंपरा व क्रम भिन्न आहेत हें वाचकांच्या लक्षांत यावें. ज्योतिष हें वैद्यकाप्रमाणें प्रत्यक्ष शास्त्र आहे. चंद्र व सूर्य हे या शास्त्राच्या सत्यतेचे साक्षीदार होत व हे साक्षीदार कोणाहि ज्योतिषाच्या, राजाच्या किंवा इतर मनुष्याच्या तंत्रानें वागणारे नाहींत हा कोर्टातील साक्षीदारांत आणि यांच्यांत मोठा ध्यानांत ठेवण्यासारखा भेद आहे. चंद्रसूर्याची गणिताशी जुळत नसल्यास गणितास मूळ आधारभूत घेतलेलीं मानेंच फिरविलीं पाहिजेत. चंद्रसूर्य फिरावयाचे नाहींत. ग्रहगतींचीही मानें इतकीं सूक्ष्म आहेत कीं नक्की अद्यापही कळलेलीं आहेत कीं नाहींत याची वानवाच आहे. हजारों वर्षांच्या वेधानीं ही मानें अधिकाधिक सूक्ष्म व बरोबर करितां येतात हें तत्त्व आमच्या जुन्या ज्योतिषांसही मान्य होतें व बापूदेवशास्त्री, केरोपंत आदिकरून नव्या ज्योतिष्यांसही मान्य आहे हें वर दाखविलेंच आहे. सिद्धान्तज्योतिष्यांची याबद्दल एकवाक्यता असल्यावर केवळ पंचांगज्योतिषांची त्यास कांहीं हरकत असल्यास त्यांत कांहीं अर्थ नाहीं. पंचांगाचे उपयोग दोन आहेत, एक व्यवहाराकरितां व एक धर्मशास्त्राकरिता. पाश्चिमात्य राष्ट्रांतील पंचांग केवळ व्यवहाराकरितां असतें. व्यवहार म्हणजे नुसते दिवस मोजणें नव्हे तर अफाट समुद्रावर दुसरें कांहीं साधन नसतां तारे व ग्रह इत्यादिकांचे उदयास्त किंवा स्थिति आणि गति यावरून कित्येक दिवसपर्यंत गलबताच्या मार्गाचा निर्णय करणे व अखेरीस इष्ट स्थलीं गलबत नेणें याचाही त्यांत समावेश होतो. इंग्रजांति नॉटिकल अलमनॅक म्हणून जें पंचांग तयार होतें तें याचकरितां होत असतें. हें पंचांग इंग्रज लोक फ्रेंच लोकांनीं केलेल्या ग्रंथांच्या आधारें करितात. यावरून इंग्रज लोकांतही याबद्दलचा कांहीं वृथा अभिमान नाहीं हें उघड दिसून येतें. केरोपंत, बापूदेवशास्त्री, रघुनाथाचार्य यांची किंवा सायनवाद्यांचीं पंचांगां नॉटिकल अलमनॅकवरूनच केलेली असतात. सायन किंवा निरयण, आणि निरयणपक्षी अयनाश किती मानावे एवढाच काय तो याचा आपापसात भेद आहे. तात्पर्य, गेल्या दोन शतकांत युरोपियन ज्योतिष्यांनीं सूक्ष्म वेधावरून मिळविलेलें ज्ञान जुन्या आर्यज्योतिषग्रंथात सामील करून ब्रह्मगुप्तानें म्हटल्याप्रमाणें “खिळ-खिळें झालेले” आपलें जुनें ज्योतिष पुनः व्यवस्थित केलें पाहिजे याबद्दल सर्वांची एकवाक्यता आहे.

आज जो लेख आम्हीं लिहिला आहे तो कोणत्याही विशिष्ट पक्षाचें समर्थन करण्याकरितां लिहिलेला नाहीं. केरोपंती पंचांग निघाल्यापासून नव्या व जुन्या पंचांगांत कोणते फेरफार झाले आहेत हें सांगण्याचाच आमचा इरादा होता. हीं नवीन पंचांगां अधिक दृक्तुल्य आहेत याबद्दल २५।३० वर्षांच्या अनुभवावरून आज मिसीस पुष्कळांची खात्री झाली आहे. नवीन पद्धतीचीं पंचांगां तयार करण्यास केरोपंत आणि बापूदेवशास्त्री यांचीं कोष्टकें किंवा सारण्या आहेत, पण ग्रहलाघवासारख्या त्या सोप्या नसल्यामुळें तशा पद्धतीच्या ग्रंथाची उणीव

होती. पण तीहि रा. रा. व्यंकटेश बापूजी केतकर ह्यांनीं ज्योतिर्गणित व केतकी हे दोन ग्रंथ करून नुकतीच भरून काढली आहे. केतकरांस हे ग्रंथ करण्यास किती परिश्रम पडले याची परीक्षा सामान्य मनुष्यास होणे कठीण आहे. कोणत्याही प्रकारच्या नवीन माहितीचा पूर्वापार चालत आलेल्या जुन्या पद्धतीशीं बेमालूम सांधा जोडून पुनः पंचांगज्योतिष्यांकरितां जितकी सुलभ पाहिजे तितकी जुनी पद्धति कायम ठेवून ग्रंथ करणे यास चागली बुद्धि लागते इतकेंच नव्हे तर परिश्रमही पुष्कळ करावे लागतात. तसे परिश्रम रा. रा. केतकर यांनी घेऊन हे नवीन करणग्रंथ त्यांनीं संस्कृतात केलें याबद्दल त्यांचे आभार मानावे तेवढे थोडेच आहेत. वे. शा. सं. विनायकशास्त्री खानापूरकर यांनींही सूर्यसिद्धान्त व सिद्धान्त-शिरोमणी या ग्रंथाची सोपपत्तिक मराठीत भाषांतरे तयार केलीं आहेत, व तीं छापून प्रसिद्ध झालीं म्हणजे त्यावरून जुन्या ग्रंथाचें स्वरूप व त्यांतल्या उणीवी कोणाच्याही सहज लक्षांत येण्यासारख्या आहेत. अयनांश १८ घ्यावे किंवा २२ घ्यावे याबद्दल केतकर व खानापूरकर यांचा मतभेद आहे. पण केतकरांच्या ज्योतिष गणितग्रंथांत रैवत आणि चैत्र म्हणजे १८ आणि २२ अशा दोन्ही अयनांशपक्षाचें गणित आहे. यावरून केतकरांचाही एखाद्या विशिष्ट पक्षाबद्दल विशेष अभिमान आहे असें दिसत नाही. किंबहुना चित्रापक्ष केतकरांनीं पहिल्यानें आपल्या ग्रंथांत घातला नव्हता व तो कै. दीक्षित वगैरे लोकांचीं मते पाहून पुढें त्यांत ग्रथित केला असें भारतीय ज्योतिषशास्त्रांत दिलेल्या हकीकतीवरून समजतें. केतकरांनीं दोन्ही पक्षाचा आपल्या ग्रंथात समावेश केला असल्यामुळें निरयण तऱ्हेची दोन्ही म्हणजे केरोपंती आणि बापुदेवशास्त्री किंवा रघुनाथाचार्य यांचीं पंचांगे यावरून तयार करितां येतील. अशा तऱ्हेचा हा संस्कृतात पहिलाच ग्रंथ आहे; व त्यामुळें आरंभीं सांगितलेल्या चार पक्षांपैकीं एका पक्षाचा आक्षेप आतां नाहीसा झाल्यासारखा आहे.

येथवर गेल्या ३५ वर्षांत पंचांगशोधनावद्दल जी खटपट झाली तिचें थोडक्यांत स्वरूप सांगितलें. यासंबंधोन जास्त उद्योग करण्याचा काल आतां आला आहे अशी आमची समजूत आहे. हा उद्योग कोणत्या दिशेनें करावा, निरनिराळ्या पक्षांची एकवाक्यता करण्यास काहीं मार्ग आहे कीं नाही, या उद्योगास कोणकोणाचें साह्य पाहिजे व तें कसें मिळवावे वगैरे गोष्टींचें विवेचन पुढील अंकीं करूं.

* पेशवाईतील कारभार, रीतरिवाज आणि नितिमत्ता.

न्यायमूर्ती रानडे यांचें पेशवाईतील आचारविचार व नीति या विषयावरील व्याख्यान वाचलें असतां पेशवे अगदीं अडाणी होते वगैरे कित्येक लोकांच्या इतिहासाच्या अज्ञानामुळें झालेल्या ज्या समजुती असतात त्या दूर होतील. इंग्रजी राज्यांत डोळ्यांपुढें दिसणारी निरनिराळीं खातीं, त्यांचे अंमलदार, हिशोबी व्यवस्था वगैरे पाहून पुष्कळांस असें वाटतें कीं, पेशवाईत अशा प्रकारची तजवीज नसेल व त्यामुळेंच ब्राह्मणी राज्य डबघाईस लागून पुढें अखेरीस त्याचालय झाला. सारांश, इंग्रज लोक हिंदुस्थानांत येण्यापूर्वीं येथें प्रचलित असलेल्या हिंदु लोकांच्या राज्यपद्धति अगदीं कूचकामाच्या होत्या असें ज्यांस वाटत असेल त्यांनीं न्यायमूर्ती रानडे यांचा निबंध अवश्य वाचावा अशी त्यांस आमची शिफारस आहे. या निबंधांतील मते अथवा निबंध लिहिणारांचे विचार सर्वच आम्हांस मान्य आहेत असें नाहीं; तथापि त्यांत जी माहिती दिली आहे ती संग्रहणीय आहे. पेशवाईत हल्लींच्याप्रमाणें राज्यकारभाराचे सर्व कागदपत्र, हिशोब वगैरे व्यवस्थेशीर ठेवले जात असत. त्यांतून पेशवाईच्या उत्तर भागांत म्हणजे नानाफडणविसाचे कारकीर्दीत तर दत्तराची व्यवस्था उत्तम झालेली होती. राज्यामधील प्रत्येक गांवचा जमाखर्च पुण्याच्या दत्तरांत सांपडतो इतकेंच नव्हे तर, महाराष्ट्राबोहर शिंदे, होळकर, गायकवाड, वगैरे सरदारांनीं जे प्रांत काबीज केले होते त्यांचेही सर्व जमाखर्च येथील दत्तरांत आहेत. हे जमाखर्च पाहिले म्हणजे राज्याच्या अंतर्व्यवस्थेसंबंधानें पेशवे अगर त्यांचे कारभारी, मुत्सद्दी अथवा वकील किती दक्ष असत, व पुण्यांतील हुजुराच्या हुकुमाखेरीज उत्तर हिंदुस्थानांतल्याही कांहीं किरकोळ बाबी घडणें किती अशक्य होतें हें चांगलें नजरेस येईल. सर्व खात्यांत सर्व प्रकारचा बंदोबस्त शिस्तीनें आणि नियमांनीं चालत होता. न्या. रानडे यांच्या व्याख्यानांतील विशेष महत्त्वाचा भाग हाच होय. पेशव्यांचें दत्तर हल्लीं सर्व उपलब्ध नाहीं. तथापि इनामकमिशनचे वेळीं त्याचा बराच भाग इंग्रजसरकारानें इनाम, जहागिरी, वगैरेची पुढील व्यवस्था लावण्याकरितां संग्रह करून ठेवलेला आहे. हें दत्तर पाहाण्याची सरकारांतून परवानगी मिळून त्या दत्तरांतील कांहीं निवडक कागदपत्र छापण्यास परवानगी मिळालेली आहे व त्याचीं दोन पुस्तकें सातारा येथें छापूनही झालीं आहेत; व अशा तऱ्हेचीं आणखी १० । १५ पुस्तकें होतील असा अदमास आहे; असो. न्या. रानडे यांनीं जो निबंध वाचला त्यांतील माहिती पेशवाईच्या रोजनाभ्यावरून घेतली होती. या रोजनिशीचे एकंदर सुमारे वीस बावीस हजार कागद आहेत व

त्यांत रोजची हकीकत जेव्हांच्या तेव्हां टिपली असल्यामुळे ती अधिक विश्वसनीय आहे. या रोजनाम्यांचा थोडक्यांत सारांश देणें कठीण आहे; तथापि त्यांतील मुख्य मुद्याची गोष्ट ही कीं, त्या वेळीं शिबंदी, आरमार, न्यायमुनसबा, जमाबंदी, जातीजातींतील तंटे वगैरे सर्व प्रकारचीं कामें शिस्तवार चालत. विद्याखात्याचाही यांत समावेश होत असून विद्येच्या उत्तेजनार्थ मोठी रक्कम खर्ची पडत असे. उघडच आहे कीं, एवढ्या मोठ्या राज्याचा बंदोबस्त अशा शिस्तीखेरीज कधीही राहावयाचा नाहीं. आगगाडी, तारायंत्र वगैरे इंग्रजी राज्यांतील नवीन सुधारणेची दोन तीन खार्ती सोडून दिलीं तर बाकी सर्व खार्ती पेशव्यांच्या वेळीं व्यवस्थित रीतीनें चालत असत, व मीठ, अबकारी, खानेसुमारी वगैरे आपणांस हल्लीं नव्या वाटत असलेल्या गोष्टीही पेशव्यांच्या वेळीं प्रचारात होत्या असे या दप्तारावरून दिसून येतें; व न्या. रानडे यांनीं त्यांतील गोषवारा प्रसिद्ध केला याबद्दल त्यांचे आभार मानले पाहिजेत.

अशा प्रकारें शिस्तवार चाललेलें राज्य एकदम नाहींसें कां व्हावें हा प्रश्न मोठ्या महत्त्वाचा आहे व त्यासंबंधानें न्या. रानडे यांनीं आपले विचार निबंधाच्या आरंभी दाखल केले आहेत. शिवाजीनें घालून दिलेली राज्यपद्धत सुटली, सरदार प्रबळ झाले, खुद्द पेशव्यांचाच किंत्ता गिरविण्याची इतरांस साहजिक बुद्धी झाली, जातिमत्सर वाढून मराठे सरदारांपेक्षां ब्राह्मण सरदारांस विशेष महत्त्व आलें, आणि अखेरीस नीतिमत्तेचाही न्हास झाला, त्यामुळे पेशवाई लयास गेली असें न्यायमूर्तींचें म्हणणें आहे. यांपैकीं कांहीं गोष्टी बरोबर आहेत; पण प्रमुख सरदारांमध्ये तंटे होण्यास जातिभेद कारण झाला असावा असें जें न्यायमूर्तींनीं सांगितलें तें ऐतिहासिक परीक्षणाच्या दृष्टीनें यथार्थ नाहीं अशी आमची समजूत आहे. या प्रश्नाचा येथें सविस्तर विचार करणे अशक्य आहे. तथापि आम्ही एवढेंच सांगतों कीं, दिल्लीच्या मुसलमानी राज्याच्या न्हासाकडे न्यायमूर्तींनीं जरा नजर दिली असती, तर पेशवाईच्या न्हासाचीं कारणें सागतांना जातिभेदास त्यांनीं इतकें महत्त्व दिलें नसतें. मोंगल बादशाहीच्या अखेरीस दक्षिण, गुजराथ, अयोध्या, बंगाल येथील निजाम, सरसुभे अथवा नबाब हे ज्याप्रमाणें जातिभेद नसतांही स्वतंत्र झाले, तद्वत्च पेशवाईची अवस्था झाली हें मोंगलाईच्या व पेशवाईच्या न्हासाची तुलना केली असतां सहज कळून येण्यासारखें आहे. शिंदे, होळकर, गाईकवाड यांच्या ठिकाणी ब्राह्मण सरदार असते तर पेशवाई अधिक दिवस टिकली असती असें आम्हांस वाटत नाहीं; व याचा कोणास प्रत्यय पाहिजे असल्यास दक्षिणेंतील पटवर्धन आदिकरून ब्राह्मण सरदारांनीं पेशवाईच्या अखेरीस जें वर्तन केलें तें लक्षांत आणलें म्हणजे झालें. पेशवाईचा अंत होण्यापूर्वीच दीन तीन ब्राह्मण सरदारांखेरीज बाकी सर्व इंग्रजांस जाऊन मिळाले होते. सारांश, मुख्य सरकार व सरदार हे एक जातीचे असोत वा निराळे जातीचे असोत राज्य

जाऊं लागलें म्हणजे तें मुख्य सरकारची सत्ता कमी होऊन लयास जातें, एवढें यावरून व्यक्त होतें. हिंदुस्थानच्या बाहेरील देशांच्या इतिहासांवरून हेंच अनुमान दृढ होतें. ब्रह्मदेश व चीन या दोन्ही ठिकाणीं जातिभेद नाही, तथापि पहिल्याचें स्वातंत्र्य गेलें व दुसऱ्याचें जाऊं पाहत आहे हें लक्षांत आणलें म्हणजे राज्याच्या न्हासाचीं मुख्य कारणें कोणतीं व आनुषंगिक कोणतीं याचा चांगला खुलासा होतो. गुणाकडे लक्ष देऊन निरनिराळ्या जातींस एके ठिकाणीं वागविणें, मुख्य सरकारची सत्ता कायम ठेवून हाताखालील सरदारांस वरचढ होऊं न देणें, अथवा राज्याचे सर्व अवयव एकत्र राहून जुटीनें काम करतील अशी व्यवस्था ठेवणें, या राजनीतीच्या गोष्टी आहेत. त्या चांगल्या अवगत असल्यामुळेंच शिवाजी-महाराज व पहिले बाजीराव यांचे कारकीर्दींत मराठेशाहीचा उत्कर्ष झाला व पुढें तिकडे दुर्लक्ष झाल्यामुळें पेशवाई बुडाली असे म्हणणें आमच्या मतें अधिक सयुक्तिक आहे. एकदां तंट्यास किंवा भांडणास किंवा फुटीस सुरवात झाल्यावर मग ती फूट जातिभेदाच्या रूपानें आमच्यामध्ये अधिक लौकर बाहेर येते, निदान त्याला तशा प्रकारचें स्वरूप येतें एवढेंच जर न्यायमूर्तीचें म्हणणें असेल तर त्यावर फारसा आक्षेप येणार नाही; पण पेशवाई बुडण्याच्या प्रमुख कारणांपैकीं जातिभेद हें एक कारण असावें असें जर त्यांचें म्हणणें असेल तर तें बरोबर नाही असें आमचें मत आहे. इल्लीं ज्याप्रमाणें इंग्रजसरकारच्या वरिष्ठ कौन्सिलांतून राज्यरक्षणाच्या उपायांचा सदोदित सारखा खल चालत असून राज्यरक्षणाकरितां बाकी सर्व गोष्टींकडे दुर्लक्ष करण्यासही राज्यातील सर्व अधिकारी तयार असतात, तशाप्रकारचें पेशवाईतील सर्व अधिकाऱ्यांस वळण मिळालें नव्हतें, व नाना फडणविसासारख्या ज्या एक दोन गृहस्थांच्या डोक्यांत अशा प्रकारच्या कल्पना होत्या त्यांचे दरबारांत असावें तितकें वर्चस्व नव्हतें, आणि ज्यांच्याशीं टक्कर घ्यावयाची ते राजनीतींत अधिक धूर्त, वाकबगार व कसलेले होते हें पेशवाईच्या न्हासाचें आमच्या मतें खरें कारण होय. राज्याच्या हिताकरितां स्वहित सोडून पाहिजे तें करण्यास तयार होणें हें जें राज्यरक्षणाचें मुख्य तत्त्व तें त्या वेळच्या मुख्य मुत्सद्यांत जितकें जाग्रत असावयास पाहिजे होतें तितकें नव्हतें. पुढें मार्गें कांहीं कालानें कदाचित् हीं तत्त्वे त्यास अवगत झालीं असतीं पण तत्पूर्वीच ईश्वरी सत्तेनें वर सांगितल्याप्रमाणें चमत्कारिक प्रसंग आल्यामुळें पेशवाई लयास गेली. सर्व प्रकारच्या लोकांस एकत्र धरून ठेवण्याची कला हिंदूस अगर मुसलमानांस अवगत होती, हें शिवाजी किंवा अकबर यांच्या उदाहरणांवरून चांगलें दिसून येतें. आमच्या इतिहासांतील उणेपणा काय तो हाच कीं हें धोरण राजनीतीतील प्रमुख तत्त्व समजून सर्व मुत्सद्यांचें सर्वकालीं तिकडे लक्ष रहावें अशा प्रकारची व्यवस्था अमलांत न येतां हें शहाणपणाचें धोरण कांहीं विशिष्ट व्यक्तींच्या कारकीर्दीतच अमलांत राहिलें. मराठी किंवा मुसलमानी राज्याचा न्हास आणि इंग्रजांचा उत्कर्ष यांची परस्पर तुलना करून जर कांहीं बोध घेण्याजोगी गोष्ट असली तर ती हीच होय.

न्या. रानडे यांच्या व्याख्यानांतील दुसरा वादग्रस्त मुद्दा म्हटला म्हणजे सामाजिक सुधारणेचा होय. निबंधकारांची समाज सुधारणेबद्दलची मते प्रसिद्धच आहेत. हीं मते बरीं कां वाईट याचा आम्हीं मार्गे अनेक प्रसंगीं खुलासा केला आहे. त्याचें आज विवेचन करण्याची जरूर नाही पेशव्यांच्या रोजनिशीवरून आपल्या समाजसुधारणेच्या कांहीं मतास बळकटी येते असा जो निबंधकारांचा आशय आहे तो चुकीचा आहे, एवढेंच आज दाखविण्याचा आमचा इरादा आहे. न्या रानडे यांची नेहमींचीच अशी पद्धत आहे कीं, कोणत्याही गोष्टीस आपणास अनुकूल असें होईल तितकें करून स्वरूप द्यावयाचें, व या पद्धतीस अनुसरूनच हल्लींच्या निबंधांतही त्यांनीं थोडाबहुत प्रयत्न केला आहे. पेशवाईत जातीजातीमधील तंटे, लग्नें, बहिष्कार, कन्याविक्रयानिषेध, मद्यपान वगैरे धर्म-विषयक सामाजिक बाबतींतही सरकार हात घालीत असे, इतकेंच नव्हे तर सरकारास तशा प्रकारें हात घालण्याचा अधिकार आहे अशी लोकांची समजूत होती हें निर्विवाद आहे, पण या दाखव्यावरून इंग्रजसरकारासही तसा अधिकार येतो असें ध्वनित करणारांनीं हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे कीं, सरकार स्वधर्मी आणि स्वदेशी असतां त्यांच्या हातांत जे अधिकार असणें इष्ट असतें ते सर्व अधिकार परधर्मी आणि परकी सरकारानें हातांत घेणें योग्य व इष्ट नाही. इंग्रजी मुत्सद्दत्यांनीं हें तत्त्व पुरतेपणीं ओळखलें आहे व हिंदुस्थानांत इंग्रजसरकारनें जें धर्मोदासिन्य पतकरलेलें आहे तें एवढ्याच-करितां होय. इंग्लंडांत राणी ही धर्माची संरक्षक आहे व तिकडील ख्रिस्ती-धर्माच्या देवळाचें खातेंही तेथील राज्यव्यवस्थेचें एक अंग आहे. सारांश, पेशवाईत पेशवे जो अधिकार चालवीत असत तोच किंवा तशा प्रकारचा अधिकार इंग्लंडांत राणीसाहेबाकडे किंवा पार्लमेंटाकडे आहे. धर्माच्या बाबतींत मुख्य अंमल पोपकडे न राहतां राजाकडे रहावा याकरितां येवढी खटपट झाली हें इतिहासांत नमूद आहे. आमच्याकडे तशा प्रकारचा धर्मगुरूंचा व राजाचा तंटा होण्याची वेळ आली नव्हती. पण कांहीं ठिकाणीं धर्मगुरूंच्या सल्ल्यानें व कांहीं ठिकाणीं स्वतंत्र रीतीनेंही पेशवे धर्मविषयक सामाजिक बाबतींचीही व्यवस्था लावीत असत हें उघड आहे; परंतु इंग्रज सरकारास तशा प्रकारचें वर्तन ठेवतां यावयाचें नाही. एका धर्माच्या लोकांनीं दुसऱ्या धर्माच्या लोकांच्या धार्मिक बाबतींत हात घालणें इष्ट नसतें इतकेंच नव्हे, तर त्याचे परिणामही चांगले होत नाहीत. जो तो आपली धर्मसमजूत खरी मानीत असतो आणि स्वतःपुढें आलेल्या कोणत्याही प्रश्नाचा निकालही तो आपल्या समजुतीप्रमाणेंच करीत असतो; त्यामुळें त्याने कोणत्याही गोष्टीचा केलेला निकाल त्याहून भिन्न समजुतीच्या लोकांस मान्य न होतां उलट त्यापासून लोकांचा असंतोष मात्र जास्त वाढतो. इंग्रजसरकारनें धर्माच्या बाबतींत जी तटस्थ वृत्ति स्वीकारली आहे ती एवढ्याचकरितां होय. व ती सोडून देणें कधींही वाजवी होणार नाही.

आतां एवढी गोष्ट खरी आहे कीं, या तटस्थवृत्तीमुळे सामाजिक गोष्टीत धर्माधिकार्यांस जी सत्ता असावयाची तीही नाहीशी होऊन सामाजिक व्यवस्थेंत एक प्रकारचा लंगडेपणा आलेला आहे. हा लंगडेपणा काढावा कसा हा एक मोठाच प्रश्न आहे त्याचा विचार येथें करणें शक्य नाही. तूर्त येवढेंच सांगणें आहे कीं, हा लंगडेपणा काढण्याकरितां परधर्मी सरकारास आपल्या सामाजिक किंवा धर्म बाबतींत हात घालण्यास अधिकार असावा असें म्हणणें म्हणजे आपल्या घराची एक बाजूची भित मोडकळीस आली आहे म्हणून सर्व घरास आग लावून द्या असें प्रतिपादन करण्याइतकेंच शहाणपणाचें आहे. स्वधर्मी आणि परदेशी सरकार यांमधील भेद लक्षात न ठेवतां एकाचे अधिकार दुसऱ्यास असावे असें प्रतिपादन करणें अगदीं चुकीचे होय. न्यायमूर्तींनीं ही चूक पहिल्यानेंच केली आहे असें नाही व तिच्याविरुद्धही आम्ही पहिल्यानेंच लिहितो असें नाही. मागें याबद्दल चर्चा झालेली आहे, परंतु हल्लींच्या निबंधांत त्याचा पुनः थोडा उल्लेख आल्यामुळे त्याबद्दल आम्हांसही पुनः दोन शब्द लिहिणें जरूर पडलें.

निबंधात केशवपन आणि विधवाविवाह यासंबंधाचा आणखी एक मुद्दा होता. पानपतच्या लढाईत पडलेल्या सदाशिवराव भाऊंच्या बायकोनें आमरणांत सौभाग्य राखिलें व तिला त्याप्रमाणें राखूं दिले, यावरून न्यायमूर्तींनीं जी अनुमानें काढलीं आहेत तीं आमच्या मते चुकीचीं आहेत. सदाशिवरावभाऊ घोळ्यावरून उतरून पानपत येथें युद्धाच्या गर्दीत शिरले आणि दिसेनासे झाले एवढीच काय ती त्यांबद्दलची त्या वेळीं त्यांच्याबरोबर असणाऱ्या लोकांस नक्की माहिती होती. त्यास ठार मारल्याचे कोणी पाहिलें नव्हतें अगर त्यांचें प्रेतही कोणाच्या दृष्टीस पडलें नव्हतें; अर्थात् सदाशिवरावभाऊ मेले असें प्रत्यक्ष पाहून सांगणारा कोणीही नव्हता ते मेले असें अनुमान होतें, पण अशा अनुमानिक मरणावर विश्वास ठेवून कोणतीही स्त्री वैधव्य स्विकारणार नाही इतकेंच नव्हे तर शास्त्रही त्यास अनुकूल नाही. पेशवाईतील गोष्ट तर राहूं द्याच पण आज मितीस अशा प्रकारची उदाहरणें असल्याचें आम्हांस माहीत आहे. तोतया सदाशिवरावभाऊ पुढें उपस्थित झाला होता यावरूनही आम्ही म्हणतो तीच गोष्ट सिद्ध होते. नारायणराव पेशव्यांच्या बायकोसंबंधानेंही असाच प्रकार होय. नारायणरावांच्या मृत्यूच्या वेळीं त्यांची बायको गरोदर होती व गरोदर स्त्रियांचें वपन करित नाहीत असें शास्त्र असून व्यवहारही आहे. एकदां अशा कारणाकरितां वपन तहकूब राहिलें म्हणजे तें पुढें काहीं दिवस तसेंच राहेंत ही गोष्टही हल्लीं उपलब्ध असलेल्या उदाहरणांवरून कळण्यासारखी आहे. सारांश, या दोन्ही उदाहरणांवरून कोणतीही नवी गोष्ट सिद्ध होत नाही व न्यायमूर्तींनीं आपल्या मताच्या पुष्टीकरणार्थ म्हणून त्यांचा जो उल्लेख केला आहे तो चुकीचा आहे. सदाशिवरावभाऊ किंवा नारायणराव यांच्या कुटुंबावर जे प्रसंग आले तशा प्रसंगां चांगल्या घराण्यांतून अद्यापही हीच वहिवाट कायम आहे, ही गोष्ट न्यायमूर्तींनीं जरा शोध केला

असता तर त्यास सहज कळण्यासारखी होती. परशुरामभाऊ पटवर्धन यांनी आपल्या विधवा मुलीचें लग्न करण्याकरितां केलेल्या खटपटीचें उदाहरण न्याय-मूर्तींनीं अनेक वेळां सांगितलेले आहे. पण या गोष्टीस दंतकथेखेरीज कांहीं पुरावा आहे की काय याचा मात्र अद्याप कोणास पत्ता नाही. पेशव्यांच्या रोजनिशींत हा मजकूर नाहीं हें न्यायमूर्तींच कबूल करतात, आणि पटवर्धनांच्या दसरांतही याचा पत्ता नाहीं असें कै. श्री. बापूसाहेब कुंवाडकरांसारख्या शोधक अशा त्या घण्यांतील पुरुषाचें आणि रा. रा. वासुदेव शास्त्री खरे यांचे म्हणणें आहे. ही गोष्ट अशी आहे कीं, त्याबद्दल त्या वेळीं बरीच चर्चा झाली असली पाहिजे. अशा गोष्टींबद्दल पेशव्यांच्या रोजनाभ्यांत किंवा पटवर्धनी दसरांत जर दाखला नाहीं, तर तीच गोष्ट पुनः पुनः समाजापुढें विधवाविवाहाच्या समर्थनार्थ मांडल्यानें विधवा-विवाहपक्षास कांहीं बळकटी येते असें आम्हांस वाटत नाहीं. मग तत्पक्षीस न्याय-मूर्तींसारख्या विद्वानांस पेशवाईतील रोजनाभ्यांचा सारांश देतां येत नाहीं. त्यांत नसलेली अप्रस्तुत गोष्ट मध्येच सांगणें इष्ट वाटत असल्यास त्याचें कारण अशा प्रकारची संवय हेंच होय असें म्हणावें लागतें. ही संवय कांहीं बरी नव्हे असें म्हटलें असतां निबंधकाराच्या व्यापक विद्वत्तेस कांहीं कमीपणा येतो असें आम्हांस वाटत नाहीं. ज्या गोष्टीस पुरावा नाही ती नेहमींच लंगडी रहावयाची, मग ती विद्वानांच्या मुखातून बाहेर पडो किंवा अविद्वानांच्या पडो. प्रस्तुतची गोष्ट अशाच प्रकारची आहे. ती गोष्ट महत्त्वाची आहे यांत शंका नाहीं. पण तिला पेशव्यांच्या दसरात किंवा पटवर्धनी दसरांत जर कांहीं आधार मिळत नाहीं असें आम्हांस माहीत आहे तर निदान आणखी पुरावा मिळपर्यंत तरी त्या गोष्टीचा प्रमुखत्वानें कोठेंही उल्लेख करणें बरोबर नाहीं असें आम्हांस वाटतें.

*पंचांगशोधन.

महिन्यादीडमीहिन्यापूर्वी या विषयावर जो एक लेख लिहिला होता त्यांत गेल्या ३५ वर्षांत पंचांगशोधनाबद्दल मुंबई, मद्रास आणि बनारस वगैरे ठिकाणीं जी खटपट झाली तिचें थोडक्यांत स्वरूप सांगून यासंबंधानें जास्त उद्योग करण्याचा आतां काल आला आहे असें लिहिलें होते. पण हा उद्योग कोणत्या दिशेनें करावा वगैरे गोष्टींचा विचार करणें राहिलें होतें तो आज करण्याचा इरादा आहे. आजच हा विषय हातीं घेण्याचें दुसरे कारण असें कीं, ऑगस्ट महिन्याच्या ८ पासून १२ तारखेपर्यंत दिल्ली येथें भारतधर्ममहामंडळ नावाच्या सभेची यंदाची बैठक ध्वावयाची आहे, व तेव्हां दरभंगाचे महाराज हे अध्यक्ष-स्थान स्वीकारणार आहेत. सदर सभेत या प्रश्नाचा विचार होऊन कांहीं निकाल

होण्याचा संभव आहे, म्हणून तत्पूर्वी याबद्दलचे विचार प्रसिद्ध केले आहेत. दर-भंगाचे महाराजांसारख्यांनीं ही गोष्ट मनावर घेतल्याखेरीज शुद्ध पंचांगे सर्वत्र प्रचारांत आणण्याचा उद्योग होणें शक्य नाहीं हें उघड आहे. कारण हें काम बऱ्याच खर्चाचें व दगदगीचें असून शिवाय सर्व हिंदुस्थानभर ज्या संस्थानिकांचें वजन आहे अशा पुढाऱ्यांनै हें हातीं घेतल्याखेरीज निरनिराळ्या प्रांतातील लोक-मतही त्यास अनुकूल व्हावयाचें नाहीं. याकरितां भारतधर्ममहामंडलाचे अध्यक्ष दरभंगाचे महाराज ह्यांनीं या प्रश्नाकडे पूर्ण लक्ष देऊन त्याचा कांहीं तरी निकाल लावावा अशी त्यांस आमची विनंति आहे.

या विषयांवरील पूर्वीच्या निबंधांत हल्लीं जीं नवीन पंचांगे छापलीं जातात त्यामध्ये कोणत्या प्रकारचे मतभेद आहेत हें सांगितलेंच आहे. ग्रहलाघवावरून केलेलीं जुनी पंचांगे दृक्तुल्य होत नाहींत ही गोष्ट आतां बहुतेक सर्वमान्य आहे. व जुन्या पंचांगांतून कांहीं तरी सुधारणा झाली पाहिजे असेंही सर्वास वाटत आहे. सारांश, जुलीअस सीझर किंवा पोपग्रेगरी यांनीं युरोपांतील पंचांगे सुधारलीं तेव्हां सदर पंचांगाची जी स्थिति होती तीच सध्यां आमची झालेली आहे. युरोपांतील पंचांगाचा जुलीअस सीझरच्या वेळीं जरी थोडासा धर्म-कृत्ये करण्याकडे उपयोग होत होता तरी पुढें त्याचें हें स्वरूप लवकरच नाहींसें होऊन त्यास निवळ व्यावहारिक स्वरूप आलें. पण असें असतांही पंचांगशोधनाची जर युरोपांत जरूर पडली तर ज्या देशांत धर्म व व्यवहार हीं दोन्हीही पंचांगाधीन आहेत तेथें पंचांगशोधनाची विशेष जरूर आहे हें सागावयास नकोच. धर्मकृत्ये स्वतः करावयास नकोत व लोकांनीं कशींही केलीं तरी ज्यास चालतात अशा कांहीं गृहस्थांचें मत निराळें पडून इग्रजांचेंच तारीख-वार पंचांग आपण घेतलें म्हणजे झालें असें म्हणणारे आमच्यांतही कांहीं गृहस्थ निघतील, नाहीं असें नाहीं; किंबहुना कित्येकांस हा खटाटोपच रिकामा वाटेल. परंतु अशा गृहस्थांस भवभूतीनें म्हटल्याप्रमाणें “ तां प्रति नैष यत्नः ” एवढें उत्तर बस आहे. हिंदु ज्योतिष प्राचीन असून त्याची परंपरा कायम राहिली पाहिजे असा ज्यास अभिमान आहे, किंबहुना आमच्या प्राचीन विद्यांत जरूर तेवढी सुधारणा करून त्या अस्तित्वात ठेवणें हें हिंदु या नात्यानें ज्यास आपलें कर्तव्य वाटत आहे, अथवा हिंदुधर्मशास्त्राप्रमाणें प्रत्यही आम्हांस ज्या क्रिया कराव्या लागतात त्या होईल तेवढ्या कालमानानें बिनचूक झाल्या पाहिजेत असें ज्यांस वाटत आहे त्यांच्याचकरितां हा उद्यम आहे. याच उद्देशानें बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य वगैरे ज्योतिषशास्त्रावर नवीन ग्रंथ लिहिण्यास प्रवृत्त झाले होते, व कै० बापुदेवशास्त्रांसारखे विद्वान् गृहस्थही हाच हेतु मनांत धरून नवीन पंचांगे काढण्यास प्रवृत्त झाले. तेव्हां याच्या उपयुक्ततेबद्दल कांहीं थोड्या लोकांस जरी शंका असली तरी एकंदर समाजास ही गोष्ट हितावह असून जरूरीची आहे हें उघड आहे.

परंतु पंचांगशोधन कोणत्या तऱ्हेने करावे याबद्दल हल्लीं जीं निरनिराळीं मते प्रचलित आहेत त्यांचा प्रथमतः निर्णय लागल्याखेरीज नवी पद्धत अमलांत येणे शक्य नाही. सायन व निरयण हा भेद महाराष्ट्रांत जितका जोरावला आहे तितका मद्रास व बनारस येथे जोरावलेला दिसत नाही. याचें कारण उघडच आहे कीं, सायन पंचांगाभिमानी कै० लेले, मोडक व दीक्षित हे सर्व महाराष्ट्रांतीलच होते. कसेंही असो, हा भेद ठेवावयाचा कीं नाही अथवा त्यांत कांहीं तडजोड निघण्यासारखी आहे आणि असल्यास ती कोणती हा आमच्यामते पहिला प्रश्न आहे. आमचें स्वतःचें मत निरयण पद्धतीच कायम ठेवावी असें आहे. पण आजचा लेख आमचे मत स्थापित करण्याकरितां लिहिलेला नसून एकंदर विषयाची चर्चा कशी पाहिजे एवढ्याकरितां लिहिलेला असल्यामुळे आमच्या मताबद्दल येथे विशेष उहापोह करण्याची जरूर नाही. याबद्दल जो काय निर्णय करावयाचा तो निरनिराळ्या ठिकाणच्या विद्वानांनीं जमून बहुमतानें केला पाहिजे. या प्रश्नाचा निर्णय निरयणतर्फेचा झाला तर दुसरा पक्ष अयनांश किती मानावयाचे हा आहे. २२ अयनांश मानिले असतां ग्रहलाघवोक्त पूर्वीचीं पंचांगे कायम ठेवून नव्या शोधामुळे जे फेरफार करावयाचे तेवढेच आजपासून पुढें करावे लागतात. मागची सर्व फिरवाफिरव करण्याची जरूर नाही, हा त्यापासून एक मोठा फायदा आहे. उलटपक्षीं शके ४९६ च्या सुमारास रेवतीचा भोग शून्य मानून तेव्हापासून जे नवीन गणिताप्रमाणें अयनांश येतात ते घ्यावे असें म्हणणें आहे. अयनांश कमी जास्ती मानल्यानें संक्रांत व अधिकमास यांत फरक पडण्याचा संभव आहे. करिता या प्रश्नाचाही कांहीं निकाल झाल्याखेरीज सामान्य लोकांची नवीन पंचांगासंबंधानें ग्राह्यताबुद्धि स्थिर होणार नाही. हा अयनांशाचा वाद विकट आहे असें नाही, व त्याचा अखेर निकाल लागल्यावर तिसरा प्रश्न ग्रंथासंबंधाचा होय. ज्या रीतीनें पंचांग करावे असा अखेर निकाल होईल त्याप्रमाणें नवीन करणग्रंथ होऊन तो ग्रहलाघवाऐवजीं सर्वत्र प्रचारांत आणण्याची तजवीज झाली पाहिजे. अर्थात् हा ग्रंथ तयार करविणें, तो छापणें व त्याच्या पठपाठणाचा सर्वत्र प्रचार करविणें या तिन्ही गोष्टींकडे पंचांग सुधारणा करणारांनीं लक्ष दिलें पाहिजे. रा. रा. व्यंकटेश बापूजी केतकर यांनीं हल्लीं जो ग्रंथ केला आहे त्याचा या कामीं चांगला उपयोग होईल यांत शंका नाही. किंबहुना एक प्रकारें हा ग्रंथ झाल्यामुळेच पंचांगशोधनाचें ३०।३५ वर्षांपूर्वीचें स्वरूप जाऊन त्यास हल्लींचें स्वरूप प्राप्त झालें आहे असें म्हणण्यास कांहीं हरकत नाही.

वरील गोष्टी अमलांत कशा आणाव्या हा सर्व प्रश्नांपैकीं मुख्य प्रश्न आहे. कोणत्याही गोष्टीचा विचार करण्याकरितां दहा पांच विद्वान् लोक एके ठिकाणीं जमले म्हणजे सर्वांनुमतानें नाही तर बहुमतानें कांहीं तरी निकाल लागल्याखेरीज राहत नाही. पण सर्व विद्वान् लोकांस एकेठिकाणीं कोणी, कोठें व कसे गोळा

करावें, त्याचा खर्च कोणी द्यावा आणि त्यांनीं केलेला निकाल अमलांत येऊन त्याचा सर्वत्र प्रचार होण्याची खटपट कोणी करावयाची हाच काय तो मुख्य प्रश्न आहे. महाराष्ट्रांत कै. बापूसाहेब कुंढवाडकर वगैरे कांहीं संस्थानिकांनीं या बाबतींत थोडाबहुत उद्योग केलेला होता, व कै. आबासाहेब पटवर्धनासारख्यांनींही कै. केरोपंत नाना यांस साहाय्य देऊन नवीन पंचांगाची प्रथमतः प्रवृत्ति केली. संकेश्वरमठाचे अधिपति श्रीशंकराचार्य हेही पंचांगशोधनास प्रतिकूल नाहींत. पण हा उद्योग पुढें जितका जारीनें चालावयास पाहिजे होता तितका चालला नाहीं. कांहीं अंशीं हें काम नवीन करणग्रंथ नसल्यामुळें अडून पडल्यासारखें झालें होतें. पण तीही अडचण जर आतां दूर झाली आहे, तर आमच्यांतील कोणी संस्थानिकांनीं पुनः हें काम कां हातीं घेऊं नये हें आम्हांस समजत नाहीं. निदान महाराष्ट्रांत नवीन पंचांगाचा प्रसार होण्यास फारशी अडचण पडेल असें वाटत नाहीं. पण त्याकरितां इकडील ज्योतिषांची एक सभा भरवून नंतर मुख्य मुख्य शहरांतील गृहस्थांची अनुमति घेऊन त्यांत जो निकाल होईल त्याप्रमाणे पुढें काम सुरू ठेवण्यास एका स्वतंत्र कमिटीची योजना झाली पाहिजे. पुण्यास या गोष्टीचा थोडाबहुत उपक्रम पुन्हां सुरू झाला आहे. पण सर्व ठिकाणच्या प्रमुख प्रमुख लोकांची व संस्थानिक व सरदार वगैरे श्रीमंत लोकांची मदत व अनुकूलता असल्याखेरीज हें काम कोणाच्याही हातून पार पडावयाचें नाहीं. दुसरी अशीही गोष्ट लक्षांत ठेवली पाहिजे कीं, नवीन पंचांगाचा प्रसार केवळ महाराष्ट्रांतच करावयाचा आहे असे नाहीं, तर इतर इलाख्यांतूनही याबद्दलची चर्चा सुरू करून नवीन पंचांगाचा प्रसार केला पाहिजे. हें कार्य घडून येण्यास इतर इलाख्यांतील पुढाऱ्यांचीही संमति व साह्य मिळविलें पाहिजे. आणि ते दरभंगाच्या महाराजांसारख्यांनीं पुढाकार घेतल्याखेरीज व्हावयाचें नाहीं. या निबध्याच्या आरंभीं भारतधर्ममहामंडळसभेनें हा विषय घ्यावा म्हणून जी सूचना केली आहे ती एवढ्याचकरितां होय. पण ती सूचना आजच अमलांत न आली तरी महाराष्ट्रांतील लोकांनीं आपला उद्योग सुरू ठेवण्यास कांहीं हरकत नाहीं. सर्व हिंदुस्थानभर शुद्ध पंचांग सुरू होणें इष्ट आहे खरें. पण ती गोष्ट आज घडून येत नाहीं म्हणून मुळींच उद्योग सोडून देणें शहाणपणाचें नव्हे. ग्रहलाघवाचा आज जो प्रचार आहे तो कांहीं एकदम झालेला नव्हे. ग्रंथांचे व विषयाचें महत्त्व लोकांस समजून आल्यावर तो झालेला आहे. आणि त्याचप्रमाणे हल्लीं ग्रंथाचाही प्रकार होईल. मात्र एकनिष्ठपणानें व मेहनत घेऊन या कामास लागणारे लोक निघाले पाहिजेत. पुण्यांतील कमिटी तशाप्रकारें आपलें काम चालवून तिला हिंदुस्थानांतील नाहीं तरी महाराष्ट्रांतील लोकांचें तरी पूर्ण साह्य मिळेल अशी आम्हांस आशा आहे.

* कै. न्या. महादेव गोविंद रानडे.

न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे यांच्या मृत्यूची वार्ता ऐकून हिंदुस्थानांतील, महाराष्ट्रांतील व विशेषतः पुण्यांतील लोकांस आपल्या घरचाच एक कार्यकर्ता पुरुष गेल्याइतकें दुःसह दुःख होईल व निदान कांहीं कालपर्यंत तरी या दुःखदायक बातमीनें त्यांचें भान नाहींसें होईल यांत शंका नाहीं. मनुष्याचें जीवित नश्वर आहे वगैरे तत्त्वज्ञानाचे विचार कितीही डोक्यांत घोळत असले तरी वैभवानें, बुद्धीनें, कर्तृत्वानें किंवा विद्वत्तेनें ज्या थोर गृहस्थांनीं राष्ट्राचा कार्यभार उचलून पुढाकार घेतलेला असतो त्यांच्या मृत्यूनें कांहीं कालपर्यंत तरी जग शून्यवत् भासणें अगदीं स्वाभाविक आहे. माधवरावजींचें चरित्र दुसरीकडे सविस्तर दिलें आहे त्यावरून कॉलेजांत असतांना त्यांच्या विद्वत्तेचा लौकिक कसा वाढला होता, पुढें नोकरींत त्यांचा प्रवेश कसा झाला, तेथें त्यांस कोणकोणते मान मिळाले व अखेरीस हायकोर्ट जज्जाच्या जागेपर्यंत त्यांची मजल कशी पोहोचली वगैरे गोष्टी वाचकांस कळून येतील. अलौकिक बुद्धिमत्ता, दीर्घ व सतत व्यासंग, देशाबद्दलची खरी कळकळ, विद्यार्जनाचें स्वाभाविक जडलेलें व्यसन, अचूक कल्पकपणा वगैरे अनेक गुणांनीं माधवरावजींचें चरित्र बोधप्रद असून महत्त्वाचें झालें आहे. याखेरीज राजदरबारीं व लोकांत त्यास जो वेळोवेळीं मान मिळत गेला व लोकांची आणि सरकारची जी कामगिरी त्यांनीं बजाविली तीहि कांहीं साधारण नाहीं. दुसऱ्या कोणा पुरुषाच्या हातून एवढीच कामगिरी जरी झाली असती तरी देखील त्यांची थोर पुरुषांत गणना करावी लागली असती. पण रावसाहेबांकरितां (न्यायमूर्ति हें कृत्रिम नाव सोडून देऊन आम्हा पुणेकर लोकांच्या तोंडीं बसलेल्या त्यांच्या नेहमींच्या नांवानेच येथे उल्लेख करणें आम्हांस अधिक प्रशस्त वाटतें.) आज महाराष्ट्रांतील प्रत्येक समजूतदार मनुष्य जो इळ-इळत आहे तो ते कांहीं हायकोर्टाचे जज्ज होते, प्रार्थनासमाजाचे अध्यक्ष होते किंवा सामाजिक सुधारणेचे अध्वर्यु होते म्हणून नव्हे. या गोष्टी थोरपणा प्राप्त होण्यास साधनीभूत नाहींत असें नाहीं. पण तेवढ्यानें माधवरावजींच्या थोरपणाची उपपत्ति लागत नाहीं अशी आमची समजूत आहे. कै. कृष्णशास्त्री चिपळूणकरांसारखे बुद्धीनें बृहस्पतितुल्य विद्वान् आमच्यांत झाले नाहींत असें नाहीं. प्रार्थनासमाज किंवा समाजसुधारणा यांचे निःसीम भक्तही माधवरावजींच्या बरोबरीचे किंवा कांकणभर जास्तही असूं शकतील. व हायकोर्टांत एक नेटिव्ह जज्ज असावयाचा असा सरकारचा जोंपर्यंत विचार आहे तोंपर्यंत नेटिव्ह हायकोर्ट जज्जाचीही परंपरा कायम राहिल. माधवरावजींकरितां महाराष्ट्रदेश जो आज इळ-इळत आहे व आपलें अपरिमित नुकसान झालें असें आज जें प्रत्येकास वाटत

* (ता. २२ जानेवारी १९०१.)

आहे तें कांहीं असल्या बाह्य गुणांकरितां नव्हे. न्यायमूर्ति हे मार्मिक लेखक, चांगले वक्ते, उत्तम विद्वान्, अलौकिक बुद्धिमान्, जबर विद्याव्यासंगी, असाधारण कल्पक आणि सरळमनाचे व शांत स्वभावाचे होते हें सर्वास महशूर आहे. पण कमलाची खरी योग्यता ज्याप्रमाणें पाकळ्यांच्या आकारांत, रंगात किंवा मार्दवांत नसतां त्याच्या सुगंधीपणात असते, तद्वत् माधवरावजींच्या खऱ्या लोकप्रियतेचें व मोठेपणाचें बीज ज्यांस पाहणें आहे त्यांनें वरील गुणांखेरीज दुसऱ्या कांहीं गोष्टींचा विचार केला पाहिजे.

हा विचार कोणता हें सांगण्यापूर्वी माधवरावजी पुण्यास पहिल्यानें जेव्हां आले तेव्हां पुणें किंवा महाराष्ट्र याची काय स्थिति होती याचें थोडक्यांत निदर्शन केलें पाहिजे. एक राज्य जाऊन दुसरे राज्य कायम होईपर्यंत मध्यंतरी जो काल जातो तो राष्ट्राच्या अभिवृद्धीस पुष्कळ प्रकारें प्रतिबंधक असतो, हें ऐतिहासिक तत्त्व सुप्रसिद्ध आहे. सन १८२० पासून सन १८७० पर्यंत महाराष्ट्र देशाची स्थिति अशाच प्रकारची होती. ज्या पुणें शहरात नानाफडणीसासारख्या मुत्सद्दयानां काहीं वर्षे वास्तव्य करून मराठी राज्याचा गाडा हाकला व जेथें पेशवाईची अखेर होईपर्यंत मुत्सद्दी व शूर पुरुषाची परंपरा कायम होती तेथें एकोणिसाव्या शतकाच्या पूर्वार्धात सर्व बाबतींत बहुतेक प्रेतकळा आली होती असें म्हटलें असतां त्यात अतिशयोक्ति होणार नाही. ज्या सरदार घराण्यातील पुरुषांनी पेशवाईत मोठमोठी कामे केलीं होती त्यांच्या वंशजास इंग्रज सरकारने पेन्शन घेऊन स्वस्थ बसण्यास सांगितलें असल्यामुळें नवीन राज्यव्यवस्थेच्या बरेवाईटपणाबद्दल विचार करण्याचें त्यांचें कुलव्रत त्यांनीं सोडून दिलें होतें. देशाचे पुढारीच असे कर्तव्यपराङ्मुख झाल्यावर गरीब रयतेची स्थिति कशी झाली असेल हें सांगावयास नकोच. टोपीवाल्याची राज्य करण्याची शिस्तवार रीत, चोहोंकडे त्यानें घालून दिलेलीं कायद्यांचीं बंधनें, जमीनपाहणी, आगगाड्या, तारायंत्रें, शाळा, पोस्ट ऑफिसें वगैरे राज्यव्यवस्थेच्या अपूर्व थाटानें लोक दिपावून गेल्यासारखे झाले होते. त्यातून बंडवाल्यांचा पराभव झाल्यानंतर तर इंग्रजी राज्याची अधिकच छाप बसली गेली. जुन्या सरदार घराण्यांतील पुरुषांस राजकारणांत पडण्याची जरूर नसल्यामुळें त्यांच्या अंगचे गुण लुप्तप्राय झाले, व पुणें पाठशाळेंतून तयार झालेले नवीन विद्वान् सरकारी नोकरीत आणि त्यामुळें प्राप्त झालेल्या मानांतच दंग होऊन राहिले. जी पुण्याची तीच सगळ्या महाराष्ट्राची स्थिति होती. माधवरावजी पुण्यास येण्यापूर्वी येथील विश्रामबाग कॉलेज किंवा पूना कॉलेजमधून बुद्धिवान् व विद्वान् मंडळी तयार होऊन बाहेर पडली नव्हती असें नाही, पण वर निर्दिष्ट केलेल्या अनेक कारणांमुळें राष्ट्रामधील चळवळ अगदी बंद पडून गेली होती व कोणास आपण पुढें काय करावें हें सूचत नसून आपली हल्लींची स्थिति बरी किंवा वाईट हेही कळत नव्हतें. ज्या प्रांतांतील लोकांनीं एकदा मराठी राज्याचा गाडा हाकला होता त्यांतील पुढाऱ्यांच्या वंश-

जांची दोन पिढ्यांत अशी स्थिति होऊन जावी ही मोठ्या दुर्दैवाची गोष्ट होय. पण माधवरावजींनी पुण्यांत जेव्हां पाऊल ठेवलें तेव्हां या महाराष्ट्राच्या जुन्या राजधानीची स्थिति वरच्याप्रमाणें झाली होती, यांत बिलकुल संदेह नाही. कोणत्याही प्रकारची चळवळ करण्याविषयीं पराङ्मुखता आणि केवळ स्वहितपरायणतेमुळे अथवा पूर्वीच्या अमदानींत ज्या गुणाची चहा होत होती तेच गुण नेटिवांच्या अंगी तरी असण्याची आवश्यकता न राहिल्यामुळे एक प्रकारचे लोकांच्या पुढाऱ्यांच्या अंगी आलेले शैथिल्य हेंच काय तें सर्व देशभर नजरेस येत होतें. लोकांच्या आंगचे तेज अगदीच नाहीसे झालेले होते असें नाही, पण वर लिहिलेल्या कारणांमुळे महाराष्ट्रदेश म्हणजे त्या वेळीं एक थंड गोळा होऊन पडला होता. या थळ्या गोळ्यास कोणत्या तऱ्हेनें ऊब दिली असता तो पुनः सजीव होईल व हातपाय हालवू लागेल याचा रात्रंदिवस एकसारखा विचार करून अनेक दिशांनी, अनेक उपायांनी, अनेक रीतींनी त्यास पुनः सजीव करण्याचे दुर्धर काम अंगावर घेऊन त्याकरितां जिवापाड जर कोणी मेहनत केली असेल तर ती प्रथमतः माधवरावजींनीच केली असें म्हटलें पाहिजे; व आमच्यामते हेंच त्यांच्या थोरवीचें किंवा असामान्य मोठेपणाचें मुख्य चिन्ह होय. मुंबईच्या कॉलेजांत विद्याभ्यास करीत असतां इंग्रजी विद्येनें माधवरावजींच्या मनावर जे परिणाम झाले असतील अथवा त्यांच्या अंतःकरणांत जो प्रकाश पडला असेल त्याखेरीज त्यांच्या मनाची सार्वजनिक चळवळीकडे प्रवृत्ति होण्यास डॉ. भाऊ दाजी, दादाभाई नौरोजी वगैरे थोर गृहस्थांचीं प्रत्यक्ष उदाहरणे बरीच कारणीभूत झालीं असावीं. एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे कीं, माधवराव मुंबई सोडून कायमचे पुण्याच्या प्रिन्सिपॉल सदरआमिनच्या जागेवर आले, तेव्हां दादाभाई नौरोजीसारख्या पुढारी गृहस्थाच्या उदाहरणानें व कृतीनें त्यांच्या मनावर बराच परिणाम झालेला होता. माधवरावजी मुंबईसच राहाते, तर आपल्या असाधारण बुद्धिसामर्थ्यानें त्यानी तेथेही उत्तम लौकिक संपादन केला असता, यात बिलकुल शंका नाही. तथापि महाराष्ट्राची राजधानी जें पुणे शहर तेथें येऊन त्यांस जी कामगिरी करावयास सांपडली, त्यामुळे माधवरावजींच्या आंगचे अलौकिक गुण लोकांच्या पूर्णपणें नजरेस आले असें म्हणण्यास कांहीं हरकत नाही. सरकारी नोकरीचें काम चांगल्या रीतीनें संपाळून देशाच्या उत्कर्षाकरितां कोणकोणत्या दिशेनें काय काय प्रयत्न केले पाहिजेत हे ठरविणें व ते अमलांत आणण्याकरितां सतत परिश्रम करून जागरूकता ठेवणें हें कांहीं सामान्य बुद्धिमान् पुरुषाचें काम नव्हे. कित्येकांस नित्य व्यवसायापुढें सार्वजनिक कामें सुचत नाहीत; सुचलीं तर करण्याची उमेद नसते; आणि यदाकदाचित् करण्यास प्रवृत्त झाले तर त्यास मनुष्यबळ किंवा इतर जी सामुग्री लागते ती ज्या उपायांनीं प्राप्त करून घ्यावयाची ते उपाय योजण्यास ते असमर्थ असतात. कित्येक विद्वानांची तर या व्यापक प्रश्नानें बुद्धिच गुंग होऊन जाते, व कित्येक एकदेशीय असून कोणास अमुक एक दिशेनें राष्ट्राची उन्नति होईल

असे वाटत असल्यास दुसरीच दिशा पसंत पडते. माधवरावजींच्या आंगचा पहिला गुण हा होय की, सर्व बाजूनी राष्ट्राची उन्नति झाली पाहिजे असे त्यांस वाटत होते. व या सर्व दिशांचें व बाजूंचें सांगोपांग परीक्षण करून त्यांच्या योग्यायोग्यतेबद्दल निर्णय करण्याइतकी परमेश्वरानें त्यांस प्रगल्भ व व्यापक बुद्धि दिली होती. धर्मव्यवस्था, समाजसुधारणा, उद्योगधंदे, शिक्षण, राजकीय व्यवस्था वगैरे सर्व बाबतींत आम्ही मागें आहों व या सर्व गोष्टींत सुधारणा झाल्याखेरीज इतर सुधारलेल्या राष्ट्राची आपणांस बरोबरी करतां यावयाची नाही असा त्यांचा पक्का ग्रह झालेला होता. यापैकी काहीं बाबतींत त्यांची मते पुढे ज्या नवीन चळवळी निघाल्या त्यामुळे सर्व लोकांस पसंत पडेनाशीं झालीं होती. पण तेवढ्याने त्याची योग्यता कमी होते असें नाही. घाटांतून एकदां एक कुशल इंजिनीयरीने आगगाडीची लाइन मारल्यानंतर त्यांत सुधारणा करणारे जरी पुष्कळ लोक निघाले तरी ज्याप्रमाणें मूळ इंजिनीयरीच्या कल्पकपणास कमीपणा येत नाही, तद्वतच रावसाहेब रानडे यांची स्थिति होय. वर सांगितल्याप्रमाणें सर्व प्रकारें थंड झालेल्या देशाच्या प्रत्येक गात्रास कसें सजीव करतां येईल याचा रात्रंदिवस विचार करणारा तीस वर्षांपूर्वी महाराष्ट्रांत एकच पुरुष झाला. सन १८०० सालीं निवर्तलेल्या नाना फडणिसास मोडकळीस आलेली पेशवाई कशी सुरक्षित ठेवावी याची ज्याप्रमाणें रात्रंदिवस काळजी वाटत असे, तद्वतच एकोणिसाव्या शतकाच्या शेवटलीं पंचवीस तीस वर्षे माधवरावजींनीं राज्यक्रांतीनें काहीं वेळ स्तब्ध झालेल्या महाराष्ट्रास कसें सजीव करतां येईल या काळजींत घालविली. आणि केवळ महाराष्ट्राकरितांच नव्हे तर सर्व हिंदुस्थानाबद्दल अशाच तऱ्हेचे विचार त्यांच्या मनामध्ये सदैव घोळत असत. पाश्चिमात्य शिक्षणाबरोबरच एक प्रकारची सार्वजनिक जबाबदारी आपणावर येऊन पडते ही गोष्ट माधवरावजींनीं पुरी ओळखली होती व आपल्या पंचवीस तीस वर्षांच्या वर्तनक्रमानें लोकांस ती जबाबदारी कशी बजावावी याचें उत्कृष्ट उदाहरण घालून देऊन त्यांनीं महाराष्ट्राचाच नव्हे तर हिंदुस्थान देशाचा लौकिक राखला असें म्हणणें भाग आहे.

हिंदुस्थानची किंवा महाराष्ट्रदेशाची जागृति अमुक उपायानें होईल आणि अमुक उपायाने होणार नाही, हें ठरविण्यास असामान्य व व्यापक बुद्धि लागते हें वर सांगितलेंच आहे. पण अशा प्रकारची अलौकिक बुद्धि असूनही जर दुसरे गुण पुढान्यांच्या अंगीं नसतील, तर त्यांच्या हातून मोठीशी कामगिरी कधीही व्हावयाची नाही. राष्ट्राची उन्नति होण्यास ज्या हजारों गोष्टी कराव्या लागतात, त्या एकट्याच्या हातून होत नाहीत. त्यास योग्य माणसांची निवड करून त्यांचे साह्य घ्यावें लागतें; किंबहुना अशा प्रकारचीं माणसें तयार करावीं लागतात असें म्हटलें तरी चालेल. माणसें तयार करण्याचें हें काम किती कठीण आहे हें अनुभवावांचून समजणें अशक्य आहे. मनुष्याची पारख, त्यांच्या हातून चुक्या

घडल्या असतां त्यांस शांतपणें संभाळून घेऊन पुन्हां उत्तेजन देण्यास अवश्य लागणारे उत्साह, शांति वगैरे गुण पुढान्यांचे आंगीं जरूर असावे लागतात. माधवरावजींच्या आंगीं हे गुण पूर्णपणें वसत होते व म्हणूनच त्यांच्या हातून इतकीं कामे येथे सिद्धीस गेलीं. सार्वजनिक सभा, वक्तृत्वसभा, लवादकोर्ट, प्रार्थना-सभाज, फीमेलहायस्कूल, औद्योगिक चळवळ वगैरे ज्या अनेक संस्था पुणें शहरांत झाल्या किंवा आहेत त्या सर्वांशीं माधवरावजींचा प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रीतीनें संबंध होता असें आढळून येईल. या सर्व चळवळी सुरू ठेवण्याबद्दल लोकमत जागृत करून कायम ठेवणें, निरनिराळ्या संस्थाकरितां निरनिराळीं मनुष्ये पाहून त्यांच्या हातून तीं तीं कामें करून घेणें, स्वदेशांतल्या किंवा परदेशांतल्या सर्व प्रकारच्या हालचालीवर नजर ठेवून त्याचा देशाच्या उत्कर्षाशीं कसा संबंध पोहोचतो याचें अहोरात्र मनन करणे हें माधवरावजींचें व्यसनच होऊन राहिलें होतें. त्यांच्या घरीं केव्हांही जा, तेथें काहीं नाहीं काहीं तरी सार्वजनिक विषयाची चर्चा चालू असावयाचीच. बारा आणि बारा चोवीस तास अशा रीतीनें सार्वजनिक कामांत एकसारखें मन घालून तीं सुयंत्रितरीतीनें चालविण्याइतकें बुद्धिसामर्थ्यच आधीं फार थोड्या लोकांत असतें. आणि ज्या थोड्या लोकांच्या आंगीं अशा प्रकारचें सामर्थ्य असते त्यांस आलस्याने, स्वहितपरतेनें किंवा उत्साहभंगानें पछाडलें असल्यामुळे युनिव्हर्सिटींतून दरसाल शेंकडों ग्रॅज्युएट बाहेर पडताहेत, तरी रात्रंदिवस देशहितार्थ तनमनधन अर्पणारा 'यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मां वेत्ति तत्रतः' या न्यायाने एखादाच माधवरावजींसारखा पुरुष निर्माण होतो. असा पुरुष आपल्यामधून गेला असतां एकाएकीं सूर्यास्त झाल्याप्रमाणे सर्व लोक दिड्मूढ झाले यांत काहीं आश्चर्य नाही.

माधवरावजींनीं जीं हीं सर्व कामें केलीं तीं त्यास सुखानें करतां आलीं अशी जर कोणाची समजूत असेल तर ती चुकीची आहे. मुंबईपेक्षा पुणें किंवा महाराष्ट्रदेश यांतील अधिक एकरूप असल्यामुळे सार्वजनिक चळवळीचें माधवरावजींनीं मुंबईहून आणलेलें बीं येथें लवकरच उदयास आले हे गेल्या पंचवीस तीस वर्षांच्या महाराष्ट्राच्या इतिहासावरून कोणासही सहज समजण्यासारखें आहे. हें बीं रुजत घालून त्यास पाणी घालणे व पुढें तज्जन्य वृक्षाचें पालनपोषण करणे हें सर्व काम माधवरावजींच करित होते. त्यांच्या हाताखालीं कै. सार्वजनिक काका, कै. सीतारामपंत चिपळोणकर, रा. रा. शिवराम हरि साठे वगैरे बरीच मंडळी असून पुढें पुढें कै. रा. ब. नूलकर, कै. कुंटे यांच्यासारख्याचेही साहाय्य त्यास मिळालें होतें. पण या सर्व गृहस्थांची व त्यांनीं चालविलेल्या कामाची मदत काय ती माधवरावजींवरच असे. ही गोष्ट लवकरच सरकारच्या नजरेस आली. महारराव गायकवाड यांस पदच्युत केल्यानंतर त्यांची कमिशनमार्फत जी चौकशी झाली तेव्हां पुणें शहरांत झालेली चळवळ आणि सन १८७९ सालीं बुधवारचा वाडा जळाला असतां गांवांत झालेली धामधूम ज्यांस आठवत

असेल ते रावसाहेबांनी अंगीकारलेला क्रम विनधोक्याचा होता असें कधीही म्हणणार नाहीत. महाराष्ट्रातील लोकांस सार्वजनिक बाबतीत चळवळ करण्याचें जर कोणी शिक्षण देत असेल तर ते माधवरावजीच होत ही गोष्ट सरकारास कळून चुकली होती, व माधवरावजींची पुण्याहून नाशिकास व नाशिकाहून धुळ्यास जी उचलबांगडी झाली ती कांही केवळ एक जागी एक मनुष्य पुष्कळ वेळ ठेवणें योग्य नाही एवढ्याचकरितां नव्हे, हें सर्वास माहीत आहेच. फार लांब कशाला, माधवरावजींनीं स्थापिलेली सार्वजनिक सभा ही राजद्रोही आहे असा सर रिचर्ड टॅपलच्या कारकीर्दीत बूट निघाला होता; पण या सर्व अडचणींतून आणि संकटांतून धिमेपणानें माधवरावजींनीं हातांत धरलेलीं सर्व कायें तडीस नेलीं. यांच्यापेक्षा कमी उत्साहाचा पुरुष प्रसंगीं डगमगून गेला असता. पण रावसाहेबांच्या बुद्धीचें व्यापकत्व जितकें अलौकिक होते तितकाच शांति हा गुण त्यांचे अंगांत असामान्य असल्यामुळे त्यांच्या दीर्घाद्योगास अखेरीस यश येऊन मुंबई इलाख्याच्या मध्यभागांत एकप्रकारची विशेष जागृति प्राप्त झाली. माधवरावजींसारखे पुरुष जेथें निपजले नाहीत तेथल्या आणि महाराष्ट्राच्या स्थितीची तुलना केली असतां आमच्या म्हणण्याची सत्यता कळून येईल. सारांश, महाराष्ट्रांत जर कांहीं आजमितीस जोम आढळून येत असला, त्यातील वक्ते व लेखक जर निर्भयपणें सार्वजनिक गोष्टींची चर्चा करीत असले तर ते माधवरावजींच्या २५ वर्षांच्या दीर्घाद्योगाचे फल होय असें म्हणण्यास कोणतीही हरकत नाही.

अशा तऱ्हेचा पुरुष देशात निर्माण होणें हें देशाचें एक भाग्यच आहे. विद्वत्ता, मुत्सद्दीपणा, काम करण्याची हौस, सार्वजनिक हित कोणत्या उपायांनीं करिता येईल याबद्दल एकसारखा निदिध्यास, आणि लोकांनीं नेहमीं आपल्या-उन्नतीच्या चळवळींत व्यग्र असावें अशी अनिवार इच्छा, इतके गुण आंगीं वसत असलेले थोर पुरुष राष्ट्रांत वारंवार निपजत नसतात. महाराष्ट्रदेशांत अठराव्या शतकांत नाना फडणीस अशा प्रकारचे मुत्सद्दी होऊन गेले खरे, पण विद्वत्तेचें मान लक्षांत आणितां त्यांची आणि माधवरावजींची तुलना करण्यापेक्षां महाराष्ट्राच्या किंवा दक्षिणेच्या प्राचीन इतिहासांत प्रसिद्धीस आलेले हेमाद्री किंवा माधवाचार्य यांची उपमा आमच्या मते माधवरावजींस अधिक साजण्यासारखी आहे. माधवाचार्यांची बुद्धि चोहोंकडे अकुंठित असल्यामुळें त्यांस 'सर्वज्ञः स हि माधवः' असे म्हणत असत. माधवरावजींचें बुद्धिवैभवही अशाच प्रकारचें विस्तृत व व्यापक होते; व या इंग्रजी राज्यांत जर हायकोर्टच्या जज्जांच्या कामा-पलीकडे त्यांच्या विशालबुद्धीचा उपयोग झाला नाही तर तो दोष माधवरावजींचा नव्हे, हल्लींच्या राज्यपद्धतीचा आहे हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. माधवरावजी जर आणखी काहीं दिवस जगते तर त्यांनीं सुरू केलेल्या चळवळी उघड रीतीनें हातीं घेऊन दादाभाई किंवा ह्यूम यांजप्रमाणें त्या शेवटास नेण्याचा उद्योग

निकरानें होण्याचा संभव होता. पण त्यांच्या हातून आम्हा लोकांचें अशा प्रकारें कल्याण व्हावें असा ईश्वरी संकेत नव्हता असेंच म्हटलें पाहिजे. एरव्हीं त्यांस ६० वें वर्ष लागलें म्हणून त्यांची ज्युविली करण्याऐवजी त्यांचा मृत्युलेख लिहिण्याचा दुःखकारक प्रसंग आमच्यावर आला आहे तो आला नसता.

माधवरावजींचा महाराष्ट्राकडे आणि महाराष्ट्रीयींचा माधवरावजींकडे विशेष ओढा कां होता याचा यावरून विशेष खुलासा होईल. कायदेपंडीत, लेखक वगैरे बाबतींत माधवरावजींची योग्यता इतर कोणत्याही राष्ट्रीय पुढाऱ्यापेक्षा कमी नव्हती. किंबहुना सर्व विषय अवगत करून घेण्याची हौस आणि कोणताही विषय हातीं घेतला असतां त्यासंबंधी काहीं तरी नवी शकल काढून त्यास मनोहर रूप देण्याची त्यांची अपूर्व हातोटी दुसऱ्या कोणत्याही राष्ट्रीय पुढाऱ्यात सांपडेल असें आम्हांस वाटत नाही. पण याहीपेक्षा त्यांच्या आंगचा लोकोत्तर गुण म्हटला म्हणजे आपल्या राष्ट्राचा अभ्युदय केव्हा ना केव्हा तरी खास झाला पाहिजे. किंबहुना ही गोष्ट परमेश्वरानेच संकल्पित आहे अशी जी त्यांच्या ठायीं उमेद होती ती होय. भावी सुपरिणामाबद्दल अशा तऱ्हेची निःसंशय मनोवृत्ति फारच थोड्या पुढाऱ्यांचे ठायी आढळून येते. सरकारचा ताबेदारपणा, योग्य माणसांची कमतरता, समाजामध्ये रूढ असलेल्या समजुती इ. अनेक कारणांनीं माधवरावजींस आपल्या मनाप्रमाणें सर्व गोष्टी करतां आल्या नाहीत. तथापि दूरवर नजर देऊन धिमेपणानें अंगीकृत कार्ये त्यांनीं अव्याहत रीतीनें चालू ठेविलीं होती. प्राचीन व अर्वाचीन सुधारणेच्या झगड्यांत मनुष्यास पदोपदीं कसे बुचकळत्यासारखें होतें याचें एके प्रसंगां त्यांनीं मोठ्या मार्मिक रीतीनें वर्णन केलें आहे. या सर्व अडचणी सोसून बिनतक्रार देशोन्नतीच्या कार्याकरितां उत्साहानें भगवा झेंडा हातीं घेऊन सदैव पुढें राहणें हें काहीं लहानसहान मुत्सदीपणाचें काम नव्हे. पण माधवरावजींची लोकसेवा एवढ्यावरच थांबली नाही. त्यांनीं आपल्या हयातींत, आपल्या जन्मभूमीतील लोकांस शहाणे करून सोडण्याचा क्रम अबाधित चालू ठेविला होता. राष्ट्रांमध्ये लिहिणारे व बोलणारे पुढारी जरी पुष्कळ असले तरी अशा रीतीनें लोक समाजामध्ये जागृति उत्पन्न करण्याचें गुरुत्व ज्यांकडे देता येईल असे लोक फारच विरळा आहेत. माधवरावजी हे अशा विभूतीपैकींच एक होते व म्हणूनच त्यांजकरितां आज सर्व लोक आम्हा सर्वांचा एक अप्रतिम हितकर्ता गेला म्हणून हळहळत आहेत. अशा तऱ्हेचा पुरुष इंग्रजी राज्य झाल्यापासून तरी महाराष्ट्रांत निघाला नाही व पुढेंही माधवरावजींची जागा लवकर भरून येईल असें वाटत नाही.

अशा तऱ्हेचा पुरुष काळानें आमच्यामधून ओढून न्यावा हें आमचें मोठें दुर्दैव होय. माधवरावजींच्या कुटुंबाची त्यांच्या मृत्यूने जी हानि झाली आहे ती तर खरोखरीच दुष्परिहार्य होय. त्यांच्यावर हा दुःखाचा डोंगर कोसळला आहे खरा व आम्हीं कितीही शांतवन केलें तरी तें दुःख कमी होणें कठीण आहे,

तथापि, महाराष्ट्रातील प्रत्येकजण त्यांच्या दुःखाचा वाटेकरी आहे या गोष्टीकडे लक्ष देऊन त्या भाषणें मन विवेकानें आवरतील, आणि महाराष्ट्रातील लोक ज्या महापुरुषांच्या मृत्यूकरितां आज आपण सर्वजण दुःख करित आहों त्यांचेंच उदाहरण आपणांपुढें ठेवून यथाशक्ति पण खऱ्या कळकळीनें त्यांनीं घालून दिलेला किंत्ता गिरवून त्यांच्या ऋणांतून अंशतः तरी मुक्त होतील अशी आम्हांस आशा आहे. माधवरावजी तर गेलेच पण त्यांनीं घालून दिलेलें उदाहरण डोळ्यांपुढें ठेवून सर्वजण जर यथाशक्ति देशकार्याकरितां झटण्याचा प्रयत्न करतील तर आपल्या सर्वांस जी गोष्ट हवी आहे ती प्राप्त झाल्याखेरीज कधीही राहणार नाहीं. माधवरावजींच्या गुणाबद्दल जितके जास्त लिहावें तितकें थोडेंच आहे; करितां आजचा लेख आम्हांस जरी अपुरा वाटत आहे, तरी माधवरावजींस त्यांच्या सत्कर्मामार्णें गति मिळो एवढी अलेरीस प्रार्थना करून हा दुखवट्याचा लेख येथेंच संपवितों.

*कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांच्या वेळची स्थिति.

काल रोजी कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांच्या श्राद्धतिनिमित्त भरलेल्या सभेपुढें रा. रा. बा. गं. टिळक यानी जो निबंध वाचला त्यांतून पुढील मजकूर घेतला आहे.

सन १८१८ सालीं इंग्रजांचा अंमल महाराष्ट्रांत बसल्यावर पेशवाईत दक्षिणेकरिता जी रक्कम खर्च होत होती ती तशीच इंग्रजसरकारनें चालू ठेविली. पण पुढें दक्षिणेचे ब्राह्मण कमी कमी होत जाऊन जसजशी दक्षिणाफंडाची रक्कम शिल्लक पडूं लागली तसतसा या फंडाचा विनियोग विश्रामबाग-संस्कृत-कॉलेज काढण्याकडे लवकरच करण्यांत आला. या कॉलेजांत सन १८३७ सालापर्यंत केवळ संस्कृतच शिकवीत असत. पण पुढें त्यांच्या अभ्यासक्रमांत इंग्रजीचा समावेश होऊन वीस वर्षांनीं म्हणजे १८५७ सालीं त्यांचेंच डेक्कन कॉलेज बनलें. युनिव्हर्सिटीचा कायदा सन १८५७ सालीं पास झालेला आहे व त्या कायद्याप्रमाणें डेक्कन कॉलेज हे सन १८६० सालीं नव्या युनिव्हर्सिटींत सामील करण्यांत आलें. सन १८६० पासून १८७४ पर्यंत या कॉलेजांतून बी. ए. किंवा एम्. ए. झालेल्यांची संख्या पन्नास साठ्याच्या पलीकडे जाईल असें वाटत नाहीं. तथापि, सन १८३६ सालीं सुरू झालेल्या इंग्रजी शिक्षणाचें पंचवीस तीस वर्षांत समाजावर जे परिणाम झाले ते इतके महत्त्वाचे आहेत कीं, त्यांची कल्पना डेक्कन कॉलेजांतील ग्रॅज्युएटच्या संख्येनें किंवा एक दोन व्यक्तींच्या चरित्रांवरून नीटपणें लक्षांत येणें अशक्य आहे.

हरएक समाजांत समाजाचे आधारस्तंभ म्हणजे त्यातील विद्वान्, विचारी आणि संभावित गृहस्थ होत. कोणत्याही समाजांत पुढारीपणा प्राप्त होण्यास विद्वत्तेची नेहमीच अपेक्षा असते असे नाही. मानमान्यता, संपत्ति, चांगले कुलवर्तन, आणि साधारण समजूतदारपणा व व्यवहारचातुर्य इतके गुण कोणाच्या अंगी असले म्हणजे तो आर्गी हिंमत असल्यास आपापल्या वर्गात पुढारीपणा घेऊं शकतो. पुणे शहरात ब्राह्मणी राज्य असल्यामुळे अशा प्रकारचे पुरुष पेशवाई अखेर प्रायः जुन्या सरदारमंडळींतच दृष्टीस पडत असत, व काहीं वर्षेपर्यंत नव्या सरकारनेही त्यांचा तशा प्रकारे बोज ठेविला होता. पण पुढे लवकरच या पुढाऱ्यांचीं नखें व दात काढून घेतल्याने 'पिंजऱ्यामध्ये वाध सापडे, बायकामुलें मारिती खडे' अशी त्यांची स्थिति झाली. नवीन राज्यपद्धतीत या जुन्या सरदारमंडळीस देण्यासारखें काही काम नव्हतें असं नाही; पण "यथा राजा तथा प्रजा" या न्यायानें नवीन तऱ्हेच्या इंग्रजी शिक्षणानें तयार झालेली मंडळीच हातीं धरणें राज्यकर्त्यास अधिक सोईस्कर वाटून ती तयार करण्याचे कारखाने ऊर्फ शाळा काढण्यास त्यांनी सुरवात केली. इंग्रजी राज्यापासून आम्हास जे पुष्कळ लाभ झाले आहेत त्यांतच शिक्षणाची गणना प्रमुखत्वानें करण्याचा प्रघात आहे. पण जरा विचार केला असता आपणास असे आढळून येईल की, हे पाश्चिमात्य शिक्षण अगदी एक आर्गी असून त्या शिक्षणाचा परिणामही तसाच झाला. धर्म व नीति याच्याबद्दल इंग्रजी धर्तीवर काढलेल्या शाळातून चकार शब्दही काढावयाचा नाही अशी धर्मोदासीन्याची आमच्या सरकारनें शपथ घेतल्यामुळे पाहिल्यासूनच रीत पडली होती. यामुळे इंग्रजी शाळातून पाहिल्यापहिल्यानें जी मंडळी वाहेर पडली त्याच्या मनाची स्थिति एक प्रकारे फारच भयंकर किंवा शोचनीय झालेली होती. स्वधर्माचें किंवा त्यांतील नीति-तत्त्वांचे शिक्षण बिलकूल नाही आणि परधर्माचेंही नाही; समाजाच्या परंपरागत बंधनाबद्दल आदर असावयाचा तोही नाहीसा झालेला, आणि दोन चार बुकें झाल्याबरोबर बऱ्याच मोठ्या पगाराची जागा त्यावेळीं मिळत असल्यानें अधि कारमदाचाही बराच अमल याच्या मनावर बसलेला होता. युरोपातील किंवा विलायतेतील शाळातून अशाच तऱ्हेचें शिक्षण मिळतें; पण स्वदेशप्रीति, स्वधर्मनिष्ठा, समाजाबद्दल आदर व प्रेम, सदाचरणाची गोडी वगैरे चांचल्य दोष घालविणाऱ्या अनेक गुणांच्या साहाय्यानें ते शिक्षण मनुष्यास बेहोष करीत नाही. आमच्याकडे या सर्व बंधनाचा अभाव असल्यामुळे त्याच शिक्षणापासून स्वल्पज्ञानानें संतुष्ट, बेपर्वा, स्वहितापलीकडे लक्ष न देणारे आणि स्वतःसच विद्वान् मानून इतर सर्व प्राचीन मताचा उपहास करणारे असे नवे म्होरपे या कारखान्यातून प्रथमतः तयार झाले. परंतु याहीपेक्षां विशेष दुर्दैवाची गोष्ट म्हटली म्हणजे या लोकाचा सरकारातून

त्या वेळीं जो मान होत असे तो होय. राज्यकारभाराच्या नवीन पद्धतीस इंग्रजी जाणणाऱ्या माणसांची त्यावेळीं जरूर होती. यामुळे या अर्ध्याकच्या विद्वानांस मोठ्या नोकऱ्या मिळून अधिकारामुळे त्यास समाजांत एक प्रकारचा मोठेपणा प्राप्त झाला. तात्पर्य, अव्वल पेशवाईत कुलशील, पराक्रम, सदाचरण, संपत्ति वगैरे गुणानीं ज्यांच्या पूर्वजानीं लोकनायकत्व सपादन केले होते त्यांचे वंशज लवकरच भिकेस लागून त्यांचे स्थान समाजाच्या खालच्या वर्गातील अर्धवट इंग्रजी शिकलेल्या या मंडळीस प्राप्त झाले. राज्यक्रांतीमुळे समाजाच्या पुढाऱ्यांत ही जी क्रांती झाली ती सामाजिकदृष्ट्या फार महत्त्वाची आहे. सन १८३७पासून सन १८७४ पर्यंत म्हणजे सुमारे ३७ वर्षांत या नवीन पुढाऱ्यांच्या दोन किंवा तीन पिढ्या महाराष्ट्रात झाल्या असे दिसून येते. अगदी पहिली पिढी म्हणजे कै. गोपाळराव देशमुख यांच्या समकालीन किंवा पूर्वीच्या मंडळीची होय. त्यानंतरची पिढी म्हणजे कै. कृष्णशास्त्री चिपळूणकर व केरूनाना छत्रे यांच्या वेळच्या मंडळीची. आणि तिसरी पिढी कै. कुंटे व रानडे यांच्या वेळची होय. कुंटे व रानडे या दोघांचाही अभ्यास पुण्यास झाला नव्हता; तथापि त्यांनी आपल्या आयुष्याची बरीच वर्षे येथे घालविली असल्यामुळे तत्कालीन पिढीचा उल्लेख त्यांच्याच नावाने केला आहे. या तिन्ही पिढ्यापूर्वी विश्रामबाग पाठशाळेतील कै. मोरशास्त्री साठे, त्र्यंबकशास्त्री शाळिग्राम वगैरे मंडळीकडे पुण्यातील समाजाचे काहीं वर्षे पुढारीपण होते. पण ही मंडळी इंग्रजी शिकली नसल्यामुळे त्यांच्या कालाचा सध्या विचार करण्याची जरूरी नाही. वर ज्या तीन पिढ्या सांगितल्या आहेत त्यांच्याचसंबंधाचा विचार कर्तव्य आहे. पण तत्पूर्वी एवढे सांगितले पाहिजे की, त्यासंबंधाने मी जे काहीं सांगणार आहे ते कोणाही विशेष व्यक्तीसंबंधाने नसून त्या त्या पिढीचे सामान्य वर्णन आहे.

वर सांगितलेल्या तीन पिढ्यांपैकी पहिल्या पिढीतील लोकांस झालेमध्ये जी दहा पाच इंग्रजी पुस्तके शिकवीत असत त्यापलीकडे विद्येचा विशेषसा संस्कार झाल्याचे आढळून येत नाही. त्यांच्यापैकी कै. गोपाळराव हरी यांनीच काय तो थोडाबहुत विद्याव्यासंग शेवटपर्यंत कायम ठेविला होता. पण बाकी बहुतेक चुटपुट्या ज्ञानाचेच अधिकारी होते. इंग्रजी राज्यांत या मंडळीस नवीन मिळालेल्या अधिकाराने हे बेपर्वा झालेले होते हे वर सांगितलेच आहे. पण याखेरीज यांच्या अद्वातद्वा विचार-आचाराचा समाजावर व विशेषेकरून पुढारी कुटुंबांच्या गृहस्थितीवर फारच वाईट परिणाम झालेला होता. सौम्य पण शिस्तवार, गृहशिक्षणाचा व गृहस्थितीचा लहानपणी मुलांच्या मनावर किती परिणाम होत असतो हे मी येथे सांगायचा पाहिजे असे नाही. किंबहुना ज्या देशांतील पुढारी कुटुंबांची गृहव्यवस्था बिघडलेली असते त्यात चांगले पुरुष निपजणे कठीण आहे असे म्हटले तरी चालेल. अशा दृष्टीने पाहिले म्हणजे इंग्रजीशिक्षणपद्धतीचा आमच्या समाजावर पाहिला वाईट परिणाम म्हटला म्हणजे त्यामुळे झालेली आमच्या

पुढाऱ्यांच्या मनाची अव्यवस्थित वृत्ति आणि सदर वृत्तीच्यायोगें विघडलेली गृहव्यवस्था हा होय. पहिल्या पिढीतील लोकांस लहानपणीं तरी एकप्रकारचें जुन्या तऱ्हेचें गृहशिक्षण मिळालेलें होतें. पण दुसऱ्या व तिसऱ्या पिढीत त्याचाही लोप झालेला होता. या दुसऱ्या पिढीतील एका गृहस्थाचें व माझे काहीं वर्षांपूर्वी भाषण झालें होतें, तेव्हा त्यानें मला असा प्रश्न विचारला होता कीं, “ कां हो, आम्ही आतां खानसंध्या करीत नाहीं खरे, पण आमच्या लहानपणीं आम्हांस काहीं एक प्रकारचा जुना आळा असल्यामुळें आम्ही त्यावेळीं मेहनत करून आज काहीं तरी उदयास आलों. पण आमच्या मुलांनीं एव्हांपासून सर्व निर्बंध सोडून दिले तर त्यांची पुढे वाट काय होणार ? ” हा प्रश्न मोठा मार्मिक होता. परंतु गृहशिक्षणाचें व गृहव्यवस्थेचें नुसतें महत्त्व कळून उपयोग काय ? ज्या वेळीं ही गोष्ट त्या गृहस्थास कळली तेव्हां तो बहुतेक उतारवयांत आला होता व पुढे लवकरच त्याचा अंत झाला. कै. कृष्णशास्त्री चिपळूणकर यांनीं मृत्युसमयी काढलेले उद्गार विष्णुशास्त्री यांच्या चरित्रांत दिलेलेच आहेत. या बृहस्पतितुल्य विद्वानाच्या बुद्धिमत्तेबद्दल कोणाचाही पूज्यभाव असणें स्वाभाविक आहे; पण खाजगी वर्तनाच्या दृष्टीनें पाहतां यांजबद्दल तीच बुद्धि कोणाही निःपक्षपाती मनुष्याच्या अंतःकरणांत उद्भवेळ असें मला वाटत नाही. इतर विद्वानाची स्थिति बहुतेक अशाच प्रकारची होती. मद्यपान, वेश्यागमन, वगैरे दुर्गुण बहुतेक संभावित गणले जात असत व मला तर असे आठवतें आहे कीं, त्या वेळच्या खाजगी शाळेच्या एक मास्तरास सकाळची शाळा असतां शाळेतील विद्यार्थी त्याच्या आगवस्त्राच्या घरातून कित्येकदां बोलावून आणत असत ! अशा प्रकारच्या विघडलेल्या वातावरणात धर्मनिष्ठा, नीतिधैर्य किंवा सदाचरण याचें बीजारोपण नवीन पिढीच्या मनात कितपत होणें शक्य आहे याचा विचार करण्याचें काम मी आपणाकडेसच सोंपवितो. सुवईत एका प्रसिद्ध पुढाऱ्याचें व माझे सुमारे वीस वर्षांपूर्वी या विषयावर बोलणें झालें होतें तेव्हां त्यांनीं जे शब्द उच्चारले त्याची अद्याप मला आठवण आहे. ते म्हणाले कीं, “ They have made vice fashionable in Poona ” आणि खरोखरच त्या वेळची पुण्याची स्थिति तशी होती.

विद्या, नीतिमत्ता, धर्मनिष्ठा, व्यवस्थित आचरण आणि गृहस्थिती यांचा एकमेकांशीं जो नित्य संबंध असावा लागतो, व जो असल्याखेरीज राष्ट्रातील विद्वान् लोक पुढारीपणा घेऊन जोरानें राष्ट्राचा उत्कर्ष करण्यास पात्र होत नाहीत, तो संबंधच इंग्रजी शिक्षणानें पहिल्यानें तोडून टाकला, ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट होय. नीतिदृष्ट्या याचा काय परिणाम झाला हें वर सांगितलेंच आहे, पण त्याखेरीज इतर बाबतीतही अशा प्रकारच्या एकपक्षी शिक्षणापासून दुसरे अनेक वाईट परिणाम झाले. पाश्चिमात्य इंग्रजी विद्येनें दिपून जाऊन पहिल्या पिढीचे डोळे फिरले आणि आपल्या देशांतील सर्व काहीं गोष्टी त्यास वाईट दिसू लागल्या

असें म्हणण्याचा परिपाठ आहे. पण यांतील खरें बीज काय हें पाहिलें असतां मी सांगितलेल्या गोष्टीकडेच वळावें लागेल. आपण अशी कल्पना करूं कीं, कोणत्या एखाद्या नवीन राष्ट्रातील लोकांस आमच्या संस्कृतांतील न्याय, गणित आणि काव्ये एवढ्याचेच शिक्षण दिलें व वेदात किंवा धर्मशास्त्र वगैरे विषयांवरील ग्रंथ त्यांच्या नजरेसही पडूं दिले नाहींत, तर अशा प्रकारच्या शाळेंत तयार झालेल्या विद्यार्थ्यांच्या मनाची स्थिति काय होईल ? इंग्रजी शिक्षणाची गोष्ट अशाच प्रकारची आहे. त्यातून पेशवाईच्या अखेर आमच्या समाजास एकप्रकारची शिथिलता येऊन त्यांच दुर्गुणाचा बराच प्रसार झालेला होता. ही स्थिति आणि त्यांवर दृष्टोत्पत्तीस येणारी नवीन राज्यकर्त्यांची व्यवस्था व टापटीप यानीं चांगले लोकही दिपावून जाण्याचा संभव होता. मग ज्याचें शिक्षण वर सांगितल्याप्रमाणें अगदीं एक अंगी होतें. त्याची गोष्ट तर बोलावयास नकोच. आमच्या समाजात अमुक उणे आहे, तमुक उणें आहे हेच काय ते रात्रंदिवस त्याचे विचार चालावयाचे. त्यांतून मिशनरी लोकांनीही हिंदुधर्म व समाजव्यवस्था यांजवर हल्ला करण्यास सुरवात केलेली होती. पहिल्या पहिल्या काही विद्वानांनी या मिशनरी लोकांस उत्तरे देण्याचा प्रयत्न केला ही गोष्ट खरी आहे, पण नुसत्या तार्किकवादाने मिशनरी लोकांशीं भांडून आमच्या समाजाचें व्हावे तसें रक्षण होत नाहीं ही गोष्ट त्या वेळच्या पुढाऱ्यांस अगदींच कळली नव्हती असे नाहीं. परंतु त्यांनी त्यासाठी जे उपाय योजले ते मात्र उपहासास्पद होते. ख्रिस्तीधर्माचा प्रतिकार करावयाचा असल्यास तो त्याच धर्मातील बाह्योपांगे घेऊन त्यास एकेश्वरी किंवा प्रार्थनासमाज असें नाव देऊन नवीन पंथ काढल्यानें होईल हीच कायती त्या वेळच्या पुढाऱ्यांची प्रमुख कल्पना होती, व ही कल्पना तडीस नेण्यास आपण योग्य व लायख आहों असेही त्यांस वाटत असे. परंतु लौकिक दृष्ट्या आणि तात्त्विक दृष्ट्याही हा समज चुकीचा होता. नवीन धर्मपंथ स्थापणाराच्या अंगी कोणत्या प्रकारचे गुण असावे लागतात याची इंग्रजी शिकलेल्या पहिल्या दोन पिढींच्या लोकांस बिलकुल कल्पना नव्हती. इंग्रजी दहापाच बुकांचें अध्ययन झालें, मोठी नोकरी मिळाली किंवा अधिकार प्राप्त झाला म्हणजे तो मनुष्य सामाजिक किंवा धार्मिक बाबतीत पुढाकार घेण्यास नेहमीच योग्य असतो असें नाहीं; हें तत्त्व आमच्या मडळीस पहिल्या कित्येक वर्षे बिलकूल समजलें नव्हतें. त्यामुळें असा परिणाम झाला की इंग्रजी शिकलेल्या पहिल्या दोन पिढींतील मडळी समाजास ज्या दिशेने ओढण्याचा प्रयत्न करूं लागली त्याच्या उलट समाजाची प्रतिक्रियाच सुरू होऊन दोघाचा बेबनाव सुरू झाला. कोणत्याही समाजाचा ज्यास पुढाकार घ्यावयाचा असेल, त्यानें आपल्या एकनिष्ठपणाने, नितिमत्तेनें, स्वाध्यागाने व समाजाबद्दलच्या खऱ्या कळकळीनें समाजाचा विश्वास पहिल्यानें संपादन केला पाहिजे. पण हे गुण वर सांगितलेल्या इंग्रजी शिकलेल्या नव्या पिढींतील लोकांचे आंगांत दिसून येत नव्हते. यांच्यापैकीं काहीं मंडळी विद्वान् होती खरी, पण समाजाचे

पुढारी होण्यास विद्वत्तेपेक्षां सदाचरण, धर्मनिष्ठा आणि स्वार्थत्याग याची अधिक जरूर लागत असते, ही या पिढीतील विद्वान् मंडळी अगदीच विसरली होती, असें म्हटले तरी चालेल. त्यांस असें वाटे कीं, आम्हीं नवीन विद्या संपादन केली, सरकारात आमचा मान झाला, तरी अद्याप आमचे लोक ऐकत नाहीत हे काय ? दुसऱ्या पक्षी—आणि हा पक्ष अगदीच अडाणी होता असें नाही—लोकांस असें वाटे कीं, पाश्चिमात्य शिक्षणाचा थोडाबहुत लाभ झाल्यानें मनुष्य कांहीं सर्वज्ञ होतो असें नाही. त्यातून या नवीन पिढीचे अद्वातद्वा आचारविचार, आहार, मते वगैरे लोकांच्या नेहमी नजरेस पडत असल्यामुळे त्यांच्याबद्दल लोकांची चांगली बुद्धि राहिलेली नव्हती. हजारों वर्षे चालत आलेली समाजव्यवस्था व रचना आपण चुटकीसरसी उडवून देऊं असें मानणारा किंवा म्हणणारा मनुष्य उपहासास पात्र झाल्यास त्याचा दोष लोकांकडे देणे चुकीचें होय. परंतु पाश्चिमात्य शिक्षणाच्या पहिल्या मदनें धुंद झालेल्या मंडळींच्या नजरेस ही विसंगतता आली नाही, व स्वदेशकल्याण करण्याची मोठी हांव धरून कोणी धर्माच्या तर व कोणी सामाजिक सुधारणेच्या मार्गे लागले. हिंदु राष्ट्राचे इग्रजांच्या अमलापासून हित होत आहे कीं आहेत होत आहे, लोकांच्या उपजीविकेची साधनें उत्तरोत्तर कमी होत आहेत कीं वाढत आहेत, संघशक्तीनें काम करण्याची सवय त्यास लागण्याचा कितपत संभव आहे, मनुष्याच्या आगची बुद्धि, कर्तव्यगारी किंवा हुषारी दाखविण्यास नवीन राज्यव्यवस्थेत अवकाश आहे कीं नाही इत्यादि ज्या गोष्टींचा सन १८७५ नंतर महाराष्ट्रांत खल होऊं लागला त्याजकडे तत्पूर्वीच्या दोन तीन पिढ्यानीं फारसें लक्ष दिलेले दिसत नाही. याचा भर कायतो धार्मिक आणि सामाजिक सुधारणेवर होता. आणि या दोन्ही बाबतीत पुढारीपणा देण्यास ज्या गुणाची आवश्यकता असते त्यांचा बहुतेकाच्या आंगी पूर्ण अभाव होता. परंतु ही नवीन शिकलेली मंडळी अधिकारारूढ असल्यामुळे समाजातील इतर लोकांस याचे स्वेच्छाचार ऐकून किंवा पाहूनच स्वस्थ बसावे लागे. समाजास यांचे आचार व विचार बिलकूल ग्राह्य नव्हते इतकेच नव्हे, तर समाजास कोणत्याही प्रकारचे व्यवस्थित रूप देण्यास जे पुढान्याचे आंगी गुण पाहिजेत ते यांच्यांत नाहीत अशी समाजाची खात्री झालेली होती. साराश, उतावळ्या नवऱ्याप्रमाणें बाशिंरा बाधून आपले व आपल्याबरोबर समाजाचेंही आपण काढलेल्या नवीन संस्था व व्यवस्था याशी लग्न लावून देण्यास ही मंडळी जरी तयार झाली होती, तरी यांच्या अद्वातद्वा आचरणानें आणि अव्यवस्थित गृहस्थितीनें समाजाचा यांच्यावर पूर्वी कांही विश्वास असल्यास तो अगदी उडून गेलेला होता, व याचे पुढारीपण यांच्या परिवाराखेरीज समाजातील इतर लोक कबूल करण्यास तयार नव्हते.

*कै० विष्णुशास्त्री चिपळूणकर.

कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांच्या श्राद्धतिथीच्या दिवशी रा. रा. टिळकांनी लिहून वाचलेल्या निबधाचा उत्तरार्ध येणेप्रमाणे:—

कै. विष्णुशास्त्री यांचा विद्याभ्यास संपून लेखक या नात्याने त्यांच्या कारकीर्दीस सुरवात होण्याचे वेळीं मागे सांगितल्याप्रमाणे महाराष्ट्रातील इंग्रजी शिकलेले विद्वान व समाज यांची स्थिति होती. विष्णुशास्त्री यास सर्वच जुनीं मते ग्राह्य नव्हतीं, किंवा जुनी समाजव्यवस्था नवीन परिस्थितीत तशीच कायम ठेवितां येईल असे वाटत नव्हते हें खरें आहे. पण त्याबरोबरच त्यांच्या पूर्वीच्या इंग्रजी शिकलेल्या दोन तीन पिढ्यांनीं सुधारणेच्या नांवावर जो हुतुतूचा खेळ सुरू केला होता तो अगदीं अप्रयोजक असून, इंग्रजी शिकलेल्या पुढारी म्हणविणारांच्या अर्गी खरोखर पुढाऱ्यांत जे गुण असावयास पाहिजेत ते नाहींत, हेही त्यांच्या लक्षांत येऊन चुकलें होतें. राजकर्त्यांच्या गुणांपैकी पुष्कळ गुण आम्ही घेण्यासारखे आहेत ही गोष्ट त्यांनीं अनेक ठिकाणीं प्रांजलपणे कबूल केलेली आहे; पण पश्चिमात्य समाजरचना युरोपांतील राष्ट्रांत चांगली चालत असली तरी ती आम्हांस तशीच श्रेयस्कर होईल असें पूर्वीच्या पिढींचें जें निःशंक मत होतें तें शास्त्रीबुवांस मान्य नव्हतें. शिवाय कोणत्याही समाजास किंवा राष्ट्रास जें एकप्रकारचे वैशिष्ट्य येतें तें काहीं विशिष्ट समाजरचना, धर्मबंधनें वगैरे कारणांनीच आलेलें असतें. तशा प्रकारचे राष्ट्रांचें वैशिष्ट्य होता होईल तितके कायम ठेवणे हें पुढाऱ्यांचे कर्तव्य होय. पण तिकडे शास्त्रीबुवांच्या पूर्वीच्या पिढींतील पुढाऱ्यांनीं कधींच लक्ष पुरविलें नव्हतें. फार लाव कशाला ? हिंदुधर्माचीं खरीं तत्त्वे काय आहेत, त्यांतील ग्रंथसमूह कोणत्या प्रकारचा आहे, त्यात धर्माच्या उदात्त तत्त्वांचा विचार केलेला आहे कीं नाही वगैरे गोष्टींचाही पुरा शोध एकेश्वरीवाल्यांनीं केलेला नव्हता. सारांश, शास्त्रीबुवांच्या पूर्वीच्या पिढींतील लोकानीं ज्या ज्या चळवळी सुरू केल्या होत्या त्या सर्व केवळ नवीन पाश्चिमात्य शिक्षणास हुरळून जाऊन केलेल्या होत्या. पोक्तविचार, दृढ व सतत अभ्यास, सदाचरण, नीतिधैर्य, किंवा स्वार्थत्याग हे गुण या चळवळींच्या पुरस्कर्त्यांच्या आंगीं नजरेस येत नव्हते; उलट यांचें वर्तन व आचार यात एक प्रकारची शिथिलता व आचरटपणा आढळून येत होता. जुनें नेवढें वाईट असा आपल्या पुढील पिढींचा समज करण्याचा प्रयत्न चालविला होता, आणि स्वतःच्या आचरणानें तरुण मंडळीस अव्यवस्थितपणाचा व नीतिदौर्बल्याचा हे किता घालून देत होते. वृद्ध लोकाबद्दल अपूज्यभाव, अंगीकृत कार्य निश्चयानें पार पाडण्याविषयीं अनास्था, नीतिधैर्याचा किंवा आजन्म सतत व्यासंग करून कोणतीही गोष्ट स्वार्थाकडे लक्ष न

देतां सिद्धीस नेण्याच्या हौसेचा अभाव इत्यादि अवगुण जर आजमितीस इंग्रजी शिकलेल्या तरुण मंडळीत आढळून येत असले तर त्याचें सर्व श्रेय विष्णुशास्त्री यांच्या पूर्वीच्या पिढ्यांनीं जो क्रम सुरू केला होता त्यांसच दिलें पाहिजे. या विषयवृक्षाचें बीं विष्णुशास्त्री यांच्यापूर्वी फार दिवस लागलें होतें व शास्त्रीबुवाच्या लेखाचा जर काहीं परिणाम झाला असला तर या विषयवृक्षाची वाढ थोडीबहुत कमी करण्याकडेसच झाला असे ज्यास पूर्वीची हकीकत माहीत आहे त्यास तरी म्हटलेंच पाहिजे. विष्णुशास्त्री यांनीं आपल्या वेळच्या कांही बड्या मंडळींची टर उडवून तरुण पिढीच्या मनातील वृद्धांमदलची पूज्यबुद्धि घालविली असें कित्येकांचे म्हणणें आहे; पण तें चुकीचें आहे. खरा प्रकार असा आहे की, शास्त्रीबुवाच्या पूर्वीच्या दोन पिढ्यांतील मंडळी, प्राचीन आचारविचार किंवा सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था यांच्या पूर्व प्रवर्तकांस मूर्ख ठरवून त्यांच्या जागीं आपण स्थानापन्न होण्याच्या तयारीस लागलेली होती; व त्याचा असा भरंवसा होता कीं, आपल्या मागून आपल्या तालमीत तयार झालेली जी तरुण पिढी येईल ती आपलें गौरव करून आपल्यास अभिनव धर्मसंस्थापकांचें किंवा सामाजिकरचना प्रवर्तन करणाऱ्याचें अदळ स्थान प्राप्त करून देईल! पण त्याचे स्वतःच आचरण अगदीच अव्यवस्थित असल्यामुळें हा त्यांचा भरंवसा तडीस न जाता त्यांच्या अविचाराचीं फळे त्यास भोगावी लागली. ज्या लोकानी मनु, शंकराचार्य, रामदास किंवा तुकाराम इत्यादिकांसही मूर्ख ठरवून आचार, विचार, विहार व आहार यांच्या स्वछंदावर नवीन धर्माचें निशाण उभें केलें त्यास त्यांच्या पुढच्या पिढांनें मूर्ख ठरविल्यास ती गोष्ट जगाच्या रहाटीच्या फारशी विरुद्ध झाली असें म्हणता यावयाचें नाही.

विष्णुशास्त्री यांनीं आपल्या लेखानीं काय कामगिरी वजावली हें समजण्यास वर दिलेल्या तःपूर्वीच्या दोन तीन पिढ्यांची सामान्य हकीकत पुरे आहे. राष्ट्र्याच्या अभ्युदयास स्वभाषा, स्वधर्म यांमदल योग्य अभिमान व प्रेम समाजाच्या पुढाऱ्यांच्या आगीं असणें किती जरूर आहे वगैरे गोष्टींचा विचार न करतां अथवा आपली बलाबलता न पाहता ज्यांनीं केवळ अभिनव शिक्षणाच्या जोरावर देश-सुधारणेची पताका हातीं घेतली होती त्यास, शास्त्रीबुवासारखा पुरुष न निपजला असता तरीही अखेरीस अपयशाचेच धनी व्हावे लागलें असतें. त्यास जें महत्त्व आलें होतें तें आगांतुक होतें आणि इंग्रजी ज्ञानाचा जास्त प्रसार होऊन विद्वानाचा दर पुढें लवकरच उतरणें अगदीं स्वाभाविक होते व त्याप्रमाणें झालेही. विष्णुशास्त्री हे या मंडळींच्या खऱ्या स्वरूपाचें आविष्करण करण्यास केवळ निमित्त-माल झाले असें म्हटलें तरी चालेल. उतास गेलेलें दूध ज्याप्रमाणें केव्हाना केव्हां तरी अर्घांत पडून दग्ध व्हावयाचें, तशीच या दोन तीन पिढ्यांतील पुरुषांनीं आरंभिलेल्या चळवळीची स्थिति होत आली होती. शास्त्रीबुवास सदर चळवळीवर त्यांच्या पुरस्कर्त्यांवर हल्ला करून त्यांच्या खऱ्या स्वरूपाचें आवि-

धरण करण्याचा जो मान मिळाला तो ते ज्या कार्ळी जन्मले त्या कालाचें फल होय, शास्त्रीबुवाच्या इच्छेचें नव्हे. कारण, शास्त्रीबुवा नसते तर दुसरा कोणी तरी पुरुष या कार्यास त्या कार्ळी खचित प्रवृत्त झाला असता. नुसत्या इंग्रजी शिक्षणानें दहापांच नव्या कल्पना मनात शिरल्याबरोबर कोणताही पुरुष समाजाचा पुढाकार घेण्यास पात्र होतो ही कल्पनाच चुकीची होय; व या कल्पनेच्या पायावर ज्या चळवळीची इमारत उभारली गेली होती त्या चळवळी केव्हांना केव्हा तरी खाली पडणे अगदी स्वाभाविक होते. शास्त्रीबुवांनीं त्या पाडल्या असें म्हणण्यापेक्षा त्याचे दिवस संपायची वेळ आणि शास्त्रीबुवाच्या कारकीर्दीचा प्रारंभ एक झाला हें म्हणणें अधिक सयुक्तिक होय. शास्त्रीबुवांनीं या चळवळींतील पोंचटपणा ताबडतोब ओळखून तिकडे आपल्या लेखाचा मोर्चा फिरविला, हें त्याच्या मार्मिकपणाचें व प्रसंगावधानाचें फल आहे; व त्याच्या ठिकाणी त्या वेळीं दुसरा कोणीही पुरुष असता तरी त्यानें असेच वर्तन केलें असतें.

वरील हकीकतीवरून सवंग लोकप्रियता मिळविण्याकरिता शास्त्रीबुवांनी आपल्या वेळच्या चळवळीवर हल्ला केला असा जो कित्येकांचा आक्षेप आहे तो किती निरर्थक आहे हें सहज दिसून येईल. शास्त्रीबुवांनी ज्या चळवळीवर हल्ला केला त्याचा पोकळपणा व त्याच्या पुरस्कर्त्यांच्या वर्तनाचा अव्यवस्थितपणा लोकांच्या नजरेस येऊन पुष्कळ दिवस झाले होते. परंतु या पुढारी म्हणविणाऱ्या मंडळीच्या कऱ्यातून त्याच्याच योग्यतेचा पुरुष अद्याप कोणी बाहेर पडला नसल्यामुळे पुष्कळांस जरी या चळवळी उतावळीच्या व अविचाराच्या वाटत, तरी त्यासंबंधी सोपपत्तिक लेख लिहून सदर चळवळींचा अगर त्याच्या पुरस्कर्त्यांची खरी स्थिति लोकांपुढें मांडण्यास कोणी तयार झाला नव्हता. विष्णुशास्त्री हे अशा प्रकारचे पहिलेच टीकाकार होत. यास मार्मिकपणाचा संस्कार पितृपरंपरेनें प्राप्त झाला होता. व मराठी आणि संस्कृत ग्रंथाशीं त्याचा परिचयही इतरापेक्षां सहजगत्या अधिक झालेला असून हिदुस्थानच्या व पाश्चिमात्य राष्ट्रांच्या इतिहासाच्या वाचनाने व मननाने राष्ट्रांच्या अभ्युदयास कोणत्या प्रकारचे पुढारी लागतात अथवा त्यांच्या अंगी कोणते गुण असावे लागतात हे त्यास जास्त चांगलें अवगत झालेलें होतें. इतके गुण असूनही ते कदाचित् पूर्वीच्या पिढीच्या विद्वानांच्या धर्तीवरच गेले असते. परंतु कालमानानें इंग्रजी शिक्षणाचें महत्त्व कमी होत गेलें होतें; व त्यांतल्यात्यांत विशेष लक्षात ठेवण्याजोगी गोष्ट ही कीं, विष्णुशास्त्री हे स्वभावतःच अल्पसंतुष्ट असल्यामुळे आपल्या विद्येचा व गुणाचा स्वतःच्या बढतीकडे उपयोग करून घेण्यापेक्षां लोकांस खऱ्या ज्ञानाचा व विचारांचा जेणेकरून प्रसार होईल ते काम अधिक महत्त्वाचें आहे असें त्यास वाटत असें. अशा स्थितीत त्यांनी आपल्या कर्तव्याची जी दिशा ठरविली व ज्या दिशेनें काम करण्याचा आपला निश्चय तडीस नेण्यास त्यांनी शेंवटपर्यंत प्रयत्न केला, त्याबद्दल त्यांस नावे ठेवणे म्हणजे आपलें गाजरपारखेपण व्यक्त करणे

होय. एकेश्वरीमताचे किंवा प्रार्थनासमाजाचे पोवाडे शास्त्रीबुवांनी गाइले नाहीत म्हणून तत्पक्षीय लोक त्यांस नावें ठेवितात. पण ज्यांनी ह्या संस्था उभारल्या त्यापैकी एका तरी पुरुषानें या संस्थांचीं मते सयुक्तिक असून सर्व पूर्वाचार सोडून लोकांनी तीं घेण्यासारखी आहेत असें प्रतिपादन करण्यांत आपलें सर्वस्व आहे काय ? मग शास्त्रीबुवांनी त्याचे पोवाडे गाइले नाहीत म्हणून त्यांस दोष देणें म्हणजे 'मी जें काहीं भागेच्या तारेत बोललों तें दुसरा कोणी पंडीत समर्थन करीत नाही' म्हणून पंडीतवर्गास दूषण देण्याइतकेंच असमंजस नव्हे काय ? आपल्या पूर्वीच्या पिढीतील लोकांनी आरंभिलेल्या चळवळी निर्जीव व पोचट आहेत अशी मनाची एकदा खात्री झाल्यावर त्याचें खरें स्वरूप लोकांपुढें माडणे हे देशहितासाठीं झटणाऱ्या प्रत्येक मनुष्याचें कर्तव्य नव्हे काय ? आणि शास्त्रीबुवांनी तें कर्तव्य केलें म्हणून त्यांस का नावें ठेवावीं हैं मला समजत नाही. ह्या चळवळीचे खरें स्वरूप लोकांपुढें मांडण्यास ज्या साधनांची जरूरी होती ती सर्व साधनें शास्त्रीबुवांस उपलब्ध होती. पहिली गोष्ट अशी कीं, या चळवळी ज्यांनी उभारल्या होत्या त्यांची नीतिदृष्ट्या, धर्मदृष्ट्या किंवा आचारदृष्ट्या योग्यता किती होती हें त्यास पूर्णपणें माहीत होते. तसेंच दहावीस वर्षांच्या अनुभवानें या चळवळी लोकांस कितपत हितकारक होऊं शकतील याचाही त्यास अदमास आलेला होता; व त्यात काय काय दोष आहेत ते ताबडतोव ओळखून लोकांपुढें सदर दोषाचें चित्र हुबेहुब वठविण्याइतका मार्मिकपणा व कल्पकताही त्याचे आगत होती. अशा स्थितीत त्यांचे लेख चटकदार व लोकप्रिय झाले यात कांहींएक नवल नाही. लोकांस या गोष्टी हव्या होत्या, व तत्कालीन पुढागी मंडळीची कानउघाडणी करणारा पुरुष केव्हां पुढे येतो याची ते अगदीं वाट पाहत होते. अशा वेळीं शास्त्रीबुवांखेरीज दुसऱ्या कोणी हें काम केले असते तर तेही लोकप्रिय झाले असते. पण शास्त्रीबुवांनी तें केल्यामुळे त्यांच्या मार्मिकपणाची त्यात अधिक भर पडून तेच काम अधिक सफाईने तडीस गेलें एवढाच काय तो विशेष होय.

विष्णुशास्त्री याजवर त्याच्या प्रतिपक्षाचा दुसरा असा एक आक्षेप आहे कीं, सुधारकांचीं सर्व मते त्याज्य नाहीत अशी त्यांची समजूत असताही त्यांनी आपली लेखणी सुधारकाविरुद्ध चालवून त्याचा जणू काय विनाकारण सूड घेतला. माझ्या मते हाही आक्षेप निरर्थक आहे. हिंदुसमाजाच्या आजपर्यंतच्या चालत आलेल्या रचनेत देशकालमानानें काहीं फेरफार झाले पाहिजेत एवढें कोणीही विचारी मनुष्य कबूल करील, पण हे फेरफार घडवून आणण्याकरिता ज्या व्यक्तींची किंवा उपायाची योजना करावयाची व त्या व्यक्ती किंवा उपाय कोणत्या प्रकारचे पाहिजेत याबद्दल मतभेद असणें अगदीं शक्य आहे. शास्त्रीबुवांच्या पूर्वीच्या पिढीतील लोकांचे असे मत होतें कीं, इंग्रजी शिक्षणानें दहापांच नव्या गोष्टी

कळू लागल्याबरोबर तो मनुष्य समाज सुधारण्याची ध्वजा हाती घेण्यास योग्य झाला; इतकेंच नव्हे तर आचारस्वातंत्र्य व विचारस्वातंत्र्य यांचा पूर्णपणे उपभोग घेण्यास त्यास हक्क प्राप्त होऊन त्याची गणना परमहंसाच्या कोटीत लोकांनी करावयास पाहिजे. कोणास ही कदाचित् थट्टा वाटेल, पण खरोखरच अशातऱ्हेची 'परमहंस मंडळी' मुंबईस निघालेली होती. ही सुधारणा नव्हे, अचरटपणा होय; हें विचारस्वातंत्र्य नव्हे, अव्यवस्थितपणा होय; असे उघडपणे सांगणारा व प्रतिपादन करणारा गृहस्थ विष्णुशास्त्री याच्यापूर्वी कोणी निघालेला नव्हता. समाजाचें मत पहिल्यापासूनच असे होतें, पण वर सांगितलेल्या कारणाकरिता तें प्रतिपादन करण्यास कोणी पुढें आले नव्हते, ते विष्णुशास्त्री आले, एवढाच काय तो विशेष होय. हा अचरटपणा जगास व्यक्त करून दाखविणारा पुरुष प्राचीन आचारविचाराचा सर्वांशां भोक्ता असला पाहिजे ही कल्पना युक्तीच्या किंवा तर्कशास्त्राच्या कसोटीस टिकेल असे मला वाटत नाहीं. फार लांब कशाला ? उद्यां जर जुन्या पद्धतीनें शिकलेल्या शास्त्र्याचीच सभा बोलाविली तरी त्यात देखील देशकालानुरोधाने जुन्या समाजव्यवस्थेत काहीं फेरफार केले पाहिजेत असे म्हणणारे काहीं शास्त्री निघतील. पण तेवढ्याकरितां त्यांनीं नव्या मंडळीच्या आचरटपणाकडे किंवा अव्यवस्थितपणाकडे दुर्लक्ष केले पाहिजे असे म्हणणें अगदीं वेडेपणाचें होय. सामाजास काहीं बंधने पाहिजेत आणि बंधनें कायम राहाण्यास प्राचीन संस्थांचा एकप्रकारचा अभिमानही समाजात जागृत असला पाहिजे. हा अभिमान ज्यास नाहीं किंवा समाजाचीं बंधने वाटेल तेव्हा तोडण्यास जे नेहमीं तयार असतात अशांनीं समाजसुधारणेची ध्वजा हातीं घेऊन लोकांचें पुढारी होण्याची हाव धरणें अत्यंत अप्रयोजक व उपहासास्पद होय. शास्त्रीबुवांची खरी लोकसेवा हीच होय कीं, त्यांनी असल्या मंडळींची स्थिति लोकांपुढे मांडली. इंग्लिश शिक्षणास सुरवात होऊन तेव्हा काहीं नाहीं तरी चाळीस वर्षे झाली होती. इतक्या मुदतीत या नाचऱ्या चळवळीपेक्षा अधिक उपयुक्त व शाश्वत अशी फारच थोडीं कामें या दोन तीन पिढींच्या लोकांच्या हातून झालेली आहेत; किंबहुना मुळींच नाहींत म्हटलें तरी चालेल. या मंडळींनीं आपल्या उदाहरणाने तरुण पिढीस जो एकप्रकारचा अव्यवस्थितपणाचा किंत्ता घालून दिला त्याचीं मात्र फळे आज आम्ही भोगीत आहों. समाजास किंवा देशास एकप्रकारची गति पाहिजे एवढें कोणाएकास कबूल असलें म्हणजे समाजरूपी नौकेस आचरटपणाच्या व अव्यवस्थितपणाच्या वावटळींत भडकूं देण्यास त्यानें आपली संमति दिली पाहिजे असें कोणीही समजस पुरुष म्हणणार नाहीं; व शास्त्रीबुवांसही तोच न्याय लागू केला पाहिजे. भगवद्गीतेमध्ये "न बुद्धिभेदं जनयेतज्ञाना कर्मसंगिनाम्" जोष्येत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ असे जें सांगितले आहे त्यातील बीज हेंच होय. तुकारामासारख्या अंतर्बाह्य पांडुरंगमय झालेल्या साधूस न्हाव्याभटांची किंवा तीर्थांची निंदा करण्याचा किंवा प्रसंगविशेषी

श्रीपांडुरंगसाही टाकून बोलण्याचा जो अधिकार होता तोच आम्हीं सांसारिकांनी बजाविल्यास आम्ही आपल्यास किती उपहासास्पद करून घेऊं हें सांगवयास नकोच. नुसत्या बुद्धीनें अमुक एक गोष्ट बरी किंवा अमुक एक वाईट हें जाणणें सर्वांस जरी शक्य नसलें तरी तेवढ्यानेच इष्ट सिद्धि हात नाहीं. लोकांत जर कोणत्याही विशिष्ट मताचा प्रचार करावयाचा असेल तर त्यास बुद्धिवादापेक्षां निराळ्या तऱ्हेचा अधिकार लागतो. तो अधिकार ज्यांस नाहीं त्यांनीं विनाकारण बडबड करून पुढारीपणाचें सोंग आणण्यापेक्षा आपल्या शक्त्यनुसार योग्य उद्योग केल्यास तो अधिक श्रेयस्कर होईल हें उघड आहे. शास्त्रीबुवाच्या लेखांतून व टीकेंतून जर काहीं बोध घेण्यासारखा असला तर हाच होय, व त्याचकरितां त्यांच्या लेखास आम्ही इतकें महत्त्व देतो.

शास्त्रीबुवासंबंधानें शेवटला आक्षेप म्हणजे कडक भाषेसंबंधाचा होय. पण हाही आक्षेप मागल्या इतकाच किंबहुना त्याहूनही अधिक अपयोजक आहे. एकदां लढाईस सुरवात झाल्यावर प्रतिपक्षानें आपलीं शस्त्रास्त्रें अधिक तीक्ष्ण करण्याची खबरदारी ठेवली होती अशी ओरड करीत बसणें, म्हणजे आपल्या दौर्बल्याचा दोष विनाकारण लोकांच्या मार्थी मारणें होय. मनुष्याचे विचार एकमेकांस कळविण्यास भाषा हे एकच साधन आहे; आणि त्या भाषेचा अपकर्ष करणारा मनुष्य सर्व वस्तु चोरणाऱ्या मनुष्यापेक्षांही जास्त निंद्य आहे असें मनूने सांगितले आहे. निदेशबधानें हा जो न्याय आहे तोच भाषेच्या उत्कर्षासंबंधानें लागू होतो. स्वभाषेच्या आगी नाना तऱ्हेचे मनोविकार व्यक्त करण्याची शक्ति आणणाऱ्या पुढ्याचे लोकावर जे उपकार होतात ते ज्यांनीं भाषेची प्रथमतः युक्ति काढून व्यवहारसौकर्य केलें त्याच्या उपकारापेक्षा फारसे कमी नाहींत. स्वभाषेची अभिवृद्धि व उत्कर्ष हें स्वराष्ट्राच्या उत्कर्षाचें एक प्रमुख साधन आहे व तें साधन विष्णुशास्त्री यांनीं जितकें परिपूर्णतेस आणिलें तितकें पूर्वी कोणीच आणिलें नव्हतें ही गोष्ट सर्वमान्य आहे. आपल्या देशातील लहानमोठ्या लोकांस आपले विचार कळवावे अशी ज्यास उत्कट इच्छा असेल त्यास स्वभाषेखेरीज दुसरे साधन नाहीं हे इंग्रजी शिकलेल्या लोकांनीं पक्के लक्षांत ठेविलें पाहिजे, व ज्यास लोकांबद्दल कळकळ नाहीं किंवा त्यास कांहीं ज्ञानाच्या गोष्टी सांगणें अवश्य आहे असें वाटत नाहीं त्याच्या हातून स्वभाषेचा कधी उत्कर्षही व्हावयाचा नाहीं. विष्णुशास्त्री यांच्या बरोबरीचे त्या वेळीं दुसरे विद्वान् झाले नाहींत असें नाहीं. पण मराठी भाषा त्यांनीं हातीं न धरण्याचें कारण त्यांच्या आंगीं लोकांबद्दलच्या खऱ्या कळकळीचा अभाव हेच होय. एखाद्या इंग्रजी बुकाचें साफ भाषांतर करणें किंवा सालुवाईची गोष्ट सजवून सांगणें यास मराठी भाषेचें ज्ञान लागत नाहीं असे नाहीं; पण मला लोकांच्या मनांत अमुक गोष्ट भरवून दिली पाहिजे अशा कळकळीनें ज्याचें अंतःकरण जळत नाहीं त्यांच्या हातून स्वभाषेची खरी सेवा होणे अशक्य होय.

रंगभूमीवर हावभाव किंवा नटास आपले मनोविकार सभाजनास कमजास्त प्रमाणाने व्यक्त करितां येतात, पण पांढऱ्यावर काळे करून तद्वारा लोकांचे चित्ताकर्षण करून घेणे अंतःकरणात खरी कळकळ असल्याखेरीज शक्य नाही. 'तेथे पाहिजे जातीचे। येर गवाळाचें काम नोहे' असें जें तुकारामबुवांनीं म्हटलें आहे तें प्रस्तुत प्रकरणीं अगदीं बरोबर लागू पडतें. कित्येक लोकांची अशी समजूत आहे कीं, चागला लेख कोणता तर ज्यांत दोहों पक्षांचा समतोलपणा राखून कोणासही न दुखविता दरबारी रीतीनें विषयाचें विवेचन केलेलें असतें. चागल्या लेखाची ही व्याख्या दरबारी लोकानीं पाहिजे तर लक्षांत ठेवावी. पण ज्यास आपल्या विचाराची लोकांवर छाप बसवावयाची असेल, किंवा वाग्देवीच्या प्रसादाने लोकांच्या मनोवृत्ति जागृत करावयाच्या असतील, त्यांन 'अमर्षशून्येन जनस्य जंतुना न जातहादेन न विद्विषादरः' हाच न्याय स्वीकारला पाहिजे. इंग्रजीमध्ये जॉनसन, मेकॉले वगैरे मोठमोठे ग्रथकार झाले. त्यांचीं मते म्हणजे सर्वांस सर्वांशी ग्राह्य आहेत असें नाही; पण भाषेच्या आर्गी त्यांनीं जी मर्दुमकी आणलेली आहे तिचा राष्ट्राच्या अभिवृद्धीस जो उपयोग झाला तो लोक कधीही विसरणार नाहीत. भाषा हे राष्ट्रचें हत्यार होय, आणि तें हत्यार जो तयार करून देतो त्याचे राष्ट्रावर कांही लहानसहान उपकार नाहीत. अशा रीतीनें पाहिलें म्हणजे शास्त्रीबुवांचीं मते कोणास ग्राह्य नसलीं तरीही त्यांनीं त्याचे उपकारच मानिले पाहिजेत. चागली भाषा लिहिण्यास किंवा वापरण्यास काही तरी विषय पाहिजेच व तो विषय प्रत्येक ग्रंथकाराच्या वेळीं प्रचलित असलेल्या विषयांतूनच त्यानें निवडून घेतला पाहिजे. शास्त्रीबुवांनी जो विषय घेतला तो त्यांच्या पूर्वीच्या पिढ्यांनी जे उद्योग सुरू केले होते त्यामुळे ओघानेंच प्राप्त झालेला होता हे वर सांगितलेंच आहे. हा विषय एकदा हार्ती घेतल्यावर स्वभाषेत निरनिराळे मनोविकार हुबेहुब वठविण्याचें त्यांच्या अर्गी जें सामर्थ्य होते व आपल्या देशबाधवास आपले विचार कळवून त्यांस जागृत करण्याबद्दल जी त्यांच्या अंतःकरणांत कळकळ होती ती सर्व या कार्याकडे त्यांनीं खर्च केली यात कांही नवल नाही. त्याजकरिता त्यास दोष देणें म्हणजे "शकराचार्यांनी आपली विद्वत्ता तारायंत्र शोधून काढण्यांत का खर्च केली नाही" असें म्हणण्याइतकेंच अविचाराचें होय. त्यांनीं स्वभाषेची अभिवृद्धि करून आपल्या देशावर जे उपकार करून ठेविले आहेत त्यांच्या ऋणांतून मुक्त होण्यास आम्हास पुष्कळ दिवस लागतील. हे उपकार न स्मरता त्यांचे लेख कडक आहेत वगैरे कांही तरी सबबी काढून त्यांचे महत्त्व कमी करण्यास पाहणे माझ्यामते अगदीं अक्षम्य आहे. शास्त्रीबुवांनीं जे कांही लेख लिहिले आहेत ते स्वतःच्या मोक्षप्राप्तीकरिता नव्हेत. त्यांच्या वेळीं जीं ढोंगे प्रचारांत आलीं होती त्यांचा परिस्फोट करणे सार्वजनिकदृष्ट्या आपलें कर्तव्य आहे अशा समजुतीनें त्यांनी हे लेख लिहिलेले आहेत; व ते लेख जितके चटक-

दार व मनोरंजक करता येण्याचें त्याच्या आंगी सामर्थ्य होतें तितकें जर त्यात त्यांनीं खर्च केलें नसतें तर आपलें कर्तव्य नीटपणें न केल्याचा दोष त्यांच्या मानीं येता. शास्त्रीबुवांच्या मताहून कोणाची मते भिन्न असू शकतील, नाहीं असें नाहीं; पण अमक्याच्या मताहून त्यांचीं मते भिन्न होतीं म्हणून कुत्सित बुद्धीनें शास्त्रीबुवांनी कडक भाषा वापरली असें म्हणणे म्हणजे घुबडानें आपल्या द्वेषानें सूर्य अधिक प्रखर तापतो असें म्हणण्याइतकेच समंजसपणाचें आहे.

अखेरीस शास्त्रीबुवांच्या स्वार्थत्यागासंबंधानें हल्लीं जो एक नवा आक्षेप निघाला आहे त्याबद्दल दोन शब्द लिहून हा लेख संपवितो. स्वार्थत्याग कशास म्हणावा आणि कशास म्हणूं नये याबद्दल व्याख्या करीत बसण्यात काही हाशील नाहीं. शास्त्रीबुवांनी सरकारी नोकरी सोडली ती पुढील अदाज पाहून सोडली हा काहीं त्याचा दोष नाही. त्याच्या वडिलानीं त्यांस काही जहागीर ठेविलेली नव्हती. अर्थात् आपलें व आपल्या कुटुंबाच्या निर्वाहाचे साधन पाहणे ते त्यांचें कर्तव्य होतें; पण आपणास पोट भरण्याची काहीं पंचाईत नाही इतकी खात्री झाल्यावर अधिकाराच्या किंवा द्रव्याच्या लोभानें ते स्वकर्तव्यास पराङ्मुख झाले नाहीत हाच त्यांच्या अंगचा मोठा गुण होय. प्रत्येक मनुष्य आपआपल्या हातून काय होईल याचा अदमास करूनच त्या कामात पडत असतो. असा अदमास न करील तो मूर्ख होय. पण आपल्या आवडीप्रमाणें किंवा शक्तीप्रमाणें कर्तव्याची दिशा ठरविल्यानंतर उदरपोषणाकरितां नव्हे, तर द्रव्य व अधिकार यांच्या लालचीनें जो मनुष्य आपलें ठरविलेले कर्तव्य साडून देतो किंवा क्षणभर बाजूला ठेवतो तो पुढारी नव्हे आणि देशाचा हितकर्ताही नव्हे. अशा दृष्टीनें विचार केला असता शास्त्रीबुवांनी आपल्या कर्तव्याची जी दिशा ठरविलेली होती ती सरकारी नोकरीशी विसंगत आहे असें आढळून आल्याबरोबर नोकरीपेशां कर्तव्याकडे त्यांनीं जास्त लक्ष दिले हेच त्यांच्या अगच्या खऱ्या धैर्याचे लक्षण होय. मनुष्याच्या पारखेची खरी वेळ हीच असते. शास्त्रीबुवांच्या बरोबरची मंडळी त्यांच्यापेक्षा कमी विद्वान् होती असे नाही, पण शास्त्रीबुवांनी स्वतंत्र रीतीनें अध्ययन, अध्यापन व ग्रंथलेखन अशी जी आपल्या कर्तव्याची दिशा ठरविली होती, तशी दुसऱ्या कोणी ठरविली नसल्यामुळें ते प्रवाहाने प्राप्त झालेल्या परिस्थितीतच गढून गेले. शास्त्रीबुवात व त्यांच्या बरोबरीच्या विद्वानात जर काही भेद असला तर तो हाच होय. देशस्थितीचा व आपल्या शक्तीचा विचार करून शास्त्रीबुवांनी आपल्या कर्तव्याचे सुकाणू एका विविक्षित दिशेने धरलें होतें; व इतर व्यवहार जेव्हा या दिशेच्या आड येऊ लागले, तेव्हा त्यांनीं आपली दिशा कायम ठेविली आणि इतर व्यवहार सोडून दिले. प्रत्येक सुशिक्षित मनुष्य हें उदाहरण डोळ्यांपुढें ठेवून जर आपले कर्तव्य बजावील तर देशाचे पुष्कळ कल्याण होणार आहे. निर्वाहाचें साधन प्रत्येकास पाहिलेंच पाहिजे. पण त्याची सोय झाल्यावर “ शती दशशतं सोऽपीह लक्षं शतं ” या न्यायाने आपली आशा

अनावर वाढून स्वकर्तव्यास विसरणारे पुष्कळ गृहस्थ आमच्यांत आहेत ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट आहे. निर्वाहाच्या सोयीपेक्षां जास्त अपेक्षा न धरतां कर्तव्यास जागणें हेंच खऱ्या सुशिक्षिताचें काम होय. स्वार्थत्याग करा म्हणून कोणी करीत नाही आणि करूं नका म्हणून सांगितल्यानें कोणी राहात नाही. कोणीही मनुष्य जी गोष्ट करतो ती त्यास प्रिय असते म्हणूनच करतो, व ती त्यास प्रिय नसतां ती त्यास करणें जरूर पडलें तर त्याच्या हातून ती चागली वठतही नाही. याकरितां स्वार्थापेक्षां कर्तव्य जास्त प्रिय वाटणारी जितकी मंडळी देशांत निघेल तितकी चागली. मला दोन लाख रुपये मिळाले म्हणजे मी अमुक करीन असें म्हणणारे पुष्कळ लोक असतात. अर्थात् त्यांची प्रीतिही कांहीं विशिष्ट कामापेक्षां दोन लाखांवर जास्त असते. अशा लोकांच्या हातून किंवा लोकांस दाखविण्याकरितां स्वार्थत्याग करणाऱ्या लोकांच्या हातून काहीएक व्हावयाचें नाही. स्वार्थत्याग प्रत्येक माणसानें केला पाहिजे असें नाही; पण देशाची व आपली शक्ति मनांत आणून देशकार्याचा योग्य भाग उचलण्यास त्यानें नेहमी तयार असलें पाहिजे. हा देशसेवेचा भाग करीत असतां स्वार्थ त्यास आड न आल्यास उत्तमच होय. पण जेव्हां स्वार्थ त्यास आड येईल तेव्हां देशकार्याच्या भागाकडे जो पुरुष वळेल तोच खरा देशहितकर्ता होय. सरकारी नोकरीत शिरून किंवा द्रव्यार्जनाचे दुसरे मार्ग पतकरून फावल्या वेळांत होईल तितकें देशकार्य करणें हाही एक मार्ग आहे. पण भर्तृहरीनें म्हटल्याप्रमाणें स्वार्थाचा आणि परार्थाचा विरोध आला असतां स्वार्थाचा त्याग करून परार्थाकडे वळणारेच पुरुष उत्तम होत. हे पुरुष जाणूनबुजून स्थार्थत्याग करतात असें म्हणण्यापेक्षां परार्थ-बुद्धीचा त्यांच्या ठायीं उत्कर्ष असल्यामुळे ते स्वार्थाची मातबरी ठेवीत नाहीत असें म्हणणें अधिक सयुक्तक होय. शास्त्रीबुवा या कोटींतील होते. एरव्ही कायद्याचा अभ्यास करून अथवा सरकारी नोकरीतच राहून सांसारिक दृष्ट्या मोठेपणा संपादन करणें त्यांस काहीं अवघड नव्हतें. त्यांनीं नोकरी सोडली ती १०० ची होती कीं, ५० ची होती हा मुद्दा नाही. निबंधमाला बंद ठेवून किंवा मालेत निवळ भाषाविषयक किंवा निनादात्मक लेख लिहून त्यांच्या वेळच्या इतर विद्वानाप्रमाणें त्यांसही सर्बॉर्डिनेट सर्बिहसच्या वरच्या पायरीस जातां आले असतें. पण त्यांच्या स्वभावास ही गोष्ट पसंत नसून त्यांच्या मनाने आपलें कर्तव्य निराळेच आंखून ठेविलें होतें. त्यामुळे सरकारी नोकरीवर पाणी सोडून अखेरीस ते आपल्या आवडत्या कर्तव्या कडेसच वळले. अशा प्रकारचीं माणसें आमच्या सुशिक्षित वर्गांत जितकीं जास्त निपजतील तितकीं पाहिजेच आहेत. शास्त्रीबुवांच्या चरित्रांतील या प्रसंगापासून जर काहीं बोध घ्यावयाचा असेल तर हाच होय. पण आमच्यांतील कांहीं मंडळी इतकी खमंग आहेत कीं, त्यास यांत देखील दोषच दृष्टीस पडतो. कां तर शास्त्री बुवांनीं चाकरी सोडण्यापूर्वीं आपल्या निर्वाहाची आधी सोय लावली म्हणून. अशा तऱ्हेच्या आक्षेपकांस उत्तर देण्यापेक्षां 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि

मालिख मा लिख मा लिख ' अशी विधात्याची प्रार्थना करूनच त्यांची रजा घेणे अधिक प्रशस्त होय.

असो; शास्त्रीबुवांनीं काय कामगिरी केली याच्यासंबंधानें ऐतिहासिक-दृष्ट्या विवेचन करण्याचा आतां काल आलेला आहे एवढेंच मात्र विशेष करून आपणांस सांगणें आहे. शास्त्रीबुवांस ज्या गोष्टींनिं निराकरण करावें लागलें त्या गोष्टी कोणत्या हें समजून घेतल्याखेरीज त्यांच्या लेखाची योग्यता समजणें कठीण आहे. इंग्रजी शिकलेल्या पहिल्या पिढीची स्थिति जी वर वर्णन केलेली आहे तिचे बंड कमी होण्यास इंग्रजी शिकलेल्या लोकांची नोकरीच्या दृष्टीनें किंमत कमी होत चालली हें एक कारण तर खरेंच, पण शास्त्रीबुवांचे लेख हें त्याहूनही बलवत्तर कारण आहे. समाजाचें व्यवस्थित स्वरूप कायम ठेवूनच जी कांहीं सुधारणा करणें असेल ती केली पाहिजे व इंग्रजी शिकल्यानें सर्वज्ञता येते असें न मानतां, उद्योग, सदाचरण, नियमितपणा, देशाभिमान वगैरे गुण संपादन करण्याचा सुशिक्षितांनी प्रयत्न केला पाहिजे अशी जर आज थोडीबहुत समजूत झाली असली तर तिचें प्रवर्तकत्व शास्त्रीबुवांकडेसच येतें. गेल्या पाच पंचवीस वर्षांत राष्ट्रीय सभेसारख्या ज्या चळवळी झाल्या, त्यामुळें व इतर अनेक कारणांमुळें लोकांचे डोळे बरेच उघडत चालले आहेत हें खरें आहे; पण इंग्रजी शिक्षणाच्या पहिल्या घोटारोवर जो अव्यवस्थितपणाचा मद आला होता तो शास्त्रीबुवांनीं दूर केला हें आपणांस कबूल केलें पाहिजे. अशा प्रकारें एकदां एका बाजूस वळलेल्या ओघास केवळ आपल्या लेखणीनें अडवून धरून लोकप्रवृत्ति, सदाचार व खरा देशाभिमान यांजकडे वळविणें हें कांहीं लहानसहान काम नव्हे व तें ज्यानें अवघ्या ३२ वर्षांच्या वयांत केलें त्याची योग्यताही सामान्य लोकांच्या योग्यतेपेक्षां पुष्कळच अधिक असली पाहिजे हें कोणाही प्रांजल बुद्धीच्या मनुष्यास कबूल करावें लागेल. शास्त्रीबुवांच्या बरोबरीच्या व तदुत्तरकालीन लोकस्थितीचें ऐतिहासिकदृष्ट्या विवेचन करण्याची वेळ आलेली नाहीं. पण ती येईल तेव्हां शास्त्रीबुवांच्या कर्तबगारीबद्दल त्यांस योग्य मान मिळून इंग्रजी शिक्षणानें आमच्या मंडळीच्या मनांत पहिल्यानें उत्पन्न झालेला चंचलपणा उत्तरोत्तर कमी होऊन स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेश व विशेषतः करून आपल्या देशांतले व प्रांतांतले लोक याच्यासंबंधानें सुशिक्षित मंडळी आपलें कर्तव्य ओळखण्यास लागली; व नीति, सदाचार आणि निश्चय यांच्या आश्रयानें तें कर्तव्य ते पार पाडूं लागले असें म्हणण्याची पाळी येईल अशी मला उमेद आहे. मीं जें विवेचन केलें आहे तें अद्याप बरेंच अपूर्ण आहे. तथापि, तेवढ्यानें या विषयाची ऐतिहासिक दृष्ट्या चर्चा करण्याची लोकांची प्रवृत्ती होईल तर माझ्या अल्पभ्रमाचें चीज झालें असें मी समजेन.

* ज्ञेयाज्ञेयमीमांसा.

विलायतेतील प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ हर्बर्ट स्पेन्सर यांच्या 'आदितत्त्वे' या ग्रंथावरून रा. रा. नारायण लक्ष्मण फडके यांनी केलेल्या अज्ञेयमीमांसेचे मागे केसरींत एकदां परीक्षण आलेलेच आहे. याच प्रसिद्ध इंग्रज ग्रंथकाराच्या सदर ग्रंथाचा उत्तरार्ध म्हणजे ज्ञेयमीमांसा याचें मराठींत भाषांतर किंवा सार दोन पुस्तकांच्या रूपानें रा. रा. दामोदर यानी प्रकाशित केलेल्या ग्रंथमालेंत प्रसिद्ध झालें असून तें आमच्याकडे पेऊन बरेच दिवस झाले. असल्या तऱ्हेचे तत्त्वज्ञानविषयक ग्रंथ मराठींत उतरण्याचे फारसे प्रयत्न अद्याप झाले नसल्यामुळे रा. रा. फडके यांस स्पेन्सरसाहेबांचे विचार मराठींत व्यक्त करण्यास बराच त्रास पडला असेल यांत शंका नाही. तथापि विषयाचें गाभीर्य लक्षांत आणता रा. रा. फडके यांचा प्रयत्न बराच सिद्धीस गेला असून त्यांचा ग्रंथ वाचण्यासारखा झाला आहे असें म्हणण्यास आम्हांस कांही एक हरकत दिसत नाही. कांहीं ठिकाणीं विषयाच्या अपरिचितपणामुळे सामान्य वाचकांस किंवा अर्वाचीन युरोपियन शास्त्राची ज्यास विशेष ओळख नाही अशा गृहस्थास ग्रंथ कठीण वाटेल; पण असले ग्रंथ केवळ मनोरंजनार्थ नसतात हे लक्षात ठेवून पुनः वाचण्याची तसदी घेतल्यास ही त्याची अडचण दूर होणार आहे. "नियमबद्धतेची सार्वत्रिकता" (Uniformity of law) वगैरे प्रकारचे कांहीं शब्द निराळ्या तऱ्हेनें रचता आले असते. तथापि अशा प्रकारचे शब्द फारच थोडे आहेत व तत्त्वज्ञानासारख्या गहनविषयाची ज्यास ओळख करून घ्यावयाची असेल—मग ती संस्कृतातून असो वा मराठीतून असो—त्यानें असल्या शब्दास भिऊन उपयोगी नाही. शब्दातीत अज्ञेयाची कल्पना शब्दांनी व्यक्त करणें किती अवघड आहे हें 'नेति, नेति,' या श्रुतीवरून सहज ध्यानात घेण्यासारखें आहे. तसेंच विश्वांत ज्या अनेक घडामोडी चालल्या आहेत त्या ज्या सामान्य नियमांच्या अनुरोधानें होतात त्या सामान्य नियमांचें आकलन होऊन ते शब्दांनी बरोबर व्यक्त करणे इतकें दुष्कर आहे कीं, इंग्रजी सारखी सुधारलेली भाषा व स्पेन्सरसारखे तत्त्वज्ञानी यांची गांठ पडली असताही स्पेन्सरसाहेबांस कांहीं ठिकाणीं आपल्या मनातील विचार बरोबर रीतीनें व्यक्त करण्याकरतां नव्या कृत्रिम शब्दाची योजना करावी लागली आहे. अशा विषयावरील ग्रंथाचें मराठी भाषांतर किंवा सारांश थोडाबहुत कठीण होणारच, पण ज्यास जुन्या वेदांतापलीकडे जाऊन त्याचे सिद्धांत व पाश्चिमात्य आधुनिक शास्त्राचे तद्विषयक सिद्धांत यांची तुलना करावयाची असेल त्यानें स्पेन्सरच्या ग्रंथाचें अध्ययन केलें पाहिजे. तसें अध्ययन करण्यास मराठी वाचकांस रा. रा. फडके यांच्या ग्रंथांनीं चांगली सोय झाली आहे व ही करून दिल्याबद्दल रा. रा. फडके यांचें आम्ही आभिनंदन करितों. आपल्या

फुरसतीच्या वेळीं अद्याच प्रकारची स्वभाषेची सेवा करण्याचें जर इंग्रजी शिकलेल्या दुसऱ्या विद्वानांनीं मनांत आणिलें तर त्यापासून त्यांचा व लोकांचा पुष्कळ फायदा होण्याचा संभव आहे.

अलीकडे दोन तीन शतकें ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युच्छास्त्र वगैरे आधिभौतिक शास्त्रांची पुष्कळ अभिवृद्धि होऊन जगांतील नैसर्गिक शक्तीं एकंदर पदार्थांची जी स्थित्यंतरे किंवा रूपांतरे होतात त्यांचे नियम आपणास अधिकाधिक कळत जाऊन त्यापासून मनुष्यजातीचा अत्यंत फायदा झालेला आहे, ही गोष्ट सर्वास निर्विवाद कबूल आहे. जडसृष्टीतील पदार्थांचे सूक्ष्म अवलोकन, तदंतर्गत गुणधर्मांचे व्यवस्थित व सखोल विवेचन, आणि परस्परविभिन्न दिसणाऱ्या पदार्थांचे किंवा गुणधर्मांचे एकमेकाशीं सदृशत्व किंवा विसदृशत्व समजणे ही आता जशी सुगम झाली आहेत तशी पूर्वी कधीही झालेली नव्हती. ज्या पाण्यास आमच्या पूर्वीच्या शास्त्रातून आदितत्व मानलेलें आहे तेंच पाणी वायुरूप दोन तत्त्वापासून बनलेलें आहे असे आता सिद्ध झालेले आहे. जडद्रव्यासंबंधानें हा दृष्टांत झाला. पदार्थांच्या अवस्थेसंबंधानें पाहिले तर कोणताही पदार्थ प्रवाही, घन किंवा वायुरूपी असणे हे त्याचे भिन्नभिन्न गुणधर्म नसून कमजास्त ऊष्णतेनें हीं तीन स्वरूपे त्यास प्राप्त होतात असेही आतां सिद्ध झालेले आहे. त्याचप्रमाणें सर्व पदार्थांस सामान्यतः व्यापून असणारे दिक्कालादि पदार्थ अनादि व अनंत असले तरी त्याचा इतर पदार्थांशीं कोणत्या प्रकारचा संबंध असतो याचें अर्वाचीन शास्त्रातून जितके चागलें विवेचन आहे तितकें जुन्या ग्रंथातून नाही; व त्याचें कारणही उघड आहे. गेल्या दोनशें तीनशें वर्षांत आधिभौतिक शास्त्राची जी अभिवृद्धि झाली तिच्या योगानें हें ज्ञान आपणास प्राप्त झालेले आहे; व प्रथमदर्शनी हे इतके रमणीय आहे कीं, या ज्ञानाच्या विचारात गुंतलेले गृहस्थ येथेंच आपल्या ज्ञानाची परमावधि झाली असें म्हणून त्या ज्ञानाच्या पलीकडे जाण्यास किंवा पाहाण्यास आपणास असमर्थ करून घेतात; इतकेंच नव्हे तर त्यातच आपणास कृतकृत्य मानून घेतात. तत्त्वज्ञानाची व त्याच्या सिद्धांताची जर कोणास विशेष जरूर असेल तर ती असल्याच गृहस्थांस होय. यांची स्थिती आणि वडिलांच्या वेळची विहीर म्हणून त्यातील खारें पाणी पिणाऱ्या मनुष्याची स्थिति एकसारखीच असते. अनेक आधिभौतिक शास्त्रांच्या सिद्धांतांचें परीक्षण करून व त्यात सारखेपणा कोठें आहे आणि विसदृशत्व कोठें आहे हे पाहून निरनिराळ्या शास्त्रातील सिद्धांत एकाच सामान्य सिद्धांताची निरनिराळे स्वरूपे असतील कीं नाही हे ठरविणें हें तत्त्वज्ञाचें काम होय. एखाद्या आधिभौतिक शास्त्राच्या अभ्यासांत जन्म घालून त्या शास्त्राच्या ज्ञानाची मर्यादा वाढविणारे गृहस्थच आधीं विरळा सांपडतात; परंतु याहीपेक्षां सर्व शास्त्रांचे सिद्धांत एके ठिकाणीं करून त्यांतून कांहीं तरी

सामान्य सिद्धात काढून सर्व ज्ञानाचें एकीकरण करणारे पुरुष तर क्वचितच निर्माण होतात. हर्बर्ट स्पेन्सर यांची गणना या दुसऱ्या वर्गात आहे, व ज्ञेयमीमासेत त्यानीं जें काहीं सिद्ध केलें आहे तैही हेंच होय. इल्लींच्या शतकांत प्रचलित असलेल्या अनेक शास्त्रांचे अनेक सिद्धात एकत्र करून ते द्रव्य व गति यांच्या काहीं सामान्य नियमांचे प्रकार आहेत असें दाखविणें, व सर्व शास्त्रांतून निरनिराळ्या सिद्धाताचा जो पसारा पसरला असतो तो सर्व समानमूलक आहे असें ठरवून तीं मूलतत्त्वे कोणती हें व्यवस्थित रीतीनें मांडणें हें काहीं लहान-सहान परिश्रमांचे किंवा बुद्धीचे काम नव्हे. हर्बर्ट स्पेन्सरसाहेबांनीं हें अवघड काम कित्येक वर्षे परिश्रम करून आपल्या समजुतीप्रमाणें तडीस नेलेलें आहे; व एकोणिसाव्या शतकाच्या अखेर व विसाव्या शतकाच्या आरंभीं प्रचलित असलेल्या सर्व शास्त्रीय सिद्धातांचे हें एकीकरण प्रत्येक तत्त्वज्ञानासूनें समजून घेण्यासारखें आहे. अशा तऱ्हेनें विष्कलित ज्ञानाचे संकलन करणें याचेंच नाव तत्त्वज्ञान होय. व इल्लीं प्रचलित असलेल्या अनेक शास्त्रांच्या सिद्धातांचें संकलन कसें करावें व केले आहे हें ज्यास पाहाणें असेल त्यानीं स्पेन्सरसाहेबाचे ग्रंथ वाचले पाहिजेत. परन्तु स्पेन्सरसाहेब एवढाच उद्योग करून राहिले आहेत असें नाहीं. अनेक शास्त्रातील सिद्धातांच्या परीक्षणानें जे सामान्य सिद्धात निघाले ते परस्पर निरपेक्ष असून स्वतंत्र आहेत किंवा त्यातही एकप्रकारचें सादृश्य असून ते दुसऱ्या कोणत्या तरी एका सामान्य सिद्धाताचे किंवा तत्त्वाचे स्वरूपभेद आहेत, असें म्हणता येईल कीं नाहीं याचा त्यानीं बारकाईनें विचार केला आहे. ‘अज्ञेयमीमांसा’ असें इल्लींच्या ग्रंथात ज्यास म्हटलें आहे ती हीच होय. सृष्टीमध्ये ज्या काहीं गोष्टी आपण पाहातो, ऐकतो व अनुभवितों त्या सर्वांचे वस्तुरूप, गुणधर्म, क्रिया वगैरेसंबंधानें पुरा विचार करून निरनिराळ्या वस्तूबद्दल किंवा गोष्टींबद्दल निरनिराळ्या शास्त्रांतून जे सिद्धात ठरविले आहेत त्या सर्वांचे एकीकरण करून ह्यापासून सर्वांस लागणारे दहापाच सिद्धात काढणे व ते सर्व कसकसे लागतात याचें विवरण करणें हे ज्ञेयमीमासेचे काम झालें; पण हे एकीकरणाचें चक्र एकदां सुरू झाले म्हणजे ते केवळ या सामान्य सिद्धाताशींच येऊन थांबत नाहीं. निरनिराळ्या शास्त्रांचे निरनिराळ्या शोधक पुरुषानीं काढलेले सिद्धात जर सामान्य दहापांच सिद्धातात बसवितां येतात तर हे दहापाच सिद्धांत तरी आणखी एखाद्या सामान्य गोष्टीचीं, तत्त्वाचीं किंवा सिद्धाताचीं स्वरूपें नसतील कशावरून, असा प्रश्न सहज उत्पन्न होतो, व याचें उत्तर अज्ञेयमीमासेत दिले आहे. प्रत्येक शास्त्राच्या बुडाशीं पाहूं गेलें असतां मनुष्याच्या बुद्धीस व तर्कास अगम्य असें काहीं तरी तत्त्व आहे अशी मनाची खात्री होते, मग त्या तत्त्वाचें पूर्ण स्वरूप समजो वा न समजो असें स्पेन्सरसाहेबांनीं अनेक उदाहरणे देऊन सिद्ध केलें आहे. अनेक शास्त्रांच्या बुडाशी असणारीं अशीं जीं गम्य तत्त्वे त्यांच्या एकीकरणानें एका अगम्याचें अस्तित्त्व सिद्ध होऊत शास्त्रांच्या निरनिराळ्या सिद्धातांच्या परीक्षणानें जे

सामान्य सिद्धांत सिद्ध होतात ते या अगम्य तत्त्वाच्याच भासमान विकृती किंवा स्वरूपे आहेत असे स्पेन्सरसाहेबांनी सिद्ध केले आहे. साराश, सर्व ज्ञेयशास्त्रांतील सिद्धांतांचे पर्यवसान एका अगम्य तत्त्वात असून या अगम्य तत्त्वाचीच ज्ञेयशास्त्रांतील सिद्धांत हीं चिन्हे किंवा गम्य स्वरूपे आहेत असा स्पेन्सरसाहेबांच्या आदितत्त्वे या ग्रंथाचा अखेर सिद्धांत आहे. तत्त्वज्ञानाच्या किंवा वेदान्ताच्या दृष्टीने हा सिद्धांत किती महत्त्वाचा आहे हे आम्ही सागावयास नकोच. शिवाय तो ज्या रीतीने सिद्ध केलेला आहे ती रीति एकोणिसाव्या शतकातील शास्त्रीय पद्धतीस पूर्णपणे अनुसरून असल्यामुळे नव्या पद्धतीने विचार करणाऱ्या लोकास ती सर्वांशी पटण्यासारखी आहे.

परंतु स्पेन्सरसाहेबांच्या वरील सिद्धांताचे व ते ज्या सरणीने सिद्ध केले आहेत त्या सरणीचे महत्त्व आमच्या इकडील लोकांच्या पूर्णपणे लक्षात आणून देण्यास आमच्याकडील जुन्या तत्त्वज्ञानाच्या सिद्धांताची याच ग्रंथात रा. रा. फडके यांनी थोडी माहिती द्यावयास पाहिजे होती. तत्त्वज्ञानासंबंधाने जुन्या संस्कृत-ग्रंथांतून इतके विचार झालेले आहेत की, सिद्धांत प्रतिपादन करण्याच्या सरणीत जरी काही भेद झाला असला तरी स्पेन्सरसाहेबांचे वरील सिद्धांत आमच्या जुन्या तत्त्वज्ञानाशी पुष्कळ अंशी मिळते आहेत. पूर्वेकडील व पश्चिमेकडील तत्त्वज्ञान सिद्धांतामध्ये अशा रीतीने असलेले साम्य दाखवून त्यांत विसदृशपणा कोणता हाही जर रा. रा. फडके यांनी प्रस्तावना किंवा परिशिष्ट या रूपाने याच ग्रंथात सांगितला असता किंवा स्वतंत्र ग्रंथद्वारे सांगतील तर 'ज्ञानाचे एकीकरण हेच खरे तत्त्वज्ञान' अशी जी स्पेन्सरसाहेबांनी तत्त्वज्ञानाची व्याख्या केली आहे तिचे यथार्थ स्वरूप वाचकांच्या अधिक नजरेस आले असते किंवा येईल. ज्ञेय किंवा अज्ञेय, गम्य किंवा अगम्य, चित किंवा जड, सचेतन किंवा अचेतन हे सृष्टिज्ञानाचे विभाग आम्हास अपरिचित आहेत असे नाही. हिंदुतत्त्वज्ञ याची आज हजारों वर्षे चर्चा करित आले आहेत; व त्यांनी या बाबतीत काय प्रयत्न केले होते याचा उल्लेख हल्लींच्या ठिकठिकाणी येणे जरूर होते. मागे अज्ञेयमीमांसेचे परीक्षण करतांना सदर ग्रंथात हीच उणीव आहे असे आम्ही म्हटले होते. व प्रस्तुत ग्रंथासही तोच शेर लागू पडतो. आमच्या जुन्या ग्रंथात स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथांतील विचारसरणीचे अनुकरण केलेले नसले तरी ज्ञेय किंवा अज्ञेय विषयाबद्दल त्यांचे सिद्धांत बऱ्याच बाबतीत हल्लींच्या सिद्धांतापेक्षाही पुढे गेलेले आहेत. आजचा लेख बराच लांबल्यामुळे त्यासंबंधाने जास्त विवेचन येथे करता येत नाही. आज फक्त स्पेन्सरसाहेबांच्या सिद्धांताचे सामान्य स्वरूप सांगितले आहे. आतां ते जुन्या सिद्धांतांशी कितपत जुळतात व जुन्या ग्रंथांत हेच सिद्धांत कोणत्या पद्धतीने, कसे व कितपत सिद्ध केले आहेत याचा विचार पुढील खेपेस करूं.

* ज्ञेयाज्ञेयमीमांसा.

उत्तरार्ध

गेल्या खेपेस ज्ञेय आणि अज्ञेय अथवा जड आणि चित् सृष्टीसंबंधी स्पेन्सरसाहेबांचे काय सिद्धांत आहेत हे थोडक्यांत सांगितलें. हरएक शास्त्रांतील मूलतत्त्वे कोणतीं हे ठरविणें ज्ञानाच्या एकीकरणाचा पहिला हत्ता होय; परंतु भिन्नभिन्न शास्त्रांतील मूलतत्त्वे अशा रीतीनें ठरल्यावर तीं पुनः एकत्र करून त्यातून सामान्य सिद्धांत काढणें व सर्वज्ञ एकाच अज्ञेय तत्त्वाची व्याप्ति आहे असें सिद्ध करणें हे तत्त्वज्ञाचें काम स्पेन्सरसाहेबांनीं ज्या पद्धतीचा आंगिकार करून तडीस नेलें आहे त्याहून आमच्या जुन्या तत्त्वज्ञांची पद्धत भिन्न आहे; परंतु सिद्धांत बहुतेक एकसारखेच आहेत, या गोष्टीचा उल्लेख मागील खेपेस केला होता. आज त्याचाच थोडासा जास्त विचार करून रा. रा. फडके यांच्या पुस्तकाचें हें परीक्षण आम्ही सपविणार आहों. विषयाचें महत्त्व लक्षांत आणलें असता दोनचार लेखांतही तो आटपणे अशक्य आहे, पण तितक्या विस्तारानें लेख लिहिण्याची तूर्त सवड नसल्यामुळे गेल्या अर्की ज्याप्रमाणे स्पेन्सरसाहेबांच्या सिद्धांतांचा थोडक्यात साराश दिला त्याचप्रमाणे या अर्की तत्सदृश आमच्याकडील तत्त्वज्ञांच्या सिद्धांतांचा थोडक्यात उल्लेख करण्याचा आमचा विचार आहे.

ज्ञेय आणि अज्ञेय असे जे तत्त्वज्ञानाच्या विषयाचे दोन भाग स्पेन्सरसाहेबांनीं केलेले आहेत त्यासारखेंच आमच्याकडे एकपक्षीं न्याय आणि सांख्य आणि दुसऱ्या पक्षीं वेदांत हीं शास्त्रें होत. उत्क्रांति, शक्तीचें समतोलन, गतीचें सातत्य वगैरे आधिभौतिक शास्त्राच्या अनुभवावरून जसे कांहीं सामान्य सिद्धान्त स्पेन्सरसाहेबांनीं काढलेले आहेत तसेच सृष्टीच्या अवलोकनांनो “द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः” असे आमच्या नैयायिकांनीं सृष्टीतील सर्व पदार्थांचे व त्याच्या गुणधर्मांचे सात सामान्य विभाग कल्पून व त्यांस ‘पदार्थ’ असें पारिभाषिक नाव देऊन त्यात सर्व वस्तूंचा संग्रह करण्याचा प्रयत्न केलेला आहे. या सात पदार्थांपैकीं कर्म किंवा क्रिया यास गुण म्हणतां येईल किंवा नाही, अभाव हा स्वतंत्र पदार्थ आहे कीं नाही, सामान्य म्हणजे साधारणत्व हा एक पदार्थ मानल्यानंतर त्यापासून विशिष्टत्व उत्पन्न होण्यास ‘विशेष’ या दुसऱ्या पदार्थाची जरूर आहे कीं नाही, इ० न्यायशास्त्रामध्ये पुष्कळ विचार आहेत. कणादाचे वैशेषिक दर्शन तर ‘विशेष’ हा स्वतंत्र पदार्थ मानल्यामुळेच उत्पन्न झालेले आहे असेंहि एक मत आहे. सृष्टीतील वस्तुमात्राचें अवलोकन करून त्यांचा व त्यांच्या गुणधर्मांचा दहापांच ठळक ठळक वर्गीत समावेश करण्याचा प्रयत्न जर कोणी केला असेल, तर तो आमच्याकडे सांख्य-

न्यायदर्शनकारांनींच केलेला आहे. द्रव्य म्हणजे ज्यांस इग्रर्जित मूलतत्त्वे म्हणतात तीं एकदां पृथक् मानल्यावर मग त्यांचे गुण त्यांच्याहून भिन्न किंवा अभिन्न किंवा क्रिया हा त्यांचा गुण अथवा पृथक् पदार्थ इत्यादि प्रश्नांचे विवेचन येथे करू गेल्यास फारच विस्तार होईल. प्रस्तुत लेखाचा उद्देश एवढेच सांगण्याचा आहे कीं, नैयायिकांनीं ' पदार्थ ' म्हणून जे जगांतील वस्तुमात्राचे वर्ग कल्पिलेले आहेत त्यांचे आणि स्पेन्सरसाहेबांनीं दाखविलेल्या निरनिराळ्या शास्त्रांतील सामान्य सिद्धान्तांचे बऱ्याच अंशी सादृश्य आहे. नैयायिक हे कांहीं एकटेच अशा रीतीनें पदार्थमात्राचे वर्गीकरण करणारे आहेत असे नाही. " गुणा गुणेषु वर्तन्ते " म्हणजे एका गुणापासून दुसरा गुण, त्यापासून तिसरा अशी त्याच्यापासून परंपरा उत्पन्न वरितां येते. या तत्त्वावर नैयायिकांचे सप्त पदार्थ टाकून देऊन त्याएवजीं सांख्यशास्त्रांत प्रकृति आणि पुरुष हीं दोनच तत्त्वे अनादि मानिलेलीं आहेत; आणि त्यांचे इंग्रजी तत्त्ववेत्त्यांनीं मानिलेल्या ' मॅटर ' आणि ' स्पिरिट ' या दोन वर्गांशीं, बरेच सादृश्य आहे. पुरुष उदासीन राहून सर्व गुणांचे अधिष्ठान जी प्रकृति तिच्या सान्निध्यानें अनेकविध भासतो, परंतु खरी तत्त्वे प्रकृति आणि पुरुष हीं दोनच आहेत असें सांख्यांचे म्हणणे आहे. यांमध्ये आणि नैयायिकांच्या सप्तपदार्थांमध्ये पुष्कळ भेद आहे हे सहज लक्षांत येईल. तो भेद येथे सांगत बसण्यास अवकाश नाही. तथापि, सामान्य दृष्टीनें पाहतां ज्ञेय गोष्टींचे नैयायिकांनीं सात तर सांख्यांनीं दोनच वर्ग केले असें म्हणण्यास कांहीं हरकत नाही. परंतु या दोन्ही शास्त्रांत ज्ञानाचे अद्याप पुढे एकीकरण झालेले नाही; व तशा प्रकारचे एकीकरण आमच्या पूर्वीच्या तत्त्वज्ञांनीं केलेले ज्यास पाहावयाचे असेल त्यानें वेदांतशास्त्राचा अभ्यास केला पाहिजे. परिमाणु, सप्तपदार्थ किंवा प्रकृति आणि पुरुष हीं न्यायाचीं व सांख्यांची तत्त्वे अनित्य असून खऱ्या जिज्ञासूनें यांच्याही बुडाशीं जाऊन ज्या एका महाशक्तीचे हे विकार आहेत तिचे ज्ञान किंवा ओळख करून घेतली पाहिजे असें वेदातशास्त्र सांगते. शंकराचार्यांच्या भाष्यांत न्याय आणि वेदांत यांचे ठिकठिकाणीं जें खंडण आलेले आहे त्यांतील किरकोळ मुद्दे सोडून दिले तर बाकीचा भाग पदार्थांचे सप्तत्व किंवा प्रकृति आणि पुरुष हे द्वंद्व खरे नाही, ' एकमेवाद्वितीयम् ' ब्रह्मच काय ते नित्य व सर्वांचे आदिकारण आहे असें सिद्ध करून दाखविण्यांत गेलेला आहे. एकपक्षीं न्याय आणि सांख्य आणि दुसऱ्या पक्षीं वेदात यांच्यामधील विरोध बऱ्याच अंशी स्पेन्सरसाहेबांनीं सांगितलेले अनेक शास्त्रांचे सिद्धांत आणि सर्वांच्या बुडाशीं असलेले आशेयतत्त्व यांच्यामधील विरोधासारखाच आहे. परंतु सर्वांच्या बुडाशीं असलेल्या अज्ञेय तत्त्वासंबंधाने पाहिले तर स्पेन्सरसाहेबापेक्षाही आमचे तत्त्वज्ञ बरेच पुढे गेलेले आहेत. ब्रह्मासंबंधाने बोलतांना जुन्या संस्कृत ग्रंथांतून चार शब्द मुख्यतः ब्रह्माचे स्वरूपाचे वाचक म्हणून वापरलेले आढळतात. ते शब्द सत्, चित्त, ज्ञान आणि आनंद हे होत. सर्व सृष्टीच्या किंवा सर्व आधि-

भौतिक शास्त्राच्या बुडाशी जी शक्ति आहे ती शब्दांनीं जरी अवर्णनीय असली किंवा तिच्या स्वरूपाचें आम्हांस यथार्थ ज्ञान होणें शक्य नसलें, अर्थात् ती जरी एकप्रकारे अज्ञेय असली, तरी तशा प्रकारची शक्ति विद्यमान आहे एवढें निर्विवाद सिद्ध होतें असें स्पेन्सरसाहेबांनीं सप्रमाण सिद्ध करून दाखविले आहे; व आमच्या तत्त्वज्ञानीं हीच गोष्ट लक्षांत आणून या शक्तीस 'सत्' हा शब्द पहिल्यानें लाविला आहे. ब्रह्म सत् आहे अथवा तें आहे याबद्दल शंका नाही, त्याचें अस्तित्त्व निर्विवाद आहे किंवा त्याचें स्वरूपच अस्तित्त्वरूप आहे, अथवा जें आहे तें तेंच आहे, दुसरे काहीं नाही ही गोष्ट वेदांतील सर्व ग्रंथांस कबूल आहे. व स्पेन्सरसाहेबांनीं निरनिराळ्या शास्त्राच्या अवलोकनांनै नव्या पद्धतीनें कोणती गोष्ट सिद्ध केली तर ती हीच होय कीं, आदिशक्ति अज्ञेय किंवा जाणण्यास अशक्य असली तरी ती सत् म्हणजे विद्यमान आहे (The unknowable) येथवर वेदांतशास्त्राची व स्पेन्सरसाहेबांची पुरी एकवाक्यता आहे. ही शक्ति चिद्रूप आहे असा आमचेकडील वेदांतशास्त्राचा दुसरा सिद्धान्त आहे व तो पाहिल्याइतका स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथांत स्पष्ट आला नसला तरी ज्याअर्थी जगांतील वस्तुमात्र आणि त्यांचे गुणधर्म हे या शक्तींचीच स्वरूपांतरे आहेत असें त्यांचें मत आहे त्याअर्थी ही शक्ति चिन्मय असावी ही गोष्ट त्यांस मान्य आहे असें स्पष्ट होतें. पण चित् किंवा चैतन्य याचा आमच्या वेदांतशास्त्रांतून जो अर्थ धरलेला आहे तितका स्पेन्सरसाहेबांस अभिप्रेत आहे किंवा नाही, हें खात्रीनें सांगतां यावयाचें नाही. ब्रह्म आणि ज्ञान याचे तादात्म्यसंबंधानेंही स्पेन्सरसाहेबांचें मत असावें तितकें स्पष्ट नाही. ज्ञेय असो कीं अज्ञेय असो, पण ज्ञानविषय आहे, ज्ञाता व ज्ञान तद्भिन्न आहे येथपर्यंतच त्यांची मजल गेलेली दिसते. ' यत्र हि एकमेव भवति तत्केन कं पश्येत ' ही पूर्णाद्वैताची कल्पना अंतःकरणात ठसल्याशिवाय ब्रह्म ज्ञानस्वरूपच आहे ही कल्पनाहि सुचावयाची नाही. ब्रह्मासंबंधानें चवथा शब्द वापरला तो 'आनंद' हा होय पण त्याबद्दल स्पेन्सरसाहेबांच्या तत्त्वज्ञानांत मुळींच विचार केलेला दिसत नाही. आमचेकडेही ब्रह्म आनंदमय आहे किंवा आनंदस्वरूप आहे याबद्दल बरीच चर्चा व वादविवाद झालेले आहेत; व कित्येकांच्या मते सत् आणि चित् ही दोनच पदे काय तीं जगाच्या आदिशक्तीस यथार्थत्वानें लागू आहेत. हे वाद इतके गहन आहेत कीं, त्याचा या ठिकाणीं नुसता निर्देश करण्यापलीकडे जास्त काहीं लिहिता यावयाचें नाही. स्पेन्सरसाहेबांच्या ज्ञेयमीमासेस न्याय आणि सांख्य व अज्ञेयमीमासेस वेदान्त हीं आमच्याकडील तोडीचीं शास्त्रे आहेत एवढेंच प्रधानत्वेकरून सांगण्याचा आमचा उद्देश आहे. वेदातामध्ये जीव, परब्रह्म आणि जडसृष्टि यांचे अन्योन्य संबंध कोणत्या प्रकारचे आहेत याचा विचार करून या तिहींचें ब्रह्मस्वरूपांत एकीकरण होण्याचें शक्य आहे कीं नाही व असल्यास तें कोणत्या प्रकारें होतें याचे जे सूक्ष्म विचार सिद्धांत आहेत ते काहीं सर्व स्पेन्सरसाहेबांच्या तत्त्वज्ञानाच्या पुस्तकांत उपलब्ध नाहीत. तथापि सर्वांचा

मूलभूत सिद्धांत दोहोंतही सारखाच आहे. तो हा की, ब्रह्म हें सत् व त्रिकाला-बाधित असून त्याच्या स्वरूपाचें यथार्थ ज्ञान होणें दुर्घट आहे. हाच सिद्धांत सर्व वेदांताचे मूल होय, व तो आमच्या जुन्या पद्धतीनें सिद्ध केलेला ज्यास आवडत नसेल त्यांनीं स्पेन्सरसाहेबांचे ग्रंथ वाचले असतां त्यांस हेंच तत्त्व नव्या युक्तींनीं, प्रमाणानीं आणि पद्धतीनें सिद्ध केलेलें सापडेल. सारांश, या एका सिद्धातासंबंधानें तरी पूर्वेकडील व पश्चिमेकडील तत्त्वज्ञांच्या सिद्ध करण्याच्या पद्धती भिन्न असल्या तरी मुख्य विषयासंबंधानें पुरा मेळ आहे. ज्ञेयशास्त्रास हेंच विधान पूर्णपणें लागू करता यावयाचें नाहीं. कारण, अलीकडे दोन तीनशें वर्षांत या शास्त्रासंबंधानें जे शोध झालेले आहेत ते इतके विस्तृत व व्यापक आहेत कीं, पदार्थमात्राचे आमच्या नैयायिकांनीं मानलेले सात वर्ग किंवा त्यांचे पोटेवर्ग आता पूर्वीप्रमाणेंच राहतील असा निश्चय सागतां येत नाहीं. साख्यकारांनीं प्रकृति आणि पुष्प अशीं दोनच तत्वे मानलीं असल्यामुळे अर्वाचीन शोधाने त्यांच्या वर्गीकरणास फारसा धक्का येणें शक्य नाहीं; पण नैयायिकाची गोष्ट निराळी आहे. कसेही असो, ज्ञानाच्या एकीकरणाची शेवटची पायरी जी वेदात तिच्यासंबंधानें हा न्याय लागू नाही. हें शेवटचें एकीकरण स्पेन्सरसाहेबांच्या मताप्रमाणें अज्ञाततत्त्वांत किंवा आमच्या-कडील लोकांच्या मताप्रमाणें ब्रह्मस्वरूप सच्चिदानंद शक्तीतच झाले पाहिजे. म्हणजे आमच्याकडील आणि पश्चिमेकडील तत्त्वज्ञानाचे अखेरचे सिद्धांत एकच आहेत आणि सर्वांचें पर्यवसानही एकच आहे. विचारसरणींत किंवा सिद्धांत सिद्ध करण्याच्या पद्धतींत मात्र पुष्कळ फरक झालेला आहे. परंतु हा फरक एका अंशानें इष्टसिद्धिकारक आहे. कारण हजारों वर्षांच्या अंतरानें निघालेल्या विचारसरणींच्या दोन्ही पद्धतीनें जेव्हां एकच सिद्धांत सिद्ध होतो तेव्हा त्या सिद्धांताची सत्यता अधिकच दृढ होते हें निर्विवाद आहे. अर्वाचीन विचारसरणीनें सिद्ध होणाऱ्या या सिद्धांताचें ज्ञान प्राचीनकालाच्या तत्त्वज्ञास कोणत्या तऱ्हेने झालें हा एक मोठा महत्त्वाचा प्रश्न आहे, व त्याचें उत्तर देण्यास योगशास्त्राचीही थोडीशी मदत घ्यावी लागेल. पण इतकें खोल शिरण्याचा आमचा हरादा नाहीं. सामान्यरीत्या ज्ञेय आणि अज्ञेय मीमांसेंत स्पेन्सरसाहेबांनीं जे सिद्धांत ग्रथित केले आहेत तत्स-दृश आमच्यामधील शास्त्रें कोणतीं एवढेंच सांगण्याचा आमचा हेतु होता व त्या-प्रमाणे सदर विषयाचें वर थोडें दिग्दर्शन केले आहे. एवढ्याने या विषयाकडे कोणाचें लक्ष जाऊन जर अशा प्रकारची अर्वाचीन व प्राचीन तत्त्वज्ञानावरील ग्रंथाची तुलना करून हा विषय तो महाराष्ट्र जनतेपुढें माडील तर आमच्या श्रमाचे सार्थक झाले असें आम्ही समजूं. विषय इतका महत्त्वाचा व गहन आहे कीं, त्याची वर्तमानपत्रांतून यापेक्षां जास्त चर्चा करणें शक्य नाहीं.

* श्री. गायकवाडसरकार यांचा वेदांत *

राज्यसूत्रे हातांत बाळगणाऱ्या पुरुषांनी ब्रह्मविद्येत प्राविण्य संपादन केल्याची उदाहरणे आम्हांस अपरिचित आहेत असे नाही. जनक व भीष्म यांच्या गोष्टी उपनिषदांत व इतिहासांत प्रसिद्ध आहेत, व भागवतमार्गचे प्रवर्तन क्षत्रियांनीच केले असावे असे म्हणण्यास चांगला आधार आहे. या गोष्टी लक्षात आणल्या म्हणजे अलीकडील राजांनी वेदान्त विषयावर आपले विचार प्रगट केल्यास किंवा त्याचा प्रसार केल्यास त्यांत काही नवल नाही. त्यातून श्री. सयाजीराव गायकवाडसरकारासारखा सुशिक्षित व विद्याव्यासंगी राजा असल्यावर त्याचे विचार विशेष महत्त्वाचे असणे व त्याचा प्रसार झाल्याने लोकांचा फायदा होणे अधिक संभवनीय आहे. परंतु राजे किंवा संस्थानिक कितीही सुशिक्षित, बहुश्रुत आणि विद्याव्यासंगी असले तरी ज्या विषयावर ते बोलणार किंवा आपले विचार प्रगट करणार त्यासंबंधाने पूर्ण व्यासंग करून त्या विषयांत प्राविण्य संपादन करणे हे त्यांचे काम आहे; व तसे प्राविण्य जर त्यांनी संपादन केले नसेल तर केवळ अधिकाराच्या जोरावर त्यांचे विचार कधीही लोकमान्य होणार नाहीत. आज हे विचार सुचण्याचे कारण बडोदे येथे श्रीमत्स्वामी हंसस्वरूप यांनी राजमहालात श्री. गायकवाडसरकार यांच्या समोर जी व्याख्याने दिली, त्यानंतर महाराजांनी जे एक लांबलचक तासभर वेदान्तावर व्याख्यान दिले ते होय. श्रीमंत सर सयाजीराव महाराज सेनाखासलेल यांची बहुश्रुतता व विद्येविषयी आसक्ती ही सर्व श्रुत आहेत; व त्यांनी जर आपल्या प्रवासातील माहिती किंवा आपण अनुभवलेल्या, आपणास परिचित असलेल्या राजकीय किंवा सामाजिक विषयावर आपली मते आम्हांस सांगितली असती तर तिचा आम्ही सन्मानपूर्वक विचार केला असता. परंतु वेदान्तासारख्या गहन विषयावर वरचेवर दहा पांच इंग्रजी ग्रंथ वाचून किंवा श्रवण करून ज्या गोष्टी झालेतील पोरसही सागण्याची लाज वाटेल अशा श्री. महाराज सरकारांनी भर सभेत श्रीमत्स्वामी हंसस्वरूप यांच्यापुढे बोलून दाखवाव्या हे आमच्यामते कांही उचित नाही. श्री. सयाजीराव महाराज यांची वेदान्त विषयाचा विचार करण्याकडे प्रवृत्ति झाली आहे ही अभिनंदनीय गोष्ट होय. पण हल्लींच्या व्याख्यानावरून असे दिसून येते की, त्याचे विचार अद्याप अपरिपक्व असून ते लोकांपुढे मांडण्यापूर्वी महाराजांनी अद्याप पुष्कळ अभ्यास केला पाहिजे. “जगांत कांही गोष्टी अशा आहेत की, त्याची प्रत्यक्ष साक्ष पडणे शक्य नसते. असे जरी आहे तरी ईश्वर नाही असे मात्र माझे म्हणणे नाही. ईश्वर आहे असे मानून चालले असतां बरे” असा महाराजांनी आपले भाषणांत ईश्वराच्या अस्तित्वाबद्दल स्पष्ट

अभिप्राय दिलेला आहे. याचा सरळ अर्थ असा होतो की, ईश्वर मानणे हे सोयीचे आहे म्हणून मानावयाचा, नाही तर त्याची काहीं जरूरी नाही. म्हणजे ईश्वर ही एक मनुष्याने निर्माण केलेली उपयुक्त संस्था होय व ती उपयुक्ततेच्या आड आल्यास क्षणभर ईश्वरास रजा दिली तरी काहीं हरकत नाही! श्रीमंत सयाजीराव महाराजांसारख्यांनी असले विचार लोकांपुढे मांडावे हे आमचे दुर्दैव होय. ईश्वराचे अस्तित्व उपयुक्ततेवर आहे या समजुतीपलीकडे जर महाराजांचे विचार गेले नसतील तर त्यांनी वेदान्तासारख्या गहन विषयावर भाषण करू नये हे चांगले. सर्वज्ञतेचा त्यांनी काहीं विडा उचललेला आहे किंवा उचलावा असेही नाही. मग हा अव्यापारेषु व्यापार करून विनाकारण त्यांनी आपणास लोकांच्या चर्चेस कां पात्र करून घ्यावे हे आम्हांस समजत नाही. त्याचप्रमाणे मनुष्य जन्मास आल्याबरोबर तो सृष्टीतील चंद्र, सूर्य, वायु, आकाश इत्यादिकांची पूजा करू लागला व त्यापासून पुढे देहात्मवाद, चैतन्यवाद, अज्ञेयवाद वगैरे निरनिराळे पंथ उत्पन्न झाले अशी जी महाराजांनी परंपरा दिली आहे तिचेही अलीकडे पांचपंचवीस वर्षात झालेल्या शास्त्रीय शोधांनी बरेच खंडण झाले आहे, हे महाराजास माहित नाही असे दिसते. मनुष्याची उत्पत्ति होऊन सहा सात हजार वर्षांभेक्षा जास्त दिवस झाले नाहीत अशी जेव्हा समजूत होती तेव्हांच्या या कल्पना आहेत. पण भूगर्भशास्त्रात अलीकडे जे शोध झाले आहेत त्यांवरून मनुष्य उत्पन्न होऊन लाखों वर्षे झालीं असे जर सिद्ध होत आहे, तर महाराजांनी सांगितलेले नाना तऱ्हेचे वाद एकाच धर्माच्या इतिहासात कसे येऊ शकतात हा एक मोठाच प्रश्न आहे. तसेच ईश्वराने पुरुष व स्त्री अशा काय त्या दोनच जाती निर्माण केल्या असे जे महाराजांनी सांगितले तेही केवळ अज्ञानमूलक आहे. ऐतिहासिक शोध ज्या कालापर्यंत जाऊ शकतो तेथपर्यंत मनुष्यजातीचे आर्य, यहुदी, निग्रो किंवा चिनी अगर मोंगोलियन हे भेद दृष्टीस पडतात असे आतां शास्त्रीयपद्धतीने सिद्ध झालेले आहे. महाराजांच्या भाषणांत एकडची तिकडची बरीच माहिती गोळा केलेली आहे; पण त्यांत कोठेही मार्भिक-णा अगर ही माहिती स्वतःच्या विचाराच्या कसोटीस लावल्याचे दिसून येत नाही. इतकेच नव्हे तर नाना तऱ्हेचे पदार्थ पचाविण्याची ज्यास शक्ति नाही अशा पुरुषाच्या कोठ्यांत गेल्याने तथे जसा त्याचा एक तऱ्हेचा अनिष्ट परिणाम होत असतो तद्वत् महाराजांच्या धर्मविचारांची स्थिति झालेली आहे. वेदान्त किंवा गीतेत ज्या गोष्टी सांगितल्या आहेत त्यांबद्दल कोणीही विचार करू नये असे आमचे म्हणणे नाही. पण सदर ग्रंथास गायकवाडी कायद्याच्या पक्तीस आणून वसाविणे म्हणजे पाणिनीने एका सूत्रांत ज्याप्रमाणे श्वा (कुत्रा), युवा (जवान), आणि इंद्र यांची सागड घातली आहे तसा प्रकार करणे होय. वैदिक धर्माला काहीं परंपरा असून इतिहासही आहे. तो समजून न घेतां श्री. सयाजीराव-

सारख्या बहुश्रुत संस्थानिकांनीं कांहीं वरवरचे ग्रंथ किंवा भाषांतरे वाचून व्यर्थ बडबड करणें बरोबर नाही. राजकीय सत्तेची किंवा जातिभेदाची उत्पात्ति या-संबंधी श्रीमहंसस्वरूप स्वामींचे विचार आधुनिक विद्वानांच्या विचारांशीं न जुळल्यास त्यात कांहीं नवल नाहीं व त्यासंबंधानें महाराजांनीं एवढे परिश्रम घेऊन नवीन मतें लोकापुढें माडण्याची कांहीं जरूरी नव्हती. तसेंच विद्याप्रसाराची आवश्यकता अथवा नीति सुधारण्याबद्दल काळजी इत्यादि गोष्टीतही त्यांचा मतभेद नाहीं. कालानुरूप समाजरचनेत काही फेरफार झाले पाहिजेत व ते होतही आहेत, परंतु नुसती धर्मावर श्रद्धा ठेवल्यानें किंवा ईश्वराची भक्ति केल्यानें नीति सुधारून औदार्यादि सद्गुणाची वाढ किंवा विकास होत नाहीं असें जें महाराजांनीं प्रतिपादन केले आहे ते आम्हांस विलकूल संमत नाहीं. बोके संन्यासी केवळ आमच्याच समाजात आहेत असें नाहीं; आणि असा कोणताही धंदा किंवा आश्रम नाहीं की, लबाडानीं किंवा अयोग्य पुरुषानीं त्यांत आपला प्रवेश करून घेतला नाही, मग तो राज्य करण्याचा धंदा असो कीं भीक मागण्याचा धंदा असो. अशा लोकांची आम्हांस विलकूल तरफदारी करावयाची नाहीं. परंतु असे काही लोक सर्वत्र असतात म्हणून ईश्वरभजनाची योग्यता कमी समजणें म्हणजे उंदराच्या भयानें घर सोडून देण्याइतकेच वेडेपणाचें काम होय. परमेश्वराच्या सर्वव्यापी कल्पनेबद्दल महाराजांनीं केलेली थट्टाही अगदीं अप्रयोजक आहे; व त्यावरून महाराजांचें अज्ञान मात्र अधिक दिसून येतें. आपल्या भाषणाच्या शेवटीं महाराज असें म्हणतात की, मी जे काही चार शब्द बोललों ते ऐतेवेळीं विचार करण्यास सधि न मिळतां बोललों; पण महाराजाना नम्रतापूर्वक आमचा असा प्रश्न आहे की, ही बोलण्याची गोणी आपणावर कोणी लादली होती ? त्यातून वेदान्तासारख्या विषयावर न विचार करिता बोलणें आणि तेंही श्रीमत् हंसस्वरूपासारख्याचे भाषण झाल्यावर बोलणें म्हणजे तर अगदींच अप्रशस्त होय.

श्री. सयाजीराव महाराजासारख्या सुशिक्षित संस्थानिकाविरुद्ध अशा प्रकारचा लेख लिहिण्याची पाळी आम्हांवर यावी ही दुर्दैवाची गोष्ट होय. आज आमच्या संस्थानिकामध्ये जे चांगले सुशिक्षित राजे आहेत त्यांमध्ये श्री. सयाजीराव महाराज हे अग्रेसर आहेत. पण कोणीही संस्थानिक कितीही सुशिक्षित असला तरी ज्या विषयावर त्यास बोलण्याचा अधिकार नाहीं त्यासंबंधानें त्यानें अद्वातद्वा विचार प्रगट केल्यास ते उपहासास पात्र होणे अगदीं स्वाभाविक आहे. आज श्री. सयाजीराव महाराजांनीं जे भाषण केलें आहे त्यावरून त्यांचा ईश्वरावर बेताबाताचाच विश्वास आहे किंबहुना नाहीं असें म्हटलें तरीही चालेल. अशा स्थितीत वैदिक धर्माची उलाढाल करून अमक्यांनीं वैदिक कर्में आचारावीं अमक्यांनीं आचरूं नयेत अशा भानगडीत महाराजांनीं पडणें म्हणजे शुद्ध 'अव्यापारेषुव्यापार' होय. महाराजांचे धर्मसंबंधीं विचार अत्यंत अपरिपक्व व

होते आहेत व दुसऱ्या कोणी हेच विचार प्रगट केले असते तर त्याची चर्चा करण्याच्याही आम्ही भरीस पडलों नसतों. पण बडोद्यासारख्या संस्थानाचे अधिपति जेव्हा अशा तऱ्हेचे नास्तिक्याचे विचार अविचारपणाने प्रगट करितात तेव्हा असल्या बाबतीत बोलण्याचा त्याचा कितपत अधिकार आहे याचा विचार करणे नार्थजनिक दृष्टीने अत्यंत जरूर पडते. आजचा प्रसंग तशातला होय. केवळ पदान्तावरील व्याख्याते एवढ्या दृष्टीनेच महाराजांच्या व्याख्यानाचा आम्ही वर वेचार केला आहे व त्यात जर त्यांच्या राजकीय इभ्रतीस न शोभणारे शब्द आम्हास वापरावे लागले असले तर त्यास आमचा नाइलाज आहे. राजे झाले हणजे त्यांचीं मते राजकीय बाबतीतदेखील लोकांनीं सर्वस्वी पतकरलीं पाहिजेत असें नाहीं; मग वेदान्तासारख्या गहन विषयावरील मतासंबंधाने तर बोलावयासच नको. ईश्वराचें अस्तित्व, वेदाचे प्रामाण्य, गीतेचे महत्त्व, वर्णाश्रमधर्मविचार इत्यादि बाबतीतील रहस्ये महाराजांस न समजण्यासारखीं आहेत असें नाहीं. पण तीं समजून घेण्यास त्यांनीं अजून बरींच वर्षे अभ्यास केला पाहिजे. तोपर्यंत शिष्यत्वाच्या नात्यानें त्यांनीं शंका म्हणून आपले विचार पाहिजे तर ज्ञात्यापुढें माडावे त्यास कोणाची हरकत नाहीं. पण महाराज इतक्यांत जर तेच विचार सध्दान्तरूपानें समाजापुढे माडतील तर ते आपल्या हातानेंच आपणास उपश्रास पात्र करून घेतील. विलायतेस दहापांच सफरी केल्यानें धर्माचें ज्ञान शेतें असें नाहीं, त्यास दुसऱ्या पुष्कळ गोष्टीची व गुणाची अपेक्षा लागते; व हे गुण जोपर्यंत महाराजांच्या आर्गी आले नाहीत तोपर्यंत आपणास वेदान्तही येतो असें दाखविण्याच्या मानगडींत त्यांनीं पडूं नये अशी त्यांस आमची प्रार्थना आहे. राज्यकारभार चालविण्यास वेदान्ताचें पूर्ण ज्ञान असण्याची काही जरूर नाहीं. व थोरले माधवराव जेव्हा स्नानांमध्ये अधिक वेळ घालवूं लागले तेव्हा रामशास्त्र्यांनीं त्यास जो उपदेश केला तो आजमितीस महाराज गायकवाड सरकारानींही लक्षात ठेवण्यासारखा आहे. यांस जर वेदान्ताचा अनुभव पाहिजे असेल तर तो देणारे गुरु अद्यापही हिंदुस्थानात सापडतील; मात्र राज्यकारभार सोडून त्याचें शिष्यत्व पतकरण्यास महाराजांनीं तयार झालें पाहिजे. ही गोष्ट जर त्यास कर्तव्य नसेल तर विनाकारण सर्वमान्य धर्मतत्त्वांचा उपहास किंवा अवहेलना करून अथवा त्याबद्दल आपला संशय प्रदर्शित करून लोकांचीं मते कलुषित करण्यास काहीं फायदा नाही. श्रमितीसस्वरूप यांनीं आपल्या व्याख्यानात सांगितलेल्या काहीं गोष्टींमुळे लोकांचा असमज होईल तो चांगला नाही असें महाराजांनीं आपल्या व्याख्यानात म्हटलें आहे. पण तेच न्याय आपल्या व्याख्यानास शतपट अधिक लागू पडतो असें महाराजांच्या लक्षात आलें नाही असे दिसते. परव्हीं शालेंतील मुलासही शोभगार नाहीत अशीं विधानें करण्याचें साहस त्यांनीं केलें नसते. असो; आमच्या कर्तव्यास अनुसरून आम्हांस श्री. सयाजीराव महाराज यांच्याबद्दल अशा रीतीनें

आमच्या खुषीविरुद्ध जे दोन कडक शब्द लिहावे लागले त्याबद्दल ते आम्हांस माफी करतील अशी विनंति करून हा लेख आम्ही संपवितो.

*मराठे आणि वेदोक्त कर्म

अलीकडे इंग्रजी विद्येने व पाश्चिमात्य शिक्षणाने संस्कृत झालेल्या मराठे-मंडळीच्या मनांत जी कांहीं खुळें शिरली आहेत, त्यापैकीच वेदोक्तकर्मांचे खूळ हें एक होय. बरेच दिवसापूर्वी हें बंड प्रथमतः श्री. गायकवाडसरकार यांच्या प्रोत्साहनाने बडोद्यास सुरू झालें, व त्याचा संसर्ग आतां कोल्हापूरपर्यंत जाऊन मिडला आहे. व इतर ठिकाणांही तोच प्रकार होण्याचा संभव आहे. हें खूळ एकच ठिकाणी होतें तोंपर्यंत त्याबद्दल विशेष लिहिण्याचे कांहीं कारण नव्हतें. पण बडोदें आणि कोल्हापूरसारख्या संस्थानचे अधिपति राजा या नात्याने आपणाकडे असलेला धर्माच्या बाबतीत तिन्हाइतगणाचा अधिकार विसरून जाऊन जेव्हां एका विविक्षित ज्ञातीचे पुरस्कर्ते बनतात, इतकेंच नव्हे तर त्यांच्या खुळास पाठबळ देऊन परधर्मी सार्वभौमराजाकडे आपल्या संस्थानांतील प्रजेस धांव घेण्यास लावतात, तेव्हां यासंबंधाने दोन शब्द लिहिणे जरूर होतें. आम्ही जें या संबंधाने आज विवेचन करणार आहों तें कोणाही व्यक्तीस अनुलक्षून नसून या प्रश्नाची आजपर्यंतची हकीकत कशी आहे, त्याची व्यवस्था कोणत्याप्रकारे झालेली आहे, व पुढे ती कोणत्या धोरणावर झाली पाहिजे इत्यादि सामान्यतत्त्वांचाच आजच्या व पुढच्या लेखांत विचार करणार आहों. याबद्दल कोणास कांहीं वाईट वाटण्याचे कारण नाही. जातिभेद हा हिंदु लोकांच्या अगदीं हाडीं खिळलेला आहे. जीवास परमेश्वराची प्राप्ति कशाने होईल एवढाच धर्म या शब्दाचा अर्थ धरिला तर हिंदुधर्मांत जातीचा अगर खाणें पिणें अथवा इतर आचार यांचा विलकुल संबंध येत नाही हे उघड आहे. कारण, आमच्या धर्मांत परमेश्वर वसिष्ठास जितका साध्य होता तितकाच विश्वामित्रासही होता, याज्ञवल्क्यास जितका होता तितका जनकासही होता, आणि ज्ञानेश्वर-एकनाथांप्रमाणेंच, तुकाराम, गोगा कुंभार आणि चोखाभेळा यांसही गति प्राप्त झालेली आहे. अशा प्रकारच्या धर्मांत खाणें, पिणें आणि जाती यांचा समावेश होत नाही. हे आचार स्वतंत्र आहेत व ते स्मृतिग्रंथांतून आचार आणि व्यवहार या सदराखाली पडतात. तथापि हिंदुलोकांची ज्ञातीधर्मावरील आसक्ति इतकी दृढ आहे कीं, हिंदूचे खिस्त झाले तरी त्यांच्या मनावर परंपरागत आलेले ज्ञातिभेदाचे संस्कार जळलेल्या दोगीत तिचा पीळ जसा कायम राहतो तद्वत् कायम राहतात. हे परंपरागत किंबहुना रक्तमासगत भेदाभेद अजीबात

मोडून टाकून सर्व हिंदुस्थानांतील जातींचा सवगोलंकार करणे इष्ट असले तरी शेंकडों वर्षेपर्यंत शक्य नाही हे कोणासही कबूल केले पाहिजे; व आम्ही आजच्या प्रश्नाचा जो विचार करणार आहो तो याच धोरणावर करणार आहो. समाजाच्या स्थितीत जी कांहीं कोणास पालट करावयाची असेल ती व्यवस्थेने व नेतावातानेच केली पाहिजे, व जी पालट करावयाची तीही अशी असली पाहिजे की, तिची उपयुक्तता चटकन लोकांच्या लक्षात येईल. हल्लीं वेदोक्तकर्मावद्दल जी चळवळ चालू आहे ती तशा प्रकारची नाही हे पूर्वेतिहासावरून कोणाच्याही सहज लक्षात येईल. हा इतिहास कित्येकास अवगत नसेल म्हणून त्याची आज खाली थोडक्यांत हकिगत देत आहो.

ज्ञातिधर्माप्रमाणे पाहतां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांस जे गृह्य संस्कार सांगितलेले आहेत ते वेदोक्त मंत्राने करावे अशी स्मृतींतून वचने आहेत. परंतु धर्मशास्त्रावरील जे प्रसिद्ध व सर्वमान्य ग्रंथकार आहेत त्यांच्यामते खऱ्या क्षत्रिय व वैश्य या जाती हल्लीं नाहीशा झालेल्या आहेत; व ब्राह्मण आणि खरोखर शूद्र यांच्या दरम्यान ज्या जाती आहेत त्यांचे जे संस्कार करणे ते वरील तारतम्य लक्षात आणून केले पाहिजेत असे त्यांचे मत आहे. आता प्रश्न असा आहे की, मराठे हे अस्सल क्षत्रिय आहेत किंवा शूद्र आहेत, अथवा या दोहोंमध्ये तारतम्याने यांची कोणती तरी पायरी लाविलीच पाहिजे. पूर्वपक्ष असा आहे की, मराठे हे क्षत्रिय होत आणि त्यामुळे त्यांच्याकडे होणारीं कर्मे ब्राह्मणांनी 'वेदोक्त' केली पाहिजेत. परंतु ही कोटी नवी आहे असे नाही. इतिहासाकडे जरा नजर फेंकली असतां असे दिसून येईल की, यवनी राज्याची लाट उत्तरेकडून दक्षिणेकडे जोराने खाली येत असतां तिला विंध्याद्रीप्रमाणे अडवून धरून ज्या रणशूर मराठे वीराने माघार खावयास लाविली आणि आपल्यास गोब्राह्मणप्रतिपालक असे अन्वर्थ नाव घेऊन हिंदुधर्माचे, हिंदुराष्ट्राचे आणि हिंदु लोकांचे अस्तित्व कायम राखले त्यांच्या कारकीर्दीत या प्रश्नाचा एकदां निकाल झालेला आहे. तो काल असा होता की, श्रीशिवाजीमहाराजास कोणत्या रीतीने वगिष्ठ स्थान देतां येईल; त्यांस उच्चपद, उच्चमान, उच्च अधिकार कोणत्या रीतीने मिळतील, हे महाराष्ट्रांतील प्रत्येक पुरुष तेव्हां कृतज्ञताबुद्धीने पाहत होता. कार्यातील ज्या भट घराण्यांत निर्णयसिंधु, मयूख, प्रयोगरत्न इत्यादि प्रसिद्ध ग्रंथांचे कर्ते निपजून त्यांच्या हानून सोळाव्या व सतराव्या शतकांत हिंदु ज्ञातिधर्माचे पुनरुज्जीवन किंवा सस्थापन झाले व ज्या घराण्यांतील पुरुषांस अद्यापही काशीक्षेत्रीं अग्रपूजेचा मान आहे त्याच घराण्यांतील स्वतःवर सांगितलेल्या पुरुषांच्या योग्यतेचेच विद्वान् ग्रंथकार श्रीगंगाभट्ट हे त्या वेळीं दक्षिणेंत येऊन त्यांच्या हस्ते, त्यांच्या देखरेखीखाली आणि त्यांच्या सल्ल्याने, आणि त्या वेळच्या महाराष्ट्रांतील प्रसिद्ध ब्राह्मण, शेषवी, परभू, मराठे वगैरे जातींच्या मुत्सद्दयांच्या व शूर पुरुषांच्या संमतीने, किंबहुना सर्व महाराष्ट्रांच्या अनुकूलतेने व इच्छेने

श्रीशिवाजीमहाराजाची सत्तेचाळिसावे वर्षी मुंज करण्यात येऊन त्यास शास्त्रोक्त रीतीने राज्याभिषेक केला व तेव्हापासून त्याच्या राजशकास सुरवात झाली, ही गोष्ट इतिहासात नमूद आहे. इल्ली ज्या काही मराठे लोकानीं वेदोक्तांचें खूळ माजविलें आहे ते आपल्यास शिवाजीमहाराजापेक्षा ज्ञातीनें अधिक श्रेष्ठ समजत असतील असें आम्हांस वाटत नाहीं. तसेच त्याकाली भोंसलेकुलावर महाराष्ट्रांतील लोकांची जी श्रद्धा जडलेली होती व तेव्हा महाराष्ट्रांतील सर्व आचारवृद्ध स्त्रीपुरुष हिंदुधर्मानें संरक्षण करणाऱ्या पुरुषास व्यवहाराने व शास्त्रानें ज्या काहीं सवलती देण्यासारख्या असतील त्या सर्व किंवा त्याहूनही काकणभर जास्त देण्यास जितक्या उत्सुकतेने, हौसेने आणि कृतज्ञताबुद्धीनें तयार होते तसा आता कोणाही मराठ्याचा अधिकार राहिलेला नाही. अशा वेळीं, अशा स्थितींत या प्रश्नाचा जो निकाल लागला आहे तो काकणभर मराठ्यांच्या बाजूचाच लागला असेल हें कोणासही आम्ही सांगावयास पाहिजे असें नाही. तो कालच असा होता कीं दुमरा निर्णय होणेंच अशक्य होतें; आणि अशा स्थितींत झालेला निर्णय आम्हांला कबूल नाही म्हणून भोसल्याच्या कुळापेक्षां ज्यांचें कूळ कर्तव्यगरीनें, ज्ञातीनें आणि मानाने कमी आहे अशा मराठे लोकांनीं आता तक्रार करावी अथवा उच्चल खावी हें व्यवहारास, शिष्टपरंपरेस अथवा ज्ञातिसंप्रदायपद्धतीस अग्रन्यायास अनुसरून आहे असें आम्हांत वाटत नाहीं. श्रीशिवाजीमहाराजास महाराष्ट्रांतील सर्व लोक केवळ शिवाचा अवतार समजून ईश्वराप्रमाणे वद्य मानीत होते आणि अद्यापि मानतात; व त्याच्याबद्दल जो काहीं निर्णय झाला असेल तो गागाभट्ट किंवा त्यानीं पाचारण करून आलेले क्षेत्रोक्षेत्रीचे शेकडो विद्वान् ब्राह्मण यानीं मनात कांहीं कुचर टेवून केला असेल असे म्हणणें अगदीं वेडेपणाचे आहे. हिंदुपातशहा राज्याभिषेक होऊन केव्हां नजरेस पडतो व त्याचा शक कसा चालू होतो इकडे सर्व महाराष्ट्रांचे लक्ष लागले होतें. श्रीसमर्थ रामदास, चिंचवडचे देव वगैरे अनेक सत्पुरुषही त्यावेळीं हजर होते. या सर्वांच्या सल्ल्यानें क्षत्रियास उचित अशा शास्त्रोक्त रीतीनें राज्याभिषेक व तदंगभूत व्रतबंध करून भोसले घराण्यांत गृह्यकर्मांबद्दल जी परंपरा तेव्हा लावून दिली गेली व जी सातारचे महाराज व कोल्हापुरचे महाराज यांच्या घराण्यात अद्याप चालत आहे ती निर्मूल आणि अप्रमाण असें म्हणण्याचें साहस करून वेदोक्तांचें बंड माजविणारांनीं काय पुरुषार्थ योजिला असेल कोण जाणे ! बरें, हे खूळ माजविणाराची योग्यता आणि अधिकार पाहूं गेलें तर तेही श्रीशिवाजी महाराजांच्या अधिकारतेजापुढे खचोत-वत् देखील पासंगास लागायचाचे नाहींत. ज्या पुरुषानें आपल्या पराक्रमानें सर्व महाराष्ट्रांतील लोकांत आपल्याबद्दल पूज्यबुद्धि उत्पन्न करून जगाच्या इतिहासांत आपलें नांव अजरामर करून ठेविलें त्याला स्वतःच्या वंशांत किंवा स्वतःच्या कुलांत गृह्यकर्म करणाऱ्याची जी पद्धत मान्य झाली व जी पद्धत तत्कालीन सर्व धर्मज्ञ ब्रह्मचूदांनींही मोठ्या आनंदानें आणि कृतज्ञताबुद्धीनें कबूल केली ती बरोबर

नाहीं व त्या पद्धतीत आपला मानभंग होऊन आपला ज्ञातिमूलक दर्जा व अधिकार कमी होतो असें मराठेवंशातील आधुनिक पुरुषास वाटावे हें आमचें मोठें दुर्भाग्य होय. आपल्या प्रातातील किंवा राष्ट्रांतील लोकांकडून धन्य म्हणवून घेण्यास हल्लींच्या 'वेदोक्ता'च्या खुळाखेरीज दुसरे हजारे मार्ग आहेत. परंतु ज्ञातिमूलक खोख्या अभिमानानें आणि अवदशेच्या फेऱ्याने आम्हांस इतके प्रासले आहे की, माझी मुंज लागताना अमुक मंत्र म्हटला नाही तर माझा व माझ्या देशाचा सर्वस्वी घात झाला असें मानण्यापर्यंत मजल येऊन ठेपली आहे. आपल्या थोर वाडवडिलानां किंवा कुलप्रवर्तकानी स्थापलेली व मान्य केलेली व तेथपासून आतापर्यंत अव्याहत चालत आलेली परंपरा किंवा तत्काली निर्णित झालेली गोष्ट ही पुनः उकरून काढून निवळ वाद वाढविणें व त्यातच भूषण मानणें या पलीकडे आम्हांस काही उद्योग राहिला नाही; व सुधारणा काय ती हीच आहे व मराठे ज्ञातीचें खरें हित यातच आहे असे उद्गार काहीं ठिकाणीं निघू लागले आहेत. पूर्वपरंपरा, इतिहास व निर्णय लक्षात आणता हे सर्व विचार अवनतीचे आणि अत्रिचागीपणाचे आहेत असे कोणाच्याही सहज लक्षात येईल. श्रीशिवाजी-महाराजांच्या वेळच्या मराठे लोकांच्या हल्लींच्या वंशजानीं अर्शा काय थोर कृत्ये केली आहेत किंवा पुरावा मिळविला आहे की, त्यामुळे श्रीशिवाजीमहाराजास संतोषाने जे ज्ञातिधर्मासबंधी अधिकार देण्यात आले त्यापेक्षा अधिक अधिकार हल्लींच्या पुरुषास महाराष्ट्रीयानीं देण्यास कबूल व्हावे ? हल्लीचा मनु फिरला आहे आणि परधर्मी सार्वभौम छत्राखाली एवढेच चार करणें आमच्या हातात राहिलें आहे, असल्या समजुतीवरच जर ही चळवळ चालली असेल तर त्याचा विचार निराळा केला पाहिजे; आजच्या लेखान परंपरा कशी आहे हे सागून हल्लीची चळवळ पूर्व निर्णयाशी किती विसंगत व विरुद्ध आहे एवढे दाखविले आहे. बाकीच्या गोष्टींचा विचार स्थलसंकोचास्तव पुढील खेपेवर टाकणें भाग आहे.

*मराठे आणि वेदोक्त कर्म

नं. २

गेल्या खेपेस श्रीशिवाजीमहाराजांच्या वेळीं या प्रश्नाचा कसा काय निकाल झाला याचे दिग्दर्शन केले आहे. महाराजास राज्याभिषेक वेदोक्तमंत्राने झाला व तदंगभूत व्रतबंधही तसाच करण्यात आला अशाबद्दल इतिहासात उल्लेख आहे; पण त्याच्या घरचे सर्व संस्कार वेदोक्त होत असत अशाबद्दल कोठेंही पुरावा नाही. उलट सातारच्या महाराजांच्या घराण्यात जी परंपरा चालू आहे, व जी मध्यंतरां विच्छिन्न झाली होती असे म्हणण्यास पुरावा नाही, तिजवरून

पाहतां भोंसले कुळांतील गृह्यसंस्कार पुराणोक्तच होत असत असें दिसून येतें. आणि असें जर आहे तर श्रीशिवाजीमहाराजांच्या जातकुळीपेक्षां ज्यांची जात-कुळी अधिक श्रेष्ठ नाहीं त्यांनीं वेदोक्ताचें खूळ माजवून लोकांच्या शांततेचा व हक्काचा विनाकारण भंग करावा, आणि सुशिक्षित संस्थानिकांनीं हे प्रकार आपल्या संस्थानांत घडूं द्यावे, किंबहुना त्यांस उत्तेजन द्यावें हें आमच्या मते अगदीं गैरशिस्त होय. वेदोक्त मंत्रसंस्काराचे वेळीं म्हटल्यानें कोणत्याही जातीस अधिक श्रेष्ठपणा येतो किंवा संस्कार अधिक शास्त्रोक्त होतो अशी जर कोणाची समजूत असेल तर ती चुकीची आहे. कारण, ब्राह्मण जातींतदेखील स्त्रियांचे संस्कार, व्रते, पूजा वगैरे पुराणोक्तच होतात. पण तेवढ्याकरितां ब्राह्मणांच्या सर्व स्त्रिया शूद्रजातीच्या आहेत असें कोणी समजत नाहीं. सोळा संस्कारांत ज्या निरनिराळ्या क्रिया आहेत त्या चालविताना वेदोक्त मंत्र म्हणण्याची आवश्यकताच आहे असें नाहीं; व ब्राह्मण जातींतील संस्कार करते वेळीं जे वेदोक्त मंत्र म्हणतात त्याचाही विनियोग अर्थावरून न करतां पुष्कळ वेळां शब्दसादर्यावरूनच केलेला असतो. अशा विनियोगास विनियोग असें म्हणतात; व वैदिक मंत्राचे अशातऱ्हेचे विनियोग केल्यामुळेच आज हजारों वर्षे वेदाचें रक्षण झालें. असा आमच्याकडील व पश्चिमेकडील विद्वानांचा सिद्धान्त झाला आहे. गर्भाधानापासून अंत्येष्टीपर्यंत शास्त्रगत्या संस्कार होणें हें जितकें अवश्य तितकेंच ते वैदिक-मंत्रानें झाले पाहिजेत हें अवश्य नाहीं; आणि वैदिकमंत्रांनीं संस्कार झाले म्हणजे मराठे व ब्राह्मण एक जातीचे होतील अशी जर कोणाची कल्पना असेल तर तीही निर्मूल आहे. ब्राह्मण जातींतील स्त्रियांस वेदोक्तमंत्र म्हणण्याचा अधिकार नसतांही त्या जातीनें ब्राह्मण आहेत; आणि मराठे लोकांनीं वेदोक्त मंत्र म्हटलें तरी ते मराठेच राहातील हे लक्षांत ठेविलें पाहिजे. दुसरी लक्षांत ठेवण्यासारखी गोष्ट अशी कीं, मराठे लोकांस आपण खरे क्षत्रिय असें जर वाटत असेल तर आपलें क्षात्रतेज व्यक्त करण्यास वेदोक्त मंत्रानें श्रावणी करणे हा कांहीं खरा मार्ग नव्हे. ज्या लोकांच्या पूर्वजांनीं गेल्या शतकांत मुसलमानी राज्याची लाट भागें हटवून हिंदुधर्माचे पुनरुज्जीवन केलें ते जातीनें अस्सल क्षत्रिय असात वा नसोत त्यांची योग्यता स्नानसध्या करून धर्म राखणाऱ्या ब्राह्मणांपेक्षां कोणत्याही रीतीनें कमी आहे असें आम्ही मानीत नाहीं. हें मत आज आम्ही नव्याने सांगतो असें नाहीं. विश्वगुणदर्शांत कृशानूनें महाराष्ट्रांतील ब्राह्मणांस “ उपनयनविवाहौ उत्सवैकप्रधानौ ” म्हणजे ते लग्न-मुंजी उत्सव म्हणून करतात, शास्त्रोक्त म्हणून करीत नाहींत, असा दोष दिला असता “ चमू नियमनेन वा जनपदाधिकारेण वा । द्विजव्रज उपव्रजन् प्रभुपदं महाराष्ट्रजः ॥ न वृत्तिमिह पालयेद्यदि धरासुराणां ततो । भवेद्यवनवेष्टितं भुवनमेतद्ब्राह्मणम् ॥ ” असा विश्वावसूनें त्याचा परिहार केला आहे; आणि हाच न्याय मराठे लोकांसही पूर्णपणें लागू आहे. त्यांच्या घरच्या क्रिया वेदोक्त झाल्यानें त्यांस विशेष महती प्राप्त होईल असें मानणें अगदीं चुकीचें आहे. ‘ क्षतात्किल त्रायत इत्युदमः ’ क्षत्रस्य शब्दो भुव-

नेषु रूढः ॥ ' अशी क्षत्रिय शब्दाची कालिदासाने व्याख्या केली आहे. परंतु हल्लींचा काल असा आला आहे की, क्षत्रियाने देखील क्षतास मलमपट्टी लावूनच आपले कर्तव्य उरकले पाहिजे. अशा स्थितीत आपले संस्कार वेदोक्त करण्यास झटण्यापेक्षा खऱ्या क्षात्रधर्मास उचित वर्तन ठेवणे हे खऱ्या क्षत्रियाचे किंबहुना ब्राह्मणाचेही कर्तव्य आहे, हे आम्ही सांगावयास नको. देशाला अनेक प्रकारची जी अनेक क्षते पडली आहेत ती भरून काढण्याची महाराष्ट्रातील मराठे व ब्राह्मण यांनी ईर्ष्या बाळगिली पाहिजे, व परवा करून सिलीसाहेबाना मराठ्यांस कोल्हापूर येथे जो उपदेश केला तोही अशाच प्रकारचा आहे. तिकडे लक्ष न देता व श्रीशिवाजीमहाराजांच्या काली जो निर्णय झाला त्यासही न जुमानता काही उच्छृंखल मराठे लोकांनी नवीन खुळे काढावी आणि न्यास मराठे संस्थानिकानी उत्तेजन द्यावे हे अत्यंत शोचनीय होय. यात देशहिताचा बिलकूल संबंध नसून उलट जातीतील सलोखा मात्र मोडला जाणार आहे. काही मराठे मंडळींनी इट्टाने जरी वेदोक्त क्रिया केली तरी सामाजिक किंवा राष्ट्रीयदृष्ट्या त्यापासून त्यास काही फायदा नाही. कारण, हल्लीं कित्येक युरोपियन लोकही जर वेदपठण करतात तर त्याप्रमाणेच वेदोक्त कर्म करणाऱ्या मराठ्यांची स्थिति होईल. यात काही भूषण नाही, बहुमान नाही आणि देशकार्यही नाही. महाराष्ट्रात मराठे लोकांस जो मान आहे तो त्यांच्या वाडवाडिलांच्या शौर्यामुळे त्यास प्राप्त झालेला आहे व तशाप्रकारचे शौर्य, धाडस व देशाभिमान हे गुण जोपर्यंत त्यांच्यामध्ये जागृत राहतील तोपर्यंत त्यांचा मान कधीही कमी व्हावयाचा नाही. वेदोक्त कर्म करणारे ब्राह्मण पाणी भरतात आणि पुराणोक्त कर्म करणारे मराठे राजवदाचा अनुभव घेतात हे जर आम्ही डोळ्याने पाहात आहो, तर वेदोक्त मंत्रानीच आपले संस्कार झाले पाहिजेत असा मराठ्यांनी आग्रह धरणे चुकीचे नव्हे काय? संस्काराच्या वेळी वैदिक मंत्र म्हणणे हे आज हजारों वर्षे चालत आलेल्या वहिवाटीने एका विशिष्ट जातीतील पुरुषांचे (स्त्रियांचे नव्हे) लक्षण झाले आहे; परंतु जातीजातीस जो काही मान आहे तो या लक्षणावर नसून त्या त्या जातीत कार्यकर्ते पुरुष ज्या प्रमाणावर निपजतात त्या प्रमाणावर आहे ही गोष्ट इतिहासावरून सिद्ध होत आहे. असे असता केवळ अज्ञानाने किंवा मत्सराने एका जातीने दुसऱ्या जातीच्या विशिष्ट लक्षणाचा अंगीकार करण्याचा प्रयत्न करावा व त्यास शहाण्या माणसानी उत्तेजन द्यावे हे बरोबर नाही.

परंतु कित्येकांचे असे म्हणणे पडेल की, हल्लींचा मनु पालटलेला असल्यामुळे पाहिजे त्यास पाहिजे ते करण्याची मुभा आहे, मात्र पिनलकोडाप्रमाणे तो गुन्हा नसला म्हणजे झाले; आणि हे तत्त्व लक्षात आणले म्हणजे साहेब लोकांस जर वेद म्हणण्याची किंवा शिकण्याची मुभा आहे तर हिंदुधर्मातील ब्राह्मणांखेरीज इतर जातींस ती अवश्य असली पाहिजे. हल्लींचा काल व्यक्ति-

स्वातंत्र्याचा आहे. ही गोष्ट खरी आहे; युरोपियन लोक वेदांचें पठण करीत असतां जर त्यास आमच्यानें मनाईं करवत नाहीं तर मराठ्यांस तरी का करावी हे म्हणणें प्रथमतः बरेच सयुक्तिक असतें. परंतु या प्रश्नाचा विचार करते वेळीं हा वेदपठनाचा प्रश्न नाही. वेदोक्तसंस्कार करण्याचा प्रश्न आहे हें लक्षात ठेवलें पाहिजे. कोणाही युरोपियनाचे ब्राह्मणार्नी वेदोक्त संस्कार केलेले नाहीत, व व्यक्तिस्वातंत्र्याचेंच मत घेतले तर कोणाही ब्राह्मणास अशा प्रकारें मराठ्यांचे वेदोक्त संस्कार करण्यास लावणे किंवा तो न करील तर त्याची जहागीर जप्त करणें हें अयोग्यच नव्हे तर अन्यायाचे होईल. समाजामध्ये आज शेंकडों वर्षें ज्या रीतीभाती चालत आलेल्या आहेत व विशेषकरून ज्या रीतीभातींचा धर्माशी संबंध आहे त्यांत फेर-बद्दल करणें तो जुलमानें न करता खुशीने केला पाहिजे, हें तत्त्व सार्वभौम इंग्रजसरकारनें कबूल केलेले आहे; व याच तत्त्वास अनुसरून हिंदुस्थानातील माडलिक संस्थानिकांनींही आपलें वर्तन ठेविलें पाहिजे. राजाला जो अधिकार आहे तो समाजाची घडी मोडून समाजात असंतोष उत्पन्न करण्याकरिता नव्हे; व या अधिकाराचा जर एखाद्या संस्थानिकाकडून दुरुपयोग होईल तर त्याची दाद घेणें सार्वभौम सरकारास भाग पडेल. संस्थानातील प्रजेमध्ये ज्ञातीज्ञातांतील तंटे संस्थानच्या अधिपतीच्या प्रोत्साहनाने अधिक विकोपास जाऊं नयेत अशाबद्दल खबरदारी घेणे हे इंग्रजसरकारचे कर्तव्य आहे. मराठेशाहींत किंवा ब्राह्मणी राज्यात जर असे प्रकार घडले असते तर राजा आणि प्रजा यांच्यामध्ये किंवा ज्ञातीज्ञातींमध्ये तंटे माजून अखेरीस दंगेधोपे होण्यापर्यंतही मजल आली असती. हल्ली इंग्रजसरकारच्या अमलाखाली तशी गोष्ट होणे शक्य नाही; पण त्याबरोबरच असा बंदोबस्त आहे की, पूर्वापार धार्मिक वहिवाटींत कोणीही विनाकारण बळजबरी करून विवाड करूं नये. या तत्त्वाप्रमाणे पाहिलें असता असें दिसून येईल की, मराठे लोकांच्या घरी ब्राह्मण वेदोक्त कर्म करीत नाहीत म्हणून त्यांचीं इनामें किंवा जहागीरी जप्त करण्याचा जो कित्येक ठिकाणीं धाक दाखविण्यात आला आहे तो अन्यायाचा व संस्थानास अपायकारक आहे. तसेंच ठिकठिकाणच्या देवळांतील, मठातील वगैरे पूजा अर्चा चालविण्याचे अधिकार किंवा कोणत्याही मराठी संस्थानिकाकडे धर्मकर्म करण्याचे अधिकार ज्याकडे आहेत ते वहिवाटीप्रमाणें हे अधिकार चालविण्यास जोपर्यंत तयार आहेत तोपर्यंत त्यांचीं वर्तनें, किंवा जहागीरी काढून घेणें हेही जुलमाचें व अन्यायाचें आहे. फार लांब कशाला ! महाराष्ट्रात इंग्रज सरकारचें राज्य झाल्यावर गांवोगांव जें सेंटलमेट झाले तेव्हा देशपाडेपणाची किंवा जोशीपणाचीं वर्तनें होती तीं सदर वतनदारांची सरकारास जरूर नसताही त्याकडे चालविण्यांत आलीं. धर्मसंबंधीं देणग्यांस व वतनास हाच न्याय लागू आहे. मराठे संस्थानिकास जर पुराणोक्त कर्में करणार ब्राह्मण उपाध्ये नको असतील तर त्यास त्यांनीं बोलावूं नये; पण तेवढ्याकरितां सदर उपाध्ये जोपर्यंत वहिवाटीप्रमाणें कर्में कर-

प्यास तयार आहेत तोंपर्यंत त्यांचें वेतन बंद करतां यावयाचें नाहीं. सार्व-जनिक देवळें, धर्ममंदिरें, मठ वगैरेसंबंधानें हीच व्यवस्था अथवा तत्त्व लागू आहे. या ठिकाणच्या पूजाअर्चा बदलण्याचा कोणाही संस्थानिकास अधिकार नाहीं. व हल्लींच्या पालटलेल्या मनुंतील व्यक्तिस्वातंत्र्याचें तत्त्व घेतलें तरीही हल्लीं कांही ठिकाणीं जे प्रकार होत आहेत ते न्यायदृष्ट्या कधीं योग्य ठरणार नाहींत. आमच्या संस्थानिकास हें तत्त्व सागण्याची आज आम्हावर पाळी यावी ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट आहे. हिंदु संस्थानातील हिंदु ज्ञातीज्ञातीमधील तंटे हिंदु राजास तिऱ्हाइतपणें तोडता येऊं नयेत हे मोठें लाजिरवाणें होय; व या कामीं लोकांस सार्वभौम सरकारची मदत घ्यावी लागली तर आमचे राजे सुधारलेल्या पद्धतीनें राज्य चालविण्यास अद्याप पात्र झाले नाहींत याबद्दल दुसरा पुरावा शोधण्याची कांहीं जरूर राहाणार नाहीं. तरी या सर्व गोष्टींचा विचार करून मराठे सस्थानिक आपलें वर्तन सोडतील अशी आम्हास उमेद आहे. महाराष्ट्रांत मराठे लोकांचा मान कमी आहे असें नाहीं, व तो वेदोक्त कर्म केल्यानें जास्त वाढेल असेंही नाहीं. तेव्हा विनाकारण खोऱ्या अभिमानास पडून मराठे संस्थानिकांनीं राजा या नात्यानें तिऱ्हाइतपणाचा जो त्याजकडे अधिकार आहे तो अविचारीपणाने घालवूं नये एवढीच त्यास आमची विनंति आहे. बाकी मराठे लोकांस वेदोक्त कर्म करणे असल्यास त्यांनीं तें खुशाल करावे, त्याचा हात धरणारा या कालात कोणी राहिला नाहीं; पण अमक्या ब्राह्मणांनीच तें आमच्या घरीं केलें पाहिजे असा आग्रह मात्र त्यास धरता येणार नाहीं, किंवा देवाल्यें किंवा देवस्थाने यांची पूर्वापार चालत आलेली वहिवाट मोडता यावयाची नाहीं. हल्लींच्या व्यक्तिस्वातंत्र्याच्या दृष्टीनें हा विचार झाला. इतिहासाच्या दृष्टीनें काय निर्णय झालेला आहे तो पूर्वीच सांगितलेला आहे. तेव्हा या सर्व गोष्टी लक्षात घेऊन जर आमचे सस्थानिक चालतील तर या संबधानें जास्त लिहिण्याची कांहीं आवश्यकता पडणार नाहीं. निरनिराळ्या ज्ञातींतील लोकांचा सलोखा कसा व्हावा हें आम्हास पाहाणें आहे; व तशा दृष्टीनेंच या विषयावरील लेख आम्हीं लिहिले आहेत.

*रा० टिळक यांचें नागपूर येथील व्याख्यान

भगवद्गीता हा आपल्या आर्यांचा नित्यपाठांत असणारा प्राचीन ग्रन्थ आहे, व आज हजारो वर्षे आपलें या ग्रन्थावरचें प्रेम कायमचें दृढ आहे. भगवद्गीतेत वेदान्त सांगितला आहे, त्यात मोक्षप्राप्तीचा उपाय दिला आहे, इत्यादि या ग्रन्थाबद्दल बरीच मते प्रचलित आहेत; परंतु आजचें माझे विवेचन तद्विषयक नसून

मनाला व्यामोह होऊन कर्तव्याची दिङ्मूढता आली असताना आणि अन्तःकरण अस्वस्थ झालें असतां धर्मबुद्धि जागृत ठेऊन कर्तव्याची योग्य दिशा दाखवणारा ग्रंथ जगाच्या वाङ्मयात भगवद्गीता हाच एक होय, हे प्रतिपादन मी करणार आहे. गीतेचा अर्थ अनेक टीककारांनी आपल्या मताच्या पुष्टीकरणास योग्य असा केलेला आहे. त्याबद्दलची संगती आज लावावयाची नसून अर्वाचीन अध्ययनपद्धतीस अनुसरून गीता वाचल्यास जे चार विचार सुचतात त्यांचे मला थोडेसे दिग्दर्शन करावयाचे आहे. ग्रंथ कशासाठी लिहिला, त्यातलें प्रमेय कोणते, फल काय, निरनिराळ्या भागांची संगति कशी आहे, आणि हा ग्रंथ लिहिण्यात कर्त्याचा हेतु काय, इत्यादि गोष्टी आजकालच्या अध्ययन पद्धतीत महत्त्वाच्या समजतात. ही पद्धति आजकालच्या इंग्रजी शिक्षणामुळे आलेली नव्हे; आमच्या मीमांसकास ही पूर्वीच ठाऊक होती आणि ग्रंथाची एकवाक्यता कशी करावयाची हें त्यांना चांगल्या तऱ्हेने अवगत होतें. “उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासो पूर्वता फलं । अर्थवादोपपत्तीच लिंगं तात्पर्यं निर्णये ॥ ” या श्लोकावरून आमची ग्रंथाध्ययनाची जुनी रीत ध्यानात येण्याजोगी आहे. भारती युद्धाच्या वेळीं विषादग्रस्त झालेल्या अर्जुनास संदेह पडला की, लढाईत जयश्री प्राप्त होण्यास आपल्या आत्तावर हात टाकला पाहिजे व वडिलाचा उपमर्द केला पाहिजे, अथवा क्षत्रियधर्म सोडून देऊन युद्धापासून तरी पराङ्मुख झालें पाहिजे. साराश, दोन कर्तव्यापैकी कोणतें तरी सोडून दिलें पाहिजे. तें कोणते सोडावें अथवा हीं दोन परस्परविरुद्ध कर्तव्ये कशीं पाळावीं ह्याबद्दल भ्रात झाल्यामुळे त्याने श्रीकृष्णास यांतून तरण्याचा उपाय विचारला आहे. आत्ताच्या रक्ताने विटाळलेली राज्यश्री घेऊं कीं युद्ध सोडून वनात जाऊं, हा अर्जुनाचा प्रश्न होता. हा भगवद्गीतेचा उपक्रम झाला; आणि “नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत । स्थितोस्मि गत संदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ” हा गीतेचा उपसंहार झाला. हे दोन विंदु सांपडले, की गणित शास्त्राच्या नियमप्रमाणें मधली सरळ रेषा काढण्यास प्रयास पडत नाही. अर्जुनास आपलें कर्तव्य कोणतें याबद्दल व्यामोह उत्पन्न झाला होता; तो व्यामोह श्रीकृष्णानें गीतेंतल्या उपदेशानें नाहीसा केला. कोणत्या मार्गानें जाणे ठीक, कोणत्या मार्गानें गेले असतां वाईट, याबद्दल व्यामोह आपणांलाही आयुष्यात अनेक वेळा होतो; आणि अशा वेळीं त्यांतून आपली निवृत्ति व्हावयास भगवद्गीता हेंच उत्तम साधन होय. ह्या कार्याकार्यविचारणेचे निर्णायक नीतिशास्त्रांत (Ethics) सांपडतें, आणि भगवद्गीतेत पूर्वीच्या हिंदूशास्त्रास धरून केलेले नीतिसंबंधाचे सिद्धांत आहेत. सध्या देखील आपल्या कर्तव्याची दिशा खुंटलेली आहे. कोणच्या गोष्टींत पुण्य आहे, कोणत्यांत पाप आहे, कोणती गोष्ट न्याय्य आहे व कोणती अन्यायाची आहे, याचा निर्णय करण्याचें काम नीतिशास्त्राचें आहे. वडिलाविषयीं पूज्यभाव ठेवण्याचें एक व क्षत्रिय म्हणून धर्मयुद्धापासून पराङ्मुख न होणें हें दुसरें, अशा या दोन कर्तव्यापैकी कोणतें करावें, या अर्जुनाच्या प्रश्नास जर

श्रीकृष्णानीं समाजाला पुष्कळ हितकारक गोष्ट ती चांगली, तदितर वाईट ह्या उपयुक्ता (utility) तत्त्वास अनुसरून उपदेश केला असला तर तो अर्जुनास कितपत प्राह्य झाला असता याबद्दल बराच संशय आहे. बेन्धाम—मिळप्रभृतींचीं नीतितत्त्वे धर्मापासून स्वतंत्र अशीं आहेत; परंतु हिंदूंची नीति धर्माशीं एकरूप झालेली आहे. आत्म्याची मोक्षप्राप्ति हे प्रत्येक हिंदूचे अदिकर्तव्य आहे; इतर कर्तव्ये मोक्षानुकूल हवीं, प्रतिकूल नकोत. आमच्या आर्यांच्या पूर्वापार परंपरेस अनुसरून जेथे वेदान्त, योग, कर्ममार्ग आदिकरून लोकमान्य शास्त्रें जीवाच्या निरतर कल्याणाकडे लक्ष पुरवितात, तेथे नीतिशास्त्राचा पाया नुसत्या संख्येवर माडणे हें मुळीच नापसंत आहे. नीतीने न्यायाने वागणारे लोक अल्पप्रमाणात आणि अन्यायाने व अनीतीने वागणारे लोक पुष्कळ प्रमाणात सापडत नाहीत की काय ! आणि आम्हीं लोकांचे कल्याण तरी का म्हणून करावें ? हा प्रश्न लागलीच उद्भवतो. दुसऱ्या कित्येकांचें असे मत आहे की, हा प्रश्न स्वतःसिद्ध मनोधर्माचा (Moral Intention) चा आहे. “सताहि संदेहपदेपु वस्तुपु प्रमाणमंतःकरण प्रवृत्तयः” हे खरें; पण हें कर्तव्यदर्शक साधन फारच ठोकळ असे आहे. कारण कोणाची वृत्ति सात्त्विक व कोणाची गैर सात्त्विक हें समजणे फार कठीण काम आहे. आता कोणी सुखाकडे बोट दाखवून सुखाचा मार्ग स्वीकारावा असें म्हणतील आणि उपयुक्तता व सुख याची सांगड बांधून पुष्कळ माणसांचे पुष्कळसें हित होईल ते कर्म उत्तम असें मत देतील. परंतु ह्या सुखवादात (Hedonism) सर्वांचा मेळ जमावयाचा नाही त्या तीन्हीपेक्षा श्रेष्ठ असे जर काही तत्व असेल तर ते गीतेत सांगितले आहे आणि तें मोक्षास धरून आहे. ज्ञान, कर्म, योग आणि भक्ति या चारोंचाही गीतेत समावेश केलेला आहे. परंतु तो परस्पर तुलनेसाठी किंवा एकवाक्यतेसाठी नाही. या चारी मार्गांत सांगितलेल्या तत्त्वाचा गीतेतल्या नीतितत्त्वाशी मेळ आहे व ते तत्व चारी मार्गांनी निरूपित करून शेवटीं ग्रन्थांत त्याचा पुनरुच्चार केला आहे. आमचा सिद्धांत पाश्चात्य सिद्धांताहून फारच श्रेष्ठ आहे. संसार मोक्षप्राप्तीस विघातक नाही. मनुष्यानें जिवंत असणें म्हणजेच कर्म करणे आहे. मेल्याशिवाय कर्माचा त्याग व्हावयाचा नाही. जिवंत असणें व कर्म करणें हें समानार्थक आहे, कर्म व जीवित हे पर्याय शब्द आहेत; असें श्रीकृष्णानीं गीतेत स्पष्ट सांगितले आहे. परंतु वेदान्तात कर्मास प्राधान्य नसल्यानें अर्जुनास मोह पडून त्यानें भगवंतास असे विचारलें कीं, एकदा कर्मत्यागाशिवाय मोक्ष नाही असें सांगता आणि एकदा कर्म करणें हें अवश्यच आहे असे म्हणतां तेव्हा त्यातलें खरें ते कोणतें ? त्यावर कर्म केलें की त्याचा परिणाम भोगावा लागणारच, पण कर्म करणें मनुष्याचें काम आहे. जगाच्या घडामोडीत काही कार्य व्हावें म्हणूनच मनुष्याला घडविलें आहे. तथापि कर्मानें जीव बद्ध होतो आणि त्यापासून अलित राहिल्याशिवाय जीवाला मोक्ष मिळावयाचा नाही.” असें श्रीकृष्णानीं उत्तर दिले. कर्म-

त्यागाखेरीज मोक्षप्राप्ति नाही या सागण्यावरून अर्जुनाला पुन्हा शंका उत्पन्न झाली व त्याला श्रीकृष्णानीं उत्तर दिलें कीं, कर्म बद्ध करित नाही, फलाशा ही जीवाला बद्ध करिते. फलाशा सोडून कर्म केल्यास मोक्षप्राप्ति होते. फलाशेला भिऊन कर्म-त्याग करणें हा भिऱ्याचा मोक्ष आहे. रानांत जाऊन बसण्यांत फारसा पुरुषार्थ नाही. आपणांस मोह संसारात पाडील म्हणून ह्याच्यासमोर न जाणें हा भित्रेपणाचा मार्ग होय. जगात राहून 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' या तत्वा-प्रमाणें फलाशा सोडून कालसदी न भिता जो धीरानें कर्म आचरतो तोच खरा धीर पुरुष होय. मोहाशीं सामना देऊन त्याचा पाडाव करण्यात खरा पुरुषार्थ आहे. कर्म हें कधीं वाया जाणारे नाही, आज, उद्या केव्हा तरी त्याचे फळ हें मिळणारच. कर्मांचें फळ काळ, वेळ व परिस्थिति इत्यादिकावर अवलंबून असतें. तथापि ज्याला फलाशा नाही त्याला निराशाही होण्याची भीति नको. मग कर्तव्य म्हणूनच मनुष्य कार्य करूं लागतो. निहंतुक कार्य करावयास प्रवृत्त असणें हेंच गीतेंतील मुख्य सार आहे. कार्याचा परिणाम बरा होवो अगर वाईट होवो, तें आनंदांनं व सुखसमाधानानें करावयास सांगणारा धर्मग्रन्थ जगाच्या वाङ्-मयांत भगवद्गीता हाच एक आहे. स्वतःचे किंवा परक्याचे हिताहित करण्याची बुद्धि काढून टाकणें हेंच फलाशा सोडून देणें आहे. निहंतुक क्रिया कधींच पाप-मय होऊं शकत नाही. पापाला हेतू (Intention) हा महत्त्वाचा भाग आहे. निहंतुक गुन्हाच घडू शकत नाही. "येनैवालिंगिता काता तेनैवालिंगिता सुता" यातील आलिंगनक्रिया एकच असली तरी हेतू निरनिराळे असल्यामुळें त्यांना भिन्नपणा आला आहे. धैर्य खचलें असता धीर देणे, कर्तव्याची जागृति करणें, आणि आपली सारी कर्मे ईश्वरास अर्पण करणें हें गीतेंत सांगितले आहे. येथे पुष्कळ विद्यार्थी जमले आहेत त्यांना तरी माझे सांगणे हेंच आहे. गीतेचे आस्थापूर्वक परिशलिन करून आपलें मन आतांपासून उदात्त करा, आणि नीतीची तत्त्वे उज्वलित करून पुढल्या प्रमंगाची तयारी आतापासून असू द्या, गीतेंत सांगितलेले अहेतुक काम करावयास मनात सात्त्विक वृत्तींचा उदय झाला पाहिजे, परमेश्वरावावर दृढभक्ति जडली पाहिजे, आणि आपणांस करावयाचें काम ईश्वरानें अगोदरच नेमून ठेवलें आहे असा भरवंसा असला पाहिजे, आणि म्हणूनच गीतेंत, "मामनुस्मर युद्ध च" असा उल्लेख केलेला आहे. अर्जुनाला आलेला प्रसंग आपणा सर्वांस आलेला आहे किंवा यावयाचा आहे. तारुण्याची तरतरी व जोम आहे तोंपर्यंत सर्व ठीक आहे. परंतु संसारात पडून अडचणी उभ्या राहिल्यावर मनाची होणारी चलबिचल भगवद्गीतेंतल्या उपदेशामृतानें नाहीशी होईल व मला उमेद आहे कीं, केव्हांना केव्हां तरी श्रीकृष्णाप्रमाणें उप-देश करणारा आम्हांस भेटून, "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा इ." असें म्हणून आम्ही आपल्या हल्लींच्या स्थितींत आपलें कर्तव्य करण्यास सिद्ध होऊं."

*श्रीस्वामी विवेकानंद हे समाधिस्थ झाले !

श्रीमत् स्वामी विवेकानंद स्वामी हे कलकत्यास गेल्या शुक्रवारी आपल्या बेलूर मठात समाधिस्थ झाल्याची बातमी ऐकून हिंदुधर्माविषयी कळकळ बाळगणाऱ्या हजारों हिंदूस वाईट वाटल्यावाचून राहणार नाही. श्रीमत् विवेकानंद स्वामी यांचे नाव ज्यास माहीत नाही असा हिंदु कचित्च सापडेल. एकोणिसावें शतक म्हणजे आधिभौतिक शास्त्राच्या उत्कर्षाचे उच्च स्थान मानलें आहे. अशा प्रकारच्या शतकाच्या उत्तरार्धात हजारों वर्षांपूर्वी हिंदुस्थानात प्रचलित असलेले आध्यात्मिक शास्त्र पश्चिमेकडील राष्ट्रातील विद्वानांस समजून सागून त्याच्याकडून सदर शास्त्राच्या अपूर्वतेबद्दल मान्यता मिळविणे आणि ज्या राष्ट्रात अशा प्रकारचे शास्त्र निर्माण झाले, त्यातील लोकाबद्दल सहानुभूति उत्पन्न करणे, हे कांहीं लहान सहान काम नव्हे. पश्चिमात्य आधिभौतिक शास्त्राचा ओघ इंग्रजी विद्येबरोबर इतक्या कांहीं झपाट्याने येत होता की, तो परतून लावण्यास असामान्य धैर्याचा व बुद्धिचा पुरुष उत्पन्न होणे जरूर होतें. थिऑसॉफिकल सोसायटीने हे काम स्वामी विवेकानंदाच्या पूर्वी सुरू केलें होतें, पण त्याच्या उद्योगास अस्सल हिंदुत्वाचे स्वरूप स्वामी विवेकानंद यानींच प्रथम आणिले, ही गोष्ट निर्विवाद आहे. अलीकडे आमच्या देशातील शाळातून जे शिक्षण मिळते ते निवळ तार्कीक असल्यामुळे धर्मविचाराची विद्यार्थ्यांच्या मनात जागृति न होता उलट स्वधर्माचीच नव्हे तर, धर्ममात्राचीही टवाळी करण्यास ते प्रवृत्त होतात. स्वामी विवेकानंद याची लहानपणची वृत्ति अशाच प्रकारची होती. हे मूळचे बंगालचे राहणारे असून हल्ली यांचे वय सुमारे ३५।४० वर्षांचे असावें. म्हणजे त्यास जे शिक्षण मिळाले तें सुमारे २० वर्षांच्या पूर्वीचें होतें; व एवढ्यावरून ते कसे होते याची वाचकास सहज कल्पना करता येईल. कारण, कलकत्याच्या इंग्रजी शाळा आणि मुंबईपुण्याच्या इंग्रजी शाळा बहुतेक सारख्याच प्रकारच्या आहेत, असे म्हटलें तरी चालेल. स्वामीचे पूर्वाश्रमींचे नाव नरेद्रसेन असून हे जातीने क्षत्रिय होते, व अशी गोष्ट सांगतात की, लहानपणांचे एका जोशाने यांची पत्रिका पाहून “हा मुलगा कधीही गृहस्थाश्रम घेणार नाही.” असे त्याच्या आईस कळविले होतें. असो; आपल्या वयाच्या १८।१९ व्या वर्षी हे कलकत्ता युनिव्हर्सिटीची बी. ए. ची परीक्षा पास झाले. व तेव्हापासूनच त्यांस तत्त्वज्ञानाचा नाद होता. पहिल्या पाहिल्याने यांची प्रवृत्ति नास्तिक मताकडे असे व पुष्कळ धर्मगुरूंशी वाद-विवाद करताना “तुम्ही आपला देव तरी प्रत्यक्ष पाहिला आहे काय?” असा प्रश्न विचारून हे त्यास कुंठीत करीत असत. पण श्रीमत् स्वामी रामकृष्ण परमहंस याची गाठ पडल्या दिवसापासून यांच्या बुद्धीत फरक झाला. आणि ते सदर स्वामीचे अखेर पट्टशिष्य होऊन संन्यासी बनले. श्रीमन् रामकृष्ण परमहंस यांचे चरित्र सुप्रसिद्ध

असून इंग्रजांत प्रो. मॅक्समुलर यांनीं तें लिहून काढलें आहे. श्रीमत् रामकृष्ण हे १८८६ सालीं समाधिस्थ झाले. तेव्हां त्यांचे पश्चात् त्यांच्या अद्वैत मतांचा प्रसार करण्याचे काम त्यांच्या शिष्यशाखेने पत्करलें. व त्यात विवेकानंदही सामील होऊन त्यांनी अमेरिकेंतील लोकांसही अद्वैत सिद्धाताची ओळख करून दिली. स्वामी विवेकानंद यांनीं प्रथमतः कांही वर्षे कोणास न कळत म्हणजे आपले स्वरूप प्रगट न करिता हिमालय पर्वतात सिद्ध लोकांस भेटण्यांस व हिंदुस्थानांतून प्रवास करण्यास घालविली. या अज्ञात प्रवासातच ते पुणे मुक्कामी सन १८९१। ९२ साली आले होते; व येथून महाबळेश्वरास जाऊन तेथून पुढें बेळगाव धारवाडहून मद्रास रामेश्वराकडे गेले. यास अमेरिकेंस पाठविण्याची कल्पना प्रथमतः मद्रासेत निघून तेथील लोकानीं त्यास साह्य केलें; व सन १८९३ साली शिकागो प्रदर्शनाचे वेळीं तेथे जी मोठी राष्ट्रीय धर्मपरिषद झाली त्यात हिंदुधर्माच्या अद्वैत ज्ञानाची पताका अग्रस्थानी नेऊन लावण्याचें सर्व श्रेय स्वामी विवेकानंद याजकडे आहे. धर्मपरिषद सपल्यानंतर अमेरिकेत एक दोन वर्षे राहून तेथें त्यांनी अद्वैत मताचा प्रसार केला व त्याचे मठ स्थापन करून तेथें शिष्यसंप्रदायही सुरू केला. अमेरिकाखंड म्हणजे आज सर्व शास्त्राचे माहेरघर होय. अशा देशात ख्रिस्ती धर्म गुरूच्या समक्ष अद्वैत सिद्धांताचे प्रतिपादन करून अद्वैत मत प्रचलित करणें हें काम सामान्य पुरुषाच्या हातून निभावणे शक्य नाही. स्वामी विवेकानंद यांचें असें मत असें की, हिंदुस्थानातील हिंदुलोकांस हिंदुत्व किंवा हिंदूधर्म हेच काय तें सामान्य बंधन आहे व या धर्मातील तत्त्वे इतकी श्रेष्ठ आहेत की, हिंदुस्थानातच काय पण दुसऱ्या कोणत्याही धर्माच्या लोकांत किंवा देशात १९ व्या शतकाच्या अखेरीसही त्याचा प्रसार करणें शक्य आहे; इतकेच नव्हे तर असा प्रसार करणें हें हिंदुलोकांचे कर्तव्य होय. हिंदु लोकांजवळ जर आता कांहीं अमोल वस्तू राहिली असली तर तो त्याचा धर्म होय. तो जर ते सोडतील तर ते आपणांस जगाच्या निदेस व उपहास्यतेस पात्र करून घेतील. हिंदुधर्म काय आहे तो पुरा ओळखा, त्याचीं तत्त्वे काय आहेत याचा अभ्यास करा, तीं शास्त्राच्या कसोटीस लावा आणि सर्व जगभर त्याचा प्रसार करून आपले व आपल्या देशाचे नाव चिरस्मरणीय करा, असे उद्गार त्यांच्या मुखातून अनेक वेळा निघाले आहेत. भक्ति हें धर्माचें मुख्य लक्षण खरें, पण अद्वैत ज्ञानाची त्यास जोड असल्याखेरीज धर्माचें स्वरूप लंगडे पडतें, असें त्यांचें म्हणणे होतें. परधर्माविषयीं ते जेव्हा बोलत तेव्हा याच तत्त्वावर कटाक्ष ठेऊन बोलत असत. ख्रिस्ती लोकांस तुम्ही ख्रिस्ती धर्म सोडून द्या, असा त्यांनीं कधीही उपदेश केला नाहीं. तुम्हीं ख्रिस्तास भजा, परंतु तुमच्या धर्मांत तत्त्वज्ञान नसल्यामुळें आमच्या हिंदूधर्मातील अद्वैत सिद्धांताची त्यास जोड देणे अवश्य आहे. किंबहुना तुमच्या धर्मगुरूंनीही तींच तत्त्वे स्पष्टपणें नाहीं तरी अस्पष्टपणें लक्षांत ठेवून आपापल्या धर्माची रचना केली आहे, असे ते सांगत असत. साराश, ज्ञानयोग, कर्मयोग किंवा राजयोग हे खऱ्या धर्माचे सार्वत्रिक

मार्ग असल्यामुळे कोणत्याही धर्माशी त्याचा विरोध नाही, इतकेंच नव्हे, तर सर्वांनी ते घेण्यासारखें असून हें ज्ञान पिढीजाद ज्यांस प्राप्त झालें आहे त्यांनी याचा प्रसार करणें हे त्यांचें कर्तव्य आहे, असा ते उपदेश करित असत. हिंदु-स्थानांतील लोकांची धर्मावद्दल हयगय पाहून त्याचे अंतःकरण तिळतिळ तुटत असे, व धर्माची उन्नती झाल्याखेरीज राष्ट्र वर यावयाचें नाही, असा त्याच्या मनाचा ग्रह झालेला होता; व त्याकरिता त्याची जिवापाड मेहनत चालू असे. अमेरिकेत शिष्यपरंपरा स्थापून व अद्वैत मताचा प्रसार करून ते इकडे आल्यावर प्रथमतः सिलोनमधून मद्रासत आले; व तेथून कलकत्यात व हिमालयात त्यांचा अलमोरा येथे मठ आहे तेथें गेले. या सफरीत त्याचा सर्वत्र जयजयकार होऊन त्यानी दिलेली व्याख्यानेंही कळकळीचीं आहेत. अमेरिकन लोकांच्या सहाय्यानेच त्यांनी कलकत्यास हुगळीच्या काठी बेलूरमठ स्थापन करून तेथे आपल्या मताप्रमाणें धर्मोपदेशक तयार करण्याची सोय केली आहे, व मठास जोडून रामकृष्ण परमहंस याचें समाधीमंदीर बांधलें आहे. अलमोरा येथे 'प्रबुद्ध-भारत' पत्र निघत असे ते याच्याच मित्रमंडळीकडून निघत असे, व १६।९७ सालच्या दुष्काळांत राजपुतान्यात रामकृष्ण परमहंस मिशनची मंडळी जाऊन खिस्ती धर्मोपदेशकाच्या हातात बरीच अनाथ मंडळी पडण्याचे यानी बंद केलें. धर्मोपदेशकाचा जितका भरणा असावा तितका शिष्यसंप्रदाय वाढला नसल्यामुळे हिंदुस्थानात सर्व ठिकाणीं आपले उपदेशक ठेवावे, अशी त्याची जी इच्छा होती ती सफल झाली नाही. तथापि कलकत्ता, अलमोरा, अजमीर. मद्रास वगैरे ठिकाणीं त्यांचे उपदेशक असत. व अमेरिकेतही एक दोन शिष्य राहत असत. १९०० सालीं पॅरिस येथें जें प्रदर्शन झालें त्यावेळीं सहा महिन्यात फ्रेंच भाषेचा अभ्यास करून स्वामी विवेकानंद यानी वेदात विषयावर तेथे व्याख्यान दिले होतें व त्यावद्दल त्याची तिकडच्या पत्तातून पुष्कळ प्रशंसा झाली होती. हल्लीं वर्षभर हे छातीच्या दुखण्याने अस्वस्थ होते, त्यामुळे जपानातून यास निमंत्रण आलें असताही तिकडे जाण्यास त्यास फावलें नाही. गेल्या शुक्रवारी नित्याप्रमाणें हे संध्याकाळीं फिरून आले व अस्वस्थता वाटल्यावरून शिष्यास हाक मारून आपण आता हा लोक सोडून जाणार, असे सागून त्रिवार दीर्घाश्वास करून समाधिस्थ झाले, असें आम्हांस आलेल्या तारेवरून समजते. भर तारुण्यात स्वामी समाधिस्थ होण्याची वेळ यावी हें आमच्या देशाचे मोठेच दुदैव होय. श्रीरामकृष्ण परमहंस हे आमच्या इकडील अक्कलकोटच्या स्वामीप्रमाणे पुरे ब्रह्मनिष्ठ होते खरे; पण सर्व जगातील देशात अद्वैत मताची पताका फडकत लावून हिंदुधर्माची अर्थात् हिंदुलोकांची महती सर्व जगभर करून धर्मसंस्थापना करण्याचें काम श्री विवेकानंदांनींच हाती घेतले होतें. व आपल्या विद्वत्तेनें, वक्तृत्वानें, उत्साहानें व कळकळीने त्या कामाचा पाया त्यानी भक्कम घातला होता.

या पायावर इमारत उभी होऊन तिच्यावरील कळस स्वामी विवेकानंद यांच्याच हस्ताने बसविण्यात येईल अशी सर्वांस आशा व उमेद होती. पण ती स्वामी समाधिस्थ झाल्याने आता नाहीशी होण्याचा प्रसंग आला आहे. हिंदु-धर्माचे उज्वल स्वरूप कोणते, अशा प्रकारचा धर्म आमच्या देशात झाला हेंच आमचें अमूल्य धन व बळ आणि त्याचा सर्व जगभर प्रसार करणें हेंच आमचें खरे कर्तव्य असें बोलणारे नव्हे तर जगास सिद्ध करून दाखविणारे सत्पुरुष हजारबाराशे वर्षांपूर्वी एक शंकराचार्य होऊन गेले. व १९ व्या शतकाच्या अखेरीस दुसरे स्वामी विवेकानंद झाले. परंतु स्वामी विवेकानंदाचे काम अद्याप परिपूर्ण व्हावयाचे आहे. व ते त्यांच्या शिष्यवर्गापैकीं अगर दुसऱ्या कोणी तरी हाती घेऊन परिपूर्ण करावें, अशी आमची त्यास विनंति आहे. आमच्याजवळ जर काही महत्त्वाचा ठेवा असेल तर तो आमचा धर्मच होय. आमचें वैभव, आमचे स्वातंत्र्य सर्व काहीं लुप्त झाले आहे. परंतु आमचा धर्म अद्याप आमचेपाशी शिल्लक आहे; व तो असा तसा नव्हे तर सुधारलेल्या राष्ट्रांत उघड रीतीने कसोटीस लावला असताही त्याचा कस शुद्ध व उत्कृष्ट येतो, हें आता अनुभवास आलेले आहे. अशा स्थितीत जर आम्ही त्यास सोडून देऊं तर इसाबनितीतील कोबड्याप्रमाणे आम्ही रत्नपारखी आहों अशी आमची सर्व जगभर नालस्ती होईल, हे लक्षात ठेवले पाहिजे. हल्लींचा कालच असा आहे कीं, आपल्याजवळ कोणतीही उत्तम वस्तू असली तर जगाच्या चढाओढीच्या व्यापारात ती मांडून तिची योग्यता स्थापन केली पाहिजे. स्वामी विवेकानंद यांनीं हें काम केलें होतें. आणि आमच्या सुदैवाने आणखी काहीं दिवस ते वांचते तर राष्ट्राला राष्ट्रीयत्व येण्यास जें काहीं तेज लागते ते थोडेंबहुत तरी त्याच्यापासून आम्हास प्राप्त झालें असतें, असे; त्याच्या कर्माप्रमाणे त्यास उत्तम गती प्राप्त होईल यात शंकाच नाहीच; पण त्यांनी आम्हावर जे उपकार करून ठेवले आहेत त्याची उतराई होण्यास त्यांनी घालून दिलेलाच घडा आम्हास गिरविला पाहिजे, हें उघड आहे. करितां याच्या चरित्रावरून अशा तऱ्हेची उत्तरोत्तर लोकांची प्रवृत्ति होवो आणि सर्व धर्मांचे अद्वैत मतात एकीकरण करण्याचें श्रेय आमच्या ऋषींच्या अर्वाचीन वंशजास प्राप्त होवो, अशी परमेश्वराजवळ प्रार्थना करून स्वामी विवेकानंद यांचें हे स्वल्प चरित्र येथे समाप्त करितों. अमेरिकेंतून परत आल्यावर पुण्यास येण्याबद्दल स्वामींना दोन तीन आमंत्रणे केली होती. पण एकदां स्वामी आजारी असल्यामुळे व दुसऱ्या वेळीं काहीं अन्य कारणामुळे स्वामींचीं व्याख्याने प्रत्यक्ष ऐकण्याचा योग पुणेकरांस आला नाही, हे मोठें दुदैव होय.

* युनिव्हर्सिटीच्या ऊर्फ सरकारी हमालखाने.

हिंदुस्थान देशाचे राज्य हे इंग्रजसरकारचे हाता आल्यानंतर सदर सरकारने पूर्वीच्या राजापेक्षा जी एक मोठी सुधारणा केली ती ' शिक्षण ' होय व याकरिता इंग्रजसरकारचे आम्ही जितके आभार मानावे तितके थोडेच, अशी काही वर्षापूर्वी सर्वांची व आजमितीस बहुतेकांची समजूत आहे असे म्हणण्यास हरकत नाही. ज्या विद्येच्या जोरावर इंग्रज लोकास आज सार्वभौमत्व प्राप्त झाले आहे, तीच विद्या व त्याच कला, तीच शास्त्रे जिंकलेल्या हिंदु लोकास शिकवण्यास त्यांनी तयार व्हावे यापेक्षा मनाचा आणखी उदारपणा तो कोणता ? अशा प्रकारचे उद्गार पुष्कळांच्या तोंडून निघालेले अद्याप आमच्या कानांत घेळत आहेत; आणि पहिल्या पहिल्याने इंग्रजी शाळातून पाश्चात्य विद्येचे काही घुटेके घेऊन जी मडळी वाहेर पडली त्यांनी तर वरील प्रकारचे उद्गारास अधीकच पुष्टीकरण दिले होते. त्यातून पहिल्याने इंग्रजी विद्या शिकलेल्या लोकास एकदम मोठ्या जागा मिळत असल्यामुळे अपरिचित असलेल्या त्यांच्या विद्येस यांच्या अधिकाऱाचा पाठिंबा मिळून लोकांमध्ये यांचे स्तोम पहिल्या पहिल्याने तर ज्यास्तच वाढले होते. पण इतर गोष्टीप्रमाणेच याही गोष्टीचा बहार उत्तरोत्तर कमी होत चालला. इंग्रजी शिक्षण एकांगी आहे व ते फक्त सरकारी नोकरीस लागणारे अवश्य गुणच एतद्देशीय लोकांच्या अगात आणण्याकरिता योजलेले आहे, या शिक्षणक्रमात तयार झालेल्या लोकास धर्म, नीति, शास्त्रीय शोध, धंदेशिक्षण वगैरे राष्ट्रच्या उत्कर्षास अवश्य लागणाऱ्या ज्ञानाची व कलाची विलकुल माहिती नसते, इत्यादि व्यंगे लोकांच्या हळुहळू नजरेस येऊ लागली; आणि नोकरी मिळण्याचं प्रमाणही उत्तरोत्तर कमी होत गेल्यामुळे अधिकाराचा दुजोरा कमी होऊन इंग्रजी शिकलेल्यांच्या ज्ञानाचा अपुर्तेपणा आणि कच्चेपणा अधिकाधिक उघडकीस येत चालला. हा काल येण्यास तीसचाळीस वर्षांतील शिक्षणाचा अनुभव कारण तर झालाच, पण त्याखेरीज दुसऱ्याही गोष्टीवरील विचार आमचे मनात येण्यास कारणीभूत झाल्या आहेत. आमच्याकडे युनिव्हर्सिटीच्या स्थापन होऊन पन्नास वर्षे झाली तरी विद्वान् बहुतेक निपजलेच नाहीत असे म्हटले तरी चालेल. परंतु जपानांत मात्र तीस वर्षांचे आंत याहून भिन्न स्थिति झालेली आमच्या नजरेस येत आहे ! अशी स्थिति का व्हावी याच्या कारणाने विवेचन आम्ही केलेच आहे. करिता ह्याचा पुन्हा उच्चार न करता इतकेच सागतो की, ज्यास खरे शिक्षण म्हणतात तशा प्रकारचे शिक्षण हल्लीच्या संस्थातून आम्हांस विलकुल मिळत नाही. हिंदुस्थानचे विद्यार्थ्यांस केंब्रिजच्या परीक्षेत पहिला नंबर मिळविता येतो तर त्यांच्या समवयस्क विद्यार्थ्यांची हिंदुस्थानांतल्या हिंदुस्थानांत अशी स्थिति का व्हावी, यास अपुर्त्या शिक्षणाखेरीज आम्हांस तरी दुसरे कोणतेही कारण दिसत नाही. सारास,

आमच्या दृष्टीने पाहिले तर हल्लीं चालू असलेल्या युनिव्हर्सिटीच्या शिक्षणांत अनेक प्रकारचे फेरफार व्हावयास पाहिजेत, असे कीं, जेणेकरून युनिव्हर्सिटीच्या म्हणजे खरोखरीच विद्वत्तेची किंवा विद्वानांची माहेरघरे होतील. निरनिराळ्या विषयांत निष्णात असलेल्या प्रोफेसरांचा समुदाय, विद्यार्थ्यांच्या डोक्यादेखत सतत चालू असलेले विद्याव्यासंग, मोठमोठी पुस्तकालये किंवा यांत्रिक उपकरणें वगैरे ज्या सस्थेत नेहमीं दृष्टीस पडतील अशा संस्था येथें निघावयास पाहिजेत असें आमचें म्हणणें आहे, व तें योग्य आहे कीं नाहीं हे युरोपातील किंवा इंग्लंडांतील युनिव्हर्सिटीच्याची जास्त माहिती ज्यास आहे त्यास सहज कळून येण्यासारखें आहे. परंतु दुर्दैवाची गोष्ट अशी कीं, युनिव्हर्सिटीच्या स्थापन होऊन आज पन्नास साठ वर्षे झालीं तरीही त्यांत अशा प्रकारची सुधारणा करण्याचे सरकारच्या मनात येत नाही व हल्लीं युनिव्हर्सिटीकमिशनच्या ज्या सूचना बाहेर पडल्या आहेत त्यात जरी या गोष्टीचा थोडाबहुत उल्लेख आहे, तरी त्यापासून वर लिहिलेल्या प्रकारचे फल प्राप्त होईल असे दिसत नाहीं

सरकाची दृष्टि जरी आरंभी निराळी असली तरी निदान सध्या तरी आम्हांस अनुकूल किंवा फायदेशीर नाही, हें दुसरीकडे एका गृहस्थानें दिलेल्या एका ताज्या सरकारी खलियातीळ उताऱ्यावरून स्पष्ट होणार आहे. युनिव्हर्सिटी कमिशन नेमलें तेव्हाच आम्हांस याबद्दल शंका आलेली होती, व कमिशननें ज्या सूचना केल्या आहेत त्या पाहून तर त्याबद्दल आता बहुतेक खात्रीच झाली आहे असें म्हटले तरी चालेल. हिंदुस्थानातील लोक पाश्चात्य विद्येत, शास्त्रात किंवा कलात निपुण होऊन त्यांनी सुधारलेल्या राष्ट्रातील विद्वानाबरोबर, धंदेवाल्याबरोबर किंवा व्यापाऱ्याबरोबर, आपल्या बुद्धिवैभवानें, करामतीने, कौशल्याने किंवा हिमतीनें टक्कर देण्यास तयार व्हावे, अशी आमच्या सरकारची इच्छा नाहीं, किंवा इच्छा असल्यास कृती तरी नाहीं, असें मोठ्या दुःखानें आम्हांस म्हणावे लागतें. एरवीं जपानासारख्या राष्ट्रांनें तीस वर्षांत ज्या सुधारणा केल्या त्या तिसाचे दुप्पट साठ वर्षांत हिंदुस्थान देशात का होऊं नयेत याचें दुसरें काहीं एक कारण आम्हांस दिसत नाहीं राष्ट्राची उन्नति होण्यास नवीन धंदे, नवीन विद्या, नवीन शास्त्रे वगैरे जे जे काहीं पाहिजे तें तें आमच्या शाळातून शिकविलें जावें अशी लोकांची इच्छा असणे अगदी स्वाभाविक आहे. परंतु आपल्या सरकारची इच्छा मात्र यापेक्षा अगदीं निराळी आहे. विद्या किंवा शास्त्रे यांमध्ये जे काहीं शोध करावयाचें ते इंग्लंड देशांत होतच आहेत. तेव्हा राजकीय दृष्ट्या ते हिंदु लोकांनींच करावे अशी काहीं आवश्यकता नाहीं. परंतु हिंदुस्थानचा राज्यकारभार सुधारलेल्या पद्धतीनें चालविण्यास खालच्या प्रतीच्या जाग्यावरून तरी पाश्चात्य पद्धतीनें थोडें-बहुत शिकलेले लोक असणें जरूर आहे; व ही जरूर भागविण्याकरितांच शिक्षण येथील लोकांस देण्याची सरकारनें सुरवात केलेली होती. इंग्रजी मुत्सद्दयापैकीं काहीं काहीं मुत्सद्दयानां शिक्षणाबद्दल आपले उदार विचार प्रगट करून हिंदु-

स्थानचे लोक विद्यासंपन्न झाल्यावर इंग्रजसरकार मोठ्या खुशीने या देशातील आपले चंबूगवाळे आटोपून निजधामी जाईल, असे उद्गार काढलेले आम्हांस माहीत आहेत. पण हे पुस्तकी उद्गार आणि राज्यकारभारांत चालू असलेले या बाबतींतील खरे धोरण यांच्यामध्ये जमीनअस्मानाचे अंतर आहे. इंग्लंडात ज्या प्रमाणे हिंदुस्थानच्या राज्यकारभाराकरिता इजीनियर तयार करण्यासाठी कूपर-हिल कॉलेज काढलेले आहे, तशाच प्रकारे हिंदुस्थानातल्या हिंदुस्थानात खालच्या प्रकारच्या जाग्याकरिता हिंदु लोक तयार करण्यासाठी युनिव्हर्सिटीच्या व कॉलेजे मूळ स्थापण्यात आली हें उघड आहे. या कॉलेजातून किंवा युनिव्हर्सिटीच्यातून जे विद्यार्थी बाहेर पडले त्यापैकी काही बुद्धिमान् विद्यार्थ्यांची दृष्टि अधिक दूरवर जाऊन इंग्रजी राज्यकारभारांतील व्यंगे व दोष हळू हळू त्यांच्या नजरेस येत चालले; पण ही भीति किंवा अडचण आजपर्यंत सरकारास फारशी नडली नव्हती. इंग्रजी विद्येच्या परिशीलनाने एक प्रकारचा चौकसपणा, धैर्य आणि तीव्र विचारशक्ति निदान, चागल्या विद्यार्थ्यांच्या मनांत तरी उद्भवणे अपरिहार्य आहे हें सरकारास माहीत होते. पण अशा लोकाची संख्या पहिल्यापहिल्याने कमी असल्याने तिकडे सरकार फारसे लक्ष देत नसे. पण नोकऱ्यापेक्षा ग्राज्युएटाची संख्या जेव्हा दुपटी तिपटीने वाढली तेव्हा अर्थातच आपल्यास मिळालेल्या शिक्षणाचा अपुरेपणा आणि निरुपयोगिता विद्यार्थ्यांच्या मनात येऊं लागली; आणि त्यावरोबरच प्रचलित असलेल्या राज्यकारभाराच्या धोरणाकडेही त्यांचे लक्ष जाऊं लागले. ही स्थिति राजकीय दृष्ट्या अनिष्ट आहे व हिंदुस्थानातील शिक्षणाचे जें धोरण ठेवावयाचे तें असे असावे कीं, त्यामुळे नोकऱ्या करण्यापेक्षा फाजील ग्राज्युएट युनिव्हर्सिटींतून बाहेरच पडू नयेत; अशा प्रकारचे विचार राज्यकर्त्यांच्या मनात येऊं लागले. १८८२ सालीं जे एज्युकेशन कमिशन बसले होतें त्यांचें धोरण याहून बरेच निराळें होतें पण गेल्या वीस वर्षांत तें धोरण पालटून हिंदुस्थानची राज्यसूत्रे हल्लीं ज्याच्या हातांत आहेत त्याचे विचार वर सांगितल्याप्रमाणे झाले आहेत. उच्च प्रतीचे जे शिक्षण हिंदुस्थानांतील लोकांस द्यावयाचें तें त्यास विद्वत्तेच्या शिखरावर पोचविण्याकरितां नव्हे, तर सरकारास खालच्या प्रतीच्या जागा भरण्याकरितां जशा प्रकारचे नोकर लागतात तशा प्रकारचे नोकर तयार करण्याकरिता होय, हें तत्त्व आता बहुतेक गृहीत धरल्यासारखेच झाले आहे. साराश युनिव्हर्सिटीच्या म्हणजे कनिष्ठ प्रतीच्या सरकारी नोकऱ्याकरिता लागणारे उभेदवार तयार करण्याच्या टाकसाळी किंवा हमालखाने होत असें शब्दांनीं नाहीं तरी कृतीनें तरी सरकार स्पष्ट दर्शवित आहे. आणि नाण्याची किंमत जेव्हा कमी झाली तेव्हा नाण्याचा कायदा करून ज्याप्रमाणे नाणें पाडण्याचे नियम सरकारनें केले, तद्वत् युनिव्हर्सिटींतून बाहेर पडणाऱ्या फाजील ग्राज्युएटाची संख्या कमी करण्याचे उपाय युनिव्हर्सिटी कमिशनानें आतां शोधून काढले आहेत ! कॉलेजची फी वाढविणे, एम. ए. पर्यंत

शिकविणारी कॉलेजे बंद करणें, इलाख्यांत एकच लॉ-क्लास ठेवणें वगैरे कमिशनच्या ज्या सूचना आहेत त्यांचा हेतु काहींही असो, परिणाम आम्ही वर लिहिल्याप्रमाणेच घडून येईल यात शंका नाही. युनिव्हर्सिटींत हल्लीं जे शिक्षण दिलें जातें त्याची योग्यता वाढविण्याकरिता या सूचना आहेत असे कमिशननें म्हटले आहे पण ही गोष्ट जर खरी आहे, तरी हल्लीं सरकारी कॉलेजांतून तिसऱ्या चौथ्या प्रतीच्या प्रोफेसरांचें जे भरताड भरलें होतें तें कमी करून त्याच्या ऐवजीं खरोखरच पहिल्या प्रतीचे विद्वान् प्रोफेसर आणण्याची सूचना कमिशनानें करावयास पाहिजे होती, पण तशी किंवा त्याप्रकारची दुसरी कोणतीही सूचना हल्लींच्या रिपोर्टांत आढळून येत नाही. चागल्या लायब्रऱ्या किंवा लॅबोरेटऱ्या स्थापण्याबद्दल सूचना केलेली आहे, पण सरकार जोंपर्यंत या कामाकडे सढळ हाताने पैसा खर्च करण्यास तयार नाही तोपर्यंत ही सूचना कशी अमलांत यावी हें आम्हास समजत नाही. युनिव्हर्सिटीमध्ये आजपर्यंत नेटिव्ह लोकांचा थोडा-बहुत तरी हात असे, पण इतउत्तर सर्व व्यवस्था सरकारच्या तंताने व धोरणानें चालावयाची असून नाणें पाडण्याच्या टांकसाळीप्रमाणे नोकर तयार करण्याच्या-याही टांकसाळी सरकार आपल्या पूर्ण कबजांत ठेऊन नोकरीच्या व्यवहारास जरूर लागतील त्यापेक्षां अधिक छापवाले ग्रॅज्युएट बाहेर न पडतील अशी तजवीज ठेवणार असें हल्लींच्या कमिशनच्या रिपोर्टांवरून स्पष्ट दिसत आहे. सरकारचा हा हेतु सरकारच्या दृष्टीनें जरूरीचा किंवा उपयुक्त असेल, पण पहिल्यानें सांगितलेल्या लोकांच्या दृष्टीनें पाहाता हें प्रगतीचे नव्हे तर दुर्गतीचें चिन्ह आहे असें म्हणणे भाग पडतें. कोणच्याही देशात किंवा राज्यात नोकर तयार करण्याकरितांच विद्यादान करावयाचे हें मतच मुळीं चुकीचे होय; व लॉर्ड कर्झनसारख्या मुत्सद्यास ज्याअर्थी हें मत पसंत झालें आहे त्या अर्थी उच्च प्रतीच्या शिक्षणाची त्याचे हातून योग्य व्यवस्था कधीही लागणार नाही असें म्हणण्यास हरकत नाही. लॉर्ड कर्झन हे स्वतः हुषार व कर्ते आहेत हे निर्विवाद आहे. पण नुसती हुशारी किंवा कर्तृत्व आंगी असल्यानें कोणाही व्हाइसरायाकडून हिंदु लोकांचें कल्याण होईलच अशी खात्री देतां येत नाही. वरील गुणाखेरीज लोकांची सहानुभूती व त्याच्या उत्कर्षाबद्दल खरी कळकळ हे गुणही राज्यकर्त्यांच्या आंगी असावे लागतात. हे गुण लॉर्ड कर्झन याच्या अंगी असलेले अद्याप दिसून आले नाहीत व पुढेंही दिसून येतील असें वाटत नाही. याचा परिणाम असा झाला किंवा होईल की, युनिव्हर्सिटी कमिशन, पोलिस कमिशन, इरिगेशन कमिशन वगैरे जे जे विषय त्यांनीं हातीं घेतले आहेत त्या सर्वांचा अखेर निकाल प्रजेच्या तर्फेचा न होतां उलट लोकांच्या उत्कर्षाची आशा माल आणखी कांहीं वर्षे असल्या कमिशनानां कुंठित होऊन राहिल. हिंदुस्थानांत इंग्रज लोकांचें राज्य चिरायु होण्यास देशातील निरनिराळ्या खात्यांची व्यवस्था अशाच प्रकारची असली पाहिजे, असें ज्याचे मत असेल तें लॉर्ड कर्झनसाहे-

बांच्या हुशारीचें कौतुक करतील. पण हिंदुस्थानांतील लोक उत्तरोत्तर अधिक ज्ञानसंपन्न होऊन विद्या, शास्त्रें, उद्योगधंदे, व्यापार वगैरे बाबतींत इल्लुइल्लू राज्यकर्त्यांच्या पंक्तीस बसण्यास योग्य व्हावें असे ज्यांस वाटत असेल त्यांस लॉर्ड कर्झन याची ही कृति चुकीची वाटून ती हिंदुस्थानच्या उत्कर्षास घातुक आहे अशी खात्री होईल. युनिव्हर्सिटीच्या सुधारावयाच्या होत्या तर त्याकरितां एवढा खटाटोप करण्याची काही एक जरूरी नव्हती. दहापांच गरीब विद्यार्थी युनिव्हर्सिटींतून तयार होऊन बाहेर पडल्यानें शिक्षणाची इभ्रत कमी होते हें मत आम्हांस बिलकूल मान्य नाही. उलट हिंदुस्थानचीं हल्लींच स्थिति अशी आहे की, गरीब परंतु बुद्धिमान् विद्यार्थ्यांस अधिक उत्तेजन दिल्यानेंच देशात विद्येची अभिवृद्धी ज्यास्त होण्याचा संभव आहे. पण कमिशनाने या गोष्टीचा नीटसा विचार केलेला दिसत नाही. युनिव्हर्सिटीच्या व्यवस्थेत सरकारचा अधिक ताबा कसा रहावा, नोकरीसाठीं जरूर त्यापेक्षा अधिक ग्रॅज्यूएट बाहेर न पडण्याची काय तजवीज करावी, कॉलेजांतून बाहेर पडणाऱ्या विद्यार्थ्यांच्या आगी बेता-वातानाच स्वाभिमान राहिल अशा प्रकारची कोणती शिस्त कॉलेजात ठेवावी, किंवा खाजगी शाळा आणि कॉलेजे यांच्यावर कोणत्या प्रतीची देखरेख असल्यानें सरकारी शाळांतील किंवा कॉलेजांतील विद्यार्थी तयार होतील, इत्यादि प्रश्नच कमिशनाने महत्त्वाचे वाटले आहेत व त्याचाच ऊहापोह त्यांच्या रिपोर्टांत झाला आहे. अर्थात् हें सर्व त्रिवेचन व खटपट सरकार के वास्ते झालेली आहे. लोकांच्या तर्फें या विषयाची चर्चा केव्हा होईल ती होवो. लॉर्ड कर्झन यांच्या कारकिर्दीत होईल अशी आशा आम्हांस तरी वाटत नाही.

* बडोदें राज्यांतील बालविवाहाचा कायदा.

एकंदर देशी संस्थानिकामध्ये महाराज सयाजीराव गायकवाड यांच्याइतके विद्वान्, हौशी, उद्योगी, चतुरस्र, वाक्पटु व हिंमतदार राजे क्वचितच सापडतील म्हटलें तरी चालेल. महाराज गादीवर बसल्यापासून तेवीस चोवीस वर्षांत बडोदें राज्याची पुष्कळ तऱ्हेनें सुधारणा झाली आहे व त्याचें श्रेय काहीं अंशी महाराजाकडे व बऱ्याच अंशाने सुदैवाने त्यांना जे वेळोवेळीं चांगले ऑफिसर मिळत गेले त्याजकडे आहे असें म्हटलें पाहिजे राजा सर टी माधवरावासारख्या मुत्सद्द्याने जी एकंदर राज्याची शिस्त घालून दिली ती बहुतेक अशानें हल्लींच्या महाराजांनीं पुढे चालविली हें त्यास भूषणावह आहे; व हल्लीं गाकवाडीची जी चांगल्या नावाजलेल्या संस्थानांमध्ये गणना होते त्याचेंही मुख्य कारण सुव्यवस्थित राज्यपद्धति व खुद्द महाराजांची कारभारांतील बारीकसारीक गोष्टीविषयी दक्षता

हेंच होय. वेदोक्तासारखीं कांहीं खुळे मधून मधून उद्भवतात. नाहीं असें नाहीं; व त्यापासून कमीअधिक प्रमाणानें संस्थानची हानिही होत आली आहे. सामान्य लोकांप्रमाणें श्री. सयाजीरावमहाराज हे क्षणिक मनोविकाराचे आधीन होण्यास पात्र असल्यामुळें व त्यांच्यासारख्या अधिकारारूढ माणसाना निर्भिड पण अप्रिय सत्यबोध करणारे सल्लागार क्वचित् भेटत असल्यामुळें त्यांच्या सारख्याचे हातून अनेक वेळां प्रमाद होण्याचा संभव आहे. परंतु एकंदरीत महाराजाचे हेतु चांगले असून आपल्या चुका कोणीही दाखवल्या तरी प्राजलपणे ऐकून सुधारण्याकडे त्यांची नेहमीं प्रवृत्ती असल्यामुळें अजूनही बडोदें संस्थानचे महाराजाचे कारकीर्दीत पुष्कळ हित होईल, अशी बळकट आशा आहे. मतवैचित्र्य व मार्गवैचित्र्य चोहोकडे आहेच त्यामुळे महाराजाचे पुष्कळ विचार व कृती आम्हास पसंत पडत नसतील. परंतु आपल्या प्रजेची स्थिति सर्व बाजूंनीं उत्तरोत्तर चांगली होत जावी, ही महाराजाची उत्कट इच्छा फार अभिनंदनीय व इतर संस्थानिकानीं अनुकरण करण्यास रखी आहे यात शंका नाही.

बडोदें दरबारात जी मधून मधून खुळें उत्पन्न होतात म्हणून लिहिलें, त्यापैकीच हल्लीं एकदोन वर्षे सामाजिक व धार्मिक सुधारणेचें वारें महाराजाचे डोक्यात शिरले आहे तें एक होय असें म्हटलें तरी चालेल. बडोदें संस्थानातील लोकांची सापत्तिक, नैतिक व धार्मिक स्थिति सुधारण्यास पुष्कळ जागा आहे, व महाराजांनीं मनावर घेतल्यास त्यास पुष्कळ गोष्टी करता येण्यासारख्या आहेत. परंतु सामाजिक सुधारणेचें जे एक खूळ केवळ इंग्रजी शिक्षणाने एकदेशीय बनलेल्या विद्वानाचे डोक्यांत असते त्याचीच थोडीबहुत छाया महाराजांचे मनावर पडल्यामुळें व त्यात कांहीं वेदोक्त, सामाजिक, सुधारकप्रभृति मंडळींचा दुजेरा पडल्यामुळें हल्लीं सामाजिक सुधारणेच्या प्रवाहास बडोदें राज्यात अधिक अधिक ऊत येण्याचीं चिन्हें दिसूं लागलीं आहेत. कायद्यानें सामाजिक चाली बंद करण्याची हाव इंग्रजसरकारनें बहुतेक सोडल्यासारखी आहे; व सन १९८१ सालीं संमतीवयाचे कायद्यासंबंधानें जे रण माजलें त्याची आठवण बुजेपर्यंत इंग्रजसरकार पुन्हा असल्या पंचाहतीत पडेल असें वाटत नाहीं. परंतु ज्या गोष्टी परकी इंग्रजसरकार करूं शकत नाहीं किंवा इच्छित नाहीं. त्या देशी संस्थानांत करण्यास हरकत नाहीं. कारण, आमचेच दांत व आमचेच ओठ आणि तंटेबखेडे झाले तरी आमच्यामध्येच, अशा विचारांचीं पुष्कळ माणसें हिंदुस्थानात आहेत. कोल्हापुरातील वेदोक्त किंवा बडोद्यातील सामाजिक सुधारणा यांतील बीज येथेंच आहे. कायद्याच्या सक्तीनें सुधारणा होऊं शकत नाहीं, हे तत्त्व इंग्रजी राज्यात तसेंच संस्थानातही लागू असले पाहिजे. परंतु सुधारणेकरिता हापापलेल्या मंडळीस हें कळावें कसें? सुधारणेची हाव, थोडाबहुत अधिकार व स्वतःच्या शहाणपणाची घमेड या तीन गोष्टी एकवटल्यावर हल्लींच्या बालविवाहाच्या कायद्यासारखीं फळें पुढें यावीत यांत नवल

नाहीं. गतवर्षी पुनर्विवाहाचा कायदा बडोदें राज्यांत करण्यांत आला; व तो बहुतेक इंग्रजी कायद्याचेच स्वरूपाचा असल्यामुळे ह्यावद्दल विशेषशी चळवळही झाली नाही. इंग्रजी पुनर्विवाहाचे कायद्याने जसे फारसे पुनर्विवाह लागले नाहीत किंवा सामाजिक सुधारणेच्या कार्यास मोठीशी मदत झाल्याचेही दिसून आलेले नाही, तोच प्रकार बडोदें संस्थानांतही व्हावयाचा पुनर्विवाहिनाची आपत्ये कायदेशीर ठरल्याने बापाच्या इस्टेटीचा वारसा त्यास मिळाला एवढेंच काय तें पुनर्विवाहाच्या कायद्याने काम केले. त्यापासून समाजाचा विशेष फायदा नाही व नुकसानही झाले नाही. परंतु बालविवाह प्रतिबंधक कायद्याची गोष्ट तशी नाही. हल्लींचा बडोदें येथे प्रसिद्ध झालेला कायद्याचा मसुदा महाराजाच्या सामाजिक सुधारणेचा दुसरा हप्ता आहे. हल्लींचा कायदा अगदी अपूर्व आहे म्हटलें तरी चालेल. काहीं वर्षापूर्वी हौसुरास एक बालवृद्ध विवाह बंद करण्याकरिता एक कायदा करण्यांत आला. पण त्यात व हल्लींचे गायकवाडी कायद्यात जमीन-अस्मानचें अंतर आहे. हल्लींचे कायद्यासारखा मसुदा आजपर्यंत हिंदुस्थानात कोठेही निघाला नव्हता व पुढेही कित्येक वर्षे निघेलसे वाटत नाही. असा अपूर्व कायदा करणाराच्या शहाणपणाची तारीफ करावी तेवढी थोडीच ! सामाजिक परिषदेच्या अत्युच्च वातावरणात भराच्या मारणाऱ्या सुधारकांसही आजपर्यंत जेथे जाववले नाही तेथें बडोदें राज्यातील सर्व लोकांस एकदम नेऊन पोचविण्याचें या कायद्याने मनांत आणले आहे. खुद्द हिंदुस्थान सरकारचेही १२ वर्षांवर समतीवयाची यत्ना नेण्याचें धैर्य झालें नाही. पण गायकवाडी अधिकारी विवाहोत्सुक वधुवरांस एकदम १४ व १८ चे मर्यादेवर नेऊन बसविण्यात बिलकूल कचरत नाहीत. तेव्हां अशा अश्रुतपूर्व कायद्याचा येथें थोड्या विस्ताराने विचार करणें वावगें होणार नाही.

सदरहू कायद्याची १४ कलमे आहेत व त्याचें समर्थन करण्याकरितां प्रारंभी नायबदिवाण मि. भांडारकर याचे सहीचा १० कलमी उपोद्घात जोडला आहे. बालविवाह म्हणजे अज्ञानाचा विवाह व अज्ञान म्हणजे पुरी १४ वर्षांचे आंतील मुलगी व पुरा १८ वर्षांचे आंतील मुलगा. अशा व्याख्या करून ज्या कोणा आईबापास किंवा पालकांस आपल्या अज्ञान मुलाचे लग्नकर्तव्य असेल त्यांनीं अगोदर स्थानिक मॅजिस्ट्रेटची परवानगी घेतली पाहिजे, असा नियम केला आहे. परवानगीचा अर्ज स्टॅप कागदावर असून त्यात नांव, गांव व लग्न करण्याचीं कारणें दिलीं पाहिजेत. नंतर मॅजिस्ट्रेटानें सुनवणीचा दिवस नेमून अर्जदाराचे जातीचे ३ असेसर नेमावे व त्यासह वर्तमान अर्जातील कारणाचा व पुराव्याचा विचार करून मर्जी वाटल्यास लग्न करण्याकरिता मोहोरबंद परवाना द्यावा. परवाना द्यावयाचा तो मॅजिस्ट्रेट आणि निदान दोन असेसर यांच्या मते पुढील चार कारणापैकी एखादें कारण असल्याची खात्री होईल तरच द्यावा. (१) अर्जदार

जाति—बहिष्कृत होत असेल; (२) लग्न न झालें तर सदरहू मुलाचे किंवा मुलीचे बारा वर्षेपर्यंत मुळीच लग्न न होण्याचा संभव असेल; (३) आईबाप किंवा पालक लवकर मरण्याची भीति असेल. व (४) असेंच दुसरें एखादें कारण असेल तर मात्र परवाना द्यावा. मॅजिस्ट्रेट व असेसर यांचा मतभेद झाला तर सुभ्याकडे प्रकरण पाठवून त्यानें निकाल करावा. जे आईबाप किंवा पालक हा नियम मोडतील त्यास १०० रु. पर्यंत दंड करावा; पण सदरहू लग्न होऊन २ वर्षे झालीं असतील तर मात्र कांहीं करूं नये. प्रत्येक गांवकामगारानें आपले गावांतील असल्या लग्नाची मॅजिस्ट्रेटास वदीं दिली पाहिजे व ती मिळतांच माजिस्ट्रेटानें काम चालवावे. शेवटीं या कायद्यानें झालेलें लग्न बेकायदेशीर किंवा रद्द होणार नाही असेंही ठरविलें आहे. कायद्याचे समर्थनार्थ मि. भांडारकर यांनीं उपोद्घात जोडला आहे त्यातील कारणे अशींच मौजेचीं आहेत. या देशात कायद्यानें किंवा रूढीनें विवाहाची कनिष्ठ मर्यादा ठरविलेली नाही, म्हणून बालविवाह होतात. प्राचीन काळां व पुराणांतरी ते होत नव्हते. वैदिक मंत्रांवरून विवाह प्रौढ वयांत होत असावे असे दिसते. व बालविवाह धर्मशास्त्रानें निषिद्ध केले आहेत. प्रजोत्पत्ति हा विवाहाचा एक हेतू असल्यामुळें बारावें तेरावें वर्षापर्यंत पात्रता येत नाही व या मर्यादेच्या आत विवाह केल्यास प्रजा अशक्त होते, म्हणून इल्लींच्या लग्नपद्धतींत फरक करणें जरूर आहे. शहाणे लोकानीं आपणच समजून सुधारणा करावी हे अधिक चांगलें, व वयाची यत्ता हळू हळू वाढत आहे असेंही पुराव्यावरून दिसते. गेल्या खानेसुमारीच्या वेळीं गुजराथी व दक्षिणी ब्राह्मणात अनुक्रमें १३१७ व ११२ पंधरा वर्षावरील अविवाहित मुली आढळल्या. पण हा अपवाद आहे. तथापि अशी सुधारणा होत असेल तर कायदा करण्याची अधिकच जरूर आहे. शारीर शास्त्रप्रमाणें मुलीला १४ व मुलाला १८ हीं वयें अपुरीं आहेत, पण सध्या लोकाना तेवढी कबूल होतील अशी आशा आहे. १४ व १८ वयाचे पूर्वीं विवाह बंद करण्याचा या कायद्याचा उद्देश आहे. पण विशेषप्रसंगीं परवाना देण्याचा माजिस्ट्रेटास अधिकार दिला आहे. लोकांवर जुलूम होऊं नये म्हणून शिक्षा फक्त दंडाची ठेविली आहे. असली सुधारणा लोकांनीं आपण होऊनच केली पाहिजे. परंतु लोक शहाणे होण्यास अजून कालावधि लागणार असल्यामुळें इल्लींच कायद्यांत होईल तितकें सामाजिक स्वातंत्र्य ठेविलें आहे. लोकांचे आचारांत अतिक्रमण होऊं नये म्हणून या कायद्याची अंमलबजावणी पहिलीं दहाच वर्षे होईल !

सुधारकांचे आचारविचारांत नेहमीं विसंगतपणा असतो तशीच सदरहू कायदा व त्याचीं कारणे यांमधील स्थिति आहे हें थोड्या विचारानें कोणासही कळण्यासारखें आहे. लोकांचे चालीरीतींत अतिक्रम करणारा कायदा सवडीनें व हलके हलके आणावयाचा व काहीं काळ गेल्यानंतर व लोकांना सराव पडल्यानंतर पूर्ण अंमल करावयाचा, असें सर्वसंमत तत्त्व आहे. पण प्रस्तुत कायदा

त्याच कारणाकरितां पहिलीं दहा वर्षे सक्तीनें अमलांत आणावयाचा व पुढें लोकांचे आंगवळणी पडल्यावर अजिबाद रद्द करावयाचा, हा गायकवाडी सुधारणेचा मासला अजब आहे, असें कोण म्हणणार नाही ? किंवा प्रस्तुत कायद्यानें उद्दिष्ट सुधारणा दहा वर्षांत परिपूर्ण होतील व मग कायद्याची जरूरच राहणार नाही असाही कदाचित् विचार असेल. तसें घडून येईल तर आजपासून १० वर्षांनीं गायकवाडी अधिकाऱ्याचे कर्तबगारीची फारच तारीफ करावी लागेल यात शंका नाही. जी गोष्ट गेल्या ४०।५० वर्षांत शेंकडों सुधारक वीर व्याख्यानें व सभा करीत असतां घडून आली नाही, ती बडोदें राज्यात पुढील १० वर्षांत खात्रीनें घडून येणार, १९१३ सालीं बडोदें राज्यांत जिकडे तिकडे प्रौढविवाह व स्वयंवर सुरू होणार; व इंग्रज राज्यकर्त्यांच्या स्वप्नीही आलें नसेल असें एक ढळढळीत उदाहरण त्यांचे पुढें उभें राहणार. या कायद्यानें विवाह बेकायदेशीर ठरविलेले नाहीत. तेव्हां वधुवरांचे मुळीच नुकसान नाही म्हटलें तरी चालेल. फक्त आईबापास १०० रुपये दंड भरावा लागणार. म्हणजे लग्नाचे खर्चांत किंवा हुंड्याचे रकमेत आणखी थोडी भर पडली इतकेंच. एक सुधारणा करण्याचे नादांत लग्नादिकांचा खर्च कमी करणें हें जें सुधारणेचें कलम तिकडे गायकवाडी अधिकाऱ्याचें कसें दुर्लक्ष झालें कोण जाणें ? दंड व्हावयाचा तो पालकासच नसून लग्नातील साथीदारांसही व्हावयाचा आहे. या साथीदारांत कोण कोण यावयाचे, याचा मात्र कायद्यांत कोठें उल्लेख केलेला दिसत नाही. बहुधा उपाध्ये, करवल्या, समारंभास बोलावलेले लोक, दक्षिणेचे ब्राह्मण, बंड, ताशेवाले, वाजंत्री, गाडीवाले व इतर नोकर चाकर या सर्वांचा साथीदारांत समावेश होण्यास हरकत नाही व या प्रत्येकांस १०० रुपये दंड होऊं लागला म्हणजे सुभ्याचे तिजोरींत पैसा ठेवण्यास जागाही पुरणार नाही; व महाराज सरकारचे विलायतेच्या व काश्मीरच्या प्रवासास रगड पैसा होईल. मॅजिस्ट्रेटानें शिक्षा करावयाची ती मात्र दोन वर्षांचे आंतच केली पाहिजे, हा एक निर्वंध आहे, म्हणून बरें. त्यामुळे कोणाही मनुष्यास बडोदें राज्याबाहेर लग्न केल्यावर दोन वर्षे राहून नंतर निर्धास्तपणें गांवीं येण्यास हरकत नाही. जीं लग्नें बडोदें राज्यांत होतील त्यांकरितांच हा कायदा आहे किंवा राज्यातील प्रजेनें बाहेर कोठेही लग्न लावलें तरी त्याजवर अंमलबजावणी व्हावयाची याचा कोठें स्पष्ट खुलासा नाही. तसेंच मॅजिस्ट्रेटनें असेसर अर्जदाराच्या ज्ञातीचे निवडावयाचे तेथें ज्ञातिशब्दाची व्याख्याही दिसत नाही. परवाने देण्याचीं दोन तीन कारणे सांगून शिवाय दुसऱ्या पाहिजे त्या कारणांकरितां परवाना देण्याची मुभा ठेवलेली आहे. एकंदरीत मॅजिस्ट्रेटसाहेबांच्या मर्जीवरच बहुतेक हवाला आहे. तेव्हां अर्थातच १०० रुपये दंडाचे ऐवजीं ५० रुपयावरच अर्जदाराचें काम भागल्यास परवानो मिळण्यास फारशी अडचण पडणार नाही. जेथें लग्नाप्रीत्यर्थ शेंकडों रुपये खर्च व्हावयाचे तेथें ५०।७५ चा आहेर विशेष होईल असें नाही. एकंदरीत

हा कायदा अगदी निरुपयोगी किंवा स्थानिक मॅजिस्ट्रेटास गरीबगुरीव प्रजेवर जुलूम करण्याचें एक चांगले साधन होईल; त्यापलीकडे त्यापासून फारशी सुधारणा होईलसें दिसत नाही. बडोदें शहरांतील महाजन लोकांनी लगेच सभा भरवून कायद्याविषयी आपले प्रतिकूल मत जाहीर केलें आहे. तेव्हां या कायद्या-विषयी लोकमत कसे काय आहे हे निराळे सागावयास नकोच.

बालविवाहप्रतिबंधाचा प्रश्न बडोदें राज्यात आज नवीन उत्पन्न झाला आहे असें नाही. सन १८९३ सालीं बालविवाह प्रतिबंधार्थ कायद्याचा एक मसुदा रा. व. पडित, वरिष्ठ कोर्ट जज याचे सहीने प्रसिद्ध झाला होता. तो अगदी निराळे धोरणावर होता. त्यातील मुख्य तत्त्व जी काय सुधारणा करणें ती केवळ जातीतील पंचाच्या द्वारे करावयाची असे होतें. जर महाराजास खरो-खर काहीं सुधारणा करणे असेल तर त्याच तत्त्वाचे अवलंबन केले पाहिजे. केवळ पोषाखी कायदे आज्ञापत्रिकेत प्रसिद्ध करण्यापासून काहीं फायदा नाही इतकीच तूर्त इषारत देऊन हा लाबलेला लेख आम्ही पुरा करतो.

* कै. श्रीधर गणेश जिनसीवाले.

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ॥

—तैत्तिरीयोपनिषत्.

प्रो. श्रीधर गणेश जिनसीवाले हे गेल्या मंगळवारीं सुमारे साडे सात वाजतां त्याचे स्नेही रा. रा. श्रीधरपंत आपटे यांच्या घरीं मुंबईस परलोकवासी झाले, हें कळविण्यास आम्हास अत्यंत दुःख वाटते. प्रत्यक्ष नाहीं तरी वर्तमान-पत्रातून त्याच्या प्रसिद्ध झालेल्या व्याख्यानावरून प्रोफेसरमाहेबाचा महाराष्ट्रांत कोणासही परिचय झालेला नाही असें नाही; आणि त्याचा देशाभिमान, कळकळ, विद्वत्ता, वाचन व मनाचा कोवळेपणा वगैरे गुण सर्वास माहीत आहेत. आमच्या युनिव्हर्सिटींतून गेल्या तीस पस्तीस वर्षांत जे काहीं थोडे प्रसिद्ध विद्वान् लोक बाहेर पडले त्यातच प्रो. जिनसीवाले याची गणना होती; व पश्चात् याच्याइतक्या खऱ्या कळकळीचा, विद्वान् आणि बहुश्रुत पुरुष आम्हास मिळण्यास बराच काल लागेल असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. युनिव्हर्सिटींतून दर वर्षास बी. ए. किंवा एम्. ए. होऊन बरेच लोक बाहेर पडतात; पण शाळेंत, कॉलेजांत व कॉलेज सुटल्यानंतर आमरणांत वाचनाची अभिरुची कायम ठेवून सतत विद्याव्यासंग करणारे आणि अशा रीतीनें संपादन केलेल्या ज्ञानाचा लोकास फायदा करून देणारे युनिव्हर्सिटीच्या पदवीधरातही क्वचित् आढळतात. “शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ” असें जे एका पुरातन कवीचें वचन आहे तेंच युनि-

व्हर्सिटीचे पदवीधरांसही लागू पडतें; आणि अशा दृष्टीने पाहिलें म्हणजे प्रो. जिनसीवाले याच्या मृत्यूनें आम्हांपैकी एक मोठा विद्वान्, देशाभिमानी आणि खऱ्या कळकळीचा पुरुष नाहीसा होऊन आमचे अपरिहार्य नुकसान झाले असें म्हणणें भाग येतें. प्रो. जिनसीवाले हे ग्वाल्हेर येथे इल्लीं जहागीरदार म्हणून जें जिनसीवाल्यांचें घराणें आहे त्यापैकीच होत; व वडिलोपार्जित इस्टेटीची योग्य वाटणी होऊन जर प्रोफेसरसाहेबाचा हिस्सा त्यास किंवा त्याच्या वांडलास मिळाला असता, तर प्रोसरसाहेबास निदान चारपाच लाखाची तरी इस्टेट मिळून ' प्रोफेसर ' याच्याऐवजी त्याच्या मागे ' श्रीमत ' हें विशेषण लावावे लागलें असतें. पण दैवगति विचित्र आहे. प्रोफेसरसाहेबाचा जन्म १८५२ इसवीच्या नोव्हेंबर महिन्यात झाला. तेव्हा त्याचे वडील व ग्वाल्हेरचें घराणें हीं एकत्रच होती; परंतु पुढें पाच सात वर्षांनी विभागाच्या वेळी प्रोफेसराचे वडील व इतर आप्त यांच्या मध्ये तंटा होऊन " घेईन तर माझ्या वाट्यास येतें तितकें सर्व द्रव्य घेईन, नाही तर भिक्षा मागेन " अशा निश्चयानें वडील ग्वाल्हेरीहून निघाले, व लक्ष्मीस अखेरचा नमस्कार करून आपल्या अल्पवयी चिरंजीवासह नगर जिल्ह्यात येऊन राहिले. यावेळी याच्या उदरनिर्वाहाचे साधन म्हणजे खरोखरच ब्राह्मण्याचा सहज अधिकार किंवा माधुकरी होय. वडिलाचा हा करारीस्वभाव जन्मतःच मुलामध्ये उतरला होता असे प्रोफेसरसाहेबाच्या चरित्रावरून दिसून येतें. असो; उभयता बापलेकांची जोडी अशा रीतीने लक्ष्मीचा परित्याग करून आल्यावर मुलाकडून विद्याभ्यास करवून त्यास हुषार करावयाचे असा तीर्थरूपानीं संकल्प केला; दारिद्र्यादि संकटावस्थेतही परमेश्वरकृपेने तो तडीस गेला. प्रो. जिनसीवाले याचा लहानपणचा विद्याभ्यास काहीं नगरास व काहीं पुण्यास झाला होता; व तो सर्व काही लोकांच्या मदतीनें व काहीं स्वतःच्या हुशारीनें, स्कॉलरशिपस किंवा बक्षिसे मिळवून त्यानी केलेला होता. पुढें कॉलेजात आल्यावरही अशाच प्रकारच्या मदतीने त्यानी आपला अभ्यास पुढे चालविला. व १८७२ मध्ये बी. ए. परीक्षा पास होऊन फेलोशिप मिळाल्यावर १८७६ साली ते एम् ए पास झाले. आणि नंतर डेकन कॉलेज सोडले. कॉलेजात असताना याचा ऐतिहासिक वाचनाबद्दल चागला लौकिक होता. व प्रो. वर्डेस्वर्थसारख्या विद्वानाची यांच्यावर पूर्ण मर्जी होती. इतिहास, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, तत्त्वज्ञान व संस्कृत हे याचे आवडीचे विषय असत; आणि कॉलेजात असताना या विषयावरील अनेक पुस्तकांची टिपणे किंवा ' नोट्स ' जितक्या यांनी हाताने लिहून काढल्या होत्या तितके त्या विषयाचें वाचनही सामान्य विद्यार्थ्यांच्याकडून होत नसे. अर्थात् कॉलेजापासून या विषयांतील प्राविण्याबद्दल याची कीर्ति होती व तीच अखेरपर्यंत आपल्या उद्योगानें व व्यासंगानें त्यांनीं कायम ठेवली होती. कॉलेजांतील परीक्षा पास होऊन पुढें पुष्कळानीं नोकरीने किंवा अन्य तऱ्हेनें हजारो रुपये कमाविले आहेत; पण प्रो. जिनसीवाले

यांजपार्शी, जसा पांच सहा हजारांचा निवडक पुस्तकसंग्रह होता तशा प्रकारच्या पुस्तकसंग्रहांत पदरचे पैसे खर्च करणारे ग्रॅज्युएट विरळाच आढळतात ! कॉलेज सोडल्यावर कांहीं वर्षेपर्यंत हे पुणे येथील हायस्कुलात मास्तर होते व नंतर त्यांनी मुंबईच्या विल्सन कॉलेजांत संस्कृतच्या प्रोफेसराची जागा पत्करली. हे काम त्यांनी सुमारे १४।१५ वर्षे केले; परंतु काहीं उपद्रव्यापी मंडळींच्या खटपटीने त्यास पुढे या जागेचा राजीनामा देणे भाग पडले. ह्या प्रसंगाची हकीगत त्यावेळीं प्रसिद्ध झालेलीच आहे. करितां त्याची द्विशक्ति येथे करित नाही. इतकेंच सागतो की, त्यावेळीं झालेलीं सर्व कृत्ये जर बाहेर पडतील तर प्रो. जिनसीवाले याच्या त्या वेळच्या प्रतिपक्ष्याची अनुदारता आणि खोटेपणा हीं मात्र अधिक व्यक्त होतील. प्रो. जिनसीवाले यांच्या अंगीं कांहीं दोष नव्हते असें आम्ही म्हणत नाही. जो पुष्कळप्रसंगीं गुण असतो तोच एखाद्या प्रसंगीं अवगुण होतो हे संसारांतील तत्त्व सर्वास माहीत आहे; व कोणत्याही पुरुषाच्या चरित्राची मीमांसा करतांना हे तत्त्व नेहमीं लक्षांत ठेविलें पाहिजे. परंतु तसें कांहीं एक न करतां व प्रो. जिनसीवाले यांच्या मनाचा कोवळेपणा किती होता हे लक्षांत न आणतां त्यांनीं आपल्या बायकोस एका प्रसंगीं थोडी शिक्षा केली, यावरून गवगवा करून त्यांच्या इतिशत्रूंनीं त्यांस नोकरी सोडण्याचा प्रसंग आणिला हे लक्षांत आणलें म्हणजे “ तत्को नाम भवेत् गुणो हि गुणिनां यो दुर्जनैर्नाकितः ” या सुभाषिताची आठवण झाल्याखेरीज राहत नाहीत. असो; प्रो. जिनसीवाले यांनीं ही जागा सोडल्यावर मरेपर्यंत आपला निर्वाह सदर मुदतींत त्यांनीं जो कांहीं द्रव्यसंचय केला होता त्यावरच चालविला होता. कॉलेजांतील अभ्यास परिपूर्ण झाल्यावर त्यांचे लग्न झाले व त्यास एक मुलगाही झालेला होता. पण दोन वर्षांपूर्वीं त्यांची पत्नी व मुलगा हीं दोघेही प्लेगने वारलीं; व या आकस्मिक घाल्यानें शेवटीं शेवटीं त्यांचे मन फार उद्विग्न झाले होतें. तथापि, मूळचा स्वभाव निश्चयी असल्यामुळे त्यांनीं आपला आयुष्यक्रम पूर्वीप्रमाणेंच अबाधित चालूं ठेविला होता. त्यांस आग्रही म्हणून कांहीं लोक दूषणें देत असत, परंतु हंसस्वरूप स्वामींचीं पुणे येथे जेव्हां व्याख्यानें झालीं तेव्हां त्यांच्या व रा. टिळक यांच्या दरम्यान सभेंत उघड मतभेद व वाद होऊनही त्यांनीं पुन्हां रा. टिळकांशीं आपलें वर्तन पूर्वीप्रमाणेंच ठेविलें हे ज्यानी पाहिलें आहे त्यांस त्यांच्याठायीं मनाचा कोवळेपणा, सत्यनिष्ठा व स्वदेशावदलची प्रीति हे गुण आग्रहापेक्षां अधिक जागृत होते याबद्दल दुसरा पुगवा देण्याची जरूरी नाही. प्राचीन हिंदुधर्मावर त्यांची अतिशय श्रद्धा होती. तथापि, वेद पौष्येय आहेत अशी त्यांच्या मनाची खात्री झाली असल्यामुळे ती गोष्ट सभेंत उघडपणें बोलून दाखविण्यास त्यांनीं कधींही कमी केले नाही. ही गोष्ट लोकांस प्रिय नाही हे त्यांस कळत नव्हतें असें नाही, इतकेंच नव्हे तर श्रुतिस्मृतींचें प्रामाण्यही त्यांस पूर्णपणें कबूल होतें. तथापि ‘ सत्य तै सत्य ’ या न्यायानें त्यांचे याबद्दलचें मत स्पष्टपणें सांगण्यास ते नेहमीं तयार

असत. अनेक देशांच्या इतिहासाच्या वाचनानें आपल्या देशाच्या राजकीय स्थिती-संबधानेंही त्याचे विचार राज्यकर्त्यांस किंवा त्यांच्या खुषमस्कऱ्यांस गोड न वाट-तील अशा प्रकारचे होते. तथापि परमेश्वरकृपेनें आमचा देश याही विपर्त्तितून केव्हांना केव्हां बाहेर पडेल असा त्यांचा स्वतःच्या मनोवृत्तीवरून व इतिहासाच्या वाचनानें पूर्ण ग्रह झाला असल्यामुळे त्यांनीं यासंबंधाचीं आपलीं मते स्पष्टपणें बोलून दाखविण्यास कधीही कसूर केली नाही; किंबहुना हें आपलें प्रमुख कर्तव्य आहे असा त्यांचा ग्रह झालेला होता. व त्याची वाणी जात्याच रसाळ असल्या-मुळे एखाद्या प्रसंगीं अनेक देशांच्या इतिहासाच्या आधारे जेव्हां या देशाच्या स्थितीसंबंधाने ते बोलत तेव्हा हजारों लोकांच्या चित्तवृत्ति त्यांच्याप्रमाणेंच क्षणभर क्षुब्ध झाल्याखेरीज राहत नसत. अमुक एक विषय अमुक एक काळांत व्यव-स्थित रीतीनें मांडण्याची किंवा तो कागदावर लिहून काढण्याची शैली प्रोफेसर साहेबांच्या अंगांत नव्हती हें खरें आहे; आणि त्याचप्रमाणें दहापांच माणसें एके-ठिकाणीं गोळा करून त्या सर्वांस आपल्या कक्षांत ठेवून एखादें कार्य सिद्धीस नेण्यास ज्या गुणाची अर्गी अपेक्षा असते तशा प्रकारचा गुणही प्रो. जिनसीवाले यांच्या अंगी विशेष नव्हता असें म्हटले तरी चालेल. पण अमुक एक गुण अंगीं नाही, म्हणून एखाद्या पुरुषाच्या अंगीं असलेल्या इतर गुणांचेही गौरव न करणें आमच्या मते दुर्जनतेचें लक्षण होय. देशाबद्दल खरी कळकळ व प्रेम, इतिहासाचें विस्तृत व व्यापक अवलोकन, सतत विद्याव्यासंग, अलीकडे सुशिक्षितांमध्ये ज्या व्यसनाचा प्रसार होत चालला आहे त्यापासून किंवा इतर व्यसनांपासूनही अलिप्तता, शुद्ध आचरण, सत्यनिष्ठा, गोड आणि अस्खीलत वाणी, स्वधर्मावर पूर्ण निष्ठा, आणि तीनतीन चारचार तासपर्यंत अस्खलित भाषण करण्याइतकें शारीरिक आणि मानसिक सामर्थ्य हे गुण जर कोणाही पुरुषास लोकमान्य व लोकप्रिय होण्यास पुरेसे नाहींत; तर ज्या देशांत अशी स्थिति आहे त्या देशाचे दुर्दैव होय असें समजलें पाहिजे. प्रो. जिनसीवाले यांच्या भाषणांत पाल्हाळ पुष्कळ असे, असा एक त्याजवर आक्षेप होता. पण हें लक्षात ठेवावयास पाहिजे होतें कीं, ते जीं व्याख्यानें देत तीं ज्ञानेच्छुंकरिता होती; व ज्यास सदर ज्ञातीची अपेक्षा नाही त्यांनीं व्याख्यान सोडून जाण्यास प्रो. जिनसीवाले यांची कधीही हरकत नव्हती. “वाणी ममैव सरसा यदि रंजयित्री न प्रार्थये रसविदामवधान दानम् ॥” या वत्त्वावरच त्यांची मोठी भिस्त होती; आणि तें उभे राहून बोलूं लागले असतां त्यांच्या रसाळवाणीनें पुष्कळ लोकास त्यांच्या इच्छेविरुद्धही बंदिवान करून सोडलेलें आहे. असो; गेल्या नोव्हेंबर डिसेंबरात पुण्यास प्लेग असल्यामुळे त्यांचे मित्र डॉ. तळवळकर याचेकडे बडोद्यास राहण्यास ते गेले होते, व तेथून नुकतेच ते मुंबईस आले असून गणपतीचे उत्सवाकरितां पुण्यास येण्याचा त्यांचा विचार होता. बडोद्यास त्यांचीं काहीं व्याख्यानें झालीं आणि मुंबईसही नुकतेंच नॉव्हेंस्टी थिएटरांत

त्यांच्या वक्तृत्वाचा लाभ तेथील लोकांस मिळाला. पण हें त्यांचें वक्तृत्व शेवटचें होय असें तेव्हा कोणासही वाटलें नाहीं. रविवार ता. १६ रोजीं नियाप्रमाणें ते ब्राह्मणसभेत संध्याकाळीं जाऊन विन्हाडी आलें आणि जेवणखाण करून मंडळींशीं काहीं वेळ बोलतही बसले होते. ह्या संबंध दिवसात अगर या पूर्वीं दोन तीन दिवसही त्यांच्या मनाला त्रास किंवा श्रम होईल अशी कोणतीही गोष्ट म्हणजे व्याख्यान, वादविवाद वगैरे घडून आली नव्हती. रविवारीं रात्रीं ते नेहमीं प्रमाणेच निजावयास गेले; आणि सुमारे घटकाभंगाने आथरणात कण्हावयास लागले. तेव्हा शेजारच्या मंडळींनी त्यास जागे केलें, आणि काय होतें म्हणून विचारिलें सर्वांगास घाम आला आहे व मुग्या येतात असे त्यानीं सांगितलें. तेव्हां डॉ. देशमुख जवळच होते त्यास बोलावून आणिले. तोमर्थत त्यांस शुद्धि होती. परंतु ती लवकरच नाहीशी होऊन अखेरपर्यंत ते बेशुद्ध होते. डॉक्टरांच्या पंगक्षेवरून असें कळतें की, त्यांच्या मस्तकात रक्त एकाएकीं चढून अर्धाग वायू होते वेळीं जसा झटका येतो तसा झटका आलेला आहे; आणि मेंदूतील एखादी शीर फुटून रक्तही मेंदूत जाऊं लागले आहे. अशा प्रकारचा रोग दुःसाध्य असतो. औषधोपचार जेवढे करावयाचे तेवढे केले; पण त्याचा काहीं एक उपयोग न होता प्रो. जिनसीवाले यास वर लिहिल्याप्रमाणें मगळवार तारीख १८ रोजीं सकाळीं ७॥ वाजता बेशुद्धांतच देवाज्ञा झाली. त्याच्या स्मशानयात्रेची हकीकत दुसरीकडे दिलीच आहे. त्याच्या पश्चात् त्याची बहीण व चुलत भावाचा मुलगा हेच काय ते जवळचे आस आहेत. पण यापैकी मरणसमयीं त्यांच्याजवळ कोणीही हजर नव्हते. याची शरीर प्रकृती सामान्यतः निकोप होती; व एकावनाव्या वर्षीं त्याजवर एकाएकीं असा प्रसंग येईल असे कोणासही वाटले नव्हतें. परंतु ईश्वरी नेमानेम काहीं विचित्र असतात; आणि ते अशा उदाहरणावरूनच आमच्या प्रत्ययास आणण्याची ईश्वराची इच्छा असते असें म्हणणे भाग येतें.

असो; वरील हकीकतीवरून प्रो. जिनसीवाले हे कोणत्या प्रकारचे मनुष्य होते हें सामान्यतः लक्षात येईल. परंतु ज्याकरिता त्यांच्यासाठीं आम्हास हळहळ वाटते त्याचें कारण निराळेंच आहे. इंग्रजी विद्येचा या देशांतील ज्या पुरुषांच्या बुद्धीवर संस्कार झालेला आहे त्यांच्यामध्ये प्रो. जिनसीवाले याचें उदाहरण हें एक विशिष्ट प्रकारच्या तत्त्वाचे द्योतक होते; व याच्या चरित्रापासून कोणास काहीं धडा घ्यावयाचा असेल, तर तो या संबंधाचाच होय. सामान्य प्रतीच्या निश्चयी पुरुषाच्या बुद्धीतही इंग्रजी विद्येने हिंदुधर्म, हिंदुआचार, हिंदुगृहस्थिति या संबंधाने व्यामोह उत्पन्न होऊन त्याबद्दलच्या त्याच्या मतात आणि आचारात एकप्रकारचा दुहेरीपणा किंवा द्विधाभाव उत्पन्न होत असतो; आणि पुष्कळ वेळां हें करूं कीं तें करूं, विजार घालूं कीं धोतर नेसूं, बायकोस शिक्षण देऊं कीं न देऊं, आपल्या देवळांत जाऊन मूर्तीस नमस्कार करूं का खिस्ती लोकांसारखे विनमूर्तीचें देवालय करून तेथे प्रार्थना करूं, संध्या करूं कीं प्रार्थना गीतें म्हणूं,

अशा प्रकारच्या संशयांनी त्यांचे मन घोंटाळून जाऊन कित्येकदां तो “ न संध्यां संधते नियमित निमाजान्नकुस्ते ” अशा प्रकारे कांहीच करित नाही, किंवा कांहींतरी आचरट आचरण करित सुटतो. इतकेंच नव्हे, तर पाश्चिमात्य व पौर्वात्य सुधारणांची जी हल्लीं टक्कर चालू आहे, त्यांत इंग्रजी शिक्षणाने सुशिक्षित झालेल्या वर्गाच्या मनाची स्थिती अशी होणे स्वाभाविकच आहे. अशा रीतीने आपल्या मनाचे समाधान करून घेत असतात. हे त्यांचे विचार बरोबर नाहीत हे प्रतिपादण्यास प्रो. जिनसीवाले हे एक चांगले उदाहरण होतें. प्रो. जिनसीवाले यांची विद्वत्ता इतर एम्. ए. पेक्षा काहीं कमी नव्हती, कांकणभर जास्तच होती हे कोणासही कबूल करावे लागेल. पण इंग्रजीचा अभ्यास पुरा होण्यापूर्वी त्यांच्या घरचे जे त्यांस शिक्षण होतें, वडिलांपासून जे अनुवंशिक संस्कार त्यांच्यामध्ये आलेले होते व दारिद्र्योदकाने ज्यांचीं मुळे खोल गेलेलीं होती त्या संस्कारामुळे इंग्रजी विद्येचा वर लिहिलेला अनिष्ट परिणाम त्यांच्या मनावर झाला नाही. मी हिंदु आहे, माझा धर्म वैदिक आहे, त्या धर्माच्या परंपरेने ईश्वरोपासनेचा जो मार्ग लावून दिला आहे तो बदलण्याची कांहीं आवश्यकता नाही, तो मला पाळला पाहिजे, व त्यांतच माझे व माझ्या देशाचे कल्याण आहे; सारांश मी हिंदु आहे, हिंदु राहीन, हिंदु मरेन आणि हिंदु-त्यानेच आपला अभ्युदय केव्हांना केव्हां तरी संपादन करीन असा त्यांचा पूर्ण विश्वास होता; आणि तो विश्वास बदलण्यास पाश्चिमात्य शिक्षणाची सबब इतर सुशिक्षित पुढे आणतात ती खरी नाही असे त्यांनी आपल्या आचरणांवरूनच सिद्ध केले होतें. प्रो. जिनसीवाले यांच्या चरित्रापासून तरुण मंडळीने जर कांहीं विशेष बोध घ्यावयाचा असेल तर हाच होय. वारा वाहील तशी पाठ फिरविण्याची ज्याना संवय आहे, उपहासास किंवा त्रासास न जुमानतां आपलेपणा कायम ठेवण्याचे ज्यांच्या आंगी घैर्य नाही अशा लोकांनी प्रो. जिनसीवाले सारख्यांची थट्टा केली आहे व पुढेही करतील. पण तरुण पिढीने एवढी गोष्ट लक्षांत ठेवावी की, देशामध्ये कांहीं करारी पुरुष उत्पन्न होऊन त्यांच्या हातून देशाचे जर कांहीं कल्याण व्हावयाचे असेल तर ते या मार्गाने व्हावयाचे नाही. प्रो. जिनसीवाले यांस सुधारणा नको होती असे नाही, किंबहुना ज्या आपल्या पत्नीस गृहकृत्यांत थोडीशी चूक केल्यामुळे त्यांनी शिक्षा केली असा बोभाटा झालेला आहे त्या पत्नीस संस्कृत व इंग्रजी शिक्षण देऊन विद्वान् करण्याचे त्यांच्या मनांत होतें व त्या त्या प्रमाणे त्यांनी तजवीजही केली होती, हे त्यांच्या मित्रांपैकीं पुष्कळांस माहित असेलच. पण अशा प्रकारची सुधारणा करणे जरी त्यांस पूर्णपणे संमत होतें तरी इतर बाबतींत ‘ डबल लाईफ ’ म्हणून जो कांहीं आचरटपणा सुरू झाला आहे तो त्यांस बिलकूल मान्य नव्हता; आणि त्यांचा स्वभाव जात्याच निश्चयी असल्यामुळे ते त्याचा निषेधही मोठ्या निश्चयाने आणि निग्रहाने

करीत असत. पाश्चिमात्य विद्येचा खिस्ती धर्मातील विद्वानांवर जर वाईट परिणाम होत नाही असें ग्लॅडस्टनसारख्यांच्या चरित्रांवरून आम्हांस समजते तर आम्हांवरच तसा परिणाम होण्यास धार्मिक व गृहशिक्षणाचा अभाव वगैरे दुसरीं कांहीं कारणे आहेत. अशी इतिहासावरून त्यांची खात्री झालेली होती; व त्यामुळे 'डबल लार्डफ' किंवा वर सांगितलेली द्विधाभाव किंवा चलबिचल त्यांस केव्हाही कोणत्याही वावतीत खपत नसे. आमच्या सामाजिक व धार्मिक वर्तनाच्या तराजूची दाडी हल्लींच्या परिस्थितीत उजू राहण्यास विद्वत्तेनें व स्वतःच्या आचरणाने ही गोष्ट प्रतिपादन करणाऱ्या पुरुषाची आम्हांस अत्यंत जरूर आहे. प्रो. जिनसीवाले हे अशा प्रकारचे पुरुष होते. आणि त्यांच्या मरणानें जें आमचे मोठें नुकसान झालें तें हेंच होय की, गृहशिक्षणाच्या अभावामुळे किंवा हिंदु रितीभार्तीच्या किंवा धर्माच्या अज्ञानामुळे अथवा आपले बापचुलते इंग्रजी शिक्षणाने 'डबल लार्डफ'चे झाले म्हणून त्यांच्या उदाहरणानें ज्यांचीं मनें हल्लींच्या काळांत चंचल होतात किंवा होण्याचा संभव आहे, त्यांस अधिकारानें दोन गोष्टी सागून पुनः ताळ्यावर आणण्याचा उद्योग करणारा आमच्यापैकीं एक मोठा पुरुष नाहीसा झाला. एम्. ए. झालेले किंवा संस्कृतांचे अथवा इतिहासाचेंही चांगले अध्ययन केलेले पुरुष प्रो. जिनसीवाल्याप्रमाणें सध्या आहेत व पुढेही होतील. पण वर जो त्याचा विशिष्ट गुण सांगितला आहे तो उत्तरोत्तर महाग होत चालला आहे; व तो दुर्मिळ न होण्याची जर कांहीं तजवीज करावयाची असेल तर त्यापैकीं मुख्य तजवीज म्हटली म्हणजे प्रो. जिनसीवाले याचे उदाहरण आमच्या तरुण पिढीनें लक्षात ठेवावें हेंच होय. दृढनिश्चय, व करारीपणा हे गुण काही अंशां आनुवंशिक आहेत हें खरें; पण उदाहरणानें, उपदेशानें, विचारानें आणि अभ्यासानें हें गुण बऱ्याच अंशां येऊं शकत नाहीत असें नाही. करिता प्रो. जिनसीवाले हे तरुण पिढीस उपदेश करीत असत, म्हणजे "सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाधाय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवोभव । पितृदेवोभव । आचार्यदेवोभव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । इ०" तोच बोध त्यांच्या चरित्रापासून घेण्यास विनंति करून व प्रोफेसरांसारखे निश्चयी व विद्वान् पुरुष पुनः लवकरच आमच्यामध्ये निर्माण होवोत, अशी परमेश्वराजवळ प्रार्थना करून हा दुःखदायक मृत्युलेख पुरा करितों.

*प्रो. रानडे यांचा नवा इंग्रजी--मराठी कोश.

कोश आणि व्याकरण हीं कोणत्याही भाषेच्या उत्कर्षाचीं प्रधान अंगें होत. जामदारखान्यांत केवळ रत्नें पुष्कळ आल्यानें भागत नाहींत, तर ज्याप्रमाणें जामदारखान्याच्या मालकाजवळ सदर रत्नांच्या रूपाची, वर्णाची व किमतीची याद असावी लागते, तद्वत्च भाषेचे शब्दभाडागार वापरणाऱ्या लोकांची स्थिति होय. भाषेस जें प्रौढ स्वरूप प्राप्त होते तें त्यातील शब्द संचयामुळे होत असतें. पण आपणाजवळ शब्दसंचय आहे किती, असलेला पुरा नसल्यास नवीन किती मिळण्याचा संभव आहे, असलेल्या संचयाची योग्यता काय आणि त्याच्यामध्ये अर्थद्योतकपणा किती किंवा वतनदारी कोणत्या प्रकारची आहे हे जर नीट लक्षात नसेल, तर शब्दसंचय पुष्कळ असूनही त्याचा उपयोग चांगल्या रीतीनें करतां येणें शक्य नाहीं. भाषेस कोशाची आणि व्याकरणाची जी मदत होते ती याच कारणी होय; आणि या कारणांमुळेच जगातील नव्या जुन्या सर्व प्रौढ भाषांचे कोश व व्याकरणे झालेलीं आपल्या दृष्टीस पडतात. व्याकरण हे वेदाचें मुख व निरुक्त हे कान आहेत असे पडांगातील दोन अंगासंबंधानें प्राचीन उल्लेख आहे. अशा दृष्टीनें पाहिलें म्हणजे कोश आणि व्याकरण हे दोनही भाषेचें जीवप्राणच समजलें पाहिजेत. ज्या सिद्ध पुरुषाच्या जिव्हाग्री सरस्वती वास करीत असते त्यांस कोशाची अगर व्याकरणाची तादृश जरूर लागत नाहीं, एवढ्यावरून कोश आणि व्याकरण हीं साधनें भाषेच्या अभिवृद्धीस आवश्यक नाहींत असें जर कित्येकांचें मत असेल तर तें अगदीं चुकीचें आहे. 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति' हे वचन जरी खरें असलें तरी सर्वच ग्रन्थकारांचा अधिकार एवढा मोठा असतो असे नाहीं. वाग्देवीचें मंदीर लुटण्याची निसर्गतःच ज्यास पूर्ण मोकळिक मिळाली आहे त्यांची आणि भाषेतील इतर ग्रन्थकारांची तुलना करूं लागल्यास पुष्कळ प्रसंगीं 'घटाना निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः' असें म्हणण्याची पाळी आल्याखेरीज रहावयाची नाहीं. सारांश, देशांत संपत्ति कितीही विपुल असली तरी तिचा एके ठिकाणी ज्याप्रमाणें व्यवस्थित संग्रह करावा लागतो तद्वत्च व्याकरणाच्या कसोटीस लावून शब्दरत्नें मोठ्या काळजीनें आणि व्यवस्थित रीतीनें संग्रहित करावीं लागतात. हे काम मोठ्या मेहनतीचें, विद्वत्तेचें, आस्थेचें आणि शोधपूर्वक विवेचनाचें असते. भाषेचे घटकावयव काय, प्रसंगानुसार यौगिक किंवा व्युत्पत्तिदृष्ट्या समानार्थक शब्दाची रूढ भाषेत भिन्नार्थी योजना कशी करतात, त्यातील भेदाभेद कोणते आणि ते पहिल्यापासून तसेच कायम आहेत कीं, भाषेच्या वाढीबरोबर बदलत चाललेले आहेत, नव्या कल्पना, नवे विचार भाषेमध्ये घेण्यास जीं द्वारे आहेत तीं भाषेच्या अभिवृद्धीस पुरेशीं विस्तृत आहेत कीं, अधिक विस्तृत करावयास पाहिजेत, एकच

भाषा बोलणारे परंतु निरनिराळ्या प्रांतांत राहणारे अशा लोकांत प्रयोगांची किंवा शब्दांची निरनिराळीं स्वरूपे कशी होतात, त्यांतील ग्राह्य कोणती आणि अग्राह्य कोणती, शुद्ध कोणती, अशुद्ध कोणती, इत्यादि अनेक गोष्टींचें धोरण ठेवून कोशकारांस आपलें काम करावें लागतें. संस्कृत भाषेंत छपन्न कोष आहेत, पण त्यांत अमरकोशाचीच योग्यता कां विशेष धरली जाते याचा ज्यानें थोडाबहुत विचार केला असेल त्यास आमच्या म्हणण्याचा प्रत्यय आल्याखेरीज राहणार नाही. त्यांतून अलीकडे अलीकडे जगांतील सर्व भाषांचा अभ्यास पाश्चिमात्य विद्वानसमूहांत सुरू झाला असल्यामुळे निरनिराळ्या भाषेंतील शब्दांची तुलना करणें हा कोशकारांस एक अधिक विषय झाला आहे. आणि सर्वांचा विचार करून स्वभाषेंत कोश करणें मोठ्या विद्वत्तेचेंच नव्हे तर मोठ्या परिश्रमाचेंही काम झालें आहे.

स्वभाषेंतल्या स्वभाषेंत कोश रचना असली तरी कोशकारांस किती गोष्टींकडे लक्ष पुरवावें लागतें हें या गोष्टींवरून कळून येईल. परंतु एका भाषेंतील विचार जेव्हां दुसऱ्या भाषेंत उतरावयाचे असतात, तेव्हां कोशकारांस वरच्यापेक्षाही अधिक परिश्रम करावे लागतात; इतकेच नव्हे, तर एका भाषेच्याऐवजीं दोन्ही भाषांचेही पुरें ज्ञान त्यास असावें लागतें. तशांतून एक भाषा अभिवृद्धीच्या शिखरास पोचलेली आणि दुसरीच्या अभिवृद्धीस नुकताच आरंभ झालेला अशी स्थिति असेल तर मग कांहीं विचारावयासच नको. कोणतीही भाषा घ्या, त्यांतील शब्दसमूह ती भाषा बोलणाऱ्या लोकांच्या विचाराचे, शानाचे किंवा एकंदर समाजस्थितीचे चित्राप्रमाणें द्योतक असतात; किंबहुना एखाद्या तळ्यांत सभोंवारच्या वस्तूंचें जसें प्रतिबिंब पडतें त्याचप्रमाणें प्रत्येक देशांतील लोकांच्या आचारविचारांचें, धर्मांचें, नीतीचें, तत्त्वज्ञानाचें, व्यापाराचें व समाजस्थितीचें चित्र त्यांच्या भाषेंत उतरलेलें असतें असें म्हणण्यास कांहीं हरकत नाही. 'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्वितिस्तताः' असें जें मनुनें म्हटलें आहे तें अगदीं यथार्थ आहे; व त्यामुळेच भाषेच्या अभिवृद्धीवरून लोकांची स्थिति व लोकांच्या स्थितीवरून भाषेची अभिवृद्धि यांजवळ सहज अनुमान करतां येतें. आता ही गोष्ट उघड आहे कीं, निरनिराळ्या देशांत निरनिराळ्या धर्मानें आणि निरनिराळ्या परिस्थितींत वागणाऱ्या लोकांचे विद्या, धर्म, नीति, व्यवहार किंवा त्यासंबंधाचे विचार बरेच भिन्न भिन्न असले पाहिजेत. अर्थात् भिन्न भिन्न देशांतील लोकांच्या भाषेंतील शब्दसमूहही भिन्नभिन्न अर्थांचा द्योतक असला पाहिजे. अशा भिन्न भिन्न शब्दसमूहाची तुलना करणें म्हणजे अमेरिकेंतील अँडीस् युरोपांतील आल्पस आणि आशियांतील हिमालय यांपैकी कोणत्या तरी एका पर्वताचें वर्णन दुसऱ्या पर्वताच्या वर्णनांत असलेल्या शब्दांनीच व्यक्त करण्यासारखें आहे. मानवजातीच्या व्यवहारांत जे शब्द सामान्य असतात तेथे विशेष पंचाईत पडत नाही; पण प्रत्येक देशांतील लोकांच्या विशिष्ट

विचारांचें, मनोधर्माचें किंवा मनोविकारांचें अथवा सुखःदुःखाचें चित्र ज्या शब्दांत असतें तशा शब्दांची तुलना करण्याचा प्रसंग आला म्हणजे कोशकारास पुष्कळ अडचण व त्रास पडतो. त्यांतून एक भाषा प्रगल्भ व दुसरी बाल्यावस्थेत असेल तर ही अडचण कधीं कधीं इतकी दुर्घट होते कीं, परिभाषेतील शब्द जशाचा तसा ठेवून त्याचा कसाबसा विस्तृत अर्थ देऊनच काम भागवावें लागतें. एखाद्या नागरिक प्रौढ वधूच्या श्रृंगारांतील नखरा खेडेगांवांतील मुग्धवधूजनांच्या विलासानें व्यक्त करणें जितकें अवघड आहे तितकेंच प्रौढ भाषेतील शब्दांचे निरनिराळे वाच्य किंवा व्यंग अर्थ त्यापेशां कमी दर्जाच्या भाषेतील शब्दांनीं स्पष्ट करणें दुर्घट होय. त्यांतूनही जेव्हां निरनिराळ्या भाषेतील म्हणांचा विचार किंवा तुलना करावी लागते तेव्हां पुष्कळ वेळां ही अडचण अपरिहार्य अशी भासू लागते. तथापि, कोशकारानें जें काम पत्करलें असतें त्याच्या सांगतेस या सर्व अडचणींचा यथाशक्ति त्यास परिहार करावा लागतो. अर्थात् हे काम सर्वोर्शा पूर्ण होणें कधींच शक्य नसतें, पण पूर्व ग्रन्थकाराच्या किंवा कोशांच्या सहाय्यानें आणि समकालिन विद्वत् समूहांच्या मदतीनें जेथवर मजल पोंचविणें शक्य असेल तेथवर इष्ट कार्याची मजल नेणें हे प्रत्येक कोशकाराचें कर्तव्य आहे; आणि कोणत्याही कोशाचें परीक्षण करतेवेळीं या सर्व गोष्टींचा अवश्य विचार केला पाहिजे. इंग्रजी भाषेचा पहिला कोश डॉक्टर जॉन्सननें केला, व तेव्हां भाषेच्या वाढीस अवश्य लागणारे लॅटिन व ग्रीक भाषेतील पुष्कळसे शब्द त्यानें इंग्रजी कोशांत सामील केले. पण हल्लींचे इंग्रजी भाषेचें स्वरूप पाहिलें तर या अवजड शब्दांच्या ऐवजीं सोपे शब्द घालण्याची प्रवृत्ति नजरेस येते. तथापि येवढ्याच करितां जॉन्सन यांस दोष देणें कधींच वाजवी होणार नाही, भाषेची अभिवृद्धि पुढें कशी व्हावी याबद्दल जरी आज थोडेंबहुत अनुमान करतां आलें तरी पुढें जी अभिवृद्धि सर्वोर्शा तशीच होते असें नाही, सबब वाढत्या भाषेचा कोश करणारानें आपल्या किंवा आपल्या वेळच्या समजुतीप्रमाणें आपलें काम पुरें करून टाकणें एवढेंच त्याचें कर्तव्य आहे व तें केलें म्हणजे त्यानें आपलें काम चांगल्या रीतीनें बजावलें, असें म्हटलें पाहिजे.

हे विचार सुचण्याचें कारण प्रो. एन्. बी. रानडे बी. ए. यांनीं विसाव्या शतकांतील इंग्रजी-मराठी कोशाचा आमच्याकडे पाठविलेला पहिला भाग होय. अशा प्रकारचा पहिला मराठी कोश म्हटला म्हणजे कॅडीसाहेबांनी केलेली इंग्रजी-मराठी डिक्शनरी आहे. पण ही डिक्शनरी अव्वल इंग्रजी असल्यामुळें गेल्या ५० वर्षांत मराठी भाषेच्या शब्दसंग्रहांत जी भर पडलेली आहे किंवा भाषेच्या स्वरूपांत जो फरक पडलेला आहे तो कॅडीसाहेबांच्या डिक्शनरींत आढळून येत नाही. उलट कित्येक वेळां केवळ या डिक्शनरीच्या सहाय्यानें इंग्रजीतून मराठींत भाषांतरें परकीय लोक Sugar coated याचें “ साखरावगुंठित ” असें भाषांतर करून न जाणतां आपणांस व आपल्या भाषांतरास उपहासास पात्र करून घेतात.

भाषा हा विषयच असा काहीं नाजुक आहे कीं, जेव्हां एखाद्या भाषेत नवे विचार व्यक्त करावयाचे असतात तेव्हां ती ज्यांची स्वभाषा आहे त्यांच्या हातून ते जसे व्यक्त होतात तसे इतरांच्या हातून होत नाहीत. मिशनरी लोकांनीं केलेल्या बाय-बलाच्या भाषांतरावरून ही गोष्ट उघड होत आहे. हे मिशनरी किंवा कॅंडीसाहेब याना महाराष्ट्रातील लोकांचे साहाय्य नव्हतें असें नाहीं. तथापि एखादी भाषा आपली जन्मभाषा असल्यानें सदर भाषेतील अर्थांचे भेद किंवा इतर स्वारस्य जितकें आपणांस अचुकपणे समजतें तितकें तें परकीयास समजणें कठीण आहे. अशा दृष्टीनें पाहिले म्हणजे इंग्रजी मराठी कोशाचे काम प्रो. रानडे याच्या-सारख्या विद्वान् मनुष्यानें हाती घेतले आहे, ही मोठ्या समाधानाची गोष्ट आहे. त्यांतूनही विशेष समाधान मानण्यासारखी गोष्ट ही कीं, प्रो. रानडे यांनी या कामी अलिकडील निरनिराळ्या पाश्चिमात्य शास्त्रात प्रविण असलेल्या बहुतेक विद्वानांचे साहाय्य घेतलें आहे, इतकेंच नव्हे तर निरनिराळ्या शास्त्रां-तील पारिभाषिक शब्द त्या त्या शास्त्रांतील प्रवीण लोकांच्या नजरेखालून जातील अशी पहिल्यापासून तजवीज ठेविली आहे. इंग्रजी भाषेतील निरनिराळ्या शास्त्रांचें ज्ञान आपल्या देशवांधवास व्हावें याबद्दल महाराष्ट्रातच नव्हे, तर बंगाल पंजाब, सिंध, गुजराथ, मलबार किंवा मद्रास प्रांतात सुशिक्षित लोकांचे प्रयत्न गेल्या पाचपन्नास वर्षे एकसारखे चालू आहेत; व ज्यानी ज्यानी असे प्रयत्न सुरू केले आहेत त्यांस त्यांस सर्व ठिकाणी एकच म्हणजे नवीन शब्दसमूहाची अड-चण आलेली आहे आणि ती दूर करण्याबद्दल प्रत्येक प्रांतांतील विद्वानांचे आप-आपल्या परीनें प्रयत्न चालू आहेत. गणित, ज्योतिष, शिल्पकला, यांत्रिकज्ञान, भूगर्भशास्त्र, जीवनशास्त्र, कायदा, नीतिशास्त्र इत्यादि अनेक विषयावर पाश्चि-मात्य विचार देशी भाषांतून उतरण्यास शब्दांची अडचण सर्व ठिकाणीं एक-सारखीच असल्यामुळे व ही अडचण दूर करण्यास सर्वांच्या दृष्टीनें मुख्य साधन संस्कृत असल्यानें निरनिराळ्या प्रांतांतून पुष्कळ अंशीं एकाच धर्तीवर नवीन शब्दरचना आढळून येते. बडोद्यात श्री. सयाजीमहाराज यांनी काढलेल्या कला-भुवनाकरितां शास्त्रीय परिभाषा निश्चित करून त्याचा कोश करण्याचें काम काहीं दिवसांपूर्वी चालू होतें, व हल्लींही बनारस येथें नागरी प्रचारणीं सभेत तोच क्रम सुरू ठेवला आहे. बंगाल्यांत विश्वकोश म्हणून इंग्रजीत ज्यास एनसॅक्लोपीडिया म्हणतात तशा प्रकारचा एक कोश तयार झाला आहे; आणि निरनिराळ्या प्रांतांतील देशी भाषांतून जी वर्तमानपत्रे किंवा मासिक पुस्तके निघतात त्यांतून नवे शब्द नवी कल्पना किंवा नवी भाषासरणी आणि विचारपद्धति जारीनें प्रचारांत येऊं लागली आहे. ही जी भाषेच्या अभिवृद्धीची प्रवृत्ति हल्लीं चालू आहे, तिचें धोरण कोणत्या प्रकारचे आहे हें लक्षांत आणून त्या-प्रमाणें नवे शब्द बनविणें किंवा परिभाषा ठरविणें अथवा ठिकाठिकाणीं जे शब्द पूर्वीच बनविले असतील त्यांतील ग्राह्य कोणते अग्राह्य कोणते, हें ठरवून त्या-

प्रमाणें इंग्रजी भाषेंतील शब्दांस प्रतिशब्द देणे हें इल्लींच्या परिस्थितींत इंग्रजी भाषेंतील शब्दांचा देशी भाषेंत परिपाक करूं इच्छिणाऱ्या कोशाकाराचे कर्तव्य आहे. हें कर्तव्य प्रो. रानडे यांनी चागल्या रीतीनें बजावले आहे असें इल्लींच्या त्याच्या कोशाच्या भागावरून व त्यास जोडलेल्या प्रस्तावनेवरून दिसून येतें. कै. पांडुरंग गोपाळ मंत्री यांनी या कोशाकरितां वनस्पतिशास्त्राचे एक हजार शब्द तयार करून दिले आहेत; व डॉ. देशमुख, प्रो. गज्जर, रा. ब. महाजनी, डॉ. गर्दे, वगैरे निरनिराळ्या ठिकाणच्या नव्या जुन्या विद्वानांनी सहाय्य केल्यामुळे प्रो. रानडे यांच्या कोशास एक प्रकारचें सार्वजनिक स्वरूप प्राप्त झालें आहे. इतक्या विद्वानांचें साहाय्य मिळण्यास किती प्रयास पडतात, हें अनुभवाशिवाय कोणाच्याही लक्षात येणे कठिण आहे. तथापि इतके सर्व परिश्रम घेऊन प्रो. रानडे यांनी मराठी भाषेचे सद्यःस्वरूप या कोशाच्यारूपानें महाराष्ट्र लोकांपुढें मांडलें याबद्दल सर्वांनी त्यांचें अभिनंदन केले पाहिजे. हा उद्योग एकदम नजरेत भरण्यासारखा नसल्यामुळे कित्येकांस त्याचें पूर्ण स्वरूप लक्षांत येत नाहीं. तथापि थोडीशी मेहनत घेऊन या कोशातील ठळक ठळक शब्द जर कोणी पाहिल तर प्रो. रानडे यांच्या श्रमाची किंमत त्यास सहज कळून येईल. उदाहरणार्थ, Art शब्द घ्या. ह्या शब्दापासून इंग्रजीमध्ये Artifice, Artist, Artistic, Artisan वगैरे पुष्कळ शब्द निष्पन्न झालेले आहेत. या सर्व शब्दांचा इंग्रजीतील अर्थभेद लक्षात आणून त्याप्रमाणें मराठींत शब्दयोजना करण्याचा प्रो. रानडे यांनी केलेला प्रयत्न; आणि अशा प्रकारचा प्रयत्न नवा असल्यामुळे जरी क्वचित कोणाचा एखाद्या स्थळीं मतभेद असला तरी रानडे यांच्या कोशांत दिलेल्या प्रतिशब्दापासून इंग्रजीतून मराठींत भापांतर करणारांस पुष्कळच मदत होईल यात बिलकुल शंका नाहीं. तसेंच Association हा शब्द पाहिला असतां केवळ 'सभा' येवढ्या महाराष्ट्र शब्दानेच त्याचा अर्थ व्यक्त न होतां निरनिराळ्या प्रसंगीं निरनिराळे कसे शब्द योजावे लागतात हेंही लक्षात येईल. अशा तऱ्हेचीं दुसरीही या कोशात पुष्कळ उदाहरणे आहेत. पण तीं सर्व येथे देऊन आम्ही जागा अडवीत नाहीं. आणखी एकाच गोष्टीचा उल्लेख करून संपवितों. ती ही की, जे काहीं इंग्रजी शब्द महाराष्ट्रभाषेत रूढ झाल्यासारखे आहेत ते टाकून देण्यात आतां कांहीं अर्थ राहिलेला नाहीं, हें तत्त्व प्रो. रानडे यांच्याप्रमाणें आम्हांसही मान्य आहे. बुकास पुस्तक, पेन्सिलीला शलाका, स्लेटीस अष्म पाटी किंवा रेल्वेस लोहमार्ग आणि स्टेशनास बाष्परथोश्चूवासस्थान अगर तिकिटास प्रवासपत्र वगैरे प्रतिशब्द देण्यांत कांहीं हंशील नाहीं. भाषेंत परकीय शब्द नसणें हें स्वाभिमानाचें लक्षण आहे खरें, पण त्याचा अर्थ असा की, परकीय शब्दांचा स्वदेशी शब्दांवर शिरजोरपणा होऊं नये; परकीय शब्द मुळींच स्वभाषेंतून येऊं नयेत असा नव्हे. संस्कृत भाषेंतही सामी, तामरस इत्यादि शब्द किंवा ज्योतिष शास्त्रातील जामित्र,

होरा, वगैरे शब्द परकीय आहेत ही गोष्ट सुप्रसिद्ध आहे; व इंग्रजी लोकांसही त्याचप्रमाणे त्यांचा ज्या देशांशी संबंध आला त्या त्या देशांतील शब्द आपल्या भाषेच्या कोशांत सामील करून घ्यावे लागले आहेत. हाच मार्ग मराठी भाषेतही स्वीकारण्यास कांहीं हरकत नाही. मात्र तो स्वीकारतांना एवढी खबरदारी घेतली पाहिजे की, त्यामुळे मराठी भाषेचा मराठीपणा मोडणार नाही.

सारांश, प्रो. रानडे यांनी हा जो उद्योग आरंभिला आहे तो महाराष्ट्र भाषेच्या अभिवृद्धीस अत्यंत आवश्यक आहे, हे कोणीही सुज्ञ मनुष्य कबूल करील. गेल्या ३०।४० वर्षांत मराठी भाषेस एक प्रकारचे नवीन स्वरूप प्राप्त झाले आहे; आणि त्यांत स्पेन्सरचे तत्त्वज्ञान, मिल्लेचे अर्थशास्त्र, किंवा हक्सले, टिंडाल, वगैरे आधिभौतिक शास्त्रावरील विचार येऊं लागले आहेत, एवढेच नव्हे तर वनस्पतिशास्त्र यांवरही पाश्चिमात्य ग्रंथांच्या साहाय्याने इकडे ग्रंथ होऊं लागले आहेत. या सर्व ग्रंथांतून आलेली परिभाषा एकवट करून पुढचा प्रगतीचा मार्ग दाखविणे, हे भाषेच्या खऱ्या हितचिंतकांचे कर्तव्य होय; आणि ते काम प्रो. रानडे यांनी मोठासा आश्रय नसतांही केवळ आपल्या हिंमतीवर अंगावर घेतले हे त्यांस भूषणावह आहे. मराठी भाषेची वाढ अद्याप पुरी झाली नसल्यामुळे हा कोश आणखी २५।३० वर्षांनी पुन्हां सुधारावा लागेल हे उघड आहे. पण तेवढ्याने प्रो. रानडे यांच्या ग्रंथाची योग्यता कमी होत नाही. करितां मराठी भाषेच्या हितचिंतकांकडून त्यांच्या परिश्रमाचे चांगले चीज होईल, अशी आम्हांस आशा आहे. कॅडी व मोलस्वर्थ यांचे कोश जेव्हां बाहेर पडले तेव्हां त्यास सरकारचा आश्रय होता, तशा प्रकारचा आश्रय हल्लींच्या ग्रंथास मिळणे अगदी योग्य आहे. पण हल्लींची परिस्थिती लक्षांत आणतां केवळ त्यांच्यावरच अवलंबून राहाणे बरोबर होणार नाही हे आम्हीं सांगावयास नको. कसेही असो; एवढी गोष्ट निश्चित आहे की, महाराष्ट्र भाषेच्या हितचिंतकांनी उदार आश्रय देऊन हे काम तडीस नेणे जरूर आहे. सुपररॉयल अष्टपत्री साऱ्याच्या १४०० पानांचा कोश वर्गणीदारांस १० रुपयांत मिळेल हा कांहीं लहानसहान लाभ नव्हे. कांहीं उदार गृहस्थांनी शंभर शंभर रुपये पहिल्याने कर्जाऊ देऊन त्या कृत्यास आश्रय दिला आहे. परंतु एवढा ग्रंथ छापण्यास सुमारे १५००० रुपयांहून अधिक खर्च येणार असल्यामुळे यापेक्षां जास्त आश्रय मिळणे जरूर आहे, व तो मराठी भाषेच्या हितचिंतकांकडून प्रो. रानडे यांस मिळेल अशी आम्हांस पूर्ण उमेद आहे. अशा प्रकारची मोठी कामे चांगल्या आश्रयाखेरीज होत नसतात, हे आम्हीं सांगावयास नको. व आम्हांस अशी आशा आहे की, प्रत्येक इंग्रजी मराठी जाणणारा या बड्या कोशाची एक प्रत घेऊन महाराष्ट्र भाषेच्या अभिवृद्धीस मदत केल्याचे श्रेय घेतल्यावांचून राहणार नाही. स्वभाषेच्या अभिवृद्धीस मदत करणे म्हणजे पुष्कळ अंशी स्वदेशाच्या अभिवृद्धीस मदत करण्यासारखेच आहे, हे आम्हीं सांगावयास नको.

*हिंदुधर्मावरील अलिकडचीं कांहीं पुस्तकें.

धर्मशिक्षणावांचून विद्यार्थ्यांचा स्वभाव जितका करारी बनावे तितका बनत नाही अशा प्रकारची ओरड जरी एका बाजूने चालू आहे तरी शाळा-खात्यांतील अधिकारी यांचा हिंदुधर्मावर इतका कटाक्ष आहे की, मराठी पुस्तकाच्या आरंभी 'श्रीगणेशायनमः' हे शब्द किंवा नुसतें 'श्री' हें अक्षरसुद्धा त्यांना खपेनासें झालें आहे. शाळाखात्यातील अधिकारी व विशेषेकरून हल्लींचे डायरेक्टरसाहेब यांचा हिंदुधर्मावर इतका रोष का व्हावा, हे आम्हांस समजत नाही. विद्याखात्याकरिता जी मराठी क्रमिक पुस्तकें आहेत ती ज्या शाळातून चालतात त्या शाळांतील विद्यार्थी बहुतेक हिंदुधर्माचेच असतात. क्वचित् ठिकाणीं कांहीं मुसलमान किंवा नेटिव्ह ख्रिस्ती असण्याचा संभव असतो. पण या थोड्याद्या विद्यार्थ्यांकरिता किंवा त्यांच्या सवयीवर मराठी क्रमिक पुस्तकात असलेल्या भारतभावतातील कांहीं सुप्रसिद्ध कथा काढून टाकणें किंवा पुस्तकाच्या आरंभी 'श्रीगणेशाय नमः' ही अक्षरे न ठेवणें म्हणजे अगदीच वेडेपणा होय. यास आम्हीं धर्मवेडेही म्हटले असतें, पण हिंदुस्थानसरकार अशा प्रकारच्या धर्मवेडात सहसा शिरत नाही असा अनुभव असल्यामुळे विद्याखात्यातील अधिकार्यांच्या या कृत्याम अप्रबुद्ध, ह्यादिष्ट किंवा वेडगळ म्हणणे भाग पडत आमच्या ऐकण्यात अशीही गोष्ट आली आहे की, येथील फीमेल हायस्कूलात किंवा ट्रेनिंग कॉलेजात बायकांस किंवा मुलींस जी गाणी शिकवूनयाची तींही शिव, विष्णु किंवा राम इत्यादि हिंदुदेवतांचीं असूं नयेत असा विद्याखात्याच्या अधिपतींचा हुकूम झाला आहे ! ही जर गोष्ट खरी असेल तर सरकारी विद्याखात्याच्या अधिपतींचे वर्तन आणि शाळाखात्याच्या सुधारणेसवधाने सरकारी टगव या दोहोमध्ये अत्यंत विरोध आहे अथवा ती अगदी विसंगत आहेत असे म्हणणें भाग येतें. विद्यार्थ्यांचा स्वभाव बनणे म्हणजे सत्यनिष्ठा, देशप्रीति, करारीपणा, इत्यादि गुणाची त्यांच्या अंगी अभिवृद्धि होऊन राष्ट्रातील लोकांचे पुरस्कर्ते होण्याची योग्यता त्यांच्या अंगी यावी हे इष्ट आहे; ही गोष्ट जर खरी असेल तर वरच्यासारखे प्रकार सरकारी शाळातून का व्हावे हे आम्हांस समजत नाही. धर्मशिक्षण द्यावयाचें व विशेषेकरून तें लहान मुलांस द्यावयाचें म्हटलें म्हणजे निरनिराळ्या धर्मातील सामान्य सिद्धान्त मुलांस सांगितल्यानें तें काम कधीही सिद्धीस जावयाचे नाही. लहान मुलांमध्ये किंवा शाळेतील विद्यार्थ्यांमध्ये विचारशक्तीपेक्षां मनोवृत्तीचेंच विशेष प्राबल्य असते. आणि ज्या धर्माचे उपदेशक, प्रवर्तक, किंवा उत्पादक विद्यार्थ्यांस पूज्य नसतात किंवा धर्मकथा लहानपणी घरींदारी न ऐकल्याने त्यास प्रिय झालेल्या नसतात त्यांच्या द्वारे त्यांच्या

मनांतील धर्मविचारांची जागृती होणें अशक्य आहे. सारांश, शाळेंतील विद्यार्थ्यांस जो धर्म शिकविणें तो त्यांच्या आईबापांचाच धर्म शिकवला पाहिजे, आणि हें तत्त्व एकदां मान्य केले म्हणजे सरकारी शाळांतून धर्म शिक्षणाची सोय करण्यास ज्याच्या त्याच्या धर्मावर लिहिलेली पुस्तकें त्या त्या विद्यार्थ्यांना वाचावयास दिलीं पाहिजेत. अशा तऱ्हेची पुस्तकें सरकारी विद्याखात्यांत किंवा विद्याखात्याकरितां कोणी तयार करित आहे किंवा केली आहेत काय, असा दुसरा प्रश्न सहजीच निघतो. हिंदुधर्मावर (आणि याच धर्मासंबंधानें आज विशेष लिहिण्याचा आमचा इरादा आहे) संस्कृतात आणि प्राकृतांत पुष्कळ ग्रंथ आहेत. परंतु संस्कृताचा अभ्यास करण्यास पुष्कळ वेळ नसल्यामुळे किंवा संस्कृत प्राकृत ग्रंथ लिहिण्याची पद्धत हल्लीच्या काळास जशी असावी तशी नसल्याकारणानें या ग्रंथांचें अध्ययन सरकारी शाळांतून होत नाही; आणि दुसऱ्या दृष्टीनें पाहिलें तर हल्लींच्या अभ्यासक्रमात अशा ग्रंथाचा रिघाव होण्यास अवकाशही नसतो. सारांश, मराठी शाळेंत श्रीगणेशाय नमः—“ छे छे ‘ अ आ ’-लिहिण्यास मुलगा घातल्या-पासून तो एम. ए. किंवा एल्. एल्., बी. होऊन युनिव्हर्सिटीच्या चरकांतून बाहेर पडेपर्यंत धर्म म्हणजे काय व तो कशाशी खावा याचें त्यास विलकूल ज्ञान नसतें. मराठी किंवा इंग्रजी क्रमिक पुस्तके यातील ग्रेस दार्लिंगची गोष्ट तो पाठ म्हणेल, पण हरिश्चंद्राच्या कथेचा कोठ उल्लेख आला असतां हा Allusion कोठला, म्हणून संस्कृत पुस्तकाच्या नोटा त्यास चाळाव्या लागतील. कॉलेजांतील इतर शिक्षणही याच प्रकारचे असते. तर्कशास्त्र, ज्योतिष, गणित, अर्थशास्त्र यांतील सिद्धांत कोणत्या क्रमाने सिद्ध करावे लागतात हें या विद्यार्थ्यांकडून घोकून घेतलेलें असतें; व राहाटाचा ब्रैल गाडीस जुपला म्हणजे जसा त्रिचकतो व वांकडा चालू लागतो, त्याप्रमाणें धर्मग्रंथाचा विचार करण्यास लागलें असतां कॉलेजांतील शिकलेल्या विद्यार्थ्यांच्या मनाची स्थिति होते. धर्मविचारासंबंधानें ही अवस्था झाली. धर्माच्या बाबतीत प्रेमादि ज्या कांहीं मनोवृत्ति जागृत व्हाव्या लागतात, त्यांचे तर यापूर्वीच गूळखोबरे झालेले असतें. अर्थात् तप दीड तप अभ्यास करून युनिव्हर्सिटींतून बाहेर पडल्याबरोबर हे राजश्री इतके श्रद्धाहीन, कुतर्कवादी व स्वार्थपरायण बनलेले असतात कीं, उदरभरणापलीकडे व्यवसाय करण्याची त्यांच्याठायीं उमेद राहत नाही. स्वार्थत्याग म्हणजे काय याचें शाब्दिक ज्ञान झालें असलें तरी त्याप्रमाणें कृति होत नाही; एखाद्या गोष्टीवर पूर्ण श्रद्धा ठेवून त्याकरितां सर्वस्व अर्पण करून व्यवसाय करण्याची संवय झालेली नसते, आणि कोणतीही गोष्ट मी आपल्या जन्मात साध्य करीन अशा प्रकारची उमेद किंवा ती सिद्ध करण्यास लागणारें मानसिक धैर्य अथवा करारीपणा यांस हे गृहस्थ पूर्णपणें आचवलेले असतात. परमेश्वराची प्राप्ति करून आयुष्याचें सार्थक करणें हा धर्माचा मुख्य विषय होय हें खरें आहे; पण धर्मश्रद्धेनें संसारांत किंवा राष्ट्राच्या व्यवहारांत किंवा राष्ट्राच्या इतिहासांतही पुष्कळ फायदा

होतो. इतकेंच नव्हे तर राष्ट्राच्या उत्कर्षास अशा प्रकारची श्रद्धा राष्ट्राच्या पुढाऱ्यांच्याही आंगां असणें अवश्य आहे. हा सिद्धांत हल्लीं सर्वमान्य झाला आहे; परंतु आमच्या देशांत तशा प्रकारचें शिक्षण विद्यार्थ्यांस देण्याची काहीं-एक सोय नाही; इतकेंच नव्हे, तर सोय करण्याचा विद्याखात्यातील अधिकाऱ्यांचा विचारही नाही, असें स्पष्ट दिसून येतें.

हे विचार सुचण्याचे कारण कीं, मिसिस आनिबिझांट यांनीं बनारस येथें आपण स्थापिलेल्या हिंदु-कॉलेजाकरिता तीन हिंदुधर्म पुस्तकें छापून प्रसिद्ध केलीं आहेत. तींही पुस्तकें इंग्रजींत आहेत. पैकीं पहिलें चौथ्या पांचव्या यत्ने पर्यंत; दुसरें सहाव्या सातव्या यत्नेत आणि तिसरे कॉलेजात त्यांनीं सुरू केलें आहे. व इतर शाळांतूनही हीं सुरू करण्यासारखी आहेत. या पुस्तकांतून हिंदु धर्म म्हणजे काय, त्यांतील प्रमाण ग्रंथ कोणते, ईश्वर प्राप्तीचे कोणते मार्ग ग्राह्य धरले आहेत. नीतिविषयक कल्पना त्यांत कोणत्या प्रकारच्या आहेत इत्यादि गोष्टींचा सोप्या भाषेंत उहापोह केला आहे. हें ग्रंथ सर्वांशी निदोष आहेत असें नाही. त्यात अद्याप काहीं ठिकाणां बरीच सुधारणा करण्यासारखी आहे. तथापि हा पहिलाच ग्रंथ आहे, अशा दृष्टीने पाहिलें तर हिंदू विद्यार्थ्यांनीं तो एक वेळ तरी वाचण्या-सारखा आहे यात संशय नाही, किंवाहुना तो वाचावाच अशी आमची त्यांस शिफारस आहे. पण मौज अशी कीं, अशा प्रकारचा ग्रंथ तयार झाला असतां व त्यास आश्रय मिळावा म्हणून आमच्या डायरेक्टरसाहेबांकडे अर्ज आला असताही आमच्या डायरेक्टरसाहेबांनीं हे ग्रंथ एकदेशीय आहेत असा आरोप ठेवून त्यास त्यांनीं वाटाण्याच्या अक्षता लावल्या आहेत ! एकदेशीय तर खरेच, कारण बोलून चालून हे हिंदुधर्मांचेच ग्रंथ आहेत. पण डायरेक्टरसाहेबांच्या एवढें लक्षात यावयास पाहिजे होते कीं, ही पुस्तके हिंदुधर्मातील विद्यार्थ्यांकरितां तयार केलेलीं आहेत, व त्यांच्याकरिताच शाळाव्याख्याने मजुरी द्यावी, (खिस्ती लोकां-करिता नव्हे) अशी आनिबिझांटबाईंची विनंति होती. हिंदू विद्यार्थ्यांस खिस्ती धर्म किंवा खिस्ती विद्यार्थ्यांस हिंदु धर्म शिकवावा असें कोणी म्हणत नाही मग एकदेशीय म्हणून हिंदु धर्माचीं पुस्तकें मजूर न करणे म्हणजे वेडेपणा नव्हे काय? बरे, बिझांटबाईंचीं पुस्तके नको तर राहूं द्या, पण आत्मीयग्रंथारम्बा रा. रा. हरी गणेश गोडबोले, धुळें येथील हायस्कूलचे हंडमास्तर, यांनी केलिला ग्रंथ प्रौढ विद्यार्थ्यांकरिता मजूर करण्यास कोणती हरकत आहे ? अलीकडे हिंदुधर्मावर जे ग्रंथ झाले आहेत त्यांत नव्या जुन्या ग्रंथांचे परिशालन करून जुने विचार नव्या सरणीने लिहिण्याचा ज्यात प्रयत्न केला आहे असा हा मराठांत पहिला ग्रंथ होय; व ग्रंथकाराचीच विद्वत्ता नव्हे तर त्यांच्या प्रगण्याचा पूर्वापार विद्वत्ता लक्षण आणता त्याच्या हातून यासारखे परंतु लहान मुलांस योग्य असे ग्रंथ तयार करण्याचें शाळाखात्याच मनांत आल्यास ती गाष्ट महज घडून येण्यासारखा आहे कदाचित् हा ग्रंथ अद्वैतपर आहे एवढाच ग्यावर आक्षेप आल्यास तो दूर करणे

काही अशक्य नाही. पण हिंदु धर्मावर ग्रंथ हवे आहेत कोणास ? हजारों रुपये खर्च करून शाळाखात्यांतील क्रमिक पुस्तकें सुधारण्याकरितां आतां कमिटी बसणार आहे; व या कमिटीचें काम पुरे झालें म्हणजे आमच्या शाळांतील क्रमिक पुस्तकांतून धर्माचा, देशाभिमानाचा किंवा अधिकाऱ्यांच्या दृष्टीनें राजद्रोहाचा मल धोब्याप्रमाणें ही कमिटी काढून टाकून शाळांतील क्रमिक पुस्तकें अगदीं निलेंप बनवील, अशीं कीं, तीं वाचल्यानें कोणाच्याही मनांत 'भेड्यावरी लोकर दाट मारी' याच्या पलिकडचें विचार कधींही उद्भवूं नयेत. परंतु क्रमिक पुस्तकें अशा रितीनें सोवळीं करण्याच्या कामां जी डायरेक्टरसाहेबाची कदर दिसून येते तिच्या शतांश तरी धर्मशिक्षणाची पुस्तकें तयार करण्याच्या कामां त्यांची आस्था आढळून येते काय ? नाही. मग धर्मशिक्षण पाहिजे म्हणून रिकामी ओरड कशाला ? लोकांची पुस्तके घ्यावयाचीं नाहीत आणि स्वतः तयार करावयाचीं नाहीत, मग सुधारणा तरी कशी होणार ! हिंदु कॉलेजांप्रमाणें आमच्यांतील खाजगी शाळांनीं इकडे लक्ष द्यावयाचें; पण क्रिकेटच्या खेळात गोन्या-पोराकडून मार खाऊनही पुनः ज्यांस चुप बसण्याचें व्रत पत्करावें लागले व आम्ही निर्दोष म्हणून साहेबांनीं दिलेली सर्टिफिकेटें लोकांस दाखविण्यातच जे समाधान मानून घेतात, अथवा सरकारच्या थोड्याशा आश्रयाकरितां सर्व प्रकारें त्यांची शिक्षणाची पद्धतच आम्ही स्वीकारूं त्यांनीं पसंत केलेलीं पुस्तकेंच सुरू करूं आणि त्यांस मान्य नसलेल्या उलाढालीत पडणार नाही अशी ज्यांनीं शपथ वाहिली त्यांच्या हातून काय होणार ? सरकारी शिक्षणांतील उणीव दूर करणें हें जें खाजगी शिक्षणाचें कर्तव्य तें हल्लींच्या स्थितीत दुरापास्त झालेलें आहे. सरकार धर्मशिक्षणाच्या बाबतीत बोलण्यापेक्षा ज्यास्त कांही करूं इच्छित नाही आणि खाजगी शाळांचे मालक तर बोलावयास देखील भितात. अशा स्थितीत विद्यार्थ्यांस धर्मशिक्षण देण्याचा एकच मार्ग आहे आणि तो हा कीं त्या त्या धर्मांतील लोकांनीं आपल्या धर्माच्या शिक्षणाकरितां मुख्य मुख्य ठिकाणीं स्वतंत्र धर्मापुरत्याच शाळा काढाव्या व त्यातून आनिबिश्वाट यांनीं केलेल्या पुस्तकांच्या किंवा व्याख्यानांच्या रूपानें धर्माची जागृती ठेवावी. असें न होईल तर धर्माच्या खऱ्या स्वरूपाची ओळख उत्तरोत्तर कमी झाल्याखेरीज राहणार नाही. वर सांगितल्याप्रमाणें धर्मावर कांहीं नवे ग्रंथ होत आहेत हें सुचिन्ह आहे. पण तेवढ्यानेंच कार्यभाग होईल, असें आम्हांस वाटत नाही.

* हर्बर्ट स्पेन्सर

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

भगवद्गीता.

हर्बर्ट स्पेन्सर यांचें नांव महाराष्ट्रांतच काय पण सर्व जगभर प्रसिद्ध झालेले असून एकोणिसाव्या शतकाच्या उत्तरार्धात जे कांहीं प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ते झाले त्यांच्यामध्ये हर्बर्ट स्पेन्सर यांस सर्वानुमते अग्रपूजेचा मान मिळालेला आहे. हे तत्त्वज्ञानी पुरुष आपल्या वयाच्या चौऱ्हाशाव्या वर्षी इहलोक सोडून गेल्याचें वर्तमान गेल्या आठवड्यात प्रसिद्ध झालें आहे. अशा वेळीं त्यांनीं तत्त्वज्ञानात जी कांहीं भर घातली त्याचें थोडेसे विवेचन करून तत्त्वज्ञ या दृष्टीनें या पुरुषाची योग्यता किती होती याचा महाराष्ट्र वाचकांस आणखी थोडासा परिचय करून देण्याचा आज आमचा विचार आहे. रा. रा. दाभोळकर यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या ग्रंथमालेंत स्पेन्सरचे ज्ञेयमीमासा व अज्ञेयमीमासा हे ग्रंथ प्रसिद्ध झाले असून खेरीज नीतिशास्त्र, न्यायतत्त्वें, परोपकार वगैरे विषयांवरील स्पेन्सरसाहेबांचे विचार त्यांत आले आहेत. आणि अज्ञेयमीमासा या ग्रंथाच्या अखेरीस स्पेन्सरसाहेबांचे चरित्रही जोडण्यांत आलें आहे. तेव्हां त्यासंबंधानें येथे जास्त लिहिण्याचें कारण नाहीं. शिवाय तत्त्वज्ञाचे चरित्र म्हणजे सतत अध्ययन, विचार आणि ग्रंथलेखन यांखेरीज त्यांत दुसरे काय सापडणार ? तशांत जे गृहस्थ आमरणात ब्रह्मचारी होते व पैशाकरिता, इतर संसारसुखाकरिता अथवा सामाजिक अगर राजकीय सन्मानाकरितां ज्यांनी तहाहयात तिळमात्रदेखील काळजी केली नाहीं त्या स्पेन्सरसाहेबासारख्याच्या चरित्रात सांसारिक लोकांस मनोरंजक अशी माहिती मिळणे बहुधा अशक्यच आहे. त्यांनी ज्या तत्त्वज्ञानाचा आमरणात अभ्यास केला व आपल्या विचारानें तःसंबंधीं जे नवीन सिध्दान्त जगापुढे मांडले तेच त्याचें खरे चरित्र होय, व तशाच प्रकारचे थोडे चरित्र आज आम्हीं खाली देत आहों. शरीरप्रकृती नाजूक असूनही तिची सबब न सांगता आजन्म विद्या-व्यासंग आणि तत्त्वविचार यात आपला सर्व वेळ घालविणारे व स्वभावतःच वैराग्यशील आणि विगततृष्ण असे महापुरुष आपल्या देशात प्राचीनकाळां बरेच होत असत परंतु ती प्रवृत्ती नाहींशी होऊन पुष्कळ दिवस झाले आहेत; व इंग्रजी शिकलेल्या विद्वानांतही वैराग्य, तत्त्वज्ञान, सतत विद्याव्यासंग हे गुण अद्याप दृष्टीस पडूं लागले नाहींत. अशा स्थितींत स्पेन्सरसाहेबांचें चरित्र प्रत्येक विचारी पुरुषानें मनन करून अनुकरण करण्यासारखे आहे. असे पुरुष आमच्या देशांत हल्लीं उत्पन्न होत नाहींत हें आमचें दुर्दैव होय. तथापि मोठे कवि किंवा महान् तत्त्वज्ञ हे कोणत्याही देशांत जन्मले असले तरी ते सर्व जगाचे उपकार-

कतें या नात्यानें पृथ्वीवरील सर्व राष्ट्रांतील लोकांस ते आपलेचसे वाटत असतात ही गोष्ट सर्वमान्य आहे. आणि अशा दृष्टीनें पाहिलें म्हणजे हर्बर्ट स्पेन्सर हे आमच्यापैकींच एक तत्त्वज्ञानी होते असें म्हणण्यास आम्हांस कांहींच शंका वाटत नाही. शिवाय, अलीकडील आमच्या इंग्रजी युनिव्हर्सिटींतून निघालेल्या विद्वानांस तत्त्वज्ञानाची ओळख करून देणारे जे मिल्ल आदिकरून प्रसिद्ध ग्रंथकार त्यांतील स्पेन्सरसाहेब हे अग्रगण्य होत; व यांच्या विचारांची छाप इंग्लंड, अमेरिका किंवा इतर पाश्चात्य देश यातील विद्वानांवर जितकी बसलेली आहे तितकी किंवा त्याहून थोडी अधिकही आमच्याकडील विद्वान् मंडळींवर बसलेली आढळून येते. इतकेंच नव्हे तर, कोणीही आधुनिक विद्वान् एखाद्या विषयाचा विचार करूं लागला तर तो बहुतेक स्पेन्सरसाहेबांनीं घालून दिलेल्या उत्क्रांतीतत्त्वाच्या दिशेनेच करित असतो. साराश, आपल्या खोल व प्रगल्भ विचारांनीं जगांतील लोकांच्या विचारपद्धतीस कायमचे नाही तरी बरीच वर्षे टिकेल असें वळण लावून देणारे जे विशाल बुद्धीचे पुरुष कधीं कधीं जगांत निर्माण होतात त्यांच्या यादींतच स्पेन्सरसाहेबांचें नाव घातलें पाहिजे. आणि त्यांच्या चरित्राचा जो विचार करावयाचा तोहि याच दृष्टीनें केला पाहिजे.

तत्त्वज्ञान हा विषय हिंदुस्थान देशांतल्या भूमिकेस किंवा लोकांस अपरिचित आहे असें नाही; किंबहुना या विषयाचे आदिस्थान हाच देश होय असें म्हटलें तरी चालेल. पृथ्वीवरील कोणतेंही राष्ट्र सुधारलेल्या अवस्थेंत येण्यापूर्वी आमचा देश सुधारणेच्या शिखरास पोहोचलेला होता. समाजाची व्यवस्थित रचना होऊन मनुष्याच्या ऐहिक सुखास जीं काहीं साधने लागतात तीं सर्व हिंदुस्थानांतील लोकांस पार प्राचीन काळांचे उपलब्ध झालेलीं होती; आणि उत्तरेस हिमालय पर्वत, पश्चिमेस सिंधुनद, पूर्वेस ब्रह्मपुत्रा आणि समोवार समुद्र अशा स्वाभाविक मर्यादनेंच इतर रानटी लोकांच्या उपद्रवापासून बचाव झाल्यामुळे या देशातील लोकांचे लक्ष जगाच्या बुडाशीं जी गूढ तत्त्वे आहेत त्याचा विचार करण्याकडे लागलेले होते. उपनिषदादि ग्रंथ किंवा साख्य, न्याय, योग, इत्यादि तत्त्वज्ञानाच्या निरनिराळ्या पद्धती याच वेळीं या देशांत निर्माण झालेल्या आहेत; आणि त्यातील विचार इतके काहीं प्रगल्भ आहेत; कीं, आज विसाव्या शतकांतील तर्कशास्त्राच्या कसोटीवरही त्याची बावनकसी रेषा अद्याप जशीच्या तशी उमटत आहे. या देशांत इंग्रजी राज्य होईपर्यंत याच तत्त्वविचारांचें प्राबल्य होतें व तत्कालीन विद्वान् लोकांच्या जिज्ञासेची त्यानें तृप्ती होत असे. परंतु इंग्रजी राज्य झाल्यानंतर हा पूर्वीच्या विद्येचा व विचाराचा मनु पालटला. एकोणिसाव्या शतकाच्या उत्तरार्धांत आधिभौतिशास्त्राची जी विलक्षण वाढ झाली तिची ओळख इंग्रजी शिक्षणाच्याद्वारे आमच्या नव्या मंडळींस होऊं लागली; आणि पूर्वीच्या तत्त्वज्ञानावरील संस्कृत ग्रंथांचें अध्ययन प्रायःलुप्त झाल्यामुळे आमचें जुनें तत्त्वज्ञान जुन्या परिस्थितींत कितीही योग्य व उत्तम असलें तरी

बैलगाडीच्या ठिकाणी आगगाडी, किंवा नावेच्या ठिकाणी आगबोट आल्यावर ते ज्ञान या नव्या परिस्थितीस शोभण्यासारखे असेल अशी कल्पनादेखील नव्या मंडळीच्या डोक्यांत शिरेनासी झाली. रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, जीवनशास्त्र, यांतील नवे नवे अपूर्व शोध कानावर पडून एक प्रकारची नवीन सृष्टि किंवा जग आमच्या विद्वान् मंडळीच्या डोळ्यांसमोर उभे राहिले, आणि त्याने त्यांचे डोळे दिपावून जाऊन पूर्वीचे तत्त्वज्ञान यापुढे काय टिकते, असे त्यास साहजिकरीत्याच वाटू लागले. ही परिस्थिती लक्षांत आणली म्हणजे मग स्पेन्सरसाहेबांच्या तत्त्वज्ञानाचा आमच्या आधुनिक विद्वानाच्या मनावर पहिल्याने इतका परिणाम का झाला याचे बीज वाचकांच्या सहज लक्षांत येईल. स्पेन्सरसाहेब हे खुद्द या नव्या परिस्थितीतच जन्मलेले होते, आणि वर सांगितलेली एकोणिसाव्या शतकाच्या उत्तरार्धातील शास्त्रीय शोधाची वाढ त्यांच्या देखत झाली होती, इतकेंच नव्हे तर ते शोध ज्या पुरुषांनी केले ते डार्विन, हक्सले वगैरे विद्वान् लोक स्पेन्सरसाहेबांचे समकालीन असून मित्र होते. अर्थात् ज्या नवीन शास्त्रीय शोधांनी पूर्वीची परिस्थिती बदलली ते शास्त्रीय शोध स्पेन्सरसाहेबांस अवगत होते इतकेंच नव्हे, तर त्या शास्त्रीय शोधाच्या ओघांतच स्पेन्सरसाहेबांचे सर्व आयुष्य गेलेलें होतें. येथे ही गोष्ट लक्षात ठेविली पाहिजे की, स्पेन्सरसाहेब हे शास्त्रज्ञ नव्हे तर तत्त्वज्ञ होते. म्हणजे भूगर्भशास्त्र, जीवनशास्त्र, किंवा विद्युच्छास्त्र अशा एखाद्या विशिष्ट शास्त्राचा अभ्यास करून त्यांत डार्विन, हक्सले, किंवा टिडाल यांजप्रमाणे नवे शोध करण्याकडे त्यांच्या बुद्धीची प्रवृत्ति नव्हती. त्यांनी जें काम हाती घेतलें होतें तें याहीपेक्षा अधिक व्यापक व अधिक योग्यतेचें होतें. एकोणिसाव्या शतकाच्या उत्तरार्धातील शास्त्रीय शोध व कल्पना आमच्याकडील विद्वानांस इंग्रजी शिक्षणाने कळल्याबरोबर त्यांच्या डोळ्यांपुढे जी नवी सृष्टी उभी राहिली तीच स्पेन्सरसाहेबांच्या डोळ्यांपुढे हळू हळू वाढत होती; आणि या नव्या शास्त्रीय विचाराच्या व कल्पनेच्या साहाय्याने किंवा एकवाक्यतेने जगाच्या मुळाशी जे कांही गूढ प्रश्न आहेत ते सोडविता येतील की नाहीत, अथवा त्यासंबंधाने कांही सामान्य सिद्धांत बांधता येतील की नाहीत, या विषयांत स्पेन्सरसाहेबांचे सर्व लक्ष गुंतलें होतें. डोळ्यांसमोर दिसणारे जग हें काय आहे व कोठून आलें, यास कोणी कर्ता आहे की नाही, याच्या मुळाशी कोणती तत्त्वे आहेत, एक तत्त्व असेल तर त्याचे आपल्या दृष्टीस पडणारे निरनिराळे विकार कसे होतात, हे विकार कांही अबाधित नियमांनी होत असतात की काय, आणि असल्यास ते नियम कोणते या विचारांत स्पेन्सरसाहेब गुंतलेले होते. तत्त्वज्ञान म्हणतात ते यासच होय; आणि कपिल, गौतम, कणाद, व्यास, शंकराचार्य, बुद्ध वगैरे हिंदुस्थानांत निर्माण झालेल्या तत्त्ववेत्त्यांनी पूर्वी जे कांही सिद्धांत केले आहेत ते याच संबंधाचे आहेत. परंतु वर सांगितलेच आहे की, या प्राचीन तत्त्ववेत्त्यांच्या वेळीं आधिभौतिक शास्त्रांची जी स्थिति होती ती

एकोणिसाव्या शतकांतील शोधांनीं पालटून गेल्यामुळे या नव्या शोधांचा पूर्वीच्या तत्त्वविचारांवर काय परिणाम होतो, हें पाहण्याचें आमचें काम असतांही आम्ही नव्या पद्धतीनें इतके भांबावून गेलों होतो कीं, हा उद्योग हातीं घेण्याइतका समर्थ पुरुष आमच्या देशांत निघाला नाही. परंतु ज्या देशांत विद्येचा जिवंत झरा कायम होता, आणि त्यामुळे आधिभौतिक शास्त्रांतील नवीन नवीन शोध झपाट्यानें निघत होते त्या देशातच या तत्त्वज्ञानाच्या विषयांकडे हर्षट स्पेन्सर याचें लक्ष लागून त्याच्या अपूर्व बुद्धिप्रभावानें नवीन शास्त्रीय शोधांनीं उपस्थित केलेल्या परिस्थितीचा तत्त्वविचारावर काय परिणाम होण्यासारखा आहे हें आपणास पहावयास मिळालें; आणि एकोणिसाव्या शतकातील शास्त्रीय शोधांनीं भांबावून गेलेल्या आमच्या आधुनिक विद्वानास स्वाभाविकरीत्याच स्पेन्सरसाहेबांचे विचार व तत्त्वज्ञान मोहक आणि रमणीय वाटून त्याचें सत्यत्व निर्विवाद आहे अशी त्याची खात्री झाली. स्पेन्सरसाहेबांच्या तत्त्वज्ञानाचा आमच्या युनिव्हर्सिटींतून निघालेल्या विद्वान् लोकांच्या मनावर एवढा मोठा परिणाम का झाला हे यावरून लक्षांत येईल. पण स्पेन्सरीय तत्त्वज्ञानाचा जास्त प्रसार होण्यास या-खेरीज दुसरें असेंही कारण झालें कीं, त्यांच्या नव्या विचारसरणीनें त्यांनीं जे सिद्धांत काढले त्यापैकी काही प्रमुख सिद्धांत आमच्या जुन्या तत्त्ववेत्त्यांनीं काढलेल्या प्रमेयाशीं बहुतेक अंशी मिळतात असे आढळून आलें; आणि ही गोष्ट आढळून आल्यावर हिंदुस्थानातील प्राचीन तत्त्वज्ञानाबद्दलची जी आदरबुद्धि नष्ट झाली होती तीही पुन्हा प्रादुर्भूत झाली. या जागृतीचा परिणाम काय होतो हे आजच सांगतां येत नाही. तथापि एवढी गोष्ट खरी आहे कीं, स्पेन्सरसाहेबांचे तत्त्वज्ञानाबद्दलचे सिद्धांत पहिल्यानें आमची विद्वान् मंडळी ज्या भावनेनें शिरसाबंध मानीत असत ती भावना शेवटपर्यंत तशीच राहणें शक्य नाही. यावरून स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथाचें महत्त्व किंवा त्यांच्या तत्त्वविचारांची योग्यता कमी होईल असें आम्ही म्हणतो असें कोणी समजू नये. त्यांच्या ग्रंथांनी व विचारसरणीची जी छाप विद्वान् लोकावर बसली आहे ती बऱ्याच अंशी कायमची आहे असें म्हटलें तरी चालेल. पण जुन्या तत्त्ववेत्त्यांच्या ग्रंथांच्या परिशीलनानें आणि दरवर्षी होत असलेल्या नव्या नव्या शास्त्रीय शोधांच्या योगानें स्पेन्सरसाहेबांच्या कांहीं सिद्धांतास पुरवणी जोडण्याचा किंवा त्यांत कांहीं दुरुस्ती करण्याची आवश्यकता वाटण्याचा प्रसंग मार्गेपुढें आल्यास त्यांत कांहीं नवल नाही एवढेंच आमचें म्हणणें आहे.

आपण ज्या सृष्टींत राहत आहों ती सृष्टी निर्माण कशी झाली, निर्माणकर्ता या सृष्टीहून कोणी निराळा आहे कीं नाही, सृष्टीस पाहणारा आपल्या शरीरांत जो जीव आहे त्याचें स्वरूप काय, तो नित्य आहे कीं अनित्य आहे, सृष्टीच्या मुळांशीं जीं आदितरुवें आहेत त्यांचा आणि या जीवांचा कांहीं परस्पर संबंध आहे कीं नाही इत्यादि गूढ प्रश्न आमच्या लोकांस फार प्राचीन काळा-

पासून परिचित झालेले आहेत. परमेश्वरानें सात दिवसांत सृष्टि निर्माण केली, आणि प्राण्यांची उत्पात्ति करतांना पशु, पक्षी, कीटक, मनुष्य वगैरे निरनिराळ्या जाती आपल्या शक्तीनें प्रथक् निर्माण केल्या इत्यादि बायबलांत गोंविलेल्या वेडगळ कल्पना बायबल रचिले जाण्यापूर्वीच आमच्या तत्त्ववेत्त्यांनीं झुगारून दिल्या होत्या. जीव कोर्टांतील पशुपक्ष्यादि निरनिराळ्या जातींतील उपजाति एका सामान्य जातींतून उत्क्रांति तत्त्वानें निघाल्या आहेत. असें जें मत डार्विन साहेबांनीं प्रस्थापित केलें व जें उत्क्रांति तत्त्व स्पेन्सरसाहेबांनीं व्यवस्थित रीतीनें सर्व सजीव-निर्जीव सृष्टीस लावून दाखविलें, तें तत्त्व आमच्याकडे सांख्यांनीं फार प्राचीनकाळीं शोधून काढलेलें होतें. सर्व सृष्टीचे जड व चित् असे दोन मोठे वर्ग करून हे दोन्हीही भाग अनादि व नित्य आहेत असें सांख्य तत्त्ववेत्त्यांनीं ठरविलें होतें. चित् सृष्टीस पुरुष आणि जड सृष्टीस प्रकृति अशीं नावें त्यांनीं दिलीं होती. पुरुष हाच जीव; परंतु तो प्रकृतीहून अगदीं भिन्न व प्रकृतीच्या गुणांनीं अलक्षित आहे असें सांख्यांचें मत आहे. प्रकृति ही त्रिगुणात्मक म्हणजे सत्त्व-रज-तमो गुणात्मक आहे; आणि अगदीं सृष्टीच्या आरंभीं हे तिन्ही गुण अगदीं साम्यावस्थेत असतात, आणि त्यांची ती साम्यावस्था बिघडली म्हणजे तिन्ही गुणांच्या कमजास्त मिश्रणानें प्रथमतः महत् तत्त्व, अहंकार आणि पंच-महाभूतांचीं तन्मात्रे निर्माण होऊन नंतर पुढें सृष्टीतील निरनिराळे पदार्थ प्रादु-र्भूत होतात असा सांख्यांचा सिद्धांत आहे. पुरुष किंवा जीव हा, प्रकृतीपासून वर सांगितल्याप्रमाणें उद्भूत झालेल्या हस्तपादादिक स्थूल, किंवा बुद्धि आणि मन आदिकरून सूक्ष्म इंद्रियांनीं वेष्टित असून त्यांच्या सांनिध्यानेंच सभोवारच्या संघातांत संज्ञा किंवा संवेदनशक्ति दृश्य होते, आणि हा जो प्रकृतीपासून निघालेल्या विकारांचा जीवावर परिणाम तो नाहीसा झाला म्हणजे जीवास मुक्ति मिळतें असें सांख्यांचें म्हणणें आहे. हा सिद्धांत अर्थातच स्थूलमानानें आम्हीं दिला आहे. कारण यापेक्षा विस्तारानें आजच्या लेखांत त्यांचीं मते सांगणें शक्य नाही. तथापि, वर दिलेल्या स्थूल सिद्धांतावरूनही एवढें लक्षांत येण्यासारखें आहे कीं, त्रिगुणात्मक प्रकृतीची साम्यावस्था जिला अव्यक्त अशी संज्ञा आहे ती व्यक्तरूपानें दृग्गोचर होण्यास त्रिगुणांमध्ये वैषम्य उत्पन्न व्हावें लागतें हें मत फार प्राचीनकाळीं या देशांत उपस्थित झालें आहे. भगवद्गीतेंतही 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' अशा रीतीनें जें वाढीचें किंवा उत्क्रांतीचें तत्त्व सांगितलें आहे तेंही हेंच होय. या सांख्यमतांत वेदांत्यांच्या दृष्टीनें जो फरक करावयास पाहिजे तो एवढाच कीं, प्रकृति आणि पुरुष हे दोन्ही भिन्न न मानतां या दोन्हीचेंही अगम्य असें कांहीं तरी मूल आहे, आणि तें एक, अविभाज्य व चिद्रूप असून नित्य असल्यामुळें जड प्रकृतिही त्याचाच अनित्य आभास असून जीव हा स्वतः अज्ञेय स्वरूप मानला पाहिजे. जीव आणि अज्ञेय यांचा हा संबंध कांहीं निराळ्या

प्रकारचा आहे असें द्वैत व विशिष्टद्वैतवादी म्हणतात. पण त्याचा विचार करण्याची सध्यां जरूर नाही. चित् आणि जड सृष्टीच्या मुळांशी काय आहे एवढ्याचाच आपणास विचार करावयाचा आहे; आणि त्याचा बोध वर जे सांख्यांचे आणि वेदांत्यांचे सिद्धांत दिले आहेत. त्यावरून होण्यासारखा आहे. सांख्य आणि वेदांताखेरीज सृष्टीच्या उत्पत्तीबद्दल न्याय आणि वैशेषिक अर्शाही दुसरीं दोन मते आहेत. त्यांच्या दृष्टीनें जगांतील सर्व पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य विशेष, समवाय आणि अभाव या सात कोटींत पडतात; आणि सर्व द्रव्यांची उत्पत्ति परमाणू पासून झालेली असून द्रव्यामधील पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आदिकरून मूलभेद होण्यास परमाणूमधील भेदच कारण होतात असें वैशेषिकांचें म्हणणें आहे. तात्पर्य, त्रिगुणांच्या साम्यावस्थेपासूनच पुढें विषम-वस्था होऊन पदार्थाचे भेद होतात असें जें सांख्यांचें मत आहे तें वैशेषिकांस कबूल नसून भेदाची उत्पत्ति भेदापासूनच झाली पाहिजे, व त्याकरितां विशेष हें तत्त्व निराळें मानलें पाहिजे, असें त्यांचें म्हणणें आहे. त्याचप्रमाणें प्रकृती आणि पुरुष हीं दोनच तत्त्वे न मानतां त्यापेक्षा आदितत्त्वांची संख्या न्याय व वैशेषिक मतांत जास्त धरलेली आहे. या दोन्ही मतांचे तत्त्ववेत्ते ईश्वराकडे जगाचे कर्तृत्व देतात, पण तें मत वेदांत्यांच्या ईश्वरविषयक मतांपेक्षा बरेंच निराळें आहे. सांख्यांचेेश्वर-सांख्य आणि निरीश्वर-सांख्य असें भेद आहेत. पण विस्तारभयास्तव ते येथें सागतां येत नाहीत. स्पेन्सरसाहेबांच्या तत्त्वज्ञानाचा प्राचीन तत्त्वज्ञानाशी कितपत मेळ आहे एवढेंच थोडक्यात आम्हांस सांगावयाचें आहे, व वर केलेला प्राचीन मतांचा उल्लेख तेवढ्यापुरता बस आहे. याखेरीज प्रस्तुत विषयास दुसरें उपयुक्त मत म्हटले म्हणजे चार्वाकाचें होय. वरील सर्व मतांत जीव किंवा चैतन्य हें जडाहून निराळें व नित्य मानलेलें आहे. चार्वाकाच्या दृष्टीनें हें मत बरोबर नाही. जडाचेंच देहाकार जें दृश्य स्वरूप झालेलें आहे त्यांतील द्रव्यसंघाता-चाच चैतन्य हा एक धर्म आहे. आणि देहाचा नाश झाला म्हणजे त्याबरोबर तो धर्मही नाहीसा होतो; कारण 'न हि प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' असें चार्वाकांचें म्हणणें आहे. या मताप्रमाणें अर्थातच परलोक वगैरे कल्पना चुकीच्या होतात. तथापि जगांतील मनुष्याचें वर्तन नीतीचें व परोपकाराचें असावें असें सिद्ध करण्यास या मताची कांहीं हरकत येत नाही. पण तीही गोष्ट चार्वाक मतवाद्यांनीं कबूल केलेली दिसत नाही.

असे; या प्राचीन तत्त्ववेत्त्यांच्या मतांशीं आधुनिक शास्त्रपद्धतीनें स्पेन्सर-साहेबांनीं ठरविलेल्या मूल तत्त्वांचा कितपत मेळ आहे याचा आतां विचार करूं. स्पेन्सरसाहेबांस अलीकडील रसायनशास्त्र, जीवनशास्त्र, मानसशास्त्र, पदार्थ-विज्ञानशास्त्र, वगैरे सर्व आधिभौतिक व अध्यात्मिक शास्त्रें व त्यांतील सर्व नवे शोध पूर्णपणें अवगत होते इतकेंच नव्हे तर या शास्त्राची प्रगति पुढें कोणत्या दिशेनें झाली पाहिजे यासंबंधीं त्यांचे विचार त्या त्या विशिष्ट शास्त्रांतील वाकबुगार

विद्वान् लोकापेक्षांही पुढें गेलेले होते हें येथें वाचकांनीं लक्षांत ठेविले पाहिजे. उदाहरणार्थ, डार्विनसाहेबांनीं जीवकोटींतील उपजातीसंबंधानें उत्क्रांतीमताचें निरूपण करण्यापूर्वीच तें मत स्पेन्सरसाहेबांनीं काढलेलें होतें ही गोष्ट आतां सर्वास मान्य आहे. तत्त्वज्ञान म्हणजे सर्व शास्त्रांतील सिद्धान्ताचें एकीकरण करून तद्वारां सृष्टीच्या मुळाशीं असलेल्या आदितत्त्वाचें निदान करणें आणि त्या तत्त्वांची विकृति कशी होते तें ठरविणें हें होय; असें स्पेन्सर साहेबांनींच त्याचें लक्षण केलेलें आहे. या लक्षणाप्रमाणें तत्त्वज्ञ होण्यास जगांतील सर्व शास्त्रांची करतलामलवत् माहिती असणें जरूर आहे. आणि तसें ज्ञान स्पेन्सरसाहेबांच्या अंगात वसत होतें ही गोष्ट त्यांच्या सिद्धान्ताचा विचार करतांना विसरतां कामा नये अशा रीतीनें जें ज्ञान प्राप्त झालें त्याच्या साहाय्यानें स्पेन्सरसाहेबांनीं प्रथमतः असें ठरविलें आहे कीं, जगांत द्रव्य (Matter) आणि गति किंवा शक्ति (Force) अशीं दोनच आदितत्त्वे आहेत. या दोन तत्त्वांत आणि सांख्यांच्या प्रकृति आणि पुरुषांत थोडासा मतभेद आहे तो पुढें सांगूं. गति किंवा शक्ति आणि द्रव्य ही दोन्हीही तत्त्वे परस्परशीं संलग्न असून त्यांच्या वियोगाचें ज्ञान मनुष्यास होणें शक्य नाहीं; करितां त्यांचा संयोग अविनाशीच कल्पिला पाहिजे, असें स्पेन्सरसाहेबांचें मत आहे. तथापि, ज्याअर्थीं द्रव्याचें ज्ञान होण्यास त्याचा इंद्रियावर आघात व्हावा लागतो त्याअर्थीं द्रव्य व शक्ति या दोन्ही परस्परसंलग्न तत्त्वांस गति किंवा शक्तीलच स्पेन्सरसाहेब अधिक प्रामाण्य देतात. द्रव्य आणि गति यांची साम्यावस्था असते तेव्हां जें जगाचें स्वरूप तें मूल स्वरूप होय. परंतु ही साम्यावस्था चिरस्थायी नसल्यामुळें तिचा समतोलपणा आपोआपच नाहींसा होतो, आणि तो नाहींसा झाल्यावर ह्यांच्या विषम संयोगानें सृष्टींतील नानाप्रकारचे भेद उत्पन्न होतात. उत्क्रांति ज्यास म्हणतात ती हीच होय. सामावस्थेची विषमावस्था होणे किंवा अभेदापासून भेदोत्पत्ती होणें हें उत्क्रांतीचें मुख्य लक्षण होय. आणि या तत्त्वाप्रमाणें उत्क्रांती होऊ लागली म्हणजे द्रव्याचीं भिन्न भिन्न स्वरूपे होऊन त्यापैकीं प्रत्येक स्वरूप पूर्णतेस पोहोचतें. या पूर्णतेस द्रव्य व गती याचें ' तत्कालीन समतोलन ' असें स्पेन्सरसाहेबांनीं म्हटलें आहे. पण हें समतोलनही कायमचें टिकत नाहीं आणि तें बिघडलें म्हणजे पुन्हा अपक्रांतीस सुरवात होते, आणि पुन्हां द्रव्य आणि शक्ति हीं साम्यावस्थेस येऊन पोहोचतात. द्रव्य व गति यांच्यामध्ये हा जो व्यापार चालूं आहे तोच जगाच्या प्रवृत्तीचें कारण होय. आणि हें त्याचें आंदोलन (खेळ) जोपर्यंत चालूं आहे, तोपर्यंत जगामध्यें काहीं ठिकाणीं अपक्रांति चालू राहावयाचीच असें स्पेन्सरसाहेबांचें मत आहे. यावरून गतीसंयुक्त जड द्रव्यच स्पेन्सरसाहेबांच्या मताप्रमाणें सृष्टीचें मूलकारण होय असें कित्येकांस वाटण्याचा संभव आहे; पण खरा प्रकार तसा नाहीं. द्रव्य म्हणजे काय, शक्ति म्हणजे काय, हीं दोन्हीं ज्या पदार्थांत अधिष्ठित झालेलीं आहेत त्याचें स्वरूप कोणतें, आणि काल व दिशा इत्यादि ज्या द्रव्याच्या नित्य संयुक्त उपाधि

आहेत, त्या स्वतंत्र आहेत किंवा द्रव्याश्रित आहेत, अनादि आहेत किंवा सादि आहेत इत्यादि गूढ प्रश्नांचा सूक्ष्म विचार करून अखेरीस ज्योतिष, जीवनशास्त्र, मानसशास्त्र, वगैरे शास्त्रांतील अनेक दृष्टान्त देऊन तद्वारा स्पेन्सरसाहेबांनी असे ठरविले आहे की, द्रव्य व गती ही ज्या ठिकाणी आविर्भूत होतात अशी कांहीं तरी वस्तु त्यांच्या मुळाशी आहे; परंतु तिच्या सद्भावनेखेरीज तिचे दुसऱ्या प्रकारचे ज्ञान आपणास होऊं शकत नाही. जगामध्ये जे जे कांहीं दृश्यमान होतें तें, आणि त्याची मूल अवस्था अर्थात् द्रव्य आणि गती यांचा संघात ही या अज्ञेयार्चीच आविर्भूत स्वरूपे होत असे स्पेन्सरसाहेब म्हणतात. पण आपले सर्व विचार दिक्कालादिकांनी मर्यादित असल्यामुळे दिक्कालादिकांच्या उपाधींनी विरहित असे जे आदितत्त्व त्यासंबंधाने आपणांस अधिक ज्ञान होणे अशक्य आहे असे त्यांनी सिद्ध करून दाखविले आहे. वेदान्तांतील परब्रह्मही अशाच प्रकारचे अज्ञेय असून तें सत्, चित् आणि आनंदरूप आहे, यापेक्षा जास्त कांहीं सांगवत नाही असे जे वेदान्त्यांचे तत्त्व आहे त्याचा आणि स्पेन्सरसाहेबांनी सिद्ध केलेल्या सत्तारूप अज्ञेयाचा बहुतेक अंशी पूर्ण मेळ आहे असे यावरून ध्यानांत येईल. सारांश जगाच्या बुडाशी जे तत्त्व आहे तें जरी अज्ञेय असले तरी तें चिद्रूप आहे एवढे तरी त्याबद्दलचे ज्ञान आपणांस होतें असे स्पेन्सरसाहेबांनी सर्व आधुनिक शास्त्राचा विचार करून सप्रमाण व व्यवस्थित रीतीने सिद्ध केलेले आहे. आणि या बाबतीत सांख्यापेक्षा एक पाऊल ते पुढे गेले असून वेदान्तांतील ब्रह्मवाद्यांच्या मतांशी त्यांची एकवाक्यता आहे. जगाच्या मुळाशी जे हे अज्ञेयतत्त्व त्यांचेच दृश्य जग हे आविर्भूत किंवा विकृत स्वरूप आहे असे मानल्यावर सद् स्वरूपास एकप्रकारे सापेक्ष अनित्यता प्राप्त होतें हे सागावयास नकोच. स्पेन्सरीय तत्त्वज्ञानापासून वेदांतमताचे जरी अशा प्रकारे पुष्टीकरण झाले तरी दुसऱ्या एका बाबतीत स्पेन्सरसाहेबांचे मत बहुतेक प्राचीन तत्त्ववेत्त्यांच्या मतांशी अगदीं विरुद्ध आहे. हे मत चैतन्य किंवा जीव या संबंधाचे होय, चैतन्यरूप जीव नित्य आहे, अविनाशी आहे, देहाव्यतिरिक्त तो राहू शकतो असे सांख्य, वेदान्त, न्याय किंवा वैशेषिक या सर्वांचे म्हणणे आहे. पण स्पेन्सरसाहेब असे म्हणतात की, ज्याप्रमाणे गति नेहमी द्रव्याश्रित असते त्याप्रमाणे चैतन्यही देहामधील विशिष्ट रीतीने परिणत झालेल्या मेंदुखेरीज अन्यत्र दृष्टोत्पत्तीस येत नाही. संज्ञा किंवा संवेदनशक्ति मेंदूतच असते इतकेंच नव्हे, तर या दोहोचा संयोग नित्य असल्यामुळे मेंदूव्यतिरिक्त संवेदनशक्ति राहते असे मानण्यास कांहीं पुरावा नाही. सारांश, संज्ञा किंवा संवेदनशक्ति (Consciousness) ही देहाच्या नाशाबरोबरच नाहीशी होते असे स्पेन्सरसाहेब मानतात. म्हणजे या बाबतीत ' नहि प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ' हे चार्वाकांचे मत त्यांस ग्राह्य आहे. देहाव्यतिरिक्त संज्ञाशक्ति किंवा आत्मा राहणेच जर अशक्य तर पुनर्जन्मादि कल्पना किंवा देहाच्या मरणानंतर जीवाची अमुक एकप्रकारची स्थिति

होते इत्यादिक मते 'मूले कुठारः' या न्यायानें उध्वस्त होतात. अर्थात् परलोक आदिकरून धर्मकल्पनांचे मूळ कुंठित होतें हें सांगावयास नकोच. देहामध्ये उत्क्रांतीतत्त्वाप्रमाणें एका विशिष्ट प्रकारच्या पूर्णतेस पोहोचलेली जीवरूप जी शक्ति तिचा देहास मरण आलें असतां एकदम नाश व्हावा आणि अपक्रांतीच्या नियमास अनुसरून तिचा अनादि अशेषशक्तींत एकदम लय व्हावा असें मानणें चमत्कारिक आहे, व हें तत्त्व मान्य करण्यास आपली बुद्धि जरा कचरते असेंही स्पेन्सरसाहेब म्हणतात; पण मेंदू आणि संज्ञाशक्ति निरनिराळी मानण्यास पुरावा नसल्यामुळे हाच सिध्दान्त कबूल केल्याखेरीज गती नाही असें त्यांचे म्हणणें आहे. आत्म्यास किंवा जीवास देहाव्यतिरिक्त जर राहातां येत नाही तर धर्म-कल्पना मनुष्याच्या मनांत कोठून आली असा प्रश्न सहज उद्भवतो. यास स्पेन्सरसाहेबांचें असें उत्तर आहे की, स्वप्नामधील अवास्तिक अनुभवावरून आणि भूत किंवा पिशाच्च इत्यादिकांच्या गोष्टींवरून जीव हा शरीरास सोडून राहूं शकतो अशी खोटी कल्पना प्रथमतः रानटी मनुष्याच्या मनांत आली, आणि त्याच कल्पनेची वाढ होऊन त्यावर धर्माची इमारत उभी करण्यांत आली. स्पेन्सरसाहेबांचें हें मत म्याक्समूलरादिकरून विद्वानांस मान्य नव्हतें. व त्यांनीं तों खोडण्याचाही प्रयत्न केलेला आहे. शिवाय जीव आणि मेंदू यांचा संबंध स्पेन्सरसाहेब म्हणतात त्याप्रमाणें नित्य नसून देहास सोडूनही जीव राहूं शकतो अशाबद्दल 'सोसायटी फॉर सायकीकल रिसर्च' इनें अलीकडे काहीं पुरावाही गोळा केला आहे. तेव्हां जीवासंबंधानें स्पेन्सरसाहेबांचें मत केव्हाही सर्वमान्य होईल असें वाटत नाही. कसेंही असो; जीव किंवा आत्मा यासंबंधानें स्पेन्सरसाहेबांचें मत चार्वाकाप्रमाणें, आणि जगाच्या बुडार्शी जें अज्ञेय तत्त्व आहे त्या बाबतींत त्यांचें मत वेदांच्या-प्रमाणें आहे असें यावरून दिसून येईल. जगामध्ये दृष्टोत्पत्तीस येणाऱ्या निर-निराळ्या भेदांची उत्पत्ती द्रव्य आणि शक्ति यांच्या साम्यावस्थेपासूनच उत्पन्न होते असें जे त्यांचे मत तें वैशेषिक मतास जरी विरुद्ध आहे तरी सांख्य्याच्या मताशीं मिळतें. तेव्हां एकंदर विचार करतां परमेश्वर, जीव आणि जडसृष्टि या-संबंधार्ची स्पेन्सरसाहेबांची मते अनुक्रमें वेदांत, चार्वाक आणि सांख्य यांच्या मतांच्या मिश्रणानें झालीं आहेत असें म्हणावें लागतें. परंतु यांत जें चार्वाक-मताचें मिश्रण आहे तें जुन्या चार्वाकमताहून अत्यंत भिन्न आहे हें पूर्णपणें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. देहाबरोबर जीवाचाही नाश होतो असें जरी स्पेन्सर-साहेब मानतात तरी चार्वाकाप्रमाणें 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' या चैनी तत्त्वाचा त्यांनीं कोठेंही अंगीकार केलेला नाही. इतकेंच नव्हे तर उत्क्रांतीचें तत्त्व समा-जास व नीतिशास्त्रास लावून सर्व समाजाचें किंबहुना मानव जातीचें हित साधून परोपकार करणें हीच जगामध्ये जीवाच्या कर्तव्याची सीमा आहे असें त्यांनीं सोपपत्तिक व आपल्या नेहमींच्या पद्धतीनें अनेक शास्त्रांतील दृष्टांत देऊन प्रतिपादन केलें

आहे. वेदांतमताप्रमाणें ते सृष्टीस केवळ आभास मानीत नाहींत, आणि सांख्या-प्रमाणें प्रकृति पुरुषाच्या पलीकडे कांहीं नाहीं असेंही म्हणत नाहींत, हा त्यांचा आणि वेदांत आणि सांख्य यांच्या मतात मोठा फरक आहे. जीवासंबंधी त्यांचें मत धर्मप्रवृत्तीस प्रतिकूल आहे खरें, व त्यामुळें केवळ ख्रिस्ती मिशनरी लोकांचेच नव्हे तर कांहीं तत्त्वज्ञ मंडळींचेही आघात त्यांस सहन करावे लागले; व कांहीकांनीं तर त्यांची नास्तिक शिरोमणींतही गणना केली होती. पण आमच्या मते असें करणें अगदीं गैर आहे. तत्त्वज्ञ मनुष्यानें जगाची पर्वा न ठेवून कांहीं उपयोगी नाहीं, किंवाहुना तशी पर्वा न ठेवता आपणांस सूक्ष्म विचारातीं जें खरे दिसेल तेंच जगापुढें माडणें हें त्यांचें कर्तव्य होय. आणि हें कर्तव्य जर स्पेन्सरसाहेबांनीं पूर्णपणें बजावले तर त्याबद्दल त्यांस नांवां ठेवणें मूर्खपणाचें आहे. जीव देहाव्यतिरिक्त असूं शकतो. यास स्पेन्सरसाहेबास जर पुरावा मिळत नाहीं अथवा मिळालेला पुरेसा वाटत नाहीं, तर तो पुढें कर्धाही मिळणार नाहीं अथवा पुरेसा होणार नाहीं असें समजणें चुकीचें होय. शिवाय या संबंधानें स्पेन्सरसाहेबांनीं आपलें मत देताना आपली बुद्धि या बाबतींत कशी कुंठित होते हें जर स्पष्ट सांगितलें आहे, तर “ दंतभंगोहि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणें ” या न्यायानें त्यांचें आम्ही अभिनेदनच केळें पाहिजे. आयुष्याचीं ६० वर्षें सतत अभ्यासांत घालवून ज्यांचा मेंदु जगाच्या गूढ तत्त्वांशीं टक्कर देण्यांत गुंतला होता अशा तत्त्वज्ञ पुंगवास त्याची बुद्धि एकाद्या ठिकाणीं कुंठित झाली म्हणून नावां ठेवणें यासारखं दुसरा समजसपणा नाहीं असें स्पष्ट म्हणण्यास हरकत नाहीं. शिवाय हीही गोष्ट लक्षात ठेविली पाहिजे कीं, नीति तत्त्वाचें उदात्त स्वरूप उत्क्रांति तत्त्वाच्या साहाय्यानें सिद्ध करण्याचें श्रेय स्पेन्सरसाहेबांनांचि संपादिलें आहे, इतकेंच नव्हे तर वेदांती लोकांप्रमाणें आत्म्यास अमुक एक प्रकारची शुद्धावस्था प्राप्त झाली असतां तो मुक्त होतो, इतर गोष्टींची आम्हांस जरूर नाहीं असें म्हणणाऱ्यांपैकीं स्पेन्सरसाहेब नव्हते. तसेंच जीवाच्या कर्तव्याची सीमा परोपकार आहे असें सांगून ते स्वस्थ बसले नाहींत. अगदीं रानटी स्थितीपासून मनुष्याची सामाजिक स्थिति सुधारतां सुधारतां उत्क्रांति तत्त्वानें हल्लींचा समाज कसा बनला गेला याचेंही त्यांनीं एक स्वतंत्र शास्त्र बनविलें आहे; व प्रत्येक मनुष्याचें, समाजाचें, राजाचें आणि प्रजेचें कर्तव्य काय, आणि त्याच्या अभिवृद्धीची दिशा कोणती, अथवा या प्रश्नांचा विचार कोणत्या दिशेनें केला पाहिजे, या बाबतींत शास्त्रीय ग्रंथ लिहून त्यांनीं अशा प्रकारच्या प्रश्नांचा विचार करणाऱ्या लोकांस एक प्रकारचा कायमचा मार्ग दाखविला आहे. फार लांब कशाला ! शिक्षणावर जो त्यांचा निबंध व ज्याचें आज दहापंधरा भाषांत भाषांतर झालें आहे तोच घेतला तरी व्यावहारिक गोष्टीस तत्त्वज्ञाच्या हातांत किती उदात्त स्वरूप प्राप्त होतें व त्यापासून समाजास किती फायदा होतो याची वाचकांस कल्पना येईल. वेदांतांतील किंवा

सांख्यांचें तत्त्वज्ञान अशा रीतीनें व्यवहारोपयोगी करण्याचा आमच्यामध्ये पूर्वी कधीच प्रयत्न झालेला नव्हता. नाही म्हणावयास भगवद्गीता हाच काय तो अपवाद आहे; पण वेदांत्यांच्या हातांत या अपूर्व व्यवहारोपयोगी तत्त्वज्ञानात्मक ग्रंथाची बरीच दुर्दशा झालेली आहे. स्पेन्सरसाहेबांच्या ग्रंथापासून जर काहीं नवें वळण आपणांस घ्यावयाचें असेल तर तें हेंच होय कीं, सृष्टीच्या बुडाशीं जीं काहीं अगम्य तत्त्वे आहेत त्यांचा विचार करून तत्त्ववेत्त्यांनीं आपणांस मुक्ति मिळाली म्हणून उगीच बसावयाचें नाही. या गूढ तत्त्वांचा विचार करणें तत्त्वज्ञानाचें जितकें कर्तव्य आहे तितकेंच हीं तत्त्वे व्यवहारास कशी लावावीं हे जगाच्या नजरेस आणून देऊन मानवजातीची पूर्णावस्था कशी संपादावी ह्याचा त्यांस बोध करणें हेंही त्यांचें काम होय. हीं दोन्हीही कामे स्पेन्सरसाहेबांनीं आपल्या ८४ वर्षांच्या आयुष्यांत उत्तम रीतीनें बजाविलीं आहेत; व यामुळें कपिल, गौतम, कणाद, बुद्ध वगैरे प्राचीनकाळीं जे मोठमोठे तत्त्ववेत्ते होऊन गेले त्यांच्याप्रमाणें तत्त्वज्ञ या दृष्टीनें यांचें नांवही चिरकाल राहिल. शास्त्राच्या प्रगतीमुळें यांनीं सिद्ध केलेल्या तत्वांत पुढेंमागें काहीं फेरफार करावें लागले तर ती गोष्ट त्यांनीं सिद्ध केलेल्या उत्क्रांती तत्वांस अनुरूपच आहे किंवा होईल असें म्हटलें असतां त्यांत काहीं गैर होणार नाही. परंतु तेवढ्यामुळें त्यांनीं समग्र आधुनिक शास्त्राचें सर्व आयुष्यभर आलोडन करून संसारसुखाची अपेक्षा न धरता परोपकार बुद्धीनें जगाच्या बुडाशीं असलेलीं जीं तत्त्वे शास्त्रीय पद्धतीनें सप्रमाण सिद्ध केलेलीं आहेत त्यांची योग्यता कमी होत नाही; अगर ज्ञानी या नात्यानें स्पेन्सरसाहेबांस जो मान आम्हीं द्यावयास पाहिजे त्यांतही कमतरता येत नाही. अशा प्रकारचे ज्ञानी पुरुष फारच विरला. शेकडों वर्षांत एखाद दुसरा-उत्पन्न होत असतो; व ख्रिस्ती मिशनऱ्यांच्या कोऱ्या समजुतीप्रमाणें जरी हे नास्तिक ठरले, तरी श्रीकृष्णांनीं भगवद्गीतेत म्हटल्याप्रमाणें आर्त, जिज्ञासू, अर्थार्थी आणि ज्ञानी यांपैकीं—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

उदाराः सर्वे एवै ते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥

ज्ञानी हेच अखेरीस ईश्वरास प्रिय होतात व त्याच्या पदाप्रत पावतात हें निश्चित आहे. असे पुरुष देशांत उत्पन्न होणें हेंच देशाच्या सजीवतेचें लक्षण होय. व असलेच पुरुष जगाच्या गूढ तत्त्वांशीं झुंजून तीं मानव जातीस अधिकाधिक सुगम करून देऊन मनुष्यमात्राची आध्यात्मिक व आधिभौतिक उन्नति करून देतात व आपल्यास व आपल्या बांधवास कृतार्थ करून घेतात. स्पेन्सरसाहेबांनीं लग्न केलें नव्हतें, द्रव्याचीही तृष्णा धरली नव्हती, किंवा पार्लमेंटमध्ये, लोकल-बोर्डांत अगर म्युनिसिपालटीमध्ये सभासद होण्याची हाव धरली नव्हती; तर वैराग्यानें आणि एकनिष्ठपणानें एकोणिसाव्या शतकातील आधिभौतिक विचारानें ग्रस्त झालेल्या उत्तरार्धातही आध्यात्मिक प्रश्नांचा विचार करण्यांत जन्म घालविला,

आणि आपल्या अलौकिक बुद्धिसामर्थ्याने या बाबतीत पुढील पिढीच्या विचारांस नवीन वळण घालून दिले. असले पुरुषच जगाचे खरे हितकर्ते होत आणि वर सांगितल्याप्रमाणे ते कोणत्याही देशांत उत्पन्न झाले असले तरी 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' या न्यायाने सर्व देशांतल्या व सर्व ठिकाणांच्या लोकांस ते एकसारखे पूज्य असतात. स्पेन्सरसाहेबांचे वय मरणसमयी ८४ वर्षांचे असल्यामुळे व शास्त्रीय विचारांची तत्त्वज्ञानदृष्ट्या एकवाक्यता करण्याचे जें काम त्यांनी हातीं घेतलें होतें तें बहुतेक पुरें झालें असल्यामुळे त्यांचे मृत्यूबद्दल हळहळ वाटावयाचे काहीं कारण राहिलें नाहीं; तथापि, विशाल बुद्धिमत्तेचे पुरुष क्वचित् निर्माण होतात हें लक्षांत आणलें आणि आमच्या देशांतील बुद्धिवान् लोकांची सद्यः-प्रवृत्ति मनांत आणली म्हणजे दुःख वाटल्याखेरीज राहत नाहीं.

* सामाजिक परिषद.

राजकीय चळवळीची ही स्थिति झाली. सामाजिक विषयासंबंधानेही मद्रा-सेस अशाच प्रकारची स्थिति होऊन सामाजिक सभा भरल्यानंतर दुसरे दिवशीं तेथील हायकोर्टाचे जज सर सुब्रह्मण्य अय्यर यांच्या अध्यक्षतेखाली एक मोठी सभा भरून त्यात प्रो. रंगाचार्य व मिसेस अॅनीबिश्पांट यांची भाषणे झाली व 'हिंदु असोसिएशन' नांवाची सभा स्थापण्यांत आली. आमच्याकडे सुधारक मतांचा ज्या कारणाकरितां आज कित्येक वर्षे निषेध करण्यांत येत आहे तींच मते मद्रासच्या या हिंदु असोसिएशन सभेस पसंत असून तेवढ्याकरितां या सभेची मंडळी सामाजिक परिषदेपासून निराळी झालेली आहे. कै. न्या. रानडे हे यावेळीं मद्रासेस असते तर कदाचित् त्यांनी ही दुफळी होऊं दिली नसती; पण न्या. चंदावरकर यांस तसली हातोटी साधलेली नसल्यामुळे त्यांनी सामा-जिक परिषदेच्या पूर्वी (कै. रानडे करीत होते त्याप्रमाणे) जें प्रास्ताविक भाषण केले त्यांत विरुद्ध पक्षाचे त्यांस समाधान करतां आलें नाहीं. देशांत परकीय राज्य झाल्यामुळे आपल्या सभोवारची परिस्थिति पालटलेली आहे, व त्या परिस्थितीस अनुसरून आपल्या समाजाच्या चालीरीतींत जर फेरफार झाले नाहीं तर आपला टिकाव लागणार नाहीं असें मोठ्या गंभीरपणाने मि. चंदावरकर यांनी आपल्या भाषणांत सांगितले; इतकेंच नव्हे तर, 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदति' हा ऋग्वेदां-तील मंत्र म्हणून असे प्रतिपादन केले कीं, यांत ज्याप्रमाणे देवासंबंधाने बहुत्वांत ऐक्य दाखविले आहे त्याप्रमाणेच हिंदुसमाजांत जरी निरनिराळ्या जाती असल्या, तरी त्या सर्वांत ऐक्य आहे हें दाखविण्याचा व तें संपादन करण्याचा सुधारकांचा प्रयत्न आहे. न्या. चंदावरकर यांनी हें तत्त्व आम्हांस सांगितले त्यांतील खरें इंगित

काय हें त्यांसच कळलें आहे कीं नाहीं याची आम्हांस शंका आहे. केसरी पत्रांत तरी आम्हीं अनेक वेळां असें स्पष्ट लिहिलें आहे कीं, सुधारणा मुळींच नको असें म्हणणारांपैकीं आम्ही नाहीं. मनुष्य किंवा समाज यास समोवतालच्या परिस्थितीप्रमाणें आपापलें स्वरूप बदलण्याची शक्ति ईश्वरानेंच दिली आहे; आणि न्या. चंदावरकरासारखे सुधारक न निघाले तरीही हे फेरफार होतील व होत जाणार यांत बिलकूल शंका नाहीं. मुसलमानी राज्यांत आमच्या चालीरीती बदलल्या नाहींत काय ? अथवा देशांत ज्या वेळीं बौद्ध धर्माचें प्रस्थ माजलें होतें तेव्हां आम्हीं आपल्या सामाजिक रीतीभर्तीत कांहीं फेरफार केला नाहीं काय ? होय; केला आहे, तर मग आतांच एवढा वाद कां ? उघडच आहे कीं, बौद्ध राजांच्या अमलाखालीं किंवा मुसलमानी राजांच्या अमलाखालीं राहूनही आम्हीं अद्याप हिंदुत्वाचा अभिमान कायम ठेवला आहे व तोच पुढें कोणतीही परिस्थिति आली असतां कायम ठेवावा अशी आमची इच्छा आहे. सुधारकांचा व आमचा कांहीं मतभेद आहे तो हाच होय; आणि त्याचें एकच उदाहरण दिलें असतां खुलासा होण्यासारखा आहे. आमच्या देशांतील वाणी, भाष्ये वगैरे पुष्कळ जातींतील लोक आफ्रिका, सुएज, चीन, हांगकांग, ब्रह्मदेश वगैरेकडे व्यापाराकरितां जाऊन आलेले आहेत. नुकत्याच चीन देशांत गेलेल्या शीख, रजपूत, आणि पुरभय्ये यांच्या पलटणी परत आल्या, पण त्यांस जातींत परत घेण्याची कोठेंच अडचण पडली नाहीं. परंतु एखादा आमचा सुधारक विलायतेस जाऊन बॅरिस्टर होऊन परत आला म्हणजे त्यास जातींत घेण्याचा मोठा बोभाटा होऊन सामाजिक परिषदेच्या मंडपांत त्याची मोठी भवती न भवती चालत असते. पण कोणी असा विचार करीत नाहीं कीं, या वेष्ट्याला कोठे ज्ञातीधर्माप्रमाणें राहावयाचें असतें ? हा हवें तें खाणार, हवें ते पिणार, हवा तसा पोषाख करणार, धर्माच्या नांवानें माहिती शून्य आणि इच्छाही शून्य. अशा स्थितीच्या मनुष्यास जातीनें आपल्या समाजांत न घेतलें म्हणून सामाजिक परिषदेत ओरड करण्यांत फायदा काय ? हिंदु लोकांचें नांव सोडून द्या; पण उद्यां हिंदुस्थानांत आलेला एखादा इंग्रज विलायतेस परत गेल्यावर धोतरें नेसूं लागला, चमचा काटे न घेतां हातानें जेऊं लागला, आणि डोक्यावरचे केस काढून आमच्याप्रमाणें शेंडी ठेवून वागूं लागला, तर त्याला विलायतेतील लोक आपल्या समाजांत जेवणाखाण्यास किंवा इतर प्रसंगीं आमंत्रण देऊन बोलावतील काय ? आपण असेंही समजूं कीं त्यानें ख्रिस्तीधर्म सोडला नाहीं, फक्त आचार मात्र हिंदूंचा घेतला आहे; तरीही पण विलायतेतील बायकापोरेंच नव्हे तर शहाणे लोकही त्यास आपल्या टेबलावर जेवावयास घ्यावयाचे नाहींत. विलायतेत जर ही स्थिति तर हंगलंडाहून परत आलेल्या आमच्या ' न हिंदुर्न यवनः ' अशा

स्थितित्त्या गृहस्थास आमच्या इकडील लोकांनी तरी ज्ञातीत काय म्हणून घ्यावे ? मनुष्य स्वभाव हा येथून तेथून सारखा आहे. इंग्रज लोक ज्याप्रमाणे कोठेही गेले तरी आपला अभिमान ठेवून इंग्रजासारखेच राहातात, तसा तुम्ही हिंदुत्वाचा अभिमान कायम व जागृत ठेवा, आणि मग हे सामाजिक प्रश्न लोकांपुढे मांडा असे प्रोफेसर रंगाचार्य यांचे म्हणणे आहे. ज्यास हिंदुधर्माचा किंवा हिंदुत्वाचा अभिमान नाही त्यास हिंदु लोकांनी काय समाजसुधारणा करावी हे सांगण्याचाही पण अधिकार नाही. हिंदुधर्मावर श्रद्धा नाही, प्रार्थनासमाजाच्या पीठावर उभे राहून शंकराचार्यास शिव्या देण्यास तयार, स्वतःच्याबुद्धीने खरा वाटेल तो धर्म, बाकी सर्व झूट, अशी किंवा अशाच प्रकारची दुसरी ज्यांची मते आहेत त्यांनी हिंदुधर्मात किंवा हिंदुसमाजाच्या चालिरीतीत ढवळाढवळ करण्याचा प्रयत्न न करितां समाजाबाहेर राहून इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः या स्वानंदस्थितीच्या मुखाचा अनुभव घेत बसावे हेंच चांगले. पन्नास वर्षापूर्वी जे समाजसुधारक बनले त्यांस त्यावेळीं हिंदुधर्माची अगर त्यांतील ग्रंथांची माहिती नव्हती व त्यामुळे सुधारणेची भलतीच दिशा त्यांनी पतकरलेली होती; पण संस्कृत ज्ञानाच्या प्रसाराने आणि थिऑसाफिकल सोसायटीच्या उद्योगाने हिंदुधर्म, हिंदुआचार, हिंदुतत्त्वज्ञान यासंबंधाने लोकांस उत्तरोत्तर जास्त माहिती मिळून पूर्वीचे विचार आतां पालटत चालले आहेत; आणि पुष्कळ सुशिक्षित लोकांस असे वाटू लागले आहे कीं, हिंदुत्वाचा पाया जर आम्ही सोडून दिला तर आम्हांस आमचे असे कांहींच राहणार नाही. नव्या परिस्थितीला अनुरूप सामाजिक फेरफार कोणास नको आहेत असे नाही. पण जे फेरफार व्हावयाचे त्यामुळे हिंदुत्वाचा अभिमान नष्ट होऊं नये अशी प्रत्येकाने खबरदारी घेतली पाहिजे. ही खबरदारी सामाजिक परिषदेत घेतली जात नाही, किंबहुना ती या सुधारकवर्गास नको आहे हें उघड आहे; व याच मतभेदामुळे मद्रासेस हिंदु असोसिएशन ही नवी सभा यंदा स्थापन झाली आहे. मुंबई इलाख्यांत सामाजिक परिषदेच्या कामास जें कांहीं आजपर्यंत प्रतिकूल मत झालेले आहे तें एवढ्याचकरितां आहे व केव्हांना केव्हां तरी मद्रासेस यंदा झाला तसा प्रकार व्हावयाचाच होता. याकरितां मद्रासेस जी नवी सभा स्थापन झाली आहे तिचे आम्ही अभिनंदन करितों. हल्लींच्या कार्ली हिंदुधर्माबद्दल बऱ्याच सुशिक्षित लोकांत जी आस्था आढळून येते त्यावरून आम्हांस अशी उमेद आहे कीं, या नव्या सभेच्या तत्वांचाच अखेरीस जय होईल. कोणतीही सामाजिक सुधारणा झाली तरी ती स्वीकारतांना आम्ही आपले मूळ काय हें विसरतां कामा नये; आणि तसें होईल तरच आमचे राष्ट्रीयत्व कायम राहून आम्ही प्रगतीच्या मार्गास लागूं. सामाजिक सुधारणा राष्ट्रीयत्वास धरून पाहिजे असें जें आमचे म्हणणे आहे त्याचा अर्थ काय हें यावरून व्यक्त होईल. न्या. चंदावरकर यांनी राष्ट्रीय सामाजिक सुधारणा म्हणजे काय हें आपणास कळत नाही असें म्हणून त्या-

हिंदुत्व आणि सुधारणा.

संबंधाने आपल्या भाषणांत बरीच वायफळ टीका के
टीकेने सुधारकपक्षासही काहीं फायदा होईल असें आम्हां

* हिंदुत्व आणि सुधारणा.

गेल्या खेपेस मद्रासेस नव्या स्थापन झालेल्या ' हिंदु अ-
उल्लेख करतांना समाजसुधारणेचा पाया हिंदुधर्म असल्याखेरीज आम
खरी सामाजिकसुधारणा होणे नाही, असें आम्ही म्हटले होते. याजवर एक
कडून असे आक्षेप आले आहेत की, " काय हो, तुम्ही हिंदुत्व कायम राखून
जी सुधारणा करणार तीत आणि हल्लींच्या सामाजिक परिषदेत होत असलेल्या
सुधारणेत अंतर काय ? स्त्रीशिक्षण, बालविवाह, पोटशाखेंतील अंतर्विवाह, समुद्र-
यात्रा, इत्यादि विषयासंबंधाने तुमच्या आणि हल्लींच्या सामाजिक सुधारकांच्या
मतांत विशेषसा फरक दिसत नाही; आणि असा फरक जर नाही तर हल्लींच्या
सामाजिक सुधारकांच्या विरुद्ध लिहून लोकांमध्ये त्यांच्याविषयी अनादर तुम्ही
कां उत्पन्न करतां ? हा प्रश्न ज्या गृहस्थांनीं विचारला आहे त्यांनीं तो चांगल्या
हेतूनेच विचारला आहे असें आम्ही गृहीत धरून चालतो. परंतु एवढें म्हणणे
भाग आहे की, त्यांचा हेतु जरी चांगला असला तरी आमच्या आजपर्यंतच्या
म्हणण्याचा त्यांनीं नीट विचार केलेला दिसत नाही. समाज-सुधारणा नको असें
म्हणणारे आम्ही नाही, ही गोष्ट अनेक प्रसंगीं कंठरवानें आम्ही सांगितलेली
आहे. परंतु हल्लींच्या सुधारकांचे आणि आमचे मार्ग निराळे आहेत, आणि हे
मार्ग ज्या कारणांनीं उपस्थित झालेले आहेत, तींही भिन्न आहेत. या भेदामुळे
हल्लींच्या सुधारकांत आणि आमच्यांत जो विरोध उत्पन्न झालेला आहे तो बहु-
तेक अपरिहार्य आहे, असें आजपर्यंतच्या आमच्या लेखांवरून वाचकांस
कळून आलें असेल. सामाजिक परिषदेला अभिप्रेत असलेल्या
गोष्टी केवळ सुधारणा म्हणून ग्राह्य करण्यास आम्हीं तयार नाही, असें आम्हीं
अनेकदां म्हटले आहे. या वाक्याचा अर्थ उघड आहे, तथापि तो आणखी स्पष्ट-
पणें समजावयास पाहिजे असल्यास आपण एक उदाहरण घेऊं. मूर्तिपूजा असावी
किंवा नसावी हा वाद स्वतंत्र आहे. त्याचा आज विचार कर्तव्य नाही. तथापि
मूर्तिपूजा नको म्हणणारे जे लोक आहेत, त्यांत आर्यसमाजाचे लोक ज्याप्रमाणें
येतात त्याचप्रमाणें मुसलमान किंवा खिस्ती लोकही येतात. अर्थात् मूर्तिपूजा-
निषेध ही सुधारणा आर्यसमाजवाले, मुसलमान व खिस्ती या तिघांसही इष्ट आहे.
पण या तिघांपैकीं पहिल्याची म्हणजे आर्यसमाजवाल्यांची सुधारणा हिंदुत्वाच्या
पायावर आहे; आणि खिस्ती व मुसलमान यांची हिंदुधर्माविरुद्ध अथवा हिंदुत्वा-

शे० टिळकांचे केसरीतील लेख.

ही कबूल करील. दुसरें उदाहरण पाहिजे असल्यास बौद्ध या. यज्ञामध्ये पशूची हिंसा केल्यानें स्वर्गप्राप्ती होत नाहीं , आणि तेंच मत बहुतेक उपनिषदांतही ग्रथित केलेलें , आच्याऐवजीं ज्ञानयज्ञाचा प्रचार जो हिंदुस्थानांत सुरू झाला , वेदांतमत प्रचारांत आल्यानें झाला असें उघड दिसते. मताचें प्राबल्य इतकें झालें आहे कीं, आतां पशुयज्ञ बहुतेक आहे असें म्हटलें तरी चालेल. पशुयज्ञ बंद होण्याची ही सुधारणा बौद्ध आणि वेदान्ती असे दोन प्रकारचे लोक होते. दोघांचाही हेतु व; पण बौद्धांची सुधारणा हिंदुत्वाला सोडून झाली, आणि वेदांत्यांची सुधारणा हिंदुत्वाला धरून झाली. तिसरे उदाहरण जातिभेदासंबंधाने घ्या. बौद्धधर्मांत जातिभेद मानलेला नाहीं, आणि भागवतधर्मांतही जातिभेदाचें महत्त्व कमी आहे. तथापि भागवतधर्माची सुधारणा हिंदुत्वाला धरून आहे, आणि बौद्धांची हिंदुत्वाला धरून नाहीं ही गोष्ट निर्विवाद आहे. या तीन उदाहरणावरून एवढें लक्षांत येईल कीं, सुधारणेची बाब जरी एक असली तरी ती हिंदुत्व कायम ठेवून अमलांत आणतां येतें, आणि तें बुडवूनही अमलांत आणतां येते. शंकराचार्यांस कित्येकांनीं ' प्रच्छन्न बौद्ध ' म्हटलेलें आहे; म्हणजे बौद्धांच्याच कांहीं मतांचें हिंदुत्वाच्या दृष्टीनें समर्थन करून आचार्यांनीं त्यांचा स्वीकार केला आहे असें कित्येकांचें म्हणणें आहे, आणि तें एका दृष्टीनें खरेंही आहे. तथापि शंकराचार्य हें वैदिक मार्ग--प्रवर्तक व बुद्ध वैदिकमार्ग--ध्वंसक होता असें सर्वांचें मत आहे. सारांश, साध्य गोष्ट जरी एकच असली तरी ती साधण्याचें जे भिन्न भिन्न मार्ग आहेत त्याचें ज्याप्रमाणें एखादा मनुष्य अवलंबून करील त्याप्रमाणें तो मनुष्य निरनिराळ्या पंथांचा बनतो एवढे निर्विवाद आहे. वर लिहिलेल्या उदाहरणांपेक्षांही जास्त व्यापक उदाहरण घेणें असल्यास तें परमेश्वरप्राप्तीचें घ्या. परमेश्वर प्राप्ति हा हेतु सर्वांचा सारखाच आहे; तथापि ख्रिस्ती लोक बायबलांत सांगितलेल्या पंथानें, मुसलमान लोक कुराणांतील पंथानें, हिंदु लोक वैदिक मार्गानें आणि बौद्ध लोक बुद्धप्रणित मार्गानेंही प्राप्ति करून घेतात. इष्ट हेतु किंवा साध्य गोष्टी एकच असूनही मार्गांच्या भेदानें भिन्न भिन्न पंथ कसे होतात हें एवढ्यावरून कळून येईल.

मद्रासेस हिंदुसभा स्थापन करण्याचें प्रो. रंगाचार्य यांनीं जे हेतु लिहिले आहेत, आणि सभेच्या दिवशीं अनी बिझांट यांचें जें व्याख्यान झालें त्यांत आर्म्ही वर सांगितलेल्या गोष्टींचा स्पष्ट उल्लेख केलेला आहे. आमच्या मुलां-मुलींस धर्म आणि नीति यांचें चांगलें शिक्षण मिळालें पाहिजे; बालविवाहाचा प्रघात मोडून सुश्रुतानें सांगितल्याप्रमाणें पुढील संतति सट्ट निपजली पाहिजे; निरनिराळ्या देशांत आमचे लोक जाऊन तेथून निरनिराळ्या विद्या त्यांनीं संपादन करून आणल्या पाहिजेत; जातीद्वेष मोडून खालच्या जातींच्या लोकांस

वरच्या जातींतील लोकांप्रमाणेच भगवत्प्राप्तचे मार्ग खुले होऊन दोघामधील सलोखा वाढविला पाहिजे; पोटजातींतील लोकांमध्ये बेटी व रोटीव्यवहार सुरू होऊन त्यांमधील भेद उत्तरोत्तर कमी होत चालले पाहिजेत; आणि देशांतील एकदर सर्व जातींचा मेळ किंवा त्यामधील सलोखा जितका अधिक वाढेल तितका आम्हांस पाहिजे आहे, असें प्रो. रंगाचार्य व अॅनी बिझांट या दोघांनाही सांगितलें आहे. एकाच बाबतींत काय तो थोडासा फरक आहे. तो हा की, उच्च-प्रतीच्या हिंदुविधवांनी पुनर्विवाह करण्यापेक्षा व्रतस्थ राहून समाजाची सामाजिक उन्नति करण्याचा प्रयत्न करावा, असें बिझांटबाई म्हणतात; आणि सुधारकवर्ग त्यांनी पुनर्विवाह करावा असे म्हणतात परंतु सामाजिक सुधारक आणि प्रो. रंगाचार्य यांच्या-मध्ये जो विरोध आहे तो एवढ्या भेदाकरिताच आहे, असें नाही; वर सांगितल्याप्रमाणे या दोघांच्याही मार्गांत अंतर आहे. सामाजिक सुधारणेचा प्रश्न हल्ली ज्या लोकांनी पुढें आणिलेला आहे, त्यांस हिंदुधर्माचा अभिमान नाही. हिंदुत्व म्हणून कांहीं विशिष्टपणा पाहिजे असें त्यांचें म्हणणें नाही; व हिंदुधर्मातील तत्त्वे समजून घेण्याचा त्यांनी कधी प्रयत्न केलेला नाही, असे प्रो. रंगाचार्य यांचें म्हणणें आहे व ते खरेंही आहे. हा परिणाम इंग्रजी शाळांतून मिळत असलेल्या शिक्षणाचा आहे, ही गोष्ट प्रो. रंगाचार्य व अॅनीबिझांट यास कबूल आहे. पण त्यांचें असें म्हणणें आहे कीं केवळ समाजाच्या चालीरीतींत अमुक अमुक फरक झाले म्हणजे सुधारणा होते असें नाही. कोणत्याही सुधारणेचा मुख्य उद्देश म्हटला म्हणजे विशिष्ट राष्ट्रीयत्वाचा अभिमान जागृत करणें हा होय. तो अभिमान आम्हीं कोणता धरावयाचा? अर्थात् हिंदुत्वाचा होय. आम्हाला धर्माची कांहीं एक परंपरा आहे, त्या परंपरेंत जे ज्ञान आहे तें इतर धर्मांतील ज्ञानाच्या बरोबरीने किंबहुना त्याहूनही श्रेष्ठ आहे, आणि ही परंपरा जर आम्ही सोडून दिली तर आमचें असें म्हणण्यासारखें आम्हांस सामान्य बंधन कांहींच नाही, या गोष्टी आम्हीं नेहमी लक्षात बाळगल्या पाहिजेत. सामाजिक परिषदेचे पुरस्कर्ते आणि प्रो. रंगाचार्य व बिझांटबाई यांच्यामधील खरा मतभेद जो आहे तो हाच आहे. कोणतीही सुधारणा अमलांत आणतांना समाजातील रूढ संप्रदायास अनुसरणाऱ्या लोकांचा अडथळा यावयाचाच तो हिंदुत्व-राखून सुधारणा करणाऱ्या लोकांस यावयाचा नाही, असें प्रो. रंगाचार्य म्हणत नाहीत. कोणतीही नवी गोष्ट समाजांत प्रचलित करावयाची झाली म्हणजे तीस अडथळा हा येणारच. पण तो अडथळा काढून टाकण्याचेही दोघांचे मार्ग निरनिराळे आहेत: हिंदु, मुसलमान, ख्रिस्ती व पारशी या सर्वांची एक सामाजिक परिषद भरून तींत सर्वानुमते कांहीं ठराव मंजूर करणें व ते ह्या त्या रीतीनें अमलांत आणण्याचा प्रयत्न करणें, हा हल्लींच्या सामाजिक सुधारकांचा मार्ग होय. प्रोफेसर रंगाचार्य यांचें म्हणणें असें आहे कीं, हा मार्ग अयोग्य आहे, राजकीय बाबतींत ज्याप्रमाणें सर्व अधिकार राजाच्या किंवा एखाद्या विशिष्ट संस्थेच्या ताब्यांत असतो तसा हिंदुसमाजांतील

सामाजिक बाबतींतील अधिकारही कांहीं विशिष्ट व्यक्तींच्या व संस्थांच्या ताब्यांत आहे; आणि या संस्था व व्यक्ति हिंदुशास्त्रांत सांगितलेल्या कांहीं नियमांनीं चाललेल्या आहेत. या व्यक्ति, संस्था किंवा शास्त्र यांच्याविरुद्ध उघड बडबड केल्यानें कांहीं फायदा नाही. तर ज्याप्रमाणें राजकीय बाबतींत आम्ही कॉस्टिट्यूशनल किंवा कायदेशीर चळवळ करतो तशी सामाजिक बाबतींतही शास्त्रोक्त चळवळ झाली पाहिजे. लूथरनें युरोपांत धर्मक्रांति केली म्हणून सुधारक आपल्या तर्फेचें एक मोठें उदाहरण देत असतात. परंतु जरा विचार केला असतां असें लक्षांत येईल कीं, लूथर हा बायबलवर पूर्ण विश्वास ठेवणारा श्रद्धावान् ख्रिस्ती होता. आमच्या सुधारकांची तशी स्थिति नाही. हे केवळ उपयुक्तता—वादी आहेत, धर्मशील उपयुक्तता—वादी नाहीत. याचा परिणाम असा झाला आहे कीं, यांनीं प्रचलित केलेल्या सुधारणेस समाजांतील लोक विधर्मी समजतात. इल्लींच्या सुधारकांच्या वर्गांत नाही म्हणावयास दिवाण बहादूर रघुनाथराव हे बहुधा एकटेच या दोषास पात्र नाहीत. पण त्यांचा व इतर सुधारकांचा लवकरच बेबनाव होऊन मद्रास येथें भरलेल्या सामाजिक परिषदेच्या बैठकीसही ते जवळ कुंभकोणास राहात असतां गेले नाहीत. कै. न्या. रानडे हेही अखेरीस सामाजिक सुधारणेंत हिंदुत्व कायम राहिलें पाहिजे, या मताकडे वळले होते. पण न्या. चंदावरकर याची स्थिति व मतें याहून फार भिन्न आहेत. मद्रासेस यंदाच्या सालीं जो विशेष घोंटाळा झाला तो यामुळेच झाला. प्रो. रंगाचार्य यांचें असें म्हणणें आहे कीं, जुने शास्त्री व जुने पंडित हे ज्याप्रमाणें एकदेशीय असतात तसेंच नवीन इंग्रजी शिकलेले सुधारकही एकदेशीय असतात. शास्त्री व पंडित यांस नवी परिस्थिति माहित नसते, तर इल्लींच्या सुधारकास हिंदुधर्माचीं तत्त्वे माहित नसतात. तेव्हां खरी सुधारणा घडवून आणण्यास शास्त्री व पंडित यांस नव्या परिस्थितीचें आणि नव्या सुशिक्षित वर्गास हिंदुधर्मातील तत्त्वांचें व परंपरेचें ज्ञान करून दिलें पाहिजे. असें झाल्याखेरीज दोषांचा मिलाफ व्हावयाचा नाही. दोषांतही एकेक प्रकारच्या शिक्षणाची उणीव आहे, व ती उणीव भरून काढणें हें खऱ्या सुधारकांचें कर्तव्य आहे. हिंदुधर्मातील तत्त्वे सुधारणेस प्रतिकूल आहेत असें नाही. तसें असतें तर आजपर्यंत हिंदुधर्मानें टिकावच धरला नसता व हिंदुराष्ट्री कायम राहिलें नसतें. यासाठीं प्रो. रंगाचार्य, व अॅनिविज्ञांटबाई वगैरे विचारी लोकांचें असें म्हणणें आहे कीं, समाजसुधारणा होणें ती हिंदुत्वाच्या पायावरच झाली पाहिजे; व ती अमलांत आणण्यास जुन्या व नव्या मिळून दोन्हीही वर्गांतील लोकांस त्या त्या वर्गाच्या मानानें जें जें अपुरतें आहे तें शिक्षण देऊन तयार केलें पाहिजे. धर्माच्या पायावर सुधारणा रचल्याखेरीज सुधारकांच्या आंगां खरी कळकळ कधीही उत्पन्न व्हावयाची नाही. करितां अॅनिविज्ञांट यांनीं आपल्या व्याख्यानांत सरतेशेवटीं असें सांगितलें आहे कीं, एखाद्याच्या व्याख्यानास तुम्ही

आणि हिंदुधर्म-ग्रंथांचें मंथन करून त्यांनीं जें रहस्य काढून श्रोत्यांस अर्पण केलें आहे, तें त्यांच्या पूर्वीच्या लौकिकास कमीपणा आणणारे खचित नाहीं. बंगलोर येथें दिवाणबहादुर सर कृष्णमूर्ती यांचे अध्यक्षतेखालीं एक व्याख्यान झालें. त्यामध्ये पंडिताबाईंनीं ' आपलें चरित्र व आपण केलेली कामगिरी ' यांचें मोठें मनोरंजक कथानक लाविलें होतें. आपल्या जुन्या चालीच्या व कर्मठ बापानें आपणास थोडेंबहुत संस्कृत कसें शिकविलें, व त्या तुटपुंज्या (Smattering) ज्ञानाचें साहाय्यानें व ' विचारी मनाच्या ' मदतीनें आपण सर्व हिंदुशास्त्रें, तत्त्व ग्रंथ व पुराणग्रंथ यांचें ओलोडन कसें केलें, त्या अध्ययनामध्ये आपणास कस-कसे जबरदस्त संशय आले. व शेवटीं बायबलानें ' भिद्यते हृदयग्रंथिः च्छिद्यन्ते सर्वे संशयाः ' अशी आपली स्थिति होऊन आपण प्रभूच्या चरणाचा कसा आश्रय केला याचें त्यांनीं केलेलें वर्णन फारच बहारीचें झालें आहे ! त्यांचा पति मरण पावल्यानंतर पंडिताबाईंचा हिंदुसमाजानें फारच छळ व जाच केला; व त्यामुळे त्यांस हिंदुधर्माचीं बंधनें तटकन् तोडून टाकण्याची स्फूर्ति झाली; आणि हिंदुधर्मात न मिळणारें स्वातंत्र्य ख्रिस्तीधर्मात त्यास गवसल्यामुळे त्यांनी त्याची कास धरली ! हिंदु पुराणांतील सप्तसमुद्र व तीन खंडें, सात स्वर्ग व सप्तपाताल, गजमुख व अश्वमुख-देव-देवता, ग्रहणासंबंधाची व राहूकेतूंची कथा, शाळिग्रामपूजा ह्या थोतांडासंबंधानें त्यांस जबरदस्त संशय येऊ लागले; व ह्या संशयाची निवृत्ति करणारा हिंदुधर्मात कोणीच सद्गुरु त्यांस भेटला नाहीं. हिंदुशास्त्रें स्त्रियांना पतीवाचून दैवत नाहीं असे लिहितात; विधवांना मोक्ष नाहीं व स्त्रिया ह्या पापाच्या पुतळ्या आहेत असें त्यांचें मत आहे; स्त्रियांनीं पतीची सदैव गुलामगिरीच केली पाहिजे असाच हिंदुशास्त्रांचा इत्यर्थ आहे. प्रायश्चित्त म्हणजे निवळ थोतांड आहे; गाईच्या शरीरापासून निघालेल्या पांच द्रव्यांच्या पंचगव्यानें पाप नाहींसें होतें असें म्हणणे हा केवढा मूर्खपणा ! अशा प्रकारच्या अनेक संशयांनीं पंडितेच्या ' विचारी मनास ' पछाडलें. अमक्यातमक्या देवाची पूजा करा किंवा अमुक स्तोत्रें म्हणा, अथवा अमुक तीर्थास जा, असे जे जे परमेश्वरप्राप्तीचें मार्ग हिंदुशास्त्रानें सांगितले ते ते पंडिताबाईंनीं अनेक वर्षे केलें; परंतु सर्व व्यर्थ. पण पुढें जेहां त्यांनीं बायबलाचें अध्ययन करून व येशूचे वचनावर विश्वास ठेवून त्याची मनोभावे प्रार्थना केली तेव्हां तो प्रभू येशू आपल्या ह्या प्रिय भाक्तीणीस एका रात्रीत पावला ! आणि त्यानें सत्य काय आहे याचा त्यांस उपदेश केला ! ? व तो प्रभू अजूनही त्यांच्या प्रार्थना ऐकतो व त्यांस दर्शन देतो !!! त्यांच्याप्रमाणें दुसऱ्या कोणीही जर येशूची अशीच प्रचिती पाहिली तर तो त्यांसही पावेल व ते मागतील तें तो त्यांस देईल, असें पंडिताबाईंनीं आपल्या श्रोत्यांस सांगितलें; श्रीपांडुरंगाचें जनाबाईंशीं जितके सलगीचें वर्तन होतें तितकें प्रभू येशूचेंही जरी रमाबाईंशीं आहे तरी त्यानें एक गोष्ट पंडिताबाईंपासून लपवून ठेवलेली दिसते. ' तुमचा जो प्रभू एवढा सर्व-शक्तिमान आहे. व जो तुम्हास

एका रात्रीत पावला तो एका दिवसांत सगळ्या हिंदुस्थानास खिस्ती धर्मानुयायी कां करून टाकीत नाही ? अशा अर्थाचा पंडितेस एका हिंदूने प्रश्न विचारला होता; तेव्हां त्यांनीं असें करणें ईश्वरास शक्य आहे, पण तो तसें कां करीत नाही त्यांचें मनांत काय आहे हे मीं कसें सांगूं ? असें उत्तर दिलें ! पुनः प्रभु येशू जेव्हां त्यांस दर्शन देईल तेव्हां त्यांनीं त्याजगासून या कोळ्याचा उलगडा करून घ्यावा, अशी आमची पंडिताबाईंस सूचना आहे.

आपलें चुटपुटतें संस्कृत भाषेचें ज्ञान व 'विचारी मन' याच्या रासायनिक संगमापासून कोणतीं अमृततुल्य फळे निर्माण झालीं याचें याप्रमाणें वर्णन करून पंडिताबाईंनीं आपल्या 'कामगिरी'चें कथन केलें. आपण स्वतः विधवा असल्यामुळें विधवाचें दुःख पाहून आपलें अतःकरण कळवळतें. शारदासदनांतील पुष्कळ विधवांनीं जातिभेद झुगारून दिला आहे; कांहीं अजून जातिधर्माप्रमाणें वागत आहेत; त्यांना तेथें लिबरल एज्युकेशन ऊर्फ उदार शिक्षण दिलें जातें, व वाचनासाठीं अगदीं निवडक व उत्तम बुकें मात्र देण्यात येतात. 'पवित्र शास्त्रा'चें तर नेहमीं वाचन होतें. बायबल हें वाचनास फारच उत्तम पुस्तक आहे. बडे मुत्सद्दी व विद्वान् पुरुष जे जे झाले ते केवळ बायबलामुळें तसे झालेले असतात. 'माझ्या नीतिधैर्याची इमारत बायबलचे पायावर उभारलेली आहे.' असें कै. न्या. रानडे यांनीं आपलें गुज पंडिताबाईंपाशीं सांगितलें ! तसेंच न्या. चंदावरकर जज्ज ह्यांनीं बायबलचें चांगलें अध्ययन केलें आहे; 'आज ते जसे झाले आहेत तसे बायबलनें त्यांस केलें आहे' असें पंडिताबाईंनीं आपल्या श्रोत्यांस सांगितलें ! सर्व हिंदुस्थान एका दिवसांत नसलें तरी थोड्या वर्षांतच खिस्ती करून टाकतां येईल अशी पंडिताबाईंस खात्री वाटत आहेसें दिसतें; आणि हें पवित्र काम तडीस नेण्यासाठीं त्यांनीं युक्तिही शोधून काढली आहे. हिंदुस्थानांत ५ लक्ष युरोपियन व युरेजियन तरुण स्त्रिया अशा आहेत कीं, त्यांस हें पवित्र कृत्य करून हिंदु स्त्रियांची उन्नति सहज करितां येईल. या ५ लक्षांपैकीं नुसत्या १ लक्ष स्त्रियांनीं बाहेर पडून अनुभविक माणसाचे देखरेखीखालीं ही मोहीम सुरू करावी; त्यांस लोकांची भाषा, चालीरीति व संवयी यांचें पूर्ण ज्ञानही आयतें आहेच; त्यांच्या साह्यानें त्यांनीं हिंदु कुटुंबांतील पडद्याचे मागे प्रवेश करावा; आणि तेथें सर्व जगापासून दूर राहिलेल्या स्त्रियांस आधीं मैत्रिणी, मग सोबतिणी व शेवटीं खिस्तीणी करून टाकावें म्हणजे झालें ! अशी पंडिताबाईंची अजब युक्ति आहे; व तशाच कांहींशा इराद्यानें त्या म्हैसूरान्त गेल्या आहेत. म्हैसूरच्या खानेसुमारीच्या रिपोर्टावरून कीं काय जाणें, पंडिताबाईंनीं असें गणित केलें आहे कीं म्हैसूर संस्थानांत हजारों विधवा असून त्यांपैकीं ४००० तर निव्वळ अर्भकें आहेत, व तीं प्रभु येशूचे कळपांत शोभतील अशीं कौवळीं कांकरें आहेत. परंतु त्यांचा हेतु कितपत तडीस जाईल हें सांगतां येत

नाहीं. दिवाणसाहेब सर कृष्णमूर्ति यांनी त्यांच्या केलेल्या कानउघाडणी-वरून व पंडिताबाईंच्या पाघळलेल्या पांडित्याचें श्रोत्यांनीं 'दुयो'च्या द्वारानें केलेल्या स्वागतावरून त्यांच्या या पवित्र कामास फार अडचणी येतील असें दिसतें. शिवाय हिंदु कुटुंबातील 'पडद्यावर' १ लक्ष तरुण स्त्रियांचा तांडा सोडून देण्याचा आपला हा बेत त्यांनीं भरसभेत सांगितल्याप्रमाणें मेंढीनें कातडें पांघरून येणाऱ्या या मायावी वाधिणीस म्हैसुरांतील लोक 'पडद्या' चे आंत घुसूं देतील किंवा नाहीं, याचीही वानवाच आहे. पंडिताबाईंच्या वरील बाकळ कोटिक्रमावर उत्तर देतां येणार नाहीं असें नाहीं. त्यांच्या ज्या 'विचारी मना'स हिंदु पुराणांतील सप्तसमुद्र व पंचगव्य-प्रायश्चित्त दिसलें त्यांच्या आटोक्यांतून निसटून गेलेल्या बायबलांतील पोरकट अशा कथा, मते, तत्त्वज्ञान, जगदुत्पत्ति, वगैरे भाग कोणासही दाखवितां येतील. पण एवढा खटाटोप करण्याची आम्हांस जरूर दिसत नाहीं; कारण ज्या मनास पंचगव्य थोताड वाटतें पण बातिस्मोदक पवित्र वाटतें तें 'विचारी' म्हणण्यापेक्षां आंघळें किंवा दुराग्रहीच म्हटलें पाहिजे. रमाबाईस हिंदूंचें कांहींच आवडत नाहीं हें उघड आहे; व त्यांनीं आतां सर्वस्वीं हिंदुत्वावर पाणी सोडलेंच आहे. तर त्यांस आमची शेवटची एकच सूचना आहे कीं, हिंदुत्वाचा जो एक कलंक त्यांच्या नांवाचे मागें 'पंडिता' पदवीरूपानें लागला आहे तो नाहींसा करून तेथें त्यांनीं 'रेव्हरंडा' हें पवित्र उपपद धारण करावें.

* इंग्रजी शिकलेल्यांचा एकांगीपणा.

गेल्या खेपेस हिंदुत्व राखून किंवा हिंदुत्वाचा पाया ठेवून सामाजिक सुधारणा करावयाची म्हणजे काय याचा अर्थ काहीं उदाहरणें देऊन आम्हीं सांगितला आहे. या उदाहरणापैकीं सर्वच आम्हांस ग्राह्य आहेत अशी जर त्यावरून कोणाची समजूत झाली असेल तर ती अगदीं चुकीची आहे. व्यवहार दृष्ट्या इष्ट हेतु एक असतांही तो साधण्यास धर्मदृष्ट्या निरनिराळ्या रीतीचे उपाय असणें शक्य आहे एवढें दाखविण्याकरितांच तीं उदाहरणें घेतलेलीं होती व तेवढ्यापुरती तीं समर्पक आहेत असें कोणासही कळून येईल. कित्येकांस हिंदुधर्मांत पुढें झालेली अहिंसेची सुधारणा बरी वाटणार नाहीं तर कित्येकांस आर्यसमाजाचीही दिशा आवडणार नाहीं; पण त्यामुळें आम्हीं दिलेल्या दृष्टान्ताचें महत्त्व कमी होत नाहीं. आमचा समाज पुरातन असून तो पूर्वापार चालत आलेल्या कांहीं नियमांनीं बद्ध झालेला आहे. हे सर्व नियम एकाच कार्त्वी अस्तित्वांत आले आहेत असें नाहीं, तर देशकालानुरूप त्यांत फेरफार होऊन त्यांस हल्लींचें स्वरूप प्राप्त झाले आहे हें प्रस्तुतचें स्वरूप

हल्लींच्या परिस्थितीस अनुकूल नसल्यास त्यांत फेरफार करणे अवश्य आहे. व तो होईलही यांत शंका नाही. प्रश्न एवढाच आहे की, तो घडवून आणण्याकरितां कांहीं उद्योग केला पाहिजे कीं काय, आणि उद्योग करावयाचा तर तो कोणत्या दिशेनें करावा ? उद्योग विलकूल करूं नये, होईल तें होऊं यावें असें म्हणणारे कांहीं लोक असतील, नाहीं असें नाहीं. पण हा पक्ष आमहांस मान्य नाही. आमच्यांत आणि या बाबतींत उद्योग करणाऱ्या कांहीं लोकांत जो मतभेद आहे तो दिशेसंबंधानें होय; आणि हा दिशेसंबंधाचा मतभेद पुष्कळ ठिकाणीं अत्यंत महत्त्वाचा असतो हें लक्षांत येण्याकरितां गेल्या खेपेस कांहीं ठळक उदाहरणें सांगितलीं होती. धर्माच्या पायावर सुधारणा करण्यास गेलें तर त्यास लोकांकडून यत्किंचित्ही अडथळा येणार नाहीं असे आमचें म्हणणें आहे. आमची भिस्त अडथळ्यांवर नाही, दिशेवर आहे. आणि प्रो. रंगाचार्य यांनीं सांगितल्याप्रमाणें हा भेद इतका महत्त्वाचा आहे की, त्यामुळें इतर दिशेनें उद्योग करणारांच्या चुका दाखविणें किंबहुना त्या उद्योगाचा निषेध करणें आमहांस जरूर झालें आहे.

कोणतीही सुधारणा घडवून आणणें असल्यास तें काम देशांतील सुशिक्षित वर्गानेंच पहिल्यानें हातीं घेतलें पाहिजे. केव्हांही झालें तरी सूर्याचीं पहिलीं किरणें उंच डोंगराच्या शिखरांवरच पडतात व तेथून तो प्रकाश उतरत उतरत खालीं दरिंत येतो. प्रस्तुत प्रकरणास हाच न्याय लागू आहे. प्राचीन काळीं आमच्या धर्मांत व चालीरीतींत ज्या ज्या सुधारणा झाल्या आहेत त्या घडवून आणण्यास आचार्यासारख्या लोकांनींच प्रथमतः सुदवात केलेली आहे. अगदीं अलीकडील उदाहरण घेणें असल्यास तें भागवतधर्माचे प्रवर्तक ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम यांचें घेतलें तरी चालेल. या पंथाच्या प्रवर्तकांमध्ये ज्ञान, वैराग्य, समताबुद्धि आणि धर्मश्रद्धा हे गुण किती व कसे जागृत होते हें महाराष्ट्रांत तरी सर्वास माहित आहे. परंतु चमत्कार असा की, यांचीं उदाहरणें दळदळीत आमच्या डोळ्यांपुढें असतांही आमच्या सामाजिक चालीरीतींत अमुक एक फेरफार घडवून आणण्यास आम्हीं काय केलें पाहिजे हें अद्याप आमहांस कळत नाही. अथवा चमत्कार तरी कसला ? आम्हास सध्यां जें शिक्षण मिळत आहे तेंच अशा प्रकारचें आहे की, इसाबनीतींतील समुद्रकांठीं चरणाऱ्या हरणाप्रमाणें आम्ही एकांगी होऊन कोणत्या वाजूनें आपणावर हल्ला येईल हेंच आमहांस कळनासें झालें आहे. जुन्या काळीं परकीय विद्येचा अभ्यास त्या वेळचे विद्वान् करीत नसत असें नाही. परंतु त्यामुळें आपली भाषा, आपला धर्म अगर धार्मिक रीतिभाती सोडून देण्याकडे कोणाची सहसा प्रवृत्ति होत नसे. जगन्नाथ पंडितासारखा एखादा दुसरा रंगेल पंडित केव्हां केव्हां निपजत असे; पण त्यासही अखेरीस गंगेस शरण जाण्याची बुद्धि होत असे. क्वचित्स्वर्ली 'शिव शिव न हिंदुर्नयवनः' असाही प्रकार होई. पण अशीं

उदाहरणें फारच थोडीं असत. मुसलमानी राज्यांत जुलमानें किंवा अन्य तऱ्हेनें बरेच लोक मुसलमान झाले; पण जे हिंदु राहिले त्यांची वृत्ति हिंदुधर्मासंबंधानें हल्लीं-प्रमाणें चंचल झालेली नव्हती. इंग्रजी राज्यांत आम्हांस जें शिक्षण मिळत आहे तें अशा प्रकारचें नाहीं. राज्यकर्त्यांचा धर्म परकीय असल्यामुळें त्यांनीं धार्मिक शिक्षणाच्या कामीं औदासिन्य पतकरलें आहे; आणि त्यामुळें आमच्या शाळा म्हणजे व्यवहाराकरितां उपयुक्त माणसें तयार करण्याच्या कारखान्याप्रमाणें निवळ व्यावहारिक संस्था होऊन राहिल्या आहेत. अशा प्रकारचें शिक्षण आज तीन चार पिढ्या आम्हांस मिळत आहे. धार्मिक शिक्षण देण्यास स्वतंत्र संस्था समाजांतील लोकांनीं निर्माण करण्यास कांहीं हरकत नव्हती. पण तसा प्रयत्न कोणीं केला नसल्यानें सुशिक्षित वर्गाची प्रत्येक पिढी अधिकाधिक व्यावहारिक व उपयुक्ततावादी होत चालली आहे; आणि त्यांच्यामध्ये व इंग्रजी न शिकलेल्या लोकांमध्ये विचाराचें अंतर उत्तरोत्तर अधिकाधिक होत चाललें आहे हा परिणाम राजाच्या किंवा मिशनरींच्या दृष्टीनें कदाचित् दृष्ट असेल, पण राष्ट्रीयदृष्ट्या देशांतील सुशिक्षित-वर्ग आणि सामान्य लोक यांच्या विचारांत अशा प्रकारचा भेद होऊन दोघांमधील अंतर अधिकाधिक वाढावें हें अत्यंत अपायकारक होय. जुन्या काळीं विद्वान् किंवा ज्ञानी पुरुष यांचा वर्ग नव्हता असें नाहीं. पण ते समाजापासून हल्लींच्याप्रमाणें कधीं अलग राहात नसत. किंबहुना समाजाची सुधारणा करण्यास लोकांमध्ये मिसळून त्यांस उपदेश केला पाहिजे असें त्यांस वाटत असे व त्याप्रमाणें ते आपलें आचरणही ठेवीत. हल्लींच्या सुधारकवर्गाच्या समजुती यापेक्षां अगदीं निराळ्या आहेत. धर्मसंबंधानें त्यांची स्थिति काय आहे हें सर्वास उघड दिसत आहे. आमच्या प्राचीन धर्मग्रंथाचें कधींही अवलोकन केलेलें नसल्यामुळें व लहानपणापासून सर्व शिक्षण व्यावहारिक रितीनें झालेलें असल्यामुळें इंग्रजी शाळेंतून तयार झालेल्या मनुष्यास धर्म म्हणजे काय, तो कशाकरितां पाहिजे, राष्ट्राच्या उन्नतीस त्याची कांहीं अवश्यकता आहे कीं नाहीं याबद्दल त्यास कांहीं एक माहीत नसतें. समाजांत प्रचलित असलेल्या कांहीं सामाजिक किंवा धार्मिक रितीभाती तो वरपांगी पाळीत असतो. पण त्यावरील त्याची श्रद्धा बहुतेक समूळ नाहींशी झाली असल्यामुळें या रितीभाती जरा कोठे नडूं लागल्या कीं, हे राजश्री त्या झुगारून देण्यास एका पायावर तयार असतात. आणि अशा वेळीं जर का त्यास कोणी कांहीं बोललें कीं, मिल्ह, स्पेन्सर किंवा बेकन यांच्या जोरावर बरेंच वाक्पांडित्य करण्यास हे तयार असतात. धार्मिक किंवा सामाजिकरीत्या आपला विशिष्टपणा कायम राखण्याकरितां कांहीं प्रसंगीं अडचणही सोसावी लागते व अशा प्रकारच्या अडचणी सोसण्यास लोकांस तयार करणें हें धर्मशिक्षणाचें एक अंग आहे, ही कल्पनाही यांच्या मनांत नसते. हल्लीं ज्या लोकांनीं सामाजिक सुधारणेचें काम हातीं घेतलें आहे ते बहुतेक याच वर्गातील आहेत. धर्मशिक्षणापासून एका प्रकारचें जें मानसिक धैर्य येतें तें

यांच्या आंगांत मुळीच नाही. इतकेंच नव्हे तर धर्माकरितां हे मुळीच काळजी करीत नाहीत. याचें दळदळीत उदाहरण पाहाणें असल्यास फार लांब जावयास नको. मिशनरी लोकांनीं जागोजाग ख्रिस्ती संस्था स्थापन करून हिंदुलोकांस ख्रिस्ताच्या कळपांत ओढण्यासाठीं ते जारीनें प्रयत्न करीत आहेत; व दुष्काळ हा आम्हांस साहाय्य करण्याकरितांच आकाशांतील बापानें हिंदुस्थानांत पाठविला, असेंही सर्वांनीं कृतीनें व कांहींनीं कंठरवानें जगास जाहीर केलें आहे. ही स्थिती हिंदुधर्माच्या दृष्टीनें शोचनीय होय. याबद्दल कांही मतभेद असेल, असें आम्हांस वाटत नाही. पण विधवाविवाहाकरितां जितकी ओरड होते तितकी ओरडही ह्या बाबतींत होत नाही, मग उद्योग कोठला ? उलट सर्व देश ख्रिस्ती झाला तर बरेंच झालें, असे मानणारे हल्लींच्या सुधारकवर्गाच्या पुढाऱ्यांत कांहीं लोक आहेत. अशा लोकांनीं सामाजिक सुधारणेबद्दल केलेली ओरड लोकांस ग्राह्य न झाल्यास त्यांत लोकांचा तरी काय दोष ? सुधारणा करणें ती धर्माच्या पायावर करा, असें आम्ही कां म्हणतो याचें कारण यावरून दिसून येईल. दहापांच युरोपियन लोकांनीं एकत्र जमून आमच्या सामाजिक रीतीभार्ताची चर्चा केली किंवा दहापांच हिंदूंनीं एकत्र जमून युरोपियन लोकांच्या सामाजिक सुधारणेची जर चर्चा केली तर ती अनुक्रमे हिंदूस किंवा युरोपियन लोकांस जितकी ग्राह्य वाटेल तितकीच प्रस्तुतच्या सुधारकांची सामाजिक चर्चा हिंदुसमाजास मान्य होईल, असे म्हणण्यास काही हरकत नाही. हे सुधारक जन्मतः व वरपांगी हिंदु आहेत खरें, पण विचारानें आणि शिक्षणानें हे धर्मदृष्ट्या बहुतेक परकीयच बनले आहेत, असे लोक समजतात. आणि लोकांचा हा समज पुष्कळ अंशी साधार आणि खराही आहे. अशा स्थितींत समाजाची सुधारणा होणें शक्य नाही; इतकेंच नव्हे तर झाली तर तीही अनिष्टकारकच होईल हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. हिंदुस्थानांत हल्लींच्या काळीं तीन चार धर्म प्रचलित आहेत, म्हणून हिंदुधर्मास राष्ट्रीयत्व नाही हें म्हणणें चुकीचें आहे. केवळ लोकसंख्येच्या मानानें पाहिलें तरीही हिंदूंचाच समुदाय मोठा आहे; व एवढा मोठा समुदाय ज्या बंधनानें एकत्र झाला आहे तें हिंदुत्व हेंच होय. हें बंधन मोडून टाकणें किंवा त्याची उपेक्षा करून दृढ न राखणें म्हणजे हिंदुस्थानांतील दोनतृतीयांश प्रजा वाळूच्या कणांप्रमाणें सैरावैरा मोकळी सोडणें होय. अशा रीतीनें हिंदुत्व मोडल्यानें राष्ट्रीय दृष्ट्या पुढें चांगले परिणाम होतील, असें जर कोणास वाटत असेल तर तो निवळ भ्रम आहे. हिंदुस्थानांतील तीस कोटि प्रजेस एकत्र करण्यास हिंदुत्वाखेरीज दुसरींही कांहीं साधनें पाहिलीं पाहिजेत, हें खरें आहे. पण त्याच्याबरोबर हेंही लक्षांत ठेविलें पाहिजे कीं, तीस कोटिपैकीं वीस कोटि प्रजा हिंदुत्वानें एकत्र झालेली आहे व त्यांचें बंधन कायम ठेवणें हेंच राष्ट्रीय दृष्ट्या अधिक सोईचें, शक्य आणि जरूर आहे. सारांश,

कोणतीही समाजसुधारणा करणे झाल्यास हे राष्ट्रीयत्वाचें धोरण लक्षांत ठेवूनच झाली पाहिजे, परंतु वर सांगितल्याप्रमाणें इंग्रजी शिकलेले विद्वान् अगदीं एकांगी पडल्यामुळे ते आणि लोक यामधील फाटाफूट अधिकाधिकच वाढत चालली आहे. जुने शास्त्री लोक अगदीं एकांगी म्हणून त्यांस आम्ही नांवें ठेवितों, पण नवीन इंग्रजी पद्धतीनें तयार झालेले विद्वान्ही एकांगी कोठें नाहींत ? शास्त्र्यांस नवीन परिस्थिति कळत नाहीं तर इंग्रजी शिकलेल्या विद्वानांस धर्मश्रद्धा किंवा धर्माबद्दल कळकळ व लोकांत मिळून मिसळून राहून त्यांच्या-करितां एकनिष्ठपणानें उद्योग करण्याची बुद्धि, हीं बिलकूल अवगत नसतात. समाजसुधारणेबद्दल नुसत्या बडबडीपेक्षां काहीं होत नाहीं, यातील इंगित हेंच होय; आणि हल्लींच्या शिक्षणक्रमांत काहीं फरक झाल्याखेरीज किंवा दुसऱ्या रीतीनें त्याला काहीं पुरवणी जोडल्याखेरीज ही स्थिति कधींही सुधारावयाची नाहीं. धर्माकरितां संकट सोसणें किंवा प्रसंगविशेषीं त्यांच्या प्रसाराकरितां किंवा रक्षणाकरितां जीव देणें याही गोष्टींचा धर्मश्रद्धेंत अंतर्भाव होतो, व त्यामुळे ख्रिस्ती मिशनरी लोक इंग्रजी विद्येंत पारंगत असतांही शेतकरी, कुणबी, माळी वगैरे गरीब प्रतीच्या लोकांतही मिळूनमिसळून आपल्या धर्माचा प्रसार करण्यास उद्युक्त झालेले आढळून येतात. आमच्या सुधारकवर्गांत एक तरी इसम अशा प्रकारें उद्योग करित असलेला आढळून येत आहे काय ? नाहीं, उलट गरीब लोकांत जाऊन त्यांच्याशीं भाषण करणें यांत एक प्रकारचा हलकेपणा आहे, अशी पुष्क-ळांची समजूत आहे. अशा लोकांकडून सुधारणा तरी काय होणार आणि देश-कार्य तरी कोणचें घडणार ? इंग्रजी शिकलेल्या लोकांत जो उणेपणा किंवा एकांगीपणा आहे तो हाच होय. लोकांकरिता खरी कळकळ, लोकांमध्ये मिळून-मिसळून त्यांच्या उन्नतीकरिता स्वार्थत्यागपूर्वक सतत उद्योग करण्याची इच्छा आणि स्वधर्मावर निष्ठा ठेवून तो कायम ठेवण्याची बुद्धि, हे गुण आमच्या इंग्रजी शिकलेल्या वर्गांच्या अंगांत अद्याप आलेले नाहींत. हा त्यांचा दोष नाहीं, शिक्षणाचा आहे हें खरें; पण कसेंही असलें तरी त्यामुळे जो एकांगीपणा या वर्गांत आढळून येतो तो दूर झाल्याखेरीज खरी सुधारणा त्यांच्या हातून कधींही व्हावयाची नाहीं. हे लोक जुन्या शास्त्रीवर्गांस नावें ठेवतात खरे; पण यांची सुधारणेची दिशाही शास्त्री लोकांच्या समजुतीप्रमाणेंच एकांगी किंवा डोळ्यानें आधळी झालेली आहे; व हा आंधळेपणा दूर करण्याचा प्रयत्न करणें, ही पहिली सुधारणा होय. तो दूर झाला म्हणजे इंग्रजी शिकलेल्या विद्वान् लोकांचा वर्ग समाजाचा पुढारीपणा घेण्यास खरोखर पात्र होईल, एरव्ही होणार नाहीं; हेंच काय तें मिसस ॲनि विझांट व प्रो. रंगाचार्य यांचें म्हणणें आहे. हें सुधारकवर्गांस सकृद्दर्शनी कडू वाटेल खरें, पण तेंच परिणामी हितकारक आहे असा नीट विचार केला असतां त्यांची खात्री होईल, अशी आम्हांस आशा आहे. बी. ए. म्हणजे काहीं अपूर्व चीज आहे असें वाटण्याचें दिवस आतां राहिलेले नाहींत. कालमानानें

इंग्रजी शिकणारांची भरती अधिक झाल्याने इंग्रजी शिक्षण आणि तेंही व्यावहारिक इंग्रजी शिक्षण हेंच कायतें मनुष्याचें सर्वस्व आहे कीं काय ? असा प्रश्न सहजच उपस्थित होऊं लागला आहे; आणि ही विचारक्रांति दृढ होण्यास अलीकडे कित्येक वर्षे हिंदु धर्माची व हिंदुधर्म ग्रंथांची जी चर्चा होत आहे तीही कारणीभूत झाली आहे. इंग्रजी शिकलेल्यापैकी पूर्वांच्या पिढींतील कांहीं लोकांवर या विचारक्रांतीचा कदाचित् संस्कार झालेला नसेल. पण तेवढ्याकरितां या विचारक्रांतीची उपेक्षा करून सुधारणा करण्याचा सबगोलंकार मार्ग सोडून न देण्याचा आग्रह धरणें आमच्या मते अगदीं वेडेपणाचें आहे. इंग्रजी शिकलेला मनुष्य सर्वश नाही. चुकीच्या शिक्षणानें त्याच्या विचारांची दिशा भकलेली होती, असें आतां बऱ्याच लोकांच्या नजरेस येऊं लागलें आहे; व आमच्या समाजांतील पुढाऱ्यांस जर कांहीं देशकार्य करावयाचें असेल तर तें या समजुतीकडे दुर्लक्ष करून कधींही व्हावयाचें नाही.

* थिऑसफी आणि हिंदुधर्म

गेल्या खेपेस आम्ही 'सेंट्रल हिंदु कॉलेज आणि त्यावरील आक्षेप' या मध्यव्याखालीं जो लेख लिहिला होता, त्यासंबंधानें दोन तीन पत्रे या आठवड्यांत आमच्याकडे आली आहेत; व तीं सर्व आमच्या लेखाच्या विरुद्ध असून आम्हीं हिंदु कॉलेजचे तर्फेने लेख लिहिला, याबद्दल या पत्रकारांस आमची कर्तव्ये येत आहे. हीं पत्रे संबंध प्रसिद्ध करणें म्हणजे एक प्रकारच्या गैरसमजाचें व अज्ञानाचें प्रदर्शन करणें होय. असें करणें कोणासही फायदेशीर नाही. करतां या लेखांतील मुख्य मुद्द्यांचा विचार करून यासंबंधानें आमचें काय म्हणणें आहे, तें आज येथें थोडक्यांत देण्याचा आमचा विचार आहे. एवढ्यानें जर कोणाचा गैरसमज दूर होणार नाही, तर त्यानें प्रत्यक्ष बनारस येथें जाऊन आपली समजूत करून घ्यावी. परंतु प्रत्यक्ष माहिती नसतां एखाद्या 'पंडिता'च्या वचनावर विश्वास ठेवून विनाकारण कुतर्क काढीत बसू नये, एवढीच आमची त्यांस विनंति आहे. आम्ही स्वतः थिऑसफिस्ट नाही, हें गेल्याच अंकीं आम्हीं कळविलें आहे. करतां थिऑसफीच्या अभिमानानें आम्ही कांहीं तरी लिहितो हें म्हणणें अत्यंत चुकीचें होय. तसेच अंकीं विज्ञांतबाई जातीनें हिंदु नसल्या तरी धर्मानें हिंदु झालेल्या आहेत. तेव्हां त्यांचे हेतूबद्दल संशय घेण्यास फारच सबळ पुरावा पाहिजे, हें सर्वांनीं लक्षांत ठेवावें. धर्मांतर करणें ही कांहीं सोपी गोष्ट नव्हे, आणि त्यांतूनही जन्मसिद्ध धर्मास टाकून स्वीकृत केलेल्या अन्य धर्माचें समर्थन व पुरस्कार करणें, हें काम तर अधिकच कठीण आहे. अर्थांत हें सर्व

काम ज्या बाई करित आहेत, त्यांच्या सद्धेतूंबद्दल शंका घेणे निदान सबळ पुराव्याखेरीज शंका घेणे माणुसकीचें लक्षण नव्हे. पंडिता रमाबाईप्रमाणे परधर्माचा स्वीकार करून, हिंदु विद्यार्थ्यांस हिंदु राखीन, असें विज्ञांटबाई म्हणत नाहीत. उलट जन्मसिद्ध धर्माचा त्याग करून व तद्धर्मीयांची निंदा पत्करून हा मार्ग विज्ञांटबाईंनीं अंगीकारीला आहे. तेव्हां त्या केवळ परदेशस्थ आहेत एवढ्याचकरितां त्यांच्यावर तुटून पडणें योग्य नाही. परकीयांस आमच्या धर्माचे आम्ही गुरु करूं नये, हे देशाभिमानाचें व धर्माभिमानाचें तत्त्व आम्हांस अमान्य नाही. परंतु एवढ्याचकरितां आमच्या धर्मासंबंधानें जर कोणी आम्हांस सदुपदेश करित असला, तर तो सर्वथैव त्याज्य आहे, असें आम्ही म्हणूं शकत नाही. हिंदु कॉलेजांत विज्ञांटबाई हिंदुधर्म शिकवितात एवढ्याकरतांच जर त्यांत कोणी जात नसेल तर त्यानें खुशाल जाऊं नये; त्यास आमचें कांहीं एक म्हणणें नाही. उलट तो आपल्या पायावर उभा राहण्यास पाहतो, याबद्दल आम्ही त्याचें अभि-
नंदन करूं. पण स्वतः कांहीं करावयाचें नाही आणि चांगल्या बुद्धीनें इतरांनीं चालविलेल्या गाड्यास खीळ घालावयाची, हा मात्र क्रम आम्हांस बिलकुल पसंत नाही; अलीगडचें मुसलमानी कॉलेज ज्याप्रमाणें मुसलमानांनीं (इंग्रजांच्या साहाय्यानें) चालविलें आहे, तसें किंवा सर्वथैव हिंदूंनीं चालविलें हिंदू कॉलेज जर कोणी काढील तर सर्व हिंदू विद्यार्थ्यांनीं तिकडेच जावें, अशी त्यांस आम्ही शिफारस करूं. त्यांच्या अभावीं सेंट्रल हिंदू कॉलेज बरेच उपयुक्त आहे, असें म्हणण्यास आम्हांस कांहीं एक शंका वाटत नाही. मिशनरी कॉलेजात हिंदूंनीं आपलीं मुलें पाठविण्याची किंवा धर्मशिक्षणाचा ज्या संस्थांतून पूर्ण अभाव आहे, किंबहुना शास्त्रीय नास्तिक मताचें ज्या ठिकाणीं अप्रत्यक्ष वर्चस्व आहे, अशा कॉलेजांत हिंदू विद्यार्थी पाठविण्यापेक्षां सेंट्रल हिंदू कॉलेजांत पाठविणें शतपट अधिक श्रेयस्कर होय, अशी आमची समजूत आहे, व त्याच समजूतीनें गेल्या खेपेचा लेख लिहिलेला आहे.

सेंट्रल हिंदू कॉलेजावरील महाराष्ट्रांतील आक्षेपकाची पहिली मोठी चूक ही होय की, त्यांपैकी एकानेंही सदर कॉलेजांतील अंतर्व्यवस्था प्रत्यक्ष पाहिली नाही, अथवा विश्वसनीय माणसाकडून चौकशी करविली नाही. महाराष्ट्रांतील मुलें या कॉलेजांत बहुतेक नाहीत म्हटलें तरी चालेल. तेव्हां वस्तुतः पहातां आम्हांस या कॉलेजसंबंधानें चर्चा करण्याचा अधिकार ही एक हिंदु लोकांची सामान्य संस्था आहे, यापेक्षां जास्त पोंचत नाही. तसेंच जे हिंदू विद्यार्थी या कॉलेजात आहेत, त्यांचीही कांहीं तक्रार अद्याप बाहेर पडलेली नाही. एका पंडितानें ' पायोनियर ' पत्रांत प्रसिद्ध केलेल्या लेखावरून आज एकाएकीं जागृत होऊन अंती विज्ञांटबाई विदेशी आहे, एवढ्याचकरतां ज्यांचें मन पूर्वीपासूनच तिजविषयीं साशंक होतें ती मंडळी आतां सनातन धर्माच्या सबबीवर कॉलेजावर आक्षेप घेण्यास पुढें सरसावली आहे. ही तन्हा आमच्या-

तें अगदीं अश्लाध्य होय. ज्या कोणास या कॉलेजावर आक्षेप घेणें असेल त्यानें दरचे पाचपंचवीस रुपये खर्च करून काशीस जावें आणि प्रत्यक्ष स्थानिक चौकशी करून मग तरी काय लिहावयाचें असेल तें लिहावें. हिंदु कॉलेजच्या बोर्डिंगांत कशी व्यवस्था ठेवावी, हा प्रश्न जितका दिसतो तितका सोपा नाही. आणि उदर बोर्डिंगावर उद्या जर भिषग्वर्य शंकरशास्त्री पदे यांचीच कोणी नेमणूक केली तरीही त्यांच्या हातून सर्वांस समाधानकारक व्यवस्था लागेल कीं नाही, याचीही वानवाच आहे. हिंदुधर्मांत शैव, वैष्णव, भागवत, गाणपत्य, वगैरे उपास्य-भेदानें झालेले इतके पंथ आहेत की, त्या सर्वांची सोय किंवा समाधान एका सेंट्रल हिंदु कॉलेजांनें होणें अशक्य आहे. बंगाल्यातील ब्राह्मण मासे खाणार, काश्मिरी ब्राह्मण मास खाणार, पंचद्रविड दोन्ही निषिद्ध मानणार, नागर नागराच्याच हातचें जेवणार, मद्रासी शैव मद्रासी वैष्णवाचे पंक्तीस बसणें हा निव्वळ अधर्म मानणार; आणि तसेच शूद्र-दृष्ट अन्न सर्व मद्रासभर ब्राह्मण लोक निषिद्ध समजणार, गुजराथेंत व उत्तर हिंदुस्थानांतील काही ब्राह्मण शूद्रांचे पाणी घेणार, तर इतर ब्राह्मण तेंच निषिद्ध मानणार; कोठें ब्राह्मणेतारानें पाण्यात भिजवून तुपात तळलेली पुरी ब्राह्मणास ग्राह्य तर कोठें चणेमुसुरे ग्राह्य, अशा प्रकारें देशभेदानें आणि ज्ञातिभेदानें आचारविचार जर ठिकठिकाणीं भिन्न आहेत तर कोणत्याही हिंदु कॉलेजांत सर्व ब्राह्मणाची व्यवस्था प्रत्यक्ष ब्राह्मणाच्या देशाचाराप्रमाणे किंवा कुलाचाराप्रमाणें लावणें अशक्य आहे. सारासार विचार करून सर्वांस सामान्य नियम आधीं ठरविला पाहिजे आणि त्या नियमाप्रमाणें चालण्यास जे खुषी नसतील त्यांस आपापल्या आचाराप्रमाणें वागण्यास मोकळीक ठेवली पाहिजे. बोर्डिंगातील अंतर्व्यवस्था यापेक्षा दुसऱ्या कोणत्याही तत्त्वावर ठेवतां यावयाची नाही. मग ती एखाद्या श्रोत्याच्या हातात असो, शास्त्राचे हातांत असो किंवा अंनीविज्ञाटवाईचे हातीं असो. हिंदु कॉलेजच्या बोर्डिंगावर आक्षेप घेणारानी ह्या गोष्टीचा विचार केला नाहीसें दिसतें. एका-प्रांतातील ब्राह्मण मांस किंवा मासे खातात म्हणून सर्वांस ते खावयास लावीत नाहीत; इतकेंच नव्हे तर मांसाशन, मत्स्याशन, मद्यपान, वगैरे शास्त्रनिषिद्ध आचार हिंदु कॉलेजाचे बोर्डिंगात नाहीत. सर्वांस सामान्य म्हणून जे काय काढले आहेत, ते सर्वांस मान्य होण्यासारखे आहेत. एवढे खरें की, त्यात मैद्रासी शैवांचें शैवत्व नाही, किंवा बंगाली ब्राह्मणांचें वंगीयत्वही नाही. तथापि इंग्लंडांत ज्याप्रमाणें सर्व ठिकाणीं एस्टाब्लिश्मंट-चर्चप्रमाणें धर्मव्यवस्था ठेवून ख्रिस्तधर्मीयांच्या इतर पोटजातीस आपापल्या मताप्रमाणें चालण्याची मोकळीक असते, तशी व्यवस्था हिंदु कॉलेजांत ठेवलेली आहे. आणि अशी सवड जोंपर्यंत तेथे आहे तोंपर्यंत कोणा एका विशिष्ट जातीतील लोकांनीं

कॉलेजविरुद्ध ओरड करणें म्हणजे, ' आपण मेलों आणि जग बुडालें, ' असें म्हणण्यासारखेंच आहे.

कॉलेजावरील आक्षेपकांची दुसरी चूक म्हटली म्हणजे थिऑसफी आणि हिंदुधर्म यासंबंधानें त्यांच्या मनात घोंटाळा आहे, ही होय. थिऑसफी म्हणजे हिंदुधर्म नव्हे व हिंदुधर्म म्हणजे थिऑसफी नव्हे, ही गोष्ट या गृहस्थांस बिलकुल माहीत नाहीसें दिसतें. थिऑसफी हा स्वतंत्र धर्म नाही. हिंदू, पारशी, मुसलमान, बौद्ध आणि ख्रिस्ती, या सर्व धर्मांतील लोकानीं आपापल्या धर्माप्रमाणें चालवें, परंतु एकमेकांचा द्वेष न करता सर्व धर्मांतील गूढ तत्त्वे एकच आहेत हे ओळखून बंधुत्वाचे नात्यानें वागावें असें थिऑसफी सांगते. थिऑसफी कोणासही आपला धर्म सोडण्यास सागत नाही किंवा त्याचा जो परंपरागत धर्म आहे, त्याऐवजीं दुसरा धर्म त्यास स्वीकारण्यासही सांगत नाही. अर्थात् थिऑसफी हा धर्म नव्हे, सर्व धर्मांतील धर्मांचें तत्व ओळखून प्रेमानें वागण्यास सागणारी तत्त्वज्ञाची सस्था आहे. आता या तत्त्वज्ञानात कांहीं गुप्त आणि गूढ (Occult and Mystic) तत्त्वे आहेत; व ती सर्वच सर्वास मान्य होतील असें नाही. तथापि भिन्नधर्मांतील लोकामध्ये प्रेम वाढविण्याचा व प्रत्येक धर्मांतील लोकांस त्या त्या धर्मांतील रहस्य समजून देण्याचा थिऑसफीचा जो हेतु आहे तो स्तुत्य आहे हें कोणीही कबूल. कांहीं थिऑसफीस्ट हिंदु आहेत, तर काहीं बौद्ध आहेत, आणि काहीं मुसलमान व पारशीही आहेत. बनारस येथील हिंदु कॉलेज थिऑसफिस्टानीं चालविलेलें असतें, तरी ते ' थिऑसफिस्ट कॉलेजच ' नसून ' हिंदु कॉलेज ' आहे, हा भेद लक्षात ठेवला पाहिजे. थिऑसफीचे कर्नल आल्कॉट व बिझांटबाई हे जे दोन मुख्य पुरस्कर्ते आहेत, त्यांपैकी कर्नल आल्कॉट याचा भर बौद्धधर्माकडे व अर्नी बिझांट याचा भर हिंदुधर्माकडे आहे हे सर्वश्रुत आहे. अर्थात् कर्नल आल्कॉट यानीं सीलोनात बौद्ध शाळा काढल्या आहेत आणि बिझांटबाईनीं बनारसेस हिंदु कॉलेज काढले आहे. थिऑसफीचें सामान्य मत कबूल असलें तरी प्रत्येक थिऑसफिस्ट कोणत्या तरी विशिष्ट धर्माचा अभिमानी असणें शक्य आहे व असतोही: आणि तो ज्या विशिष्ट धर्माचा अभिमानी असेल त्याप्रमाणें एखाद्या विशिष्ट धर्माचें शिक्षण देण्यास तो पात्र किंवा अपात्र होतो. बिझांटबाई थिऑसफीस्ट खऱ्या, पण त्या धर्मानें हिंदू असल्यामुळें हिंदुधर्म लोकांस समजून देण्यास त्या पात्र आहेत; व त्यांच्या आगची ही पात्रता विद्वत्ता, वाचन आणि व्यासंग, यांनीं दृढतर झाली आहे. एवढी गोष्ट खरी की, त्या विदेशी आहेत; आणि वर सांगितल्याप्रमाणें त्यांच्या सर्व गुणावर विरजण पाडण्यास एवढी गोष्ट कित्येकांचे मते पुरेशी आहे. पण आमचें तसें मत नाही; उलट आम्हांस असें वाटतें की, प्रो. मॅक्सम्यूलर, प्रो. ड्यूसन किंवा बिझांटबाई यांच्याकडून आमच्या धर्मास जें सर्तिफिकेट मिळत आहे, व आमच्या धर्मांतील तत्त्वांच्या प्रसारास

त्यांच्याकडून जो उद्योग होत आहे तो विशेष योग्यतेचा आहे. थिआसफीतील कांहीं गृह्य तत्त्वे हिंदुधर्मात नसतील, पण तेवढ्यामुळे धर्माने हिंदु झालेल्या थिआसफिस्टांस हिंदु कॉलेजांत हिंदुधर्माचे शिक्षण देण्यास अधिकार नाही, असें आम्हास वाटत नाही. हिंदुधर्म हा थिआसफीच्या आधी कितीतरी हजार वर्षे चालत आलेला आहे; व आज थिआसफिस्ट पंथ निघाला नसता तर हिंदुधर्माची उन्नति झाली नसती असेही आम्ही म्हणत नाही. तथापि आमच्या सनातन धर्माचे स्वरूप लोकापुढे मांडण्याची जी प्राचीन पद्धत आहे, तीत कांहीं तरी सुधारणा करून हिंदुधर्माची मांडणी (धर्म नव्हे) हल्लीचा काळ लक्षांत आणतां निराळ्या तऱ्हेनें करणें जरूर आहे, असें आमचें मत आहे. हिरा जरी खरा आणि मौल्यवान् असला तरी ज्याप्रमाणें निरनिराळ्या काळीं प्रवृत्त असलेल्या रुचीप्रमाणें त्यास निरनिराळें कोदण करावें लागतें, तसाच धर्माचाही प्रकार आहे. मग तो धर्म हिंदु असो, बौद्ध असो वा ख्रिस्ती असो. आधिभौतिक शास्त्राच्या प्रसारानें ख्रिस्तीधर्माच्याही मांडणीत पुष्कळ फेरफार झालेला आहे आणि तशा प्रकारचा फेरफार हिंदुधर्माच्या मांडणीत (धर्मात नव्हे) होणें जरूर आहे. थिआसफीनें हिंदुधर्मापासून पराङ्मुख झालेल्या पुष्कळ सुशिक्षितांस पुनः हिंदुधर्माकडे वळविलें, यांतील बीज हेंच आहे. भिषग्वर्य शंकरशास्त्री पदे किंवा भारतमहामंडळाचे उपदेशक पंडित दीनदयाळ यांच्या लक्षांत ही गोष्ट आली नसावी किंवा तिचें महत्त्व यास समजलें नाही असें दिसते. एरव्हीं हिंदु कॉलेजाकरिता हिंदुधर्माचीं जीं पुस्तकें तयार झालीं आहेत, त्यांवर त्यांनीं विनाकारण आक्षेप घेतले नसते. हीं पुस्तकें इंग्रजीतच आहेत. अशा प्रकारचे आक्षेप यावर घेण्यांत आले आहेत. पण याचा दोष विज्ञांतवार्डकडे नसून इंग्रजी राज्याकडे आहे. विद्यार्थ्यांस संस्कृत शिकविण्याकरितां डॉ. भांडारकर यांनीं केलेलीं पुस्तकें जर इंग्रजीत आहेत, आणि वेद जर सरकारी कॉलेजातून इंग्रजी भाषेतच शिकविले जातात, तर हिंदू कॉलेजाचीं धर्म पुस्तकें इंग्रजीत आहेत, अशी ओरड करण्यात काहीं अर्थ नाही. मद्रासेतील हिंदु विद्वान् गृहस्थानीं सध्याचें व पुरुषसूक्ताचें भाषांतर विद्यार्थ्यांकरितां इंग्रजीत केलें आहे, ही गोष्ट इकडे माहीत नाहीसि दिसतें.

हिंदु कॉलेजातील विद्यार्थ्यांकरितां रचलेल्या ' नॅशनल सॉग ' मध्ये हिंदुधर्माचें जें लक्षण केलें आहे तें चुकीचें आहे, आणि तें जातिधर्म बुडविण्याकरितां केलें आहे, असा आक्षेप प्रमुखत्वानें पुढें आणण्यात आला आहे. परंतु हा आक्षेप चुकीचा असून, तो पुढें करणाऱ्यास हिंदुधर्म म्हणजे काय हें समजत नाही असें म्हणणें भाग आहे. भिन्न मताच्या किंवा पंथाच्या लोकांत आपापसांत जेव्हां तंटे चालतात तेव्हां शैवांनीं वैष्णवास, तुमचा धर्म खोटा आहे, असें म्हणावें किंवा अद्वैत्यांनीं द्वैत्यांस, योग्यानें सांख्यास आणि भागवतानीं ज्ञानमार्गातील लोकांस शिव्या द्याव्या, हें योग्य नसलें तरी प्रचारांत चालू आहे.

पण तेवढ्यामुळे शैव किंवा वैष्णव एवढेच काय ते हिंदु आणि बाकीचे हिंदु-धर्मा नव्हत असें होत नाही. व्यापक दृष्टीने पाहिले म्हणजे भक्ति ज्ञान, कर्म आणि योग या चारही पंथातील लोक किंवा उपास्य भेदानें पाहिले तर शैव वैष्णव, गाणपत्य, भागवत, वगैरे लोक सर्व हिंदुधर्माच होत, असें मानणे भाग आहे. आणि अशा दृष्टीने पाहिले म्हणजे हिंदुधर्म हा नुसता शैव, नुसता भागवत किंवा नुसता भक्तिभार्ग नव्हे, असे त्याचें लक्षण करणें अवश्य पडतें. ही कल्पना आजकालची आहे असें नाही. “यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदातिनः” हा किंवा महिम्नातील “त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति” हा श्लोक आणला असता आमच्या म्हणण्याची सत्यता कळून येईल. या प्रत्येक मताच्या मुळाशी हिंदुधर्म आहे हें खरें; पण त्याचबरोबर हिंदुधर्म हा एका मतापेक्षा अधिक व्यापक आहे हें लक्षांत ठेवले पाहिजे. हिंदु कॉलेजांतील ‘नॅशनल साग’ मध्ये हेंच तत्त्व ग्रथित केले आहे; व त्यांतील ‘वैदिक’ या पदाची ओढाताण करून हिंदु कॉलेजात शिकवला जाणारा हिंदुधर्म वेदबाह्य आहे, असें दाखविण्याचा कित्येकांनी केलेला प्रयत्न अगदी हास्यापद आहे. कोणास हिंदुधर्म हें नांव आवडत नसल्यास या सामान्य धर्मास पाहिजे तर ‘वैदिकधर्म’ किंवा ‘भारतधर्म’ म्हणा. परंतु त्यास कोणतेंही नांव दिलें तरी हिंदु धर्मात जे नानापंथ आहेत त्या प्रत्येक पंथाहून तो भिन्न व अधिक व्यापक आणि अतएव या सर्व पंथांना मूलभूत होऊन राहिलेला आहे. या व्यापक हिंदुधर्माचें किंवा भारत धर्माचें लक्षण वेदातांतील ब्रह्माचा लक्षणाप्रमाणें ‘तो अमुक नाही तो तमुक नाही’ अशा प्रकारचें करावें लागतें. आणि वर निर्दिष्ट केलेल्या पद्या (Song)—मध्ये अशाच रीतीने हें लक्षण सांगितलें आहे. हें चूक आहे असें प्रतिपादन करणें म्हणजे हिंदुधर्माच्या व्यापक स्वरूपाबद्दल कूपमंडूकन्यायानें आपलें अज्ञान प्रदर्शित करणें होय. आचार्यांनी जर ही पद्धत स्वीकारली असती तर त्यांस बौद्ध व जैन धर्माचें कर्धाही खंडन करतां आलें नसतें; व त्यांच्या भाष्यांत आमच्या धर्माचें जें उदात्त स्वरूप नजरेस येतें तेंही आलें नसतें. शैव किंवा वैष्णव हिंदुधर्मा आहेत; पण हाच सिद्धान्त उलट करून हिंदुधर्म म्हणजे शैव-धर्म किंवा वैष्णवधर्म असें म्हणणें म्हणजे न्यायशास्त्रांतील एका प्रसिद्ध हेत्वाभासाचा आश्रय करणें होय. हिंदु कॉलेजाकरितां रचलेल्या राष्ट्रीय गीतामध्ये जें हिंदु धर्माचें लक्षण दिलें आहे तें या तत्त्वावरच दिलें आहे; आणि त्यांत ‘न वैदिकोहं’ असा उल्लेख असल्यामुळे जर हें लक्षण लुकीचें म्हणावयाचें तर ‘त्रयी’ (तीन वेद) हा शब्द वरील महिम्नांतील श्लोकात आहे म्हणून त्यांतील विचारही वेदबाह्य मानावे लागतील. परंतु हिंदु कॉलेजावरील आक्षेपकांनीं इतका खोल विचार कां म्हणून करावा ? त्याची सर्व मदार बिझांटबाई विदेशी आहे एवढ्यावरच अवलंबून आहे. आणि या त्यांच्या मतास जिकडून जोर मिळेल ती खटपट करण्यास ते तयार आहेत. बाईवर विदेशीपणासंबंधानें जो आक्षेप आहे त्यासंबंधानें आमचें

म्हणणें काय आहे तें वर आलेंच आहे. परंतु तेवढ्याकरिता तिनें उत्साहानें व कळकळीने चालविलेल्या उद्योगास विघ्न आणण्याची आमची इच्छा नाही; इतकेंच नव्हे तर त्यासंबंधानें आक्षेप घेण्यास कांहीं आधार आहे, असें आम्हांस वाटत नाही. मग कूपमंडूकन्यायानें हिंदुधर्मासंबंधानें ज्यांची दृष्टि संकुचित झाली आहे, त्यांस काहीही वाटो.

* विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः !

शिरोलेखात नमूद केलेला अर्थांतरन्यास, प्रसिद्ध कवि भर्तृहरिनें, पवित्र गंगा नदीचें स्वर्गापासून शिवाच्या डोक्यावर, शिवाच्या मस्तकापासून हिमालयावर, हिमालयापासून पृथ्वीवर आणि पृथ्वीवरून समुद्रांत शंभर मुखांनीं जें अवतरण झालें त्यास अनुलक्षून योजला आहे. मराठींतही 'बुडत्याचा पाय खोलांत' अशी जी एक म्हण आहे ती याच अर्थाची होय. एकदा मनुष्य घसरूं लागला म्हणजे मग त्यास सावरण्याचा जे लोक प्रयत्न करितात त्यांना देखील आपल्या स्नेह्याचीच अधःपतनगति स्वीकारावी लागते. प्रिन्सिपाल परांजपे यांच्या 'ईस्ट अँड वेस्ट' मधील निबंधावर टीकात्मक आमचा लेख आल्यानंतर प्रिन्सिपालसाहेबास अनुकूल म्हणून जे लेख आले त्या सर्वांची स्थिति याचप्रमाणें होय. कोणी म्हणतो कीं, शाळांत सर्व धर्मांच्या जातींचीं मुलें असल्यामुळें कोणत्याही विशिष्ट धर्माचें शिक्षण देणें अशक्य आहे, एवढाच प्रि. परांजपे यांच्या लेखाचा अर्थ आहे. दुसरा एक स्नेही असें प्रतिपादितो कीं, प्रो. परांजपे यांचा कटाक्ष वेडगळ धर्मसमजुतीवर आहे; खऱ्या धर्मतत्त्वांवर नाही. तिसरा एक भाष्यकार असें म्हणतो की, प्रि. परांजपे यांच्या लेखावरील आमची टीका द्वेषमूलक आहे व त्यात प्रिन्सिपालसाहेबांच्या मुद्याचें कोटोही खंडण केलेलें नाही. चवथ्यास आमचा पूर्वीचा लेखाचा मथळा म्हणजे 'प्रासादशिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते' हें वाक्यच काय तें झोंबत आहे ! येणेंप्रमाणें कोणास काहीं तर कोणास काहीं याप्रमाणें आमच्या लेखांतील विधानें न रुचून त्यांनीं प्रि. परांजपे यास उचलून धरण्याचा प्रयत्न चालविला आहे. परंतु त्यांच्या दुर्दैवानें प्रि. सेल्बी यानांही आम्ही केल्याप्रमाणेंच 'ईस्ट अँड वेस्ट' यांतील लेखाचा अर्थ केला असल्यामुळें आणि प्रि. परांजपे यांचे मत चुकीचें असून कै. रानडे किंवा डॉ. भांडारकर यांच्या मताप्रमाणें शुद्ध धर्मतत्त्वां शाळेंत शिकविण्यास हरकत नाही असें आपले मत त्यांनीं दिलें असल्यामुळें प्रिन्सिपालसाहेबांच्या टीकाकाराची बरीच तारंबळ उडून गेली आहे. प्रो. परांजपे काय म्हणतात याचा खरा अनुवाद करून त्यांच्या मताचें समर्थन करण्यास हे तयार नाहीत,

किंबहुना तसें करणें अशक्यही आहे असें म्हटलें तरी चालेल. तेव्हां आतां 'तूं नाहीं तर तुझ्या बापानें शिव्या दिल्या असतील' या न्यायानें वरील मंडळीनें प्रो. पराजपे याचे समर्थन करण्याचें सुरू केलें आहे. ते म्हणतात कीं, केसरीकारांनीं डॉ. भाडारकर व कै. रानडे याजवरही सणसणीत टीका केली आहे आणि आता तुमच्यावरही तशीच करतात, अतएव युक्लिडच्या पहिल्या प्रत्यक्ष प्रमाणाप्रमाणे रानडे, भाडारकर आणि तुम्ही एकाच पंक्तीत बसलां आहा! प्रो. परांजपे यासही गणितशास्त्रांतील कोटी कितपत मान्य होईल याचा त्यांच्या स्नेह्यांनीं विचार केला नसावा असें दिसतें. कसेंही असो; माघ कवीनें एके ठिकाणीं म्हटल्याप्रमाणें एकदा सूर्य पतनोन्मुख झाला म्हणजे त्याचे 'सहस्र कर' देखील सदर पतनाचा प्रतिकार करण्यास समर्थ होत नाहीत, याचीच या टीकाकारांच्या लेखावरून आम्हांस आठवण होते.

प्रि. परांजपे यांचा 'ईस्ट अँड वेस्ट' मधील लेख आम्हीं साग्र मननपूर्वक वाचलेला आहे. त्यांतील सिध्दान्त थोडक्यांत असे आहेत:—(१) हिंदुस्थानातील शाळात धर्मशिक्षण दिल्याने राष्ट्रीयत्वाची हानी होऊन तें देशास विघातक होईल; (२) धर्म हा नीतीचा पाया नसून नीति हा धर्माचा पाया आहे; किंवा असावा (३) धर्मवेड माजलें म्हणजे तें कधींही आवरणार नाहीं; (४) धर्म म्हणजे केवळ वेडगळ समजुतीचा व आचारांचा एक भारा असून तो नवीन सुधारलेल्या विचारापुढें कायमचा टिकणें अशक्य आहे; आणि (५) सदर आचारच नव्हे तर एकंदर सर्व धर्मांचीं तत्त्वेच चुकीचीं असल्यामुळें ती नाहीशी झाल्याखेरीज देशोन्नति व्हावयाची नाही! प्रो. पराजपे यांच्या लेखांतील हे पाच सिध्दान्त प्रो. मजकुरांस किंवा त्यांच्या चहात्यापैकीं कोणास जर सशास्त्र व सप्रमाण समर्थन करावयाचे असले तर त्यांनीं त्या प्रयत्नास अवश्य लागावे अशी आमची त्यांस सूचना आहे. आमच्यामते हे सर्व सिध्दान्त चुकीचे आणि अविचाराचे आहेत, इतकेंच नव्हे तर हल्लीं आमच्या शाळांतून व कॉलेजांतून धर्मशिक्षणाचा पूर्ण अभाव असल्यामुळें त्यांतून जी तरुण व हुशार मंडळी बाहेर पडतील ती प्रायः असल्याच आचरत विचाराची असतील आणि त्याचप्रमाणें प्रि. पराजपे यांची स्थिति झालेली आहे. इंग्रजी विद्येंत पारंगत झालेल्या प्रॅज्यु-एटांची स्थिति पुढें पुढें बदलत जाऊन त्यापैकीं कांहीं वेदांत तर कांहीं थिऑसफीस्ट, कांहीं कर्मठ तर कांहीं योगी होऊन अखेर धर्मनिष्ठ व श्रद्धावान् बनतात, ही गोष्ट सर्व प्रसिद्ध आहे. हा दोष आमच्या तरुण मंडळींचा नव्हे तर त्यांस मिळत असलेल्या शिक्षणाचा आहे, असे आम्ही अनेक वेळा सांगितलें आहे; व हें जर आमच्या प्रतिपक्षानें लक्षांत ठेवले असतें तर बऱ्याच शाईंचा व कागदाचा आज जो फुकट व्यय झाला आहे तो झाला नसता. प्रि. पराजपे यांच्याविरुद्ध जी आम्हीं टीका केली आहे ती ते प्रिन्सिपाल नसते तर आम्ही कधींही केली नसती, हें मागील लेखाच्या मथळ्यावरून सहज दिसून येणार

आहे. कॉलेजांतून बाहेर पडणारे पुष्कळ तरतरीत ग्रॅज्युएट आपल्या स्नेह्याबरोबर होणाऱ्या वादविवादांत प्रि. परांजप्यांप्रमाणेच अद्वातद्वा बहकत असतात, हे आम्ही ऐकले आहे व प्रत्यक्ष पाहिलेही आहे. पण या तरुण मंडळीच्या मतांचा सामान्य रीतीने उल्लेख करून ती चुकीची आहेत, असे सांगण्यापलीकडे त्यासंबंधाने आम्ही कधीही जास्त लिहिलेले नाही. आणि प्रि. परांजपे हे केवळ रॅग्लरच असते तर त्यासंबंधानेही आम्ही हाच क्रम आगिकारिला असता. परंतु हे विचार जेव्हा महाराष्ट्रांतील लोकांच्या आश्रयाने निघालेल्या खाजगी कॉलेजच्या प्रिन्सिपालच्या तोडातून बाहेर पडले तेव्हा मात्र वर्तमानपत्रकर्ते या नात्याने आम्हांसही या आचारविचाराचा घातुकपणा उघडपणे लोकांपुढे मांडणे जरूर पडले. हे कर्तव्य बजावीत असताना “ रावसाहेब घोड्यावरून खाली आले ” आणि “ गण्या घोड्यावरून पडला ” अशा प्रकारचा भेद केसरी कधीही करित नाही, हे केसरीच्या वाचकांस तरी निदान सागावयास नकोच. प्रि. परांजपे हे जेव्हा रॅग्लर होऊन आले तेव्हा त्यांचे योग्य अभिनंदन केसरीकाराच्याच हातून झाले; आणि आतां ते जर घसरले तर ‘ ते घोड्यावरून खाली आले न म्हणतां घसरले किंवा पडले ’ हेच शब्द त्याच्यासंबंधाने वापरणे हेच केसरी आपले कर्तव्य समजतो. मग याबद्दल केसरीकारांस कोणी निंदेत किंवा वंदेत. गुण गाण्यांत पुढे आणि दोष दाखविण्यात मागे, हे केसरीकारांचे व्रत नव्हे; आणि कै. रानडे याजवरील शेवटचा लेख ज्यांनी वाचला असेल त्यास या गोष्टीचा चागला प्रत्यय येईल.

असे; प्रि. परांजपे यांचे जे पांच सिद्धत वर दिले आहेत ते सर्वस्वी चुकीचे आहेत, असे आम्ही वर सांगितलेच आहे. धर्मशिक्षण राष्ट्रीयत्वाचे विघातक आहे ही विलक्षण कल्पना प्रि. परांजपे यांच्या डोक्यात घोळण्यास त्यांच्या नास्तिकपणाखेरीज दुसरे काही एक कारण असावे, असे आम्हांस वाटत नाही. ख्रिस्ती धर्माच्या अनेक शाखा इंग्लंडात असल्याने इंग्लंडच्या राष्ट्रीयत्वास जर धक्का येत नाही, जपानामध्ये हीच स्थिति जर आढळून येते आणि रशियामध्येही जर अद्याप असाच प्रकार आहे, तर हिंदुस्थानांतील धर्माच्या पोट शाखांनी असे कोणते पातक केले आहे की, त्यांस हा न्याय लागू पडू नये. हिंदुधर्मातील सर्व शाखांचे एकीकरण करण्याचे सामर्थ्य वेदांत मतांत आहे, ही गोष्ट मार्मिक तत्त्वज्ञानाच्या इतिहासांत प्रसिद्ध आहे. पण प्रि. परांजपे यांनी त्यासंबंधाने कांहीच विचार केलेला दिसत नाही. दुसरी गोष्ट अशी की, धर्मशिक्षण शाळांत न दिल्याने हिंदु, मुसलमान, ख्रिस्ती किंवा पारशी यांच्यामधील धर्मविरोध नाहीसा होईल अशी जी प्रि. परांजपे यांची कल्पना आहे, ती अगदी वेडेपणाची आहे. हिंदु-धर्माइतका आग्रहशून्य धर्म दुसरा कोणताच नाही. ज्याने त्याने आपापल्या धर्मात राहून आत्म्याचे कल्याण करावे, असे हिंदु लोक समजतात; आणि असे आहे तर मग शाळांत हिंदुधर्म शिक्षण दिल्याने राष्ट्रीयत्वाची हानि होईल, असे मानणे

असंमंजसपणाचें लक्षण होय. हिंदुधर्म म्हणजे वेडगळ समजुतीचा व आचारांचा भारा अशी जी प्रि. परांजपे याची समजूत आहे तीही वरल्या इतकीच अविचाराची होय. प्रि. परांजपे हे देहाहून आत्मा भिन्न मानतात कीं नाहीं, हें त्यांच्या हल्लींच्या लेखावरून चांगलेंसें व्यक्त नाहीं; तथापि त्यांच्या लेखाच्या एकंदर झोकावरून ते आत्म्याचें देहाव्यतिरिक्त अस्तित्व मानीत असतील, असे दिसत नाहीं. अशा प्रकारच्या विचारांच्या मनुष्यास धर्म म्हणजे निवळ वेडगळ समजुतीचा भारा वाटणें साहजिक आहे व तसेंच प्रि. परांजपे यांनीं आपल्या लेखांत विधान केलें आहे. नास्तिकांच्या दृष्टीने हें विधान बरोबर आहे. परंतु हें मत चुकीचे आहे किंबहुना देशास घातुक आहे, असें म्हणणेही अगदीं यथार्थ व आवश्यक आहे. बहुतेक लोक आस्तिक म्हणून त्यांच्या विरुद्ध मते प्रतिपादन करणाऱ्या नास्तिकानें आपल्या आचरटपणास धैर्य ही सज्ञा द्यावयाची तर बहुतेक लोक डोळस आहेत म्हणून आंधळ्यानें आपल्या ज्ञानचक्षूंची कां शिफारस करूं नये, हें आम्हांस समजत नाहीं! असो; इतकेंच झाले असतें तरी मि. परांजपे यांच्या नास्तिक मताबद्दल आम्हांस कांही वाईट वाटलें नसतें. कारण चार्वाकादि नास्तिक वाद्यांच्या मानाने पाहिलें तर रंगलर परांजपे हे अगदी यःकश्चित् नास्तिक होत; व त्यांच्या चुका दाखविण्याचें अगर खंडण करण्याचेंही कांहीं विशेष प्रयोजन नव्हतें. परंतु वर सांगितल्याप्रमाणें महाराष्ट्रांत लोकांश्रयानें वाढलेल्या एका प्रमुख शिक्षणसंस्थेचे मुख्याध्यापक असलेल्या गृहस्थांच्या लेखणांतून जेव्हा वरील विचार बाहेर पडले तेव्हा 'प्रासाद-शिखरस्थोऽपि इत्यादि वाक्यांची आम्हांस सहज आठवण होऊन त्याप्रमाणें महाराष्ट्रातील लोकांस इशारत देणें भाग पडलें. जीव आणि परमेश्वर याचा संबंध काय, तो संबंध कायम राखण्याकरितां जीवाचें कर्तव्य कोणतें आणि जीवाची उन्नति होण्यास काय उपाय करावे, इत्यादि धर्मांचे जे गहन विचार आहेत आणि ज्यांचें हिंदुधर्मग्रंथापेक्षां दुसऱ्या कोणत्याही धर्माच्या ग्रंथात अधिक उदात्त विवेचन केलेलें आढळत नाहीं, ते धर्मविचार व तीं धर्मतत्त्वे यांचा प्रि. परांजपे यांच्या मनावर बिलकूल संस्कार झालेला नसल्यामुळे धर्म म्हणजे काहीं वेड्या समजुतीचा भारा यापलीकडे त्यांची समजूत गेलेली नाहीं; आणि हा त्यांच्या मनाचा ग्रह नीलीग्रहाप्रमाणें बळकट झालेला असल्यामुळे त्यांनीं आपले अप्रगल्भ व अपारिपक्व विचार जगापुढें माडण्यास साहस केलें आहे. हाच त्यांचा लेख जर फर्ग्युसन कॉलेजच्या म्यानेजिंग बोर्डापुढे आला असता तर बोर्डांनै किंवा कौन्सिलनें त्यास संमति दिली असती, असें आम्हांस वाटत नाहीं. आणि एवढ्याचकरिता प्रि. परांजपे यांचा हा अल्लडपणा किंवा आचरटपणा दोषार्ह आहे असें आम्ही समजतो व वेळींच त्याचा कडक शब्दांनीं निषेध करणे आमचें कर्तव्य मानतो. फर्ग्युसन कॉलेजच्या एवजी डेक्कन कॉलेजचे जर प्रि. परांजपे हे प्रिन्सिपाल असते तर आमचा पूर्वींचा लेख आहे त्यापेक्षा कमी कडक

झाला असता असें आम्हांस वाटत नाही. किंबहुना फर्ग्युसन कॉलेजचे ते प्रिन्सि-पाल आहेत म्हणून तो जितका कडक यावयास पाहिजे तितका आला नाही अशी आमची समजूत आहे. रँगलर झाल्याने धर्माच्या बाबतीत ढवळाढवळ करण्याचा अधिकार मिळतो असें आम्हांस वाटत नाही. गणिताप्रमाणेंच धर्म हे एक स्वतंत्र शास्त्र आहे व त्याला एक विशिष्ट प्रकारच्या मनोवृत्तीची आवश्यकता असून अध्ययन, ग्रंथावलोकन आणि मनन याचीही गणितशास्त्राइतकी किंबहुना अधिक आवश्यकता आहे. ती योग्यता प्रि. परांजपे यांनी संपादन केलेली नाही, हें त्यांच्या लेखावरूनच उघड दिसत आहे; व ही स्थिति जोंपर्यंत कायम आहे तोंपर्यंत मुख्य मुद्दा वाजूला ठेवून प्रि. परांजपे यांच्या टीकाकारांवर कांहीं तरी खोटेनाटे आक्षेप घेऊन आपलें कार्य साधेल असें जर त्यांच्या मित्रांस वाटत असेल तर ती चूक आहे. अशा प्रकारच्या वर्तनानें इष्ट हेतु सिद्धीस न जाता उलट मथळ्यांतील वचनाप्रमाणें शतधारेनें अधिकाधिक पतन होण्याचा मात्र संभव आहे, हें त्यांनीं लक्षात ठेवावें. धर्मावर आक्षेप करण्यास आज रँगलर परांजपे हेच पुढें सरसावले असें नाही. याच्यापेक्षांही शतपट अधिक व्यापक बुद्धीच्या आणि विद्वत्तेच्या गृहस्थानीं हें काम हातात घेतलेलें होतें व त्यांच्या तडाख्यातूनही जर हिंदु-धर्माची उदात्त तत्त्वे अद्याप उज्वळ रीतीने कायम राहिली आहेत तर रँगलर परांजपे यांच्या टीकेनें त्यांचे काहीं वाकडे होईल असें आम्हांस वाटत नाही. परंतु स्थानमहात्म्यानें मि. परांजपे यांच्या म्हणण्यास महत्त्व मिळण्याचा जो संभव आहे तो राहून नये एवढ्याकरितां त्यांच्या विचारसरणीविरुद्ध लिहून तिचा पूर्वा-पार इतिहास देणेंही भाग पडलें, त्यास इलाज नाही. हा विरुद्ध लेख सौम्य शब्दांनीं लिहावयास पाहिजे होता असें कित्येकांचें म्हणणें आहे; पण आम्हांस हें मत कधींच ग्राह्य वाटलें नाही. कांटा काढणें तो काठ्यानेंच काढला पाहिजे, तो चिंधीच्या बोळ्यानें निघत नाही. प्रि. परांजपे यांचा इंग्रजी लेख वाचला तर त्यांच्या विचारसरणीस कृत्रिम तीव्रता आणण्याचा प्रयत्न झाला आहे असें कोणासही आढळून येईल. अशा प्रकारचा प्रयत्न ज्याने करावयाचा त्यानें “ मी तुझ्या थोबाडीत मारली तरी त्याचा प्रतिकार तूं शब्दानेंच कर ” असें म्हणणें अगदीं गैरवाजवी आहे. विवेकभ्रष्ट होतो तो येथेंच.

* मराठी भाषेची लेखनपद्धति.

नंबर १.

या विषयावर अलीकडे वर्तमानपत्रांतून चर्चा होऊं लागली आहे, हे एक सुचिन्ह होय. रा. रा. साने, गोडबोले आणि हातवळणे या महाराष्ट्र मुनि-त्रयांचा वरील विषयांवर ग्रंथ प्रसिद्ध होऊन आज सुमारे ४ वर्षे झाली. परंतु त्यासंबंधानें आतांपर्यंत वर्तमानपत्रातून फारशी चर्चा झालेली आम्हांस माहीत नाही. ग्रंथकारांनीं बऱ्याच विद्वान् लोकांचे अभिप्राय मागवून ते पुस्तकांतही प्रसिद्ध केलेले आहेत; परंतु त्याच्या पलीकडे या ग्रंथांतील प्रमेय किंवा सिद्धान्त यांजवर विशेष चर्चा झालेली दिसत नाही. आज हा विषय उपस्थित होण्याचें कारण कीं, वरील तीन ग्रंथकारांपैकी रा. सा. साने हे हल्लीं सरकारनें नेमलेल्या बुककमिटीचे मेंबर असून सदर कमिटीनें महाराष्ट्र भाषेची नवीन होणारी क्रमिक पुस्तके कोणत्या लेखनपद्धतीनें छापार्वीं हा विषय हाती घेतला आहे; व कित्येकांस अशी भीति पडली आहे कीं, पूर्वापार चालत आलेली जी मराठीची लेखनपद्धति आहे तीस अजिबात फाटा मिळून यापुढें कांहीं तरी वेडीविद्री लेखनपद्धति लहान पौरात शिकविली जाऊन विचारांच्या मराठी भाषेचे पुढच्या पिढींत मातेरें होऊन जाणार आहे. ही भीति खरी असेल तर या योजलेल्या क्रमाविरुद्ध एव्हांपासूनच ओरड करून तो अमलात येऊं न देण्याची खटपट करणें अवश्य आहे. इंग्रजसरकारचें राज्य आमच्यावर झालें म्हणून ते आमच्या भाषे-तील सर्व न्हस्वदीर्घ वेलांठ्यावर झालेंच पाहिजे असा काहीं कायदा नाही अगर सरकारची इच्छाही नाही. भाषेचे शास्ते निराळेच आहेत, आणि जर कदाचित् कांहीं लोक अभिमानानें किंवा अन्यकारणाने सरकारचें साहाय्य घेऊन आपल्या मताचा शिरजोरपणा भाषेवर चालवूं पाहतील, तर प्रतिकार करणें हे आमचें कर्तव्य होय. प्रश्न एवढाच कीं, अशा प्रकारचा क्रम हल्लीं सुरू झाला आहे कीं काय, अथवा होण्याची भीति आहे कीं काय ? असेल तर तिचा प्रतिकार करण्यास आम्ही उद्युक्त झाले पाहिजे, नसेल तर त्याचें खरें स्वरूप काय हें लोकांपुढें मांडलें पाहिजे.

“ शुद्ध कसें लिहावें आणि शुद्ध कसें बोलोवें, हे व्याकरण शिकल्यानें समजेंतें ” असा व्याकरणशास्त्राचा उपयोग आज कित्येक पिढ्या आम्ही ऐकत व पढत आलों आहों. ‘ येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः । तम-श्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ’ ॥ हा श्लोक तर सर्वप्रसिद्ध आहे, अर्थात् वैयाकरण हे भाषेचे शास्ते होत हे मत फार प्राचीन असून त्यासंबंधानें कोणा-चाही मतभेद नाही. तथापि त्याची भाषेवर असलेली सत्ता अनियंत्रित नाही हें

लक्षांत ठेविलें पाहिजे. कारण आधीं भाषा आणि मग व्याकरण हा न्याय 'प्रयोगशरणा वैय्याकरणाः' या म्हणीवरूनच स्पष्ट होत आहे. कोणत्याही भाषेतील शब्दांची निरनिराळीं स्वतंत्र रूपें बनविणें किंवा नवीन प्रयोग प्रचारांत आणणें हें वैय्याकरणाचे काम नव्हे, व तशा रीतीनें तो जर प्रयत्न करील तर त्यास यशही यावयाचें नाहीं. लोकांमध्ये जे शब्द, अक्षरें, वर्ण, प्रयोग किंवा उच्चार प्रचलित आहेत तेच घेऊन त्यास लागू होतील असे सामान्य नियम किंवा अपवाद शोधून काढणें आणि सदर नियमापवादाची शास्त्रीयरीत्या व्यवस्था लावणें हें वैय्याकरणाचें पहिलें कर्तव्य होय. वैय्याकरणांनीं हें काम केले म्हणजे त्याचा स्वभावतःच असा परिणाम होतो कीं, सामान्य नियमास अनुसरून जीं रूपें किंवा प्रयोग नाहींत त्यांस भाषेंतून हळू हळू फाटा मिळत जातो; आणि तसें झाले म्हणजे कांहीं काळानें अपवादाची संख्या कमी होऊन भाषेस स्थैर्य आणि त्याचबरोबर सरलताही प्राप्त होते. वैय्याकरणांचीं निंदा करणारे किंवा त्यांच्या उद्योगाचें महत्त्व कमी मानणारे लोक प्राचीन काळाही झालेले आहेत व अद्यापही दृष्टीस पडतात. तथापि अशा आक्षेपानीं व्याकरणशास्त्राचे किंबहुना कोणत्याही शास्त्राचें महत्त्व व उपयोग कमी झाला किंवा होतो असें आढळण्यांत येत नाहीं. नियमित सत्ता असलेला राजा आणि प्रजा यांच्यामध्ये जो संबंध असतो तोंच किंवा तशा प्रकारचा वैय्याकरण आणि भाषेतील शब्द यांच्यामध्ये आहे. शब्दास शिस्त लावणें हें जरी व्याकरणशास्त्रकाराचें कर्तव्य आहे तरी शास्त्रकारांस मन मानेल त्याप्रमाणें वागता येत नाहीं. 'तूं काय केलेस' या प्रयोगास सतरा व्याकरणकारांनीं अशुद्ध म्हटलें तरी मराठी भाषा बोलणारांनीं त्यास जोपर्यंत सोडले नाहीं तोपर्यंत कोणत्या तरी अपवादाखालीं म्हणून व्याकरणानियमात त्याचा समावेश केलाच पाहिजे. 'स्थितस्य गतिश्चितनीया' हें तत्त्व वैय्याकरणांनीं नेहमींच लक्षांत ठेविलें पाहिजे व त्याप्रमाणें ते जोपर्यंत चालत आहे तोपर्यंत त्यांचे नियम कोणत्याही आक्षेपास पात्र व्हावयाचे नाहींत.

व्याकरणकारांच्या अधिकारासंबंधाने वर दोन शब्द लिहिले आहेत ते लिहिण्याचें कारण एवढेंच कीं, हल्लीं जो वादविवाद चालू आहे त्यात याकडे थोडेसें दुर्लक्ष झालेलें दिसतें. रा. सा. साने, गोडबोले व हातवळणे यांच्या 'मराठी भाषेतील लेखनपद्धति' या ग्रंथात जितक्या गोष्टी सांगितल्या आहेत तितक्या सर्व हल्लींची बुककमिटी अमलांत आणणार आहे किंवा फक्त न्हस्व दीर्घ आणि अनुस्वार याबद्दलचे कांहीं सामान्य नियमाप्रमाणें व्यवस्था करणार आहे हें अद्याप पुरे बाहेर पडलें नाहीं. तथापि जी कमिटी व्यंजनाचा कंठ तालव्यादि स्थानभेद झुगारून देऊन लहान मुलांस अक्षराच्या आकृतीप्रमाणें शोपी व कठिण अक्षरें शिकविणार ती कमिटी व्याकरणशास्त्राच्या आत फार खोल शिरेल, असे आम्हांस वाटत नाहीं. कसेंही असो, एवढी गोष्ट खरी आहे कीं, कमिटीपुढें आज हा प्रश्न आला आहे व प्रसंगानुसार त्याचा जरी थोडा जास्त खुलासेवार

विचार केला तरी त्यांत काहीं वावगे होणार नाहीं. मराठी भाषेतील शब्द विशेपेंकरून शब्दांतील अंत्य किंवा उपांत्य वर्ण किंवा अनुस्वार हे कसें लिहावे, हा मुख्य प्रश्न आहे. कित्येक संस्कृताचे अभिमानी असून, संस्कृत शब्दास प्राकृत भाषेत निराळ्या रीतीनें लिहिणे प्रशस्त नाहीं असें त्यांचें म्हणणें आहे. दुसरा पक्ष असा आहे कीं, मराठी भाषा ही जरी प्राकृतद्वारां संस्कृतापासून निघाली असली तरी मराठी भाषेचे म्हणून काहीं स्वतंत्र नियम आहेत; व ते नियम मराठी भाषेत आलेल्या संस्कृत शब्दासही अवश्य लावले पाहिजेत. तिसरा पक्ष केवळ उच्चार शरण आहे. म्हणजे शब्दाचा जसा उच्चार करतो तसा तो लिहावा, इतर गोष्टीकडे लक्ष देण्याची जरूर नाहीं, असें त्यांचें म्हणणें आहे. चवथा पक्ष व्युत्पत्ती, भाषेची सोय आणि उच्चार, या सर्वांसही सारासार विचारानें महत्त्व देऊन त्याप्रमाणे लेखन पद्धतीचें नियम ठरवावे, अशा मताचा आहे. यापैकी कोणता पक्ष ग्राह्य याचें पहिल्यानें थोडें विवेचन करणें जरूर आहे.

पहिल्यानें उच्चारवादी पक्षाचें परीक्षण करूं. ज्याप्रमाणें उच्चार करावयाचा तसा शब्द लिहावयाचा म्हटलें तर प्रायः सर्वत्र अनवस्था होण्याचा प्रसंग आहे. उच्चार प्रमाण धरावयाचा तो कोणता? सुशिक्षित वर्गाचा कीं अशिक्षित वर्गाचा? सुशिक्षित वर्गाचा म्हणावें तर भाषा बोलण्याचा अधिकार सुशिक्षित वर्गास आहे. आणि अशिक्षित वर्गास नाहीं, असें मानतां येत नाहीं. शिवाय सुशिक्षित वर्गात तरी बोलण्याची पद्धत एकच कोठें आहे? कोंकण आणि देश, यांवरील उच्चार निरनिराळे आहेत. इतकेंच नव्हे तर, घाटावरही, खानदेशी, धारवाडी, मिरजसागलीकडील, इंदुरी, ग्वाल्हेरी, वगैरे उच्चार निरनिराळेंच पडतात. आमच्याच देशांत ही स्थिती आहे असें नाहीं, तर विलायतेंत इंग्रजी भाषेसंबंधानेंही अशीच अवस्था आहे. वेल्स, स्कॉटलंड, आयर्लंड किंवा खुद्द इंग्लंडातील उत्तरेकडील व दक्षिणेकडील परगणे यातले अशिक्षितांचेच नव्हे तर सुशिक्षितांचेही उच्चार निरनिराळे होतात; इतकेंच नव्हे तर हिंदुस्थानांत हिंदु लोक जें इंग्रजी बोलतात तेंही मद्रास, मुंबई, बंगाल, या प्रांतांत थोडेसे निरनिराळ्या रीतीनें बोलतात. सामान्यतः असेंही म्हणता येईल कीं, कोणीही मनुष्य आपली जन्मभाषा सोडून इतर भाषा बोलू लागला म्हणजे जन्मभाषेच्या उच्चाराची त्यास जी जन्मतःच संवय लागते तिचीच झांक दुसऱ्या भाषेच्या उच्चारांत आढळून येते. साहेबलोक मराठी भाषा कशी बोलतात. याचा ज्यानें थोडासा विचार केला असेल त्यास ही गोष्ट सहज कळून येईल. उदाहरणार्थ, मराठी भाषेत 'तुम्ही' हा शब्द दुसऱ्या अक्षरावर जोर देऊन उच्चारतात. पण इंग्रजी भाषेत अशा प्रकारच्या शब्दांत पहिल्या अक्षरावर जोर देण्याची पद्धत असल्यामुळे साहेबलोक त्याचा उच्चार "तुम्ही" किंवा "टु मी" असा वेडावाकडा करीत असतात. सारांश, केवळ

उच्चारकडे पाहून शब्द लिहावयाचे म्हटल्यास भाषेस स्थैर्य व निश्चितपणा कधीही यावयाचा नाही. इंग्रजी भाषेत तर यासंबंधानें अतिशयच घोंटाळा आहे. Honour या शब्दांतील h चा उच्चार होत नाही; तर Ascend, Descend या शब्दांतील 'h' चाही उच्चार बोलतांना कोणी करित नाही. Know याचा उच्चार कनो असा व्हावयास पाहिजे पण तोही नो म्हणजे no च्या उच्चाराप्रमाणेच होतो. या तऱ्हेची इंग्रजी भाषेत दुसरी पुष्कळ उदाहरणे आहेत व हें सर्व वैलक्षण्य काढून टाकून उच्चारप्रमाणेंच हे शब्द लिहावे, असें प्रतिपादन करणारी काहीं मंडळी इंग्लंडात निघाली आहेत, नाही असे नाही; पण दुसऱ्या पक्षी असे दाखविण्यात आले आहे कीं, हे शब्द लिहितांना केवळ त्याच्या उच्चारकडे नजर न देता त्याच्या व्युत्पत्तीकडेही लक्ष दिलें पाहिजे. उदाहरणार्थ, Ascend यात स्कंद, आणि know यांत ज्ञा (ज्या) हे जर मूळ धातू आहेत तर व्युत्पत्तीच्या दृष्टीनें त्यांची लिहिण्याची पद्धत Spelling बरोबर आहे. तसेंच इंग्रजी भाषेत & या स्वराचे ऱ्हस्व दीर्घ भेदाने सहा उच्चार होतात हें इंग्रजी व्याकरणातून व कोशांतून स्पष्ट दिलें आहे. तथापि याबद्दल सहा दुसरे स्वर घालण्याचे किंवा विलायतेतील शाळातून चालणाऱ्या क्रमिक पुस्तकांत शब्दांचें जें spelling येतें त्यांत & या स्वरास खाली वर टिबे देऊन सहा प्रकारें अलंकृत करण्याचें विलायतेतील कोणत्याही बुककामिटीनें योजलेलें आमच्या ऐकण्यात नाही; आणि कोणी योजल्यास त्याप्रमाणे व्यवस्था होईल कीं नाही, याचाही संशय आहे. सर्व जगभर जी भाषा चालू होण्याचा रंग आहे किंवा व्हावी असें म्हणणें आहे, तिच्या संबंधानें जर ही स्थिति तर आज अप्रौढ असलेल्या मराठी भाषेच्या शब्दांची स्वैरगती किती जखडून टाकावी, याबद्दल कोणासही शंका येणें अगदीं स्वाभाविक आहे. संस्कृतामध्ये शब्दांचीं रूपे व उच्चार यास इतर कोणत्याही भाषेपेक्षा अधिक स्थैर्य आलेले आहे खरें; पण हें स्थैर्य संस्कृत बोलण्याची भाषा होती तेव्हा आले असावें असें दिसत नाही. तसें असते तर वेदांमध्ये 'कृ' धातूचीं तीन गणातलीं रूपे किंवा हलंत नामांची अजन्त नामाप्रमाणें रूपे आढळण्यांत आलीं नसतीं. पाणिनीच्या व्याकरणानें संस्कृत भाषेस स्थैर्य आलें आहे खरें; पण पाणिनीच्या काली किंवा त्या सुमारास संस्कृत भाषा लोकांच्या बोलण्यात नव्हती, असा पुष्कळ विद्वानाचा अभिप्राय आहे. आणि तो खरा असेल तर प्रचारांतून गेलेल्या भाषेचे नियमन करणें, या दोन गोष्टींत भेद केला पाहिजे. झाड पुरें वाढले असतां त्याचा विचार लक्षपूर्वक अवलोकन करून त्याची मर्यादा ठरविणे जितकें शक्य आहे तितकें त्याची वाढ अद्याप पुरी झाली नाही अशा झाडाची मर्यादा ठरविणे शक्य होत नाही. सारांश, ज्या भाषा आज लोक बोलत आहेत त्यांचीं कारणे संस्कृताप्रमाणें पूर्ण होणें बहुधा अशक्य होय. तथापि व्याकरणाच्या नियमांनीं वाढलेल्या भाषेचेंही शोधन करूं नये, हें म्हणणे शहाणपणाचें होणार नाही. अशा स्थितींत वैय्याकरणाच्या अधिकारांस कांहीं मर्यादा

आहे, एवढाच काय तो वरील उदाहरणावरून बोध घ्यावयाचा आहे. उच्चार-प्रमाणे लिहिण्याची पद्धत ठेवणे नेहमी शक्य नाही, यास दुसरीही आणखी कारणे आहेत; पण त्याचा विचार करणे पुढील लेखावर टाकणे भाग आहे.

*मराठी भाषेची लेखनपद्धति

(नंबर २)

कोणत्याही भाषेची लेखनपद्धति ठरविण्यास जी साधने आहेत त्यापैकी उच्चार हे जरी एक साधन असले, तथापि केवळ उच्चाराकडे नजर देऊन लेखनपद्धति ठरविणे कितपत प्रशस्त आहे याचा इंग्रजी भाषेतील उदाहरणे देऊन गेल्या अंकी थोडासा विचार केला आहे. व्युत्पत्तीकडे लक्ष न देतां केवळ उच्चारावरून लेखनपद्धति ठरवावयाची म्हटली तर लिहिण्याची भाषा दर पंच-वीस तीस वर्षांत पालटावी लागेल. इतकेच नव्हे तर लिहिण्याच्या भाषेत काहीच कायमपणा राहावयाचा नाही. जिभेपेक्षां लेखणी जात्याच अधिक स्थिर असल्यामुळे कोणत्याही भाषेतील लेखनपद्धतीस जितके स्थैर्य असते तितके उच्चार-पद्धतीस असत नाही; व म्हणूनच लेखनपद्धतीस हरएक भाषेत महत्त्व देतात. लिहिणे किंवा वाचणे यांत सारखा मेळ कधीच रहात नाही. विशेषकरून ज्या भाषा लोकांच्या बोलण्यांत म्हणजे जिवंत आहेत त्यातील शब्दांचे उच्चार तर ती भाषा बोलणाऱ्या लोकाकडूनच प्रथमतः तरी समजून घेतले पाहिजेत. Put याचा उच्चार 'पुट' कां आणि But याचा उच्चार 'बट' का ? याचे उत्तर इंग्रजी भाषेत उच्चाराच्या संख्येपेक्षा अक्षराची संख्या कमी असे सामान्यतः दिले जाते व ते खरेही आहे. तथापि इंग्रजी शब्द व उच्चार यांच्या संबंधाने जो हा घोंटाळा आहे तो संस्कृत व मराठी या भाषात अगदीच नाही असे समजू नये. उदाहरणार्थ चवर्ग म्हणजे च, छ, ज, झ, ञ ही अक्षरे घ्या. या सर्व अक्षरांचे मराठीत दोन प्रकारचे उच्चार होतात; एक तालव्य व एक दंत-तालव्य. आणि कित्येक वेळां या दोन प्रकारच्या उच्चारांने अर्थातही मोठा फरक पडतो. जसे चरक (वैद्यक-ग्रंथकर्ता) आणि चरक (उसाचा); चार (४ थी संख्या) आणि चार (वेडेचार या शब्दांतील). च काराच्या उच्चाराचे हे दोन भेद एका चच्या पाठीमागे टिंब देऊन (जसे च) व दुसरा जशाचा तसाच काढून दाखवावेत, अशी युक्ति दादोबाच्या वेळीं निघाली होती; व मौलस्वर्थच्या पूर्वी शिळेवर छापलेल्या शास्त्राच्या मराठी कोशांत याच पद्धतीचा उपयोग केलेला आहे. पण हा खटाटोप पुढे कोणी चालविला नाही.

मराठी ज्यांची जन्मभाषा आहे अशा लहान मुलास हे उच्चार निरनिराळे आहेत असे सांगण्याची कधीच जरूर पडत नाही. साहेबलोकांसारखे परकीय लोक जेव्हां मराठी भाषा शिकतात तेव्हां त्यांच्याकरता या उच्चारभेदांची फोड करणे जरूर पडते. पण मराठी भाषेची शालोपयोगी पुस्तके काहीं साहेब-लोकांकरिता लिहावयाचीं नाहीत ही त्याबरोबर लक्षात ठेविलें पाहिजे. बऱ्याच वर्षांपूर्वी कै. बापूसाहेब भाजेकर यांनी केलेल्या मनोरमा नाटकांत 'केले' या-ऐवजी 'केलं,' 'असें' या ऐवजी 'असं' वगैरे लिहिण्याचे प्रकार पुस्तकांत घालून ते रूढ करण्याचा प्रयत्न झाला होता, पण तोही सफल झाला नाही. साराश उच्चारप्रमाणें सर्वांशीं भाषेची लेखनपद्धति ठेवणें बहुतेक अशक्यच होय असें म्हटलें तरी चालेल. कित्येकास असें वाटत असेल कीं, हल्लीं आपण लिहितों ती पद्धति उच्चाराला पुष्कळ अंशीं धरून आहे. पण जरा विचार केला असता असें आढळून येईल कीं हीं म्हणणें खरें नाही. उदाहरणार्थ, आपण 'घर' 'मठ' 'नथ' वगैरे शब्द घेऊं. या प्रत्येक शब्दात दोन स्वर असून ते दोन्ही अकारच आहेत. पण पहिल्या घ, म आणि न या तिही मधील अकार पुढच्या अकारापेक्षां जर उंच स्वरांनै म्हणावा लागतो. पारिभाषिक शब्दांनै हाच नियम सांगावयाचा असला तर 'घर' यातील घ-मधला अ उदात्त (दीर्घ नव्हे) आहे असें म्हटलें पाहिजे; आणि लेखनपद्धति उच्चारानुसरून ठेवावयाची असेल तर घर हा शब्द घर असा लिहिला पाहिजे. बरें, घर या शब्दास द्वितीया विभक्ति लावून 'घरास' असें रूप झाले म्हणजे घर या शब्दां-तील 'घ'चे उदात्तत्व नाहीसें होऊन घ वर पडणारा जोर 'रा' वर जातो. वेदांतील मंत्रांचे बरोबर उच्चार कायम रहावे म्हणून प्रत्येक स्वराचे ऱ्हस्व, दीर्घ आणि प्लुत या खेरीज उदात्त, अनुदात्त आणि स्वरित, व संवृत आणि विवृत, असे जे पाणिनीनें भेद केले आहेत ते एवढ्याचकरिता होत. कोणतेंही वाक्य लिहिलें असता त्यातील शब्दामध्यें झालेल्या स्वरांपैकी उदात्त कोणते व अनुदात्त कोणते हे समजल्या खेरीज त्या वाक्याचा बरोबर उच्चार कधीही करतां यावयाचा नाही. वेदांमधील मंत्रांस जे स्वर दिलेले आहेत ते याचकरिता होत. पण त्यांचा उच्चार मात्र कसा करावयाचा हे आम्ही विसरून गेलों आहों. "अग्निमिळे पुरोहितं" यांतील 'मी' व 'हि' हीं अक्षरें उदात्त आहेत व तीं इतर अक्षरापेक्षां जरा उच्च स्वरांनै म्हटलीं पाहिजेत. तथापि या उच्चारानुसार उच्चनीचपणा हल्लीं जसा विद्यार्थ्यांची शेंडी धरधरून व्यक्त करतात तसा पूर्वी खचित करित नसावे. वेदातील संस्कृत ही एकदां बोलण्याची भाषा असावी; आणि जेव्हा ती तशी होती तेव्हां एक मनुष्य दुसऱ्यास भेटला असतां हल्लीं वैदिक जसे स्वर देऊन म्हणतात तसें बोलत असेल असे मानता येत नाही. ही संस्कृताची गोष्ट झाली. पण मराठीचा असाच प्रकार आहे हे एकदम लक्षांत येत नाही. 'तरवार' हा शब्द कित्येक लोक 'तर्वार' असा लिहितात; व त्यांस

कारण उच्चार तसा होतो असें म्हणतात. पण ही चूक आहे. 'तरवार' यांत चार अक्षरे असून उच्चाराचा जोर 'वा' वर पडल्यामुळे मागच्या 'र' चा उच्चार अर्धवट करावा लागतो, व उदात्त, अनुदात्त इत्यादि स्वरांचे आरोहावरोह लेखनपद्धतींत दाखविण्याची चिन्हे जर मराठींत असती तर 'तवार' असें वेडेवांकडे लिहिण्याची कल्पना कोणी सुचविली नसती. लहान मुलें चांगली अक्षर ओळख होण्यापूर्वी शब्दांतील अक्षरे प्रथक् प्रथक् वाचतात. म्हणून तोच मराठी भाषेतील शब्दाचा खरा उच्चार असे जर कोणी म्हणेल तर ते जितके समजस दिसेल, तितकेंच 'तरवार' शब्दातील पहिल्या 'र' चा उच्चार प्रौढ माणसानें बोलतांना स्पष्ट करित नाहींत म्हणून तो शब्द 'तवार' असा लिहावा हें म्हणणें सयुक्तिक होय. 'घर' या शब्दातील 'घ' मधील 'अ' ची जी स्थिति सांगितली तीच मराठी भाषेतील 'आ' स्वराचीही आहे. उदाहरणार्थ, 'पाह' धातू घ्या. हा 'पश्य' धातूचा अपभ्रंश असल्यामुळे पहिलें अक्षर म्हणजे 'पा' दीर्घ आहे; व वर्तमानकार्ली 'पाहतों' अशी रूपें होतात. पण आज्ञार्थी 'पाहा' असें वास्तविक रूप होत असताही दोन दीर्घांचा एकदम उदात्त उच्चार होणें कठीण पडत असल्यामुळे 'पाहा' यातील पहिला 'आ' हलका म्हणतात; इतकेंच नव्हे तर 'पाहा' या रूपाऐवजी पहा असेही रूप प्रचारांत आलें आहे. 'आपण' या शब्दातील 'आ' आणि आपल्या या शब्दांतील पहिला 'आ' यांच्या उच्चारातही भेद आहे. पण तसा भेद लिहिताना दाखविण्याचा मराठींत कधी कोणी प्रयत्न केला नाही. इतकेंच नव्हे तर तसा प्रयत्न केला असता तो हास्यास्पद आणि निरुपयोगी होईल. उदाहरणार्थ "मी आपल्या घरी गेलों" असें लिहूं लागलों तर लिहिण्याच्या पद्धतीस मुलभता न येता उलट हा सर्व खटाटोप उपहास्यास्पद होईल. 'जसें बोलों तसे लिहावें' हें तत्व तोंडानें उच्चारणें जितकें सोपें आहे तितकेंच तें अमलांत आणणें कठीण आहे हें यावरून दिसून येईल. इंग्रजी भाषेतही शब्दांतील काहीं स्वरावर जोर देतात व काहीं स्वर विनजोरी असतात; आणि कित्येकदा तर या जोरानें आणि विनजोरानें (accent) शब्दाच्या अर्थातही भेद पडतो, हें इंग्रजी चवथ्या यत्तेतील पोरसही माहीत आहे, पण यामुळे इंग्रजी भाषेच्या लेखनपद्धतींत म्हणजे छापलेल्या पुस्तकाच्या लेखनपद्धतीत या accent चा कोठें उप्रयोग करित नाहींत. पोटातून वारा वर निघून मुखातील निरनिराळीं स्थानें आणि जिव्हा यांच्या संयोगानें जें स्वैरवैचित्र्य उत्पन्न करतों तें सर्व लेखणीच्या टोकानें कागदावर व्यक्त करणें बहुतेक अशक्य आहे असे म्हटले तरी चालेल. पाणिनीसारख्या वैयाकरणानां सोळा स्वर आणि छत्तीस व्यंजनें करून त्यांतही पुनः उदात्त, अनुदात्त, संवृत्त, विवृत्त, यम, उपध्मानीय वगैरे जरी भेद केलेले आहेत, तथापि ही सर्व सामग्री तोंडातील वायूच्या खेळाचें लेखनपद्धतींत पूर्ण प्रतिबिंब उतरविण्यास पुरी पडत नाहीं, मग मराठी भाषेची काय कथा? कानडोंत व इंग्र-

जिती ' ए ' हा स्वर ऱ्हस्व आहे हे पुष्कळांस माहीत असेलच. मराठीत व संस्कृतांत ' ए ' हा शब्द दीर्घ मानला आहे. तथापि, ' एक ' या शब्दांतील ' ए ' आणि एकदम या शब्दांतील ' ए ' यांच्या उच्चारात भेद आहे हें कोणाच्याही लक्षांत येईल. हे उच्चाराने भेद ती ती भाषा बोलणाराकडूनच समजून घेतले पाहिजेत. आणि तसे समजून न घेता केवळ लेखनपद्धतीवरून उच्चार करण्याचा जर कोणी प्रयत्न करील, तर मराठी लहानमुलाप्रमाणे एक तर तो प्रत्येक अक्षराचा निरनिराळा उच्चार करित जाईल, किंवा त्याची जन्मभाषा निराळी असल्यास त्या जन्मभाषेतील उच्चाराची रीत मराठी शब्दास लावून साहेब लोक मराठीचा उच्चार करतात त्याप्रमाणे वेडावाकडा उच्चार करील. कानडी लोक मराठी बोलावयास लागले असता, किंवा मराठी लोक कानडी बोलावयास लागले असता अथवा हिदुस्थानातील कोणताही मनुष्य इंग्रजी बोलावयास लागला असता थोडाबहुत तरी अशा प्रकारचा उच्चार-संकर-किंवा त्यास-वर्णसंकर म्हटलें तरीही चालेल-होतोच होतो. जी भाषा आम्ही नेहमी प्रचारांत बोलतो त्यातील शब्दांचे उच्चार आमच्या आगवळणी किंवा जिव्हावळणी पडले असल्यामुळे आमच्या लक्षात वर सांगितलेले बारिकसारीक भेद येत नाहीत. पण जेव्हा एखाद्या प्रचारातून गेलेल्या किंवा मृतभाषेतील शब्दाचा उच्चार करण्याचा किंवा परकी भाषा बोलण्याचा प्रसंग येतो तेव्हा या सर्व अडचणी आपोआप नजरेस येतात. मराठी भाषेतील क्रमिक पुस्तके परकीयाकरितां रचावयाची नाहीत हे आम्ही वर सांगितलेच आहे; व तसे असेल तर वर लिहिलेल्या गोष्टीचा त्यात समावेश करण्याची गरज नाही हे खरें आहे. पण ' जसे बोलार्हे तसे लिहांव, ' ' जसे बोलवे तसे लिहावे ' म्हणून कित्येक जी ओरड करितात त्यांत तथ्य किती आहे व हे तत्त्व अमलात आणणें किती अशक्य आहे हे दाखविण्याकरिता उच्चार व लेखनपद्धति यामधील संबंधाचा वर लिहिलेला थोडासा उहापोह करणे भाग पडलें. आता लेखनपद्धतीसंबंधानें ऱ्हस्वदीर्घादिकाचे जे नियम आहेत त्याचा पुढे विचार करूं.

* (नंबर ३).

उच्चाराप्रमाणे कोणत्याही भाषेची लेखनपद्धति सर्वांशी ठरविणें हे किती कठिण किंबहुना अशक्य आहे, याचा विचार गेल्या अंकीं केलाच आहे. प्रातो-प्रांती उच्चाराचा भेद असतो एवढीच या प्रकारच्या लेखनपद्धतीस अडचण आहे असें नाही; तर मुखानें जितके उच्चार होतात तितके लेखांत अक्षरानि

* (केसरी, ता. २६ जुलै १९०४).

व्यक्त करण्यास अक्षर सामग्रीही भाषेतील वर्णसमुदायांत नेहमी सांपडते, असें नाही. इतर सर्व भाषेपेक्षा संस्कृत भाषेतील वर्णाशास्त्र अगदी परिपक्व दशेस आलेले आहे. तथापि त्यातही प्रत्येक स्वराचे उदात्त, अनुदात्त, इत्यादि बरेच भेद करावे लागतात. व तितके भेद करून ही अखेरीस अक्षराचा उच्चार करावयाचा हे गुरुमुखानचें समजून घ्यावें लागतें, अशी स्थिति आहे. सामान्यतः असेंही म्हटले तरी चालेल कीं, जी भाषा बोलण्यांतली आहे तीतील शब्दांचे उच्चार ती भाषा बोलणाऱ्या लोकाकडूनच समजून घेतले पाहिजेत. व्याकरणाच्या नियमांनी भाषेस व्यवस्थित रूप येते यांत काही शंका नाही; तथापि या नियमाची व्याप्ति बरीच मर्यादित असल्यामुळे कोणतीही भाषा वापरणारे लोक जसे बोलतात तशी हुबेहुब फोनोग्राफमध्येही येणे कठीण पडते; मग पाठ्या कागदावर काढ्या खुणांनी ती सर्वांशी व्यक्त करणें अशक्य असल्यास त्यात काहीं नवल नाही.

असो; एवढ्यावरून असे मात्र कोणी समजू नये कीं, व्याकरणात शुद्ध-लेखनाचे नियम घातल्यापासून भाषेस किंवा विद्यार्थ्यांस काहीं उपयोग होत नाही; किंबहुना व्याकरण शास्त्राचा जर काहीं उपयोग असला तर हाच होय कीं, प्रकृति आणि प्रत्यय याचा विचार करून शब्दांचीं रूपे काहीं तरी सामान्य नियमाच्या अधिकारात आणून सोडावी. वैयाकरणानी असे नियम ठरविताना प्रचलित उच्चाराकडे किंवा लेखनपद्धतीकडे दुर्लक्ष करता कामा नये, हें पहिल्याच लेखात आम्हां सांगितलें आहे. वैयाकरण हे भाषेचे शास्ते खरे, पण त्याचा अधिकार मर्यादित आहे, आणि कोणतीही भाषा बोलणारे लोक हेच जरी त्या भाषेचे कर्ते असले तरी व्याकरणशास्त्र किंवा व्युत्पत्तिशास्त्र हे त्यास अगदी झुगारून देता येत नाही. या दोन्ही गोष्टी लक्षात ठेवून आणि उभय पक्षांचा मिलाफ घालून मग लेखनपद्धतीवाल्यांनी काय नियम ठरवावयाचे ते ठरविले पाहिजेत. मराठी भाषा ही संस्कृताची मुलगी असली तरी तिचें म्हणून काहीं स्वतंत्र रूप आहे, ही गोष्ट आम्हांस मान्य आहे. तथापि या भाषेची अभिवृद्धी करताना मातृभाषेची जर काहीं मदत घ्यावी लागली तर ती मदत घेते वेळीही मराठी भाषेचाच पगडा संस्कृत भाषेवर बसला पाहिजे, असे म्हणता यावयाचे नाही. खेरीज ही गोष्ट लक्षात ठेविली पाहिजे कीं, मराठी भाषा अद्याप बाल्यावस्थेत आहे; व एवढाच जर तिच्या स्वरूपाचे निरीक्षण करून त्याच्या वाढीची दिशा मर्यादित केली तर चिनी स्त्रियांच्या पायांप्रमाणें तिच्या सौंदर्याची स्थिति होऊन तें काहीं थोड्या सोवळ्या किंवा आग्रही लोकाखेरीज कोणासही पसंत पडणार नाही. हें सांगण्याचें कारण इतकेच कीं, मराठी भाषेतील सर्व ऱ्हस्व, दीर्घ, सानुनासिक किंवा निरनुनासिक शब्दांची अगर वैकल्पिक रूपांची आज एकदम व्यवस्था लावून टाळावी व पुनः घोटाला ठेवू नये, असें जे कित्येकांचें म्हणणें आहे, ते वाढत्या भाषेस लागू पडत नाही. इतकेंच नव्हे तर तसा प्रकार झाल्याने भाषेच्या स्वातंत्र्याची व सौंदर्याची हानि होते, हें नीटपणें लक्षात यावें. संस्कृत भाषेतही काहीं शब्दांची

सैं दोन दोन असतात किंवा ' व ' च्या ठिकाणीं ' व ' होतो अथवा ' ड ' वा ' ळ ' होतो, हें संस्कृत भाषा जाणणाऱ्यांच्या लक्षांत असेलच. परिपूर्ण देशे-त पावलेल्या भाषेच्या वैयाकरणास जर त्या भाषेस अशी मोकळीक द्यावी अगेल तर मराठी भाषेस तिच्या हल्लींच्या स्थितींत यापेक्षां पुष्कळ मोकळीक देली पाहिजे. ही गोष्ट निर्विवाद आहे. साराश, आजच जर मराठी भाषेतील सर्व शब्दांस प्रत्येकीं एकेक निश्चित रूप देण्याचा कोणी प्रयत्न करील तर तो पुष्कळ फटीण जाईल; इतकेंच नव्हे तर भाषा बोलणारे किंवा लिहिणारे लोक अशा प्रकारच्या निर्विधास कधींही जुमानणार नाही. भाषेतील घोटाळा काढूं नये, असें आमचे म्हणणें नाहीं. उलट, भाषेतील घोटाळे काढणें हेंच वैयाकरणाचे कर्तव्य आहे, असें आम्ही समजता. स्त्रियास केश संस्कार किंवा केश विंचरून त्रेणीफणी करणें हें जितके इष्ट व अवश्य होय तितकेंच भाषेतील शब्दास सु-पस्कृत करणे अवश्य होय. तथापि केश संस्कारात केश कापण्याचा किंवा वप-नाचा जसा अंतर्भाव होत नाही, त्याप्रमाणेच शब्दाची वाढ कुठित करणें किंवा कापणें या गोष्टी व्याकरण संस्कारात येत नाहीत. हे नियम व प्रतिनियम वाचून कित्येकास आश्चर्य वाटे. पण त्यास आमचा कांही इलाज नाहीं. नियमा-पेक्षा प्रतिनियम कोठे अधिक महत्त्वाचा समजावा, याबद्दल निरनिराळ्या वैया-करणांचे मतभेद असूं शकतील. पण वर सांगितलेल्या सर्वसोयी व अडचणी लक्षात ठेवूनच शब्द स्वरूपाचे नियमन केलें पाहिजे, याबद्दल कोणाचा मतभेद असेल असे आम्हास वाटत नाहीं. मराठी शब्दाच्या स्वरूपाची मोमासा करून याबद्दल काही विशिष्ट नियम ठरविणे म्हणजे भाषेवर जुलुम करणे होय, असे जे कित्येकांचें म्हणणें आहे तें आम्हास बिलकूल मान्य नाहीं. प्रचलित लेखन-पद्धतीहून सर्वांशीं भिन्न अशी लेखनपद्धती प्रचारात आणण्याचा प्रयत्न करणे म्हणजे एक प्रकारची दांडगाई करणें आहे, अथवा हीं एक प्रकारची मोगलाई आहे; इतकेंच जर कोणाचें म्हणणें असेल तर ते काहीं गैर-वाजवी नाही. परंतु रा. रा. साने, गोडबोले व हातवळणे यांच्या ' मराठी भाषेची लेखनपद्धति ' या पुस्तकात जशी झोटिंगवादशाही केल्याचें किंवा करण्याचा प्रयत्न केल्याचें आमच्या पाहण्यात आलें नाही. ज्या ठिकाणीं उच्चारांत विकल्प आढळण्यात येतो अथवा उच्चारांत आणि लेखनपद्धतीत भेद असतो, तेवढ्याच स्थलीं व्याकरण शास्त्राच्या नियमाची प्राप्ती होते, हें तत्त्व वरील तीन ग्रंथकार विसरले आहेत असें आमच्या नजरेस येत नाहीं. त्याचीं सर्व मते प्रत्येकास ग्राह्य होतील असें नाहीं. तथापि, शुद्धलेखन हें एक शास्त्र आहे व मराठींत शास्त्रीय पद्धतीनें त्याचा विचार करण्याचीं काय साधने आहेत, हें पाहण्याचा या ग्रंथाखेरीज इतक्या व्यापक रीतीनें दुसऱ्या कोठे प्रयत्न झाला असल्याचें आमच्या पाहण्यांत नाहीं. आता या ग्रंथानें मराठी भाषेतील शुद्ध-लेखनाचा एकदम कायमचा निकाल होईल असें मानणें चुकीचें आहे. तरी

त्यामुळे ग्रंथांतील विवेचनाचें महत्त्व कमी होतें असें नाहीं. वाढत्या भाषेचें व्याकरण आणि पूर्ण झालेल्या भाषेचें व्याकरण, यांमध्ये अवश्य राहाणारा जो भेद वर सांगितला आहे तो लक्षात आणला म्हणजे आम्ही म्हणतों त्याचा खरेपणा वाचकांच्या लक्षांत येईल. वरील तीन ग्रंथकारांपैकीं रा. सा. साने हे हल्लींच्या बुककामिटीचे एक मेंबर असल्यामुळे कित्येकांची अशी समजूत झाली आहे कीं, वरील मुनित्रयानी आपल्या पुस्तकात जे जे म्हणून नियम दिले आहेत ते सर्व आतां मराठी पुस्तकात घुसडून देऊन रा. सा. साने हे सरकारच्या साहाय्यानें मराठी भाषेवर जुलूम करूं पाहात आहेत. ही भीति खरी असेल तर मराठी भाषेच्या बचावाकारिता महाराष्ट्र लेखकांनीं आपली शस्त्रां सज्ज करण्यास लागणें जरूर आहे. पण आम्हास जी माहिती मिळाली आहे त्यावरून ही भीति निरर्थक आहे, असें समजतें. कांहीं शुद्ध संस्कृत शब्दाने अंत्य स्वर मराठी भाषेंत न्हस्व लिहावे कीं, दीर्घ लिहावे आणि काही शब्दावरील अनुस्वार काढून टाकावे किंवा ठेवावे, याच्या पलीकडे क्रमिक पुस्तकाच्या लेखनपद्धतींत काहीं फेरफार करण्याचा विचार आहे, असें दिसत नाहीं. आता हा फेरफार करावयाचा तोही केवळ दोन चार सरकारी अंमलदारांच्या मतानें न करतां महाराष्ट्र भाषेतील चांगल्या लेखकांचें व विद्वानांचे मत घेऊन करावा एवढेंच जर कोणाचें म्हणणें असेल तर ते आम्हास मान्य आहे. अव्वल इंग्रजीतील एक आख्यायिका अशी आहे कीं, प्रसिद्ध विद्वान् कै. बाळशास्त्री जांभेकर याचे काही मराठी लेख मेहरबान कॅप्टन कॅडीसाहेब याचेकडे तपासण्यास गेले. कॅप्टन कॅडी यानीं इंग्रजी-मराठी कोश केलेल! असून इतर युरोपियन लोकांपेक्षां त्याचें मराठीचें ज्ञान पुष्कळ चांगलें होतें. परंतु त्या साहेबाचा काहीं गोष्टींत आग्रह असे. उदाहरणार्थ 'हा' शब्दास हा शब्दाचें सामान्यरूप होऊन विभक्तिप्रत्यय लागल्यास त्याचें 'ह्यांनी' 'ह्याचे' अशीं रूपे व्हावीं 'यानीं' 'याचे' अशीं होऊ नयेत असें त्याचें मत होतें. अशा दृष्टीनें जेव्हां ते कै. जांभेकर यांच्या ग्रंथाचें परीक्षण करूं लागले तेव्हा त्यात त्यास काही चुका आढळल्या व त्या कै. जांभेकर यानीं दुरुस्त कराव्या म्हणून रिपोर्ट केला. कै. जांभेकर हे काही विद्वत्तेंत कमी नव्हते. त्यांनीं कॅडीसाहेबाचा हा रिपोर्ट पाहिल्यावर उलट असा रिपोर्ट केला की, मराठी भाषा ही आमची जन्मभाषा आहे; आणि ती भाषा ज्या भाषेपासून निघाली तिचें आणि मराठी भाषेचें शास्त्रीय रीतीनें आम्ही अध्ययन केलेले आहे. तेव्हा शुद्ध मराठी कोणतें आणि अशुद्ध मराठी कोणतें हें ठरविण्याचा अधिकार आमचा आहे, कॅडीसाहेबांसारख्या परक्या मनुष्याचा नाहीं, आणि आमच्या भाषापद्धतींत किंवा लेखनपद्धतींत कॅडीसाहेबांच्या म्हणण्याप्रमाणें सुधारणा करावयाची असेल तर आमचा लेख आमच्याकडे परत पाठवावा. मराठी भाषा कशी असावी व ती लिहावी कशी, हें ठरविण्याचा अधिकार फक्त महाराष्ट्रीयांचाच आहे! कै. जांभेकर यांचें अशा

प्रकारचें सणसणीत उत्तर गेल्यावर कॅडीसाहेबानीं आपलें म्हणणें मागें घेतलें; आणि कै. जाभेकर याचे लेख कॅडीसाहेबाकडे तपासण्यास जाऊं नयेत असें ठरले! ही गोष्ट आम्ही जशी ऐकली तशी दिली आहे; तेव्हां कदाचित् त्यांमध्ये काहीं कमजास्त असण्याचा संभव आहे. तथापि, त्यांतील भावार्थ किंवा तत्त्व आम्ही नेहमी लक्षात ठेवण्यासारखें आहे. महाराष्ट्र भाषेतील शब्दांच्या स्वरूपाचें कोणत्या रीतीनें नियमन करावें हें काहीं सरकारचें काम नव्हे अथवा या देशात येऊन मराठी भाषा शिकलेल्या युरोपियन लोकांचेही नव्हे. तें मराठी भाषेच्या विद्वानांनीच केलें पाहिजे; आणि तें करतील तेंच लोकमान्य होईल, दुसरें होणार नाही. रा. रा. साने यांच्या लक्षांत ती गोष्ट आली नसेल असें आम्हांस वाटत नाही. कारण 'मराठी भाषेची लेखनपद्धति' या ग्रंथांतही त्यांनीं पुष्कळ विद्वानांचे अमिप्राय मागवून त्यांचा विचार करून आपल्या पूर्वीच्या मतांत त्यांस अवश्य वाटले ते फेरफार केले आहेत. मराठी भाषेची लेखनपद्धति सर्वच बिघडून टाकावी असें त्यांचें मत आहे, असें आम्हांस वाटत नाही; किंबहुना त्यांचा 'मराठी भाषेची लेखनपद्धति' हाच ग्रंथ वाचला तरी त्याची लेखनपद्धति सामान्य लेखनपद्धतीपेक्षां विचित्र आहे, असें वाचणारांस आढळून येत नाही. असे जर आहे तर मराठी भाषेच्या लेखनपद्धतींत होणाऱ्या फेरफाराबद्दल विशेष ओरड का व्हावी, हें आम्हांस समजत नाही. डायरेक्टरसाहेब किंवा सदर साहेबांच्या हाताखालील दोघे तिघे विद्वान् एवढ्यांनीच अरेरावी करून मराठी भाषेवर जुलूम करूं नये, एवढाच जर या ओरडीचा हेतू असेल तर तो आम्हांसही मान्य आहे. हा विषयच असा आहे की, सरकारी विद्याखात्याने सरकार या नात्यानें आपला अभिमान चालवून त्यात काहीं गडबड करणें अगदीं गैर-शिस्त होय. धर्मांत ज्याप्रमाणे हात घालणे श्रेयस्कर नाही तसाच भाषेचाही प्रकार होय. लोकांचे आक्षेप तेवढ्यापुरते खरे आहेत; आणि मराठी भाषेच्या लेखनपद्धतींत थोडा फार जरी फेरफार करावयाचा असला तरी त्याबद्दल ठिक-ठिकाणच्या चांगल्या मराठी विद्वानांची व लेखकांची सभा भरवून व त्यात ज्याप्रमाणें ठरल त्याप्रमाणे अखेर व्यवस्था करावी, अशी विद्याखात्याच्या अधिकाऱ्यांस आमची सूचना आहे. या सभेत सरकारचे विद्वान् अधिकारीही येतील आणि अधिकारावर नसलेले लोकही येतील. अशा प्रकारची सभा म्हणजे मराठी भाषेच्या वैयाकरणाची एक कॉंग्रेसच होईल. प्राच्य भाषाकोविदाची ज्याप्रमाणे वेळोवेळीं कॉंग्रेस भरते तशी मराठी भाषेसंबंधानेंही व्यवस्था झाल्यास त्यापासून सर्व लोकांस पुष्कळ फायदा होईल. अशा प्रकारच्या परिषदेचे पुरस्कृतत्व घेण्यास कोणत्याही राजकीय तत्त्वाचा भंग होतो, असे नाही. करितां आम्हांस अशी उमेद आहे कीं, सरकारी अधिकाऱ्यांकडून या सूचनेचा अन्वेष न होता निवळ भाषाविषयांत तरी सरकारचे अधिकारी आणि सरकारी खात्याबाहेरील लोक यांचे

संमेलन होऊन मोकळ्या मनानें एकमेकांच्या मतांचा विचार होऊन भाषेच्या अभिवृद्धीस तो कारणीभूत होईल.

* नंबर ४

आजपर्यंत गेल्या तीन अंकात मराठी भाषेतील लेखनपद्धतीच्यासंबंधानें जीं सामान्य तत्त्वे आहेत त्याचें थोडेंसे विवेचन केले. आता हल्लीं सरकारी बुक-कमिटीनें किंवा रा. र. साने, हातवळणे व गोडबोले, यानीं जे काहीं सामान्य नियम अमलांत आणण्याचें योजिलें आहे त्याचा विचार करूं. मागे सांगितलेच आहे की, मराठी भाषेच्या हल्लींच्या लेखनपद्धतींत जीं काहीं सुधारणा करावयाची असेल ती सरकारी नोकरीतल्याच विद्वान् गृहस्थाच्या अभिप्रायानें न करितां नोकरीतील व बाहेरील मिळून एकंदर विद्वानाच्या मताने करावी. आमचे मत एकप्रकारचें असलें, तरी तेवढ्याने शाळांखात्यांतील क्रमिक पुस्तकांत लेखनपद्धतीसंबंधाने जी सुधारणा करावयाची ती इतर विद्वानाचा अभिप्राय घेतल्याखेरीज करावी असें आमचे मत आहे, असें समजू नये आमचा अभिप्राय अमुक एक असला म्हणजे अशा प्रकारच्या बाबतींत सर्व कार्य झालें, असें आम्ही समजत नाहीं. म्हणूनच यासंबंधाने शाळाखात्यातील अधिकाऱ्यानीं सर्व म्हणजे सरकारी नोकर आणि इतर विद्वान् याची परिषद बोलावून निकाल करावा, अशी आमची त्यांस पुनः सूचना आहे.

आता हल्ली ज्यासंबंधानें वाद आहे अशा एकंदर चार गोष्टी आहेत. पैकीं पहिली अशी गोष्ट अशी की, ऱ्हस्व इकारान्त किंवा ऱ्हस्व उकारान्त, उदाहरणार्थ, रवि, कवि, भानु, गुरु इत्यादि जे शुद्ध संस्कृत शब्द मराठींत आले आहेत त्याचे अंत्यस्वर लिहिताना दीर्घ लिहावे किंवा ऱ्हस्व लिहावे. एका पक्षाचें म्हणणे असे आहे कीं, शुद्ध संस्कृत शब्दात फेरबदल करण्याचा अधिकार कोणासही नाही. शिवाय समासात हे शब्द आले तर संस्कृताप्रमाणे त्याचे अंत्यस्वर ऱ्हस्वच लिहावे लागतात; उ. रविप्रभा, गुरुकूल वगैरे. ह्यासाठीं त्याची शुद्ध संस्कृत रूपेच लिहिण्यांत कायम राखावीं हें चागलें. उलट बाजूनें असें म्हणणें आहे की, जरी संस्कृतात या शब्दाचे अंत्यस्वर ऱ्हस्व आहेत तरी त्याचीं प्रथमान्त रूपे कविः गुरुः अशी विसर्गान्त म्हणजे दीर्घच होतात. प्राकृतात विसर्गाचा लोप होऊन मागील स्वरास दीर्घत्व आल्यानें व्युत्पत्तिदृष्ट्या कवी, रवी, भानू, गुरू, याप्रमाणें अंत्यस्वर दीर्घ होतात; आणि विशेष महत्त्वाची गोष्ट ही कीं, मराठींत उच्चारही दीर्घच आहेत. जसें ' भानू आला ' (भानु ऱ्हस्व नव्हे), ' मोरोपंत मोठा कवी (कवि नव्हे) होता. ' इत्यादि. समासाची

अडचण सांगितली तर त्यास ह्या पक्षाचें उत्तर असें आहे कीं, आमचा नियम समासास लागू करूं नये. परंतु कां करूं नये, याचें सशास्त्र कारण ते देत नाहीत. या दोन्ही पक्षांचा विचार करता आम्हांस असें वाटतें कीं, संस्कृतांत ज्याप्रमाणें शब्दाचें मूलरूप व विभक्त्यन्त रूप असा भेद आहे; तसा मराठी व्याकरणातही करून या शब्दांचीं मूलरूपें 'कवि' 'मानु' 'साधु' 'रवि' याप्रमाणें ऱ्हस्वान्त्य स्वराचीं मानून प्रथमान्तरूपें मात्र प्राकृतांत विसर्ग लोप झाल्यामुळें 'कवी,' 'मानू,' 'साधू,' 'रवी,' अशीं दीर्घ होतात, असा नियम करावा. मूळ रूपाचे अन्त्यस्वर ऱ्हस्व मानल्याने व समासांत मूलरूपच कायम रहात असल्याने समासघटित शब्द लिहितेवेळीं त्यांतील 'कवि' 'रवि' वगैरे शब्द ऱ्हस्वच लिहिण्यात येतील; व ते ऱ्हस्व का लिहावयाचे याची उपपत्तीही चागली देता येईल. ही व्यवस्था विद्यार्थ्यांस विशेषेंकरून लहान मुलांस सोयीची होईल असे नाही. कारण 'कवि' ह्या शब्दाचा अन्त्यस्वर ऱ्हस्व असून त्याचे प्रथमेचें एकवचन 'कवी' असें होते, या दोन्ही गोष्टी त्यास लक्षात ठेवाव्या लागतील. परंतु लहान मुलांच्या सोयीकरतांच मराठी भाषेची लेखनपद्धति ठरवावयाची नाही, हे लक्षांत आणले म्हणजे या आक्षेपाचें काहीं महत्त्व राहात नाही. दुसरी गोष्ट अशी कीं, 'कवि' शब्दाचा अन्त्यस्वर दीर्घ मानल्याने त्याचे अनेकवचन 'कव्या' करावे लागेल, अशी जी कित्येकानी शंका काढली आहे तीही आम्ही जो वर नियम दिला आहे त्याप्रमाणें शिष्टक राहात नाही. आम्ही सांगितल्याप्रमाणें नियम घातला तर धड्याच्या आरंभी शब्द लिहितात तेव्हां 'कवि' 'रवि' या शब्दाचे अन्त्यस्वर ऱ्हस्व लिहून पुढें वाक्यात त्याची प्रथमान्तरूपें दीर्घ लिहावी लागतील. इतके झालें तरी संस्कृता-प्रमाणेंच कोणी या शब्दाचे अन्त्यस्वर नेहमींच ऱ्हस्व लिहिल्यास ते चूक आहेत, असे म्हणता यावयाचें नाही. कारण, मराठी भाषेचा अंमल सदर भाषेत येणाऱ्या संस्कृत शब्दांवर किती चालावा याबद्दल अद्याप एकमत झालेले नाही; व मराठी भाषेची स्थितिही अद्याप इतक्या पूर्णावस्थेस आली नाही कीं, मराठीनें आपलाच अंमल सर्वत्र चालू करावा. 'स्थिति' 'गति' वगैरे बऱ्याच शब्दाचे अन्त्यस्वर काहीं लोक ऱ्हस्व लिहितात व काहीं लोक दीर्घ लिहितात; इतकेंच नव्हे तर एकच लेखक कधीं हे अन्त्यस्वर ऱ्हस्व तर कधीं दीर्घ लिहितो, याचें कारण हेंच होय. संस्कृत 'गति,' 'रीति,' 'जाति,' यांचीं रूपें मराठींत 'गत,' 'रीत' किंवा 'जात' अशीं अकारान्त जेव्हा रूपे होतात तेव्हा मात्र त्यास शुद्ध मराठी रूप प्राप्त होतें, असें म्हणता येईल. ऱ्हस्व इकारान्त किंवा उकारान्त शब्दा-संबंधानें वर जो आम्हीं नियम दिला आहे तो ज्यास विभक्तिप्रत्यय लागतात अशा शब्दांपुरताच असल्यामुळें 'आणि,' 'तथापि,' परंतु' वगैरे अव्ययांचे अन्त्यस्वर संस्कृतल्याप्रमाणेंच ऱ्हस्व लिहावे असें आपोआप निष्पन्न होतें; त्या-करितां अपवाद म्हणून निराळा नियम देण्याची जरूर नाही. सारांश, समासांतील

ऱ्हस्व इकारान्त किंवा ऱ्हस्व उकारान्त संस्कृत शब्द आणि ऱ्हस्व इकारान्त किंवा उकारान्त अव्ययें, यासंबंधानें जो वाद आहे त्याचा आम्हीं वर सांगितल्या-प्रमाणें नियम केल्यानें आपोआप उलगडा होतो.

दुसरा नियम उपान्त्य ऱ्हस्व 'इ' व 'उ' याबद्दलचा आहे. अन्त्याक्षर अकारान्त असता उगन्त्य ऱ्हस्व इ व उ याचा उच्चार मराठी भाषेच्या स्वभावाप्रमाणें दीर्घ होतो; जसें 'कठीण' 'करमणूक' इत्यादि. यासाठी मराठीत आलेले 'गुण' 'युग' विष' 'सुख' वगैरे शब्द 'गुण' 'युग' 'विष' 'सुख' असें दीर्घ उगन्त्याचे लिहावे, असें एकपक्षाचें म्हणणें आहे. यास आधार काय तो उच्चार व प्राकृत भाषेची सरणी हा होय. व्युत्पत्तिदृष्ट्या या शब्दातील उपान्त्यस्वर दीर्घ का लिहावे यास काही कारण नाही. मागें आम्हीं सांगितलेच आहे की, 'वर' हा शब्द मराठीत पाहिल्या 'व' वर जोर देऊन उच्चारतात व शेवटचा 'र' चा उच्चार जरा अस्पष्ट होतो. या नात्यानें पाहिलें तर 'विष' या संस्कृत शब्दातील 'वि' चा उच्चार उदात्त व 'ष' चा अस्पष्ट करून तो शब्द विष असा उच्चारावा लागेल, हें खरे आहे, परंतु प्रश्न एवढाच आहे की, उपान्त्य ऱ्हस्व 'इ' व 'उ' उदात्त झाले तर ते दीर्घ लिहावे की काय? उदात्त स्वर आणि दीर्घ स्वर यामध्ये भेद आहे ऱ्हस्व स्वरही उदात्त होऊ शकतो, हे लक्षांत ठेविले पाहिजे. यासाठी आमचें असें मत आहे की, या शब्दातील उपान्त्यस्वर संस्कृतातल्याप्रमाणेच ऱ्हस्व लिहून त्याचा उच्चार मात्र 'घर' यातील 'घ' प्रमाणे करण्यास सांगवें. उच्चार दीर्घ नाही, उदात्त आहे हें 'गुणावगुण' या सामासिक शब्दातील पाहिला 'गु' व दुसरा 'गु' याच्या उच्चारावरून दिसून येईल. 'अणुरेणु' वगैरे शब्द याच वर्गातील आहेत. मराठी भाषेत उपान्त्य 'अ' 'इ' व 'उ' (ऱ्हस्व) उदात्त उच्चारले जातात. हे तिहींच्या म्हणजे 'अ' 'इ' व 'उ' हे उपान्त्य असता त्यांच्या उच्चारावरून स्पष्ट दिसते; व 'अ'ला जो नियम लागू करावयाचा तोच 'इ' व 'उ' यासही केला पाहिजे. 'घर' हा शब्द जर 'घार' असा लिहित नाहीत तर 'विष' हा तरी 'वीष' असा का लिहावा, हे आम्हांस समजत नाही. 'घ' व 'वि' याचे उच्चार दीर्घ नव्हत, उदात्त आहेत हें 'घर' या शब्दातील 'घ' च्या उच्चारावरून स्पष्ट दिसत आहे. तर मग 'विष' व 'गुण' याचे उपान्त्य दीर्घ करणे म्हणजे 'इ' व 'उ' यांच्या दीर्घ व उदात्त उच्चारातील भेद नाहीसा करणे होय. शिवाय वर सांगितलेच आहे की, उपान्त्य स्वर दीर्घ लिहिण्यास उच्चाराखेरीज दुसरा आधार नाही. अर्थात् एकट्या उच्चाराच्या आधारावर संस्कृत शब्दाचीं मूलरूपे पालटणें बरोबर होणार नाही.

तिसरा नियम व्यंजनान्त शब्दांचा होय; उ. 'क्वचित्' 'विद्वान्' 'शरद्' इत्यादि' हे शब्द मराठी भाषेत प्रायशः व्यंजनान्त न लिहितां शेवटील

वर्ण पूर्ण स्वरान्त लिहिण्याची वहिवाट आहे. इतकेंच नव्हे तर त्यास विभक्ति लागली असतां 'विद्वानास' 'शरदास' अशीं अकारान्त शब्दाच्या रूपाप्रमाणे रूपें होतात, हीं रूपे अपभ्रष्ट आहेत खरी; पण पुष्कळ संस्कृत शब्द अपभ्रष्ट होऊन ज्याप्रमाणे मराठीत आले व त्यांची अपभ्रष्ट रूपेंच आम्ही मराठी भाषेतील रूपे असें समजतो, त्याप्रमाणेच व्यंजनान्त शब्दही मराठीत स्वरान्त मानले पाहिजेत. 'क्वचित्' सारखीं काहीं अव्ययें व्यंजनान्त लिहावीं असें कित्येकांचे म्हणणे आहे; आणि पहिल्या नियमासंबंधानें आम्ही सविभक्तिक व अविभक्तिक शब्दाचा जो भेद केला तसा येथे केला असता 'क्वचित्' हा शब्द व्यंजनान्त लिहिता येईल. पण हा भेद या बाबतीत काही महत्त्वाचा आहे असें आम्हांस वाटत नाही. कारण, मराठी शब्दातील अन्त्य 'अ' अस्पष्ट उच्चारण्याची वहिवाट आहे. तथापि 'कदाचित्' 'क्वचित्' वगैरे काहीं अव्ययाचीं रूपें व्यंजनान्त ठेवण्यास हरकत नाही. व्यंजनान्त शब्द स्वरान्त लिहावे असा जरी नियम बाधला तरी त्याचा अंमल प्रत्येक शब्दांवर केलाच पाहिजे, असा आग्रह धरीत बसण्यात काहीं हालील नाही. मराठी भाषा ही वाढती आहे, पूर्ण झालेली भाषा नाही; सबब मराठीत शब्दाच्या शुद्धलेखनाचे नियम अगदीं कायमचे न ठरविता सामान्यतः ठरवून काहीं शब्दास थोडीशी सवलत दिल्यानेच एकंदर भाषेची वृद्धि अधिक चांगली होईल, असे आमचे मत आहे. 'विद्वान्' शब्दासंबंधानें तर आमचें असे मत आहे कीं, त्याचें स्त्रीलिंग 'विदुषी' असें करण्याचा जो प्रघात आहे, तो फाजील सोवळेपणाचा आहे 'जानकीबाई विद्वान आहे' हें मराठी वाक्य आमच्यामते अशुद्ध नाही. उलट 'जानकीबाई विदुषी आहेत' हेंच कानास चमत्कारिक लागते. पुल्लिंगी शुद्ध संस्कृत शब्द मराठीत आला असता त्याबरोबर त्याचे संस्कृतांतील स्त्रीलिंगी रूपही मराठीत आलें पाहिजे असें म्हणता येत नाही, 'पंडिता रमाबाई संस्कृता' ही मराठीतील थट्टा आहे; बोलण्यातील शुद्ध मराठी नव्हे.

चवथा नियम अनुस्वारासंबंधानें होय. शब्दाचे उच्चार करतांना कोंकणांत बरेच शब्द सानुनासिक तर देशात तेच शब्द निरनुनासिक उच्चारले जातात हें सर्वास माहित आहे. व्याकरणदृष्टीने पाहिले तर यापैकी खरा उच्चार कोणता, हें ठरविणे अवश्य आहे. कित्येकांचे असें मत आहे कीं, अनुस्वार हा कोंकणस्थानी मराठी भाषेत उगीच घुसडला आहे; व त्यांना अजिबात फाटा दिल्यास भाषेस अधिक सुगमता येऊन तिचें सौंदर्यही अधिक वाढेल. उलटपक्षीं असें म्हणणे आहे कीं, अनुस्वार हा पुष्कळ ठिकाणीं शब्दभेदांमुळे जरूर आहे. जसे 'आंबा'; आंबा ' नांव', ' नाव;', ' काकण' ' कांटा' वगैरे, शिवाय विभक्तीचें प्रत्यय रुळण्यासही त्यापासून मदत होते; याकरिता अनुस्वार जरूर आहेत. यासंबंधानें विचार करतां असें आढळून येईल कीं, अनुस्वार भाषेतून अजिब त

काढणें शक्य नाही. तथापि 'ढोंपर' 'मांजर' वगैरे काहीं शब्द सानुस्वार उच्चार करण्याचें काहीं कारण दिसत नाही. या व दुसऱ्या कित्येक शब्दांवरील अनुस्वार नाहीभे झाल्यास त्यात भाषेची काहीं हानि नाही. केवळ एका विशिष्ट प्रान्तात सानुस्वार उच्चार होतो एवढें कारण तो शब्द अनुस्वार देऊन लिहिण्यास बस नाही. व्युत्पत्तीही पाहिली पाहिजे. आतां व्युत्पत्ति पाहूं गेलें असतां 'पानीयं' याचें 'पाणी' हे रूप असल्यामुळें त्यावरही अनुस्वार द्यावा लागेल; असा एक आक्षेप आहे पण त्यात काहीं अर्थ नाही. शब्दावर आम्ही अनुस्वार देत नाही त्यावर व्युत्पत्तीच्या आधारानें तो लादणें अगदीं गैर होय. पण ज्या शब्दाचा उच्चार प्रातभेदाने सानुस्वार व निरनुस्वार असा दोन्ही प्रकारचा होतो तेथें ज्यास व्युत्पत्तीचा आधार मिळेल किंवा शब्दभेद ओळखण्यास जेथें जरूर आहे तेथें मात्र अनुस्वार ठेवावा, बाकीच्या ठिकाणीं देऊं नये.

येणेंप्रमाणें हल्लीं ज्याबद्दल वाद आहे किंवा क्रमिक पुस्तकांत जे नियम अमलांत आणण्याचा विचार आहे त्यासंबंधानें आमचें मत आहे. याने मराठी भाषेच्या लेखनात क्रांति होऊन प्राचीन कवींचे ग्रंथ समजण्यास अडचण पडेल अशी जी कित्येकास भीति पडली आहे ती आमच्या मते निरर्थक आहे. सरकारी शाळाखात्यातील काहीं अधिकाऱ्यानीं आपल्या मताप्रमाणेंच मराठी भाषेच्या शुद्धलेखनाची व्यवस्था लावावी, इतरास विचारण्याची जरूर नाही, असें जर कोणाचें म्हणणे असेल तर ते मात्र आम्हास मान्य नाही. पण मराठी भाषेच्या शुद्धलेखनाचे नियम ठरविण्याचा कोणी प्रयत्न केल्यास व तो प्रयत्न शास्त्रीय असल्यास त्या मनुष्याने ही मोगलाई केली, असें मात्र आम्हांस वाटत नाही. अशा प्रकारचे नियम ठरून ते हळू हळू अमलात येत गेल्यानेंच भाषेच्या लेखनपद्धतीस स्थैर्य व सुगमता यावयाची आहे. तथापि वर सांगितल्याप्रमाणें हे नियम आजच अगदी कडक रीतीनें अमलांत आणून भाषेवर जुलूम करावा, असें आमचें म्हणणें नाही. जी भाषा बोलण्यात नाही तिचें व्याकरण रचताना भाषेत अखेरीस जीं रूपें राहातात त्याबद्दलच वैयाकरणास विचार करावयाचा असतो. परंतु प्रचारांतील वाढत्या भाषेसंबंधानें वैयाकरणास अशा प्रकारचें वर्तन करता येत नाही. अशा स्थळीं ती भाषा बोलणाराचा वैयाकरणाप्रमाणेच किंबहुना त्याहूनही जास्त अधिकार असतो; व वैयाकरणाचे कर्तव्य म्हटलें म्हणजे वळण देण्याचें आहे बाधण्याचें नव्हे, असे आम्हास वाटते. हें लक्षात ठेवूनच वादग्रस्त चार मुद्यावर आम्हीं वर अभिप्राय दिला आहे; व आम्हास अशी उमेद आहे कीं, आम्ही सुचविल्याप्रमाणें बुककमिटीचे अध्यक्ष या गोष्टीचा अखेर निकाल नोकर व बिननोकर विद्वानांची सभा करून त्यातील बहुमताप्रमाणे ठरवितील. बुककमिटीनें क्रमिक पुस्तकांत ज्या काही इतर सुधारणा करण्याचे योजिले आहे त्याबद्दल स्वतंत्र रीतीनें पुनः एखादा दुसरा लेख लिहिण्याचा आमचा विचार आहे.

* आमच्या वर्णमालेचा खून.

मराठी क्रमिक पुस्तकें सुधारण्याकरितां बुक-कमिटी बसली आहे. तिनें मराठी शुद्धलेखनाच्यासंबंधानें ज्या सूचना केल्या आहेत त्यावर आमचें मत आम्हीं मागेंच दिलें आहे. या सुधारणांपैकी काही आम्हांस ग्राह्य आहेत व काहीं नाहीत. तथापि एकंदरीत विद्याखात्यानें ही गोष्ट बहुमताने ठरविण्यासारखी नाही, असे आमचे मत आहे. भाषेची लेखनपद्धति कशी असावयाची ही गोष्ट वैयाकरणांनीं व लोकांनीं ठरवावयाची आहे. संस्कृत भाषेची जी पद्धत ठरली ती अशाच रीतीनें होय; आणि ही पद्धत जगातील इतर कोणत्याही भाषेच्या पद्धतीपेक्षा अधिक शास्त्रीय व श्रेष्ठ आहे, हे आज पाश्चिमात्य विद्वानास व शब्दशास्त्र-कोविदासही मान्य आहे. अशा रीतीची पद्धत हिंदुस्थानांत सरकारी खात्याच्या आश्रयावाचून जर आमच्या प्राचीन विद्वानास ठरवितां आली, तर आमच्या मराठी भाषेच्या शुद्धलेखनपद्धतीस सरकारी विद्याखात्याच्या नियमनाची किंवा दवळाढवळीची काही अपेक्षा आहे, असें आम्हांस वाटत नाही. दुसरी गोष्ट अशी की, सरकारी विद्याखात्यानें अमुक एक लेखनपद्धति शुद्ध आहे असें ठरविलें तर लोकाना ती शुद्ध वाटेलच असें नाही. आणि अशा रीतीनें वैकल्पिक दोन किंवा तीन पद्धति जर अमलांत राहिल्या तर विद्याखात्यानें अमुक एक लेखनपद्धति शुद्ध असे ठरविलें तर लोकाना ती शुद्ध वाटेलच असे नाही. विद्याखात्यानें त्याचे नियमन करून तरी उपयोग काय ? साराश, मराठीतील कोणती शुद्धलेखनपद्धति ग्राह्य व कोणती अग्राह्य ह्याचा निकाल हळू हळू लोकांनींच केला पाहिजे. वैयाकरणांनीं आपलीं मते प्रसिद्ध करावीं, वादविवाद करावे, आणि अशा रीतीनें भवति न भवति व चर्चा झाली म्हणजे जी पद्धत जास्त सयुक्तिक असेल तिचाच लोकांत प्रघात पडतो. आणि इतर पद्धति लुप्तप्राय होतात. पाणिनीचे व्याकरण झाल्यानंतर मागचीं व्याकरणें लुप्त झाली, त्यातील रहस्य हेच हाय. तीं लुप्त होण्यास कोणी सरकारनें ठराव केला नव्हता अगर जाहीरनामा प्रसिद्ध केला नव्हता. मराठीसही हाच न्याय लागू आहे; व आम्हांस अशी आशा आहे की, विद्याखात्याकडून जी व्यवस्था होईल ती याच न्यायास अनुसरून होईल. भाषेची वाढ व्हावयाची ती विद्वत्तेच्या, युक्तीच्या आणि लोकमताच्या जोरावरच झाली पाहिजे; सरकारच्या जोरावर होऊन उपयोगी नाही.

परंतु आज ज्या सुधारणेसंबंधानें आम्ही लिहिणार आहों ती शुद्धलेखनपद्धतीपेक्षा निराळ्या तऱ्हेची आहे. ही जावई-सुधारणा कोणाच्या व कशी डोक्यात आली हें आम्हांस समजत नाही. पण ही सुधारणा अमलात आणण्याचा जर विद्याखात्याचा निश्चय असेल तर ती हाणून

पाडण्याचा लोक जितका प्रयत्न करतील तितका थोडाच समजला जाईल. कमिटीचें असें मत झालेले आहे कीं, अ आ इ ई इत्यादि वर्णमालेचा इल्लीं जो क्रम आहे, तो अक्षर लिहिणें व शिकविणें असल्यास गैरसोयीचा व कठीण आहे. अला आरंभी एक वांकडे वाटोळें काढून त्याचें पोट फोडून पुढें काना आणि वर ओळ काढावी एवढा खटाटोप लहान मुलास आरंभीच शिकविणें बरोबर नाही; त्यापेक्षां पहिल्यानें 'ग' हे उभ्या दोन रेखांचें सोपे अक्षर शिकविले असता मुलें ती लवकर शिकतील आणि अशा रीतीनें 'ग' झाल्यावर 'म' मग 'भ' पुढें 'र' व त्यापुढें 'ड' शिकविला म्हणजे अखेरीस विद्यार्थ्यांस 'ढ' ची ओळख करून देण्याची चांगली सोय होईल ! ज्यांनीं आपल्या डोक्यांतून ही अजब युक्ति काढली तो विद्वान् गृहस्थ पुत्र शास्त्रानभिज्ञ किंवा वैयाकरण-खसूचीच्या कोटीतील असला पाहिजे. वर्णमालेची अक्षरें शिकतांना सौलभ्य हा एकच विचार मनात आणावयाचा नाही. आमच्या वर्णमालेची रचना अशी आहे कीं, सर्व ऱ्हस्वदीर्घादि भेदाने आधीं घालून नंतर कंठ्यादि वर्गाप्रमाणें व्यजनाची रचना केलेली आहे. ही रचना इतकी पायाशुद्ध आहे कीं, युरोपियन लोकानाही पंचवांशे वर्षांपूर्वी अशी रचना आम्ही कशी केली याचें आश्चर्य वाटत आहे ! प्रो. मॅकडोनेल यांच्या संस्कृत वाङ्मयावरील ग्रंथांत त्यांनीं यासंबंधाने खाली लिहिल्याप्रमाणे मत दिले आहे:—

“ This is the alphabet which is recognised in Pānini's great Sanskrit grammar of about 4th century B. C and has remained unmodified ever since It not only represents all the sounds of the Sanskrit Language, but is arranged on the thoroughly scientific method, the simple vowels (short and long) coming first, then the diphthongs, and lastly the consonants in uniform groups, according to the organs of speech with which they are pronounced. Thus the dental Consonants appear together; as t, th, d, dh, n, and the labials as p, ph, b, bh, m. We Europeans, on the other hand, 2500 years later, and in a scientific age, still employ an alphabet which is not only inadequate to represent all the sounds of our Languages, but even preserves the random order in which Vowels and Consonants are jumbled up as they were in the Greek Adaptation of the primitive Semitic Arrangements of 3000 years ago ”

आमच्या वर्ण मालेच्या रचनेचें श्रेष्ठत्व दाखविण्यास वरील उतारा बस आहे. आधीं ग मग म आधी र मग ड अशा बेताल रीतीने इंग्रजी वर्णमालेत अक्षरें घातलेली आहेत. पण आमच्याकडे, पाणिनीच्या पूर्वीपासूनही ही गैरव्यवस्था मोडून टाकून क ख ग घ ङ अशा रीतीनें सर्व व्यंजने स्थानवार व्यवस्थित रीतीने आम्ही लाविली असून लहान मुलास पहिल्यापासून तीं याच क्रमानें

शिकविण्यांत येतात. आजपर्यंत त्याबद्दल कोणास काही अडचण वाटली नाही; व आज ३००० हजार वर्षे ही आमच्या हाडामासांत खिळली आहे. इतकेच नव्हे तर ती सशास्त्र आहे. आणि जगांतील इतर राष्ट्र ज्या वेळीं रस्त्यांतील इतर खड्यांप्रमाणे आपापल्या वर्णमालेंतील वर्ण अव्यवस्थित रीतीनें लावीत होते, त्या वेळीं आमच्या प्राचीन वैयाकरणानी ही पद्धत अमलात आणली आहे, हे वरील उताऱ्यावरून लक्षात येईल. ही पद्धत सोडून देऊन केवळ अक्षरें लिहिण्यास शिकविण्याकरितां सुलभता यावी म्हणून दुसरी पद्धत स्वीकारणें आमच्यामते अगदी अश्लाघ्य, अशास्त्रीय आणि मूर्खपणाचे होय. अक्षरें लिहिताना अव्यवस्थित रीतीनें लिहिण्यास शिकून मग क, ख, ग, घ, ङ हे वर्ण कठस्थानचे आहेत, असें व्याकरण शिकताना शिकेल तर शिकावयाचे नाही तर नाही, अशी जर सरकारी विद्यालयाते व्यवस्था करीत असेल तर हा सुधारलेला रानटीपणा होय ! इल्लीचा काळ, मॅक्डोनेल म्हणतात त्याप्रमाणें, शास्त्राचा व सुधारणेचा आहे; पूर्वीची रानटी व्यवस्था पुनः अमलात आणण्याचा नव्हे. अशा स्थितीत फार प्राचीन काळी वर्णमालेच्या रचनेत आम्ही जी सुधारणा केली व जी पाहून जगांतील विद्वान् लोक माना डोलवीत आहेत, ती एका झपाट्यासरशी काढून टाकून आधीं ग शिकवावा असें म्हणणाऱ्या लोकास स्वरोस्वरच आपल्यास ग ची बाधा झाली आहे, असें म्हणणे भाग येतें. आम्ही विद्यालयात्यास साफ कळवितों की, ही सुधारणा आम्हास नको आहे. व सरकार ही सुधारणा सक्तीने अमलात आणण्याचा विचार करील, तर आमच्या पोगाच्या कल्याणाकरतां आम्हांस तिचा हेईल तितका प्रतिकार करणे भाग पडेल. जगात आजपर्यंत झालेल्या पाच विद्वानाची जर कोणास नावें घेण्यास सांगितलें तर त्यात पाणिनीचे नाव घ्यावें लागेल, असें प्रो. ब्लूमफील्ड यानी एके ठिकाणीं म्हटलें आहे; किंबहुना युरोप आणि अमेरिका खंडात 'फायलॉलजी' म्हणून जें हल्लीं नवीन शास्त्र निघालें आहे, त्याची उत्पत्ति पाणिनीच्या व्याकरणापासून झालेली आहे. वर्णमालेंतील अक्षरें, त्याच्या उच्चारसंबंधाने स्थान व 'प्रयत्ना' भेद हे संस्कृत वैयाकरणानीं जितक्या सूक्ष्म रीतीनें ठरविले आहे, तितक्या बारीक दृष्टीनें त्याचा दुसऱ्या कोणत्याही देशात आजपर्यंत विचार झालेला नाही. इंग्रजी भाषेतील keep (कीप) या क्रियापदास भूतकालवाचक d (डी) हा प्रत्यय लागल्यानें त्याचे रूप (kept) असें का होते, याची उत्पत्ति पाणिनीच्या व्याकरणाचा युरोपांत प्रसार होण्यापूर्वी तेथें कोणासही समजलेली नव्हती ! अशा रीतीनें आमचे व्याकरण परिपूर्ण असता बुक-कमिटीतील दोन चार सामान्य माणसांनी आमच्या वर्णमालेचा क्रम बदलून तिचा खून करण्यास प्रवृत्त व्हावे, आणि विद्याखात्याने त्याला आपली मंजुरी द्यावी, हे धाडसाचे, साहसाचे आणि वेडेपणाचे चिन्ह होय. आम्हास ही गोष्ट थिलकूल मान्य नाही. आम्हास आमची पोरें वर्णमालेच्या संबंधाने तरी युरोपियन पोरप्रमाणें गाढव व्हावयास नको आहेत. किंडरगार्टनी सोंगें ज्यास

विद्येचा पिढ्यान पिढ्या कांहीं संस्कार नाही अशाकरतां आहेत; आणि तीहीं सोंगें ज्या ठिकाणीं शास्त्रीय पद्धत आहे ती उपटून टाकण्याकरतां केलेली नाहीत हें विद्याखात्यानें पक्कें लक्षात ठेविलें पाहिजे. आधीं ग शिकवूं, मग म शिकवूं, आणि अशा तऱ्हेनें सर्व वर्ण शिकल्यावर मग क, ख, ग, घ, ङ हा क्रम सांगूं नाही असें नाही; असा कदाचित् बुक-कमिटीचा आमच्या म्हणण्यावर आक्षेप निघेल. पण या आक्षेपात काही अर्थ नाही. मुलांस वर्ण-मालेची जी पहिली ओळख व्हावयाची तीच शास्त्रीय पद्धतीनें आज हजारों वर्षे आम्ही करून देत आलों आहो. त्यामुळे झोपेंत देखील आमचीं मुलें व्यजनें म्हणूं लागल्यास क, ख, ग, घ, ङ, या क्रमानें म्हणतात. ग, म, भ, र, ड, त, ह अशा अव्यवस्थित रीतीनें म्हणत नाहीत; मुलांस प्रथमतःच किंबहुना जन्मतःच असें जें शिक्षण मिळतें तें बुडवून टाकून सुधारणेच्या नावावर त्यांना गाढव बनविण्यास आम्ही साफ तयार नाही. करता बुक-कमिटीस व विद्या-खात्यास आमची आग्रहाची अशी सूचना आहे कीं, त्यांनी योजलेली वेडेपणाची सुधारणा सोडून देऊन शाळेत पहिल्यानें विद्यार्थ्यांकडून वर्णमालेचीं जीं अक्षरें पाठ करवावयाचीं तीं हल्लींच्या क्रमानेंच करवावी. अशा रीतीनें अक्षरें पाठ झाल्यावर तीं लिहिण्यास शिकविणें तेंही याच क्रमानें इष्ट आहे; तथापि एखाद्या मठ विद्यार्थ्यांस ग-च आधीं सोपा वाटत असेल तर शिकवा. पण हा नियम अपवाद आहे. कसेंही असो; वर्णमालेचा क्रम हल्लीं आहे तसाच अगदीं पहिल्या दिवसापासून शिकविला पाहिजे. एरवीं ही शास्त्रीय पद्धत त्याचे हाडीं खिळणार नाही. आम्ही म्हणतो हें सयुक्तिक आहे की नाही, याबद्दल जर्मनी, फ्रान्स, अमेरिका इकडील शब्दशास्त्रकोविदास पाहिजे तर खुशाल विचारा. आमची अशी पक्की खात्री आहे कीं, बुक-कमिटीच्या मेवराप्रमाणें ते अद्यापि सौलभ्य-वादी झालेले नाहीत; किंवा पूर्वी असल्यास प्रतिशाख्ये, अष्टाध्यायी वगैरे ग्रंथांच्या अध्ययनानें ते शास्त्रवादी झालेले आहेत. यापेक्षा आमच्या वर्णमाले-तील हल्लींच्या क्रमाच्या समर्थनार्थ जास्त काही लिहिण्याची जरूर आहे असें आम्हास वाटत नाही. बुक-कमिटीला ही नसती उठाटेव कोणी सांगितली होती कोण जाणे ? विद्याखात्यास आणि सरकारास आमची अशी विनंति आहे की, त्यांनीं हा अव्यापारेषु व्यापार एकदम बंद करावा. हिंदुस्थानात जर कोणतें शास्त्र फार प्राचीन काळापासून पूर्णतेस आले असेल तर ते व्याकरण होय; केमिस्ट्री नाही, किंवा पदार्थविज्ञानही नाही. या दुसऱ्या दोन शास्त्रात युरोपियन लोकांचें अग्रेसरत्व आम्ही कबूल करूं; पण व्याकरणाची गोष्ट अशी आहे कीं, युरोपियन लोकांनीं व विद्वानांनीं त्यात आमचेंच अग्रेसरत्व कबूल केलें आहे. अशा स्थितीत आम्हीं आमच्या वर्णमालेचा खून करून युरोपियन लोकाप्रमाणें अ, ब, क, ड, ई, (A, B, C, D, E,) अशी वर्णमालेंतील स्वरव्यंजनाची खिचडी करावयास लागावें हें आमच्या अभिमानास, शास्त्रीय ज्ञानास, परंपरेस

आणि आज हजारों वर्षे चालत आलेल्या वहिवाटीस लालनास्पद होय. बुक-कमिटीने या गोष्टीचा कांहीं विचार केला आहे असें आम्हास वाटत नाही; व अद्यापही ते आपला दुराग्रह तसाच कायम ठेवतील तर प्रकरण सरकारापुढें किंबहुना जगांतील सर्व विद्वानांपुढें माडणे आम्हास जरूर पडेल. सरतेशेवटीं महाराष्ट्रांतील लोकांसही आमची अशी सूचना आहे कीं, त्यांनीं कमिटींनी सुचविलेली ही खुळी पद्धत अमलांत आणूं नये म्हणून विद्याखात्याचे अधिकारी डायरेक्टरसाहेब याजकडे अर्ज पाठवावे. अर्ज मराठीत असले तरी चालतील; परंतु त्यात स्पष्टपणें असा उल्लेख असला पाहिजे कीं, वर्णमालेची जी ढवळाढवळ करण्याचा बुक-कमिटीचा विचार आहे, तो आम्हांस बिलकूल पसंत नाही. विद्याखात्याची योजना आमची भाषा त्रिघडविण्याकरितां झालेली नाही, हें लोकांनीं व विद्याखात्यानें नेहमीं लक्षात ठेविले पाहिजे. हा कांहीं राजकीय विषय नव्हे, कीं परकीय राज्यकर्त्यांनीं यात पडावें आज यापेक्षां जास्त कांहीं लिहित नाही; पुढील प्रकार कसा काय होतो तें पाहून मग जास्त लिहिण्याची जरूर वाटल्यास लिहूं.

* मराठी भाषेचा उत्कर्ष

सुमारे वीस दिवसापूर्वी लंडन येथील नॅशनल इंडियन असोसिएशनचे दिवाणखान्यात मिस्टर जी. के. बेथम् नावाच्या गृहस्थाने “ महाराष्ट्र सारस्वत ” ह्या विषयावर व्याख्यान दिलें. मिस्टर बेथम् हें येथील जंगलखात्यात नोकरीवर होते, त्या वेळीं त्यांनीं मराठी भाषेचा बराच अभ्यास केला असावा असें दिसतें. यांच्यासारख्यांनी स्वदेशी गेल्यावर आपल्या देशवाधवास मराठी भाषेतील ग्रंथसंग्रहाची ओळख करून देण्याचा प्रयत्न करावा, हें खरोखर अभिन्नदनीय आहे. व्याख्यानाचे वेळीं येथील माजी कौन्सिलर मिस्टर बर्डवुड अध्यक्ष असून इतर बरीच मंडळी हजर होती. अध्यक्ष व डॉ. पोलन आणि पूर्वी कैलासवासी न्यायमूर्ति रानडे यांचे बरोबर नेहमीं असणारे मिस्टर कोलासकर याची साधकवाधक भाषणें झालीं. मराठी भाषा बोलणारे एतद्देशीय गृहस्थ हल्लीं लंडन येथें बरेच असतील परंतु त्यांमध्ये मराठी भाषेवरील व्याख्यानास हजर राहून प्रसंगोपात त्यातील चुका दाखवण्याची तसदी घेणारे राजेश्री कोलासकर हें एक तरी निघाले हें त्यास भूषणावह होय. परदेशांत पाय ठेवताना स्वदेश व स्वभाषा विसरून प्रतिसाहेब बनुं पाहणाऱ्या सर्व विद्यार्थ्यांनीं राजेश्री कोलासकर याचा कित्ता गिरवण्यासारखा आहे. बेथम्साहेबांचें व्याख्यान किंवा त्यावरील कोलासकर यांची टीका हीं आज आमचे हातीं नसल्यामुळे त्यासंबंधाने कांहीं लिहितां येत नाही. व्याख्यानानंतर अध्यक्ष

बर्डबुड व डॉक्टर पोलन यांची भाषणे झालीं, त्यांत त्यांनीं हिंदुस्थानांतील इंग्रज लोक व एतद्देशीय लोक यांच्यामध्ये परिचय वाढून परस्पर सहानुभूति अधिक उत्पन्न होणे आवश्यक आहे, वगैरे आपले नेहमींचे विचार फार कळकळीने सांगितले, ते ठीकच झाले. बर्डबुडसाहेब, व पोलनसाहेब यांनीं येथे अधिकारापन्न असतांना इंग्रज व नेटिव्ह यांचे दरम्यान विशेष सख्य वाढविण्यासाठी काय प्रयत्न केले व कितीसे सख्य वाढविले हे कोणीही विचारल्यास त्यांचे समाधान करणे कठीणच पडेल. तथापि विलायतेस गेल्यावर आपल्या देशबाधवापुढे सार्विक व्याख्याने देणे व नेटिवाविषयी अंतःकरण पाझरवून दाखविणे किंवा अँग्लोइंडियन कामदारास चांगले साधते हे मात्र खरे. तरी आपण पेन्शन खात आहोंत, ते हिंदुस्थानातील शेतकऱ्यांच्या पैशातून, ही खरी खरी गोष्ट डॉ. पोलनसाहेबांनीं आपल्या देशबंधूपुढे निर्भीडपणे सांगायी ही काहीं सामान्य गोष्ट नव्हे; व या नीतिधैर्याबद्दल आपण त्यांचे अभिनंदन केले पाहिजे.

सदरहु व्याख्यानावरील चर्चेत अध्यक्षांनीं एक विचित्र सिद्धांत ठोकून दिला त्याविषयी दोन शब्द लिहून आजच्या मुख्य विषयाकडे वळूं. बर्डबुडसाहेबांचे म्हणणे असे कीं, आजमितीस मराठी भाषेची जी हीन स्थिति होत आहे त्याचे एक मुख्य कारण मराठी वर्तमानपत्राची अभिवृद्धि होय! देशी वर्तमानपत्रासंबंधाने अँग्लोइंडियन कामदारांचे प्रेम अनेक मार्गाने वेळोवेळीं व्यक्त होत असते त्यापैकीच हा एक प्रकार असला पाहिजे. वर्तमानपत्राच्या वृद्धीने भाषेची दैना होते हे तत्त्व इंग्लंड, फ्रान्स युनायटेडरॉयटस वगैरे युरोपियन व अमेरिकन राष्ट्रांनाही लागू करण्यास बर्डबुडसाहेब तयार असतील, तर इंग्रजी किंवा फ्रेंच भाषेसारखी निकृष्टस्थिति आज कोणत्याच भाषेची नाही, असे म्हणावे लागेल. देशी वर्तमानपत्रे राजद्रोही आहेत, सरकारची नालस्ती करतात, लोकास भलत्या मार्गास लावतात, आपसांत तंटे माजवतात, वगैरे अनेक प्रकारचे आक्षेप देशी पत्रावर आजपर्यंत करण्यात आले व पुढेही होतील. परंतु देशी पत्रकर्ते स्वभाषेची दैना करतात हा एक नवीनच आरोप आहे, व त्याचा आमच्या व्ययसाय बंधूंनीं अवश्य विचार केला पाहिजे. वर्तमानपत्रातील भाषेची हानि होते म्हणजे वर्तमानपत्रांतील भाषा अशुद्ध व खराब असून तीच नेहमीं लोकांच्या आगवळणी पडल्याने भाषेला वाईट वळण लागते असा अर्थ घेतला पाहिजे. बर्डबुडसाहेब येथे अधिकारापन्न असतांना कोणती मराठी वर्तमानपत्रे वाचीत असत किंवा चांगल्या पत्रातील भाषा त्यास समजत असे कीं, नाही हे कळणे मुष्कील आहे. बर्डबुडसाहेबांचा बायबल टेक्स्ट सोसायटीशी निकट संबंध असल्या कारणाने कदाचित् ज्ञानोदय, बाळबोधमेवा वगैरे चिमुकल्या पत्राचा त्यांना चांगला परिचय असेल. परंतु तेवढ्यावरून चांगल्या मराठी वर्तमानपत्रांतील भाषेने मराठी भाषा विघडत आहे असला सरसकट सिद्धान्त ठोकून देण्यास त्यांस अधिकार पोंचतो असे आमहास वाटत नाही. वस्तुतः आजमितीस

व्यवहारांतील व ग्रंथांतील मराठी भाषेत जें सौष्टव, मार्मिकपणा, भारदस्तपणा, प्रौढता, शब्दसामुग्री, वैचित्र्य, सुबोधपणा वगैरे अनेक चांगले गुण दिसतात, त्याला पुष्कळ अंशानें निबधमाला, विविधज्ञानविस्तार वगैरे मासिक पुस्तके व हल्लींची मुख्य मुख्य वर्तमानपत्रे ह्यातील लेखच कारणीभूत झाले आहेत हें कोणीही समंजस माणूस कबूल करील. कैलासवासी बाळशास्त्री जांभेकर, भाऊ महाजन, विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, गोपाळराव देशमुख, प्रो. आगरकर, हरीपंत पांडित वगैरे प्रसिद्ध लेखकांचे लेख मुख्यतः करून वर्तमानपत्रें व मासिक पुस्तकें ह्यातूनच प्रसिद्ध झाले आहेत, हे ज्यास माहीत आहे, ते बर्डवुडसाहेबांचा वरील सिध्दान्त पोरकट म्हणतील ह्यात शका नाही. वर्तमानपत्रांतील लेख बहुधा तात्पुरते व प्रासंगिक असल्यामुळे त्यांना स्वतंत्र ग्रंथाप्रमाणें चिरकालीनता कधीही येणार नाही, हें उघड आहे. तथापि इंग्लंडात डॉ. जॉनसन, डीन, स्विफ्ट, अँडिसन, स्टील, मेकॉले, ज्युनीयस कॉलरीज वगैरे प्रसिद्ध ग्रंथकारांचे सर्वमान्य लेख प्रथम वर्तमानपत्रातूनच प्रसिद्ध झाले; व येथेही चिपळूणकर, आगरकर वगैरे लेखकांनी त्याच द्वाराने स्वभाषेची सेवा केली आहे हें पाहिले तर चांगली वर्तमानपत्रें भाषावृद्धीचे व ग्रंथात्पत्तीचें एक मोठे साधन आहे हें कोणीही कबूल करील. असो. बर्डवुडसाहेबांचें मत चुकीचे असले तरी विलायतेतही मराठी भाषेबद्दल कळकळ बाळगणारे काहीं लोक आहेत ही समाधानाची गोष्ट आहे. व त्यावरून आम्हीं पुष्कळ बोध घेतला पाहिजे. बर्डवुड पोलनसाहेबासारखे विदेशी लोक मराठी भाषेविषयी जर इतकी कळकळ दाखवितात तर आमच्यातील सुशिक्षित पुढारी लोकांनी स्वभाषेची अभिवृद्धी करण्याकरितां काहींच प्रयत्न करूं नये काय, हा प्रश्न विचार करण्यासारखा आहे. बेथमसारखे इंग्रज लोक नोकरी संभाळून मराठी भाषेचा व्यासंग करितात व त्यावर यथाशक्ति व्याख्यानेही देतात. परंतु आमच्यातील सुशिक्षित लोकांस मराठी ग्रंथलेखन तर लाबच, पण वाचनही कमीपणाचे वाटतें. लहानपणापासून सर्व विषयाचें ज्ञान इंग्रजी भाषेच्याद्वारे मिळवण्याची संवय लागल्यामुळें पुढें मातृभाषा परकी व अनभ्यस्त वाटून सर्व विचार, लेखन व वाचन व व्यवहार इंग्रजीमय बनून जातात. ते इंग्रजीत फक्कड व्याख्याने किंवा सुंदर निबंध लिहितात; पण शुद्ध स्वभाषेत लहानसें पत्र लिहिण्याची किंवा पाच मिनिटें बोलण्याची पंचाईत असें सुशिक्षित लोक आमच्यामध्ये अजूनही आढळतात. ही फार शोचनीय स्थिती आहे. हा दोष हल्लींचे शिक्षणक्रमाचा असो किंवा उत्तरोत्तर वाढत जाणाऱ्या आमच्या लोकांच्या नादानपणाचा असो; परंतु जोपर्यंत मराठी भाषेचा अभिमान बाळगून सर्व दिशेने तिची अभिवृद्धी करणें आपलें कर्तव्य आहे असें महाराष्ट्रांतील सुशिक्षित लोकांस वाटत नाही तोपर्यंत महाराष्ट्र भाषा चांगल्या नावारूपास येण्याची आशा नको. हिंदुस्थानांतील

इतर प्रांतांत तेथील भाषावृद्धीविषयीं जे प्रयत्न चालले आहेत तितकेही मराठी भाषेसंबंधानें महाराष्ट्रांत नाहीत ही मोठी दुःखाची गोष्ट आहे.

जी मराठी भाषा एके काळीं महाराष्ट्रातच काय पण म्हैसूर, कर्नाटक, हैद्राबाद, गुजराथ, बडोदें, माळवा, मध्यप्रात वगैरे दूरच्या प्रांतांतूनही राजकीय भाषा म्हणून प्रचलित होती, ती आता त्या ठिकाणाहून हुसकून खुद्द महाराष्ट्रांतही परकी होऊं पहात आहे. ही गोष्ट महाराष्ट्र भाषेच्या पुत्रास अत्यंत लाजिरवाणी आहे. सरकारी बुक-कमिटी क्रमिक पुस्तकांत फेरफार करूं लागतांच “बुद्धि” म्हस्व असावी की दीर्घ असावी, ‘पाणी’ सानुसासिक कीं साधेंच लिहावें, ‘विद्वान्’ याचा पाय मोडावा की न मोडावा, वगैरे व्याकरण वाद करण्यास जी मंडळी एकदम पुढें सरसावली त्यांनाच मराठीची खरी अभिवृद्धी करण्याकरितां आजपर्यंत काय प्रयत्न केले व पुढें काय करण्यास तयार आहेत याचाही खुलासा केल्यास बरे पडेल. बंगाल्यात बंगाली बोलणारे निदान चार साडेचार कोटी लोक आहेत; तेथे शेंकडो ग्रंथ निघत आहेत; बंकिमचंद्रासारखे कादंबरीकार, रविद्रासारखे आधुनिक कवि, व हितवादीसारखी ३५।४० हजारानीं खपणारीं वर्णमानपत्रें निपजत आहेत. गुजराथी ज्ञानप्रसारक मंडळी आणि गायकवाड-प्रभृति गुजराथेंतील राजे लोक गुजराथी भाषेला आज कित्येक वर्षे उत्तेजन देत आहेत. उर्दूकरिता निदान हैद्राबादचे निजाम सरकार व अलिगड लखनौ येथील मुसलमान जारिनें खटपट करीत आहेत. हिंदी भाषेच्या अभिवृद्ध्यर्थ नागरी-प्रचारिणी-सभा नावाची संस्था बनारस येथें स्थापन होऊन भाषासेवेचे काम फार नेटाने व व्यवस्थेनें चालू आहे, आणि लवकरच सर्व हिंदुस्थानांत हिंदी भाषेचा फैलाव होईल अशी त्या सभेच्या पुरस्कर्त्यांस बळकट आशा आहे. परंतु आमच्या मराठी भाषेला मात्र कोणी वाली नाही असें दिसतें. राजकीय पाठिंबा नाही व लोकही उदासीन आहेत. थोडीबहुत वर्तमानपत्रे आहेत, त्याजवरही बडंबुड साहेबासारख्या आगळे इंडियन कामगारांचा कटाक्ष. सरकारी बुक-कमिटी आली ती श्रीपासून जपर्यंत वर्णमालेत उलटापालट व तमाम शब्दांची रूपांतरे करूं म्हणत आहे ! ख्रिस्ती मिशनरी लोक आमच्या पोरान्प्रमाणें भाषेलाही भ्रष्ट करूं पहात आहे; व सुशिक्षित मंडळींनी तर मातृभाषेस कर्धाच सोडचिठी दिली आहे ! तेव्हा विचाऱ्या महाराष्ट्र भाषेनें जावें तरी कोठे ? काव्येतिहाससंग्रह वगैरे मासिक पुस्तके आश्रयाभावामुळे बंद पडतात; ऐतिहासिक कागदपत्र लोकांचे घरांत लोळत पडले आहेत; व पेशव्यांच्या रोजनिशा सरकारी पेटांतून अजून बाहेर निघत नाहीत. दक्षिणा-प्राइज-कमिटी कामकरणाराच्या अभावामुळे मृतप्राय झाली आहे; व तिची मुलगी डेक्कन व्हरनाक्युलर ट्रा. सोसायटी ही आईच्या वळणावर जाऊं पहात आहे; आणि ठिकाठिकाणच्या वक्तृत्वसभा वक्त्यांच्या व खटपट्यांच्या टंचाईमुळे बंद पडत चालल्या आहेत. मराठी भाषेतील ग्रंथाचा संपूर्ण संग्रह करण्याचा प्रयत्न मुंबई, ठाणें वगैरे ठिकाणीं झाला

आहे. परंतु मराठी भाषेतील स्वाभाविक व ऐतिहासिक योग्यता आणि इतर भाषे-वरील प्रयत्न याचे मानानें त्यांत विशेष दम नाहीसा दिसून येते. दीड दोन कोटी लोकांच्या जन्मभाषेत हजारोपेक्षां ज्यास्ती ग्रंथ होऊं नयेत ही मोठी लाजिरवाणी गोष्ट होय. मुंबई-गुजराथी ज्ञानप्रसारक मंडळी अमदावादेस गुजराथी सभा, कलकत्यास साहित्य सभा वगैरे भाषेकरितां झटत आहे. व नागरी प्रचारिणी सभेने तर काशीस पन्नास हजारांची इमारत, टौन हॉल, ग्रंथसंग्रहालय तयार करून आतां विज्ञान-कोश म्हणून सर्व शास्त्राचा संपूर्ण हिंदी शब्दसंग्रह बनविण्याचा उपक्रम केला आहे. अशाच प्रकारचा महाराष्ट्र भाषेकरिता प्रयत्न का होऊं नये? मराठी भाषेची सर्व बाजूनें अभिवृद्धि करण्यास सतत झटणारी अशी एक कायमची संस्था महाराष्ट्रांत अवश्य झाली पाहिजे; व त्या सभेस सर्व लोकांचें पाठबळ असून चालकांनीही भाषेच्या सर्व अंगाचे योग्य परिशीलन करण्याकडे लक्ष पुरविलें पाहिजे. सरकारी बुककमिटी क्रमिक पुस्तकात ढवळाढवळ करूं लागतांच डॉ. भालचंद्र याचे दवाखान्यात काहीं शहाण्यानीं जमून नुसता कागदी गोळीबार सुरू करावा, यापेक्षां एखादी महाराष्ट्रीय सभा स्थापन होऊन तिनें महाराष्ट्र भाषेचें पूर्वापार विचारानें संशोधन करवावें, हे अधिक योग्य होणार नाही काय? मराठी भाषेतील प्राचीन व अर्वाचीन ग्रंथाचा संग्रह करणें, अप्रसिद्ध ग्रंथ प्रकाशित करणें, ऐतिहासिक लेख व कागदपत्र सुरक्षित ठिकाणीं ठेवून क्रमाक्रमानें बाहेर आणणें, महाराष्ट्र कवींची चरित्रे मिळवून प्रसिद्ध करणे, मराठी भाषेचा इतिहास करणें, मराठी भाषेचें व्याकरणदृष्ट्या व व्यावहारिकरीत्या संशोधन करविणें, आधुनिक ग्रंथकाराना उत्तेजन देणें व जेणेंकरून मराठी भाषेची योग्यता वाढेल, तिचा फैलाव हाईल व लोकांत तिची अभिरुचि ज्यास्त उत्पन्न होईल, असे सर्व बाजूनीं प्रयत्न करणें हें या सभेचें मुख्य कर्तव्य असलें पाहिजे; व त्याकरितां सभेचें मुख्य स्थान पुणें किंवा मुंबई येथेच असणे जरूर आहे. येत्या दिसेवर महिन्यात राष्ट्रीय सभेच्या निमित्ताने ठिकठिकाणची पुढारी मंडळी जमतील त्या-वेळीं या गोष्टींचा विचार होऊन काहीं व्यवस्था झाल्यास मराठी भाषेच्या भावी अभिवृद्धीचा चांगला पाया घातला असें होईल.

*पंचांगशोधन

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।

न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ॥

—कालिदास.

पंचांगशोधनासंबंधानें मुंबई येथे भरलेल्या ज्योतिषाचे सभेत जो निर्णय झाला तो गेल्या अर्की संस्कृतांत प्रसिद्ध केला आहे. हा निर्णय कोणत्या पक्षास अनुकूल व कोणत्या पक्षास प्रतिकूल आहे हें सागत बसण्यांत काहीं हाशील नाही.

* (केसरी, ता. १७ माहे जानेवारी, १९०५).

सर्व पक्षाचा सारासार विचार करून आणि मुख्यत्वेकरून दृक्प्रत्यय जेणेकरून चुकणार नाही अशा धोरणावर नवीन करणग्रथ करण्याची तत्त्वे या निर्णयात दाखल केली आहेत. तथापि, हा निर्णय संस्कृतांत असल्यामुळे त्यापासून इर्लीच्या पंचांगावर काय परिणाम घडेल याचे थोडेसे विवेचन करणे जरूर आहे; व तें आज करण्याचा आमचा विचार आहे.

सूर्य, चंद्र आणि ग्रह यांच्या गति-मानावरून काल ठरविण्याची पद्धत फार प्राचीन काळापासून चालत आलेली आहे. मनुष्यकृत शक किंवा युगे हीं जरी ठिकाटिकाणीं प्रचलित असली तरी आकाशांतील ग्रहस्थितीवरून कालाचें मान जितकें निश्चयात्मक निघते तितकें मानवी कालविभागावरून निघत नाही. यामुळें कोणत्याही देशाचे प्राचीन किंवा अर्वाचीन पंचाग घेतलें तर तें आकाशांतील चंद्र, सूर्य व ग्रह यांच्या स्थितीस धरूनच केलेले असतें असे आढळून येईल. परंतु सूर्याची, चंद्राची किंवा दुसऱ्या कोणत्या ग्रहाची नाक्षत्रिक स्थिति काल मोजण्यास साधन घेणें हें सर्वस्वी पंचागकर्त्यांच्या इच्छेवर अवलंबून असल्यामुळें पंचागात नेहमी भेद नजरेस येतो. उदाहरणार्थ वर्ष हा शब्द ध्या. सामान्य लोकांचा असा समज आहे की, वर्ष म्हणजे तीनशेंसाठ दिवस. पण हें ठोकळ-मान झाले. त्यास ज्योतिषशास्त्रात सावनवर्ष म्हणतात. याखेरीज दुसरीं वर्ष-माने पुष्कळ आहेत. सूर्य एका नक्षत्रापासून निघून त्याच नक्षत्राजवळ पुनः येण्यास जो काल लागतो त्यासही वर्षच म्हणतात. या वर्षाचें मान वास्तविक तिनशेंपासष्ट दिवस, पंधरा घटिका, बावीस पळे आणि लेपन्न विपळें आहे, व त्यास नाक्षत्र सौरवर्ष म्हणतात. परंतु याखेरीज दुसरें एक सौरवर्ष संपातापासून संपातापर्यंतचें असून संपात मागें मागें सरत असल्यामुळे त्याचें मान वरच्याहून थोडे कमी आहे. याखेरीज चंद्राचे वर्ष म्हणजे बारा चाद्रमासाचें वर्ष सुमारे तीनशें चौपन्न दिवसाचेच बसतें. तसेच गुरु दरएक राशीस एक एक वर्ष राहतो असें मानून गुरुचें वर्षही काहीं प्रसंगी मानण्याचा प्रघात आहे. या निरनिराळ्या वर्षमानानें मोजणी केली तर कालगणना निरनिराळी होते हें सागावयास नकोच. मुसलमान लोक चाद्रवर्ष मानतात, आम्ही चाद्र व नाक्षत्रसौर यांचा मेळ घालतो; आणि युरोपियन लोक इर्लीच्या काळात शुद्ध संपातसौर स्वीकारतात. यामुळें प्रत्येकाच्या कालगणनेत थोडाबहुत फेर पडून ग्रहगति सर्वांनीं एकच मानिली तरी अखेरीस कालाचे निरनिराळ्या रीतीनें केलेलें माप लौकिकांत भिन्न भिन्न दृष्टोत्पत्तीस येते.

वर जो भेद सांगितला तो निरनिराळे ग्रहांच्यागती वर्ष मोजण्यास घेतल्यामुळे झाला आहे, सबब तो काढून टाकणें शक्य नाही. पृथ्वीवरील सर्व देशातील लोकांनीं एकच प्रकारचें चाद्र किंवा सौर वर्ष घेतलें तरच हा भेद नाहीसा होणार आहे, एरव्हीं नाही. व सध्यां आपल्या पुढें तो प्रश्नही नाही. पंचागशोधनाची वेळोवेळी जी आवश्यकता वाटत आली आहे तिचे कारण

निराळेंच आहे. पृथ्वी आपल्या आसाभोंवतीं जी प्रदक्षिणा करते, व ज्यास आपण अहोरात्र असे म्हणतो, ती नेहमीं चोवीस तासात किंवा साठ घटकेत करीत नाही. सरासरीचे मध्यम मान साठ घटका आहे. या साठ घटकांचा एक दिवस धरून कालाची गति मोजण्यास आरंभ केला तर असे आढळून येतें कीं, सूर्याभोंवतीं पृथ्वी बरोबर तीनशें साठ किंवा तीनशें पासष्ट दिवसात फिरत नाही. काहीं घटकापळें अवशिष्ट राहातात. आणि तीं इतकीं सूक्ष्म अठतात कीं, हजारों वर्षे वेध घेत बसलें तरी त्यांचें मान अगदी निश्चयात्मक सागता येत नाही. पृथ्वी आपल्या आसाभोवतीं चोवीस तासात आणि सूर्याभोवतीं अमुक एक विवाक्षित पूर्ण दिवसांत जर फिरत असती तर पंचागाचा घोटाळा कधीच झाला नसता. पण पृथ्वी किंवा सूर्य हे दोन्ही इट्टी पडल्यामुळें एकाच्या गतिमानाने दुसऱ्याच्या गतिमानास बरोबर भाग जात नाही; आणि त्यामुळे प्रत्येक देशांतील विद्वानात नेहमीं तंटे व मारामारी मात्र सुरू झालेली आहे. आज सौर वर्षाचें मान तीनशेंसासष्ट दिवसाचे धरावे तर काही दिवसांनीं तें तीनशें सव्वापासष्ट दिवस आहे असे आढळून येतें; बरे तीनशें सव्वापासष्ट घटके तर पुढें आणखी काहीं दिवसांनीं तेच मान आणखी काहीं पळें व विपळे जास्त आहे असा शोध लागतो. साराश, या वर्षमानाची गति इतकी सूक्ष्म आहे की, ती वेळोवेळीं वेधाप्रमाणे निरनिराळी मानली गेली आहे. उदाहरणार्थ:—वेदागज्योतिपात नाक्षत्र सौर वर्षाचें मान तीनशे सासष्ट दिवसांचे आहे; सूर्यसिद्धातात तीनशेपासष्ट दिवस, पंधरा घटका, एकतीस पळें आणि तीस विपळें आहे; ब्रह्मसिद्धातात थाहून साडेसदुसष्ट विपळें कमी मानलेलें आहे; आणि आर्यसिद्धातात पंधरा विपळे कमी आहे. अलीकडील युरोपियन लोकांच्या शोधाप्रमाणे सूर्यसिद्धातातलें मान सुमारे आठ पळें आणि सदतीस विपळें जास्त आहे. हीं निरनिराळीं वर्षमानें जरी दरवर्षीं काही पळे आणि विपळे येवढ्याच प्रमाणाने जास्त दिसतात तरी हजारपाचशे वर्षांत या विपळांच्या घटका आणि दिवस होऊन पंचागातील वर्ष दोन, चार, दहा किंवा वीस दिवसांनेही मागे पडण्याचा संभव असतो. ही चुकी फार प्राचीन काळी लोकांच्या लक्षात आलेली आहे व त्यामुळेंच तीनशे साठ दिवसाचे ऐवजीं तीनशें पासष्ट व तीनशें पासष्टाचे ऐवजीं तीनशें सव्वापासष्ट आणि त्यांतही चूक आढळून आल्यावर त्याहून सूक्ष्म मान घेऊन पंचागे वेळोवेळीं पाश्चिमात्य राष्ट्रांतूनही सुधारलीं गेली आहेत. रोमन इतिहासांत न्यूमा आणि सीझर यांनीं पंचागाचे शोधन केले होतें आणि त्यांच्यापुढे ख्रिस्ती लोकांचे शंकराचार्य त्रेगरीसाहेब ह्यांनीं ह्यास आणखीं चालन दिलें हे इतिहासात प्रसिद्ध आहे. या सर्वांच्या पूर्वीं खाल्डिया, इजिप्त आणि परशिया या देशांतही अशाच प्रकारचें पंचागाचें संशोधन करावे लागले होते असे अलीकडील शोधांवरून समजून आले आहे. आमच्याकडील परंपरा ही अशीच आहे. वेदकालापासून तों आतापर्यंत लगध, गर्ग, पराशर, विश्वामित्र, सूर्यसिद्धातकार,

आर्यभट ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, भास्कराचार्य यांनी हीच पद्धत अंगिकारलेली आहे; आणि ज्या ज्या वेळीं जें जें ग्रहादिकांचें गतिमान ज्याच्या ज्याच्या नजरसे आलें तें तें खरें धरून त्यानें पूर्वीच्या ग्रंथात सुधारणा केली आहे. ही सुधारणा कोठें स्वतंत्ररूपाने दिली आहे व कोठें बीजसंस्काराच्या रूपाने सांगितली आहे. बीजसंस्कार म्हणजे प्राचीन एखाद्या सर्वमान्य ग्रंथातील ग्रहादिकांची गतिमाने घेऊन त्यांत अमुक एक भाग उणा किंवा अधिक करण्यास सांगणें हें होय. उदाहरणार्थ, सूर्यसिध्दान्तातलें नाक्षत्र सौर वर्षमान हल्लीं सूक्ष्म वेधानें निघालेल्या वर्षमानापेक्षां आठ पळें आणि काहीं विपळें जास्त आहे. तर हें नवें वर्षमान घ्यावे असें एकदम न म्हणतां सूर्यसिध्दान्तातलेंच वर्षमान घ्यावयाचें, पण ह्यास सुमारे आठ पळांचा बीजसंस्कार देऊन घ्यावयाचें असें म्हणण्याचा प्रचार आहे. दोहोंचा अर्थ एकच, पण एकात जी प्राचीन परंपरा दाखविली जाते ती दुसऱ्यांत दाखविली जात नाही. वर ज्या चुका दाखविल्या त्या सौरवर्षमानातल्या आहेत, परंतु सूर्याच्या गतीप्रमाणेच चंद्र, बुध, मंगळ, बृहस्पती, शुक्र आणि शनि यांच्या गतीही पूर्वीपेक्षां आतां जास्त सूक्ष्म रीतीनें समजल्या आहेत. अर्थात् पूर्वीच्या ग्रंथांवरून केलेल्या या ग्रहासंबंधीं गणितांत आणि हल्लींच्या वेधावरून ठरलेल्या गतीप्रमाणे केलेल्या गणितात चूक येते व येणार, हें उघड आहे. गतिमाने चुकली म्हणजे ग्रहणें, अस्तोदय, युती वगैरे चुकतात व ज्याकरिता पंचाग करावयाचें तो हेतु वेळोवेळीं पंचाग दुरुस्त केल्याखेरीज सिद्धीस जात नाही. पंचागशोधनाचें खरें प्रयोजन हेंच होय; व अशा रीतीनें पंचाग शुद्ध करणे अवश्य आहे असें कोणीही विचारी मनुष्य कबूल करील.

परंतु पंचागशोधन किती जरी युक्तिसिद्ध असलें तरी तें नको म्हणणारे जगांत दोन प्रकारचे लोक आहेत. एक पुराणप्रिय आणि दुसरे धर्मप्रिय. पैकी पहिल्यांचे म्हणजे पुराणप्रिय लोकांचे असें म्हणणें आहे कीं, पूर्वीच्या ऋषींनीं किंवा विद्वानांनीं सूर्यचंद्रादिकांच्या गतीचीं जीं मानें सांगितलीं तीं चुकली म्हणण्याचा नवीन लोकांस अधिकार नाही. जुनें काव्य, जुनें पुराण, जुनें वैद्यक, जुनें ज्योतिषग्रंथ, ज्यांनीं रचले ते काहीं वेडे होते काय ? त्यांनीं जी गोष्ट लिहिली ती आम्ही कधीही खोटी मानावयाचे नाही. परंतु हा आग्रह किंवा दुराग्रह फार दिवस टिकत नाही. दृष्टीस जी गोष्ट नेहमीं पडणार ती चूक म्हणून काय उपयोग ? ग्रहणें घटका दोन घटका चुकतात असें जर एकसारखें पाचपंचवीस वर्षे प्रत्ययास आलें तर चंद्रसूर्याला दोष न घेतां ज्या ग्रंथांवरून ग्रहणें वर्तवितात त्यांसच दोष देणें अधिक योग्य आहे, अशी हळूहळू खात्री होत जाते; आणि तशी खात्री झाल्यावर जुन्या ग्रंथांस चालन द्या किंवा बीजसंस्कार देऊन दुरुस्त करून घ्या असें सर्व लोक म्हणूं लागतात. सारांश, “पुराणमित्येव न साधु सर्वम्” असें जें कालिदासानें म्हटलें आहे, तें हळूहळू लोकांच्या प्रत्ययास येऊन या वर्गातील

लोकांची अखेरिस, काहीं कालानें कां होईना, पणु समजूत पटते; आणि ते शुद्ध पंचांगाचा स्वीकार करितात.

परंतु धर्मप्रिय आक्षेपकांची समजूत यांच्याइतकी लवकर पडत नाही. याचें कारण उघड आहे. धर्मशास्त्र आणि ज्योतिषशास्त्र हीं दोन अगदीं निरनिराळ्या प्रकारचीं शास्त्रे आहेत. धर्मशास्त्राचें प्रयोजन अदृष्टार्थक तर ज्योतिषशास्त्राचें प्रयोजन दृष्टार्थक आहे. आकाशात चंद्राचें किंवा सूर्याचें ग्रहण केव्हा होईल हें ज्योतिषशास्त्रांत सांगितलें असतें; व गणिताप्रमाणें ग्रहण न दिसल्यास ग्रहण खरें आणि गणित खोटें असें म्हणणें भाग पडतें. कोणी असें म्हणत नाही की, माझे गणित वेदोक्त असल्यामुळें खरे आहे, परंतु सूर्यचंद्रांच्या दाडगाईंमुळें ग्रहणात चूक झाली आहे. धर्मशास्त्राची गोष्ट याहून निराळी आहे. ज्योतिषोम केला असतां स्वर्गप्राप्ति होते, असें धर्मांत सांगितलें आहे. पण स्वर्गप्राप्ति डोळ्यांनीं दिसणारी नसल्यामुळें ज्योतिषोम आणि स्वर्गप्राप्ति यामध्ये गणित आणि ग्रहण यासारखा विरोध येऊं शकत नाही. ज्योतिषोमानें स्वर्गप्राप्ति होते हें विधान नेहमीं अबाधित व सत्य असतें. ज्योतिषाची गोष्ट तशी नाही. “ प्रत्यक्ष ज्योतिषं शास्त्रं चंद्राकौ यत्र साक्षिणौ ” असें म्हटलें आहे. म्हणजे ज्योतिषाच्या गणिताची साक्ष प्रत्यक्ष आहे, गणिताप्रमाणें जर सूर्यचंद्र आकाशांत दिसतील तर तें गणित खरें; नाही तर खोटें. साराश, धर्मशास्त्र अदृष्टफलक आहे आणि ज्योतिषी शास्त्रदृष्टफलक आहे; अर्थात् धर्मशास्त्री व ज्योतिषी यांच्या विचारसरणीची किंवा अनुमानें काढण्याची दिशा नेहमीं भिन्न असावयाची. धर्मशास्त्री वेदातील वाक्य सर्वस्वी बिनचूक आहे म्हणून म्हणणार आणि ज्योतिषी आपलें शास्त्र नवीन वेधाप्रमाणे दुरुस्त करण्यास तयार असणार. ज्योतिष आणि धर्मशास्त्र यांच्यामधील हा भेद पंचांगशोधनाच्या कार्यास प्राचीन काळापासून आड येत आला आहे व तसा तो आड येणे स्वाभाविक आहे असे वरील उपपत्तीवरून दिसून येईल.

अलीकडे युरोपियन लोकांत पंचांगाचा उपयोग धर्माकडे फारसा न होतां नौकागमनाकडे विशेष करण्यात येतो. यावरूनच त्यांच्या पंचागास “नाटिकल आल्मनाक” असें म्हणतात. परंतु प्राचीन काळां, किंवा सध्यां हिंदुस्थानातही पंचांगाचा उपयोग धर्मकृत्यें किंवा धर्मसंस्कार यांचे काल ठरविण्याच्या कामीं करीत असत व करितात. आमच्यामधील लग्न, मुंज वगैरे संस्कार, यज्ञयागादि श्रौतकर्म आणि व्रतवैकल्यादिक कार्यें काल समजल्याखेरीज करितां येत नाहीत हें सांगावयास नको. ख्रिस्ती लोकांत आणि त्यांच्यापूर्वीं इजिप्त, खाल्डिया वगैरे देशांत पंचांगाचा असाच उपयोग होत असे. म्हणजे पंचागांत दिलेल्या कालाप्रमाणेंच त्या देशातील लोक आपापलीं धर्मकृत्यें करीत. ही धर्मकृत्याची आणि पंचांगाची सांगड नेहमीं वस्तुस्थितीस धरून शुद्ध पाहिजे येवढी गोष्ट सर्वास मान्य असे. पण धर्मशास्त्रांस अदृष्टफलकमीमासेची नेहमीं संबय असल्यामुळें ते ज्योतिषी

लोकांचे सुधारणेस नेहमी आले होते, असें प्राचीन इतिहासावरून आढळून येते. पृथ्वी आपल्या आंसाभोंवती फिरते असें प्रतिपादन करणाऱ्या ग्यालिलियोचा ख्रिस्ती भटांनी केलेला छळ सुप्रसिद्धच आहे. पण पचागशोधनासंबंधानें ख्रिस्ती धर्मातील पाद्यांनी जो हटवाद माजविला होता त्याचें एक मासलेवाईक उदाहरण नुकतेच प्रसिद्ध झालेलें येथें देतों म्हणजे ख्रिस्ती धर्मशास्त्री किंवा पाद्री यांज-कडूनही पंचांगाचें शोधनास कसे अडथळे आले याची वाचकास कल्पना येईल. ख्रिस्ती धर्माप्रमाणें 'ईस्टर' हा मण फार महत्त्वाचा आहे. हा मण वास्तविक संपातानंतर पहिली जी पौर्णिमा येते तिच्यापुढें पहिल्या रविवारी पडतो. म्हणजे तो वेढां येतो हें समजण्यास वासतिक संपाताचे किंवा सूर्यगतीचें, आणि पौर्णिमेचें म्हणजे चंद्रगतीचे सूक्ष्म ज्ञान अवश्य लागतें. संपात हा बिंदु आकाशात चल आहे. करिता तत्संबंधी सूर्यगतीचे ज्ञान तर फारच सूक्ष्म असावें लागतें. परंतु प्राचीनकालीं हीं मानें सूक्ष्म रीतीनें माहीत नव्हतीं. अशा वेळीं म्हणजे सुमारें इसवी सन तीनशेंपंचवीस सालीं निशाय येथे भरलेल्या ख्रिस्ती धर्माध्यक्षांच्या सभेनें त्या वेळीं प्रचलित असलेलें चाद्र व सौरमान घेऊन ईस्टरच्या सणाचे गणित अमुक प्रकारें करावें असे ठरविलें. पाद्याच्या सभेचा हा निर्णय त्या वेळच्या ज्योतिषाचे ज्ञानाप्रमाणें बरोबर होता; पण पुढे असें आढळून आलें कीं, या पाद्रीसभेनें स्वीकारलेलें चाद्रमान आणि सौरमान ही दोन्हीही चुकीची आहेत. पाद्रीसभेनें स्वीकारलेल्या सौरमानात दरवर्षी सुमारें अकरा मिनिटांची चूक होती. त्यामुळें सुमारें एकशे अष्टावीस वर्षांत एक दिवस या मानानें वसतसंपात पाद्याच्या सभेने ठरविलेल्या दिवसापूर्वी पडूं लागला; आणि पौर्णिमा ही तीनशें दहा वर्षांनीं एक दिवस माग येऊं लागली. अर्थात् पाद्याच्या सभेनें ठरविल्याप्रमाणे गणिताप्रमाणें काढलेला ईस्टर आणि खरा ईस्टर यामध्ये अंतर पडूं लागलें; आणि हळू हळू पाद्याच्या गणितावरून आलेली पौर्णिमा आणि खरोखरीची पौर्णिमा यामध्ये इसवी सन बाराशेंच्या सुमारास तीन दिवसांचें अंतर पडूं लागलें. म्हणजे गणिताप्रमाणें जी पौर्णिमा यावयाची त्या पूर्वीचे तीन दिवस आकाशांत वास्तविक पौर्णिमा होऊं लागली. अशा रीतीनें पौर्णिमेंत फेर पडल्यावर मग ईस्टरच्या सणात फेर पडणारच व पडला. तेव्हां लोक पाद्यास विचारूं लागले कीं, "असें का व्हावें? निशाय येथे पाद्यांच्या सभेंत ख्रिस्तीधर्मशास्त्राप्रमाणें जो निर्णय झाला तो का चुकावा?" ख्रिस्ती भटास या प्रश्नाचे उत्तर देणे अवश्य होतें. निशाय येथील धर्मपरिषदेच्या निर्णयास दोष देण्याची कोणाही ख्रिस्तीभटाची छाती होईना. तेव्हा एकाने अशी युक्ति काढली कीं, सूर्यचंद्राच्या गतीत जे हें अंतर पडलें आहे हे मनुष्यांच्या पापामुळें पडले आहे; कांहीं वर्षे लोटलीं म्हणजे चंद्रसूर्य शिवाय येथील धर्मसभेच्या आज्ञापत्राप्रमाणें चालूं लागतील! पण ही कल्पना मास्टर कॉन्ग्रेड यास पसंत पडली नाहीं. हे ख्रिस्ति-

धर्माध्यक्ष इसवी सन बाराशें सालीं लिहिलेल्या आपल्या ग्रंथांत असें म्हणतात कीं, गणितानें आलेल्या पौर्णिमेत आणि प्रत्यक्ष पौर्णिमेला तीन दिवसांची जी चूक पडते तीच बरोबर आहे ! कारण ख्रिस्तीधर्माप्रमाणे जग निर्माण झाल्यानंतर चौथ्या दिवशीं देवानें सूर्यचंद्र निर्माण केले; आणि त्यानंतर तीन दिवसांनीं म्हणजे सातव्या दिवशीं पहिला मनुष्य आडॉम हा निर्माण केला. गरीब बिचाऱ्या आडॉमास देवाचें हें कृत्य काय ठाऊक ! त्यानें आपल्या पहिल्याच रात्रीं आकाशात पाहिलें आणि तेव्हां त्यास जो चंद्र दिसला त्यासच तो पूर्ण चंद्र म्हणू लागला. परंतु वास्तविक तो तृतीयेचा चंद्र होता, कारण देवानें चंद्र पृथ्वीच तीन दिवस निर्माण केला होता. गणितानें आलेल्या पौर्णिमेत आणि वास्तविक पौर्णिमेत तीन दिवसांचे अंतर पडतें तें याचमुळे होय; आणि आपल्या परमपूज्य मूळ पुरुषाने जी ही चूक केली ती चूक असली तरी त्याच्या वंशजानी तशीच पुढे चालविणे हे त्याचे पवित्र व धार्मिक कर्तव्य होय ! कॉन्ग्रेड् भटजीची ही कल्पना काही वेळ लोकास बरी वाटली; पण तिचा खोटेपणा पुढे लौकरच दिसून आला. आणि सर्व ख्रिस्ती भटास नवीन वेधानें उपलब्ध झालेलीं सूर्यचंद्राच्या गतीचीं माने स्वीकारावीं लागलीं. सुमारे सात आठशें वर्षांपूर्वीं युरोपात ख्रिस्ती भटानीं हा जो धुमाकूळ माजविला होता तो लक्षांत आणला म्हणजे धर्मशास्त्र्याकडून ज्योतिषाचे सुधारणेंत कसा अडथळा येतो याचें स्वरूप वाचकाच्या लक्षात येईल. आमच्याकडे याच सुमारास यवनाकडून ज्योतिष शिकल्याबद्दल भास्कराचार्यांस बहिष्कृत ठेविलें होतें, अशी दंतकथा आहे. तथापि, कॉन्ग्रेड् भटजीवर आमच्यापैकीं कोणीही ताण केल्याचें दिसून येत नाही. असे; आजचा लेख लाबल्यामुळे याचा बाकीचा भाग पुढील खेपेवर टाकणे भाग आहे.

* पंचांगशोधन.

* नंबर २.

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।

न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ॥

—कालिदास.

पंचांगशोधन म्हणजे काय, त्याची आवश्यकता कशी उत्पन्न होते, आणि त्यास वेळोवेळीं विरोध कोणाकडून येतो; याचे थोडक्यात गेल्या अंकीं निदर्शन केले आहे. आजच्या अंकात मुंबईस भरलेल्या ज्योतिषाचे परिपदेत जो निर्णय

* (केसरी, ता. २४ माहे जानेवारी १९०५)

झाला त्याचा थोडाबहुत खुलासा करून या विषयावरील आमचा लेख आम्ही संपविणार आहो.

सूर्यचंद्रादिक ग्रहांच्या गतीचे ज्ञान उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म होत असते, व त्यामुळे पंचागातील वर्षमान वेळोवेळी सुधारून घेऊन पंचांग दुरुस्त करणे अवश्य आहे, येवढे शास्त्रदृष्ट्या निर्बिवाद आहे. परंतु याखेरीज पंचांग-शोधनाची दुसरीही एक व्यावहारिक बाजू आहे. प्राचीन काळीं हिंदुस्थान म्हणजे छपन्न देशांचे एक मांटे खंडच होते असे म्हटले तरी चालेल. अशा स्थितीत निरनिराळ्या प्रांतातील ज्योतिषांनी वेध घेऊन पूर्व ग्रंथातल्या ज्या चुका दाखविल्या किंवा दुरुस्त केल्या, त्या फक्त त्या त्या प्रांतातच अमलात आल्या आहेत. उदाहरणार्थ, आमच्या इकड ग्रहलाघवावरून पंचांग तयार करतात तर इतर देशात करणप्रकाश, करणकुतूहल वगैरे ग्रंथ प्रमाण धरतात. कै. दीक्षित यांनी असे लिहिले आहे की, हल्ली हिंदुस्थानच्या सुमारे पाचप्रष्टाश भागात साप्रतच्या सूर्यसिद्धान्ताचे वर्षमान घेतात. मारवाडात ब्रह्मपक्षाचे, द्रावीड आणि मलबार यांत आर्यपक्षाचे आणि काश्मिरात मूल सूर्यसिद्धान्ताचे घेतात. निरनिराळ्या प्रांतातील पंचागात तिथीचा वगैरे जो भेद पडतो त्याचे कारण हेच होय. आमच्याकडील अर्वाचीन ज्योतिषांनी जुन्या ज्योतिष ग्रंथातील चुका दाखविल्या नाहीत असे नाही. आर्यभट्टापासून तो गणेश दैवज्ञापक सर्वांनी आपापल्या परीने ग्रहग्रंतींचीं माने शुद्ध करण्याचा प्रयत्न केला आहे; पण कोणताही एक ग्रंथ सर्व हिंदुस्थान देशभर एकसारखा प्रचारात आलेला दिसत नाही. त्यामुळे हल्ली जी पंचांग-सुधारणा करावयाची ती दोन गोष्टीत व्हावयास पाहिजे आहे. पहिली गोष्ट अशी की, अलीकडील सुधारलेल्या ग्रंथाच्या साहाय्याने जे सूक्ष्म वेध घेतां घेतात, त्यावरून समजलेली ग्रहग्रंतीची सूक्ष्म माने घेऊन पंचांग तयार करावयाचे किंवा नाही. दुसरी गोष्ट अशी की, अशा तऱ्हेने पंचांग करावे असें टरल्यास त्याचा बंगाल, पंजाब, नागपूर, राजपुताना, काशी, गुजराथ, महाराष्ट्र, द्राविड, तेलंगण वगैरे हिंदुस्थानांतील सर्व प्रांतात प्रसार होण्यास काय युक्ति करावी. युरोपियन लोकानीं केलेले शोध व वेध इकडील लोकांस आज बरीच वर्षे माहीत झालेले आहेत, व काशीचे बापुदेव शास्त्री, मद्रासचे रघुनाथाचार्य किंवा आमच्या पुण्याचे केरुनाना यांच्यासारख्या गृहस्थानीं नवीन वेधाचा खरेपणा कित्येक वर्षे स्वतः अनुभवून पाहून त्याप्रमाणे नवीन सुधारलेली पंचांगे आपापल्या प्रांतात प्रसिद्ध केलेली आहेत. मद्रास इलाख्यांतील तिरुवादीचे सुंदरेश्वर श्रौनि आणि काशीचे हल्लीचे महामहोपाध्याय सुधाकरशास्त्री यांची अशा रीतीनें केलेली पंचांगेही हल्लीं काहीं ठिकाणीं प्रचारांत आहेत. यापैकी प्रत्येक पंचांगकाराची जुन्या ग्रंथास चालनें देण्यासंबंधाची कल्पना निरनिराळी आहे. सर्वांचा कटाक्ष दृक्-प्रत्ययावर आहे खरा, पण जुने ग्रंथ जमेस धरून दृक्-प्रत्यय कसा साधावा याबद्दल त्यांचीं मते भिन्न भिन्न आहेत. सारांश, केरोपंत, बापुदेवशास्त्री, रघुनाथाचार्य वगैरे महा-

विद्वान् ज्योतिषांनीं हिंदुस्थानच्या निरनिराळ्या भागांत पंचांग शोधनाकरितां आज पंचवीस तीस वर्षे जरी प्रयत्न केले होते तरी देशातील लोकांच्या तत्कालीन स्थितीप्रमाणें हे सर्व प्रयत्न एकदेशीय राहून त्यांची एकवाक्यता झालेली नव्हती.

अशा वेळीं जी मुंबईस पंचांगशोधन कमिटी स्थापन झाली तिचें कर्तव्य दोन प्रकारचे होते. केरोपताच्या कालापासून म्हणजे सुमारे गेल्या चाळीसपन्नास वर्षांत ग्रहलाघवासारख्या जुन्या करणग्रंथावरून केलेले पंचांग चुकतें अशी सामान्य जनांची सुद्धां आतां खात्री झालेली आहे. हा प्रभाव कालाचा आणि केरोपंत, बापुदेवशास्त्री वगैरे ज्या मोठ्या विद्वानांनीं या कार्यास पहिल्यानें सुरुवात केली त्यांच्या उद्योगाचा आहे. अर्थात् जुन्या करणग्रंथात दुरुस्ती केली पाहिजे. या-बद्दल आता कोणाचाही फारसा मतभेद नाही; व एका महाराष्ट्रपुरताच जर विचार करावयाचा असता तर केतकीसारखा एखादा नवा करणग्रंथ लौकर प्रचारांत आला असता. परंतु मुंबईच्या कमिटीची उमेद याहून जास्त व्यापक आहे. हल्लीच्या दिवसात राष्ट्रीयत्वाच्या कल्पनेचा प्रसार अधिक जोराने होत चालला आहे. हिमालयापासून सेतुबधापर्यंत व सिंधुनदापासून ब्रह्मपुत्रा किंवा इराबतीपर्यंत इंग्रजसरकारचा अंमल अबाधित स्थापन झालेला आहे. आणि ह्या बरोबरच या सर्व देशाकरिता एकच दिवाणी किंवा फौजदारी कायदा अथवा पिनल कोड सरकारनें प्रचारात आणलेले आहे; व देशातील वजनें, मापें, नाणें वगैरेही एक करण्याचा प्रयत्न चालू आहे. अशा स्थितींत देशातील सर्व हिंदु लोकांचे पंचांगही का एक असू नये, असा प्रश्न सहजच उद्भवतो. वास्तविक म्हटलें म्हणजे हा प्रश्न ज्यूलियस सीझरप्रमाणें लॉर्ड कर्झनसारख्या व्हाइसरायाने हातात ध्यावयास पाहिजे. परंतु आमचे सरकार परकीय पडल्यामुळें आणि पंचांगाचा धर्माशी संबंध असल्यामुळें ही गोष्ट कोणाही व्हाइसरयास करितां येत नाही; शिवाय:—

अप्रैल सप्तंबर जून आणि
नोव्हेंबरा नित्य तशीच जाणि ।
तैसाचि अष्टाविशि फेब्रवारी
एकाधिकी तीस दुजें प्रचारी ॥

हें इंग्रजांचें पंचांग ह्यानी सर्वत्र सुरू केले असल्यामुळे त्यास सर्व हिंदु लोकांचें हिंदुस्थानात एक पंचांग झालें काय आणि न झाले काय सारखेच. पोप ग्रे-गरीच्या वेळात युरोपात वर लिहिलेल्या इंग्रजी पंचांगात जी सुधारणा झाली, व जी अमलात आणण्याकरिता दहा दिवसाचा एकदम क्षय करावा लागला, तेव्हां लोकानी काहीं ठिकाणी दंगे व मारामाच्या केल्या, आणि युरोपांतल्या काहीं राष्ट्रांनीं तर (विशेषकरून सुधारलेल्या प्रॉटेस्टंट राष्ट्रांनीं) पुढें कित्येक वर्षे हें पंचांग स्वीकारण्याचें नाकबूल केलें; आणि रशियाने अद्यापही ते घेतलें

नाही!! ही गोष्ट लक्षात आणली म्हणजे या पंचांग सुधारण्याच्या कामांत परकीय लोकांना न पडणेंच बरे असे कोणाही इंग्रजी मुत्सद्दयास वाटणें स्वाभाविक आहे. अर्थात् हे हिंदु धर्मगुरूं, हिंदुराजेरजवाड्यांनीं आणि सर्व प्रांतातील प्रतिष्ठित पुढारी आणि विद्वान् गृहस्थानीच हातात घेतलें पाहिजे होतें. मुंबईस स्थापन झालेल्या पंचांग-कमिटीचा प्रयत्न याच दिशेनें झालेला आहे. राजेरजवाड्याकडून साह्य मिळण्याकरिता या कमिटीने खटपट केली आहे व करीत आहे; व बडोदें, ग्वाल्हेर, कोल्हापूर, कुसुदवाड, जयपूर, काठेवाड, वगैरे ठिकाणच्या संस्थानिकांकडून मदत व साह्य कमिटीस मिळाले आहे. यानंतरचा उद्योग म्हटला म्हणजे हल्लीं प्रचलित असलेल्या कॉंग्रेसच्या किंवा कॉन्फरन्सच्या पद्धतीवर हिंदुस्थानातील ठिकाणच्या प्रमुख ज्योतिषाची एक मोठी परिषद भरवून या विषयासंबंधानें एकमत्य करणे हा होय. मुंबईस गेल्या डिसेंबरांत ज्योतिषी लोकाची जी परिषद भरली ती याचकरिता होती, व तिचे काम चागल्या रीतीनें सिद्धीस गेलें ही समाधानकारक गोष्ट आहे. हें काम पुढें अशाच रीतीनें चालल्यास पंचागाची सुधारणा वर सांगितलेल्या दोन्हीही प्रकारानें लौकरच घडून येईल अशी आम्हास उमेद आहे.

आतां या परिपदेत जे ठराव झाले आहेत त्याच्याकडे वळूं. परिपदेपुढे पहिला प्रश्न म्हटला म्हणजे सूर्यचंद्रादि ग्रहांच्या गतिमानासंबंधाचा होता. वर आम्ही सांगितलेच आहे कीं, ही गतिमानें उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मतेनें उपलब्ध होत आली आहेत. असा कोणताही जुना सिद्धांत नाही कीं ज्यातलें सौरवर्षमान हल्लींच्या सूक्ष्म वेधोपलब्ध मानाशी तंतोतंत जुळतो. सूर्यसिद्धांत ध्या, सिद्धांत शिरोमणी ध्या, किंवा दुसरा कोणताही सिद्धांत ध्या, त्यांतील सौरमान बीजसंस्काराखेरीज सूक्ष्म पंचागास घेता यावयाचे नाही. सर्व सिद्धांतांत सूर्यसिद्धांत प्राचीन आहे, आणि त्यातील सौरवर्षमानही हल्लींच्या सूक्ष्म वेधानें उपलब्ध झालेल्या मानाशीं अधिक जवळ आहे. तेव्हा वापुदेवशास्त्री यानीं पंचागांत अशी योजना केलेली आहे कीं, सूर्यसिद्धांतातील सौरमान घेऊन त्याप्रमाणें गणित करावयाचें; पण सूर्यसायन करिताना अयनगति मात्र दरसाल अष्टावन विकला ध्यावयाची. ही अयनगति वास्तविक अयनगतीपेक्षा सुमारे आठविकला जास्त असल्यामुळे सूर्यसिद्धांतांतील सौरमानाची आठ पळांची चूक वजाबाकीत निघून जाते; आणि सायनसूर्य बरोबर येतो. पण ही अष्टावन विकलाची अयनगति इतर ठिकाणीं जास्त होते; करितां इतरत्र ती वेधाप्रमाणें बीजसंस्कृत ध्यावी, आणि सौरवर्षमानापुरती अष्टावन विकला ध्यावी असा पहिल्या दोन ठरवांचा अर्थ आहे. चंद्र आणि इतर ग्रहांच्या गतीचीं माने कोणत्याही सिद्धांतातलींच मानें घेतली तरी त्यांस वेधाप्रमाणें लागेल तो बीजसंस्कार द्यावा असा या परिषदेनें ठराव केला आहे. साराश, सूर्य, चंद्र इतर ग्रह किंवा अयनगति यांचीं मानें सांप्रतच्या सूक्ष्म वेधानें जेव्हा जेव्हां जशीं जशीं उपलब्ध होतील तशीं तशीं तीं घेत जावीं, असें या परिषदेत स्पष्ट ठरलें आहे याबद्दल कोणाचाही मतभेद नाही.

रा. रा. केतकर यानीं नवीन करणग्रंथ केलेला असल्यामुळे त्याची सही या ठरावावर नाही व घेणेही प्रशस्त नव्हतें. पण वरील सिध्दान्त, म्हणजे वेधानें उपलब्ध झालेलीं सूक्ष्म मानेंच घेतली पाहिजेत हा केतकी, केरोपंती, किंवा बापु-देवशास्त्री वगैरे सवे पक्षास मान्य असला पाहिजे व आहे. परिपदेचें म्हणणें एवढेच आहे कीं, सूर्यसिध्दान्त सर्व मान्य असल्यामुळे प्राचीन पद्धतीप्रमाणें त्यातील ग्रहगतीचीं मानें आरंभी घेऊन त्यांस दृक्प्रत्ययाकरितां अवश्य लागेल तो बीजसंस्कार करून मग पंचाग तयार करावे. तात्पर्य, बापुदेवशास्त्री, केरोपंत, रघुनाथाचार्य वगैरे आज कित्येक वर्षे ज्याकरिता प्रयत्न करीत होते, तीच गोष्ट या परिपदेत मंजूर झालेली आहे, व याप्रमाणे जें पंचाग तयार होईल त्यांतील ग्रहण, अस्तोदय, युति, तिथी वगैरे नेहर्मा दृक्प्रत्ययास बरोबर येत जातील यात बिलकूल शका नाही. सूर्यसिध्दान्त मूलभूत घेतल्याकारणानें पंचाग तयार करण्याच्या रीती एरव्हीं जितक्या सोप्या करता आल्या असत्या तितक्या व्हाव-याच्या नाहीत. पण पूर्वपरंपरा राखावयाची असल्यास केवळ सौकर्याकडे लक्ष देऊन उपयोग नाही हे ध्यानात ठेविलें पाहिजे. परिपदेपुढें दुसरा मोठा प्रश्न म्हणजे अयनाशाचा होता. केरोपंती पंचागात अयनांश अठरा धरले आहेत; पण याखेरीज इतर पंचागांत ते बावीसतेवीसांच्या जवळ जवळ आहेत, अय-नांश निराळे मानले म्हणजे अधिक महिन्यांत आणि संक्रातींत भेद पडतो. बापुदेवशास्त्री व केरोपंत हे दोघेही सूक्ष्म गणितानेच पंचाग तयार करीत असतात. तथापि त्यांच्या पंचांगातील अधिकमासांत जो भेद पडतो त्यांचे कारण त्यांनीं मानलेले निरनिराळे अयनाश हें होय. सामान्य जनांच्या दृष्टीनें पाहिलें म्हणजे निरनिराळ्या पंचागात निरनिराळे अधिक मान असणें हा गणि-ताचा मोठा दोष आहे असें समजतात. पण खरी स्थिति तशी नाही. हा भेद गणितानें नव्हे तर अयनाश निरनिराळे मानल्यामुळे होत असतो. आणि तो टाळण्याकरिता सर्व हिंदुस्थानभर एक अयनाश मानणे हाच उपाय होय. आतां अयनाश अठरा मानावें किंवा बीस मानावें या प्रश्नाचा निकाल वादविवादाने होणें अशक्य आहे. प्रत्येक बाजूला निरनिराळी युक्ति आहे. बरे गणिताच्या मानाने पाहिले तर आरंभस्थान निश्चल असावें एवढेच काय तें जरूर आहे; मग तें दोन चार अंश मागे असो वा पुढे असो. कै. केरोपंताचा कटाक्ष हें स्थान निश्चल मानण्याकडे जितका होता तितका अठराअंशाच्या अंतरावरच मानण्या-कडे होता असे आम्हांस वाटत नाही. त्यांच्या युक्तिवादानें अठराअंश सिद्ध होतात; पण “ ग्रहगतीचीं माने तुमच्याप्रमाणेंच आम्ही शुद्ध घेतो, अयनाश मात्र सर्व हिंदुस्थानात प्रचलित आहेत त्याप्रमाणेंच बावीसपासून तेवीसपर्यंत झोणते तरी सर्व हिंदुस्थानभर एकच कायमचें घेतों, ” असे जर कोणी केरोपंतास म्हटलें असतें तर त्यांनीं ती गोष्ट नाकबूल केली असती असें आम्हांस वाटत राहिलें. सारांश, मुंबईच्या परिपदेत आरंभस्थान निश्चल मानून अयनाश बावीस

आणि तेवीस यामधले कोणते तरी कायम करावे, असा जो ठराव झाला आहे, तो सयुक्तिक आणि अधिकमासासंबंधानें ऐक्यमत हांप्यास उपयुक्त आहे. उजनीची मध्येखा ध्यावी, नक्षत्रें सत्तावीस आणि अष्टावीस (अभिजित् धरून) अशीं दोन्ही प्रकारें फलग्रथाकरिता दाखवावीं, आणि तिथिमान कोणास पाहिजे तर स्थूल कसे करावें, हेंही नव्या करणग्रंथात सांगितलेलें असावे, असे आणखी तीन ठराव या परिषदेत झालेले आहेत. पण ते वरच्याहून कमी महत्त्वाचे आहेत. सायन-निरयन-वादासंबंधाने परिषदेत असा निर्णय झाला आहे कीं, हर्षीप्रमाणेंच महिने निरयण धरावे, परंतु पंचागांत सायन आणि निरयण संक्रातीशास्त्रार्थाच्या सदराखालीं ध्यावा. निरयणानें ऋतु चुकतात आणि सायनवाद्यांचा जो आक्षेप आहे त्याचाही या परिषदेत विचार होऊन उत्तरायण व दक्षिणायन यांचे आरभ-सूर्य प्रत्यक्ष उत्तरेकडे किंवा दक्षिणेकडे वळेल तेव्हा लिहावें, असे ठरलें आहे. यामुळें अयन बहात्तरवर्षांनीं एकेक दिवस मागें येत जाईल; पण स्थिर नक्षत्रें सोडून देण्यापेक्षा ही पद्धत परंपरागत असल्यामुळे आणि शास्त्रदृष्ट्याही अधिक ग्राह्य होय.

साराश, परिषदेनें जो निर्णय केला आहे तो पुष्कळ अंशी केतकरांच्या चित्रापक्षास व कै. दीक्षित यांनी भारतीय ज्योतिषशास्त्राच्या इतिहासात पंचांग-शोधन सदराखालीं जो “ तिसरा पक्ष ” सांगितला आहे, त्यास धरून आहे. बापूदेवशास्त्र्यांची सौर वर्षमानाची रीति घेतली आहे; पण त्यानी घेतलेल्या अयनगतीस वेधानें जरूर लागेल त्याप्रमाणें बीजसंस्कार ध्यावा, असें ठरविले आहे. केरोपंती पक्षाचे अयनाश कबूल झाले नाहीत, पण ग्रहगतिमानें कबूल झाली आहेत. सूर्यसिद्धांतांतली ग्रहगतिमाने मूलभूत धरलीं आहेत, पण आता तीं बीजसंस्कृत ध्यावीं असें ठरविले आहे; आणि अयनाश पूर्वीच्या सिद्धांतातील व करणग्रंथातीलच घेतले आहेत. सायनवाद्यांचे महिने घेतले नाहीत; पण अयन आणि ऋतु हे मागें मागे जातात ही गोष्ट कबूल केलेली आहे. तात्पर्य, परिषदेचा निर्णय कोणत्याही एका पक्षास जरी सर्वांशीं अनुकूल नसला तरी तो सर्वांनीं प्राजलबुद्धीनें स्वीकारण्यास हरकत नाही. या ठरावाप्रमाणें नवीन करण-ग्रंथ तयार होऊन सर्व हिंदुस्थानभर जर नवे पंचांग सुरू झालें, तर आम्ही आज एक मोठी गोष्टच मिळविल्यासारखे होईल; आणि ही गोष्ट पदरांत पडल्यावर मग पाहिजे तर दुसऱ्या काही गोष्टींचा विचार करितां येईल. यासाठी सर्वांस आमची अशी विनंति आहे की, त्यांनीं परिषदेचा ठराव अमलात आणण्यास आपल्या हातून होईल तितकें साहाय्य करावें.

*महाभारत

धर्मं अर्थं च कामे च मोक्ष च भरतर्षभ ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

देशातील थोर प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषांचें उदात्त चरित्र लोकास सागून त्यांच्या वंशजात शौर्य, अभिमान, सत्यनिष्ठा, धर्मबुद्धि वगैरे अनेक सद्गुण जागृत करणारे प्राचीन काव्य जेथें जेथें उपलब्ध आहे तेथें तेथें ते राष्ट्रीयत्वाचें प्रधान अंग मानलें गेलें आहे. होमरचे इलियड हे एक पाश्चिमात्य राष्ट्रांमध्ये अशा प्रकारचें काव्य समजतात; परंतु खरें म्हटलें म्हणजे जुन्या ग्रीस देशातील लोकाना जी त्याची किंमत होती ती हल्लीच्या युरोपातील ख्रिस्तधर्मीय राष्ट्रास राहिली नाही. जुन्या रोमन लोकामध्येही इलियड हें काव्य ह्याच वर्गातलें मानीत असत. राष्ट्राचा अभ्युदय होण्यास अनेक कारणें लागतात हे निर्विवाद आहे. पण राष्ट्रांतील सर्व लोकास एकसमयावच्छेदेंकरून आनंद, ज्ञान, ईर्ष्या किंवा उत्साह देणारे प्राचीन महाकाव्यासारखें दुसरे साधन मिळणे कठिण आहे. अशा काव्यास इंग्रजीत 'एपिक' काव्य असें म्हणतात. 'एपिक' या इंग्रजी शब्दाचें वीररस प्रधान-काव्य किंवा वीरकाव्य असे कित्येक भाषांतर करतात, पण आमच्या मते हे भाषांतर बरोबर नाही. जुना सांप्रदाय पाहिला असता अशा प्रकारच्या ग्रंथास महाकाव्य अशीच संज्ञा दिलेली आहे; आणि कालिदासादिक कवींनीं केलेल्या काव्यांपासून त्याचा भेद दाखविण्याकरिता त्याच्यामागे 'आर्ष' हें विशेषण लावलेलें आढळते. आर्ष महाकाव्यात कोणकोणते गुण असावे ह्याबद्दल पुढें विवेचन येईलच. सध्या एवढेंच सांगणें आहे कीं, इंग्रजीत ज्यास 'एपिक' काव्य म्हणतात त्याचा अर्थ संस्कृतांत अगर मराठीत 'आर्ष-महाकाव्य' या शब्दांनींच चागला व्यक्त होतो; इतकेंच नव्हे तर ही संज्ञा प्राचीन असल्यामुळें रामायण किंवा महाभारत ही जीं आर्य लोकांचीं दोन मोठीं 'एपिक' काव्ये आहेत त्यास ती अधिक अन्वर्थक रीतीने लागू पडते. खुद्द महाभारतात पाहिल्या अध्यायांतच 'यश्चैनं शृणुया नित्यं आर्षश्रद्धा समन्वितः' असा आर्ष या पदाने महाभारताचा उल्लेख केलेला आहे, व वाल्मीकींनींही अशाच रीतीने आपल्या काव्यास 'आर्ष' म्हटलें आहे. हरिवंशात जेथें महाभारताचें वर्णन आलें आहे तेथेंही 'इदं महा काव्यं ऋषेर्महात्मनः' अशी पदें आहेत. यावरून आमच्या देशांतील महाभारत आणि रामायण ही जीं दोन राष्ट्रीय महाकाव्ये यास पाहिल्यापासून 'आर्ष-महाकाव्य' म्हणण्याचा परिपाठ आहे असें दिसून येतें; व हाच परिपाठ कायम ठेवून 'एपिक पोएम' या इंग्रजी शब्दांकरितां 'आर्ष-महाकाव्य' हा शब्द आम्ही या लेखांत वापरणार आहोंत.

'एपिक पोएट्री' याअर्थी मराठीत किंवा संस्कृतात कोणचा शब्द

योजावा हा विचार आज सुचण्याचें कारण ग्वालर संस्थानचे चीफ जज राव-बहादुर चिंतामण विनायक वैद्य, एम्. ए., एल्.एल्. बी. यांनीं नुकतेंच प्रसिद्ध केलेलें " Mahabharata a criticism " किंवा महाभारताचें परीक्षण हें पुस्तक होय, ही गोष्ट सर्व प्रसिद्ध आहे. ज्यानें महाभारत ऐकिलें नाहीं तो कितीही विद्वान् असला तरी फुकट, असा खुद्द महाभारतांत श्लोक आहे. धर्म, अर्थ, काम आणि मोक्ष असे जे चार पुरुषार्थ आमच्या शास्त्रकर्त्यांनीं सांगितले आहेत त्या सर्वांचें विवेचन महाभारतांत आहे. महाभारतांत आहे तें इतर ठिकाणीं आहे, पण महाभारतांत नाहीं तें कोठेंही नाहीं अशी जी व्यासांची प्रतिज्ञा आहे ती शिरोलेखांत नमूद केलेलीच आहे. महाभारत हा ग्रंथ पुण्य आहे, पवित्र आहे, नाना प्रकारच्या प्राचीन अ त कथांनीं, ऐतिहासिक गोष्टींनीं, शूर आणि धर्मनिष्ठ पुरुषांच्या चरित्रांनीं भरलेला आहे. त्यांत नीति आहे, धर्म आहे व व्यवहारांत प्रत्येक मनुष्यास जे अनेक तऱ्हेचे प्रसंग येतात यांचें त्यात वर्णन असून त्या प्रसंगां प्रत्येकानें आपलें वर्तन कसें ठेवावें, याचाही सशास्त्र विचार त्यात केला आहे. प्राचीन भूगोल, प्राचीन तत्त्वज्ञान आणि धर्माचे रहस्य हीं सर्व त्यांत प्रसंगानुरोधानें गोंविलीं आहेत. त्यात चातुर्वर्ण्याची हकीगत आहे, समाज-व्यवस्था आहे, युद्धकला आहे; किंबहुना ' यच्चापि सर्वग वस्तु तच्चापि प्रतिपादितम् ' असें महाभारताचें आरंभीच या ग्रंथाचे वर्णन दिलेले आहे. अशा प्रकारचा सर्वांगसुंदर आणि सर्वोपजीव्य झालेला दुसरा ग्रंथ संस्कृत वाङ्मयांत काय पण इतर देशांच्याही वाङ्मयात आढळत नाहीं. महाभारत म्हटलें म्हणजे भारतवर्षातील लोकांचें जीवित होय. कारण, आर्य धर्मातील आचार विचाराचीं सर्व मूलतत्त्वे यांत ग्रथित केलेली आहेत. अशा प्रकारचा ग्रंथ हिंदुस्थानच्या निरनिराळ्या भागातील सर्व लोकांस प्रिय होऊन त्याची निरनिराळ्या प्राकृत भाषेंत शेंकडों भाषांतरें झाली असल्यास त्यांत काही नवल नाहीं. हिमालयापासून सेतुबंधापर्यंत निरनिराळ्या प्रांतांतील हिंदु लोकांच्या आचारात किंवा विचारात जें काहीं साम्य आहे तें महाभारत किंवा रामायण या आर्ष-महाकाव्या मुळेंच उत्पन्न झालें आहे. व आजमितीस जागत आहे. बंगाल्यांत जा, काश्मिरांत जा, किंवा मद्रासेंत जा, रामायण महाभारतातील कथा, उपकथा किंवा आख्यानें हीं लोकांस सारखींच आवडतात, व त्यांच्या श्रवणानें एकसारखेच विचार त्यांच्या मनात उत्पन्न होऊन भरतभूमीच्या राष्ट्रीय ऐक्यत्वाची साक्ष देतात. एकछत्री इंग्रजी राज्य या देशात झाल्यानें निरनिराळ्या प्रांतांतील लोकांस आपण एकाच राष्ट्राचे अवयव आहो, अशी नवीन कल्पना येऊं लागली आहे असें कित्येकांचें म्हणणें आहे. राजकीय दृष्टीनें पाहिले तर या म्हणण्यांत बराच अर्थ आहे, नाहीं असें नाहीं. पण वाल्मीकि आणि व्यास या दोन महर्षींनीं आचार, नीति आणि धर्म या बाबतीत भारत वर्षातील लोकांस आपल्या अनुपम महाकाव्यांनीं जें वळण लावून दिलें आहे, किंबहुना चारी पुरुषार्था-

संबंधानें या देशांतील आर्यधर्मी लोकांवर जें एक प्रकारचें साम्राज्य स्थापित केलें आहे तें नसतें तर, इंग्रजी साम्राज्याचा वर जो परिणाम सांगितला तो घडून आला असता कीं नाहीं, याची वानवाच आहे. रामायण आणि महाभारत याची ही योग्यता आज आम्ही नवीन सांगतो असें नाहीं. व्यासानीं, ब्रह्मदेवास आपल्या काव्याचें वर्णन देऊन 'परं न लेखकः कश्चित् एतस्य भुवि विद्यते' । अशी जेव्हां प्रार्थना केली आणि ब्रह्मदेवानें या काव्याचा लेखक होण्यास गणपतीस पाचारण कर, असें सांगितलें; व पुढें श्रीगजानन, माझी लेखणी न थांबे अशा रीतीनें भारत सांगितलें असतां तें मी लिहीन अशी अट ठेवून लेखक झाले ! तेव्हांपासून आतांपर्यंत या ग्रंथाचें महत्त्व एकसारखेंच चालूं आहे. अनेक संस्कृत कवींनीं हे आधारभूत घेऊन त्यांतील रत्नास पैलू पाडून किंवा तीं निराळ्या कौदणांत बसवून स्वतः स्वतंत्र काव्यरचनेचें श्रेय संपादन केलें आहे. त्याचप्रमाणें कित्येकांनीं आजवर टीका करून किंवा सामान्य जनांस समजेल अशा प्राकृत भाषेत त्याचें रूपांतर करून आपणांस कृतार्थ करून घेतलें आहे, आणि पुराणिकांनीं आपणांस नव्हे तर हिंदुस्थानांतील आबालवृद्ध स्त्रीपुरुषांस त्या महाग्रंथाच्या श्रवणानें पुनीत करण्याचा क्रम हा ग्रंथ निर्माण झाल्यापासून अव्याहत चालू ठेवला आहे. हिंदुस्थानांतील सुशिक्षित वर्गामध्ये या ग्रंथाच्या अध्ययनाची किंवा श्रवणाची परंपरा कमी होण्यास जर केव्हां सुरवात झाली असली तर ती इंग्रजी राज्यांत इंग्रजी शिक्षणानें व्हावयास लागली होती किंवा होण्याचा संभव होता; परंतु ही भीति बाळगण्यास आतां फारसें कारण राहिलें नाहीं. ही मोठ्या आनंदाची गोष्ट आहे. इंग्रजी शिकलेल्या लोकांपैकीं पुष्कळांस राष्ट्रीय महाकाव्याचे महत्त्व समजू लागलें आहे. देश विपन्न स्थितींत आला असता या ग्रंथाच्या अध्ययनानें किंवा श्रवणानें कोणच्या प्रकारचे स्फुरण अधिकारी पुरुषांच्या अंगांत उद्भवतें हें शिवाजीमहाराजांच्या उदाहरणावरून शाळेतील विद्यार्थ्यांसही माहित झालें आहे. सारांश, हा राष्ट्रीय ग्रंथ आहे; आणि हा आधार सुटला असतां राष्ट्राच्या पुढील प्रगतीस जें एकप्रकारचे वैशिष्ट्य प्राप्त व्हावयास पाहिजे तें प्राप्त व्हावयाचे नाहीं, असा चांगल्या विद्वानांचा समज झाला आहे. महाभारताची इंग्रजांत किंवा मराठीसारख्या प्राकृत भाषेतही हल्लीं जीं भाषांतरें होत आहेत त्यांतील बीजही हेंच होय. भगवद्गीतेचें अध्ययनही इंग्रजी शिकलेल्या लोकांत अलीकडे जें अधिक होत चाललें आहे तेंही वर सांगितलेल्या विचारसरणीचेंच द्योतक होय. परंतु आजपर्यंत इंग्रजी शिकलेल्या विद्वानांपैकीं महाभारताचें नवीन पद्धतीनें परीक्षण करून थोडक्यांत त्यातील रहस्य काय, त्याचें महत्त्व कशांत आहे, तें कोणी व केव्हां लिहिलें किंवा अशा प्रकारचें महाकाव्य लिहिण्यास काय कारण झालें, त्यांतील कथेमधील सरस भाग कोणते, ही कथा ऐतिहासिक आहे का काल्पनिक आहे, ऐतिहासिक असल्यास या

कर्णेतील पुरुष भरतभूर्मांत केव्हां अवतीर्ण झाले, इत्यादि गोष्टींचें पद्धतशीर विवेचन कोणींच केलेलें नव्हतें. संस्कृत वाङ्मयाचा इतिहास लिहिणारे युरोपियन ग्रंथकार, म्याक्समुलर, वेबर, मॅकडोनल यानीं आपल्या ग्रंथांत महाभारताचा काळ, त्याची रचना, त्यांत सांगितलेली राजकीय व सामाजिक स्थिति, आणि त्यांतील इतिहास यासंबंधानें अनेक विचार नमूद केलेले आहेत. पण संस्कृत वाङ्मयातील सर्व ग्रंथांचे, म्हणजे वेदापासून तों तहत पुराणें, शास्त्रें, काव्यें, नाटकें, इत्यादि सर्व ग्रंथांचें सामान्यरीत्या पर्यालोचन करण्याची या ग्रंथकारांची उमेद असल्यामुळें त्यांनीं महाभारतासंबंधानें जे विचार प्रगट केले आहेत ते भारत साग्र वाचून केलेले नसून केवळ त्याचें वरवर अवलोकन केल्यानें ज्या गोष्टी नजरेस आल्या तेवढ्यावरून केलेले आहेत. उदाहरणार्थ, क्रिश्चेकाची पहिल्यानें अशी समजूत झाली होती कीं, महाभारत हा ग्रंथ ख्रिस्ती शकाच्या पाचव्या सहाव्या शतकात झाला असावा; निदान त्याला महाभारत हें स्वरूप तरी या सुमारास मिळालें असावे. पण अलीकडे सापडलेल्या शिलालेखामुळें आणि जावा बेटात उपलब्ध झालेल्या महाभारताच्या भाषांतरामुळें अशा प्रकारच्या स्वैर विचारास हल्लीं बराच आळा पडत चालला आहे. प्रो. त्यासन यानीं तर असें मत काढलें होतें कीं, ज्या अर्थी शतपथ ब्राह्मणात किंवा तात्कालीन इतर ग्रंथांत जनमेजयाचा उल्लेख सापडतो आणि युधिष्ठिरादिकाचा सांपडत नाही त्या अर्थी कौरव-पाडव हे ऐतिहासिक पुरुष नसून याची कथा कोणी तरी काल्पनिक रचून त्यावर महाभारत हें महाकाव्य पुढें केलें असावें! दुसरा एक विद्वान् असे म्हणतो कीं, भारतीय युद्ध कौरव व पाडव यांच्यात झालेले नसून कुरु आणि पांचाल देशातील राजे यांच्यामध्ये झालें आणि त्यांत पांचाल देशातील सेनेचें नायकत्व मात्र पांडवाकडे होतें. अशा प्रकारें या ग्रंथासंबंधानें एक ना दोन अनेक कल्पना पाश्चिमात्य विद्वानांनीं काढलेल्या आहेत. या खऱ्या किंवा खोट्या, खऱ्या असल्यास त्यांत सत्यास किती, आणि खोट्या असल्यास त्या खोट्या कशा याचें अलीकडे उपलब्ध झालेल्या ऐतिहासिक साधनानी सशस्त्रपरीक्षण करून आमच्या देशातील राष्ट्रीय महाग्रंथाचें खरें स्वरूप लोकांपुढें माडणें किंवा खऱ्या स्वरूपाचा विपर्यास होत असल्यास त्याचें निरसन करून शुद्ध स्वरूप लोकांच्या निदर्शनास आणून देणें हें देशातील सुशिक्षित पुरुषांचें कर्तव्य होय. पाश्चिमात्य विद्वानांनीं यासंबंधानें कितीही लिहिलें तरी आपल्या ग्रंथांचा आम्हीं होऊनच स्वतंत्रपणे विचार केल्याखेरीज त्यांतील तथ्य आम्हास समजावयाचें नाही. महाभारताचा आजपर्यंत कोणींच विचार केला नाही असें नाही. वर सांगितलेंच आहे कीं, हा ग्रंथ निर्माण झाल्यापासून आतांपर्यंत हिंदुस्थानांतील कवि, धर्मशास्त्री, विद्वान् किंवा सामान्य जन या सर्वांचे या ग्रंथाकडे लक्ष लागलेलें आहे. परंतु पाश्चिमात्य शिक्षणानें किंवा शोधानां जी एक विचक्षणता प्राप्त होते त्या विचक्षणनेनें या ग्रंथाचें परी-

क्षण आमच्यापैकी कोणी तरी पुनः करावयास पाहिजे होतें. अशा परीक्षणानें ग्रंथाच्या महत्त्वाची हानि होईल अशी जर कोणाची समजूत असेल तर ती चुकीची आहे. जगन्नाथाच्या मूर्तीवर किंवा रणजितसिंगाच्या मुकुटांत कोहिनूर हिरा जितका दैदीप्यमान दिसत होता, तितकाच आज तो एडवर्ड बादशहाच्या मुकुटांत विराजमान होत आहे. महाभारताची गोष्ट अशाच प्रकारची आहे. त्यांतील कथानकाचें, आख्यानांचें, विषयाचें आणि इतिहासाचें महत्त्व सदर ग्रंथ नव्या कसोटीस लावण्यानें कमी होईल अशी आम्हास विलकूल भीति वाटत नाही. व्यासांनीं जी ही देणगी आम्हांस देऊन ठेविली आहे ती चिरकाल टिकणारी आहे; आम्हीं मात्र त्या देणगीचे स्वरूप न विसरतां तिचा उपयोग करून घेतला पाहिजे. सारांश, महाभारतासारख्या राष्ट्रीय ग्रंथावर पाश्चिमात्यांचें जें कांहीं आक्षेप असतील किंवा शंका असतील त्यांचे समाधान करून या ग्रंथाचें खरें स्वरूप आमच्या लोकांपुढें मांडणें हें काम आमचें आम्हींच केलें पाहिजे. रावबहादूर चिंतामण विनायक वैद्य यांनीं हल्लीं जो ग्रंथ लिहिला आहे हा अशाच प्रकारचा आहे; व म्हणूनच त्याजबद्दल आम्हीं त्यांचें मनःपूर्वक अभिनंदन करतो. महाभारत ग्रंथाचें अध्ययन इंग्रजी शिकणाऱ्या विद्यार्थ्यांकडून व्हावें म्हणून आनीबिझांटबाईंनीं हिंदु कॉलेजातील विद्यार्थ्यांकरितां भारतातील कथा संक्षिप्त रीतीनें इंग्रजीत प्रसिद्ध केलेली आहे. परंतु या ग्रंथांत महाभारताचे काव्य या नात्यानें परीक्षण किंवा ल्यासन, वेबर वगैरे पाश्चिमात्य ग्रंथकारांचें खंडन नसून विद्यार्थ्यांकरितां केवळ कथाभागच मनोवेधक रीतीनें दिला आहे. रावबहादुर यांचा ग्रंथ जरी बिझांट बाईंच्या ग्रंथाएवढा असला तरी त्यांत महाभारताचें निरनिराळ्या दृष्टीनें परीक्षण केलेलें आहे. महाभारत यास आर्ष महाकाव्य कां म्हणावें, आर्ष महाकाव्याचें लक्षण काय, त्यांत जे गुण असावयास पाहिजेत ते महाभारतांत आहेत कीं नाहीं, महाभारताची ग्रंथरचना कशी झाली म्हणजे एकट्यानें हा ग्रंथ लिहिला किंवा निरनिराळ्या ग्रंथकारांनीं मूळच्या भारतात उपाख्याने ढकलून त्याचें महाभारत केले, ह्या गोष्टी केव्हा घडल्या, पांडव हे ऐतिहासिक पुरुष होते किंवा नाहीं, ग्रंथाचा काल कोणचा, युद्धाचा काल कोणचा वगैरे प्रश्नांचा रावबहादुर वैद्य यांनीं आपल्या ग्रंथांत थोडक्यांत पण व्यवस्थित विचार केलेला आहे. इतकेंच नव्हे तर आपल्या पुस्तकाच्या उत्तरार्धांत त्यांनीं भारतीय कथेचा जो संक्षिप्त इतिहास दिला आहे तोही अत्यंत सरस आणि चटकदार लिहिला गेला आहे. भारतांतील विस्तीर्ण कथेचा अशा सरस रीतीनें संक्षेप करणें हें काम कांहीं कमी परिश्रमाचें किंवा विद्वत्तेचें आहे असें नाहीं. कथेमध्ये सरस वस्तु कोणती हें समजण्यास संक्षेपकाराच्या अर्गी एक प्रकारची विशिष्ट रसज्ञता किंवा मार्मिकता लागत असते व ती रावबहादुर वैद्य यांच्या अंगी पूर्णपणें आहे असें त्यांच्या हल्लींच्या ग्रंथावरून व त्यांनीं केलेल्या संक्षिप्त भारतावरून स्पष्ट दिसून येतें, व ह्याचकरितां तरुण पिढींतील विद्यार्थ्यांनीं रावबहादुर वैद्य ह्यांचे हे ग्रंथ अवश्य वाचावे अशी आमची शिफारस आहे. लक्ष-

पूर्वक समग्र महाभारत वाचून त्याचें नवीन पद्धतीनें परीक्षण ज्यात केलें आहे असा आमच्याकडील विद्वानानी लिहिलेला हा पहिलाच ग्रंथ होय. त्यांतील कांहीं गोष्टीसंबंधानें आमचा व ग्रंथकाराचा मतभेद असला तरी अशा प्रकारचा ग्रंथ रावबहादूर वैद्य यांनी प्रसिद्ध केला याबद्दल सर्वांच्या वतीनें त्यांचें अभिनंदन करणें जरूर आहे, व तशा प्रकारचें अभिनंदन करण्याकरितांच आजचा लेख लिहिला आहे. महाभारताची ग्रंथरचना, काल किंवा काव्य या नात्यानें परीक्षण इत्यादि गोष्टीसंबंधानें रावबहादूर वैद्य यांचे विचार काय आहेत याचें परीक्षण करणें ते पुढील दोन चार लेखांत करण्याचें योजिले आहे.

*महाभारत

नंबर २

महत्त्वे च गुरुत्वे च प्रियमानं यतोऽधिकम् ।

महत्त्वाद्भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥ १ ॥

—आदिपर्व अ. १-६७०-७९.

रावबहादूर चितामणराव वैद्य यांनी आपल्या पुस्तकाचे दोन भाग केले आहेत. पहिल्या भागांत आर्ष महाकाव्य या दृष्टीनें महाभारताचें विवेचन केलें असून त्याची रचना कसकशी होत गेली, त्याला इल्लींचें स्वरूप कसें व केव्हा आले, वैष्णव धर्माची महती आंत कितपत गायलेली आहे, आणि आर्ष महाकाव्याचें पाश्चिमात्य लक्षण घेतलें तरी त्याप्रमाणेही महाकाव्याचे सर्वगुण महाभारतांत कसें आले आहेत याचें सहा पोटभागांत विवेचन केलें आहे. पुस्तकाच्या उत्तरार्धांत महाभारताचें ऐतिहासिकरीत्या परीक्षण आहे व त्यांत पहिल्यानें महाभारतयुद्धाचा काल आणि पाडवांचे अस्तित्व आणि पूर्वज याचें विवेचन करून पुढे भारतांतील कथानक थोडक्यांत पण सरळ रीतीनें सांगितलें आहे. याखेरीज ग्रंथास सहा परिशिष्टे जोडली आहेत. त्यांत पहिल्यानें महाभारतांतील पर्वे, अध्याय व श्लोकसंख्या दिलेली असून पुढें पोटपर्वे व कूटश्लोक सांगून नंतर महाभारतांत पाठीमागून कोणचीं पर्वे घातलीं असावीत याची याद दिली आहे. सरते-शेवटच्या दोन परिशिष्टांत महाभारतातील दुहेरी गृहस्थिति व जनमेजयाची ब्रह्महत्या या दोन गोष्टींचा खुलासा देऊन ग्रंथ पुरा केला आहे. या सर्व प्रकरणावर वर्तमानपत्रांत सविस्तर टीका करणें अशक्य आहे. ज्यांस त्यासंबंधी माहिती पाहिजे असेल त्यांनी ती रा. ब. वैद्य यांच्या मूळ ग्रंथावरून मिळविली पाहिजे. आमच्या लेखांत यांपैकी कांहीं ठळक गोष्टींचा मात्र आम्ही विचार करणार आहों.

पैकी पहिली गोष्ट म्हटली म्हणजे महाभारताची ग्रंथरचना अर्थात् हा ग्रंथ कसकसा तयार होत गेला ही होय. यासंबंधे चिंतामणराव यांनी जे सिद्धांत व अनुमाने काढिली आहेत तीं बहुतेक आम्हांस प्राख्य आहेत. कांहीं ठिकाणी थोडासा मत-भेद आहे तो खालील विवेचनावरून वाचकांच्या ध्यानांत येईल.

महाभारत हल्लीं ज्या स्थितीत आहे त्या स्थितीत पहिल्यानेच रचलें गेलें नसावें हें त्या ग्रंथाच्या नावावरूनच उघड होत आहे. भरतकुलांतल पुरुषांचा इतिहास ज्यामध्ये आहे त्या ग्रंथास व्याकरणरीत्या सामान्यतः ' भारत ' येवढेच नांव पुरेसे आहे. ' रामायण ' ' भागवत ' हीं नावें ' महा ' हें विशेषण न लावतांच ग्रंथास दिलीं गेलीं आहेत. अर्थात् ' भारत ' एवढेच नांव पहिल्याने लिहिलेल्या इतिहासास दिलें गेलें असले पाहिजे. आणि हें जर खरें असेल तर ' भारताचें ' "महाभारत" कोणी केलें हा प्रश्न सहजच उद्भवतो. हा प्रश्न उद्भवण्यास दुसरें कारण असे आहे की, आश्वलायन गृह्यसूत्रांत सांगितलेल्या तर्पणांत ' सुमंतुजैमिनि-वैशंपायन-पैलसूत्रभाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्यास्तृप्यंतु ' असा संकल्प आहे; व त्यावरून आश्वलायनाला ' भारत ' आणि ' महाभारत ' असे दोन पृथक् ग्रंथ माहीत होते असे उघड होतें. इतकेंच नव्हे तर सुमंतु, जैमिनी, वैशंपायन, आणि पैल या सर्वांची निरनिराळीं भारतेत त्यांच्या वेळीं प्रचलित असावीं असेही वरील संकल्पावरून अनुमान होतें. महाभारतांतील आदिपर्वाच्या ६३ व्या अध्यायात (श्लोक ८८-९० कलकत्ता प्रत)

विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृतः

वेदानध्यापयामास महाभारत पंचमान् ॥

सुमन्तुं जैमिनं पैलं शुक्रं चैव स्वमात्मजम् ।

प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशंपायनमेव च ॥

संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥

याप्रमाणें श्लोक असून त्यावरून व्यासानीं पहिल्यानें सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक्र आणि वैशंपायन यांस भारत सांगितलें व त्यापैकीं प्रत्येक शिष्यानें निरनिराळीं भारताची संहिता प्रसिद्ध केली असे स्पष्ट होतें. ' भारतस्य संहिताः ' या पदांचा अर्थ टीकाकारांनीं व मराठी भाषांतरकारांनीं चुकीचा केला आहे. पण रावबहादूर वैद्य यांनीं तो सोडून देऊन ' भारतस्य संहिताः ' याचा सरळ अर्थ महाभारत ग्रंथ असाच केला आहे. ' व्यासस्य संहिताः ' असें पद महाभारत ह्या अर्थी आदिपर्वाच्या पहिल्या अध्यायाच्या आरंभाचिं आलेलें आहे; त्यावरूनही हाच अर्थ सिद्ध होतो. शिवाय जैमिनीनें एक भारत केलें होतें; पण तें बुडून जाऊन त्यांतील अश्वमेधपर्व मात्र शिल्लक राहिलें अशी जी कथा आहे तिचीही यामुळें संगति लागते. व्यासानें सांगितलेल्या एका भारताची भिन्न भिन्न पांच भारते किंवा पांच निरनिराळ्या आवृत्त्या एकदा प्रचलित होत्या असे मानिलें म्हणजे मग भारत हा एकच ग्रंथ होता असें म्हणण्यास कांहीं आधार रहात नाहीं.

हल्लीं जी भारताची प्रत उपलब्ध आहे ती वैशंपायनाची प्रत आहे. तथापि, वैशंपायनाने जनमेजयास जे भारत सांगितलें ते तसेंच आज आमच्या हातांत आहे कीं नाहीं याची शंका आहे. कारण हल्लींचे भारत लोमहर्षणाचा पुत्र उग्रश्रव सौति पुराणिक याने शौनकास सांगितले असे ग्रंथाच्या आरंभीच म्हटले आहे. वैशंपायनाने जनमेयास जी गोष्ट सांगितली तीच अक्षरशः सौतीने शौनकास सांगितली असावी असें वाटत नाहीं. कारण एक तर त्या वेळीं हा ग्रंथ समग्र लिहिला गेला नसावा; आणि दुसरें असें कीं, हल्लींच्या महाभारताच्या प्रतीत चिंतामणराव म्हणतात त्याप्रमाणें पुष्कळ प्रश्न असे आहेत की, ते सौति व शौनक यांच्या दरम्यानच लागू पडतात. अर्थात् जनमेजयाचे ते प्रश्न वैशंपायनास विचारण्याचा संभव नाहीं. अशाच दृष्टीनें जरा जास्त विचार केला असता असें आढळून येतें कीं, वैशंपायन व जनमेजय यांच्या दरम्यानचे काहीं प्रश्नही जनमेजयाच्या वेळींच नवीन उपस्थित झाले असावेत आणि व्यासाने वैशंपायनास सांगितलेल्या मूळ भारतांत त्यांचा समावेश झालेला नसावा. ही परंपरा लक्षात आणली म्हणजे (सुमंतु, जैमिनी यांचीं भारतें सोडून दिलीं तरी) हल्लीं उपलब्ध असलेलें महाभारत व्यास, वैशंपायन आणि सौति या तिघांच्या कृतीचें असावे असें मानणें भाग येते. सौतीच्या भारताचीं पर्वे अठरा आहेत, पण हा सर्वांचा विभाग एकदा निराळा असून भारताच्या अनुक्रमणिकेंत शंभर पर्वे होतीं असें स्पष्ट सांगितलें आहे. तसेच आदिपर्वांच्या पहिल्या अध्यायात (श्लोक १०१।१०२)

चतुरविंशति साहस्री चक्रे भारतमंहिताम् ।

उपाख्यानेर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

ततोऽध्यर्धं शत भूयः सक्षेपं कृतवानृषिः ।

अनुक्रमणिकाध्याय वृत्तान्ताना सपर्वणाम् ॥

असा उल्लेख आहे. त्यावरून एक ग्रंथाचे चोवीसहजार व अनुक्रमणिकेचे दीडशे श्लोक एवढाच मूलग्रंथ असून तो उपाख्याना विरहित असल्यामुळे त्यास नुसतें भारत म्हणत असे दिसून येतें. याच प्रकरणात पुढें विस्तृत भारताचें वर्णन असून त्याचे तीस लाख देवलोकीं, पंधरा लाख पितृलोकीं, चवदा गंधर्व-लोकीं व एकलक्ष मनुष्य लोकांत उपलब्ध आहे. असें म्हटलें आहे. पैकीं एक लाख 'मयोक्त वै निबोधत' असे सौतीनें म्हटलें आहे. यावरून चोवीस हजाराचें भारत वाढवून सौतीनें एक लक्ष भारत केले असे रा. व. वैद्य यांचें अनुमान आहे. पण हे अनुमान आम्हांस बरोबर दिसत नाहीं. वैशंपायनाचें भारतच जवळ जवळ एक लक्ष असावें असें इतर पर्वांतील उल्लेखांवरून दिसून येते. सौतीनें त्यात कांहीं फेरफार केले आहेत हें उघड आहे. पण भारतास महा-भारताचें रूप सौतीच्या पूर्वीच प्राप्त झाले असले पाहिजे; एरव्हीं महाभारत या शब्दाची सरळ व्युत्पत्ति सोडून 'महत्वाद् भारवत्वाच्च' अशी वेडीवांकडी

निराकृति त्याने दिली नसती. अशा प्रकारचा निराकृति शब्द पहिल्याने रूढ झाल्याखेरीज उत्पन्न होत नाही. कसेही असे; व्यास, वैशंपायन आणि सौति या तिघांनी केलेले, शोधलेले आणि वाढविलेले महाभारत हल्लीं आपणांस उपलब्ध आहे, असा जो रा. व. वैद्य यांनी सिध्दान्त केला आहे त्यात आमच्यामते कांही चूक नाही. आमचे म्हणणे एवढेच आहे की, सौतीच्या पूर्वीच ह्या ग्रंथास महाभारत हे नाव प्राप्त झाले असून ते तेव्हाच जवळजवळ एक लक्षात्मक झालेले असावे.

ग्रंथरचनेसंबंधाने दुसरा प्रश्न असा निघतो की, एक लक्षात्मक भारत कोणते, चोवीस हजार भारत कोणते, कोणकोणचीं पर्वे किंवा प्रकरणे मागून आली आणि तीं केव्हा व कोणी घातली ? हरिवंश महाभारतात धरल्याखेरीज एक लक्ष भारत होत नाही असे वैद्य यांनी आपल्या पुस्तकाच्या पहिल्या परिशिष्टात दाखविले आहे. आदिपर्वात दिलेल्या अनुक्रमणिकेप्रमाणे अठरा पर्वे आणि हरिवंश मिळून ९६,८३६ श्लोक महाभारतात असले पाहिजेत; आणि हल्लींच्या मुंबईच्या भारत-हरिवंशाच्या प्रतीत ९५,८२६ श्लोक सापडतात. म्हणजे हल्लीं उपलब्ध असलेल्या महाभारतात व हरिवंशात मिळून सौतीच्या यादीपेक्षा एक हजार दहा श्लोक कमी येतात. हा फरक ग्रंथाच्या कालमानाकडे लक्ष दिले असता फार मोठा आहे असे नाही. या लक्ष ग्रंथापेक्षा उपाख्याने काढून टाकिली तर चोवीस हजार ग्रंथ होईल; पण तसा प्रयत्न करण्यास चांगली साधने उपलब्ध नाहीत. रा. वैद्य यांनी 'संक्षिप्त भारत' म्हणून जो महाभारताचा संक्षेप संस्कृतात प्रसिद्ध केला आहे तो याच तत्वावर प्रसिद्ध केला आहे. यूरोपियन लोकांस २४००० सग्रहो मोठा वाटतो; व वेबर यांनी अशी कल्पना केली आहे की, ८८०० कूट श्लोक म्हणून जे सांगितले आहेत ते कूट म्हणजे मूल श्लोक असावेत. पण वेबरची ही कल्पना चुकीची आहे असे जेथे हे श्लोक आले आहेत तेथील मागील-पुढील संदर्भावरून उघड होते. कूट श्लोक म्हणजे अर्थ न समजण्यासारखे कठीण श्लोक असा तेथे अर्थ आहे. कारण त्यापुढेच 'अहं वेद्मि शुकावेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा' असा चरण आहे.

महाभारतापासून भारत पृथक् करणे किती दुर्घट आहे याचा पुरावा हल्लींच्याच महाभारतात सापडतो. आदिपर्वात पहिल्या अध्यायात सौति असे म्हणतो की, (श्लोक ५२):-

मन्वादि भारतं केचित् आस्तीकादि तथापरे ।

तथो परिचरादन्ये विप्राः सम्यग्धीयते ॥

म्हणजे सौतीच्या वेळीच महाभारतास मनुच्या आख्यानापासून आरंभ होतो असे कित्येक मानीत असत, कित्येक अस्तिक पर्वापासून आरंभ होतो असे मानीत आणि कित्येक उपरिचराच्या कथेपासून आरंभ होतो असे मानीत. हे वर्णन सौतीच्या वेळीं प्रचलित असलेल्या तीन निरनिराळ्या भारतासही लागू पडेल

पण तसें न घरतां तें सौतीच्या भारतास लागूं आहे असें मानलें तर सौतीच्या आदिपर्वाचे कांहीं भाग निरनिराळ्या मताप्रमाणें सोडून द्यावे लागतात; कारण आस्तिकांच्या कथेस आदिपर्वाच्या तेराव्या अध्यायांत सुरवात होते, उपरिचराच्या कथेस त्रेसष्टाव्या अध्यायांत सुरवात होते; आणि मनुच्या वंशास पंचाहत्तर अध्यायापासून सुरवात होते. रा. वैद्य असें लिहितात कीं, 'मनु' हें नांव अध्यायाच्या आरंभी कोठें सांपडत नाही; व टीकाकारानें सांगितल्याप्रमाणें पहिल्या अध्यायांत 'विवस्वत्' पद आलें आहे तेंच मनुवाचक ध्यावें असें त्यांचें मत आहे. परंतु हें मत आम्हांस प्राह्य नाही. कारण हल्लींच्या पहिल्या अध्यायापासूनच जर कित्येकांच्या मते महाभारतास सुरवात असती तर 'मन्वादि' श्लोक त्याच अध्यायांत आला नसता. पंचाहत्तराव्या अध्यायाचा आरंभ 'प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनो-वैवस्वतस्य च' असा आहे व तोच वर सांगितलेल्या मन्वादि पदानें अभिप्रेत आहे असें आम्हांस वाटतें. आदिपर्वाच्या अनुक्रमणिकेंत 'पांडुर्जित्वा बहून् देशान्' असा भारताचा उपक्रम केला आहे, त्यावरून मूळ भारतास एकशें बारा अध्ययानंतर सुरवात झाली असावी असेंही कित्येकांचें मत आहे. तसेंच पहिले तीन अध्याय सोडून चवथ्या अध्यायाचा आरंभही ग्रंथारंभासारखा आहे. याप्रमाणें पाहिलें म्हणजे कांहींकांच्या मते पौष्य आणि पौलोम पर्व आणि कांहींकांच्या मते आस्तीक, शकुंतला आणि ययाति आख्याने हीं भारतास मागून जोडलीं असावीत, अशीं मते सौतीच्या वेळीं प्रचलित होती असें दिसून येतें. याच दृष्टीनें पाहूं गेलें असतां चोवीस हजारांचें लक्ष भारत कसें झालें याचा पक्का नाही तरी अंदाजानें निर्णय करतां येण्यासारखा आहे. रा. वैद्य यानीं चौथ्या परिशिष्टांत त्याच्यामते जीं आख्याने महाभारतांत मागून घातलीं त्यांची यादी दिली आहे, व ती सौतीनें घातली असावी असें त्यांचें म्हणणे आहे. भारतास 'जय' असेंही नाव असून त्याचा आदिपर्वाच्या बासष्टाव्या अध्यायांत 'जयोनामेतिहासोयं श्रोतव्यो विजि-गीषुणा' असा उल्लेख आहे. यावरून रा. वैद्य असें मानतात की, व्यासानें पांडवांचा विजय वर्णन केला म्हणून त्यांचें ग्रंथास 'जय', वैशंपायनाच्या ग्रंथास 'महाभारत' अशीं तीन निरनिराळीं नांवे पडलीं असावीत. व्यासाच्या ग्रंथाचे वैशंपायनानें एक व सौतीनें दुसरें अशीं दोन संस्करणे केलीं हें उघड आहे. पण व्यास, वैशंपायन व सौती या त्रयांस प्रत्येकीं 'जय', 'भारत' आणि 'महाभारत' यांचें कर्तृत्व निरनिराळें देण्याइतका पुरावा आहे असें आम्हांस वाटत नाही. आश्वलायनाचा गुरु शौनक आणि सौतीनें भारतांत सांगितलेला शौनक जर एक मानिला तर आश्वलायनानें केलेला महाभारताचा उल्लेख सौतीस लागूं करतां येईल. पण सौतीनें केलेले महाभारताचे निरुक्त पहातां हें अनुमान करणें प्रशस्त दिसत नाही. असे; भारत आणि महाभारत असे दोन ग्रंथ असावे एवढें जर सिद्ध आहे तर यापेक्षां सध्यां जास्त खोल पाण्यांत जाण्यास नको. भारतास जीं आख्याने जोडून महाभारत

झालें तीं वेगळी कशीं काढावीं एवढाच काय तो मुख्य प्रश्न आहे; आणि या प्रश्नाचें रा. वैद्य यांनीं जें उत्तर दिलें आहे त्यांतील तत्त्व सर्वास पसंत पडण्यासारखें आहे. ते असें म्हणतात कीं, 'ज्या ज्या ठिकाणीं आख्यानाची द्विरुक्ती झाली आहे, उदाहरणार्थ, आदिपर्वातील कश्यप आणि ययाति यांचें आख्यान, किंवा जेथें लांबलचक गोष्टी किंवा आख्यानें विशेषसा संबंध नसतां सांगितलीं गेलीं आहेत, उदाहरणार्थ वनपर्वातील रामोपाख्यान किंवा गदापर्वातील सरस्वती आख्यान, तेथें तीं ती आख्यानें मागून घातलीं आहेत असें अनुमान करण्यास जागा आहे. जयनामक भारतांत पहिल्यांन जरी पांडवांच्या विनयाचीच कथा होती तरी मागाहून इतिहास, धर्म, नीति, पुराण, आचार, इत्यादिकांचा संग्रह भारतांत केल्यास चांगलें अशी जेव्हा बुद्धि उत्पन्न झाली तेव्हा निरनिराळीं उपाख्यानें त्यास जोडून त्यास महाभारताचें स्वरूप आणलें असावें असें चिंतामणराव वैद्य यांचें म्हणणें आहे. पूर्वींच्या पौराणिक कथा, भूगोलादि व्यावहारिक ज्ञान, धर्माचें रहस्य, कथानकाची द्विरुक्ति करून त्यास वैचित्र्य आणणें, यक्षप्रश्नासारखीं किंवा अनुगृतेसारखी चांगल्या प्रकरणाचीं अनुकरणात्मक आख्यानें करण्याची इच्छा, अथवा कोठे कोठे पुढील कथेचा बीजरूपानें उल्लेख आणि ठिकठिकाणीं जास्त खुलासा करण्याची बुद्धि या कारणामुळें महाभारतास सर्वसंग्रहाचें स्वरूप आलें आहे असे रा. व. वैद्य यांनीं प्रतिपादन केलें आहे. त्यांनीं मागूनचीं म्हणून जीं आख्याने चवथ्या परिशिष्टांत दिलीं आहेत त्यांपैकीं काहीं मागूनचीं आहेत कीं नाहींत याबद्दल मतभेद होऊं शकेल; कारण ही सर्व अनुमानाची गोष्ट आहे. तथापि भारताचे पुढें महाभारत झाले असे मानल्यानंतर अशा प्रकारची काहीं व्यवस्था मानणें जरूर आहे आणि त्या व्यवस्थेचीं जीं तत्त्वे रा. व. वैद्य यांनीं दिलीं आहेत तीं सर्वास मान्य होण्यासारखीं आहेत.

या प्रकरणासंबंधाने शेवटचा मुद्दा असा आहे कीं, भारताचे महाभारत करतांना जीं हीं प्रकरणें मागून घातलीं ती केव्हा घातलीं? ऐतिहासिक दृष्ट्या हा प्रश्न महत्त्वाचा आहे. अलेक्झांडरच्या वेळीं चंद्रगुप्ताच्या दरबारी असलेल्या मेग्यास्थेनीस नावाच्या ग्रीक वकिलानें हिंदुस्थानचा जो वृत्तान्त लिहिला आहे त्यात महाभारताचें नांव नाहीं, म्हणून त्याच्या कालापूर्वी (ख्रिस्ती शकामागील सुमारे तीनशें वर्षांच्यापूर्वी) महाभारत नव्हतें असें कित्येक युरोपियनांचें म्हणणें आहे. परंतु हें म्हणणें गैरशिस्त आहे. कारण एक तर मेग्यास्थेनीसचा समग्र ग्रंथ इल्लीं उपलब्ध नाहीं; आणि दुसरें त्यानें मथुरेच्या कृष्णाची गोष्ट सांगितली आहे. शिवाय मेग्यास्थेनीससारख्या परकीयानें एखादी गोष्ट सांगितली नाहीं एवढ्यावरून ती त्याच्या काळांत हिंदुस्थानात नव्हती असें अनुमान करणें अगदीं चुकीचें आहे. मेग्यास्थेनीसनें सांगितलेल्या काहीं गोष्टी इतक्या अविश्वसनीय आहेत कीं, हा एक 'लुच्चा' ग्रंथकार असावा

असें स्ट्राबोनें म्हटलें आहे. मेग्यास्थेनीस सोडून दिला तरी ख्रिस्ती शतकाच्या पहिल्या शतकांत झालेला डायॉसन खायभोस्तोम यानें हिंदुस्थानात होमरचें भाषांतर झालेलें आहे असें लिहिलें आहे आणि अलेक्झांडरचें वर्णन देतांना प्लुटार्कनेही हीच गोष्ट सांगितली आहे. यावरून एक लक्षात्मक भारत किंवा रामायण अलेक्झांडरच्या वेळी प्रचारात असावें असें दिसते. महाभारतांत राशींचा किंवा वारांचा उल्लेख नाही, आणि गौतमबुद्धाची अवतारांत गणना केली नाही, यावरूनही हेंच अनुमान दृढ होतें. उलट पक्षीं पौष्यपर्वांत नक्षत्रपणकाचा (जैन) उल्लेख आहे आणि नक्षत्रांची गणना विश्वामित्राने 'प्रतिश्रवण पूर्वाणि नक्षत्राणि चकार सः' अशा रीतीनें केली, असे आदिपर्वांत एकाहत्तराव्या अध्यायांत सांगितले आहे. यावरून ख्रिस्ती शतकाच्यापूर्वी चारशें किंवा पांचशें वर्षांपलीकडे एकलक्षात्मक महाभारताचा काल नेता येत नाही. वेदागज्योतिषात नक्षत्राची धनिष्ठादि गणना आहे; व संपातानें ती बदलून श्रवणादि होण्यास वेदागज्योतिषानंतर एक हजार वर्षे किंवा सुमारे ख्रिस्तीशकापूर्वी चारशें पन्नास वर्षे हा काल येतो. या सर्व पुराव्यावरून भारत पूर्वीचें असले तरी इर्लीच्या महाभारत ग्रथास जें स्वरूप आलें आहे तें त्यास ख्रिस्ती शकापूर्वीच दुसऱ्या किंवा तिसऱ्या शतकात प्राप्त झाले असावें, नंतर नव्हे, असें रा. वैद्य यांनीं अनुमान केलें आहे; व एकंदर पुराव्याचा विचार करता तेंच अनुमान बरोबर आहे असे आम्हांत वाटतें.

*महाभारत.

नंबर ३.

त्वयाच काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति ॥

—आदि० १ ८२.

यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षश्रद्धा समन्वितः ॥

—आदि० १-२६७.

राव ब. चिंतामणराव वैद्य यांच्या पुस्तकाच्या पूर्वार्धाच्या सहाव्या भागांत महाभारताचे आर्ष-महाकाव्य या दृष्टीनें परीक्षण केलेलें आहे. उपाख्यानें सोडून दिलीं, तरी काव्य या नात्यानेही नुसत्या महाभारताची योग्यता फार मोठी आहे; आणि रा. वैद्य यांनी महाकाव्य या नात्यानें त्याचे जसें परीक्षण केले आहे, तसे पूर्वी कोणीही केलेलें आमच्या पाहण्यात नाही. संस्कृतात साहित्य व अलंकारशास्त्रावर काव्यप्रकाश, काव्यादर्श, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर इत्यादि अनेक ग्रंथ

आहेत; व त्यांत 'रसात्मक काव्यं' अशी काव्याची व्याख्या देऊन दृश्य, श्रव्य, वाच्य, व्यंग असे काव्याचे अनेक भेद करून काव्यदोष कोणते आणि काव्यगुण कोणते, रस किती प्रकारचे, वगैरेही पुष्कळ विस्तार आहे. परंतु इंग्रजीत ज्यास 'एपिक पोएम' म्हणतात, ज्यांचे भाषांतर आर्ष-महाकाव्य' या शब्दानां आम्ही केले आहे, त्यांचे स्वरूप काय, कालिदासादि प्रणीत महाकाव्यापासून ते कसे ओळखावे, याबद्दल साहित्यशास्त्रावरील ग्रंथांतून कोठेही फारसा विचार केलेला दिसत नाही. साहित्यदर्पणाच्या सहाव्या परिच्छेदांत:—

सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः ॥
एकवंश भवाभूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगारवीरशातानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंघयः ।
इतिहासोभवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥ इ०

याप्रमाणे महाकाव्याची व्याख्या दिली आहे; व पुढे सदर काव्यांत सकाळ, सायंकाळ, ऋतु, मृगया, वगैरेचे वर्णन असावे असे सांगितले आहे. पण हे लक्षण रघुवंश, शिशुपालवध, किंवा नैषध इत्यादि काव्यासच अनुलक्षण असल्यामुळे महाभारत किंवा रामायण यासारख्या आर्षमहाकाव्यांचे स्वरूप त्याने चागले व्यक्त होत नाही. महाभारतादि काव्य व रघुवंशादि काव्य यांमध्ये "अस्मिनां पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः" एवढाच काय तो भेद दिला आहे. परंतु हा भेद अगदी क्षुल्लक आहे. रघुवंश, कुमारसंभव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, किंवा नैषध यांच्यामध्ये आणि आर्षमहाकाव्यामध्ये जमीन-अस्मानाचे अंतर आहे; आणि ते एकातील प्रकरणास सर्ग म्हणतात व दुसऱ्यातील प्रकरणास आख्यान म्हणतात, असला किरकोळ भेद दाखवून व्यक्त करणे अशक्य आहे. साहित्यशास्त्रावरील आमच्या ग्रंथकारास महाभारतादि ग्रंथाची योग्यता समजत नव्हती असे आमचे म्हणणे नाही; परंतु ही ऋषिप्रणीत महाकाव्ये साहित्यशास्त्रावरील ग्रंथकाराच्या अधिकाराबाहेरची आहेत, अशी त्याची समजूत असावी. कसेही असो; शेंकडो अलंकारामधील सूक्ष्म भेदांची नैय्यायिकरीतीने ज्या साहित्यग्रंथात चर्चा केलेली सापडते, त्यात 'आर्षमहाकाव्या'च्या लक्षणाबद्दल फारसा उहापोह कोठे आढळत नाही, हे खरे आहे. इंग्रजी वाङ्मयातील साहित्यशास्त्रावरील ग्रंथात ही उणीव भरून काढलेली आहे; आणि आर्ष-महाकाव्य या नात्याने महाभारताचे जें परीक्षण रा. व. वैद्य यानी केले आहे त्यास आधारभूत म्हणून सदर काव्याचे लक्षण इंग्रजी साहित्यकाराच्या ग्रंथांवरूनच त्यास घ्यावे लागले आहे. होमरचे 'ईलियड' हे पाश्चिमात्य राष्ट्रांतील पहिले 'आर्ष महाकाव्य' होय; व ऑरिस्टॉटलपासून तो आजपर्यंत अशा प्रकारच्या महाकाव्याच्या लक्षणांचा उहापोह होऊन साहित्यशास्त्र आर्नॉल्ड याने

“ ज्यांतील विषय, महार्थ, गहन आणि एकार्थसंगत असतो व ज्यांतील प्रधान पात्रे अत्युच्च कुळांत जन्मलेलीं असून धीरोदात्त असतात; व कथेंतील वस्तु रसानुकूल आणि श्रुतिसुख वृत्तांत कोठें संभाषणानें तर कोठें आख्यानरूपाने आणि कोठें आत्मगत भाषणाने सांगितलेली असते, तें आर्षमहाकाव्य होय. ” असें आर्ष महाकाव्याचें लक्षण बांधलें आहे. आमच्या मते हें लक्षण महाभारतास किंवा रामायणास लावण्यापूर्वी त्यांत बरीच सुधारणा केली पाहिजे. प्राचीन थोर ऐतिहासिक कुळांतील विभूतिमत् महात्म्यांचे धरोदात्त चरित्र ज्यांत सरस रीतीनें कथन केलें आहे, एवढेच लक्षण दिल्यानें महाभारत ग्रंथाची योग्यता मोजली जात नाही किंवा त्या ग्रंथाच्या समग्र स्वरूपाचे वर्णनही होत नाही. रा. वैद्य म्हणतात त्याप्रमाणें उपाख्यानें महाभारतांतून काढून नुसतें भारतीय युद्धाचे कथानक शिल्पक ठेवलें तर आर्नोल्ड साहेबांनीं वर दिलेलें लक्षण त्यास लागू पडेल. पण महाभारताच्या उपाख्यानांतील भाग आणि भारतीय युद्धकथा यांच्या सध्यांच्या ग्रंथांत इतका एक जीव होऊन गेला आहे कीं, उपाख्यानें काढून नुसत्या भारतीय युद्धकथेचें महाकाव्य या दृष्टीनें परीक्षण करणे कोणासही प्रशस्त दिसणार नाही. पाश्चिमात्य ‘ एपिक ’ काव्याची आणि महाभारताची किंवा रामायणाची केवळ तुलना करावयाची असेल तर वरील आर्नोल्ड साहेबांचें ‘ एपिक ’ काव्याचें लक्षण स्वीकारल्यास चालेल; व रा. वैद्य यांनीं त्याच हेतूनें तें स्वीकारलें असावें असें आम्हांस वाटतें. तथापि, महाभारताचें काव्य या नात्यानेंही खरें स्वरूप लक्षात येण्यास आर्ष महाकाव्याच्या आर्नोल्ड साहेबांच्या लक्षणापेक्षा अधिक व्यापक लक्षण आम्हांस बांधलें पाहिजे. आमच्या साहित्यकारांनीं तर हें लक्षण दिलेलें नाही; तेव्हा अर्थातच नवीन लक्षण तयार केलें पाहिजे. तथापि खुद्द व्यासांनींच महाभारतांत आपल्या ग्रंथाचे ठिकठिकाणीं जे वर्णन दिले आहे, त्यावरून आर्षमहाकाव्याचे अशा प्रकारचें लक्षण बांधण्यास कोणासही फारशी अडचण पडणार नाही. महाभारतांत काय आहे, याचें वर्णन महाभारतकार व्यास याचेपेक्षा अधिक चांगलें कोण देणार ? यास्तव व्यासांचाच आधार घेऊन व इंग्रजी साहित्य शास्त्रांतील आर्ष महाकाव्याची व्याख्या लक्षांत ठेवून आम्ही बहुतेक महाभारतांतील शब्दांनींच आर्ष महाकाव्याचें खालीं दिल्याप्रमाणें लक्षण बांधतो:—

महत्सु राजवंशेषु जातानां दिव्य कर्मणाम् ।

श्री विभूतिमतां वाऽपि प्राचीनानां महात्मनाम् ॥

चरितं कीर्त्यते यत्र पुण्यमेकार्थ संगतम् ।

इतिहास प्रधानार्थं शीलचारित्र्य वर्धनम् ॥

धीरोदात्तं च गहनं श्रव्यैवृत्तैरलंकृतम् ।

वाक्यजाति विशेषैश्च रसोत्कर्ष प्रपोषकैः ॥

अद्भुतार्थाः कथाः यत्र धर्मकामार्थ संश्रिताः ।

लोकयात्राक्रमश्चापि पावनः प्रतिपाद्यते ॥

विचित्रार्थ पदाख्यानं सूक्ष्मार्थ न्यायब्राहितम् ।

रोमहर्षणकृत् काव्यमनेकसमयान्वितम् ।

महाकाव्य वरिष्ठम् तन्महार्थ चार्थ संज्ञितम् ॥

या लक्षणात आणि आर्नोल्डसाहेबांच्या लक्षणात पुष्कळ फरक आहे हे वाचकांच्या सहज लक्षांत येईल. रघुवंशादिक महाकाव्ये आणि 'एपिक' महाकाव्ये यांच्या कर्त्यांमध्येच प्रथमतः भेद असतो; व तो 'आर्ष' या पदानें फार चागला दाखविला जातो. महाकाव्याचा कर्ता ऋषि म्हटला म्हणजे त्यासंबंधाने एकप्रकारची पूज्यबुद्धि उत्पन्न होते. काव्याच्या नायकासंबंधानेही असाच प्रकार आहे. काव्यातील नायक केवळ मोठ्या वशाचे व धीरोदत्त असून त्याचे चरित्र लोकांत शील व चरित्र याचे वर्धन करणारे असले पाहिजे. रा. वैद्य यांनी 'एपिक' काव्याच्या इंग्रजी लक्षणांतील हा दोष अखेरीस दाखविला आहे. 'एपिक' काव्यात नैतिक तत्त्व काहीं नसतें; परंतु महाभारताची तशी स्थिती नाही, असें भारताच्या अखेरीस 'भारत सावित्री' म्हणून जे चार श्लोक आहेत, त्यावरून स्पष्ट होतें, असें मोठ्या मार्मिक रीतीने रा. वैद्य यांनी प्रतिपादन केले आहे. 'आर्ष' काव्य जर देशातील सामान्य लोकांच्या अंगी शौर्य, धर्म, अभिमान, उत्साह किंवा सत्यनिष्ठा यांची जागृति करणार नाही, तर त्या काव्याची योग्यता आज लोक मानतात तितकी कधीही मानली जाणार नाही. वरील लक्षणात 'शीलचारित्र्य वर्धनं' असें जे पद आहे, ते आमच्या पदरचे नाही; तर खुद्द व्यासानीच आपल्या भारतास 'शीलवर्धन' असे एके ठिकाणी म्हटले आहे, व त्यावरून तें आम्ही घेतलेलें आहे. पाश्चिमात्य लोकांच्या आर्षमहाकाव्यात उपाख्यानाच्या रूपाने अद्भुत जुन्या कथांचा संग्रह केलेला नसतो. महाभारतात तसा संग्रह आहे म्हणून महाभारतास वरील लक्षणाचा हा भाग जितका लागू पडतो, तितका पाश्चिमात्य आर्षमहाकाव्यास लागू पडणार नाही हे खरे आहे. पण आर्षमहाकाव्याचे आम्ही जे लक्षण बाधावयाचे तें प्रथमतः आमच्या महाकाव्यास लागू पडेल असेच असले पाहिजे. वरील लक्षणांतील शेवटच्या चार ओळी तर फार महत्त्वाच्या आहेत. व व्यासांचें महाभारत आणि होमरचे ईलियड यांजमध्ये भेद कोणता, हे त्यावरून चागलें होतें. या चार ओळीत 'लोकयात्राक्रम', 'सूक्ष्मार्थन्याय' 'अनेकसमयान्वित' आणि 'महार्थ' अशी जीं पदे आहेत, ती आम्ही नवीं योजलेली नसून व्यासांच्या महाभारतांतीलच आहेत. प्राचीन थोर पुरुषांचे चरित्र ज्यांत वर्णन केलेले आहे तें काव्य वाचल्यानें वाचकांचें शील व चरित्र वाढते, इतकेंच नव्हे तर काव्यातील थोर पुरुषांवर संसारात जेव्हां अनेक तऱ्हेचे प्रसंग (समय) येतात तेव्हा ते वर्तन कसें करितात हे ऐकून सामान्य लोकांनीं आपला लोकयात्राक्रमही शुद्ध कसा ठेवावा, हें त्यास कळून येतें. त्याचप्रमाणें कोणतेही कर्म नीतिदृष्ट्या शुद्ध कीं अशुद्ध याचा निर्णय करण्याची संसारात जेव्हां वेळ येते तेव्हा निर्णय

कसा करावा याचाही अशा प्रकारच्या महाकाव्यापासून राष्ट्रांतील लोकांस बोध होतो. आर्षिकाव्य इतिहासप्रधान असावे, केवळ काव्यनिक नको असे लक्षण करण्याचा हेतुही हाच होय. साधारण महाकाव्यांत हा गुण नसतो; व म्हणूनच आर्षि-महाकाव्यांचे लक्षण पुंर होण्यास आमच्या मते अशा प्रकारच्या काव्याचा जो हा महत्त्वाचा शिक्षणात्मक भाग आहे, त्याचा सदर लक्षणात अवश्य समावेश झाला पाहिजे. काव्यांतील वृत्ते किंवा वृत्त कानास गोड लागणारे आणि रसास अनुकूल असावे, याचाही जर 'एपिक' काव्याचे लक्षणात आर्नोल्ड-साहेबांनी उल्लेख केला आहे तर सदर काव्य सूक्ष्मार्थन्यायाने युक्त, संसारांतील अनेक प्रसंगांचे द्योतक आणि पावन लोकयात्राक्रमांचे प्रतिपादक असावे या गोष्टींचाही त्यात का समावेश होऊ नये हे आम्हास समजत नाही. पाश्चिमात्य आर्षिमहाकाव्यांत हे गुण पूर्णपणे नसले तर त्यामुळे महाभारताची योग्यता कमी न होतां अधिक वाढते, हे आम्हीं लक्षात ठेवले पाहिजे.

हे आर्षि महाकाव्यांचे लक्षण झाले. महाभारतास हे लक्षण पूर्णपणे लागू पडते हे आम्ही सागावयास नकोच; कारण व्यासांच्याच शब्दांनी हे लक्षण आम्हीं बाधले आहे. तथापि आर्नोल्डसाहेबांच्या इंग्रजीलक्षणाप्रमाणे भारतात 'एपिक' काव्याचे सर्व गुण आहेत, असे जे रा. वैद्य यांनी प्रतिपादन केले आहे त्यासंबंधाने दोन शब्द लिहिणे जरूर आहे. आमच्यामते रा. वैद्याचे हे प्रतिपादन उत्तम साधले असून सर्वांनी ते एकवार वाचण्यासारखे आहे. सुमारे दोन वर्षांपूर्वी रा. व. वैद्य यांनी पुण्याच्या वसंत व्याख्यानमालेत जे व्याख्यान दिले होते, त्याचा हाच विषय असून त्याचा सारांशही त्या वेळीं केसरीत प्रसिद्ध झाला होता. आर्नोल्डसाहेब म्हणतात की, आर्षिमहाकाव्याच्या कथानकातील गोष्ट महत्त्वाची, गहन आणि एकार्थसंगत असली पाहिजे भारतीय युद्ध, कीं ज्यांत हिंदुस्थानातील त्या वेळच्या बहुतेक राजांनी कोणत्या तरी पक्षास मिळून आपली करामत दाखविली, त्यापेक्षा अधिक महार्थक व काव्योपजीवि विषय दुसरा कोणता सापडणार? 'अनाश्रित्येदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते' असे जे सौतिने या महाकाव्याच्या कथानकाबद्दल म्हटले आहे, ते अगदी यथार्थ आहे. प्रधान पुरुषाच्या शीलवैचित्र्याबद्दल तर महाभारताचे हात धरणारे दुसरे काव्य क्वचितच सांपडे. युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कृष्ण, द्रौपदी, द्रोण, भीष्म यांच्या स्वभावाची व गुणाची चित्रे इतकी सुरेख व ठळी आहेत की, हीं पात्रे महाभारत वाचणाऱ्या किंवा श्रवण करणाऱ्यांच्या डोळ्यापुढे मूर्तिमंत उभी राहातात. महाकाव्यातील प्रतिनायक किंवा त्याचे सार्थादार मुख्य नायकाहून कमी दर्जाचे असले तरी एकंदरीत त्याच्या तोडांचेच असल्याखेरीज काव्यांतील कथानकास जितके उदात्त रूप यावे तितके येत नाही, असा साहित्यशास्त्राचा सिध्दान्त आहे. मिल्टनच्या 'पाराडाईज लॉस्ट' काव्यांत सैतान हा ईश्वराचा प्रतिस्पर्धी खरा, पण त्याचे तोंडी 'स्वर्गांत दास्यत्व करण्यापेक्षा

नरकांत राज्य करणें बरें' अशा प्रकारचें जें काहीं उद्दाम उद्गार कवीनें घातले आहेत त्यामुळे वाचकांची मनोवृत्ति क्षणभर तरी या प्रतिपक्षाच्या बाजूची होऊन त्याच्या पराजयाबद्दल वाचकांस थोडाबहुत तरी खेद वाटतो. महाभारतात आर्षमहाकाव्याचा हा गुण रामायणापेक्षाही चांगला साधला आहे. दुर्योधनाचें पांडवार्शी वैर होतें खरें; पण त्यानें आपलें राज्य चांगल्या रीतीने चालविले होतें व पुष्कळ प्रसंगा त्याच्या तोंडी अभिमानाची व आवेशाची जीं भाषणें घातलीं आहेत ती ऐकून त्याच्याबद्दल वाचकांचे मनात एकप्रकारची सहानुभूति उत्पन्न होते. यासंबंधानें रा. वैद्य यानी दिलेलें उदाहरण फारच मार्मिक आहे. भीमाने गदायुद्धाचे नियम मोडून माडीवर प्रहार केल्यामुळे दुर्योधन रणभूमीवर पडला असता त्याची निर्भर्त्सना करून भीम श्रीकृष्ण जेव्हा त्यास टोंचून बोलूं लागले, आणि पापकर्मकारी तूं आपल्या कर्माचा फळ भोगतो आहेस असे म्हणाले तेव्हा दुर्योधनानें त्यास दिलेले उत्तर फारच बाणेदार आणि बहारीचे आहे. दुर्योधन म्हणतो:—

अधीतं विधिवद्दत्त भूः प्रशास्ता ससागरा ।
 मूर्ध्नि स्थितमभिन्नाणा कोऽनु स्वततरो मया ॥
 यदिष्ट क्षत्रवधूना स्वधर्ममनुपश्यताम् ।
 तदिदं निधन प्राप्तं कोऽनु स्वततरो मया ॥
 देवार्हा मानुषा भोगा प्राप्ता असुलभा नृपैः ।
 ऐश्वर्यं चोत्तम प्राप्तं कोऽनु स्वततरो मया ॥
 ससुहृत्सानुजश्चैव स्वर्गं गन्ताहमच्युत ।
 यूयं विहतसंकल्पा शोचंतो वर्तयिष्यथ ॥

दुर्योधनाचे वरील उद्गार ऐकून सिद्ध गंधर्वांनी त्याचे धन्यवाद गाडले आणि आकाशातून त्याजवर पुष्पवृष्टि झाली व श्रीकृष्णासही लाज वाटली असे पुढे महाभारतातच वर्णन आहे. यावरून दुर्योधनाचें हे उत्तर व्यासाच्या मतेही तारीफ करण्यासारखे होते हे उघड आहे. रा. वैद्य म्हणतात की, यावरून जैमिनीचें भारतांत पाडवापेक्षा कौरवाचीच अधिक प्रशंसा होती, अशी जी आख्यायिका आहे, ती संभवनीय दिसते. वरील दुर्योधनाच्या उक्तीस भीमाचें उत्तर या अध्यायात नाहीं; पण एकदोन अध्यायापूर्वी दिलेलें आहे. धृतराष्ट्र पुत्रांच्या अपराधाचा उल्लेख करून, भीम म्हणतो:—

‘ते नो हताः सगणाः सानुबंधाः । काम स्वर्गं नरकं वा पतामः ॥’

म्हणजे “वैद्याचें निर्दलन करणे हें आमचें काम होते ते आम्हीं केलें, आता वाटेल तर आम्ही स्वर्गात जाऊं किंवा नरकात पडूं !” महाभारतात ठिकठिकाणी नायक किंवा प्रतिनायक याच्या भाषणातून अशाच प्रकारचे उद्दाम, स्पष्ट आणि अभिमानाचे उद्गार घातलेले आहेत. परशुराम आणि भीष्म यांच्या युद्धाच्या आरंभी परशुरामानें २१ वेळा निःक्षत्रिय पृथ्वी केल्याचा उल्लेख करून

भीष्मास धाक दाखविण्याचा जेव्हां प्रयत्न केला, तेव्हा भीष्मांनीं परशुरामास असा खडखडीत जबाब दिला आहे कीं, “ न जातवान् तदा भीष्मः तृणेषु ज्वलितं त्वया । ” यावरून महाभारतांतील संभाषणाचे भागांत स्पष्टोक्तीचा गुण अधिक व्यक्त होतो, व समयविशेषीं त्यांतील पात्रें आपल्याहून वयानें किंवा मानानें श्रेष्ठ अशा मनुष्यास खणखणीत जबाब देण्यास मार्गें पुढें पाहत नाहींत असें जें रा. वैद्य यांनीं म्हटलें आहे, तें किती यथार्थ आहे हें वाचकांच्या लक्षात येईल. महाभारतातील द्रौपदी, कुती वगैरे स्त्रियांचे वर्तनही अशाच प्रकारे अत्यंत शुद्ध आणि उदात्त वर्णिलेले आहे. द्रौपदीनें युधिष्ठिरास अनेक वेळा सणसणीत उपदेश केला आहे, व किरातार्जुनीयाच्या तिसऱ्या सर्गांत ‘ जुहुधीह पावकं ’ असें द्रौपदीच्या तोंडात कवीनें वाक्य घातलेलें आहे. पांडवांच्या अर्गी काहीं अवगुण नव्हते असें नाहीं. त्यांनीं श्रुत खेळावयास जावयाचे नव्हतें, किंवा श्रुतात लावलेले पण द्रौपदी वस्त्रहरणाची वेळ येईपर्यंत पाळावयाचे नव्हते, असे कित्येकांचे त्याजवर आक्षेप आहेत तसेच भीष्म-द्रोणानी द्रौपदीवस्त्रहरण चालले असता ‘ अर्थस्य पुरुषो दासः ’ असें म्हणून स्वस्थ बसणेही योग्य नव्हतें, असेंही काहींकांचें म्हणणें आहे. पण आमच्या मतें अशा प्रकारच्या कमीपणानें काव्यातील प्रधान पुरुषांच्या स्वभाववैचित्र्याची शोभा न जाता ती अधिक खुलते. सर्वांशी निर्दोष अशा जर काव्याचा नायक कल्पिला तर तो देवच होतो; आणि त्याच्या चरित्रापासून लोकांमध्ये महाकाव्याच्या लक्षणात सांगितलेलें जें ‘ शीलचरित्रवर्धन ’ ते होत नाहीं. युधिष्ठिरादिक पात्रे कितीही तेजस्वी, अभिमानी, दृढनिश्चयी किंवा नीतिमान असली, तरी एकंदरीत तीं आमच्यापैकींच आहेत अशी भावना वाचकांच्या मनात असल्याखेरीज महाकाव्यात वर्णिलेले त्यांचें चरित्र वाचकांस जितके मोहक, बोधप्रद, आनंदकारक आणि अनुकरणीय वाटावें तितके वाटत नाहीं. भीमाचा उद्दामपणा, अर्जुनाचे कौशल्य, युधिष्ठिराची धर्मभीरुता, स्त्रीस्वभावास अनुसरून द्रौपदीचे अगांत असलेली नीतिमत्ता, धैर्य आणि ऐहिक वैभव भोगण्याची इच्छा, श्रीकृष्णाची कर्तबगारी, दुर्योधनाचा दुरभिमान किंवा कर्णाचें शौर्य आणि असूया ही जी आज दोन अडीच हजार वर्षे भरतवर्षांतील आबालवृद्धांच्या तोंडीं बसून जाऊन त्यांच्या लोकयात्राक्रमास आधारभूत होऊन राहिली आहेत, त्यांतील बीज हेंच होय. पांडव धीरोदात्त व शूर असतील वा नसतील. बिल्हणानें म्हटल्याप्रमाणें त्यांचें यश रामाप्रमाणें आज चोहोंकडे विस्तृत होण्यास आणि दुर्योधनाचें रावणाप्रमाणें संकुचित होण्यास व्यासाचेच महाकाव्य कारणीभूत झालें आहे. कवीच्या अनुग्रहाखेरीज मोठमोठ्या राजांचाही आठवण कशी नष्ट होते, याचे कल्हणाने “ स्मृतिमपि न ते याति क्षमाप विना यदनुग्रह । प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कवि कर्मणे ॥ ” असें जें वर्णन केले आहे तें अगदीं यथार्थ आहे. महाकाव्यातील प्रधान पात्रें ऐतिहासिक असावीत, अर्थात् तीं मोठ्या कुळांतील व वैभवशील असलीं तरी व्यवहारातील असावीं, असे जें आर्ष-महाकाव्याच्या

लक्षणांत म्हटलें आहे, त्यांतील बीजही वरील विवेचनावरून वाचकाचे लक्षांत येईल. प्रसंगानुसार नलयुधिष्ठिरासारखें धैर्यशाली महात्मे पुरुषही विपत्तींत गोंवले जातात; पण अशा प्रकारच्या विपत्तींत अशा महात्म्यांचें जें वर्तन असतें तेंच जगातील लोकास पुढे अनुकरणीय होतें. महाभारताच्या कथानकांतील प्रधान पुरुषांची किंवा देवादिकांची जी वर्णने आहेत तीं अशाच प्रकारचीं आहेत; आणि रा. ब. वैद्य यानीं आपल्या पुस्तकाच्या उत्तरार्धांत भारतकथेचा जो संक्षेप दिला आहे तोही कथेंतील अशा प्रकारचीं मासलेवाईक व मार्भिक स्थळें लक्षांत आणून दिला आहे. असो; यासबंधानें वर्तमानपत्रातील लेखात जास्त चर्चा करणे अशक्य आहे. ज्यास अधिक माहिती पाहिजे असेल त्यानीं रा. वैद्य यानीं आपल्या ग्रंथात दिलेली भारताची संक्षिप्त कथा नीट लक्षपूर्वक वाचावी म्हणजे झालें. थोडक्यात एवढें सांगितलें म्हणजे बस आहे की, इंग्रजी 'एपिक' काव्याचें लक्षण घेऊन जरी महाभारताचे परीक्षण केले तरीही त्यातील प्रमुख पात्रांचे स्वभाववैचित्र्य, त्यांचें समयोचित आणि स्पष्ट भाषण, उदात्त विचार, आणि अनेक प्रसंगी त्यानीं दाखविलेले धैर्य आणि नीतिमत्ता, किंबहुना एकंदर संविधानकाचें गाभीर्य आणि लौकिक अथवा व्यावहारिक महत्त्व या सर्व बाबतींत महाभारताचा नंबर जगातील सर्व आर्ष-महाकाव्यात निःसंशय पहिला लागल्या-खेरीज राहणार नाही. पाश्चिमात्य 'एपिक' काव्याचा स्पष्ट हेतु शीलचारित्र्य-वर्धक नसतो, असा सदर काव्यात आणि महाभारतात असलेला जो भेद रा. वैद्य यानीं या भागाच्या अखेरीस दाखविला आहे, तोही सर्वांनीं-विशेषतः भरतभूमी-तील लोकानीं-लक्षात ठेवण्यासारखा आहे. नल, राम, युधिष्ठिरांचीं चरित्रें गाऊन किंवा ऐकून आपण क्षणभर करमणूक करून घ्यावी असा सदर काव्ये करणारांचा उद्देश नाही. देशांतील पुरुष आणि स्त्रिया यांचे आचार-विचार व वर्तन यांवर अशा पुरुषांच्या चरित्रांचा परिणाम झाला पाहिजे; आणि तो जर न होईल तर महाकाव्य करणाराचे व ऐकणाराचे श्रम फुकट होत. भारत-सावित्रींतील जो श्लोक या भागाच्या अखेरीस रा. वैद्य यानीं दिला आहे तोच आम्ही येथे घेतों; महाभारत संपूर्ण करून व्यास म्हणतात:—

उर्ध्व बाहुर्विरौम्येषः न च कश्चित् शृणोति मा ।

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

अशा प्रकारचे उद्गार जगांतील कोणत्याही आर्ष-काव्याच्या अखेरीस सापडत नाहीत. भारत-सावित्रीचे चार श्लोक रोजच्या प्रातःस्मरणात म्हणण्याची जी पुरातन वहिवाट आहे तिचें महत्त्व यावरून लक्षात येईल. सारांश, केवळ " आर्ष-महाकाव्य " किंवा 'एपिक' काव्य या नात्यानें महाभारत सर्व काव्यात श्रेष्ठ आहे. इतकेच नव्हे तर आचार, व्यवहार, राजनीति, धर्म, अध्यात्म, प्राचीन

इतिहास वगैरे अनेक बाबतींत भारतीय लोकांचें महाभारत म्हणजे एक अनुपम व अक्षय्य ज्ञानभांडार होऊन राहिलें आहे.

*महाभारत

नंबर ४.

आहुः केचिन्न तस्यैते (पांडवाः) तस्यैते इति चापरे ।
अंतरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
स्यमंत पंचके युद्धं कुरु पांडव सेनयोः ॥

—आदिपर्व.

महाभारत हें उत्तम काव्य असेल किंवा भारतीय ज्ञानाचा सर्व संग्रहही असेल, त्याबद्दल वाद नाही. पण कांही युगोपियन विद्वानांनीं असा प्रश्न काढला आहे कीं, भारतीय युद्धांतील पांच पांडव किंवा शंभर कौरव हे खरोखर ऐतिहासिक पुरुष नसून सद्गुण व दुर्गुण यांचीं कवीनें निर्माण केलेलीं तीं रूपकें आहेत. युरोपियन लोकांनी ही कल्पना आमच्या वाचकांस अपूर्व वाटेल यात संशय नाही. काव्य किंवा भारतीय युद्ध हीं खरीं मानावयाचीं आणि कौरव पांडव मात्र काल्पनिक मानावयाचे, हें म्हणणें आमच्या कानांस रुचत नाही; किंवा महाभारताच्या महत्त्वावर हा एक 'मूलेकुठारः' या न्यायानें 'भारवत्' आक्षेप आहे, असें भारतधर्मीयास तरी निःसंशय वाटणार आहे. परंतु आम्ही त्यांस एवढें सांगतों कीं, ही कल्पना कितीही चुकीची असली तरी ती केवळ पाश्चिमात्य पंडितांनींच काढली आहे असें नाही. आमच्यापैकीही कित्येक पंडित 'पांडव' म्हणजे पंचप्राण आणि द्रौपदी म्हणजे 'शरीर' अथवा 'मनः षष्ठाणींद्रियाणि' या वाक्यास अनुसरून पांच पांडव म्हणजे पांच इंद्रियें आणि द्रौपदी म्हणजे मन, असें पाच पांडवांत एकपनी असल्याचे रूपकद्वारा समर्थन करितात ! जोंपर्यंत असले विचार केवळ कल्पनातरंगावरच हेलकावे खात असतात तोपर्यंत त्यांच्या वाटेस जाण्याचें आपणांस कारण नाही; इतकेंच नव्हे तर एखादे वेळीं आपल्याही कल्पनेचा वारा सोडून या हेलकाव्याची आपणही भौज पाहण्यास हरकत नाही ! पण जेव्हां असले विचार ऐतिहासिक रीतीनें कारणे दाखवून मांडण्याचा प्रयत्न केला जातो, तेव्हां त्यांचें ऐतिहासिकरीत्याच निरसन करणें जरूर आहे. पाश्चिमात्य पंडितांचें पांडवांच्या ऐतिहासिक अस्तित्वावर जे आक्षेप आहेत ते अशाच प्रकारचे आहे; आणि एवढ्याचकरितां रा. वैद्य यांनीं आपल्या पुस्तकात, "पांडव हे ऐतिहासिक पुरुष होते कीं नाही,"

असा प्रश्न करून त्याचा निर्णय उत्तर्गाच्या दुसऱ्या भागांत अस्तिपक्षी केला आहे. चितामणराव वैद्य यांचा हा निर्णय आम्हांस कबूल आहे; पण त्या निर्णयाचा कोटिक्रम जितका जोरदार व्हावयास पाहिजे होता तितका कांहीं गैरसमजुनीमुळें रा. वैद्य यांस करतां आला नाही. यासाठी सदर भागाचें येथें थोडें जास्त विवेचन करणें जरूर आहे.

पहिल्यानें वाचकांनीं ही गोष्ट लक्षांत ठेवली पाहिजे कीं, ' महाभारत ग्रंथ ' आणि ' भारतीय युद्ध ' या दोन गोष्टी अगदीं स्वतंत्र आहेत. महाभारत युद्धाचे काळीं व्यास होते, त्या व्यासांनीच महाभारत आपल्या शिष्यांस सांगितलें, आणि तेंच वैशंपायनाने जनमेजयास व सौतीनें शौनकास कथन केलें; म्हणून महाभारत ग्रंथाचा काळ आणि भारतीय युद्धाचा काळ एकच आहे, कधीही भिन्न होऊं शकत नाही; अशी आमच्याकडील सामान्य लोकांची समजूत आहे. पण ही समजूत सूक्ष्म परीक्षणाचे कसोटीस टिकत नाही; हें या विषयावरील दुसऱ्या निबंधांत आम्हीं दाखविलेंच आहे. अशा दृष्टीनें पाहिले म्हणजे भारतीय युद्ध ही एक स्वतंत्र गोष्ट घेऊन तिचा विचार निराळा करावा लागतो; आणि महाभारत हा ग्रंथ निराळा मानून त्याच्या रचनेचा विचारही निराळा होतो. वर पांडवांच्या ऐतिहासिक अस्तित्वाबद्दल जो प्रश्न दिला आहे तो भारतीय युद्धाबद्दलचा आहे, ग्रंथाबद्दलचा नव्हे. महाभारत ग्रंथ झाला तेव्हां चांगी वेदांच्या संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक किंवा उपनिषदे उपलब्ध होती, ही गोष्ट निर्विवाद आहे. कारण सर्वोपनिषदाचें सार गीतेंत आहे, आणि वेदाचे चार विभाग करून व्यासांनीं ते आपल्या शिष्यास पढविले, असाही भारतात उल्लेख आहे; इतकेंच नव्हे तर शांतिपर्वाच्या तिनशे सोळाव्या अध्यायांत

ततः शतपथं कृत्स्नं सारहस्यं ससंग्रहम् ।

चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण हः ॥

याप्रमाणे पहिलें ९ व मागाहूनचें ५ एकूण १४ कांडांनें शतपथ ब्राह्मण याज्ञवल्क्याने प्रसिद्ध केलें, असें म्हटले आहे. आणि शांतिपर्वाच्या ३४२व्या अध्यायांत यास्काचाही उल्लेख आला आहे. यावरून ब्राह्मणादि ग्रंथ झाल्यानंतर महाभारतास इह्यांचें स्वरूप प्राप्त झाले असावें, असे उघड होतें परंतु भारतीय युद्धाचा काळ किंवा पांडवांचें ऐतिहासिक अस्तित्व तेवढ्यावरून सिद्ध होत नाही यासंबंधानें युरोपियन पंडिताची कोटी अशी आहे कीं, शतपथ ब्राह्मणांत व ऐतरेय ब्राह्मणांत पारीक्षित जनमेजयाचा स्पष्ट उल्लेख असून एकांत त्यानें इद्रोत दैवाप शौनकाच्या साहाय्यानें अश्वमेध करून ब्रह्महत्या घालविली, व दुसऱ्यात तुरकावषेय यानें त्यास मदाभिषेक केला असे स्पष्ट सांगितलें आहे. हा पारीक्षित जनमेजय म्हणजे सदर पंडितांच्या मतें भारतीय युद्धातील अर्जुनाचा पणत् अभिमन्यूचा नात् व पारीक्षिताचा पुत्र जनमेजय होय; आणि या जनमेजयाचा जर ब्राह्मणांत उल्लेख आहे आणि युधिष्ठिरादि पांडवांचा

नाहीं, तर सदर ब्राह्मणग्रंथ रचले गेले त्या काळां अश्वमेध कर्ता जनमेजय पारीक्षित माहित होता, पण अश्वमेधकर्ता युधिष्ठिर माहीत नव्हता असें म्हणावे लागतें. कारण अश्वमेधकर्त्या मोठमोठ्या राजांची नावे जर शतपथ ब्राह्मणात आहेत तर युधिष्ठिराचें नांव त्यांत अवश्य यावयास पाहिजे होतें. आतां कोणी असे म्हणेल कीं, जनमेजयाचें नांव आहे तर युधिष्ठिराचें असले काय आणि नसलें काय सारखेंच; पण यावर उत्तर असें आहे कीं, वैदिक ग्रंथ तोंडपाठ ठेवण्याचा प्रघात असल्यामुळें ते अधिक विश्वसनीय आहेत; व त्यांत युधिष्ठिराचे जर नांव नाहीं, तर जनमेजयाच्या पूर्वीचें पांडव कदाचित् कोणी तरी मागाहून कल्पिले असतील, आणि ते जनमेजयास जोडून महाभारताची कथा लिहिली गेली असेल. पाश्चिमात्य पंडितांच्या मते शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथ फार झाले तर ख्रिस्ती शकापूर्वी दहाव्या किंवा बाराव्या शतकात लिहिले गेले असावेत. यांत युधिष्ठिराचें नांव नाहीं, आणि पाणिनीच्या सूत्रात ते नांव आढळते; तर वैदिक ब्राह्मण ग्रंथ आणि पाणिनीची सूत्रे यांच्या दरम्यानच्या कालात कवींनीं काल्पनिक पांडव उत्पन्न केले असावे ! वैदिक ग्रंथात अमुक एक गोष्ट नाहीं म्हणून ती वैदिककालीं नव्हती, असे विधान करणें साहसाचे आहे. कारण या रीतीनें हजारों पशुपक्षी कीं ज्यांचीं नांवे वेदात नाहींत ते त्या काळां नव्हतें असें म्हणावें लागेल. यावर पाश्चिमात्य पंडित असे उत्तर देतात कीं, ही कोटी खरी आहे; पण अश्वमेध कर्त्यांमध्ये जनमेजयाचे नांव शतपथ ब्राह्मणांत येतें, आणि त्याचा पूर्वज जो युधिष्ठिर त्याचे येत नाहीं, याची संगति या कोटीनें लागत नाहीं. मुळां कोणाचीच नांवें नसती तर गोष्ट निराळी. पण भारताप्रमाणें प्रसिद्ध असलेला अश्वमेधकर्ता सार्वभौम असा जो युधिष्ठिर तो वगळला जावा, आणि त्याच्या पणतूचा उल्लेख याचा, हे विसंगत दिसते; व पांडव हे कोणी तरी मागाहून कल्पिले असावे अशा प्रकारचे काहीं समाधान मानल्याखेरीज निर्वाह लागत नाहीं ! युरोपियन पंडितांच्या कोटीचें स्वरूप लक्षात येण्याकरितां ती आम्ही थोड्याशा विस्तारानें येथे सांगितली आहे. रा. वैद्य यांस ही कोटी नीट उलगडली गेली नाहीं, असे त्याच्या लेखांवरून दिसते. त्याचें असें मत आहे कीं, इद्रोत दैवाप शौनकाच्या अनुग्रहानें ब्रह्महत्येचा दोष अश्वमेधानें घालविणारा शतपथ ब्राह्मणांतील जनमेजय आणि सर्पसत्र करणारा जनमेजय प्रायः एकच असावा; कारण शतपथ ब्राह्मणात जनमेजयाचे उग्रसेन, श्रुतसेन आणि भीमसेन असे जे तीन बंधु सांगितले आहेत तेच सर्पसत्र करणाऱ्या जनमेजयाचे बंधू होते, असें आदिपर्वांच्या तिसऱ्या अध्यायाच्या आरंभीं सांगितलें आहे. रा. वैद्य याचें म्हणणें असें दिसतें कीं, जनमेजय हें नांव एखाद्या वंशवृक्षांत दोनदा येऊं शकेल; पण चांगी भावांचीं नांवें सारखीं असा प्रकार दोनदां होणें शक्य नाहीं एतएव शतपथ ब्राह्मणांतील जनमेजय आणि सर्पसत्रकर्ता जनमेजय हे एकच होत. परंतु, शतपथ ब्राह्मणांत सांगि-

तल्लें ब्रह्महत्येचे पाप म्हणजे भारतीय युद्धात मारलेले द्रोणाचार्य यांची हत्या धरता येत नाही. सर्पसत्रकर्त्या जनमेजयानें अश्वमेध करणाऱ्या ब्राह्मणास यज्ञातील अश्व बेफाम झाल्यामुळें शिक्षा केली, असें हरिवंशांत सांगितलें आहे. पण ब्राह्मण शासनाची ही कथा शतपथ ब्राह्मणात सांगितलेल्या ब्रह्महत्येच्या कथेच्या अनुरोधानें गैरसमजुतीने मागून कोणी तरी रचली असावी, व याकरितां सौतीने महाभारतातून ती गाळून टाकली, असा रा. वैद्य याच्या म्हणण्याचा राख आहे. साराश, रा. वैद्य याच्यामते जनमेजय दोन नाहीत, एकच आहे; परंतु ब्रह्महत्या म्हणजे भारतीय युद्धातील द्रोणवध नव्हे, आणि युधिष्ठिराचें नाव शतपथ ब्राह्मणात नाही. एवढ्यावरून पाडव एतिहासिक नव्हते, हे म्हणणें बरोबर नाही. कारण वैदिक ग्रंथात सर्वांचीच नावें सापडलीं पाहिजेत असा नियम नाही. भारतातील गोष्ट वाचतांनाही वाचकांचा अशा प्रकारचाच सहज ग्रह होतो.

आमच्या मते पाश्चिमात्य पंडिताचा वरील कोटीक्रम अगदीं लंगडा आहे. आणि शतपथ ब्राह्मणांतील जनमेजय व सर्प सत्रकर्ता जनमेजय एक मानल्यानें रा. वैद्य याचे उत्तरही लंगडे पडलें आहे. शातिपर्वाच्या १५० व्या अध्यायात भीष्मानें युधिष्ठिरास पारीक्षित जनमेजयाची गोष्ट सांगितली असून त्यानें इदोप दैवाप शौनक याच्या कृपेनें अश्वमेध करून आपल्या ब्रह्महत्येचे पाप घालविले, अशी पुढे कथा दिली आहे. भीष्म युधिष्ठिर संवादात ज्याचा उल्लेख होतो, तो जनमेजय अर्थात् युधिष्ठिराच्या पूर्वजापैकी असला पाहिजे महाभारताच्या आदिपर्वात एकदां ९४ व्या अध्यायात व एकदा ९५ व्या अध्यायात मिळून दोनदा पाडवाची वंशावळ दिली आहे. यात ९४ व्या अध्यायात पाडवाच्या पूर्वजात एक परीक्षित नांवाचा राजा सांगितला असून त्यास जनमेजय, उग्रसेन, भीमसेन वगैरे सात मुलगे होते असें वर्णन आहे अर्थात् हा परीक्षिताचा पुत्र (पारीक्षित) जनमेजय युधिष्ठिराचा पूर्वज ठरतो; आणि त्यास उग्रसेनादि बंधूही होते असें वर्णन आहे. ९५ व्या अध्यायात युधिष्ठिराच्या पूर्वजात जो परीक्षित म्हणून आहे त्यास सात पुत्र होते, असे वर्णन नसून फक्त भीमसेन नामक पुत्र होता असें सांगितलें आहे. परंतु दोन्ही अध्यायांची तुलना केली असता युधिष्ठिराच्या पूर्वजात एक परीक्षित नावाचा राजा होता, व त्यास जनमेजय, भीमसेन आदिकरून मुलगे होते असें उघड होते. अर्थात् हा जनमेजय निराळा आणि अर्जुनाचा नातू परीक्षित त्याचा मुलगा जनमेय निराळा, असे मानणे भाग आहे वंशावळीत एकच नाव अनेक येते; कारण आजचे नाव नातवास देण्याची आमच्यामधील वडिवाट फार प्राचीन आहे. दुर्योधनाचा बाप धृतराष्ट्र आणि युधिष्ठिराचा बाप पांडु यांच्या नांवाचीही त्यांच्या पूर्वजांच्या नांवात द्विरुक्ति झालेली आहे. (आदि, अ. ९४ श्लोक ५६) मग जनमेजयाच्याच नावाची द्विरुक्ति होऊं द्या; पण त्याच्या भावांच्या नावांचीही द्विरुक्ति कशी झाली? पण आम्हांस यात काही अर्थ दिसत नाही. सर्प सत्रकर्त्या जनमेजयाचे उग्रसेन, भीमसेन आणि श्रुतसेन असे तीन बंधु होते, असें विष्णु-

पुराणाच्या ४ अंशांच्या २१ व्या अध्यायांत स्पष्ट लिहिलें आहे. यावरून महाभारताच्या आदिपर्वांच्या तिसऱ्या अध्यायांत सर्पसत्रकर्त्या जनमेजयाचे जे बंधु सांगितले ते चुकीने सांगितलेले नाहीत असें उघड होतें आज्ञाचें नांव नातवास देण्याची जुनी परंपरा लक्षात आणली म्हणजे आज्ञाच्या दोन बंधूंच्या नावाची नातवांच्या दोन बंधूंच्या नावांत द्विगुणित होण्यास काहीं हरकत नाही. आतां प्रश्न एवढाच राहिला कीं, जनमेजय दोन होते, व पहिल्या जनमेजयाची ब्रह्महत्या अमुक प्रकारची होती, असा कोठें स्पष्ट उल्लेख आहे कीं, नाही? रा. रा. त्रिंबक गुरुनाथ काळे यांनी आम्हांस दाखविलेल्या त्यांच्या हस्तलिखित 'महाभारत विचिकित्से'त याचा खुलासा केला आहे. हरिवंशांत पहिल्या पर्वाच्या ३२ व्या अध्यायांत जनमेजयाचे पूर्वज त्यास सांगतांना (श्लोक १०४-१०५):—

द्रावृक्षौ तव वंशेऽस्मिन् द्रावेव परिक्षितौ ।

भीमसेनास्त्र योराजन् ! द्रावेव जनमेजयौ ॥

असा स्पष्ट उल्लेख आहे. इतकेंच नव्हे तर दोनही जनमेजय परीक्षिताचे पुत्र म्हणजे 'पारीक्षित' होते असे म्हटलें आहे. तेव्हा एक गोष्ट सिद्ध झाली कीं, पारीक्षित जनमेजय दोन होते; एक युधिष्ठिराच्या पूर्वजांपैकी व दुसरा त्याचा पणतु. आतां जो सदेह राहिला तो फक्त ब्रह्महत्येबद्दल होय. त्याचाही खुलासा हरीवंशांत (पर्व १ अध्या० ३०, श्लो-६-१६) यांत केलेला आहे. ययातीला इंद्रानें संतुष्ट होऊन एक दैदीप्यमान रथ दिला होता. हा रथ युधिष्ठिराच्या पूर्वजांपैकी पारीक्षित जनमेजयाचे वेळीं गार्ग्य ऋषींच्या शापानें नाहीसा झाला. तेव्हां या जनमेजयानें पुष्कळ बोलणाऱ्या गार्ग्याच्या मुलाचा वध केला; व त्यामुळें या जनमेजयाकडून ब्रह्महत्या घडली. मग तो जनमेजय 'लोहगंधी' (रक्ताच्या वासाचा, महाभारताच्या शांतिपर्वांत [अ. १५०] ही 'रुधिरस्येव ते गधः' असें पद आहे) होऊन सर्वांनी बहिष्कृत केल्यामुळें इकडे तिकडे हिंडूं लागला. पुढें तो इंद्रोत शौनकास शरण गेला; आणि शौनकानें अश्वमेध करून जनमेजयाचे ब्रह्महत्येचे पाप घालविलें. पुढें हा रथ उपरिचर वसूच्या वेळीं इंद्रानें संतुष्ट होऊन त्यास परत दिला; व जगसंधाला मारून तोच रथ भीमसेनानें वासुदेवास अर्पण केला. या कथेवरून इंद्रोत शौनकानें ब्रह्महत्येचे पाप घालविण्यासाठीं ज्या पारीक्षित जनमेजयाकरितां अश्वमेध केला तो पारीक्षित जनमेजय व ती ब्रह्महत्या, सर्पसत्रकर्त्या पारीक्षित जनमेजयाहून आणि त्यानें आपल्या अश्वमेधात तो यज्ञ समाप्त होत आला असतां ब्राह्मणास दिलेल्या शिक्षेहून भिन्न होती असें उघड होतें. शतपथ ब्राह्मणांत ज्या पारीक्षित जनमेजयाच्या अश्वमेधाचा उल्लेख आहे, तो जनमेजय युधिष्ठिराचा पूर्वज मानला म्हणजे त्यांतील अश्वमेधकर्त्यांत युधिष्ठिराचें नांव कां नाही, याची सयुक्तिक उपपत्ति लागते. आणि त्यावरून उलट असा सिद्धांत काढतां येतो कीं, पाडव आणि भारतीय युद्ध शतपथ, ऐतरेय इ. ब्राह्मण ग्रंथांच्या कालानंतर झाले असले पाहिजेत. निदान एवढें तरी

निर्विवाद आहे की, याज्ञवल्क्यादिकांनीं ह्या ब्राह्मणग्रंथांस व्यवस्थित रूप देऊन ते प्रसिद्ध केले तेव्हां भारतीययुद्धाची कथा आत घालणें अशक्य होतें. कसेंही असो; भारतांतील व हरीवंशातील जीं प्रमाणें वर दिलीं आहेत त्यांवरून दोन जनमेजय मानणें जरूर आहे; आणि त्याप्रमाणें दोन जनमेजय धरले म्हणजे युरोपियन पंडितांच्या वर दिलेल्या कोटिक्रमांत कांहींच अर्थ रहात नाहीं. भारतीय-युद्ध जर वैदिक ब्राह्मण ग्रंथांच्याकालानंतर झालें तर त्यात त्याचा उल्लेख कोठून येणार ?

रा. रा. वैद्य याच्या पुस्तकात दुसरी एक अशाच प्रकारची चूक आहे; तिचा आज उल्लेख करून पुढील लेखात त्यांनीं दिलेल्या भारतीय युद्धकालाचें विवेचन करूं. ही चूक गर्गाच्या कालाबद्दलची होय. गर्ग ज्योतिषी ख्रिस्ती शकापूर्वी १५० किंवा २०० वर्षे झाला असावा, असें रा. वैद्य यांनीं मद्रासेंतील मि. आयर याचे ग्रंथावरून गृहीत घेतलें आहे. यास आधार ते असे देतात कीं, वृद्ध-गार्गी-संहिता म्हणून जो फलज्योतिषाचा ग्रंथ हल्लीं उपलब्ध आहे त्यातील युगपुराणात अशोक्याचा पणतू शालिशूक याचा उल्लेख असून पुढें यवन राजे अयोध्या घेतील असें म्हटलें आहे; पण शकराजांचा उल्लेख कोठें केलेला नाहीं. यावरून मि. आयर यांनीं असें अनुमान काढलें आहे कीं, शकराजांच्या पूर्वी गर्गाने आपला ग्रंथ केला असावा. मि. आयर यांनीं गृहीत धरलेली गोष्ट बरोबर असती, तर त्यांनी काढलेले अनुमान बरोबर झालें असतें. पण गर्गसंहिता हा ग्रंथ आम्हीं पाहिला आहे; व त्यात शालिशूकाचा वगैरे जेथें उल्लेख आहे त्याच्याच पुढें शकराजांचें वर्णन असून शेवटीं

विनष्टे शकराज्येच शून्या पृथ्वी भविष्यति ।

असा त्याच्या नाशाविषयी स्पष्ट निर्देश आहे. यावरून शकराजानंतर हल्लींच्या वृद्धगार्गीसंहिताचा हा भाग लिहिला असावा, असें जरूर मानावें लागतें. मॅक्स-मूलर याचेही मत असेंच आहे. गर्गाने आपला ग्रंथ शककालानंतर लिहिला एवढें सिद्ध झाल्यावर ' आसन्मघासु मनयः ' इत्यादि वचनांचा अर्थ मि. आयर किंवा रा. वैद्य यांनीं केला आहे त्याहून निराळाच करावा लागतो. पण यासंबंधानें स्थलसंकोचास्तव आज जास्त लिहिता येत नाहीं.

* महाभारत

नंबर ५.

कुरुवंशांत दोन जनमेजय असून एक मानल्यानें आणि गर्गाच्या काला-संबंधानें चुकी केल्यामुळे रा. वैद्य यांच्या भारत युद्धकालाच्या अनुमानांत बराच

घोंटाळा झाला आहे, हे गेल्या अंकीं दाखविलेंच आहे. अशा प्रकारच्या आणखी दोन तीन चुका रा. वैद्य यांनी केल्या आहेत. या चुका नीट लक्षात आल्या-खेरीज भारतीय युद्धाचा रा. वैद्यांनी जो काल ठरविला आहे तो बरोबर आहे किंवा नाही हे नीट समजावयाचें नाही. करितां युद्धाचा कालनिर्णय सागण्यापूर्वी त्या चुका आज येथें देतो.

जनमेजयाप्रमाणेंच काश्मीरच्या गोनर्द राजाबद्दलही रा. वैद्य यांनी केलेले विधान चुकीचें आहे. गोनर्दाचे नांव महाभारतात सांगितलें नाही ही गोष्ट खरी आहे, पण हरिवंशांत असें स्पष्ट सांगितलें आहे कीं, जरासंधाने मथुरेवर स्वारी केली, तेव्हां त्याच्यातर्फें काश्मीरचा गोनर्द राजा लढण्यास आला होता. (हरिवंश विष्णु पर्व अ० ३८ श्लोक २०-२२). तेव्हा राजतरंगिणीमध्ये गोनर्द पांडवांचा समकालीन होता, असा जो उल्लेख आहे तो रा. वैद्य म्हणतात त्याप्रमाणें निराधार आहे, असें मानतां येत नाही. हरीवंशांत गोनर्दाचा जो उल्लेख आहे तो आणि राजतरंगिणींत गोनर्दपासून जे पुढें राजे सांगितले आहेत त्यांच्या कालाचा आणि भारतीय युद्धाच्या कालाचा मेळ कसा घालावयाचा याचा विचार पुढें करण्यात येईल. काश्मीरच्या गोनर्दाचें नांव महाभारतात नमले तरी हरिवंशांत आहे एवढेच सध्यां सागावयाचे आहे.

परंतु रा. वैद्य यांची याहीपेक्षा मोठी चूक म्हटली म्हणजे मेग्यास्थिनीस यांच्या ग्रंथातील उताऱ्यावरून त्यांनीं जें अनुमान काढिले आहे ती होय. किंबहुना भारतीय युद्धाचा काल ख्रिस्ती सनापूर्वी सुमारे ३००० वर्षंपर्यंतचा आहे असें दाखविण्यास रा. वैद्य यांनी नवीन म्हणून जे प्रमाण पुढे आणिले आहे तें मेग्यास्थिनीसच्या ग्रंथातीलच होय. मेग्यास्थिनीस हा अलेक्झांडरनंतर काहीं कालानें पाटलीपुत्र (पाटणा) येथे चंद्रगुप्ताच्या दरबारात सेल्यूकसच्यातर्फें ग्रीक वकील या नात्यानें रहात होता. त्या वेळी त्यानें हिंदुलोकांचा प्राचीन इतिहास व तत्कालीन स्थिति यांची बरीच माहिती गोळा करून ग्रीक भाषेंत एक पुस्तक लिहिलें होतें. मेग्यास्थिनीसचा हा ग्रंथ साप्रत उपलब्ध नाही पण त्याच्या ग्रंथांतून इतर ग्रीक व ल्याटीन ग्रंथकारांनी घेतलेले उतारे बरेच सापडतात, आणि एकत्र केलेल्या सर्व उताऱ्यांचे इंग्रजी भाषांतर मि. मॅकफ्रिडल यांनी प्रसिद्ध केलेलें आहे. मेग्यास्थिनीस यास जी माहिती मिळाली ती अर्थातच चंद्रगुप्ताच्या दरबारी असलेल्या विद्वान् गृहस्थाकडून किंवा शास्त्र्याकडून मिळालेली असावी. परंतु मेग्यास्थिनीस यानेही माहिती देताना ग्रीस देशातील पौराणिक पुरुष आणि हिंदुस्थान देशातील पौराणिक पुरुष यांच्या नावांचा बराच घोटाळा करून ग्रीक देशातले आणि हिंदुस्थानांतले पौराणिक पुरुष एकत्र असावें असे दाखविण्याचा प्रयत्न केला असल्यामुळे त्यानें केलेलीं विधानें बरीच भ्रामक झालेलीं आहेत असो; मेग्यास्थिनीस याचें असें म्हणणें आहे कीं, हिंदुलोक डायोनिसॉसपासून चंद्रगुप्तापर्यंत १५३ राजांच्या पिढ्या झाल्या व दरम्यान

६०४२ वर्षांचा काल गेला असें मानतात. तसेंच मथुरेमध्ये शौरसेन लोकांनीं पूज्य मानलेला हिरॉक्लिस हा डायोनिसॉसपासून १५ वा पुरुष होता. असें आपणस माहीत असल्याचें मेग्यास्थिनीस यानें लिहिलें आहे. या दोन वाक्यावर रा. वैद्य यानीं बरीच टोलेजंग इमारत उभारली आहे. हिरॉक्लिस म्हणजे हर्क्यूलस हा ग्रीक लोकांच्या पुराणांत पहिला मोठा दैवी योद्धा कल्पिला आहे. पण मथुरेचा आणि शौरसेन लोकांचा त्याच्याशीं मेग्यास्थिनीसनें जो संबध जोडला आहे त्यावरून वरील वाक्यांत हिरॉक्लिस या शब्दानें हरी किंवा श्रीकृष्णच अभिप्रेत असावा असें रा. वैद्य यांचें म्हणणें आहे व तें काहीं गैरवाजवी दिसत नाहीं. आतां डायोनिसॉसपासून १५ वा श्रीकृष्ण आणि डायोनिसॉसपासून १५३ वा चंद्रगुप्त. तेव्हां अर्थात्च श्रीकृष्णापासून चंद्रगुप्तापर्यंत १५३-१५=१३८ पिढ्या झाल्या. चंद्रगुप्ताचा काल ग्रीक इतिहासाने निश्चित झाला असून तो ख्रि. स. पूर्वी ३१२ वर्षे धरण्यांत येतो. याच्यापूर्वी १३८ पिढ्या श्रीकृष्ण; म्हणजे दर पिढीस सुमारे २० वर्षे धरिली तरी $१३८ \times २० = २७६०$ इतकीं वर्षे चंद्रगुप्ताच्यापूर्वी श्रीकृष्ण झाला असें निष्पन्न होतें. सारांश, चंद्रगुप्ताचा काल ख्रि. स. पूर्वी ३१२ वर्षे धरिला तर श्रीकृष्णाचा काल ख्रि. स. पूर्वी ३१२ + २७६० = ३०७२ वर्षे येतो आणि तो कलिकालाच्या आरंभाच्या जवळ येतो म्हणून ग्राह्य आहे असें रा. व. वैद्य यांनीं प्रतिपादन केलें आहे. ही कोटी रा. वैद्य यानीं प्रथमच काढली असून नवीन आहे हें वर सांगितलेच आहे.

आमच्या मतें हा कोटिक्रम चुकीचा आहे. मेग्यास्थिनीस यानें १५३ पिढ्यांस ६०४२ वर्षे लागलीं असें लिहिलें आहे म्हणजे सरासरीनें दर पिढीस सुमारे ४० वर्षे पडतात; आणि ४० वर्षांची एक पिढी या मानानें १३८ पिढ्या धरल्या म्हणजे श्रीकृष्णास चंद्रगुप्तापूर्वी $१३८ \times ४० = ५५२०$ वर्षे मागे घालावें लागतें. अशा रीतीनें गणित केले म्हणजे श्रीकृष्णाचा काल ख्रि. पू. ३१२ + ५५२० = ५८३२ वर्षे येतो. म्हणजे कलियुगाच्या आरंभापूर्वी सुमारे २८०० वर्षे श्रीकृष्ण किंवा पांडव झाले असें मानावें लागतें. रा. वैद्यांनीं दर पिढीस सुमारे २० वर्षे धरून हा विरोध टाळला आहे. पण त्यामुळे दुसरा एक निराळाच विरोध उत्पन्न होतो, हें त्याच्या लक्षांत आलें नाहीं असें वाटतें. कारण वीस वीस वर्षांच्या १३८ पिढ्या मोजल्या म्हणजे त्या सोडून डायोनिसॉसपासून श्रीकृष्णापर्यंत १५ पिढ्यांस $६०४२ - २७६० = ३२८२$ वर्षे धरावीं लागतात. अर्थात् अशा रीतीनें या १५ पिढ्यांतील प्रत्येक पुरुष २०० किंवा २२५ वर्षे राज्य करित होते असें मानावें लागतें! या विरोधाचें समाधान कसें करावयाचें, हें आम्हांस समजत नाहीं. डायोनिसॉसपासून श्रीकृष्णापर्यंत १५ पिढ्या दीर्घायु (दर एक २०० वर्षांची) आणि श्रीकृष्णानंतर कलिकालास सुरवात झाल्यामुळे पुढील १३८ पिढ्या अल्पायु (दर

एक २० वर्षांची) झाल्या असें तरी एक मानिलें पाहिजे; अथवा मेग्यास्थिनीस यानें दिलेल्या पिढ्या घेऊन त्यानें सांगितलेली वर्षसंख्या अजिबात सोडून दिली पाहिजे; दुसरा मार्ग नाही.

वरील हिशेबावरून रा. वैद्य याची या कार्मी कांहीं तरी चूक झाली आहे हें उघड आहे. ही चूक म्हणजे डायोनिसिऑस हा कोण हें त्यानीं प्रथमतः ठरविलें नाही ही होय. मद्रासचे मि. अय्यर असे म्हणतात की, डायोनिसिऑस म्हणजे इक्ष्वाकू. आता पुराणात पाहिले तर त्रेतायुगीं इक्ष्वाकूपासून रामापर्यंत ६२ पिढ्या होतात; द्वापारात कुशापासून बृहद्दलापर्यंत ३५; आणि कलियुगात जरासंधापासून शेवटच्या नंदापर्यंत ५०; मिळून एकंदर इक्ष्वाकूपासून नंदाच्या अखेर किंवा चंद्रगुप्तापर्यंत १४७ पिढ्या येतात. पुराणात दिलेल्या या पिढ्या आणि मेग्यास्थिनीस यानें दिलेल्या १५३ पिढ्या यांजमधील अंतर फार थोडें आहे. तेजा ३०००, द्वापर २०००, आणि परिश्वितीपासून नंदापर्यंत १०१५ वर्षे धरिली म्हणजे एकंदर वर्षांची संख्याही ६०१५ म्हणजे मेग्यास्थिनीसने सांगितलेल्या संख्येपेक्षां २७ वर्षांनी कमी येते. अर्थात् डायोनिसिऑस म्हणजे इक्ष्वाकू धरावा, असें जे मि. अय्यर यांचे म्हणणें आहे, ते बरेच सयुक्तिक दिसते. डायोनिसिऑस हे नाव हिरॉक्लिस या नांवाप्रमाणेंच ग्रीक लोकांच्या प्राचीन पौराणिक पुरुषाचें आहे; आणि मेग्यास्थिनीस यानें तें हिंदु लोकांच्या कोणत्या तरी प्राचीन पौराणिक पुरुषास समानार्थक म्हणून लाविलें आहे. करिता, हिरॉक्लिस याचा अर्थ जसा मथुरेच्या संदर्भावरून निश्चित केला, तसाच डायोनिसिऑसचाही अर्थ निश्चित करण्यास कांही साधन आहे कीं काय हें पाहणें जरूर आहे. पण मि. अय्यर किंवा रा. ब. वैद्य यांपैकी कोणीही हा संदर्भ पाहिलेला नाही. मेग्यास्थिनीस एके ठिकाणीं असें म्हणतो की, “ डायोनिसिऑस याचा ‘स्पटेबस (Spatembas) नावाचा एक सहचर असून या स्पटेबसास बौध्य (Boudyas) नावाचा एक पुत्र होता; व तो त्याच्यानंतर गादीवर आला. ” (मॉक् क्रिडल, पृ. २००) येथे बौध्य म्हणजे गौतमबुद्ध ध्यावा असें कांहीं इंग्रज म्हणतात; पण मग गौतम बुद्धापासून चंद्रगुप्तापर्यंत (सुमारे ३९० वर्षांत) १५० पिढ्या मानाव्या लागतात. अर्थात् ही कल्पना चुकीची आहे. हिंदु लोकांच्या प्राचीन पौराणिक राजवंशांत मनुची कन्या इला इचा बुधाशी विवाह होऊन त्याच्या पोटीं पुरूरवा जन्मला असें वर्णन आहे. आतां डायोनिसिऑस हा प्रथमपुरुष, आणि त्याच्यामागे बौध्य दुसरा व पुढें चंद्रगुप्तापर्यंत १५० पिढ्या, मेग्यास्थिनीस देतो हें लक्षात आणिलें म्हणजे सोमवंशाचा पहिला पुरुष बुध हाच मेग्यास्थिनीसनें सांगितलेला बौध्य पदानें विवक्षित आहे असें मानावे लागतें. बुध किंवा इला यांच्या मागचा पुरुष मनु होय, व त्यासच स्पटेबस (स्वयंभू ?) असें म्हटलें असावेसें वाटतें, मनुच्या किंवा स्पटेबसच्या मागचा पुरुष डायोनिसिऑस म्हणजे दाक्षायणीचा पुत्र

आदित्य घ्यावा लागतो. यावरून आदित्यापासून चंद्रगुप्तापर्यंत १५३ पिढ्या झाल्या व ६०४२ वर्षे गेलीं असा मेग्यास्थिनीसच्या म्हणण्याचा आशय होतो असें दिसून येते.

परंतु रा. वैद्य असें विचारतील कीं, या कोटिक्रमाने डायोनिसेस म्हणजे इक्ष्वाकूचा आज्ञा आणि मनुचा बाप आदित्य घेतला तर सूर्यवंशाच्या मूळ पुरुषापासून चंद्रगुप्तापर्यंत मेग्यास्थिनीस याने पिढ्या सांगितल्या असाव्या हे जुळते; पण हिरॉक्लिस म्हणजे जर श्रीकृष्ण तर डायोनिसेस किंवा आदित्यापासून श्रीकृष्ण हा १५ वा पुरुष होता असे जें मेग्यास्थिनीस यानें कंठरवानें सांगितलें आहे त्याची वाट काय ? प्रश्न बरोबर आहे; आणि त्यास उत्तरही पण महाभारतांतच यथार्थ दिलेले आहे. अनुशासन पर्व, अ. १४७ (कलकत्ता प्रत) यांत श्रीकृष्ण मानववंशात उत्पन्न झाला असे सांगून दाक्षायण्य आदित्यापासून श्रीकृष्णापर्यंत—आदित्य, मनु, इला (बुध), पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति, यदु, कोष्ठा, वृजिनीवान्, उषद्र, चित्ररथ, शूर, वसुदेव, आणि श्रीकृष्ण—अशा १५ च पिढ्या दिल्या आहेत.

यावरूनही डायोनिसेस कोण होता, याचा सहज निर्णय होतो. दक्षाची कन्या जी दाक्षायणी तिच्यापासून आदित्य झाला आणि आदित्यापासून मनु व मनुपासून इला (बुध) अशी एक परंपरा आहे. दुसरी परंपरा यदुवंशाची होय. या परंपरेप्रमाणें आदित्यापासून श्रीकृष्ण १५ वा येतो. या दोन परंपरांची मेग्यास्थिनीस यानें दिलेल्या डायोनिसेस स्पटेबस, बुध ही एक व डायोनिसेसपासून श्रीकृष्ण १५ वा ही दुसरी, या दोन परंपरेशी तुलना केली म्हणजे डायोनिसेस कोण याचा बिलकूल संदेह राहत नाही. आमच्या पुराणांत मनु दोन आहेत; एक स्वायंभव दुसरा वैवस्वत. पण हा भेद लक्षात न आल्यामुळे मेग्यास्थिनीस याने वैवस्वत मनुसच स्वायंभव (स्पटेबस) म्हटले असावें, असें वाटतें. कसेंही असो; बुधापासून मागें तिसरा व श्रीकृष्णापासून मागें पंधरावा असा पुरुष आमच्या पुराणाप्रमाणें विवस्वान् आदित्य हाच होय. सूर्यवंशाचा मूळ पुरुषही हाच आहे. व म्हणून डायोनिसेस म्हणजे इक्ष्वाकु घेण्यापेक्षा विवस्वान् आदित्य मानणें अधिक सयुक्तिक आहे. इक्ष्वाकु हा मनुचा मुलगा व आदित्याचा नातु होय. करतां इक्ष्वाकूपासून नंदापर्यंत ज्या १४७ पिढ्या पुराणात सांगितल्या आहेत, त्या आदित्यापासून मोजल्या असता १४९ होतात. ही संख्या मेग्यास्थिनीसनें सांगितलेल्या १५३ पिढ्यांपेक्षां दोन चार पिढ्यांनींच काय ती कमी येते. सारांश, कोणत्याही दृष्टीने पाहिलें तरी डायोनिसेस म्हणजे विवस्वान् आदित्य हेंच अनुमान अधिकाधिक दृढ होतें.

आतां रा. वैद्य यांनीं जी चूक केली आहे तिच्याकडे वळूं. डायोनिसेसपासून श्रीकृष्ण १५ वा आणि डायोनिसेसपासून चंद्रगुप्त १५३ वा; म्हणून श्रीकृष्णापासून चंद्रगुप्त १३८ वा असें त्यांनीं अनुमान केलें आहे. आपण हाच

न्याय जर महाभारतांत सांगितलेल्या सूर्यचंद्रवंशांच्या पिढ्यांस लावला, तर रा. वैद्य यांच्या कोटिक्रमांतील दोष कोणाच्याही ताबडतोब लक्षांत येईल. महाभारताच्या आदिपर्वांत ९४ व्या व ९५ व्या अध्यायांत वैवस्वत मनूपासून पांडवापर्यंतच्या दोन निरनिराळ्या वंशावळी दिल्या आहेत. या दोन निरनिराळ्या वंशावळी कां, हा प्रश्न स्वतंत्र आहे; कदाचित् या दोन भिन्न वंशावळी दोन निरनिराळ्या ग्रंथांतून घेतल्या असतील; किंवा दोन निरनिराळ्या परंपरेच्या आधारानें दिल्या असतील. कसेही असो; ९४ व्या अध्यायातील वंशावळीप्रमाणें विवस्वान् आदित्यापासून पांडव ३० वे येतात; आणि ९५ व्या अध्यायातील वंशावळीप्रमाणें ४५ येतात. म्हणजे महाभारतांतच पांडवांच्या दोन वंशावळींमध्ये १५ पिढ्यांचा फरक आहे. हाही फरक आपण तूर्त सोडून देऊन विवस्वान् आदित्यापासून पांडव ३० वे आहेत असेच गृहीत धरून चालूं. श्रीकृष्ण विवस्वान् आदित्यापासून १५ वे आहेत, याबद्दलचा महाभारतातील उल्लेख वर आलाच आहे. श्रीकृष्ण आणि पांडव जर समकालीन होते तर विवस्वान् आदित्यापासून श्रीकृष्ण १५ वे कां आणि पांडव ३० वे कां, असा सहज प्रश्न उत्पन्न होतो. इतकेंच नव्हे तर इक्ष्वाकूपासून दाशरथी रामापर्यंत कित्येक पुराणांत ६२ पिढ्या दिलेल्या आहेत; आणि राम तर कृष्णाच्या पूर्वीचे. तेव्हां या पिढ्यांचा मेळ कसा घालावयाचा ? रा. वैद्य यांची कोटी स्विकारली तर आदित्यापासून श्रीकृष्णाची पंधरावी पिढी, म्हणून पांडवांच्या तितक्याच पिढ्या झाल्या; आणि पांडव रामावतारापूर्वी झाले असें मानावे लागेल ! किंबहुना विवस्वान् आदित्यापासून पांडव जर ३० वे किंवा ४५ वे असा स्पष्ट उल्लेख आहे, तर पांडवांपूर्वीही श्रीकृष्ण १५ पिढ्या झाले असें मानणें भाग येईल ! हें अनुमान चुकीचे आहे हें सागावयास नकोच. आणि जर चुकीचें आहे तर डायोनिसेसपासून मोजलेल्या दोन शाखेच्या पिढ्यांसही तोच न्याय लागू केला पाहिजे. मेग्यास्थिनीस यानें आपण होऊन हिंदुलोकांच्या पुराणाचे अध्ययन केलें नव्हतें. त्यास हिंदुस्थानासंबंधानें जी माहिती मिळाली ती जशीच्या तशीच त्यानें आपल्या ग्रंथांत दिली आहे. उदाहरणार्थ, कर्णप्रावरण, (कानाचे पाघरण घेऊन निजणारे) किंवा एक पाद (एक पायाचे) लोक हिंदुस्थानांत आहेत, असें मेग्यास्थिनीसनें लिहिलें आहे; व त्याबद्दल युरोपांतील इतर ग्रंथकारानी त्यास नांवेही ठेविली आहेत. पण यांत मेग्यास्थिनीसचा काय दोष ? महाभारतातही कर्णप्रावरण आणि एकपाद लोक युधिष्ठिराचे राजसूय यज्ञाचे वेळीं हजर होते असें वर्णन आहे व ते मेग्यास्थिनीस यास कोणी सांगितल्यावरून त्यानें आपल्या ग्रंथांत या लोकांचीं नांवे दाखल केलीं असावीं. राजांच्या पिढ्यांसंबंधानेही मेग्यास्थिनीस यानें आपली माहिती अशाच प्रकारें मिळविली असावी. डायोनिसेस हें नांव मेग्यास्थिनीसचें आहे म्हणजे सर्वांचा मूळपुरुष म्हणून जो कोणी हिंदुलोकांनीं मेग्यास्थिनीस यास सांगितला त्यास त्यानें आपल्या भाषेत डायोनिसेस असें म्हटलें. या मूळ पुरुषापासून बुध

दुसरा व श्रीकृष्ण १५ वे, आणि चंद्रगुप्त १५३ वा अशी माहिती मेग्यास्थिनीस यास मिळाली; व प्रायः जशीच्या तशीच त्याने आपल्या ग्रंथात नमूद केली. पण डायोनिसोसपासून श्रीकृष्ण १५ वे, म्हणून पांडवही १५ वेच असले पाहिजेत, असे एवढ्यावरून अनुमान करणे अगदी धाडसाचे काम होय. कारण, पुराणात ज्या पुरुषापासून श्रीकृष्ण १५ वे सांगितले आहेत त्याच पुरुषापासून पांडव ३० वे किंवा ४५ वे आहेत असे म्हटले आहे. ह्या पिढ्याचा मेळ बसत नाही, हे खरे आहे; पण तेवढ्यावरून त्यापैकी श्रीकृष्णाची पिढी खरी असे धरून त्यावरून पांडवाचा काल निश्चित करणे अगदी गैरशिस्त आहे. पांडवांपूर्वी किंवा श्रीकृष्णापूर्वी मानवी सृष्टीची उत्पत्ति होऊन पंधराच पिढ्या झाल्या होत्या काय ? नाही. मग डायोनिसोसपासून श्रीकृष्ण १५ वा सांगितला म्हणून त्यावर पांडवाच्या कालाची इमारत रचणे अप्रशस्त नव्हे काय ? मेग्यास्थिनीस याने डायोनिसोसपासून हिरॉक्लिस १५ वा पुरुष होता असे का म्हटले याची उपपत्ति जर आता आपणास महाभारतात सापडत आहे, तर उगाच आडरानांत शिरण्यांत काहीं अर्थ नाही. डायोनिसोसपासून श्रीकृष्णाची शाखा व डायोनिसोसपासून चंद्रगुप्तापर्यंतची वंशावळ या दोनही अगदी स्वतंत्र आहेत. आणि त्यामुळे एकीवरून दुसरीत उडी मारणे कर्घाही योग्य होणार नाही. रा. वैद्य यानीं काढलेली ही नवी कोटी अशा तऱ्हेने लंगडी पडली म्हणजे त्यानीं भारतीय युद्धाच्या व पांडवाच्या कालासंबंधाने केलेले अनुमानही सोडून द्यावे लागते, पण स्थलसंकोचास्तव त्याचा विचार करणे आज तहकूब ठेवणे भाग आहे.

*महाभारत

नंबर ६.

जनमेजय एकच झाला होता असे मानून आणि गर्ग शककालापूर्वी झाला होता असे कल्पून रा. ब. वैद्य यानीं जी अनुमाने काढली आहेत. ती बरोबर नाहीत; व मेग्यास्थिनीसने श्रीकृष्णाच्या पिढ्याबद्दलची जी माहिती दिली आहे त्यावरून रा. ब. वैद्य म्हणतात तसे अनुमान निघत नाही हे पूर्वीच्या लेखातून आम्ही दाखविलेच आहे. मेग्यास्थिनीस आपणास श्रीकृष्णाच्या पिढ्यांबद्दलची माहिती हिंदु लोकाकडूनच मिळाली असे स्पष्ट म्हणत आहे, आणि विवस्वान् आदित्यापासून श्रीकृष्णापर्यंत पंधरा पिढ्या होतात. ही माहिती भारत व हरिवंश

यांखेरीज इतरत्र दिलेली आढळत नाही. अर्थात् मेग्यास्थिनीसच्या लेखावरून जर काहीं अनुमान करावयाचे असेल तर तें हेंच की, त्याच्या वेळीं भारत ग्रंथ प्रचलित असून त्यास सदर ग्रंथावरूनच तत्कालीन पंडितानीं पूर्वीच्या राजाची माहिती दिली असावी. मेग्यास्थिनीसने दिलेल्या कर्णप्रावरणादि लोकांच्या माहितीवरूनही हेंच अनुमान दृढ होतें. यापेक्षा जास्त पुढें जाऊन १५३ नात १५ पिढ्या वजा घालून पाडवाचा काल मेग्यास्थिनीसच्या म्हणण्यावरून ठरविणें अगदीं चुकीचें होय. विवस्वान् आदित्यापासून पाडवाच्या आणि श्रीकृष्णाच्या पिढ्या खुद्द महाभारतांतच दिलेल्या आहेत, व त्यासंबंधानें जें अनुमान रा. व. वैद्य यांनीं केले नाहीं तेंच अनुमान मेग्यास्थिनीसच्या माहितीवरून करणे आम्हांस वाजवी दिसत नाहीं. आदित्यापासून श्रीकृष्णाच्या पंधरा पिढ्या होतात हें सांगावयास आम्हांस मेग्यास्थिनीस नको. ही माहिती महाभारतात आहे. तिचा मेळ पाडवांच्या पिढ्याशीं कसा घालावयाचा एवढाच काय तो प्रश्न आहे व त्याचा उलगडा रा. व. वैद्य म्हणतात त्याप्रमाणें होऊं शकत नाहीं.

असो; शतपथ ब्राह्मणातील जनमेजयाचा उल्लेख, गर्गाचा काल आणि मेग्यास्थिनीसची माहिती यावरून रा. व. वैद्य यांनीं काढलेलीं अनुमानें चुकीचीं ठरली म्हणजे भारती युद्धाच्या कालासंबंधानें त्यांनीं जें अनुमान काढलें आहे तेंही विश्वासनीय म्हणता येत नाहीं. चितामणरावजीनी असें सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला आहे की, भारती युद्ध कलियुगाच्या आरंभी झालें. कलियुगाची हल्लीं म्हणजे शके १८२७ साली गतवर्षें ५००६ आहेत; म्हणजे शालिवाहन शकापूर्वी ३१७९ व्या वर्षीं भारती युद्ध झाले असे रा. व. वैद्य यांचें म्हणणें आहे. हाच काल ख्रिस्ती सनाच्या पद्धतीने मोजला असता ख्रिस्तापूर्वी ३१०१ व्या वर्षीं येतो. आमच्या ज्योतिषग्रंथकाराची सामान्य समजूत अशी आहे की, कलियुगाच्या आरंभापासून ३०४४ वर्षें युधिष्ठिर शक चालत होता, पुढें १३५ वर्षें विक्रम शक चालू झाला. हीच परंपरा खरी असावी व कलीच्या आरंभी पांडव झाले म्हणून त्यास होऊनही आतापर्यंत ५००६ वर्षें झालीं असावीं असे रा. व. वैद्य यांनीं प्रतिपादन केले आहे; व त्याच्या पुष्ट्यर्थ मेग्यास्थिनीसची माहिती व गर्गाचा काल वगैरे प्रमाणें दिली आहेत. हीं प्रमाणे लंगडी आहेत किंबहुना चुकीचीं आहेत हे पूर्वी दाखविलेच आहे. आता मुख्य गोष्टीकडे म्हणजे कलियुगाच्या कालाकडे वळू.

अलीकडे मि. आग्यर, प्रो. रंगाचार्य आणि काही युरोपियन गृहस्थ यांनीं जी माहिती गोळा केली आहे त्यावरून कलिकालाच्या गणनेसंबंधानें आमच्या ज्योतिषानीं पुष्कळ घोंटाळा केला आहे असें नजरेस येतें. शालिवाहन शकापूर्वी ३१७९ किंवा विक्रम शकापूर्वी ३०४४ वर्षें युधिष्ठिर शक चालू होता यास विश्वसनीय असें कोणतेच प्रमाण अद्याप सापडलें नाहीं. शालिवाहन शकापूर्वीच्या दोन तीन शतकांतले शिलालेख सध्यां उपलब्ध झालेले आहेत. पण

त्यांत युधिष्ठिर शकाचा कोठेही उल्लेख नाही. तत्पूर्वीचे 'काल' म्हटलें म्हणजे महावीर व बौद्ध यांचे होत. युधिष्ठिर शक किंवा काल जर खरोखरच विक्रमापूर्वी ३०४४ वर्षे चालू होता तर त्या कालाचा उल्लेख मागच्या कोणत्या तरी ग्रंथात असावयास नको होता काय? परंतु तसा उल्लेख कोठेही सापडत नाही. अशा स्थितीत युधिष्ठिर शकाची ३१७९ वर्षे गेल्यावर शालिवाहन शक सुरू झाला असा निर्णय प्रथमतः कोणी व कसा केला हा प्रश्न सहज उद्भवतो. शालिवाहन शक सुरू झाला त्यावेळी युधिष्ठिर शकाची ३१७९ वर्षे झाली होती हें ज्ञान ज्योतिष्यास तत्कालीन प्रत्यक्ष वस्तुस्थितीवरून झालें किंवा अनुमानानें झालें असा प्रश्न आहे. वस्तुस्थितीवरून झालें म्हणावे तर त्यास काहीं आधार सापडत नाही, इतकेच नव्हे तर शालिवाहनाच्या दुसऱ्या शतकात झालेल्या गर्गानें शालिवाहान शकापूर्वी २५२६ व्या वर्षी युधिष्ठिर झाला असें लिहिले आहे! काश्मीरचा इतिहास लिहिणारे कल्हण पंडित या दोन गोष्टींचा मेळ असा घालतात की, युधिष्ठिर कलियुगाच्या आरंभी न होतां गतकाली ३१७९-२५२६=६५३ व्या वर्षी झाला. पण कल्हण पंडिताप्रमाणे युधिष्ठिराचे किंवा पाडवाचे कालमान स्वीकारलें तर "अंतरे चैव संप्राप्ते कलिद्वारपरयोरभूत् । स्यमत पंचके कुरुपांडवसेनयोः ।" या महाभारतातील वाक्याशी विशेष विरोध येतो. कल्हणाचें म्हणणें न स्वीकारावें तर गर्गाच्या वाक्याची वाट लागत नाही. गर्गाचे असें म्हणणें आहे की, सप्तर्षिनामक तारे पाडवाच्या वेळीं मघा नक्षत्रांत होते व हे तारे चल असून दर शंभर वर्षांनीं एकेक नक्षत्र पुढें सरकतात. वस्तुतः पाहता सप्तर्षिस मुळीच गति नाही. ते युधिष्ठिराच्या वेळींही मघात होते. गर्गाच्या वेळीं मघात होते व हल्लीं मघांतच आहेत. अर्थात् वरील कालगणनेला गर्गाचार्यांची कांहीं तरी चूक झाली असावी असें मानणें जरूर आहे. ही चूक काय, किंवा कशी झाली असावी याचा आपण विचार करूं.

आमचे असें मत आहे की, कलियुगास आरंभ होऊन किती वर्षे झाली याचा विचार विक्रम किंवा शालिवाहनशकास आरंभ होण्यापूर्वी फारसा कोणी केलेला नव्हता. विक्रम शकापूर्वी सुमारे चारपांचशे वर्षे बौद्धधर्माचेच या देशांत प्राबल्य होतें. व काल गणनाही बुद्धाच्या निर्वाणापासून करित असत. विक्रम आणि शालिवाहन यांचे शक जेव्हा सुरू झाले तेव्हा बुद्धाच्या पूर्वीच्या कालगणनेशीं यांचा मेळ घालणें जरूर पडलें व ते काम तत्कालीन ज्योतिषांनीं हातात घेऊन आपल्या समाजाप्रमाणे तडीस नेलें. यापैकी पहिला ज्योतिषी गर्ग होय. यानें असें सांगितलें की, बुद्धाच्यापूर्वीचा काल म्हणजे पांडवांचा किंवा कलियुगाचा काल होय. पांडव केव्हा झाले किंवा कलियुगास केव्हा प्रारंभ झाला हें निश्चितकसे करावें असा दुसरा प्रश्न मग सहज उद्भवला. सप्तर्षी चल आहेत. अशी गर्गाची समजूत होती; आणि पांडवांच्या वेळीं सप्तर्षी मघांत होते असाही त्यास कोठें उल्लेख आढळला. गर्गाच्या वेळींही सप्तर्षी मघांतच

होते तेव्हां दरेक नक्षत्रास शंभर वर्षे याप्रमाणें २७ नक्षत्रांचा फेरा पुरा होऊन पुन्हा मघांत येण्यास पांडवांच्या कालापासून आपल्या कालापर्यंत २७०० वर्षे गेलीं असावीं असें गर्गानें अनुमान केलें. एरव्हीं सप्तर्षींची शंभर वर्षांत एक नक्षत्रगति सांगून लगेच शककालांत २५२६ वर्षे मिळविल्यानें युधिष्ठिराचा काळ येतो असें गर्गानें म्हटलें नसतें. २५२६ यांत १७४ मिळविले म्हणजे २७०० होतात करिता यावरून असें अनुमान निघतें कीं, गर्ग शककालाच्या १७४ व्या वर्षीं झाला व आपल्यापूर्वी २७०० म्हणजे शककालापूर्वी २५२६ वर्षे युधिष्ठिर झाला असा सप्तर्षींच्या काल्पनिक गतीवरून त्यानें निर्णय केला असावा. गर्गाच्या मते हाच कलियुगाचा आरंभ होय. गर्गाच्या वेळीं शक राजे होऊन गेले होते असें गर्गाच्या ग्रंथांतील प्रमाण देऊन मार्गे आम्हीं दाखविलेच आहे.

पण गर्गानें कल्पिलेली सप्तर्षींची गति वास्तविक नसल्यामुळे गर्गाची चूक पुढील ज्योतिष्यांच्या लवकरच नजरेस आली. गर्गाच्या पुढला मोठा ज्योतिषी आर्यभट्ट होय. हा शके ४२१ मध्ये होता. वास्तविक पाहिलें तर सप्तर्षीं यावेळीं मघाच्यापुढें तीन नक्षत्रे असावयास पाहिजे होते. पण आर्यभट्टास ते मघांतच आढळले व गर्गाचें अनुमान चुकीचें ठरले. तेव्हा कलियुगाचा आरंभकाल दुसऱ्या कोणत्या तरी साधनानें ठरविता येतो कीं काय याचा आर्यभट्टानें विचार केला. त्यांच्या कार्त्तिकी म्हणजे शके ४२१ व्या वर्षीं अयनाश शून्य होते व आर्यभट्टानें हेच अयनाश कलियुगाच्या आरंभकाली शून्य असावेत असें गृहीत घेतलें. अयनाश एकदां शून्य असल्यापासून पुन्हा शून्य होईपर्यंत सूर्यसिध्दान्ताप्रमाणें ३६०० वर्षे लागतात. करिता शके ४२१ च्या पूर्वी ३६०० वर्षे म्हणजे शककालापूर्वी ६००-४२१ = ३१७९ वर्षे अयनाश शून्य होते. व कलियुगाचा आरंभ झाला असें आर्यभट्टानें ठरविलें. हाच निर्णय पुढील ज्योतिषांनीं मान्य करून कलियुगात युधिष्ठिर शक ३०४४ विक्रम शक १३५ व पुढें शालिवाहन शक असा क्रम बसविला. कलियुगामध्ये सहा शककर्ते होतील हें भविष्य अर्वाचीन ज्योतिष ग्रंथाखेरीज इतरत्र कोठें सांपडत नाहीं. निदान असल्याचें तरी अद्याप उपलब्ध झालेलें नाहीं.

वरील विवेचनावरून असें कळून येईल कीं, आमच्या पंचांगांत कलियुगाचा जो प्रारंभ-काल दिलेला असतो तो प्रथम गर्ग व आर्यभट्ट यांनीं निरनिराळ्या साधनानीं ठरविला व त्यापैकीं आर्यभट्टानें निश्चित केलेला काल हल्लीं पंचांगांत देत असतात. शालिवाहन शकापूर्वी ३१७९ व्या वर्षीं युधिष्ठिर झाला यास आर्यभट्टाच्या गणनेखेरीज दुसरा परंपरेचा किंवा प्रत्यक्ष गणनेचा काहीं आधार नाहीं. इतकेंच नव्हे तर युधिष्ठिर शकाचा विक्रमापूर्वींच्या ग्रंथांत कोठेंच उल्लेख नाहीं. किंबहुना 'युधिष्ठिर शक' हा समासघटित शब्दच असंबद्ध आहे. शकराजांनीं जो काल सुरू केला त्यास 'शक' किंवा 'शाक' असें म्हणण्याची

वह्निवाट आहे; व शक राजे युधिष्ठिरानंतर पुष्कळ वर्षांनी झाले. तेव्हां युधिष्ठिराचा शक' हे शब्द 'युधिष्ठिराचा सन' या शब्दाप्रमाणेच असंबद्ध किंवा विरुद्धार्थबोधक आहेत. 'युधिष्ठिरकाल' हा शब्द बरोबर होईल, पण तसा शब्द रूढ नाही; इतकेंच नव्हे तर युधिष्ठिरकालाची गणना अमलांत असल्याबद्दल शककालापूर्वीचा कोणत्याही प्रकारचा लेख उपलब्ध नाही. अर्थात् कलियुगारंभ किंवा युधिष्ठिराचा काल शककालानंतरच्या ज्योतिष्यांनी गणितरीत्या मागाहून ठरविला असावा असे मानणें भाग पडतें. गर्गाच्या व आर्यभट्टाच्या गणनेत चूक झाली आहे, ती याचमुळे होय, व कल्हण पांडितांनं केलेली एकवाक्यता जुळत नाही त्याचेंही कारण हेंच होय.

आर्यभट्टानें युगारंभी अयनाश शून्य होतें असे मानून कलियुगारंभ ठरविला; पण कलियुगारंभी अयनाश शून्य होते यास प्रमाण काय हें त्यानें सांगितलें नाही व दुसऱ्या कोठें उपलब्धही नाही. अर्थात् आर्यभट्टानें निश्चित केलेला युगारंभकाल गर्गाच्या कालाप्रमाणेच काल्पनिक ग्रहस्थितीवर अवलंबून आहे. हल्लींचा प्रचार पाहिला तर गर्गानें निश्चित केलेला काल काश्मीरात प्रमाण घरतात, आणि तेथें आर्यभट्टाशी विरोध टाळण्याकरता (महाभारताचा विरोध मनात न आणतां) पांडव कलियुगाच्या ६५३ व्या वर्षी झाले असें मानतात. काश्मीरखेरीज हिंदुस्थानात इतर ठिकाणी आर्यभट्टाचें मत ग्राह्य धरून पांडव व कलियुगारंभ शालिवाहन शकापूर्वी ३१७९ व्या वर्षी झाला असे मानतात. वस्तुतः पाहिलें तर ही दोन्हीं कालमानें शककालानंतर गणितानें ठरविलेलीं आहेत; प्रत्यक्षापासून परंपरेनें प्राप्त झालेलीं नाहीत. अर्थात् हीं कालमानें घेऊन पांडवांचा काल निश्चित करणें म्हणजे पांडवांच्या कार्त्तिकी अयनाश शून्य होतें किंवा सप्तर्षी मघात होते एवढ्याच गोष्टीवर अवलंबून राहण्यासारखें होय. परंतु हीं दोन्हीं विधानें अन्यप्रमाणानीं सिद्ध होत नसल्यामुळे त्याच्यायोगें निश्चित केलेला पांडवांचा काल ऐतिहासिक दृष्टीनें पाहतां विश्वसनीय मानता येत नाही. रा. वैद्य यांस हा आक्षेप माहित होता असें दिसतें कारण एरव्ही मेग्यास्थिनीसची माहिती, गर्गकाल वगैरे साधनांनीं आर्यभट्टाने काढलेल्या कलियुगारंभकालाचें त्यांनीं समर्थन केलें नसतें. रा. वैद्य यांनीं ही जी नवीन प्रमाणें दिली आहेत ती चुकीची आहेत हें आम्हीं वर दाखविलेंच आहे. अर्थात् आर्यभट्टानें निश्चित केलेल्या कलियुगारंभ कालाच्या गणनेतील उणीव भरून निघत नाही; आणि ती जर भरून निघाली नाही तर ऐतिहासिकदृष्ट्या पांडवांच्या कालाचा विचार करतांना हल्लींच्या पंचांगांतील कलियुगारंभकालापेक्षां दुसरीं साधनें आम्हांस शोधून काढिली पाहिजेत. हीं साधनें कोणतीं व त्यांचा रा. वैद्य यांनीं काय विचार केला आहे याचें विवेचन पुढील खेपेस करूं.

*महाभारत.

नंबर ७

भारतीययुद्धाचा काल निश्चित करण्याचें बाबतींत जीं कांहीं साधनें उपलब्ध आहेत त्यापैकीं तीन साधनाचा विचार आजपर्यंतच्या लेखांत केलेला आहे. महाभारतांत दिलेली ग्रहस्थिती दुहेरी म्हणजे सायन-निरणयात्मक धरून त्याचप्रमाणें गणीत केले असतां भारतीय युद्धकाल ख्रिस्तीशकापूर्वी सुमारे पांचहजार वर्षे येतो असें सायनवादी कै. लेले व मोडक यांनीं प्रथम प्रसिद्ध केले होते. परंतु हें गणित बरोबर असलें तरी भारतांतील ग्रहस्थिति वास्तविकरीत्या दुहेरी नसल्यामुळे ज्या आधारावर हें गणित केले तोच चुकलेला होता असें केसरीपत्रांत मागे आम्हीं लिहिलें होते व तेंच मत पुढें सायनवादी कै. दीक्षित यांनींही मान्य करून आपल्या भारतीय ज्योतिषशास्त्रग्रंथांत नमूद केले आहे. रा. ब. वैद्य यांचही मत कै. दीक्षित यांच्या मताप्रमाणे आहे. सारांश भारतांतील ग्रहस्थिति दुहेरी आहे अशा समजुतीवर कै. लेले व मोडक यांनीं काढलेलें अनुमान आतां चुकीचें ठरले आहे ही एक पक्षाची वाट झाली. भारतीय युद्धकालनिर्णयाचा दुसरा मार्ग म्हटला म्हणजे कलियुगारभ काल होय. पण कलियुगारभ काल हा कलियुगाच्या प्रारंभापासून हल्लीं आम्हीं शककाल मोजतो त्याप्रमाणें पिढ्यानु-पिढ्या प्रत्यक्ष मोजीत आलेला नसून शककालानंतर कांहीं काल्पनिक ग्रहस्थितीवरून गणिताने ठरविलेला आहे असे गेल्या अंकीं आम्हीं दाखविलें आहे. या मार्गाप्रमाणें भारतीय युद्धाचा काल ख्रिस्तीसनापूर्वी ३१०१ येतो परंतु ज्या काल्पनिक ग्रहस्थितीवरून हा काल काढला आहे ती खरी नसल्यामुळे हेंही अनुमान (गणित बरोबर असले तरी) ऐतिहासिकदृष्ट्या अग्राह्य होय. रा. ब. वैद्य यांनीं या अनुमानाच्या पुष्टीकरणार्थ मेग्यास्थिनीसचा उतारा देऊन व डायोनिसापासून श्रीकृष्णाच्या १५ पिढ्या धरून मेग्यास्थिनीसनें दिलेल्या कालाचा सध्यां प्रचारांत असलेल्या कलियुगारंभकालाशीं मेळ घालण्याचा प्रयत्न केला आहे. पण रा. ब. चिंतामणराव वैद्य यांनीं मेग्यास्थिनीसच्या वाक्यावरून काढलेलें अनुमान बरोबर नाही असेंही आम्हीं दाखविलें आहे. अर्थांत सध्यां प्रचारांत असलेल्या कलियुगारंभकालाचें स्पष्टीकरण रा. ब. वैद्य यांनीं काढलेल्या नव्या युक्तीनें होऊं शकत नाही. करितां ऐतिहासिकदृष्ट्या हाही काल धरावा लागतो. म्हणजे भारतीय-युद्ध ख्रिस्ती सनापूर्वी पाच हजार वर्षे निदान ३१०० वर्षे तरी झाले अशी जी दोन मते आहेत तीं दोन्ही गणिताला बरोबर असलीं तरी ऐतिहासिकदृष्ट्या चुकीचीं व टाकाऊ ठरतात. आतां याखेरीज भारतीय युद्धाचा काल निर्णित करण्याची दुसरी कांहीं साधनें उपलब्ध आहेत कीं काय, असल्यास

ती कोणती आणि त्यापासून काय अनुमान निघते आहे हे पहावयाचे राहिले आहे. यासंबंधाने आम्हीं जो विचार करणार तो हल्लीं उपलब्ध असलेल्या साधना-वरूनच करणार आहों. यापेक्षां जास्त साधनें पुढें मार्गे उपलब्ध झाल्यास हे अनुमान कायम होईल किंवा फिरवावे लागेल हे निराळे सांगितलें पाहिजे असें नाही. कालगणनेची किंवा कालाचा निश्चय करण्याची हल्लींची पद्धत प्रचलित आहे ती अगदीं शास्त्रीय आहे त्यांत चूक नाही. परंतु साधनाच्या कमतरतेमुळे अनुमानांत थोडीशी संदिग्धता राहण्याचा संभव आहे व ती कालातरानेंच दूर होणारी आहे.

वरील दोन मार्ग सोडून दिले म्हणजे पांडवाचा कालनिर्णय करण्यास उपयोगी अशा तीन चार गोष्टींच शिल्लक राहतात. पैकीं पहिली गोष्ट म्हटली म्हणजे विष्णुपुराण, भागवत वगैरे दोन चार पुराणांत सापडणारा खाली लिहिलेला श्लोक होय:—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नदाभिषेचनम् ।

एतद्रर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम् ।

म्हणजे परिक्षिताच्या जन्मापासून नंदास अभिषेक होईपर्यंत एक हजार पंधरा वर्षे गेलीं. कांहीं पुराणांत 'ज्ञेयं' या ऐवजी 'शतं' असा पाठ आहे. या पाठाप्रमाणें आणखी शंभर वर्षे जास्ती म्हणजे १११५ वर्षे होतात. कोणी 'पंचदश' याचा अर्थ पन्नास करतात; व कोणी व्याकरणाकडे दुर्लक्ष करून 'शतंपंच' असा पदच्छेद करून त्याचा अर्थ ५०० वर्षे असा धरतात. पण हे अर्थ चुकीचे आहेत. कारण वरील श्लोकांत सांगितलेली वर्षांची संख्या विष्णुपुराणातच दुसऱ्या तऱ्हेने सांगितली आहे; व या दोन्हींचा जेणेकरून मेळ बसेल तीच संख्या खरी समजली पाहिजे. सप्तर्षीना काल्पनिक गती मानण्याचा एकदा प्रचार होता असें मार्गे आम्हीं सांगितलेंच आहे. या रीतीप्रमाणे सप्तर्षि

ते तु पारीक्षिते काले मघास्वासन् द्विजोत्तम ।

प्रयास्यंति यदा चैते पूर्वाषाढां महर्षयः ।

तदा नंदात्प्रभृत्येष कलिवृद्धिं गमिष्यति ॥

हे परिक्षिताचे वेळीं मघा नक्षत्रांत व नंदाचे वेळीं पूर्वाषाढा नक्षत्रांत होते असे वर्णन आहे. मघा धरून पूर्वाषाढापर्यंत दहा नक्षत्रें येतात; आणि दर नक्षत्रास शंभर वर्षे या मानानें परिक्षितापासून नंदापर्यंत एक हजार वर्षे धरीत असत असें सहज निष्पन्न होतें. परिक्षित आपल्या वयाच्या पंधरा सोळाव्या वर्षी गादीवर बसला. ही पंधरा सोळा वर्षे वरील हजार वर्षांत मिळविली म्हणजे परिक्षित राजाच्या जन्मापासून नंदापर्यंत एकहजार पंधरा वर्षे येतात व 'यावत्पारीक्षितो जन्म' या वर दिलेल्या श्लोकाचाही तोच अर्थ आहे. अर्थात् त्या श्लोकाचा हाच अर्थ बरोबर आहे असें म्हणावें लागते.

पुराणांत परिक्षितापासून नंदापर्यंत हा जो काल दिलेला आहे तो कांहीं

तरी पूर्वीच्या आधारावरून दिलेला असेल, असें सत्कृद्दर्शनीं मानणें जरूर आहे. त्यांतून एकच पुराणांत हा काल असतां तर गोष्ट निराळी; पण तो दोन चार पुराणांत ज्या अर्थी सापडतो त्याअर्थी त्यास ऐतिहासिक परंपरेचा कांहीं आधार असावा, असें मानावे लागतें. रा. ब. वैद्य यांनीं आपल्या पुस्तकात हा काल दिलेला आहे. परंतु तो विश्वसनीय न मानण्यास त्यांनीं एक कारण दिलें आहे. ते म्हणतात कीं, विष्णुपुराणातच पाडवाच्या समकालीन जरासंधापासून चौवीस मागध राजे सागून ते १००० वर्षे राज्य करतील, असें सांगितलें आहे. त्यानंतर पाच प्रद्योत राजे १३८ वर्षे राज्य करतील व पुढें दहा शैशुनाग वंशांतील राजे ३६२ वर्षे राज्य करतील असें म्हटले आहे; व शैशुनाग राजानंतर नंद राजे गादीवर येतील असा क्रम दिला आहे. या क्रमावरून पाडवाच्या समकालीन जरासंधापासून ३९ किंवा ४० राजे होऊन तितक्या मुदतींत १००० + १३८ + ३६२ = १५०० वर्षे काल गेला असें दिसून येते. परिक्षिताच्या जन्मापासून नंदराजापर्यंत १०-१५ वर्षे गेलीं असें 'यावत्पारिक्षितो जन्म' या श्लोकात सांगितले आहे; आणि मागध देशच्या राजांच्या गणनेवरून हाच काल १५०० वर्षांचा निघतो. अर्थात् हा विरोध अपरिहार्य असल्यामुळे या दोघांपैकीं कोणताही काल ग्राह्य नाही असें रा. ब. वैद्य यांचें म्हणणें आहे. आम्हास हें अनुमान बरोबर वाटत नाही. याचें पहिलें कारण असें कीं, १०१५ आणि १५०० या दोन्ही संख्या जरी सोडून दिल्या तरी मगध देशांत जरासंधापासून नंदापर्यंत ३९ राजे झाले हें विधान शिल्लक राहते तें राहतेंच. दरएक पिढीस वीस वर्षे हें रा. ब. वैद्य यांचें प्रमाण घेतले तर ३९ पिढ्यास सुमारे ७८० किंवा ८०० वर्षे लागतात. या हिशेबानें नंदापूर्वी जरासंध सुमारे ८०० वर्षे होता असें अनुमान निघतें; आणि नंदापूर्वी १०१५ वर्षे परिक्षिताचा जन्म झाला असे कंठरवानें म्हटलें आहे तर सामान्यतः १००० वर्षांचाच काल ग्राह्य आहे असेंच म्हणावे लागतें. दुसरे कारण असें कीं, मगध देशाच्या राजांचा काल १५०० वर्षांचा होता, असे सांगण्यात यदाकदाचित् जरी चूक झाली असें मानलें तरी परिक्षिताच्या जन्मापासून नंदापर्यंतच्या कालात तशी चूक झाली असेल असें मानता येत नाहीं. कारण तो काल मागें सांगितल्याप्रमाणें दुहेरी रीतीनें म्हणजे सप्तर्षिकाच्या कालगणनेनें आणि सामान्य संख्येनें सांगितला आहे. तिसरें कारण काश्मीरच्या इतिहासांत काश्मीरच्या राजांच्या दिलेल्या पिढ्या होय. पांडवांचे वेळीं काश्मीरचा राजा गोनर्द असून भारतीय युद्धापूर्वी थोड्या वर्षे जरासंधानें मथुरेस वेढा घातला असतां तो बलरामाकडून मारला गेला, असें हरिवंशावरून सिद्ध होतें. या गोणर्दापासून शककर्त्या कनिष्क राजापुढला दुसरा काश्मीरचा राजा जो अभिमन्यु त्या पर्यंत ५२ पिढ्या झाल्या, अशी कल्हणकृत काश्मीरच्या इतिहासांत पूर्व-परंपरेनें माहिती दिली आहे. ही पिढ्यांची संख्या परिक्षितापासून नंदापर्यंत मगध-देशांत झालेल्या राजांच्या पिढ्यांच्या संख्येशी बरोबर मिळते. कारण नंदापासून

कनिष्कापर्यंत सुमारे चारशे वर्षांचा काल येतो व इतक्या अवधीत २० पिढ्या घरल्या तर परिक्षितापासून कनिष्कापर्यंत सुमारे ३९+२०=५९ पिढ्या होतात; आणि ही संख्या गोनर्दापासून अभिमन्युपर्यंत काश्मीरच्या गादीवर बसलेल्या राजांच्या संख्येशी पाच सहाच्या फरकाने जुळते. यावरून असे अनुमान निघते की, परिक्षितापासून नंदापर्यंत सुमारे चाळीसच पिढ्या असाव्या. पुराणांत दिलेली ही माहिती पूर्वाच्या ऐतिहासिक आधारावरून दिलेली असल्यास पांडवापासून नंदापर्यंत सुमारे १०००।१२०० वर्षांचा काल गेला असावा असे मानणे भाग येते. हे अनुमान सर्वांशी विनचूक आहे असे सध्याच्या स्थितीत सांगतां येणे कठिण आहे. तथापि, काल्पनिक ग्रहस्थितीवरून काढलेल्या कलियुगारभकालापेक्षां किंवा भारतात दुहेरी ग्रहस्थिति आहे असे मानून कै. विसाजी रघुनाथ लेले यांनी ठरविलेल्या भारतीय युद्धकालापेक्षा पांडवापासून नंदापर्यंत किती पिढ्या गेल्या हे पाहून त्यावरून कालनिर्णय करण्याची पद्धत अधिक निर्दोष व सशास्त्र आहे असे कोणाही विचारी मनुष्यास उघड दिसणार आहे. पृथ्वीराज वगैरे रजपूत राजे पांडवापासून आपली वंशावळ देतात हैं प्रसिद्ध आहे. या वंशावळीतील पिढ्या मोजल्या तरीही पांडवापासून नंदापर्यंत वर लिहिल्याप्रमाणेच पिढ्यांची संख्या निघते. आता एवढी गोष्ट खरी आहे की, रजपूत राजांच्या वंशावळीत प्रत्येक राजाच्या कारकीर्दीची वर्षे बऱ्याच ठिकाणी ५०।६० च्या वर दिलेली असून त्याची सरासरीही दर पिढीस २०।२५ वर्षापेक्षा जास्त पडते. पण सरासरीने हे मान घेता येत नाही, असे मि. अय्यर यांनी इंग्लंड देशाच्या राजांच्या इतिहासाचे प्रमाण घेऊन आपल्या ग्रंथात दाखविले आहे. इंग्लंडाखेरीज इतर देशांचा इतिहास घेतल्या तरी हेंच अनुमान निघते. महाराणी व्हिक्टोरियासारखी एखादी राणी किंवा राजा चौसष्ट वर्षे राज्य करील नाही असे नाही. पण पन्नास साठ राजांच्या कारकीर्दी पाहून प्रत्येकाची सरासरी ठरवावयाची असते, करितां ती सरासरी २०।२५ वर्षापेक्षा जास्त निघत नाही. मि. अय्यर यांनी इतिहासावरून गणित करून असे दाखविले आहे की, इंग्लंड देशांत एका राजाचे कारकीर्दीचा सरासरीने काल २२ वर्षे येतो, फ्रान्सात २४, जर्मनीत २३, रशियात १९ आणि जपानांत २१ वर्षे असा येतो. हीच सरासरी आम्ही घेतली पाहिजे, आणि ती घेतली म्हणजे पिढ्याच्या गणनेवरून परिक्षितापासून नंदापर्यंत सुमारे १००० वर्षांचा काल गेला असावा असे मानणे भाग येते.

नंदाच्या कालापर्यंत गणित करण्याचे कारण असे की, नंदानंतर चाणक्याने राज्यावर बसविलेला चंद्रगुप्त राज्य करित असतां हिंदुस्थानावर ग्रीस देशाचा राजा अलेक्झांडर याने स्वारी केली होती; आणि ग्रीसच्या इतिहासावरून ही अलेक्झांडरची स्वारी ख्रिस्तीशकाच्या पूर्वी ३२५ व्या वर्षी झाली हें सिद्ध आहे. चंद्रगुप्ताचा हाच काल होय. या पूर्वी नंदराजांनी १०० वर्षे राज्य केले. अथात नंदाचा काल ख्रिस्ती शकापूर्वी ४२५ वर्षे येतो. त्यांत १०१५ मिळविले म्हणजे

वरील पद्धतीने पांडवाचा काल ख्रिस्ती शकापूर्वी सुमारे १५०० वर्षे येतो. मद्रासचे प्रोफेसर रंगाचार्य आणि कै. शंकर बाळकृष्ण दीक्षित हाच काल ग्राह्य धरतात. मि. आर्यर यात २००।३०० वर्षे कमी करून भारतीय युद्ध ख्रिस्ती शकापूर्वी ११९४ किंवा सामान्यपणे बोलावयाचे झाल्यास १२०० वर्षे झाले असे म्हणतात. कसेही असे; हल्लींच्या कालगणन पद्धतीवरून पाहिले तर भारतीय युद्धाचा काल ख्रिस्ती शकापूर्वी १२०० पासून १५०० वर्षे येतो. या पलीकडे जाऊ शकत नाही; व हा काल सोडून देऊन ज्योतिषांचा कलियुगारंभकाल हाच पांडवाचा काल असे मानण्यास रा. ब. वैद्य यानीं जी प्रमाणे दिली आहेत ती आमच्या मते बरोबर नाहीत.

येथपर्यंत रा. ब. चिंतामणराव वैद्य यांच्या ग्रंथाच्या पूर्वाधीतील कांहीं महत्त्वाच्या प्रश्नांचा व विशेषकरून त्यांतील वादग्रस्त प्रश्नांचा विचार झाला. आता पुढील लेखात त्यांच्या ग्रंथातील इतर कांहीं मुद्यांचे विवेचन करून या विषयावरील आमची लेखमाला आम्ही पुरी करणार आहों.

*महाभारत

नंबर ८ (मागील अंकावरून समाप्त).

या विषयावर आजपर्यंत जे लेख आले त्यात महाभारतीय युद्ध केव्हां झाले, युद्धातील पुरुष काल्पनिक आहेत कीं ऐतिहासिक आहेत, युद्धाचा इतिहास केव्हां, कोणी व कसा लिहिला, त्यात वेळोवेळां भर पडली कीं काय, आणि असल्यास ती कसकशी पडत गेली वगैरे मुद्द्यांमंबंधानें रा. ब. चिंतामणराव वैद्य यांचे सिद्धांत देऊन त्यांत आमच्या दृष्टीनें जें कांहीं उणेपुणे दिसले त्यांचें विवेचन केले आहे. परंतु हें विवेचन वाचताना वाचकांनीं एवढें लक्षात ठेविले पाहिजे कीं, महाभारत ग्रंथाची योग्यता व महत्त्व, तें कधीं झाले व केव्हां झाले, या प्रश्नांचे निर्णयावर अवलंबून नाही. सामान्यतः एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे कीं, जीजस खाइस्ट जन्मास येण्यापूर्वी काहीं शतके—निदान तत्पूर्वी तीन चार शतके—या ग्रंथाचें स्वरूप हल्लीं उपलब्ध आहे त्याचप्रमाणे होतें. ख्रिस्तानंतर पांचव्या शतकातील शिला-लेखांत एक लक्षात्मक भारताचा उल्लेख आहे; आणि जावाजवळील बली बेटात याच सुमारास या ग्रंथाचे बली बेटातील भाषेत भाषांतर झाले आहे. मेग्या-स्थिनीसच्या वेळां बहुधा हल्लींचेंच भारत प्रचारांत असावे, असें मागे आम्हीं दाखविलेंच आहे. अर्थात् कमीत कमी निदान २५०० वर्षे तरी हिंदुस्थानांतील हिंदुलोकांस हा ग्रंथ प्रिय होऊन व्यासानीं म्हटल्याप्रमाणे भारतधर्म पाळणाऱ्या

लोकपैकी अधिकारी पुरुषांचें शील आणि चारित्र्य यांचें वर्णन करण्याचे कामीं या ग्रंथाचा उपयोग होत आलेला आहे. आज शेवटच्या लेखांत महाभारता-संबंधानें आम्ही जे दोन शब्द लिहिणार आहों ते याच दृष्टीनें होत. ग्रंथ कसा झाला, कोणी केला, केव्हां लिहिला वगैरे प्रश्न ऐतिहासिक दृष्ट्या किंवा आधुनिक विद्वानांच्या चिकित्सक दृष्टीनें महत्त्वाचे असतील किंवा आहेत हें आम्हीं कबूल करितों; परंतु महाभारतासारख्या ग्रंथाने वजावलेली राष्ट्रीय कामगिरी जेव्हा पहावयाची असेल तेव्हां वरच्यासारखे कालगणनेचे प्रश्न गौण समजले जातात. इतकेंच नव्हे तर ही कामगिरी मोजताना कालाचें माप जवळ नसलें तरीही काहीं अडत नाहीं. दोन्ही दृष्टि अगदी वेगळ्या आहेत; आणि या वेगळ्या दृष्टीचें आज थोडें दिग्दर्शन करून हा लेख आम्ही संपविणार आहों.

महाभारताच्या वेळीं असलेली भारतवर्षाची स्थिति सध्यांच्या स्थितीहून अत्यंत भिन्न होती. शक किंवा म्लेच्छ राजे यांनी भारतीय युद्धात कोणत्या तरी एका पक्षास साहाय्य केल्याचें भारतात वर्णन आहे. पण या अवैदिक-धर्मी राजाचा हिंदुस्थानच्या कोणत्याही भागावर त्या वेळीं अमल चालू झाला नव्हता. वैदिकधर्म, भारतधर्म, ब्राह्मणधर्म अथवा हिंदुधर्म त्यास कोणतेंही नांव द्या—याचेच त्या वेळीं आसेतुहिमाचलापर्यंत प्राबल्य होतें. भारत वर्षातील निरनिराळ्या प्रांतात निरनिराळे राजे राज्य करीत असत. परंतु धर्मदृष्ट्या ते सर्व एक होते. आणि तशा दृष्टीने पाहिले म्हणजे भारतवर्ष हें त्या वेळचें एक मोठें हिंदु-राष्ट्र होतें. अशा परिस्थितीत एखाद्या प्रांताचा राजा पराक्रमी निघून तो आसपासच्या बऱ्याच राजाचा पराभव करून त्यास मांडलीक करून आपण सार्वभौम होई. पण हा सार्वभौमपणा मांडलीक राजापासून कर घेण्यापुरताच अमलात येत असे. कोणीही सार्वभौम राजानें मांडलिक राजाचा सर्वांशीं उच्छेद करून त्याचे प्रांत आपल्या प्रांतांस जोडून एकच प्रकारची राज्यव्यस्था सर्वत्र सुरू केल्याचे आमच्या जन्मा पौराणिक इतिहासात उदाहरण नाही. आणि तसें असण्याची तेव्हा जरूरीही नव्हती; कारण सर्वच प्रांतातील राजे जर एकाच धर्माचे अनुयायी असून एकाच देशांत राहणारे होते तर त्यांची सत्ता सर्वस्वी हिरावून घेण्याची सार्वभौम राजांस काहीं अवश्यकता नव्हती; आणि यदाकदाचित् अवश्यकता असली तरी या मांडलीक राजाच्या जागी दुसरा जो कोणी अधिकारी सार्वभौम राजाकडून नेमला जाई तो त्याच देशांतील असल्यामुळें त्याचाही मान मांडलीक राजाप्रमाणेच राहत असे. सारांश, भारतयुद्धाच्या काळची किंवा तदनंतर पुष्कळ शतकेपर्यंत हिंदुस्थानची राजकीय स्थिति पाहिली तर असें दिसून येतें कीं, त्यावेळीं भारतवर्ष म्हणजे अनेक लहान मोठ्या स्वतंत्र भारतधर्मीय राजांचा किंवा त्यांच्या ताब्यात असलेल्या प्रांतांचा एक समुदाय असून त्यापैकीं आज एक तर उद्यां दुसरा आणि कांहीं पिढ्यांनीं तिसरा असे निरनिराळे प्रांतिक राजे पराक्रमी निघून एका विशिष्ट प्रांतांचें सार्वभौमत्व इतर प्रांतांवर स्थापित करीत समुद्राच्या पृष्ठभागावर ज्याप्रमाणें

अनेक लाटा उसळत असून त्यांपैकी एका ठिकाणची लाट एकदां उंच तर दुसऱ्यावेळीं दुसऱ्या ठिकाणची लाट उंच गेलेली जशी दृष्टीस पडते, तद्वत् भारत धर्मानुसारी लोकांच्या महासागरावर निरनिराळ्या प्रांतातील राजांच्या लहान-मोठ्या लाटा भारतकार्त्वीं उसळलेल्या नजरेस येत. अशा परिस्थितीत राष्ट्रांतील पुढारी पुरुषांचें कर्तव्य हल्ली राष्ट्रांच्या पुढान्यांचें जें आपण कर्तव्य समजतो त्याहून फार भिन्न होतें. निरनिराळ्या धर्मांचे किंवा निरनिराळ्या रंगाचे लोक त्यास एक करावयाचे नव्हते. हिंदुस्थानचे मुळचे रहिवासी जे अनार्य लोक त्यांचा या पूर्वीच हिंदुधर्मातील चातुर्वर्ण्यांत समावेश झालेला होता; आणि उत्तरेकडून हिंदुस्थानांत आलेले जे आर्य लोक त्यांच्याशी याचा शरीरसंबंध होऊन दोघांच्या संमेलनांनै एक प्रकारचें नवीनच राष्ट्र तयार झाले होतें. किंवा या लोकावर अथवा या लोकांच्या देशावर बाहेरून कोणी परधर्मी राजा येऊन स्वारी करील अशी कोणासही शंका येण्याचे कारण नव्हतें व भीतिही नव्हती. अर्थात् स्वधर्म रक्षण आणि देशांत आपल्याच धर्मांचे जर कोणी दुष्ट पुरुष किंवा राजे उत्पन्न झाले तर त्याचा क्षय करून पुन्हा धार्मिक व सामाजिक निर्बंध पूर्ववत् करून लोकांस सुखी ठेवावें, एवढाच काय तो त्या वेळचा पुरुषार्थ होता. हा पुरुषार्थ श्रीकृष्णाने किंवा पांडवांनी कसा बजावला, हें महाभारतावरून पूर्णपणें समजून येणार आहे. 'परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृता।' असें जे अवतार घेण्याचें प्रयोजन भगवंतांनीं सांगितले आहे त्याच्या शब्दार्थाचा खुलासाही वर सांगितलेल्या दृष्टीनें चांगला करता येतो. श्रीकृष्णांनीं अशा रीतीनें जें अवतार-कृत्य केलें त्याचा थोडासा उल्लेख रा. ब. वैद्य यांच्या हल्लींच्या ग्रंथात आलेला आहे. पण त्याबद्दल जितका खुलासा व्हावयास पाहिजे होता तितका झालेला दिसत नाहीं. कदाचित् हा खुलासा रा. ब. वैद्य आपल्या प्रस्तावनेत म्हणतात त्याप्रमाणें पुढें प्रसिद्ध होणाऱ्या भागांत व्हावयाचा असेल. असें असल्यास ठीकच आहे. नाहीपेक्षा महाभारताच्या महत्त्वासंबंधी लिहिताना अशा दृष्टीनें सदर ग्रंथाचा त्यांनीं अवश्य विचार करावा असें त्यांस आम्हीं सुचवितो. श्रीकृष्णांच्या चरित्राखेरीज भारताची पूर्तता होत नाहीं, असे त्यांनीं एके ठिकाणीं म्हटलेलेच आहे; व हरिवंश भारतात धरावा लागतो याचेही कारण हेंच आहे असें त्यांनीं म्हटलें आहे. कौरवपांडवांचे युद्ध हा महाभारतातील मुख्य विषय खरा; व तें युद्ध होण्यास कौरवांचा दुष्टपणा आणि पांडवांचा लज्ज हीं कारणें झालीं हेंही खरें. पण कौरवपांडवांचे युद्ध हा श्रीकृष्णांच्या चरित्रांतील एक भाग आहे, किंबहुना या इतिहासाचा तो एक चालक आहे. आणि हा इतिहास अशा रीतीने घडवून आणण्यांत त्याचा काहीं हेतु होता हेंही आपण विसरता कामा नये. श्रीकृष्णांचें पांडवांस साहाय्य नसतें तर पांडवास जय मिळाला असता किंवा नाहीं याची शंकाच आहे. आणि जरासंधवधादिक कृष्णावतारांतील जीं काहीं कृत्यें तीं भीमार्जुनांच्या साहाय्याखेरीज घडलीं नसतीं.

नर आणि नारायण यांचे जें सारखें महत्त्व कित्येक ठिकाणीं गाइलें जातें त्यांतील बीज हेंच होय. धर्म, राजनीति, व्यवहारचातुर्य आणि बाहुबल यांचा समागम असणे किती जरूर आहे, आणि तसा समागम घडला असता कोणतें देशकार्य होतें हें महाभारतावरून शिकण्यासारखें आहे. महाभारतांतील योद्धे किंवा मुत्सद्दी यांनीं निरनिराळ्या प्रसंगी काढलेले उद्गार किंवा केलेलें वर्तन अनेक प्रसंगीं व्यक्तिशः अनुकरणीय किंवा बोधप्रद आहे यांत शंका नाही. पण या व्यक्ती-दृष्टीपलीकडे जाऊन धर्मदृष्ट्या किंवा राजदृष्ट्या विचार केला तरीही महाभारता-गासून आम्ही पुष्कळ गोष्टी शिकण्यासारख्या आहेत. किंबहुना आम्हा भारत-धर्मीयांच्या राष्ट्रीयत्वाचा हा ग्रंथ आज हजारों वर्षे आधारभूत होऊन आमच्या-ठायीं उन्नतीची तत्वे जागृत करण्यास कारणीभूत झालेला आहे.

भारतग्रंथाचा जो काल आम्ही ठरविला आहे तो बुद्धाच्या जन्मानंतरचा आहे. अर्थात् त्याकालीं बौद्धधर्माच्या उत्कर्षामुळें भारतधर्मास ग्लानी येण्याचा संभव होता; तेव्हां तसा प्रकार घडूं नये म्हणून तत्कालीन योर पुरुषांनीं पूर्वापार चालत आलेलें श्रीकृष्णाचें व पांडवांचें चरित्र एकत्र करून हल्लीं महाभारत ग्रंथाचें जे स्वरूप आहे ते त्यास दिलें असावे, असा कित्येकांचा तर्क आहे. कसेंही असो; एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे कीं, केवळ इतिहासदृष्ट्या नव्हे तर धर्मदृष्ट्याही भारताचें अतिशय महत्त्व असून या दृष्टीनें त्याचा स्वतंत्र विचार झाला पाहिजे. रा. ब. वैद्य हे पुढे प्रसिद्ध होणाऱ्या तिसऱ्या भागांत याबद्दल जास्त विचार करणार आहेत. पण हल्लीं प्रसिद्ध केलेल्या ग्रंथांतही हें धोरण कित्येक ठिकाणीं त्यांनीं अधिक लक्षात ठेवावयास पाहिजे होतें. हल्लींच्या ग्रंथाच्या दुसऱ्या भागात त्यांनीं पाडवांची जी संक्षिप्त कथा दिलेली आहे ती फारच मार्मिक रीतीनें दिलेली आहे, असें मागें आम्ही सांगितलेंच आहे. साहित्यशास्त्राच्या दृष्टीनें काव्यातील चटकदार प्रसंग सांगण्याची हातोटी रा. वैद्य यास चांगली साधली आहे यात शंका नाही; व रामायणावर ते जो हल्लींच्या ग्रंथाप्रमाणें ग्रंथ लिहिणार आहेत तोही असाच वटेल अशी आम्हांस उमेद आहे. राम आणि कृष्ण हे दोघेही अवतारी पुरुष असून हिंदुध्यानच्या भावी उत्कर्षास त्यांच्या चरित्राचें परिशीलन अत्यंत आवश्यक आहे, असेंही रा. ब. वैद्य यांचें मत आहे, असें दिसून येतें. किंबहुना हल्लींचा ग्रंथ लिहिण्याचा त्यांचा हेतुही तोच असावा असें म्हणण्यास हरकत नाही. अशा प्रकारच्या ग्रंथात रामचंद्राच्या किंवा श्रीकृष्णाच्या चरित्रांतील अद्भुत गोष्टींचे जेव्हां वर्णन येतें. तेव्हा त्यास आधुनिक शास्त्रीयपद्धतीनें एखादे उष्णता-सापक यंत्र लावून त्याची किती शहानिशा करावी, हा एक मोठा प्रश्न आहे. उदाहरणार्थ, द्रौपदीवस्त्रहरणाचीच गोष्ट घ्या. कौरवसभेंत झालेला हा चमत्कार मगवंताच्या कृपेनें घडलेला नसून, आगाऊ बातमी कळल्यामुळें, प्रो. छत्रे

यांच्या सरकशीतील घोड्यावर कसरत करणारा इसम ज्याप्रमाणे एकावर एक जाकिटें घालून येतो, त्याप्रमाणे द्रौपदीही एकावर एक अशा साख्या नेसून आली होती असे म्हणणारे लोक केवळ नास्तिक नव्हे तर अरसिक आणि मूर्ख आहेत, असे आम्ही समजतो ! रा. ब. वैद्य यांनी यासंबंधाने जो शेर दिला आहे तो फार मार्मिक आहे. सन्मार्गाने वागणाऱ्या मनुष्यास आपत्काली भगवंताचे अकल्पित कसे साहाय्य मिळते, याचे द्रौपदीवस्त्रहरण हे एक महत्त्वाचे उदाहरण डोळ्यापुढे ठेवून हिंदुधर्मातील अनेक साधुपुरुषांनी धैर्याने व भक्तिभावाने आपला आयुष्यक्रम कंठिलेला आहे; व भारतधर्मातील सर्व लोकास या उदाहरणावरून आज हजारों वर्षे समाधान व भरवसा वाटत आलेला आहे. हे समाधान हा भरवसा आणि हा आधार आधुनिक शास्त्राच्या मदतीने तोडून टाकण्यास प्रवृत्त होणे हे अत्यंत साहसाचे काम होय. अवतारी पुरुषाच्या किंवा भगवंताच्या कृपेने काय होईल व काय नाही याचा नीट निर्णय अद्याप तरी कोठे लागला आहे ? थिऑसफिस्ट अशा प्रकारच्या पुष्कळ गोष्टी गुह्य विद्येने शक्य आहेत असे म्हणतात व त्याबद्दल शास्त्रीय पुरावाही देतात. कसेही असो एवढी गोष्ट खरी आहे की, अशा प्रकारचे जे मोठे मोठे महाभारतात प्रसंग आहेत ते जशाचे तसेच देणे हे आमचे कर्तव्य आहे. काही थोड्या किरकोळ गोष्टी सोडून रा. ब. वैद्य यांनी आपल्या ग्रंथात हाच मार्ग स्वीकारला आहे व याबद्दल त्यांचे मनःपूर्वक आम्ही अभिनंदन करतो.

असो. महाभारतासारख्या विस्तीर्ण, राष्ट्रीय ग्रंथावर जितके लिहावे तितके थोडेच आहे. याला बाजू व दिशा अनेक आहेत व त्या सर्व दिशांनी भारतवासी हिंदु लोकांच्या राष्ट्रीयत्वाचे तो परिपोषण करित आहे. अशा ग्रंथाचे परिशीलन करण्याचा प्रसंग गेले एक दोन महिने रा. ब. वैद्य यांनी आणून दिला याबद्दल आम्ही त्याचे आभार मानतो. चिंतामणरावजीस आमची अशी सूचना आहे की, त्यांनी आरंभिलेले कार्य आपल्या फुरसतीचे वेळात जितके लवकर होईल तितके पुरे करावे. भारताप्रमाणेच रामायणावरही एक लहानसा ग्रंथ लिहिण्याचा त्याचा विचार आहे. हा ग्रंथ लवकरच प्रसिद्ध व्हावा इतकेच नव्हे तर दोन्ही ग्रंथाची मराठीत भाषांतरे होऊन ती मराठी वाचकांच्या हातात पडण्याची लवकर तजवीज करावी अशी रा. ब. वैद्य यास आमची सूचना आहे. त्याचप्रमाणे संस्कृत, महाभारत ग्रंथाचीही एक शुद्ध प्रत अनेक प्रांतांतील प्रतीक्षा ताडून पाहिलेली प्रसिद्ध होणे जरूर आहे. ऋग्वेदासंबंधाचे हे काम प्रो. मॅक्समूलर यांनी केलेले आहे व दुसऱ्या युरोपियन पंडितानी दुसरे वैदिक ग्रंथही अशाच प्रकारे छापून काढले आहेत. वैदिक ग्रंथानंतर हिंदु लोकांच्या धार्मिक वाङ्मयांत महत्त्वाचा ग्रंथ म्हटला म्हणजे महाभारत हा होय. यास पाचवा वेदच समजतात. अशा प्रकारचा ग्रंथ नुसता छापून काढणे हेच मोठ्या खर्चाचे व श्रमाचे काम होते पण हे काम झाले आहे. राहिली गोष्ट एवढीच की, नवीन पद्धतीने शोध करून या सर्वमान्य राष्ट्रीय

ग्रंथाची एक शुद्ध संस्कृत प्रत छापून निघावी. हे काम करण्यास रा. बं वैद्य यांच्यासारखे दुसरे योग्य गृहस्थ मिळणें कठीण आहे. करितां त्यांस शेवटची आमची अशी विनंति आहे कीं, हा ग्रंथ संक्षिप्त करून व त्याचें ऐतिहासिक परिक्षण करून लोकप्रिय करण्याचें श्रेय ज्याप्रमाणे त्यांनीं संपादिलें, त्याचप्रमाणें या विस्तृत ग्रंथाची अनेक प्रतींवरून तपासून शुद्ध केलेली प्रत त्यांनीं तयार करावी आणि हल्लींच्या काळांत प्रमाणभूत मानली जाईल अशी महाभारताची प्रत तयार करून ती आपल्या देशबाधवास नजर केल्याचें श्रेय नीलकंठ चतुर्धराप्रमाणे संपादावें. या कृत्यास राजाश्रय व लोकाश्रय बराच पाहिजे हें खरे आहे. पण रा. ब. वैद्य यांच्यासारखे गृहस्थ पुढें सरसावल्यास तो मिळण्याची पचाईत पडेल असें आम्हांस वाटत नाही. असे; पुन्हा एकदां रा. ब. वैद्य यांचे हल्लींच्या पुस्तकाबद्दल अभिनंदन करून भारतातील ही लेखमाला संपवितों. कित्येकांस ही कदाचित् कंटाळवाणी वाटली असेल पण चर्चेचे मुद्दे कांहीं शास्त्रीय व कांहीं साहित्य विषयक असल्यामुळें आणि वर्तमानपत्रांतील लेख संक्षिप्त रीतीनें लिहिणें जरूर असल्यामुळें ही अडचण सर्वांशीं दूर होणें बहुतेक दुरापास्त होतें; व त्याबद्दल आमचे वाचकही आम्हांवर रागावणार नाहीत अशी आम्हांस उमेद आहे.

*बाणभट्ट आणि श्रीहर्ष.

वे. सं. रा. रा. पांडुरंग गोविंदशास्त्री पारखी यांनी अनेक इंग्रजी ग्रंथ, शिलालेख, ताम्रपट व संस्कृत ग्रंथ यांच्या आधारे लिहून नुकताच प्रसिद्ध केलेला संस्कृत कवि बाणभट्ट याजवरील निबंध अभिप्रायार्थ आमच्याकडे आलेला आहे. ए. पांडुरंगशास्त्री पारखी हे कादंबरीसार, मित्रचंद्र, षड्पुवर्णन, कृष्णाकुमारी, बोधामृत, हंसिका वगैरे अनेक गद्यात्मक किंवा पद्यात्मक महाराष्ट्र ग्रंथांचे कर्ते असल्यामुळें त्यांच्या भाषासरणीचा महाराष्ट्र वाचकांस बराच परिचय झालेला आहे. आणि कादंबरीसार ग्रंथावरून बाणभट्टाच्या ग्रंथाचेंही त्यांनीं चागलें परिशीलन केले आहे हें व्यक्त होते. मराठींत किंवा संस्कृतात सुबोध व सरस पद्यरचना करण्याची हातोटी यांना चागली साधली आहे. इतकेच नव्हे, तर त्यांची पद्यरचनाही तशाच प्रकारची शुद्ध आणि प्रौढ असते, हे त्यांचा कोणताही गद्यग्रंथ पाहिला असतां सहज कळून येणार आहे. तेव्हा प्रस्तुतच्या बाणभट्टावरील निबंधांत हे गुण चांगल्या प्रकारें आढळून येतात. आणि त्यामुळें त्यांनीं लिहिलेले बाणभट्टाचें चरित्र मनोवेधक झालें आहे हे निराळें सागावयांस नको. तसेच बाणभट्टाच्या कादंबरी आणि श्रीहर्षचरित या दोन्ही ग्रंथातून कवीची योग्यता वाचकांच्या

लक्षांत येण्याकरितां शास्त्रीबुवांनीं जे उतारे दिले आहेत तेही मार्मिकपणानें निवडले असून एकंदर बाणभट्टाच्या रसाळवाणीचा त्यामुळें थोडाबहुत तरी अनुभव वाचकांस मिळण्यासारखा आहे. संस्कृत कवीपैकीं विशेषतः करून गद्यग्रंथकारांपैकीं बाणभट्ट हा खरोखरच अग्रेसर आहे. अशा कविचा जितका होईल तितका महाराष्ट्र वाचकांस परिचय करून देणें हें संस्कृत कवितेचा अभ्यास करणारांचें कर्तव्य आहे; व तें कर्तव्य रा. पांडुरंगशास्त्री यांनीं चांगल्या रीतीनें बजावले आहे, असें म्हणण्यास आम्हास बिलकूल हरकत वाटत नाही. तथापि पांडुरंगशास्त्री यांनीं हल्लीं जें बाणभट्टाचें चरित्र लिहिलें त्याबद्दल त्याचे आम्ही अभिनंदन करतो तें केवळ वरील कारणाकरितां नव्हे. बाणभट्टाची कवि या नात्यानें योग्यता किती होती याचें कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांनीं आपल्या बाणकवीवरच्या निबंधांत चांगलें प्रतिपादन केलेलें आहे; परंतु निबंधमालाकारांच्या वेळेस बाणभट्टाबद्दल जी माहिती उपलब्ध होती ती हल्लींच्यापेक्षा फारच कमी होती. हर्षचरित हा ग्रंथ त्या वेळेस नुकताच सांपडला होता; आणि बौद्धधर्मी चिनी यात्रेकरू हुएनछंग यानें आपल्या प्रवासवर्णनांत श्रीहर्षाचा उल्लेख केला आहे; असें जरी माहीत होतें तरी श्रीहर्ष राजाबद्दल जी एकंदर माहिती आज सर्वांस उपलब्ध झाली आहे तशी त्या वेळेस उपलब्ध नव्हती. यामुळें बाणभट्ट इ. स. ६५० च्या सुमारास हयात होता यापलीकडे विष्णुशास्त्री यांच्या निबंधांत विशेष कांहीं ऐतिहासिक माहिती दिलेली नाही. 'हर्षचरित' तर आम्हीं पाहिलें नाही असे विष्णुशास्त्री यांनीं आपल्या निबंधांतच लिहिलें आहे. अर्थात् कै. विष्णुशास्त्री याचा निबंध केवळ बाणभट्टाच्या कादंबरी ग्रंथावरच आहे, असें म्हटलें तरी चालेल. पांडुरंगशास्त्री यांचा प्रस्तुतचा निबंध कादंबरी आणि हर्षचरितच नव्हे तर चिनी प्रवासी हुएनछंग याचे ग्रंथ आणि शिलालेख व ताम्रपट वगैरे साधनांनीं उपलब्ध झालेली माहिती यावरून लिहिलेला आहे; व त्यांत निदान महाराष्ट्र वाचकांस तरी पुष्कळच नवी ऐतिहासिक माहिती मिळण्यासारखी आहे. मुसलमान लोक हिंदुस्थानांत येण्यापूर्वी या देशाची स्थिती कशी होती हें ध्यानांत येण्यास ही ऐतिहासिक माहिती फारच उपयोगी आहे; आणि याच दृष्टीनें पांडुरंगशास्त्री यांचे हा निबंध लिहिल्याबद्दल आम्ही अभिनंदन करितों. इंग्रजी वाचकांस ही माहिती भिन्न भिन्न ठिकाणीं किंवा नुकत्याच प्रसिद्ध झालेल्या स्मिथसाहेबांच्या हिंदुस्थानच्या प्राचीन इतिहासांत मिळण्यासारखी आहे. पण मराठींत आजपर्यंत ती कोणीही एकत्र केलेली नव्हती; इतकेंच नव्हे तर इंग्रजींतही बाणभट्टाचें कवि या नात्यानें, आणि श्रीहर्षाचें इसवी सनाच्या सातव्या शतकांतील एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती या नात्यानें एकत्र वर्णन केलेलें आमचे पाहण्यांत नाही. ही उपमेव पांडुरंगशास्त्री यांच्या प्रस्तुतच्या बाणभट्टाच्या चरित्रानें दूर झाली आहे; आणि संस्कृत शिकणाऱ्या शाळेंतील व कॉलेजांतील विद्यार्थ्यांनांच नव्हे, तर हिंदु-

स्थानच्या प्राचीन इतिहासाची ज्यास गोडी आहे त्यांनीही हे पुस्तक निदान एकवार तरी वाचण्यासारखे झाले आहे. रत्नावलि, प्रियदर्शिका, नागानंदवगैरे नाटकांचा कर्ता श्रीहर्ष याच्याच आश्रयास बाण कवि होता ही गोष्ट निर्विवाद असल्याबद्दल पांडुरंगशास्त्री यांनी जे पुरावे दिले आहेत ते, आणि भवभूती मयूर वगैरे कवीसंबंधाने मधून नधून जी माहिती दिली आहे ती निदान महारा वाचकांस तरी नवी, मनोरंजक, आणि बोधप्रद वाटेल यांत शंका नाही. सारांश, बाणकवीचे चरित्र या नात्याने हा ग्रंथ वाचनीय झाला आहे. पुस्तकाचे बाह्यांग हल्लीपेक्षा अधिक रम्य असते तर दुधांत साखर पडती. पण ती गोष्ट शास्त्रीबुवाच्या हातची नव्हती.

असो; वर सांगितलेच आहे की, आम्ही या ग्रंथाचे जे अभिनंदन करतो ते केवळ साहित्यदृष्ट्या नसून ऐतिहासिक दृष्ट्या होय. पांडुरंगशास्त्री यांनीच एके ठिकाणी असे म्हटले आहे की, बाण-श्रीहर्षांच्या कालीं जिकडे तिकडे पराक्रमाच्या चळवळी होत्या आणि त्यामुळे देशाचे स्वरूप आतांप्रमाणे शांत न दिसता काही निराळेच दिसत होते. हिंदुस्थानच्या प्राचीन इतिहासासंबंधी ही गोष्ट लक्षात ठेवण्यासारखी आहे. श्रीहर्ष राजा, ज्यास हर्षवर्धन किंवा नुसते हर्ष असेही म्हणत, हा. स. ६०७ मध्ये गादीवर बसून सन ६४८ सांत मृत्यु पावला असे अलीकडील शोधावरून निश्चित झाले आहे. या वेळची हिंदुस्थानची किंवा उत्तर हिंदुस्थानची स्थिती फारच चमत्कारिक होती. ग्रीस देशातील प्रसिद्ध योद्धा अलेक्झांडर हा हिंदुस्थानावर स्वारी करून परत गेल्यानंतर त्याच्यामार्गे जे ग्रीक योद्धे झाले त्यांनी हिंदुस्थान आपल्या हस्तगत होण्याची खटपट केली होती. पण चंद्रगुप्ताने त्यांचा पराभव केल्यामुळे हिंदुस्थानात मौर्य राजांचे साम्राज्य स्थापन झाले आणि त्याच वंशातील अशोकाच्या कारकीर्दीत सदर साम्राज्याच्या वैभवाची परकाष्ठा होऊन बौद्धधर्मास उत्तेजन मिळाले. मौर्य साम्राज्याचा पुढे शक नावाच्या परकी लोकांनी मोड केला; व कांहीं दिवस हिंदुस्थानात या परकीय राजांचा अंमल चालू होता. कालिदासाने मालविकाग्निमित्रांत उल्लेख केलेल्या पुष्पमित्र, अग्निमित्र वगैरे राजांनी या परकीयांचा मोड करून पुनः एकवार हिंदुसाम्राज्याची स्थापना केली. तथापि पुन्हा हूणांचे प्राबल्य होऊन उत्तर हिंदुस्थानचा पश्चिमेकडील बराच भाग त्यांच्या ताब्यांत गेला. परंतु गुप्तवंशातील राजांनी या परकीयांचा पराभव करून अशोकाच्याही पेक्षा अधिक विस्तीर्ण असे हिंदुसाम्राज्य स्थापन केले. कालांतराने हेही साम्राज्य लयास जाऊन हूणाची सरशी होती की काय अशी भीति पडली. ही भीति ज्याच्या कारकीर्दीत नाहीशी झाली व ज्याने पुन्हा हिंदुस्थानात स्वदेशी साम्राज्याची स्थापना केली तोच हर्षचरितांत वर्णिलेला श्रीहर्ष होय. श्रीहर्षाचा बाप प्रभाकरवर्धन याचे वर्णन करतांना त्यास बाणाने 'हूण-हरिण-केसरी' असे विशेषण दिले आहे. प्रभाकरवर्धनास दोन

पुत्र व एक कन्या अशी तीन अपत्ये होती. पुत्रांपैकी वडील राज्यवर्धन व धाकटा श्रीहर्ष, आणि कन्येचें नांव राज्यश्री. प्रभाकरवर्धन मरण पावल्यानंतर कोणी गादीवर बसवें याची वाटाघाट चालली असतांच मालव देशच्या राजानें राज्यश्रीचा पति कनोजचा राजा यास मारून राज्यश्रीस कनोज येथें बंदीत ठेवल्याची बातमी येऊन पोहोचली. राज्यवर्धन हूणावर स्वारी करून तेव्हां परत आला होता. ही बातमी ऐकतांच त्यास त्वेष येऊन तो हर्षास मार्गे ठेवून आपणच आपला मामेभाऊ भंडी (यासच शिलालेखांत व हूननछंगाच्या ग्रंथांत भान म्हटलें आहे.) यास बरोबर घेऊन मालव देशच्या राजास शासन करण्यास निघाला. परंतु मालव राजास जिकून परत येत असतां गौडराजा शशांक यानें मुलगी देतो या निमित्त्याने त्याला फसवून आपले घरीं आणून कपटानें त्याचा वध केला. ही बातमी हर्षास समजतांच तो 'गौड राजाचा लवकरच वध करीन, नाहीं तर अग्निकाष्ठें भक्षण करीन' अशी प्रतिज्ञा करून दिग्विजयार्थ निघाला परंतु पुढें राज्यश्री बंदीतून निघून अरण्यांत गेली ही बातमी त्यास कळल्यावर भंडीस गौड राज्याच्या शासनार्थ जाण्यास सांगून आपण राज्यश्रीच्या शोधार्थ विंध्यावर्तीत गेला, व तेथें ती त्यास दिवाकर मित्र नामक भिक्षुच्या आश्रमाजवळ मिळाली. राज्यश्रीच्या मनानें तेव्हाच बौद्धधर्माची दीक्षा घ्यावयाची होती; पण गौडवधाची प्रतिज्ञा समाप्त करून आम्ही दोघेही एकदम दीक्षा घेऊं असें हर्षानें दिवाकरमित्तास सांगितल्यावरून दोघेही गंगेच्या कांठीं श्रीहर्षाचा तळ पडला होता तेथे आलीं.

येथेंप्रमाणें हर्षचरित्रांतील कथानक आहे; आणि बाणकवीच्या शिरस्त्या-प्रमाणें श्लेषादि अनेक अलंकारानी या ग्रंथाची पदरचना सुशोभित केलेली आहे. प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन, राज्यश्री, हर्ष सर्व पाले व त्याची हकीकत ऐतहासिक आहे. पण मौज अशी की, सबंध हर्षचरित वाचलें तरी श्रीहर्ष केव्हां झाला, त्याचें साम्राज्य कोठपासून कोठपर्यंत होते, त्याने कोणकोणते राजे जिकले, त्याच्या सैन्याचा बंदोबस्त कसा होता, त्याच्या दिग्विजयास किती वर्षे लागली, दिग्विजय केल्यानंतर त्यानें राज्याचा बंदोबस्त कसा ठेविला अथवा आपल्या संपत्तीचा उपयोग कसा केला, याबद्दल प्रत्यक्ष अशी हर्षचरितात काहीं एक माहिती मिळत नाही. कोठें कोठें राजास जीं विशेषणें दिलीं आहेत त्यातील श्लेषांवरून ही माहिती उपलब्ध होते. उदाहरणार्थ, श्रीहर्ष राजा दर पांच वर्षांनीं आपलें सर्व द्रव्य प्रयाग येथें मांडलिक राजासमक्ष, ब्राह्मण, बौद्ध आणि गोरगरीब यांस वाटून देत असे असा जो हुणनछंग याने उल्लेख केला आहे, त्यावरून "सकल भुवन-कोशश्चाग्न्यजन्मनां विभक्तः" असें जे श्रीहर्षराजाचें हर्षचरितांत आरंभीं वर्णन केले तें अगदीं यथार्थ आहे; व टीकाकारानें "अग्न्यजन्मानो, द्विजाः आदि-नृपाः श्रवणाश्च" असा जो अर्थ केला आहे तोही बरोबर आहे असें दिसून येतें. तसेंच 'शेषभोगिमंडलोस्योपरि क्षमाकृतः' या वाक्यानेंही काहीं राजे जिकून

बाकीचे शरण आल्यावर त्यांस जीवदान दिले किंवा क्षमा केली असा जो पांडुरंगशास्त्री यानीं तर्क केला आहे तो संभवनीय दिसतो. श्रीहर्षाचा दर्पशांत नांवाचा हत्ती मदोन्मत्त होऊन कुमार राजाच्या अंगांवर धांवून गेला असतां श्रीहर्षानें आपल्या तरवारीनें त्याचें निवारण करून हत्तीस रानांत घालवून दिले, या कथेस अनुलक्षूनही एक श्लोक आहे. परंतु अशा प्रकारच्या श्लेषानें इतिहासाचें ज्ञान श्रीहर्षाच्या कालीं जरी होत असलें तरी पुढें ती परंपरा कायम राहणें अशक्य होतें. सारांश, हुएनछंग याच्या प्रवासाचें वर्णन जर आपणांस मिळालें नसते तर हे श्लेष समजले नसते इतकेंच नव्हे तर बाणानें वर्णन केलेला श्रीहर्ष सातव्या शतकातील चक्रवर्ति होता हें देखील समजण्याची मारामार पडली असती. बाणकवीचा उद्देश इतिहास लिहिण्यापेक्षां ऐतिहासिक कादंबरी किंवा आख्यायिका लिहिण्याचा होता असें मानलें तरी तत्कालीन लोकास्थितीबद्दल श्लेषघाटित विशेषणांत जी माहिती मिळते त्यापेक्षां अधिक माहिती मिळूं नये ही मोठ्या आश्चर्याचीच गोष्ट होय. या वेळीं बौद्धधर्मास श्रीहर्षाचा पुष्कळ आश्रय मिळाला होता. किंबहुना हर्षाचा भाऊ राज्यवर्धन बौद्धधर्मी असून श्रीहर्षानेंही पुढें त्याच धर्माचा स्वीकार केला होता. इटसिंग तर असें म्हणतो कीं, नागानंद हे नाटक श्रीहर्षाने बौद्धधर्माचा स्वीकार केल्यावर लिहिलें; आणि जीमूतवाहनाचें सौग स्वतः घेऊन राजा आपल्या नाटक मंडळीकडून त्याचा संगीतांत प्रयोग करवीत असे. बाणकवीस अशा प्रकारची माहिती आपल्या आख्यायिकेंत देणे काहीं अशक्य नव्हतें. तसेंच श्रीहर्ष आपणास कुमार म्हणवी, राजा म्हणवीत नसे असेही 'अत्रदेवेन नाभिषिक्तः कुमारः' यावरून दिसून येतें. पण बाणकवीने त्याचा स्पष्ट उल्लेख कोठें केला नाही. ऐतिहासिक कादंबरी लिहिण्याची ही पद्धत हल्लीच्या काळात कोणासही पसंत पडेल असें वाटत नाही; विशेषेंकरून आपल्या समकालीन किंबहुना पुरस्कृत्या राजाची कथा सागताना तरी बाणानें इतिहासाकडे अधिक लक्ष द्यावयास पाहिजे होतें. पण तसा प्रकार घडला नाही. यावरून जुन्या महाकवींचे किंवा महापंडितांचे राजकीय विचार कसे असत याचे अनुमान होतें. बाणास इतिहासाची माहिती काहीं कमी होती असें नाही. गुप्तवंशाच्या राजानीं त्याच्या पूर्वजास आश्रय दिला होता असें त्यानींच कादंबरीच्या प्रस्तावनेंत सांगितलें आहे. तसेंच गुप्त राजानंतरच्या किंवा पूर्वीच्या राजानीं किंवा राजकीय पुरुषानीं जीं जीं विश्वासघाताचीं कृत्यें केलीं तीं स्कंदगुप्ताच्या तोडानें त्यानें हर्षचरितांत वदविलीं आहेत; व यापैकी बऱ्याच गोष्टी ऐतिहासिक आहेत याबद्दल आतां प्रत्यंतर पुरावा मिळालेला आहे. अशा ऐतिहासिक माहितीचा ज्याच्याजवळ संग्रह होता व सरस्वती वश असल्यानें ज्यास हर्षराजानें 'वश्यवाणी कविचक्रवर्ति' अशी पदवी देऊन अपरिमित द्रव्य दिले होतें त्याच्या हातून स्वस्थपणें तत्कालीन अथवा पूर्वीच्या इतिहासावर आख्यायिकेपेक्षां अधिक तपशीलवार ऐतिहासिक

ग्रंथ लिहिला जाऊं नये याचें आश्चर्य वाटतें. श्रीहर्षापूर्वीच्या सहाशें वर्षांत हिंदुस्थानावर यवन, शक आणि हूण यांच्या तीनदा स्वाऱ्या होऊन त्यांच्या ताब्यांत बराच मुलुखही गेलेला होता. पण हिंदुस्थानांतील हिंदु राजांनीं तीनदां त्यांचा पराभव करून देशी साम्राज्ये स्थापन केलीं आणि धर्माचा अगर जातीचा अभिमान न धरतां बौद्ध, जैन किंवाहुना यवन आणि हुएनछंगासारखे अगदीं परस्थ प्रवाशी यांसही समबुद्धीनें वागवून राज्यांत उत्तम बंदोबस्त ठेविला, व प्रजेच्या कल्याणाचीं अनेक उत्तम कामें केलीं, हा विषय कोणाच्याही बुद्धीस सहज स्फुरण आणणारा होता. बाणकवीच्या कवित्वास यामुळें स्फूर्ति मिळाली नाहीं असें नाहीं. पण हिंदुस्थानांतील एतद्देशीय शेवटला सार्वभौम श्रीहर्ष याच्या आख्यायिकेंत या ऐतिहासिक गोष्टींचा उल्लेख करण्यापेक्षां श्लेषादि चमत्कार करण्यांतच त्यास अधिक महत्त्व वाटलें. स्वदेशी सार्वभौम राजाचें वैभव किंवा कारकीर्द वर्णन करताना जर ही स्थिति तर जगन्नाथ पंडितानें 'दिल्लीवल्लभ - पाणि पल्लवतले नीतं नवीनं वयः' अशी फुशारकी मारल्यास किंवा गढवालचे पंडित श्रीउर्वदत्त यांनीं हल्लींच्या बादशहावर 'एडवर्डवंश' म्हणून रघुवंशासारखें काव्य करून प्रसिद्ध केल्यास त्यात नवल तें कोणतें ? देशी साम्राज्य आणि परदेशी साम्राज्य यात भेद काय असतो याचे तत्त्वच अशा प्रकारच्या कवीस किंवा पंडितास कळत नाहीं असें म्हणणें जरा साहसाचें आहे. पण वस्तुस्थिति पाहतां या पंडितास ऐतिहासिक वर्णन करण्याची गोडी नव्हती, अथवा कवित्वाच्या निदर्शनास हा विषय योग्य नाहीं असें त्यांचें मत होते असें म्हणणें भाग येतें. कसेंही असो, हर्ष हा मोठा राजा होता; त्यानें अनेक राजे जिंकले; बाणकवीस अपार संपत्ति दिली आणि आपला सर्व खजिना गोरगरिबांस वाटला, इत्यादि कांहीं ठरीव गोष्टींखेरीज हर्षचरितांत श्रीहर्षाच्या वेळच्या सामाजिक आणि राजकीय परिस्थितीची कांहीं माहिती मिळत नाहीं. कालिदासानें एकाच ठिकाणीं म्हणजे मालविकाग्निमित्रात जें ऐतिहासिक कथानक घेतलें आहे तें श्रीहर्षाच्या कथानकापेक्षां ऐतिहासिकदृष्ट्या अधिक चांगलें साधलेलें आहे; आणि त्यावरून बाणपेक्षां कालिदासाची ऐतिहासिक दृष्टि अधिक चांगली होती असें दिसतें. तथापि कालनिर्णयासंबंधानें दोघांचीही अनास्था आढळून येते.

असो; या विषयांवर वर्तमानपत्राच्या एका लेखांत जास्त चर्चा होणें शक्य नाहीं. अशोक, विक्रमादित्य, श्रीहर्ष वगैरे नंदानंतर झालेल्या चक्रवर्ती राजांची कारकीर्द कशी होती, राज्यांत सुरक्षितपणा कसा होता, पशूकरताही तेव्हा दवाखाने कसे काढीत असत, किंवा कालवे अगर तलाव बांधून इरिगेशन खात्याचे काम कसे चालवीत, याबद्दल जी माहिती हल्लीं मिळाली आहे ती विशेषतः करून परदेशी प्रवाशांनीं लिहिलेल्या ग्रंथांवरूनच उपलब्ध झाली आहे; व हल्लींचा एखादा इतिहासकार जर यावेळचे चित्र काढील तर तें हर्षचरितांपेक्षाही अधिक मनोरम वठेल. वर सांगितलेले इंग्लिश इतिहासकार मि. स्मिथ यांनीं

बाणाने केलेल्या स्कंदगुप्ताच्या वर्णनांत ' निजनृप वंशदीर्घे नासावंशं दधानः ' या श्लोकांबद्दल (तो नीट न समजता) जरी बाणाची थट्टा केली आहे तरी बाणाची वर्णन करण्याची शैली अपूर्व व जोरदार आहे ही गोष्ट त्यांनी कबूल केली आहे. अशा प्रकारच्या वश्यवाणी कविचक्रवर्तीच्या भाषेने हिंदुस्थानचा इतिहास लिहिला गेला नाही हे आमचे दुर्दैव होय.

वे. सं. पांडुरंग गोविंदशास्त्री पारखी याच्या हल्लींच्या निबंधावरून जे थोडेसे ऐतिहासिक विचार सुचले ते वर दाखल केले आहेत. आतां खुद्द निबंधा-संबंधानें एकदोन गोष्टींत असलेला मतभेद सरतेशेवटीं सागावयाचा तो सांगून हा लेख पुरा करितों. बाणभट्टाच्या नावावर मोडत असलेलें पार्वतीपरिणय नाटक कुमारसंभवावरूनच घेतलेलें आहे, असें कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर यांजप्रमाणें आमचेंही मत आहे. हें नाटक बाणकवीच्या कवित्वास शोभत नाही, हे खरें आहे. पण श्रीहर्षाच्या दरबारांत लोकांच्या रंजनार्थ नागानंदासारखी नाटकें करीत असत तर तत्कालिन नाटकमंडळीच्या विनंतीवरून बाणानें कुमार-संभवाचेंच नाटक करून दिलें असेल, असेही म्हणता येईल. हल्लींच्या काळांत राजाशेवरून बाणाच्या कादंबरीचेंही नाटक झालेले आहे, हे लक्षांत आणलें म्हणजे पार्वतीपरिणयाची कल्पना आम्हांस काही असंभाव्य दिसत नाही. तसेंच हालसाहेबांनीं रत्नावलींतील व श्रीहर्षचरित्रातील एका श्लोकाचें जें साम्य दाखविलें आहे तेंही आमच्या मते वरोबर आहे. आता एके ठिकाणीं दैवाची अनुकूलता व दुसऱ्या ठिकाणीं प्रतिकूलता वर्णिली आहे हे जरी खरी आहे तरी दैवाच्या साधनविषयक कल्पनेचें आणि पद्यरचनेचें साम्य कायम राहतें ते राहतेंच. हर्षचरित हा ग्रंथ कदाचित् अपुरा राहिला असावा असें पांडुरंगशास्त्री म्हणतात; पण तसा प्रकार झाल्याचें आम्हांस आढळून येत नाही. हर्षचरिताची जी टीका आहे त्यावरूनही हल्लींचा ग्रंथ पूर्ण आहे असें दिसून येतें. हर्ष व राजवर्धन या दोघा भावाचे राज्यश्रविर असलेले प्रेम, राज्यश्रीची दैवामुळे झालेली विपन्नावस्था, संकटसमयी श्रीहर्षाकडून तिची अकल्पित सुटका, इत्यादि आख्यायिकेस अवश्य लागणाऱ्या गोष्टीपलीकडे हर्षचरित लिहिण्याचा बाणाचा उद्देश होता असें दिसत नाही. नाहीपेक्षां हुएनछंग यानें लिहिल्याप्रमाणें दक्षिणेंत ज्यानें त्या वेळीं साम्राज्य स्थापन करून श्रीहर्षास नर्मदा उतरूं दिली नाही त्या सत्याश्रय पुलकेशी राजाचाही हुएनछंगाप्रमाणे बाणाने उल्लेख केला असता. अथवा प्रयाग येथे दर पांच वर्षांनीं श्रीहर्ष आपली संपत्ति याग न करता लोकांस वांटी याचेंही वर्णन या आख्यायिकेंत आलें असतें. कादंबरीच्या प्रस्तावनेंत हर्षाचा उल्लेख नाही, गुप्ताचा आहे. यावरून गुप्तानीं आश्रय दिलेले ब्राह्मण विद्वानांचें घराणें श्रीहर्षाच्या राज्यांत पुष्कळ दिवस त्याच्या आश्रयावांचून पण चांगल्या स्थितींत होतें असें दिसून येतें. हुएनछंग यानें असें लिहिलें आहे कीं,

श्रीहर्षाच्या सैन्याचा तळ गंगातटाकरी असतां श्रीहर्ष बौद्धांचा अभिमानी म्हणून एक माथेफिरू वेड्या ब्राह्मणानें त्याचा खून करण्याचा प्रयत्न केला होता, व त्यामुळें काहीं दिवस राजाची ब्राह्मणांवर गैरमर्जीही झालेली होती. ही गोष्ट जर खरी असेल तर विद्वत्तेनें व गुप्ताच्या आश्रयानें लोकमान्यतेस चढलेलें बाणाचें ब्राह्मण घराणेंही श्रीहर्षाच्या गैरमर्जांत काही दिवस तरी असण्याचा संभव आहे. बाणाच्या तारुण्यात त्याच्या हातून गैरवर्तन झाले असावें व त्यास अनुलक्षून बाणाच्या प्रथम भेटीच्या वेळी ' महानयं भुजंगः ' असें श्रीहर्ष बोलल्याचें बाणा-नेंच श्रीहर्षचरितात लिहिले आहे. भुजंग म्हणजे जार असा पाडुरंगशास्त्री अर्थ घेतात. पण त्यात यापेक्षा स्पष्टार्थ नाही तर व्यंगार्थ तरी जास्त असावा असें वाटतें. कसेंही असो; श्रीहर्षाच्या कारकीर्दींत ब्राह्मण पंडित व कवि यांस बौद्ध भिक्षुमारखाच आश्रय व सन्मान मिळत असे एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे. बौद्धाच्यासंबंधानें दिवाकरमित्राचें उदाहरण आहेच; पण हुएनछंग याचाही मोठा मान ठेवून श्रीहर्ष त्याचा उपदेश भक्तीनें ऐकत असे, असे स्वतः हुएन-छंगानेच वर्णन केले आहे. श्रीहर्षाच्या पुढें काहीं वर्षांनीं कुमारिल व शंकराचार्य हे उत्पन्न होऊन ही स्थिति पालटली आणि ब्राह्मण धर्माचे वर्चस्व पुनः स्थापन झालें, ही गोष्ट इतिहासप्रसिद्ध आहे.

* देह आणि आत्मा

मनुष्याचा जड देह व चैतन्यरूप आत्मा या दोन भिन्न भिन्न वस्तु आहेत, किंवा सृष्टीतील कांही विशिष्ट जड द्रव्ये अथवा तत्त्वे हीं एकच झाल्यानंतर होणारी चेतना हाच आत्मा होय. हा वाद पुरातन आहे. उपनिषदांत आत्म्याचें स्वरूप सांगितलें आहे. तत्कालीन ऋषींच्या मते आत्मा सर्वव्यापी व अविनाशी आहे आणि तो सृष्टीतील जड द्रव्यापासून अगदी भिन्न आहे. वेदान्तात या प्रश्नाचा विचार करीत असतां आत्म्याच्या भिन्नतेबद्दल प्रमाणे दिली आहेत. ' युष्मद्-स्मत्प्रत्ययीभूत-प्रमाण ' हें पहिलें प्रमाण होय. आत्म्याचें देहाव्यतिरिक्त अस्तित्व तुमच्या आमच्या प्रत्ययास येतें. आपण ' मी ' शब्द उच्चारतो तेव्हां आपल्या अगचा कोणताही एक अवयव किंवा सर्व अवयवांचा समुच्चय असा आपल्या बोलण्याचा अर्थ नसून शरीरव्यतिरिक्त असणारा शरीराचा स्वामी असा त्याचा अर्थ समजतो. देहापासून आत्म्याची भिन्नता दाखविणारें दुसरें प्रमाण ' निद्राप्रमाण ' हें होय. मनुष्य निजतो तेव्हां सर्व शरीरव्यापार बंद पडतात.

परंतु सर्व शरीरावर अम्मल चालविणारें असें कांहीं तत्त्व शरीरांतून नष्ट झालेलें नसून सर्व अवयव व इंद्रिये विश्रातिसुखात मग्न असता हें तत्त्व जागरूक असतें. तिसरें प्रमाण 'महानिद्रा' म्हणजे मृत्यु हें होय. जड शरीरांतून सर्व अवयवाना व इंद्रियांना चलनवलन देणारा कोणी तरी शरीर सोडून जातो, त्यास मृत्यु असे आपण म्हणतो. याशिवाय समुद्राच्या पृष्ठभागावर होणाऱ्या जलतरंगाचा दृष्टात देऊन व दुसऱ्या कित्येक प्रमाणानी आपल्या प्राचीन तत्त्ववेत्त्या ऋषींनी आत्म्याचें भिन्नत्व-प्रस्थापित केलें आहे. पण नवीन पद्धतीनें शिकलेल्या आपल्या विद्वानांस हीं प्रमाणें व या कोट्या सर्वथा मान्य होण्यासारख्या नाहींत. जड-चैतन्याच्या भिन्नरूपत्वासंबंधाचा वाद इकडेच आहे, असे नाहीं. तो युरोपांत देखील चालू होता. ख्रिस्ती धर्माचें आधारभूत पुस्तक जें बायबल त्यांत आत्म्याचें अस्तित्व मानलेलें आहे. परंतु अर्वाचीन काळीं युरोपात आधि-भौतिक तत्त्वाच्या प्राबल्याची जी क्रांति घडून आली, तिच्या योगाने हे बायबल-प्रणीत आत्म्याचें अस्तित्व झूट होय, असे शास्त्रज्ञांस वाटू लागलें. ख्रिस्ती-धर्मग्रंथातून एक तर आमच्या उपनिषद ग्रंथाप्रमाणें अध्यात्मविचार सूक्ष्मपणें कोठेच केलेला नाहीं, शिवाय अलीकडील शास्त्राचे सर्व सिध्दांत प्रयोगसिद्ध असतात. आत्मा धरून आणून त्यावर प्रयोग करिता येईनात म्हणून रसायनशास्त्रज्ञ, पदार्थविज्ञानवेत्ते वगैरे प्रयोगसिद्ध (experimental) शास्त्र खरें मानणारे लोक केवळ जडवादी बनले. सृष्टीतील कांहीं द्रव्ये शरीरांत एकीकरण पावलीं असता त्यास चेतना प्राप्त होते; पण ही चेतना त्या घटका-वयापासून भिन्न नव्हे; त्यांच्या एकीकरणाचा परिणाम होय; साराश, आत्मा म्हणून कांहीं शक्ति जडसृष्टीच्या पलीकडे असेल असें या शास्त्रज्ञांस वाटेना. फार काय सागावें, युरोपांत गाजलेला जो हर्बर्ट स्पेन्सर तोही पक्का जडवादी होता. 'आत्मा' भिन्नरूपाने अविनाशी आहे, ही गोष्ट त्यास मान्य नव्हती. चेतना ही जड-पदार्थांच्या एकीभवनाचा परिणाम असेच त्याचे मत होतें. अखेरीस अखेरीस या मतात थोडी चलबिचल होऊन त्याच्या सत्यत्वाविषयी स्पेन्सरसाहेब साशंक झाले होते असे दिसतें. शास्त्रवेत्त्यांच्या ह्या नवीन सिद्धांताचा परिणाम धर्मखात्यावर मात्र विशेष झाला. ख्रिस्तीधर्म हा 'आत्म्याचा मोक्ष' ह्या तत्त्वावरच उभारलेला आहे, ख्रिस्ती धर्माची मोक्षाची कल्पना 'सलोकता' ही आहे. परमेश्वरातच आत्मा मिळून जावा, इतकी उच्च कल्पना त्याच्यात नाही. तथापि जेथें आत्म्याला अस्तित्वच नाहींसें झालें, तेथें त्याला मोक्ष कसचा? जो मुळीं नाहींच त्याला मुक्ति काय देणार? आत्म्याचें जडसृष्टीहून भिन्न असें अस्तित्व शास्त्रज्ञांस संमत नसल्याकारणानें ते धर्म म्हणजे केवळ एक थोताड आहे असें मानू लागले. मात्र 'आत्मा' नाहीं, असें मानल्यामुळें दुसरी एक अडचण उत्पन्न झाली. ती ही की, धर्माची अशी वासलात लागल्यानंतर धर्माच्या बंधनाने एकत्र बांधलेला समाज हा कोणास कोणी विचारीनासा होऊन, विस्कळित होईल. नीतीचें बंधन

ढिलें होऊन लोक नीतिभ्रष्ट होतील. यास्तव आत्म्याच्या अनास्तित्वाबरोबरच (Maximum good of the maximum number) ' अतिशय मोठ्या जनसमूहाचें अतिशय मोठें कल्याण ' हें तत्त्व सृष्टिशास्त्रवेत्त्यांस प्रसिद्ध करावें लागलें. जेणेकरून मनुष्यजातीचें कल्याण होईल ती नीति, अशी व्याख्या त्यास बनवावी लागली. तथापि ख्रिस्ती-धर्मखाते व शास्त्रनिपुण विद्वान् लोक यांमध्ये वितुष्ट आलेंच; कारण, धर्मोपदेशक लोकास सयुक्तिक रीतीनें प्रमाणसिद्ध असें आत्म्याच्या अस्तित्वाचें माप शास्त्रीमंडळींच्या पदरात घालता येईना ! ते फक्त बायबलातील वाक्यावर बोट ठेवून, त्यात सांगितले म्हणून ' आत्मा ' आहे, असें म्हणत ! पण हें बाबावाक्य शास्त्रवेत्त्या मंडळीस कसें पटणार ? तथापि हा वाद येथेंच थाबला नाहीं. खुद्द शास्त्रमंडळीतच शंका निघू लागल्या तेव्हा या प्रश्नाचा कायमचा उलगडा करण्याच्या उद्देशानें इ. स. १८७३ या वर्षी महान् महान् शास्त्रकोविदांचें एक मंडळ स्थापन झाले. ह्या मंडळाचे मोठमोठे रसायनवेत्ते व पदार्थ-विज्ञानवेत्ते पंडित सभासद होते ' सोसायटी ऑफ सायकिकल रिसर्च ' हें नांव धारण करून ह्या लोकानीं आत्म्याच्या निरनिराळ्या स्थितींत प्रयोग करण्यास सुरुवात केली. मनुष्य निद्रास्थितींत असता काय होतें, मरण येतें तें काय, अपस्माराच्या लहरींत मनुष्याच्या चैतन्यशक्तींत काय फेरफार होतात, वेड लागल्यानंतर जो चित्तविभ्रम होतो त्याचें स्वरूप काय आहे, अंगांत भूतसंचार झाला असता एखाद्या मृत माणसाच्या इच्छेचा पगडा जिवंत माणसाच्या इच्छाशक्तीवर कसा बसतो, मेस्मेरिझमच्या योगानें एका मनुष्याच्या मनावर दुसऱ्याचा अधिकार पूर्णत्वाने कसा चालतो, दूर दूर रहात असणाऱ्या मनुष्याच्या चित्तशुद्धींत सुखदुःखाचा उद्भव एकाच काळी एकाच कारणास्तव त्यांच्या नकळत होतो, त्यात ' आतरः कोऽपि हेतुः ' असला पाहिजे, तो काय, इत्यादि अनेक प्रकारचे प्रयोग करून त्यावरून शास्त्रानुरोधानें अनुमानें ह्या मंडळीनें बसविलीं. ह्या सर्व शोधांचें फळ म्हणून सदरहू मंडळीचे वतीने मेयरसाहेबानें १९०३ सालीं या विषयावर प्रमाणभूत असा एक मोठा ग्रंथ लिहून प्रसिद्ध केला आहे. ह्या ग्रथात वर सांगितलेल्या प्रत्येक प्रश्नासंबंधाने केलेले सर्व प्रयोग, त्याचें परिणाम व त्यावरून निघणारे सिद्धांत, इत्यादि सर्व माहिती संगतवार ग्रथित केली आहे. व त्या सगळ्याचा निष्कर्ष म्हणून ह्या पंडितानीं जो सिद्धान्त ठरविला तो हा कीं, " आत्मा हें जड सृष्टीच्यापेक्षां अत्यंत भिन्न असें आदितत्व आहे, तें अविनाशी आहे. तें सर्व-व्यापी आहे, तें जड पदार्थांच्या मिश्रणाचें किंवा एकीकरणाचें फल नसून तें स्वतंत्र आहे. " याच सिद्धान्ताचा अनुवाद करणारे दुसरेही ग्रंथ प्रसिद्ध झाले आहेत.

सूर्याचे किरण काचेच्या लोलकातून पलीकडे दवडले असतां Spectrum म्हणजे किरणाचा एक पट्टा पडतो. त्यात सात प्रकारचे मूळ रंग Primary colours) स्पष्ट दिसतात. त्यावरून बरेच दिवसपर्यंत प्रकाशशास्त्रवेत्त्यांची अशी समजूत होती कीं, सूर्यकिरण म्हणजे केवळ ह्या सात रंगांचें मि ण होय. पण

हल्लीं X-ray नांवाच्या किरणांचा शोध लागून लोलकांतून पलीकडे जात नाहीत असेही काहीं किरण असल्याचे शास्त्ररीत्या ठरलें आहे. हल्लीं N-ray नांवाचेही नवीन किरण सांपडले आहेत. ह्या प्रकाशशास्त्रातील शोधाप्रमाणेंच वर सांगितलेला अध्यात्मविद्येतील शोध होय. जड शरीर म्हणजेच आत्मा हें तत्त्व खोटे ठरून, आत्म्याचें स्वतंत्र स्वरूप आणि मार्गें व पुढें असणारें अस्तित्व शास्त्रीय पद्धतीनें ठरविण्यात आलें आहे. हा सिद्धांत ग्रीकसारीक क्षुद्र लोकांचा नसून तत्त्ववेत्त्यांचा व शास्त्रज्ञांचा आहे. हें आपण विसरता कामा नये ! तथापि पाश्चात्य पंडितांनीं प्रयोगाच्या साह्यानें जो सिद्धांत दोन वर्षांपूर्वीं ठरविला, तोच सिद्धांत हजारों वर्षांपूर्वीं आमचे वेदांत ग्रथांत नमूद होऊन राहिला होता. प्राचीन उपनिपत्कारांनीं विचाराच्या जोरावर हेंच आत्म्याचें स्वरूप सांगून ठेवलें. पण नवीन शिक्षणांनै मंडळीस हा वेदांतांतील सिद्धांत चुकीचा वाटून आमच्यातील पुष्कळ लोक पाश्चात्यांनीं तयार केलेलीं मते जर्शांच्यातशीच ग्रहण करून जडवादी बनलेले आढळतात. नवीन लोक असे दुसऱ्याच्या ओंजळीनें पाणी पिणारे, तर जुने शास्त्री सनातन ग्रंथांवर हवाला देऊन स्वस्थ बसणारे ! दोघेही डबक्यात सांचलेल्या पाण्याप्रमाणें आहेत. दोघाच्याही ठिकाणी जिवंत झरा नाही. ज्या वेळीं युरोपीय जडवादाची मते इकडे आलीं त्या वेळीं तीं खरी किंवा आपलीं वेदांतांतलीं मते खरीं याबद्दल प्रयोग करून आपणासच याचा उलगडा करतां आला नसता काय ? ह्या प्रयोगाना उपकरणसामुग्री तरी कांहीं विशेष लागत होती ? नरसोबाच्या वाडीस अंगांत होणारे भूतसंचार किंवा अपह्माराचे रोगी थोडें सापडतात काय ? कदाचित् आपलेकडे अशा लोकांचें प्रमाण वाजवीपेक्षा फाजीलच आहे ! तथापि ही शोधक बुद्धि आमच्यात उत्पन्न झालेली नाही. कोणताही सिद्धांत शास्त्राच्या कसोटीस लावल्याशिवाय तो हल्लींच्या काळीं ग्राह्य होणें फारसें शक्य नाही. अशी शोधकबुद्धि बुद्धिदाता गजानन आपल्या हृदयात उत्पन्न करो, अशी माझी प्रार्थना आहे.

* वेदान्ताची आणि उद्योगाची दिशा.

महात्मा अगम्यगुरु याचे शिष्यत्व पत्करलेल्या मिसेस स्टॅनर्ड यांनीं गेल्या आठवड्यात येथे जीं तीन व्याख्याने दिलीं व स्वामींचें येथील बऱ्याच मंडळींबरोबर जें बोलणेंचालणें झालें, त्यावरून आमच्या शहरातील लोकांच्या मनात जर स्वामीस विवक्षित अशा रीतीची जागृती उत्पन्न झाली तर त्यांच्या आगमनापासून आम्हांस पुष्कळ कायमचा फायदा झाला असें आम्हीं समजूं. स्वामी अगम्यगुरु

यांची माहिती गेल्या व आजच्या अंकांत आलेलीच आहे. इंग्लंड व अमेरिका यासारख्या देशांतील केवळ पैशाच्या पाठीमागे लागलेल्या माणसास देखील आपल्या चमत्कारिक योगशक्तीने वेदात व योग याच्या तत्त्वाकडे नजर पोंचविण्यास किंवा त्याचें मनन करण्यास स्वामीनीं लावलेलें आहे; व विलायतेंत लंडन व बर्मिंघॅम येथें त्यांनीं वेदाताच्या चर्चेसाठी कमिथ्या स्थापन केल्या असून त्या कमिथ्याचे हल्लीं बरेच सभासद झाले आहेत. स्वामीची अशी समजूत दिसते की, अशा रीतीनें वेदाताच्या खऱ्या ज्ञानाकडे मनुष्याची प्रवृत्ति झाली म्हणजे तो आपपर भेद मनात न आणतां गाजलेल्या लोकाशी सहानुभूति दाखवून गाजणाऱ्या विरुद्ध त्यास मदत करण्यास तयार होतो. विलायत किंवा अमेरिका या दोन्ही देशात अथवा सामान्यतः पाश्चिमात्य राष्ट्रांत आमच्याबद्दल जर काहीं सहानुभूति उत्पन्न करावयाची असेल तर त्यास हाच राजमार्ग आहे, आणि या मार्गानें सत्याचा अधिक प्रसार होऊन आपले काम जितके अधिक वठेल तितके दुसऱ्या तऱ्हेनें कधीही वठणार नाही. उदार बुद्धीचे पुरुष सर्व देशात कमीअधिक प्रमाणानें असावयाचे व असतात. परंतु गाजलेल्या लोकाबद्दल त्याची सहानुभूति उत्पन्न करण्यास सदर लोकांचे व त्यांचे विचार काहीं बाबतींत तरी एक असले पाहिजेत. अशा प्रकारचे विचार दोघांच्याही हिताचे सत्य म्हणून दोघांसही मान्य होणारे वेदांताखेरीज दुसरे ठिकाणीं सापडणें कठिण आहे. आधिभौतिक शास्त्राची अलीकडे जी झपाट्यानें वाढ होत आहे व परमेश्वर, आत्मा आणि जगत् या त्रिपुटीच्या स्वरूपाबद्दल सदर शास्त्रांच्या ज्या नव्या नव्या कल्पना प्रत्यहीं प्रसिद्ध होत आहेत त्यामुळें पाश्चिमात्य राष्ट्रांत वेदाताच्या प्रसाराचे काम एरव्ही अवघड पडले असतें तें उत्तरोत्तर सुलभ होत चाललें आहे. ख्रिस्तीधर्म हा काही तत्वज्ञानाच्या पायांवर रचलेला नाही, इतकेंच नव्हे तर सदर धर्माचे मूलभूत असे जे काही सिद्धांत आहेत तेही आधिभौतिक शास्त्रांच्या तत्त्वांशीं बऱ्याच अंशीं विरुद्ध आहेत, असें तिकडील लोकांच्या नजरेस आलें आहे. सुदैवानें वेदाताची गोष्ट अशी नाही. ज्या तत्त्वांच्या पायांवर वेदांताची इमारत उभारली आहे व जीं तत्त्वे कधीं युक्तीनें तर कधीं दृष्टांतानें, कधीं श्रुतिबलानें तर कधीं अभ्यास आणि वैराग्य यांच्या साहाय्यामुळें एकाग्र केलेल्या मनाच्या प्रेरणेनें आमच्या पूर्वजानीं सिद्ध केलेलीं आहेत; तीं हल्लींच्या आधिभौतिक शास्त्रानेंही सिद्ध होण्याचा प्रसंग अगदीं नजीक येऊन ठेपला आहे, असें म्हटले तरी चालेल. आधिभौतिक शास्त्रज्ञांच्या तत्वविचाराचे पर्यवसान अद्याप कायमचें झालेलें नाहीं, म्हणून वेदांताची तत्त्वे अमक्या एका विशिष्ट आधिभौतिक शास्त्राच्या तत्त्वांशीं सध्याच्या स्थितीत तंतो-तंत मिळणार नाहींत, ही गोष्ट खरी आहे. परंतु त्यामुळें वेदाताच्या तत्त्वाची काहीं हानी होत नाहीं. आधिभौतिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञांच्या तत्वविचाराची दिशा अलीकडे कशी पालटत आहे व तिचे धोरण काय आहे इकडेच सध्या आपणाला लक्ष पुरवावयाचें आहे; आणि तें धोरण काय हें मिसिस स्टॅनर्ड यांनीं आपल्या दुसऱ्या

व्याख्यानांत येथील लोकांपुढें स्पष्टपणें मांडलें, याबद्दल त्यांचे आम्हीं मनःपूर्वक आभार मानतो. मिसिस स्टॅनर्ड यार्नो या विषयाचा चांगला अभ्यास केलेला आहे. पॅरिस, लंडन वगैरे शहरांतील विद्यालयांतून आधिभौतिक शास्त्राचें तात्त्विकदृष्ट्या जें शिक्षण मिळते तें त्यांनी संपादन केलेलें आहे, आणि महत्त्वा अगम्य गुरु यांच्या सहवासानें व उपदेशानें योग व वेदात यांचीं तत्वेही मोठ्या प्रयासानें अवगत करून घेतलीं आहेत. अर्थात् पाश्चिमात्य तत्त्वविचारांचे सध्या घोरण कसें आहे व त्याची आणि वेदात विचारांची एकवाक्यता व सांगड कशी घालावी हें सांगण्याचा अधिकार या बाईस पूर्णपणे आलेला आहे. स्वभावतः या बाई राजकीय बाबतींत फारसें मन घालीत नाहीत, तथापि स्वामीबरोबर हिंदुस्थानात पुष्कळ प्रवास केला असल्यामुळे व त्यांचे विचार मूळचेच उदात्त असल्यानें राजकीय बाबतींतही हिंदुस्थानातील सुशिक्षित वर्गाचे विचारातील घोरण या बाईस पसंत पडलेलें असून त्या कार्मी हिंदी लोकांस मदत करण्यास त्या तयार झालेल्या आहेत. पाश्चिमात्य देशात वेदांताचा प्रसार करून सदर तत्त्वाच्या छायेखाली त्या देशातील विचारी पुरुष किंवा स्त्रिया एकदा सापडल्या म्हणजे त्यांच्या हातून औद्योगिक किंवा राजकीय बाबतींतही आम्हास मदत होण्याचा पूर्ण संभव आहे असे जें स्वामीचें मत आहे त्यास प्रत्यक्ष पुरावा पाहिजे असल्यास तो साक्षात मिसिस स्टॅनर्ड याचा आहे. स्वामी विवेकानंद यांचेही मत बऱ्याच अंशी स्वामी अगम्यगुरु यांच्यासारखेच होतें, हें आम्हास माहीत आहे; व सध्यां त्यांचें शिष्य अमेरिकेत जे काम करीत आहेत ते याच मासल्याचें आहे, हे स्वामी अभेदानंद यांनी न्यूयार्कजवळ अल्लेल्या ब्रुक्लिनमधील शास्त्रकलामंदिरांत हिंदुस्थानाबद्दल जी सहा व्याख्याने दिली त्यावरून सहज कळून येण्यासारखें आहे. स्वामी विवेकानंद याजपेक्षां योगी या नात्याने स्वामी अगम्यगुरु अधिक श्रेष्ठ आहेत, व त्यामुळे पाश्चिमात्य राष्ट्रांत वेदांताचा प्रसार करण्याचें काम त्यांचा स्वभाव तापट असला तरी त्यांचे हातून चांगल्या रीतीनें पार पडण्यासारखें आहे. उत्तर हिंदुस्थानांत हे 'लाठ स्वामी' या नांवानें प्रसिद्ध आहेत; आणि साधु व संन्यासीवर्गांत याचें बरेंच वजन आहे. स्वामी प्रथमतः जे विलायतेस गेले ते विवेकानंदाप्रमाणें अगदीं निष्काचन स्थितीत गेलेले होते, व जरी तिकडील मंडळींची श्रुति वेदांताकडे स्वामींस वाटत होती तितकी वळली नाही तरी यापासून बराच फायदा झालेला आहे. पाश्चिमात्य राष्ट्रे अद्याप जिवंत असल्यामुळे त्यांच्या अंगी हा एक मोठा गुण आहे की, कोणताही विद्या अथवा कला व्यापुढें नवीन आली तर ती केवळ समजून घेऊन ते स्वस्थ बसतात तर तिची पुढें वाढ कशी होईल याचाही ते उद्योग करीत असतात. असें म्हणण्यास, आपलें व्याकरणशास्त्र घ्या. पाणिनीने प्रकृतिप्रत्ययांची फोडून शब्दशास्त्राच्या इमारतीचा पाया युक्तीच्या व न्यायाच्या सिद्धान्तावरून घ्या. त्यानंतर पुढें त्याची जी काय आमच्या देशांत वाढ झाली, ती क.

जी वाढ खुंटली ती हें शास्त्र पांचपन्नास वर्षापूर्वी पाश्चात्य देशांत प्रस्तुत होईपर्यंत खुंटलेलीच होती. शाब्दिक कोट्या किंवा आर्थिक पेच मध्यंतरी बरेच उदयास आले, व या शास्त्राची छाननी त्यामुळे आमच्या देशात बरीच झाली. तथापि एखाद्या शास्त्राची छाननी आणि वाढ यामध्ये पुष्कळ अंतर आहे. वाढ होण्यास जिवंतपणाची जितकी अपेक्षा आहे तितकी छाननीस लागत नाही; आणि वाढ खुंटली म्हणजे जिवंतपणा कमी होतो किंवा जिवंतपणा कमी झाला म्हणजे वाढ खुंटते. ख्रिस्ती सनानंतर काहीं शतकांनी हिंदुस्थानांतील शास्त्रविद्येचा जिवंतपणा कमी होऊं लागला; आणि आमचे पंडित पूर्वाचार्यांनी केलेले सिद्धांतच खलीत बसण्याच्या उद्योगास लागले; मग त्यांचे कारण काहींही असो; प्रस्तुत त्याचा विचार आपणास कर्तव्य नाही. हिंदुस्थानांतील शास्त्राची ही स्थिति सदर शास्त्रे युरोपिअन पंडितांच्या हातात पडल्यावर पालटली. पाणिनीच्या शास्त्रानें चकित झालेल्या युरोपिअन पंडितांनी आमच्या व्याकरणशास्त्राचे सिद्धान्त पृथ्वीवरील सर्व भाषास लागू करून त्यांतून फायलॉलजी अथवा शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र म्हणून एक नवेच पोटशास्त्र निर्माण केलें आणि त्याच्यायोगें मानव जातीच्या अति प्राचीन काळच्या सुधारणेचें ज्ञान होण्याचा नवा मार्ग दाखविला. व्याकरणशास्त्राची ही गोष्ट झाली. दुसरें उदाहरण पाहिजे असल्यास वेदांचे ध्या. यास्काच्या वेळेपासून वेदार्थाची भीमासा करण्याचे काम आमच्या देशांत बहुतेक बंद पडल्यासारखें झालेले होतें. सायणाचार्यांच्या काळापर्यंत ही परंपरा थोडीबहुत सुरू होती. परंतु सायणाचार्यांनी जे अवाढव्य प्रयत्न केले त्यानंतर तशा प्रकारचा उद्योग आमच्याकडे कोणी केला नाही. वेद ग्रंथ व सायणाचें भाष्य यांची युरोपांतील पंडितांस ओळख झाल्यावर यास्काच्या वेळेपासून बंद पडलेल्या परंपरेस पुन्हा सुरवात झाली, व ती जर्मनी आदिकरून पाश्चात्य राष्ट्रांत अद्याप चालू आहे. आमच्या शास्त्राचीच नव्हे तर आमच्या उद्योगधंद्याची व कलांचोही हीच स्थिति झालेली आहे. उदाहरणार्थ, वस्त्रे विणण्याची किंवा रंगविणण्याची कला ध्या. यांत आम्हीं पुष्कळ प्रावीण्य व कौशल्य संपादन केलेले होतें, परंतु पुढे त्याची वाढ खुंटलेली होती. युरोपियन लोकांस आमच्याकडून या कलेचे ज्ञान मिळालें ते याच स्थितीतलें होय. परंतु या वेळीं युरोपिअन राष्ट्रे जिवंत असल्यामुळे त्यांनी आमच्याकडून संपादन केलेल्या सदर कलांच्या ज्ञानांत भर घालून त्यांचा प्रवाह पुढें चालू ठेवला. आणि त्या कलांच्या साहाय्याने आपला देश श्रेष्ठ करून आम्हांस उलट भिकेस लावले! सुदैवानें वेदांत शास्त्राची स्थिति अशा प्रकारची होण्याचे दिवस अद्याप आलेले नाहीत. याचें कारण मुख्यत्वेकें असे की, इतर शास्त्रापेक्षां वेदांतांवर आमच्याकडील पंडितांनी व तत्त्ववेत्त्यांनी अति परिश्रम घेतलेले आहेत. “तावद्भ्रजति शास्त्राणि यस्मै” ही म्हण पुष्कळांस माहीत असेल. “तस्मै” ही म्हण पुष्कळांस माहीत असेल. “तस्मै” ही म्हण पुष्कळांस माहीत असेल. “तस्मै” ही म्हण पुष्कळांस माहीत असेल. “तस्मै” ही म्हण पुष्कळांस माहीत असेल.

आमच्या देशांत जितक्या पूर्ण अवस्थेस आलेली आहेत तितकी त्यांची वाढ दुसऱ्या कोठेही झालेली नाही. अर्थात् युरोपियन राष्ट्रें आमच्याकडील वेदांताची तत्त्वे घेऊन आमच्यापुढे पळतील असे व्हावयाचे नाही. आमची तत्त्वे बरोबर आहेत असे राजरोस मान्य करण्यास त्यांच्या आधिभौतिक शास्त्रज्ञांस बरेच दिवस लागतील हे खरे; तथापि ही गोष्ट होणार एवढे निश्चित आहे. सारांश, या बाबतीत पाश्चिमात्यांचे गुरुत्व आमच्या वेदांत्याकडे येणे शक्य आहे, इतकेंच नव्हे तर आधुनिक आधिभौतिकशास्त्राच्या प्रमेयांची दिशा पाहिली तर वेदातांची तत्त्वे तिकडील राष्ट्रांस मान्य होतील अशी आशा बाळगण्यास बळकट कारण आहे. म्हणजे ही गोष्ट शक्य असून साध्यही आहे; व या कार्मीं जर आपण मनापासून उद्योग केला तर सत्याच्या पायावर एकत्र झालेले पाश्चिमात्य राष्ट्रांतून अनेक साह्यकर्ते धर्माखेरीज इतर बाबतीतही आम्हास मिळतील, असे स्वामींचे मत आहे. थिऑसफीविरुद्ध अगम्यगुरूंचा जो मोठा कटाक्ष आहे तो याचकरिता होय. पाश्चिमात्यांचे गुरु होण्याचा ज्या बाबतीत आम्हास अधिकार आहे त्या धर्माच्या बाबतीतही त्यांचे शिष्यत्व आम्ही पतकरणे हे आम्हास लाजिरवाणे होय, असे ते नेहमी म्हणतात. पाश्चिमात्य लोकांस हाताशी धरून नये असे स्वामींचे म्हणणे नाही. पण भलत्याच ठिकाणी त्यांस गुरुत्व देऊन आम्ही आपल्या विद्येचा व देशाचा उपमर्द करून नये असे त्यांचे सांगणे आहे. वेदात किंवा वेदातांची तत्त्वे देशभक्तीस किंवा राष्ट्रभक्तीस कधीही आड येत नाहीत, उलट वेदातांच्या परोपकारबुद्धीत देशभक्तीचा अवश्य समावेश होतो, असे नुकतेंच केसरीत प्रतिपादन केले आहे. अगम्यगुरूंचे मतही असेच आहे. योग किंवा वेदात हा केवळ आपल्या आत्म्याच्या उन्नतीकरिता नव्हे तर सर्व लोकांच्या किंवा देशाच्या आत्म्यांस उन्नति प्राप्त करून देण्याकरिता आहे असा ते उघडपणे उपदेश करित असतात. ते स्वतः योगी आहेत व साधारण योग्यास अशक्य असे काही चमत्कार पाश्चिमात्य लोकांस दाखवून त्यांची त्यांनी योग व वेदात यांच्या तत्त्वांच्या सत्यतेबद्दल खात्री करून दिली आहे. पण हिंदुस्थानात ते जे फिरत आहेत ते असले चमत्कार दाखविण्याकरिता नव्हे. वेदातांच्या तत्त्वांचा विपर्यास करून स्वदेशहिताचा उद्योग सोडून देण्याची जी प्रवृत्ती होत चालली आहे तिचा विरोध करावा, स्वार्थदृष्ट्या आणि परमार्थदृष्ट्या वेदातांचा किती उपयोग आहे हे लोकांच्या लक्षात भरवावे आणि विदेशी लोकांची सहानुभूति मिळविण्याच्या कार्मींही या प्रबल शस्त्राचा कसा उपयोग करता येईल हे लोकांच्या पूर्णरूपे निदर्शनास आणून द्यावे एवढ्याकरिता ते झटत आहेत. योग आणि वेदांत या दोन अमूल्य देणग्या आगऱ्या पूर्वजांपासून आम्हांस प्राप्त झालेल्या आहेत, त्या लोकांच्या हातात देऊन लोकांच्या तोंडाकडे बघून नका, देणग्या तुमच्या आहेत, तुम्ही त्या लोकांस वाटा आणि सर्व जगास उदात्त विचारांचे वळण दिल्याचे श्रेय मिळवा, असे स्वामींचे सर्वांस सांगणे

आहे. राज्य कमावणें किंवा गमावणें हें शारीरिक बलाचें काम आहे; व इंग्रजां-पूर्वी ज्या लोकानी म्हणजे मुसलमानांनीं हिंदुस्थानावर स्वारी करून आपले राज्य येथे स्थापिलें त्याजवरही वेदातानें आपली छाप बसविली होती, आणि अशी छाप बसविली तेव्हाच अकबरासारखे बादशहा निपजले, ही गोष्ट इतिहासप्रसिद्ध आहे. इंग्रजांच्या राज्यातहि असा प्रकार घडून येणे अशक्य नाही. आधिभौतिक शास्त्राच्या प्रगतीनें वेदां-ताची प्रमेये अधिकाधिक बळकट होत चालली आहेत; आणि पाश्चिमात्य राष्ट्रे धर्माचीं काही शास्त्रसिद्ध तत्त्वे आपणास सापडावी अशा उद्योगास लागले आहेत. अशा वेळी आमच्या वेदान्ती धर्माचीं तत्त्वे “वेदान्त मिशन” काढून ख्रिस्ती मिशनच्या प्रमाणे जर सर्व जगास आम्हीं शिकविलीं तर प्राच्य व पाश्चिमात्य विचाराची सागड घालून देऊन सर्व जगाच्या विचाराचे पाऊल आम्ही पुढे टाकल्याचें श्रेय आपणास मिळेल; इतकेच नव्हे तर, त्याचबरोबर आमच्या देशाबद्दल व लोका-बद्दल पाश्चिमात्य लोकांत सहानुभूती उत्पन्न होऊन त्यामुळे देशकार्यही सहजरीत्या घडून येईल, असा स्वामींचा उपदेश आहे, व त्याचें सर्वास असे सांगणे आहे की, ही अमूल्य सधि दवडूं नका, आणि राजकीयदृष्ट्या आपले वैभव जरी गत असलें तरी जगाच्या बुडाशी जी काहीं थोर व उदात्त तत्त्वे आहेत त्यांत × × × × करण्याच्या अपूर्व अध्यात्मिक शक्तीबद्दल आमची जी पूर्वापार ख्याती चालत आली आहे ती बुडवू नका; योगानें व वेदान्तानें बुद्धीला जी काहीं परिपक्वता यावयाची त्याचे खरे चीज यातच आहे, आणि सध्याच्या परिस्थितीत गृहस्थांचेच नव्हे तर वेदान्त्यांचेही हेच कर्तव्य होय.

*महाराष्ट्र भाषेची वाढ.

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्विनिःसृताः ।

तास्तु यस्तेनयेद्वाचं सर्वस्तेयकरो हि सः ॥

—मनु.

वरील श्लोकांत खोटें बोलणारा किंवा खोटी साक्ष देणारा मनुष्य चोरा-पेक्षांही अधिक गुन्हेगार कसा ठरतो याची मनुने जी उपपत्ति दिली आहे त्या-पेक्षा अधिक बलवत्तर उपपत्ति दुसऱ्या वाङ्मयातून क्वचित्तच सांपडेल. मनुष्य-जातीचे व्यवहार चालण्यास वाणीखेरीज दुसरे साधन नाही, परस्परांचीं मनं अगर विचार परस्परास कळविण्यास भाषा हा एकच मार्ग आहे, आणि भाषे-पासूनच किंवा भाषेच्यायोगे सर्व प्रकारचा व्यवहार उत्पन्न अगर सिद्ध होत असतो तेव्हा अशा प्रकारच्या सर्व व्यवहारासाधनाचा जो मनुष्य दुरुपयोग करितो किंवा त्याशी प्रतारणा करितो तो एकपक्षी नव्हे तर सर्वस्वी चोर ठरतो,

असें मनूनें प्रतिपादन केलें आहे. असत्यवादीपणा कां व किती गर्ह्य अथवा शिक्षाई आहे याचें यापेक्षा अधिक सयुक्तिक कारण देणें शक्य नाही. परंतु वरील श्लोकात भाषेच्या उपयुक्ततेसंबंधाने जे विधान केले आहे तें आमच्यामते अधिक महत्त्वाचें आहे. पशूपासून मनुष्यजाती ओळखण्याची जी थोडोबहुत चिन्हें आहेत, त्यापैकीच भाषा हे एक प्रमुख लक्षण होय, असें बऱ्याच भाषाकोविदाचें मत आहे; आणि मनुष्याचे आपापसातील व्यवहार जितके अधिकाधिक विस्तृत किंवा व्यापक होतात, त्या मानानें भाषेलाही साहजिक अधिकाधिक विस्तृत स्वरूप प्राप्त होते. भाषा ही एक ईश्वरदत्त, किंवा डार्विनच्या मताप्रमाणे म्हटले तर उक्रातिरीत्या सिद्ध झालेली वरिष्ठ पायरीची देणगी होय, आणि एखादा विशिष्ट मानवसमाज ज्या मानाने सुधारलेला असेल त्या मानाने त्या समाजाची भाषाही सुधारलेली किंवा वाढलेली असते. थोडक्यात सागावयाचे असल्यास एखाद्या विशिष्ट राष्ट्राच्या किंवा समाजाच्या परस्परव्यवहाराचे स्वरूप किंवा मन्वत्त्व दाखविणारे त्या समाजाची भाषा हें एक यत्रच होय. मनूने सांगितल्याप्रमाणे सर्व व्यवहार भाषामूलक किंवा भाषेच्या योगानें चालत असल्यामुळे एखाद्या भाषेच्या स्वरूपावरून भाषापंडित ती भाषा बोलणाऱ्या समाजाच्या—विशेषकरून असे समाज किंवा राष्ट्रे जेव्हा नष्ट झालीं असतात तेव्हा त्यांच्या—सुधारणेची अटकळ बाधित-अततात. उघड आहे की, ज्या भाषेत भाववाचक नामे अधिक किंवा आत्मा आणि ईश्वर यांच्या कल्पना दाखविणारे शब्द अधिक ती भाषा वापरणाऱ्या लोकांचे तार्किक विचारही त्या मानाने सुधारलेले असले पाहिजेत इतर बाब-तीतही हाच न्याय लागू आहे. एखादे राष्ट्र किंवा लोक नष्ट होऊन जरी हजारो वर्षे झाली असली तरी आम्हास जर ते लोक वापरीत असलेल्या भाषेतील शब्द समजतील तर या नष्ट झालेल्या राष्ट्राची प्रगती अथवा सुधारणा कोणत्या स्थितीची होती याचें आम्हास ताबडतोब अनुमान करता येईल. साराश, समाजाचा व्यवहार, समाजाचे विचार, समाजाचा व्याप आणि समाजाची भाषा यांच्यामधील संबंध इतका निकट आणि नित्य आहे की, एकाचे प्रतियोग दुसऱ्यात उमटल्या खेरीज कधीही रहात नाही. एकाची वृद्धि तर दुसऱ्याची वृद्धि आणि एकाचा क्षय तर दुसऱ्याचा क्षय हा सिद्धांत अबाधित आहे.

कोणत्याही भाषेची अभिवृद्धि किंवा व्हास याचा विचार करताना वरील अबाधित सिद्धांत लक्षात ठेवला पाहिजे. भाषेची अभिवृद्धि करणे जर इष्ट असेल तर एखाद्या पंडिताने धात्वर्थापासून अनेक काल्पनिक शब्द निर्माण करून त्याचा कोश बनविल्याने कार्यसिद्धि व्हावयाची नाही एखाद्या कृपणाने कोट्यावधि रुपये संग्रह करून पुरून ठेवल्याने देशाच्या संपत्तीची जशी अभिवृद्धि होत नाही, त्याप्रमाणेच भाषेतील शब्दाचा प्रकार होय. अर्थशास्त्रातील विनिमयाचा व्यवहार सुरळीत चालण्यास किंवा वाढविण्यास ज्याप्रमाणे व जितकी नाण्याची जरूर लागते त्याप्रमाणे व तितकीच मनुष्यजातीच्या मनोवृत्ति व विचार परस्परस

कळविण्यास शब्दांची जरूरी आहे; आणि देशांतील व्यापार वाढला असतां ज्या-प्रमाणे अधिक नाणें—मग तें धातूचे असो वा कागदी असो—उपयोगांत आणणें जरूर पडतें, त्याप्रमाणेंच समाजांत एकमेकांच्या विचारांचें दळणवळण वाढविण्यास शब्दांची जरूरी लागते. जगांतील सर्व मनुष्याची भाषा जर एक असती तर मनुष्यजातीपैकी एका भागाची सुधारणा झाल्यानें सर्व भाषेची एकदम सुधारणा झाली असती. पण आजपर्यंतच्या इतिहासाच्या अनुभवावरून असा नियम दिसून येतो कीं, धर्म व भाषा या दोन्ही गोष्टी सर्व जगभर एकरूपानें कधीही असू शकत नाहींत; व मानवजातीच्या प्रारंभकाली त्या एक होत्या असें जरी मानलें, किंवा आजमितीस यक्षिणीची काडी फिरवून त्या सर्व जगभर जरी एक करता आल्या तरी कालांतरानें या दोन्ही गोष्टीस देशभेदानें भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त व्हावयाचेंच. किंबहुना एकराष्ट्रीयत्वाचें एकभाषा व एकधर्म, अर्थात् भिन्न राष्ट्रीयत्वाचे भिन्न भिन्न भाषा व भिन्न धर्म हें एक प्रधान लक्षणच होऊन बसलें आहे. हें असें कां व्हांवें, भाषावेषम्य किंवा भाषाभेद आणि धर्मभेद हे नाहींसे करणें अशक्य आहे कीं काय, या प्रश्नाचा आज विचार कर्तव्य नाही. वस्तु-स्थिति कशी आहे आणि ती किती प्राचीन कालापासून चालत आली आहे, एवढेच आपणांस पाहावयाचे आहे; आणि तशा दृष्टीनें विचार केला म्हणजे विवक्षित मनुष्यसमाज आणि त्या समाजातील व्यक्तिमात्रांनीं आपापले विचार एकमेकांस कळविण्याकरितां योजलेले शाब्दिक साधन किंवा भाषा यांचा संबंध नित्य आहे असें मानूनच कोणत्याही विशिष्ट भाषेच्या अभिवृद्धीची अथवा न्हासाची मीमासा केली पाहिजे हें उघड आहे.

महाराष्ट्रभाषेच्या अभिवृद्धीचा अशा रीतीनें विचार केला म्हणजे अनेक गोष्टी डोळ्यापुढे उभ्या राहातात. नर्मदेच्या दक्षिणेस आणि घटप्रभेच्या उत्तरेस महाराष्ट्रभाषेचा प्रारंभ सुमारें इसवी सनाच्या पाचव्या सहाव्या शतकांत झाला असें प्राचीन लेखाच्या शोधकांचें मत आहे. त्यापूर्वी या प्रांतातील भाषा कानडी होती. परंतु या समयास नर्मदेच्या उत्तरेकडून आर्य लोकांचे जे संघ दक्षिणेंत आले त्यांनी दक्षिणेतील लोकांशी बरोबरीनें वागून व त्यांच्यांत मिळूनमिसळून आपली प्राकृत भाषा या प्रदेशांत आणली आणि त्या प्राकृत भाषेंत जुन्या भाषांशी मिश्रण होऊन त्यापासून हल्लीची महाराष्ट्र भाषा उत्पन्न झाली. यानंतर काहीं शतके ती बाल्यावस्थेंतच होती. पण पुढें यादव राजांचा तिला आश्रय मिळून नर्मदेच्या दक्षिणेस तिचा पगडा उत्तरोत्तर अधिकाधिक बसत चालला; आणि प्रांतांतील सर्व व्यवहार त्याच भाषेंत चालू लागल्यानें लवकरच पुढें ज्ञानेश्वरीसारखे ग्रंथ निर्माण झाले. मराठी भाषेच्या उगमाचा अद्याप जरी पुरा शोध लागला नाही तरी उपलब्ध असलेल्या माहितीवरून वर दिलेले सामान्य विधान करण्यास कांही हरकत नाही. या वेळची महाराष्ट्रदेशाची स्थिती फार चमत्कारिक होती. यादव राजांनीं प्रोत्साहन दिल्या-

महाराष्ट्र भाषेची वाढ.

मुळें महाराष्ट्र भाषेस बरेंच स्थैर्य आले होतें खरे; पण पुढे लवकरच महाराष्ट्रांत मुसलमानी राज्याची स्थापना झाल्यामुळें राजकीय व्यवहार बहुतेक परकी भाषेंत चालूं लागला. विद्वान् लोकांची स्थिती पाहावी तर त्यांनीं आपलें सर्व ज्ञान प्राचीन पद्धतीप्रमाणें प्रायः संस्कृतातूनच संपादन केलेलें असावयाचें. आणि ज्या थोड्या हिंदु लोकांच्या हातांत राजकीय अधिकार राहिलेला होता त्यास मुसलमानी भाषेचा अधिक अभ्यास करावा लागत असल्यामुळे स्वाभाविकरीत्याच स्वभाषेच्या उत्कर्षाचे काम त्यांच्या हातून होत नव्हतें. अशा स्थितीत ज्ञानेश्वरापूर्वी व तत्कालीं स्वराज्याच्या छात्राखालीं वाढलेल्या मराठी भाषेचा बहुतेक नष्टांशच व्हावयाचा; किंवा निदान तिचें इतकें मोठे रूपांतर व्हावयाचें कीं, ज्ञानेश्वरापूर्वीच्या भाषेची ही कन्या आहे हें ओळखूसुद्धा येऊं नये. मुसलमानी अमदानींत मराठी भाषेचें स्वरूप पालटून बरेच मुसलमानी शब्द व मुसलमानी भाषापद्धति मराठीत शिरली, हे आता काही निराळें सिद्ध करण्यास नको. बखरीच्या भाषा आणि शिवाजीमहाराजांनीं तयार करविलेला राज्यव्यवहारकोश याची साक्ष देत आहे. वास्तविक म्हटलें म्हणजे हा काल मराठी भाषेच्या व्हासाचा होय; परंतु परमेश्वराच्या कृपेनें अशा आपत्कालातही मराठी भाषेला पूर्वीच्या स्वराज्यात पोसलेला वृक्ष वाढत जाण्यास एक दोन कारणें घडून आलीं. मुसलमानी राज्यात धर्माच्या बाबतीत हिंदूंचा पुष्कळ छल झाला ही गोष्ट इतिहासप्रसिद्ध आहे. महाराष्ट्र देशासंबंधानें विचार करताना हाच सिद्धान्त लक्षात ठेवला पाहिजे. दक्षिणेंत आज जे मुसलमान लोक आहेत ते प्रायः अस्सल पठाण, मोंगल किंवा तुर्क नसून मुसलमानी अमदानीच्या पूर्वी या प्रांतात जे हिंदु लोक होते त्यांच्यापैकी ज्यांनीं लोभानें किंवा सक्तीनें मुसलमानी धर्म स्वीकारिला त्यांचे वंशज आहेत हेही सागावयास नको. दक्षिणेंतील मुसलमान आणि दक्षिणेंतील मराठे यांच्या अंगात एकच रक्त वाहत आहे; आणि काही कारणानें धर्म भिन्न झाला असला तरी पिडानें ते एकमेकांचे बंधुच होत. असो; सागावयाची गोष्ट ही कीं, मुसलमानी अमदानीत जरी हिंदूंचा छल होत असला तरी त्या छलामुळेंच हिंदु लोकांची आपल्या धर्मावरील श्रद्धा दुणावली गेली, असें म्हणण्यास हरकत नाही. हिंदु धर्माचा छल होऊन मुसलमान धर्माचें प्राबल्य जेव्हा झालें तेव्हा ' शिव शिव न हिंदुर्न यवनः ' अशा प्रकारची काही लोकांची स्थिति झाली असल्यास त्यात कांहीं नवल नाही. जागोजागी देवालयें मोडून उभारलेल्या भव्य व टोलेजंग मशिदी आणि तेथे जमणाऱ्या मोठमोठ्या उमरावांचा समुदाय यांचा देशातील लोकांच्या मनावर धार्मिकरीत्या वाईट परिणाम झाल्याखेरीज राहावयाचा नाही. पण मुसलमानी धर्मच्छलामध्ये आमच्या दृष्टीनें एक मोठा गुण होता, तो हा कीं, हा छल बहुतेक किंवा सर्वांशीं शारीरिक जवरीचा होता. कुराणाचा स्वीकार कर, नाहीपेक्षां वतन बुडवितो किंवा ठार मारतो असे याचे स्वरूप होतें. त्यामुळें अशा प्रकारचा छल सोसण्याचें

ज्यांच्या अंगी धैर्य होतें त्यांची स्वधर्मावरची श्रद्धा अधिकच दृढ झाली. हल्लींच्या राज्यांत पाश्चिमात्य शिक्षणाच्या योगाने सुशिक्षित वर्गाच्या अंतःकरणातील धर्म-बीजच निर्बल होऊन गोमास भक्षणापर्यंत जशी कित्येकाची मजल येऊन ठेपली आहे, तसा मुसलमानी अमदानांतला प्रकार नव्हता. सक्तीच्या छलास जे बळी पडले त्याखेरीज बाकीच्यांच्या अंतःकरणातील श्रद्धा छलास्या धक्क्याने प्रतिकार करण्यास अधिक समर्थ झाली; आणि याचा परिणाम असा घडला की, त्यांनी आपले धार्मिक मनोविकार आपल्या समाजास कळविण्याकरिता स्वभाषेचा अधिकाधिक उपयोग करून तिची वाढ कायम ठेविली. मराठी भाषेचें हल्ली उपलब्ध असलेलें वाङ्मय प्रायः धार्मिक का, याचा अशा रीतीने नीट खुलासा लागतो. जितका जितका छळ अधिक तितकी प्रतिकार करण्याची इच्छाही अधिक. किंबहुना गतिशास्त्रात ज्याप्रमाणें क्रियेने प्रतिक्रिया उत्पन्न होते असा सिद्धांत आहे तसाच धार्मिक बाबतीतही सिद्धांत बनवितां येईल. ज्ञानेश्वरापासून रामदासापर्यंत झालेल्या संत मंडळींची भाषेच्यासंबंधाने कामगिरी पाहताना तत्कालीन राजकीय परिस्थितीचा वर सांगितल्याप्रमाणे अवश्य विचार केला पाहिजे. राजसत्ता परधर्मी लोकांच्या हातात असल्याने या परकीय लोकांच्या भाषेतच बहुतेक राजकीय व सामाजिक व्यवहार चालत असत; आणि न्याय, व्याकरण आदिकरून पाडित्याचे व्यवहार संस्कृत भाषेत चालत. अशा परिस्थितीत धर्माची बाब जर संत मंडळीने हातांत घेतली नसती तर मराठी भाषेत ज्ञानेश्वरी हा पहिला आणि शेवटचाच ग्रंथ झाला असता. धर्माची बाब त्या वेळीं लोकांच्या पुढाऱ्यांनी हातात घेण्यास दुसरेही एक कारण झालें होतें. इसवी सनाच्या सातव्या शतकात जैन व बौद्ध धर्मांचे खडण करून हिंदुस्थानात व हिंदुस्थानाबरोबर महाराष्ट्रातही शंकराचार्यांनी जरी वैदिक धर्माची स्थापना केली तरी पुढे काहीं वर्षेपर्यंत तो धर्म थोडाबहुत चालतच होता. कुमारिलाचा श्रौतमार्ग सर्व जातीच्या लोकांनी आचरणें निषिद्ध होतें, आणि आचार्यांचा वेदातमार्ग पंडिताखेरीज इतरास अगम्य होता, तेव्हां जैन आणि बौद्ध यांचा आचार्यांनी जरी पराभव केला तरी या धर्माच्या अभावीं सामान्य जनसमूहास कोणता धर्म आचरण्यास सागावे हा एक त्या वेळच्या धार्मिक विद्वानांपुढें मोठाच प्रश्न होता; आणि मुसलमानी अमदानीपूर्वी जर त्याचा योग्य निकाल लावला नसतां तर जैन आणि बौद्ध धर्माच्या ऐवजी मुसलमानी धर्म या प्रांतांत एकदम प्रचलित झाला असता. भक्तिमार्ग किंवा भागवत धर्म याच्या प्रवर्तकांनी देशावरील संकट टाळलें हें आम्हां नेहमीं लक्षांत ठेवलें पाहिजे. याप्रमाणें हिंदुस्थानातील धार्मिक इतिहासाच्या दृष्टीनेही भक्तिमार्गास या कार्त्वी विशेष महत्त्व आलें होतें; आणि मुसलमानी धर्मच्छलाचें स्वरूप केवळ शारीरिकशक्तीचें असल्यामुळें महाराष्ट्रांत या धर्माच्या वाढीस मुसलमानी अमदानांत एक प्रकारचें साहाय्यच झालें असे म्हटलें पाहिजे. परकीय अमलात राजकीय महर्षि किंवा संत उत्पन्न होणें

अशक्य आहे. अर्थात् ज्यांच्या अंगांत काहीं कर्तृत्वशक्ति होती त्यांस आपलें कर्तृत्व दाखविण्यास धार्मिक चळवळ एवढीच काय ती मोकळी बाजू होती; किंवा धार्मिक पुढाऱ्यांखेरीज इतर पुढारीवर्गास हा काल अनुकूल नव्हता. कसेही म्हणा, आम्हा सर्वांना समाधान व अभिमान वाळगण्यासारखी मुख्य गोष्ट ही आहे की, अशा कालांत व परिस्थितीत महाराष्ट्रातील पुढाऱ्यांनी त्यास जी दिशा मोकळी होती तिचा अंगिकार करून भाषा व धर्म अशी जी एकराष्ट्रीयत्वाची प्रधानअंगे, त्यांचे आपत्काली महाराष्ट्रात चांगले संगोपन केलें इतकेच नव्हे तर यावच्छक्य अभिवृद्धीही केली. याचा परिणाम काय झाला व पुढे स्थिति काय झाली याचा विचार स्थलसंकोचास्तव आज न करिता पुढील लेखांत करूं.

* महाराष्ट्र भाषेची वाढ.

नंवर २.

कोणत्याही राष्ट्रांचे वाङ्मय त्या राष्ट्रांतील लोकांच्या परिस्थितीवर अवलंबून असते, आणि ही परिस्थिती ज्याप्रमाणे पालटेल, म्हणजे संकुचित किंवा विस्तृत, मर्यादित अगर व्यापक होईल त्या मानाने वाङ्मयाचाही न्हास किंवा वाढ होत असते हा सिद्धांत महाराष्ट्रात स्वराज्य होण्यापूर्वी मराठी भाषेच्या वाढीस कसा लागू पडतो, याचे गेल्या खेपेस विवेचन केलें आहे. नाडीवरून ज्याप्रमाणे शरीरातील रोगाची किंवा स्वास्थ्याची परीक्षा होते, तद्वतच भाषेवरून राष्ट्रांची बरी-वाईट स्थिति तज्ज्ञ लोक तेव्हाच ताडतात. श्रीशिवाजीमहाराज जन्मण्यापूर्वी पोवाडे का झाले नाहीत, याचे कारण आता सांगण्याची जरूर नाही. यादवकुलातील शेवटचा दौलताबाद येथील हिंदु राजा नाहीसा झाल्यानंतर आणि शिवाजीमहाराज जन्मेपर्यंत मुसलमानी राज्यकर्त्यांनी काही पराक्रम केले नाहीत. पण त्या पराक्रमानी महाराष्ट्रातील गोंधळ्यास किंवा लोकास कसे स्फुरण येणार ? पण परमेश्वराच्या कृपेने हे रहाटगाडगे जेव्हा फिरलें, तेव्हा गावोगावीं उघड्या मैदानात हजारो लोकापुढे डफावर थाप मारून महाराष्ट्रातील शाहीर 'अला मोंगल चढाई करून' किंवा अखेरीस अखेरीस 'खूप शतींनीं राज्य राखिलें यशवंत फडणीस नाना' असें आपल्या जोरदार भाषेनें गाऊं लागले. ज्ञानेश्वरापासून तुकारामापर्यंत झालेल्या कविमंडळात म्लेच्छ राज्याबद्दल खेद आणि स्वराज्याबद्दल अभिमान जागृत नव्हता असे नाही. एकनाथाच्या कवितेपैकीं दोन तीन कविता त्याच्या देशभक्तीच्या दर्शक म्हणून रा. पागारकर यांनीं पूर्वी केसरीत प्रसिद्ध केलेल्या वाचकास आठवत असतीलच. परंतु त्या वेळची

परिस्थिती अशी होती की, देशाभिमानाची ज्योत अंतःकरणांत असली तरी, तिची ज्वाला ओठापर्यंत न येण्याची खबरदारी घ्यावी लागत असे. एकनाथाचा काळ व रामदासाचा काळ यात पुष्कळ अंतर आहे; आणि निवृत्ती मार्गाबरोबरच रामदासाप्रमाणे प्रवृत्ती मार्गाचेही तत्पूर्वीच्या संतांनी प्रचलन केले नाही याबद्दल त्यास दोष देणारानी ही गोष्ट विशेषतः लक्षात ठेवली पाहिजे. इंग्रज सरकारने आमचे विचार स्पष्टपणे बोलण्याची आम्हास परवानगी दिली आहे, तरीसुद्धा नेमस्त बोला व नेमस्त लिहा म्हणून उपदेश होतो, तर मुसलमानी अमदानीत संतकविमंडळ राजकीय ढवळाढवळीत पडले नाही, याबद्दल त्यांस दोष देणे गैरशिस्त नव्हे काय ? रामदासास ज्या गोष्टी कळल्या त्या एकनाथास कळत नव्हत्या किंवा कळल्या नसत्या असे नाही; त्याच्या लेखात किंवा कवित्वांत जो फरक आहे तो परिस्थितीमुळे झालेला आहे, देशाभिमानाच्या कमतरतेमुळे नव्हे, असे आम्ही समजतो. साराश, श्रीशिवाजीमहाराजाचा जन्म होण्यापूर्वीचे महाराष्ट्र वाङ्मय पाहिले तर ते सर्व धार्मिकच आहे आणि परिस्थितीच्या मानाने ते असेच असावयाचे, असे आढळून येईल. पण याने राष्ट्रीय कार्य काहीच झाले नाही असे मात्र कोणी समजू नये. मुसलमानी कारकीर्द होण्यापूर्वी यादवाच्या राज्यात नुकताच मराठीला कोठे राजाश्रय मिळालेला होता; आणि मराठी भाषेची स्थानिक व्याप्ती किंवा मर्यादा कायमची ठरलेली नव्हती. हा राजाश्रय तुटल्यानंतर मुसलमानी अमदानीत धर्माची जी एक बाजू मोकळी होती त्या दिशेनेच त्या वेळच्या थोर पुरुषांनी धर्म आणि भाषा राखून महाराष्ट्राचे महाराष्ट्रपण कायम ठेविले. विठोबाची पंढरी ही धर्म आणि भाषा या दोन्ही दृष्टीने त्या वेळी महाराष्ट्राची राजधानी झाली होती. आणि या राजधानीच्या आसपास म्हणजे हल्ली मोंगलाईत असलेल्या औरंगाबाद, गुलबर्गा आणि दक्षिणेस विजापूर वगैरे प्रातानून आजमितीस मराठी भाषेची जी व्याप्ति आढळून येते, तिचे श्रेय मराठी संत-कविमंडळासच दिले पाहिजे. हे कविमंडळ जर त्या वेळी उत्पन्न झाले नसते तर दक्षिणेकडून कानडी भाषेने पुन्हा आपला पगडा कदाचित् महाराष्ट्र भाषेवर बसविला असता. आळंदी आणि पंढरी या दोन धर्मक्षेत्राचा दीर्घवर्तुलातील दोन केंद्राप्रमाणे महाराष्ट्र-भाषेच्या व्याप्तीवर परिणाम झालेला आहे. अर्थात् महाराष्ट्राच्या मर्यादा आज ज्या आपणास कायम झाल्याशा वाटतात, त्या संत-कवि-मंडळींनी मुसलमानी अमदानीत धर्माच्या दिशेने महाराष्ट्र भाषावृद्धीचा उद्योग करून स्थापित केलेल्या आहेत. महाराष्ट्रातील लोकांच्या अंगांतील रक्त आर्य आणि द्रवीड लोकांच्या मिश्रणाने बनले आहे, असा हल्लींच्या शोधकांचा सिध्दान्त आहे. पण हाच सिध्दान्त बंगलोर म्हैसुरापर्यंत राहाणाऱ्या मंडळींसही लागू पडतो. तथापि, महाराष्ट्र देशाची मर्यादा तेथपर्यंत गेलेली नाही. हे लक्षात आले म्हणजे महाराष्ट्राची मर्यादा कायम करण्याचे कामी पिंडान्वयापेक्षा भाषान्वयच

अधिक कारणीभूत झाला असें म्हणावें लागते. भाषेची मर्यादा किंवा व्याप्ती वाढविण्यास अशा रीतीने धर्म कारण होत असतो, याचें दुसरें एक कारण आहे. ज्ञानेश्वराचे वेळीं किंवा त्यापूर्वी काहीं वर्षे महानुभवपंथ निघाला आणि तो महाराष्ट्रात निघाल्यामुळे त्या पंथाचे मूळ ग्रंथ महाराष्ट्र भाषेत लिहिले गेले. परंतु या पंथाचा विस्तार महाराष्ट्राबाहेर म्हणजे राजपुताना, पंजाब इकडे अधिक झाल्यामुळे व त्याचे मठ सध्या पेशावर व काबूल येथेही असल्यामुळे, त्याच्याद्वारे मराठी भाषा काबुलापर्यंत-निदान त्याच्या मठात तरी-प्रचलित असलेली आढळून येते. भागवतधर्माचे ग्रंथ मराठीत झाले किंवा त्या काळच्या संत-मंडळींनी केले, या गोष्टीचा अशा दृष्टीने विचार केला म्हणजे ती भाषा-वृद्धीस आणि तद्वारा राष्ट्रवृद्धीस किती कारणीभूत झाली, हे चांगले दिसून येते. अग्निहोत्रादि श्रौतकर्मांत निमग्न झालेल्या विद्वान् मंडळींचा या संतमंडळींवर राग होता, आणि त्यांना असे वाटत असे की, संस्कृताचें अध्ययन करून पंडित झालेल्या मनुष्याने वेदवाणीचे अर्थ मराठीत कुळंब्यामाळ्यास सागणें म्हणजे भ्रष्टाकार होय. एकनाथ व तुकाराम यांचा शास्त्रीमंडळीने छळ केला होता इतकेच नव्हे तर पुढेही संस्कृत वाणी सोडून मराठीत काव्य करण्यापूर्वी महाराष्ट्र कर्वास अपवादापासून पडिल्याने आपल्या कृतीचे मडन करावें लागते. संस्कृत ही भाषा आम्हास परकी नाहीं, किंबहुना ती मराठी भाषेची आई नसली तरी निदान आजी खान आहे. तथापि संवय आणि अभ्यास यानें जडलेला दुराग्रह इतका बलवत्तर असतो की, वीस वीस पचवीस पचवीस वर्षे संस्कृतांत घटपटादि खटपट करणारास कुळंब्याच्या मराठी भाषेत आपले मनोविकार व्यक्त करणे हलकपणाचे वाटे. काणत्याही राष्ट्रातील विद्वत्समूह अशा रीतीने देशभाषेखेरीज इतर भाषेत बाळपणापासून दीर्घकाळ वाढलेला व तद्वारा ज्ञान संपादन केलेला अबाधित कायम राहाणे हे देशभाषेच्या दृष्टीने त्या राष्ट्राचे दुर्दैव होय असें आम्ही समजतो. त्यातून ही भाषा जर देशभाषेहून नुसती भिन्नच नव्हे तर परकी असेल तर बोलावयासच नको. हल्लीं महाराष्ट्रास हीच स्थिती आलेली आहे; पण त्याचा विचार पुढे करूं. सध्या एवढेंच सागणें आहे की, शिवाजीमहाराजाचेपूर्वी मुसलमानी अमदानीत संस्कृतात वाढलेल्या विद्वत्समूहाचें विशेष साहाय्य नसता किंवा राज्यकर्त्यांचा बराच विरोध असताही आमच्या संतमंडळीनें राष्ट्रात एकाचे दोन केंद्र उत्पन्न करून धार्मिक दिशेनें भाषेच्याद्वारे महाराष्ट्रीयत्वाची कल्पना कायम ठेवली इतकेंच नव्हे तर महाराष्ट्राच्या म्हणजे मराठी भाषा बोलणाऱ्यांच्या देशाच्या मर्यादा शक्य तितक्या वाढवून कायम ठेवल्या. ही कामगिरी जर त्यांनीं बजावली नसती तर ३४ शें वर्षांत मुसलमानी अमदानीत भाषेची सरभेळ होऊन रामदास किंवा श्रीशिवाजी-महाराज यांस महाराष्ट्रधर्म किंवा महाराष्ट्रदेश कोणता, हें सागण्याची पंचाईत

पडली असती; इतकेंच नव्हे तर महाराष्ट्र देशांतील लोकांचे हातून जी काम-गिरी त्यांनीं करून घेतली ती त्यांस करून घेतां आली नसती.

श्रीशिवाजीमहाराजांचा अभ्युदय म्हणजे मराठी भाषेचा अभ्युदय असें म्हणण्यास हरकत नाही. मराठी भाषेची व्याप्ती वाढण्यास या पूर्वी धर्म हें एकच कारण होतें; त्यास आतां राजसत्तेची जोड मिळाली. इंग्रजी भाषा इतर पाश्चात्य भाषांपेक्षा जी श्रेष्ठ झाली आहे तिला इंग्रजी साम्राज्य हें एक प्रबळ कारण होय. कोणतीही विशिष्ट भाषा बोलणारे लोक राज्यकर्ते झाले म्हणजे त्याच्याबरोबरच त्यांच्या भाषेचाही अधिक गौरव होत असतो. आणि असा गौरव झाला म्हणजे पहिल्यानें जरी ती भाषा लेखीपेची असली, तरी कालांतरानें तिला प्रगल्भ स्वरूप प्राप्त होतें. मराठी भाषेला ही स्थिति काही दिवस प्राप्त झाली होती. श्रीशिवाजीमहाराजांचे मराठी साम्राज्य स्थापण्याकरितां झालेले पहिले प्रयत्न सध्याद्रींतील किल्ले आणि सध्याद्रीला लागून असणारे सुपे, पुणे वगैरे प्रात यांतच करावे लागल्यामुळे मराठी भाषेचे पूर्वीचें केंद्रस्थान बदलून ते सध्याद्रीच्या लगत ध्यावें लागलें. तथापि लवकरच या नव्या केंद्रापासून महाराष्ट्र भाषेचे किरण मराठ्यांच्या भाव्याबरोबर उत्तरेकडे अटकेपर्यंत तर दक्षिणेकडे तंजावरपर्यंत जाऊन पोचले. यानंतरचा म्हणजे पेशवाईचा काळ तर मराठी भाषेस जास्तच अनुकूल झाला. शिंदे, गायकवाड आणि होळकर यांनीं ग्वालर, गुजराथ आणि माळवा या प्रांतांत आपल्या संस्थानाबरोबरच मराठी भाषेची स्थापना केली; आणि पूर्वेकडे नागपुरास भोंसल्यांनीं तिची बाजू राखली. वेळगाव, धारवाड, म्हैसूर, तंजावर हीं या पूर्वीच सर झालेलीं होती. आणि निजामचें राज्य दक्षिणेंत कायम राहिलें होतें, तरी संतमंडळींनीं औरंगाबाद वगैरे प्रांतांतून मराठी भाषेची जी एकदां छाप बसविलेली होती ती मराठ्यांच्या पराक्रमानें पुढें कायम राहिली. साराश, निजामापासून त्यांच्या वसुलाचीच चौथाई आम्ही घेतली एवढेंच नव्हे तर चौथाईपेक्षां अधिक मुलुख महाराष्ट्र भाषेच्या टापूखालीं ठेवण्यास तत्कालीन मराठ्यांचें शौर्य कारण झालें. तात्पर्य, आमच्या संतमंडळींचे ग्रंथ हे आतां केवळ मर्यादित महाराष्ट्राचेंच वाङ्मय न राहतां त्याची व्याप्ति मराठी राज्याइतकीच वाढत जाऊन तिनें हिंदुस्थानचा तृतीयांश तरी व्यापला गेला. वाङ्मयास धर्माच्या खोलींत कोडून ठेवण्याचेंही आतां कारण नव्हतें. ज्या महाराष्ट्र वीरांनीं मुसलमानांतील धर्मच्छल आपल्या कर्तबगारीनें नाहीसा केला, त्याचे पोवाडे गाण्यास किंवा त्यांच्या बखरी लिहिण्यास आतां नवे कवी व लेखक पुढें आले. आणि त्यांना आपली कवित्वशक्ती केवळ धार्मिक विषयांतच खर्च करण्याचें कारण राहिलें नाही. मराठी भाषेतील ऐतिहासिक गद्य व पद्य लेख याच वेळेस जन्मास आले व पोसले गेले, याचें कारण वरील विवेचनावरून वाचकांच्या चांगलें लक्षांत येईल. राष्ट्र वाढूं लागते म्हणजे तें काहीं एकाच बाजूनें वाढत नाही; आणि राजसत्ता ज्यांच्या हातांत असते, त्यांचे आचारविचारच नव्हे, तर त्यांची भाषाही लोकांस गोड वाढूं लागते.

वेळगांव किंवा धारवाड जिल्ह्यांत आजमितीस मराठी भाषा लोकांस समजते याचें खरें कारण असें आहे कीं, मराठी अमदानींत या जिल्ह्यांतील लोक किंवा त्यांचे पुढारी मराठी भाषा बोलणे हे संभावितपणाचें किंवा प्रतिष्ठितपणाचें लक्षण समजत. कोणाही सुशिक्षित मनुष्यास, मराठी कळत नाही, असें त्या वेळीं म्हणण्याची लाज वाटे. याचा असा परिणाम झाला कीं, या लोकांच्या घरांतून स्त्रिया देखील मराठी बोलणें हें कुलीनत्वाचें लक्षण आहे असें समजू लागल्या. हल्लीं इंग्रजी राज्यांत इंग्रजी भाषेसंबंधानें आमच्या देशांत जो प्रकार होत आहे तो लक्षांत आणला म्हणजे आम्हीं वर केलेलें वर्णन कोणासही असंभवनीय वाटणार नाही. महाराष्ट्र देशाच्या इतिहासांतील हा काळ अशा रीतीनें राष्ट्राभ्युदयाचाच नव्हे तर भाषाभ्युदयाचाही झाला होता आणि यांत गद्य ग्रंथ नवीन निर्माण झाले इतकेंच नव्हे तर पद्य ग्रंथांसही नवें वळण लागलें, हें मोरोपंतादिकांच्या काव्यावरून दिसून येईल. हाच काल पुढें अबाधित राहिला असता तर काय झालें असतें हें सांगण्याची गरज नाही. आमच्या दुर्दैवानें म्हणा कीं, सुदैवानें म्हणा, शें-दीडशें वर्षे आम्हीं या कालाचा अनुभव घेतों न घेतों तोंच ही परिस्थिति जाऊन दुसरी परिस्थिति प्राप्त झाली. या दुसऱ्या परिस्थितींत आमच्या भाषेची वाढ कशी कायम ठेवतां येईल याचा विचार आपणास मुख्यत्वेकरून करावयाचा आहे. पण पूर्वपरंपरा लक्षात आल्याखेरीज तसा विचार पूर्णपणें करणें अशक्य असल्यामुळे एवढी प्रस्तावना करणें जरूर पडलें. वरील मुख्य मुद्द्यांचा विचार पुढील खेपेस करू.

*महाराष्ट्र-भाषेची वाढ

नंबर ३.

या विषयावरील गेल्या दोन लेखांत पेशवाई बुडेपर्यंत मराठी भाषेच्या वाङ्मयाची व स्थानिक व्याप्तीची वाढ कशी झाली याचें थोडक्यांत विवेचन केलें आहे. त्यावरून स्वराज्यांत स्वभाषेस कशा प्रकारें उत्तेजन मिळतें हें वाचकांच्या लक्षात आलेंच असेल. मराठी भाषेतील पहिलें वाङ्मय धर्मविषयक असण्याचें कारण काय, ऐतिहासिक पवाडे किंवा बखरी पहिल्या कालात का निर्माण झाल्या नाहींत, आणि इंदुरापासून तंजावरापर्यंत मराठी भाषेचा प्रसार कसा झाला या गोष्टींची उपपत्ति दुसऱ्या कोणत्याही प्रकारें लागत नाही. मराठी भाषेच्या वाढीच्या ऐतिहासिक विवेचनाची ही पद्धत लक्षांत ठेऊनच इंग्रजी अमदानींत तिची वाढ कशी, किती व कोणत्या प्रकारची होईल याचा विचार केला

पाहिजे. मराठीस मातृभाषा किंवा मायभाषा म्हटल्याने मराठी भाषेच्या अभिवृद्धीत काहीं भर पडते असे नाही. मागे आम्ही सांगितलेंच आहे कीं, भाषा ही राष्ट्राच्या स्थितीचें निदर्शक आहे. राष्ट्र जर उदयोन्मुख असेल तर त्यांतील भाषाही वाढीस लागलेली असावयाची; आणि राष्ट्राचे व्यापार किंवा व्यवहार जर संकुचित असले तर त्याप्रमाणेच भाषेची व्याप्ती किंवा वाढ ही मर्यादित रहावयाची, हा सिद्धांत अबाधित आहे. करिता याच दृष्टीनें हल्लींच्या कालातील मराठी भाषेच्या अभिवृद्धीचा विचार करूं.

इंग्रजांचे राज्य हिंदुस्थानात झाल्यावर अर्थातच मराठी भाषेस राजकीय-दृष्ट्या पूर्वी जे महत्त्व होतं ते कमी झालें. अव्वल इंग्रजांत पाहिल्यापाहिल्यानें देशी भाषातून दप्तर ठेवीत असत, व जिल्हाकोर्टांतील कामही देशी भाषातून चाले. परंतु इंग्रजी शिक्षण वाढून इंग्रजी भाषा शिकलेले नोकर जसजसे जास्त मिळूं लागले तसतसा देशी भाषाचा राजकीय वावर्तित कमी कमी उपयोग होऊं लागला; आणि राज्यव्यवस्थेचें महत्त्वाचे सर्व काम इंग्रजांत चालूं लागलें. मराठी ही गुजराथीप्रमाणें व्यापाराची भाषा कधीच झालेली नव्हती. त्यामुळें गुजराथी भाषेची व्याप्ती कायम राहाण्यास हल्लीं जीं सवड राहिली आहे तीही मराठी भाषेस प्राप्त झाली नाही. गुजराथी भाषेत तीन दैनिक वर्तमानपत्रे आज बरेच दिवस चालत आहेत याचेही मुख्य कारण हेंच होय. शिवाय पारशी लोकानी गुजराथी भाषेचा जसा स्वीकार केला तसा प्रकारे मराठी भाषेस महाराष्ट्राखेरीज दुसऱ्या कोणत्याही मोठ्या जातीचा पाठिंबा मिळाला नव्हता. यामुळे मराठी राज्य गेल्याबरोबर महाराष्ट्रातील राज्यकारभारात मराठी भाषेचे प्राबल्य नाहीसे झालें इतकेंच नव्हे, तर महाराष्ट्राच्या बाहेरही तिचा पूर्वी झालेला प्रसार उत्तरोत्तर नाहीसा होत चालला. तजावर प्रांतात पूर्वी जे लोक महाराष्ट्रातून गेले आहेत ते अद्याप आपल्या घरीं ज्ञानेश्वरीच्यापद्धतीचे मराठी बोलतात. परंतु संस्थानच्या किंवा जिल्ह्यातल्या दरबारात त्या देशाची भाषा वापरण्यात येत असल्यामुळें तिकडच्या मराठीचा प्रघात अजिबात बंद पडला. म्हैसुराकडे हीच व्यवस्था झाली; आणि बेळगाव-धारवाड जिल्ह्यातील लोकानीं कर्नाटक-विद्यार्थक संप्र काढून राज्यकर्त्यांच्या जोरावर मराठी भाषेस शह देण्याचे काम सुरू केलें. ग्वाल्हेर व इंदूर संस्थानात वास्तविक म्हटले म्हणजे मराठी भाषा कायम ठेवावयास पाहिजे होती. पण इंग्रजी राज्यकर्त्यांचे संस्थानातून अनुकरण झाल्यामुळे मराठी भाषेस तेथूनही आपला पाय माथारा घ्यावा लागला; आणि गायकवाडीत तिला आपल्याबरोबर गुजराथीस अर्धे स्थान द्यावें लागलें. निजामशाहींत मराठवाडीत लोकांची भाषा जरी मराठी आहे तरी दरबारी भाषा फारशी पडल्याने मराठीस कोणत्याही प्रकारें उत्तेजन मिळत नाही. साराश, स्वराज्यात मराठी भाषेची व्याप्ती महाराष्ट्राबाहेर जी वाढली गेली होती ती इंग्रजी राज्य झाल्याबरोबर पुन्हा संकुचित होऊन मूळ पदावर आली. वन्हाडांत मराठी भाषा प्रचारांत

आहे; पण तो प्रांत आता नागपुरास जोडल्यामुळे मोडी लिपी दत्तरांतून काढून टाकण्याचा ठराव झाला आहे असें समजतें. हाच जर क्रम पुढे चालला तर या प्रांतातील मराठी भाषेच्या अभिवृद्धीस त्यामुळे बराच अडथळा येईल हें सांगायचास नको.

भाषेच्या स्थानिक व्याप्तीसंबंधानें हा विचार झाला. आता राष्ट्राचे व्यवहार इंग्रजी राज्यात मर्यादित झाल्याने भाषेची किती हानि झाली हे पाहू. कोणत्याही देशातील सुशिक्षित वर्ग परकीय भाषेच्या द्वारे ज्ञानसंपन्न झालेला राहणें हे देशी भाषेच्या दृष्टीनें राष्ट्राचे दुर्दैव होय, हे तत्त्व मागें आम्ही सांगितलेंच आहे. इंग्रजी राज्यांत हाच प्रकार माजला आहे. आमचा सुशिक्षित वर्ग बाल्यापासून इंग्रजी भाषेत आपले विचार व्यक्त करण्यास किंवा ज्ञान संपादन करून घेण्यास शिकला असल्यामुळे या बुद्धिमान् वर्गाच्या हातून स्वभाषेची सेवा व्हावी तितकी स्वाभाविकरीत्याच होत नाही. शास्त्राचें अध्ययन व अध्यापन जर स्वभाषेत होऊं लागलें तर विद्वानाच्या परिश्रमानें भाषेची जी आपोआप वाढ होत असते त्या वाढीस हिंदुस्थानातील लोक आता अतरले आहेत; किंवा दुना असेही म्हटले तरी चालेल की, अशा दृष्टीने पाहिले असता आमच्या दशातील सुशिक्षित वर्ग स्वभाषेचा अहेतुक शत्रु बनला आहे. युनिव्हर्सिटींत एम्. ए.च्या परिक्षेस एक दोन मराठी पुस्तकें ठेवल्यानें मराठी भाषेची वाढ होईल ही समजूत चुकीची आहे. कारण भाषेची वाढ होण्यास मुख्य साधन त्या भाषेत व्यवहार चालणे हे होय. हा व्यवहार जितका जास्ती तितकी भाषेची वृद्धि किंवा फैलाव जास्त होतो. उद्या जर व्यापारी लोक व्यापारासाठीं मराठी व्यवहार करूं लागले, अनेक जुन्या व नव्या शास्त्रांचे अध्ययन व अध्यापन याच भाषेत होऊं लागले, आणि राजदरबारीही सर्व राज्यकारभार मराठी भाषेतच होऊं लागला तर मराठी भाषेचा हा हा म्हणता उत्कर्ष होईल. पण आमच्या दुर्दैवाने सध्या देशाची तशी स्थिति नाही. सर्व विद्या व शास्त्रे इंग्रजीत शिकविली जातात व अशा प्रकारें एकदा इंग्रजीत लिहिण्याची, वाचण्याची व विचार करण्याची संवय लागली म्हणजे मराठी भाषेत लिहिलेले शास्त्रीय पुस्तक वाचण्यापेक्षा तोच ग्रंथ इंग्रजीत वाचणें अधिक सुलभ व सोडस्कर वाटूं लागते. इंग्रजीतील काही शास्त्रीय ग्रंथाची मराठीत भाषांतरे अलीकडे झाली आहेत; पण बरील कारणांमुळे या ग्रंथास चांगलासा आश्रय मिळत नाही. शास्त्रीय विषय वाचण्यास योग्य असे पुरुष असले ग्रंथ प्रायः इंग्रजीतच वाचतात; आणि ज्यास इंग्रजी येत नाही त्यास अशा प्रकारचे ग्रंथ वाचण्याची प्रायः अभिरुचि नसते. ज्ञानेश्वरीच्या काळां व त्यानंतर सुसलमानी अमदानीत साधुसंतानी ज्याप्रमाणे मराठी भाषेची सेवा केली तसाही प्रकार या साम्राज्यांत घडून येणे शक्य नाही; कारण इंग्रजी शिक्षणानें सुशिक्षित वर्गाच्या मनातील धर्मश्रद्धा डळमळीत झालेली आहे. धर्मावरील ज्याची स्वतःची श्रद्धा डळमळीत तो स्वभाषेत लोकास उपदेश तरी काय

करणार ! आणि तो कितीही विद्वान् असला तरी त्याच्या तोडांतून तुकाराम-बुवासारखी प्रासादिक वाणी कोठून निघणार ! प्रार्थनासमाजासारखे किंवा एकेश्वरीसारखे कांही धर्मपथ काढण्याचा प्रयत्न इंग्रजांत झाला आहे. पण खऱ्या धर्मकळकळीचा कोणीच पुढारी या पंथात नसल्यामुळे लोकांस धार्मिक उपदेश करण्याच्या कामी मराठी भाषा वापरल्याने भाषेची जी अभिवृद्धि व्हावयाची तीही या पंथाकडून झालेली नाही. मिशनरी लोकानीं मराठी भाषेस हातीं धरून भाषेचा कोश व व्याकरण करण्याच्या कामी मदत केली; व छापण्याची कला आणि वर्तमानपत्रे याचाही महाराष्ट्रांत प्रचार सुरू केला. पण मिशनरींच्या ग्रंथांत मराठी शिकलेल्या साहेबलोकांनीं वापरलेली भाषा खऱ्या मराठी भाषेपेक्षा विचित्र असल्यामुळे मराठी भाषेच्या अभिवृद्धीस मिशनरींच्या व्हावें तसे साहाय्य झालें नाही, व मिशनरींच्या हे धेडगुजरी भाषेतील मराठी ग्रंथ मराठी वाङ्मयास कधीही शोभादायक व्हावयाचे नाहीत, किंवा हे ग्रंथ खऱ्या मराठी वाङ्मयाचा भाग कधीही समजला जाईल कीं नाही, याची शंका आहे. परकीय राजसत्तेमुळे देशातील लोकांचा सर्व बाजूने हुरूप कमी झाला आहे, व खरी कर्तव्यगारी कदाचित् कोणाच्या अंगां असल्यास ती दाखविण्यास मार्गही राहिला नाही. अशा स्थितीत खऱ्या कवित्वाची स्फूर्ति तरी कशी होणार ? आणि झाल्यावर पोवाडे तरी कोणाचे गाणार ? साराश, खरा कवि किंवा खरा धर्मोपदेशक निपजण्यास हा काल प्रतिकूल असल्यामुळे सावलीलाळील झाडाप्रमाणें या दिशेने मराठीची वाढ इंग्रजी राज्यांत खुटली गेली आहे. हिंदुस्थानची राष्ट्रीय भाषा मराठी हांणें शक्य नाही. अर्थात् त्या बाजूनेही मराठी भाषेची वाढ होईल अशी आशा बाळगावयास नको. उलट हिंदीसारखी दुसरी एकादी भाषा राष्ट्रीय झाल्याने मराठी भाषेस त्या मानाने घक्काच बसावयाचा.

भाषेची अभिवृद्धि होण्यास ती भाषा बोलणाराचा व्यवहार व व्याप अधिक वाढला पाहिजे, परंतु वर सांगितल्याप्रमाणे महाराष्ट्र देशाची आज स्थिति तशी नसल्यामुळे मराठी भाषेतील ज्ञानभांडार इंग्रजी अमदानीस ८० वर वर्षे झालीं तरी अद्याप संकुचितच राहिले आहे. मिशनरी लोक व इंग्रजी कामगार यांस मराठी भाषा शिकण्याकरितां आणि गांवांगांवच्या शालोपयोगी कामाकरितां जे ग्रंथ अवश्य होते तितके अव्वल इंग्रजीत प्रथमतः तयार झाले, आणि कांहीं मनोरंजक इंग्रजी ग्रंथांची मराठी भाषांतरे झालीं. यापेक्षा अव्वल इंग्रजीत मराठी भाषेची जास्त अभिवृद्धि झाली नाही. मराठी स्वतंत्र गद्यरचनेच्या कालास यापुढें म्हणजे कै. विष्णुशास्त्री याच्या निबंधमालेपासून सुरुवात होते. यापूर्वी विष्णुशास्त्र्यांप्रमाणेंच किंवा त्यांच्यापेक्षां वरचढीचेही पुष्कळ विद्वान् झाले होते. पण स्वभाषेच्या द्वारे आपली भाषा बोलणारांचीं मनं एखाद्या विशिष्ट विषयाकडे लावण्याचें किंवा एखाद्या विशिष्ट मार्गापासून परावृत्त करण्याचें काम आंगावर घेण्याची यापूर्वी कोणासही जरूर अगर कळकळ वाटली नव्हती. विष्णुशास्त्री

यांची भाषासरणी विलक्षण जोरदार कां यांतील खरें इंगित हेंच होय. ज्याला आपल्या देशबांधवांस स्वभाषेच्या द्वारे कळकळीनें उपदेश करण्याची आवश्यकता वाटत नाही त्याच्या हातून स्वभाषेची सेवा तरी काय होणार, आणि जोरदार भाषासरणी तरी कशी निघणार ! कोणत्याही भाषेतील मोठमोठे प्रसिद्ध ग्रंथकार घ्या, त्यांचीं अंतःकरणें त्याचें दृढत आपल्या लोकास कळविण्यास अत्यंत उत्सुक असतात असेंच आढळून येतें. आपले विचार खरे आणि देशहिताचे आहेत ही स्वतःची खात्री अभिहिते. विचार प्रसृत करण्याकरिताच ईश्वरानें आपणांस जन्मास घातलें आहे असा आपला दृढसमज असल्याखेरीज कोणाच्याही हातून स्वभाषेची खरी सेवा होणें शक्य नाही. छापण्याची कला वाढल्यामुळें काहींना काहीं तरी ग्रंथ दरसाल प्रसिद्ध होत असतात. विलायतेंत इंग्रजी भाषेंत शेंकडों कादंबऱ्या अशा छापतात कीं, पतंगाप्रमाणें त्याचे आयुष्य दोनचार महिन्यापेक्षां अधिक असत नाही. भाषेच्या वाढीचा जेव्हा विचार करावयाचा तेव्हां असल्या ग्रंथाचा फारसा विचार करून उपयोगी नाही. खऱ्या वीराच्या सैन्याबरोबर ज्याप्रमाणें बाजारबुणगे असतात त्याप्रमाणे असल्या ग्रंथाची स्थिति होय. हे ग्रंथ सोडून दिले तर मराठी भाषेची अभिवृद्धि इंग्रजी राज्यात फारच थोडी झाली असें म्हणणें भाग येतें. मनोरंजनाचे काहीं ग्रंथ, जुन्या कवींच्या ग्रंथांच्या शुद्ध आवृत्त्या, ऐतिहासिक बखरी व लेख यांचा संग्रह आणि लोकोपयोगी इंग्रजी ग्रंथांची भाषांतरे अथवा शालोपयोगी पुस्तकें आणि कोश एवढेंच कायते नवीन वाङ्मय शिल्पक राहेंत. वर्तमानपत्राच्या द्वारे भाषेची एक प्रकारची वाढ होत आहे हें खरें. कारण वर्तमानपत्रकारास अनेक तऱ्हेच्या विषयावर लेख लिहावे लागत असल्यामुळें त्या त्या विषयास लागणारी शब्दसामुग्री वेळोवेळी नवीन तयार करावी लागते. परंतु ही वाढ साहित्यशास्त्रात कोणीही कायमची समजत नाही. भाषेची खरी वाढ होण्यास ती भाषा वापरणारांचा व्यवहार अधिक वाढला पाहिजे, आणि स्वभाषेंत आपले विचार लोकास कळवून लोकांची प्रवृत्ति किंवा मनें फिरविण्याची जरूरही देशांतील पुढाऱ्यास अधिकाधिक वाटूं लागली पाहिजे. असें जेव्हा होईल, जेव्हा विद्वान् लोक अनेक शास्त्रांचें स्वभाषेंत अध्ययन व अध्यापन करतील, जेव्हा सामाजिक, राजकीय, औद्योगिक आणि शास्त्रीय वाद किंवा चर्चा हरएक प्रसंगां व हरएक वेळी जेव्हा स्वभाषेंत होऊं लागेल, जेव्हां धर्मजागृती किंवा सुधारणा करण्यास स्वभाषेचाच उपयोग करण्यांत येईल आणि जेव्हा दरबारांत, कचेरींत, बाजारात लष्करांत किंवा विद्यालयांत सर्व व्यवहार स्वभाषेनेंच चालेल तेव्हा स्वभाषेची खरी वाढ होणार ? इंग्रजी राज्यांत या प्रसंगापैकीं पुष्कळ प्रसंग कमी झाले आहेत. तेव्हां अर्थातच त्या मानानें भाषेच्या वाढीसही अडथळा येणारच. तथापि आमच्यापैकीं सुशिक्षितवर्गांतील लोकांनीं औदासिन्य टाकून आपणांस मिळालेलें ज्ञान सामान्यजनांस स्वभाषेच्याद्वारे शिकविणें हेंच आपलें कर्तव्य समजून

त्याचप्रमाणे कळकळीने उद्योग करण्यास आरंभ केला तर गेल्या ऐशी वर्षांत झाली आहे त्यापेक्षा मराठी भाषेची अभिवृद्धि अधिक होईल अशी आम्हांस खात्री आहे. या वाढीस मर्यादा आहे ही गोष्ट खरी. पण या मर्यादेपर्यंतही आम्ही अजून पोचलो नाही; मग ती ओलांडून पलीकडे जाण्याची गोष्ट कशाला ? युनिव्हर्सिटींत अमक्या एका परीक्षेस ज्ञानेश्वरी ठेवल्याने मराठी भाषेची वाढ होण्याची आशा वाळगणे व्यर्थ होय. या दिशेने खरा उपाय म्हटला म्हणजे सर्व अभ्यासक्रम मराठीत ठेवणे हा होय. ही गोष्ट शक्य नसली तर इतर व्यवहार तरी होईल तितका आपल्या मातृभाषेत ठेवण्याचा प्रघात आम्हीं पाडला पाहिजे. त्यातूनही विशेष महत्त्वाची गोष्ट म्हटली म्हणजे लोकांची प्रवृत्ति बदलणे किंवा कायम करणे यासाठी कळकळीने किंवा निष्ठापूर्वक झटणारे पुरुष आमच्यांत निर्माण होऊन त्यांनी मराठी भाषा बोलणाराचा व्यवहार व व्याप वाढविला पाहिजे. हा व्याप वाढला म्हणजे त्याबरोबर भाषाही वाढली पाहिजे व वाढेल. कृत्रिम उपायानी भाषेच्या अंगातील उष्णता काही कालपर्यंत राखता येईल; पण तिच्या आगची नैसर्गिक जीवनशक्ती जर कायम नसेल तर कृत्रिम उपायानी काय होणार ? ही नैसर्गिक शक्ति हल्लीच्या काळात कोणत्या उपायानी कायम ठेवतां येईल याचा ऐतिहासिकदृष्ट्या या विषयावरील मागील दोन व आजच्या लेखांत विचार केला आहे; व आम्हांस अशी आशा आहे की, महाराष्ट्र भाषेची अभिवृद्धि करू इच्छिणाऱ्या लोकांकडून याचा योग्य विचार होऊन हल्लीच्या काळा शक्य तितकी महाराष्ट्र भाषेची उत्तरोत्तर वाढ होईल. काल प्रतिकूल खरा, पण त्यातल्यात्यांत अद्यापही बऱ्याच गोष्टी होण्यासारख्या आहेत.

* रामायण हा इतिहास का गप्पा ?

पृथ्वीवरील चारी खंडात कोणकोणत्या प्रकारचीं मनुष्ये आहेत, म्हणजे त्यांचा बांधा, वर्ण, भाषा वगैरे बाबतींत भेद असल्यास तो कोणत्या प्रकारचा आहे; आणि हल्ली ज्या प्रकारचीं मनुष्ये ज्या ठिकाणी आढळण्यांत येतात त्या ठिकाणी पूर्वी कोणत्या जातीचीं मनुष्ये होती याचा शोध करण्याकडे आधुनिक पाश्चिमात्य विद्वानांची आज बरीच वर्षे प्रवृत्ती झाली असून त्यांच्या उद्योगाने सध्यां या विषयाचे एक स्वतंत्र शास्त्र बनले आहे. आजपर्यंत अशी समजूत होती की, आफ्रिका किंवा अमेरिका खंडांतील मूळचे लोक हे अत्यंत रानटी अर्थात् सुधारणा न झालेले होते; आणि या रानटी लोकांचा उच्छेद करून सुधारलेल्या लोकानी त्यांच्या देशात वसाहत केल्याने मानव जातीचे एक प्रकारचे हितच आहे. मानव-

जातीची हित करण्याची समजूत खरी असो वा खोटी असो; एवढी गोष्ट आतां सिद्ध झाली आहे कीं, कोलंबसानें अमेरिका शोधून काढल्यानंतर स्पेनच्या लोकांनीं उत्तर अमेरिकेंतील मेक्सिको प्रांतांत ज्या लोकांचा नावनाट केला ते सुधारणेच्या कामांत अगदीं मागासलेले होते असें नाहीं. मेक्सिको प्रांतांत आज-मितीस ज्या कांही जुन्या इमारती किंवा मनोरे शिल्लक आहेत त्यावरून हा देश इजिप्त देशाप्रमाणें पूर्वी बराच भरभराटींत होता आणि त्या वेळचे लोक इजिप्त देशांतील पिरामिडप्रमाणें मोठमोठ्या इमारती किंवा कृत्रिम डोंगर बांधण्याच्या कामीं कुशल होते असें स्पष्ट सिद्ध होतें. मेक्सिको आणि पेरू या अमेरिकेंतील दोन देशांचा अशा रीतीनें उपलब्ध होत असलेला प्राचीन इतिहास फार महत्त्वाचा आहे. आशियाखंडात युफ्रेतीस नदीच्या काठीं ख्रिस्ती शकापूर्वी सुमारे पांच सहा हजार वर्षे मोठमोठी बलाढ्य साम्राज्ये होतीं असें त्या प्रांतात हल्लीं उपलब्ध झालेल्या जुन्या इमारतींच्या किंवा त्यांतून खणून काढलेल्या (ताम्र-पटाप्रमाणें खोदलेल्या) विटांच्या साहाय्यानें जसे आता निर्विवाद सिद्ध झाले आहे व त्यामुळें यहूदी धर्माच्या पूर्व पीठिकेस व्यवस्थित रूप आलें आहे, त्या-प्रमाणेंच अमेरिकेंतील मेक्सिको व पेरू या देशांच्या प्राचीन इतिहासासंबंधीं जे शोध झाले आहेत त्याचाही प्राचीन इतिहासावर परिणाम होण्यासारखा आहे. या शोधावरून एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे की, पुरातनकालीं मेक्सिको देशांत किंवा त्याच्या उत्तरेस एका जातीचे बलाढ्य लोक राज्य करीत होते. हे लोक इजिप्त देशांतील पिरामिडप्रमाणें मोठमोठे मनोरे बांधण्याच्या कामी कुशल होते, व त्यांचीं शहरें ज्या ठिकाणीं होतीं त्या ठिकाणीं खणलें असता अद्याप नक्षीचीं मातीचीं भांडीं वगैरे जिन्नस कधीं कधीं सापडतात. या प्रांतातील हे प्राचीन लोक शरीरानें घिप्पाड, राक्षसी बांध्याचे, ताबूस वर्णाचे आणि शिकार करून उपजीविका करणारे असे होते. त्यास 'क्वायेनेम' म्हणत. त्यांच्या पाठीमागून 'सिकलंक,' 'उल्मेक', 'मय', 'ओतोमी', 'सापोटेक,' 'तोलटेक' वगैरे जाती एका पाठीमागून एक उत्तरेकडून मेक्सिको देशांत येऊन राज्य करूं लागल्या. या सर्वास 'नव्ह' असें सामान्य ज्ञातिवाचक नांव होतें. त्यांच्या भाषेस 'नव्हतल' म्हणत असून त्या भाषेत चित्रलिपीच्याद्वारे लिहिलेले जे कांहीं पुराणग्रंथ आहेत त्यांत प्रलयकालाच्या व त्यानंतर मनुष्याची वस्ती कशी झाली वगैरे संबंधाच्या जुन्या कथा आहेत. या कथा आणि बायबलांतील नोव्हाच्या कथेंत बरेच साम्य असल्यामुळें केव्हां तरी ख्रिस्ती लोकांचा सहवास झाल्यानंतर या कथा लिहिल्या असल्या असा पहिल्या ख्रिस्ती इतिहासकारांचा समज झाला होता. पण आता कांही ग्रंथकार उलट असे प्रतिपादन करूं लागले आहेत कीं, मोसेसचे चाळीस वर्षांचे जें निर्याण बायबलांत वर्णन केलें आहे ते केवळ इजिप्त देशांतून पालेस्टाईनमध्ये झालें नसून मेक्सिको येथील लोकानी चाळीस वर्षे

प्रवास करून बेहरिंगच्या सामुद्रधुनीच्याद्वारे आशियांत येऊन व काहीं दिवस इजिप्तमध्ये राहून पॅलेस्टाईनमध्ये गेल्याचें वर्णन आहे ! मेक्सिकोमधील प्राचीन लोक मोठमोठ्या इमारती बांधण्याच्या कार्मी जरी कुशल होते तरी देवतेस मनुष्याचा बळी देणे किंवा प्रसंगविशेषीं नरमांस भक्षण करणे या राक्षसी चाली त्यांच्यामध्ये प्रचलित होत्या व मोसेसचा देव जो जिहोवा (यव्ह) हाही याच वर्गांतला होता असे त्याच्या वर्णनावरून दिसते. यावरून आणि भाषासाम्यावरून यहुदी लोक हे मूळचे मेक्सिकोमधील प्राचीन मानव जातीच्या वर्गापैकींच असावे व त्यामुळेच मेक्सिकोमधील नव्हतील भाषेमधील जुन्या कथा आणि बायबलांतील कथा यामध्ये साम्य आहे असें आता कित्येकांचे म्हणणें आहे. हें म्हणणें साधार असो वा नसो एवढी गोष्ट निर्विवाद आहे कीं, उत्तर अमेरिकेंत मेक्सिको प्रांतात फार प्राचीन काळीं नरमांस खाणारे व नरमेध करणारे, सूर्योपासक, शरिरानें मजबूत व उंच बांध्याचे बलाढ्य लोक राज्य करीत असून त्यानीं त्या वेळीं तेथें मोठमोठी शहरे बांधली होती. हे लोक ख्रिस्ती शकापूर्वी तेथे होते, एवढे स्पष्ट आहे. पण ख्रिस्ती शकापूर्वीचा पक्का काल समजत नाही. स्पेन देशातील लोक अमेरिकेंत गेले तेव्हा याच्याच जातीचे ' अॅस्टेक ' नांवाचे लोक तेथें राज्य करीत होते. पण त्यांच्या नरमेधाच्या रानटी चाली पाहून स्पेन देशातील योद्धा कोर्टेस यास त्वेष आला आणि त्याने ' अॅस्टेक ' लोकांचा पूर्ण उच्छेद करून त्याची शहरे, गावें व इमारती सर्व जमिनदोस्त केल्या आणि मेक्सिको देशात स्पेनच्या ख्रिस्ती राज्याची स्थापना केली. हल्लीं मेक्सिको देश स्वतंत्र झाला आहे, तरी तेथील राज्य ख्रिस्ती धर्माचेच आहे.

वरील हकीकत आज सांगण्याचें कारण असें कीं, रा. ब. चिंतामण विनायक वैद्य यानी नुकतेच ' रामायणाचें गूढ ' म्हणून जें रामायणावर एक पुस्तक लिहिलें आहे त्यात याचा उपयोग केला आहे. रा. ब. वैद्य यानी महाभारतावर जे पुस्तक केलें आहे त्याचे परीक्षण मागे केसरीत आलेंच आहे. ' रामायणाचें गूढ ' हें सध्यांचें पुस्तक त्याच मासल्याचे आहे. याचे दोन भाग आहेत. एकात रामायणाच्या ग्रंथरचनेचा विचार केला असून वाल्मिकीचे रामायण वेळोवेळी कसें वाढत गेले, व तुळशीदासापर्यंत त्यात अधिकाधिक अद्भुत गोष्टींचा संग्रह कसा होत गेला याचें विवेचन केलें आहे. हें विवेचन मार्मिक आहे; आणि काहीं किरकोळ बाबतींत जरी मतभेद होणे शक्य असलें तरी सामान्यतः रा. ब. वैद्य यांचा सिद्धांत सर्वमान्य होण्यास आमच्यामते काहीं हरकत नाही. मूळ वाल्मिकी रामायण महाभारताच्या पूर्वीचें असून त्यांत पुढें कालानें काहीं फेरफार झाले असावे व त्यामुळेच बुद्धाबद्दलचे श्लोक त्यांत आले असावे असें जें रा. ब. वैद्य यांचें म्हणणें आहे तें आमच्या मते सयुक्तिक आहे. परंतु हल्लींच्या ग्रंथांत विशेष महत्त्वाचा भाग म्हणजे दुसरा होय. यांत सुरासुरांचा सुरेशीं म्हणजे दारूशीं जो संबंध दाखविला आहे तो पुराणात दिला असला तरी काल्पनिक आहे असें

आमचें मत आहे; व तो या पुस्तकांत आला नसता तरीही बरे झाले असतें असें आम्हांस वाटतें. परंतु यानें बाकीच्या ग्रंथाची योग्यता कमी होते असें नाहीं. रा. ब. वैद्य याच्या हल्लींच्या ग्रंथांतील विशिष्ट कल्पना म्हटली म्हणजे ही होय कीं, लंका, लंकेतील राक्षस, त्याचा अधिपति रावण, आणि त्यानें सीता-हरण केल्यामुळे त्याचा रामचंद्रांनीं केलेला वध या गोष्टी कांहीं काल्पनिक नाहींत. त्यास इतिहासाचा आधार आहे आणि मेक्सिकोमधील नरमेध करणारा शेवटचा राजा मॉटेझूमा याचा स्पेन देशातील कोर्टेझ नावाच्या वीर पुरुषानें कसा फडशा पाडला याची प्रेस्काटसाहेबांनी दिलेली हकीकत जर वाचली तर रामचंद्रांनीं रावणाचा उच्छेद करून अति प्राचीनकालीं भरतभूर्मातून नरमास भक्षण करणाऱ्या लोकांस अशाच रीतीनें घालवून देऊन ही घोर चाल या देशांतून अजिबात काढून टाकली असावी, असें कोणाच्याही सहज मनांत येतें. रा. ब. वैद्य याच्या सध्यांच्या ग्रंथांतील उत्तर भाग बहुतेक याच धोरणाने लिहिलेला आहे. त्याचें असें म्हणणें आहे कीं, रावणाच्या ठिकाणीं मॉटेझूमा, त्रिभीषणाच्या ठिकाणीं इस्ट-लीलचितल आणि रामाच्या ठिकाणीं कार्टेझ हीं नावें घातलीं तर रामायणांतील गोष्टी मेक्सिको देशांत स्पॅनिश लोकांनीं केल्या असें आपणांस आढळून येईल. युरोपातून स्पॅनिश किंवा इंग्लिश यांनीं अमेरिकेंत जाऊन ज्याप्रमाणें तेथील नरमांस खाणाऱ्या व नरमेध करणाऱ्या लोकांचा उच्छेद केला त्याप्रमाणेंच आर्यलोक उत्तर हिंदुस्थानात येऊन राहिल्यानंतर त्यांच्यापैकीं प्रथमतः अगस्त्यादि ब्राह्मण आणि तदनंतर रामचंद्रादि क्षत्रिय राजे यांनीं विंध्याद्रीच्या दक्षिणेस येऊन दंडकारण्य व लंका येथें त्या वेळीं राज्य करित असणाऱ्या नरमांसभक्षक राक्षसी लोकांचा विध्वंस केला आणि भरतभूर्मीस या पापी आणि क्रूर चालीपासून कायमचें मुक्त केलें असें रा. ब. वैद्य यांचे म्हणणें आहे. रामचंद्रांचा खरा पराक्रम काय तो हाच कीं, त्याने नरमांस भक्षण करणारे, दुष्ट व क्रूर लोक आपल्या सामर्थ्यानें हिंदुस्थानच्या आसपासच्या प्रदेशांतून काढून टाकले. हे लोक प्रायः मेक्सिकोमधील प्राचीन लोकांच्या जातीचेच असावेत आणि त्यांच्याप्रमाणेच मोठमोठीं शहरें बांधण्याइतके ते सुधारलेलेही होते असें रा. ब. वैद्य यांचे म्हणणें आहे. पण हे लोक कितीही कुशल व बलाढ्य असले तरी नरमांसभक्षक लोकांचा नायनाट करणें हें वैदिकधर्मी लोकांचें पवित्र कर्तव्य होतें; आणि ती कामगिरी रामचंद्रांनीं आपल्या पराक्रमाने बजाविली हेच त्याची कीर्ति अजरामर होण्याचें खरें कारण होय. रामायणात कांहीं ठिकाणीं राक्षसांची काल्पनिक वर्णने आहेत; व मारुतीनें समुद्रउड्डाण केलें अशा प्रकारच्या दैविक व अद्भुत गोष्टींचाही उल्लेख आहे. पण यातील अद्भुत व अतिशयोक्तीचा भाग प्राचीन नसून रामायणांत तो पुढें घालण्यात आला असावा असें रा. ब. वैद्य यांचें मत आहे; आणि हा भाग बाजूला ठेविला तर एकंदर रामायणांतील कथा खरी व ऐतिहासिक आहे असा त्यांच्या ग्रंथांतील मुख्य मुद्दा आहे. रावणाचीं दहा तोंडें

कुंभकर्णाची झोंप, सीतेची जमिनीपासून उत्पत्ति वगैरे अद्भुत गोष्टींचा यानें खुलासा होत नाहीं हें खरें; पण इतर दृष्टीनें पाहिलें तर मेक्सिको देशांत स्पॅनिश लोकांनीं तीन चार शतकापूर्वीं जे पराक्रम केले त्यांत आणि रामायणांतील कथेंत रा. व. वैद्य यांनीं दाखविलेले साम्य पुष्कळ अंशीं यथार्थ आहे असें त्यांचा अर्थ वाचल्यावर आमच्याप्रमाणें दुसऱ्या कोणासही वाटल्याखेरीज राहणार नाहीं.

परंतु साम्य किंवा उपमा हा काहीं ऐतिहासिक पुराव्यांचा मार्ग नव्हे असा एक आक्षेप या कल्पनेवर येण्याचा संभव आहे. सकृददर्शनीं हा आक्षेप योग्य वाटतो. पण जरा विचार केला तर असल्या बाबतींत या आक्षेपास फारसें महत्त्व देतां येत नाहीं असेंच म्हणावें लागतें. हजारों वर्षांपूर्वींच्या मानव जातींचा इतिहास समजण्यास आजपर्यंत भारत-रामायणादि ग्रंथ किंवा पुराणें यांखेरीज दुसरें काहींच साधन नव्हतें. भारत आणि रामायण हे इतिहास ग्रंथ आहेत. अशी आमची फार प्राचीन काळापासून समजूत आहे, व आतां एवढेंच पाहाणें आहे कीं, नवीन शोधानें ही समजूत कितपत खरी ठरते अशा दृष्टीनें विचार केला म्हणजे रा. व. वैद्य यांची वर सांगितलेली कल्पना कोणासही असंभवनीय वाटणार नाहीं. आर्य लोक पंजाबाकडून हिंदुस्थानांत येऊन उत्तर हिंदुस्थानांत त्यांच्या वसाहती पूर्णपणें स्थापन झाल्यावर मग ते हळुहळू दक्षिणेंत शिरले, ही ऐतिहासिक गोष्ट आतां बहुतेक सर्वमान्य झालेली आहे. ही गोष्ट निदान उत्तर हिंदुस्थानांत आर्य लोक पहिल्यानें असून नंतर दक्षिणेंत आले एवढे कबूल केलें म्हणजे दक्षिणेंत जे त्या वेळीं कोणी रानटी लोक असतील त्यांचा त्यांनीं पराभव करून तेथें आर्यांचें राज्य स्थापिलें असावें असें मानणें भाग येतें. प्रश्न एवढाच राहिला की, त्या वेळचे हे दक्षिणेंतील लोक कोणत्या प्रकारच्या मनुष्यजातीचे असावेत? या प्रश्नाचा मेक्सिकोचा हल्लीं उपलब्ध झालेला प्राचीन इतिहास आणि रामायणांतील इतिहास यांतील साम्यावरून करता येतो. मेक्सिको आणि पेरू या देशातील प्राचीन लोकांप्रमाणें फार पुरातनकालीं पॅसिफिक महासागरातील बेटांतही नरमांसभक्षक व नरमेघ करणाऱ्या लोकांचीं मोठीं राज्ये असलीं पाहिजेत असे हल्लीं उपलब्ध झालेल्या माहितीवरून दिसून येतें; व रामचंद्र अयोध्येहून निघून वनवासार्थ जेव्हां दक्षिणेंत आले तेव्हां तेथें अशाच प्रकारचे लोक होते असें रामायणात वर्णन आहे. या दोहोंचा मेळ घातला म्हणजे राक्षसांची जात ही एक प्राचीन मनुष्य जातीपैकीच जात होती असें दिसून येतें; व रामायणाच्या उत्तरकांडांत राक्षसांची जी उपपत्ती सांगितली आहे तीही अशाच प्रकारची आहे. सालकटंकटा या नांवाच्या राक्षसीशीं विद्युत्-केसाचा विवाह होऊन त्यापासून सुकेश, सुकेशापासून सुमाली, सुमालीपासून कैकसी आणि कैकसीपासून रावण अशी परंपरा तेथें दिली आहे. यांतील 'सालकटंकटा' हा शब्द फार महत्त्वाचा आहे. हा शब्द संस्कृत भाषेतला नाही असें त्यांतील वर्णनावरूनच उघड होतें. परंतु याहीपेक्षा विशेष महत्त्वाची

गोष्ट म्हटली म्हणजे ही की, अशा प्रकारचीं नांवे मेक्सिकोच्या प्राचीन इतिहासांत आढळतात. 'सालकटकटा' या नांवाशीं वर्णतः साम्य असणारें मेक्सिकोमधील नांव सीकोटॅकटल हें होय. या वर्णसादृश्यावरून लंकेंतील राक्षस मेक्सिकोतील राक्षसाचेच जातभाई होते असें मि. वैद्य यांनी अनुमान केलें आहे. नरमांसभक्षणाची चाल दोघांही जातींत होती हें तर उघड आहे. पण भाषेसंबंधानें या दोघाचे नाते दाखविण्यास सालकटकटा या शब्दापेक्षां जास्त पुरावा रा. ब. वैद्य यांनी दिला नाहीं. त्याच्या मतें रावण, विभीषण, विद्युत्केश हीं राक्षसांचीं नांवे राक्षसी भाषेंतील नसून त्याच्या गुणांवरून आर्य लोकांनीं हीं नांवे त्यांस दिलीं असावीं. ग्रीक लोक जेव्हां हिंदुस्थानांत आले तेव्हां आमच्या देवतांचीं नांवे त्यांनीं अशाच प्रकारे फिरविल्याचे त्यांनीं लिहिलेल्या इतिहासावरून स्पष्ट होत आहे. उदाहरणार्थ, श्रीकृष्णास त्यांनीं हर्क्युलस बनविलें आहे. राक्षसांचीं नांवे अशाच प्रकारे वाल्मिकी आदि ऋषींनीं बनविलीं असावीं असे मानण्यास हरकत नाहीं. तथापि आम्हांस असें वाटतें की, रावण, विभीषण वगैरे शब्द मूळ या राक्षसी भाषेंतील शब्दांचीं संस्कृत भाषांतरे असावींत. मेक्सिको लोकांच्या प्राचीन भाषेंत 'कॅटसालकटल' म्हणजे प्रकाशणारा सर्प अथवा रोचदेही आणि कर्जवश अथवा गरुडावास अशा प्रकारचीं जीं नांवे आहेत त्यांच्या अर्थावरून आमच्या म्हणण्यास बळकटी येते. आमचें असेंही मत आहे की, लंका हा शब्दही प्रायः राक्षसी भाषेंतला असावा; व वर सांगितलेल्या सिक-लंक लोकांच्या नांवावरून या कल्पनेस आधार मिळतो. आतां एवढी गोष्ट खरी की, सालकटकटा किंवा लंका या दोन शब्दांचे जुन्या मेक्सिको भाषेंतील शब्दाशीं जें साम्य आहे त्यापेक्षां भाषाविषयक अधिक पुरावा सध्या उपलब्ध नाहीं, व कदाचित् मिळणेही शक्य नाहीं. तथापि, नरमांसाशन आणि नरभेध या दोन क्रूर चालींसंबंधानें वर जें साम्य सांगितलें आहे तेवढ्यावरूनच लंकेंतील राक्षस हे मेक्सिको येथील प्राचीन राक्षसाचे भाऊद असवे असें सध्या अनुमान करण्यास आम्हांस हरकत दिसत नाहीं; व रा. ब. वैद्य यांनीं हें साम्य प्रथमतः लोकांपुढें मांडून रामायणातील गोष्टी इतिहासपर आहेत असें मानण्यास आधार दाखविला याबद्दल त्याचे आम्ही अभिनंदन करतो. रावणाचा जो पराभव झाला त्यास रामचंद्राचा पराक्रम हें तर कारण खरेंच, पण त्याहून भिन्न दुसरीही दोन कारणे होती, असें जें रा. ब. वैद्य यांचें म्हणणें आहे तेंही आमच्यामतें यथार्थ आहे. सुधारणेत कमीजास्ती सरसावलेले दोन जातींचे लोक जेव्हां एकत्र येतात तेव्हां कमी सुधारलेल्या लोकांत असलेली फूट आणि शस्त्रास्त्राबद्दलचें अज्ञान हींच त्यांच्या नाशास कारण होतात अशी आधुनिक इतिहास हीच साक्ष देत आहे. राम आणि रावण यांच्यामधील संग्राम भयंकर खरा; पण धनुर्विद्येत रामचंद्र जर राक्षसापेक्षां अधिक निष्णात नसते व विभीषणानें जर घरभेदीपणा केला नसता, तर रावणाचें राज्य लयास गेलें असतें कीं नाहीं याची शंकाच आहे. विभीषण फुटला हें कळल्यानंतर राव-

णानें हत्तीचा दृष्टात घेऊन जे उद्गार काढले आहेत ते फार मार्मिक आहेत. रानटी हत्तीला हस्तगत करण्यास जसे माणसाळलेले हत्ती उपयोगी पडतात तद्वत् रावण व विभीषण याचा प्रकार झाला असें खुद्द रावणानेच म्हटलें आहे; आणि अशा प्रसंगी हत्तींनी आपल्या जातीसंबंधानें जे उद्गार काढले तेच त्यांच्या मुखातून निघाले आहेत, तो म्हणतो:—

नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः
घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः ॥

विभीषणाच्या कृत्याची ही मीमासा ऐतिहासिकदृष्ट्या अगदी बरोबर आहे. तो रामभक्त असल्यामुळें रामास मिळून चिरजिवी झाला, ही त्याच्या कृत्याची मीमासा त्याच्या वर्तनापासून ज्यास फायदा झाला त्या रावणास जिंकणाऱ्या पक्षाची आहे; व ती तशीच असावयाची. संस्कृतातही राजनीतीवर जे ग्रंथ आहेत त्यात विभीषण-चरित्र हें एक भेदाचेच उदाहरण सांगितलें आहे. रा. व. वैद्य यांच्या कल्पनेनें वानराची राक्षसाइतकी चागली उपपत्ति लागत नाही. तथापि त्यांनीं सांगितल्या-प्रमाणें राक्षस दंडकारण्यात येण्यापूर्वी वानर हे तेथील मूळचे रहिवाशी असावे व त्यास हातीं धरून रामचंद्रांनीं आपला कार्यभाग करून घेतला, असें मानण्यास हरकत नाही. वानरांचें साहाय्य मिळण्यास वालीचा वध केला, तो नीतिदृष्ट्या योग्य कीं अयोग्य याची विशेष चर्चा करण्याचे कारण नव्हतें. सुधारणेचा प्रसार करण्याच्या निमित्ताने याहूनही भयंकर गोष्टी आज पृथ्वीवर घडत आहेत, एवढे लक्षात ठेवले म्हणजे बस आहे.

असो; यासंबंधाने लिहावें तितकें थोडेंच आहे. रा. व. वैद्य यांच्या नव्या ग्रंथातील विचार थोडक्यात वाचकास कळवून अशा रीतीचा रामायणावर चर्चा-विषयक ग्रंथ त्यांनीं लिहिला याबद्दल त्यांचें अभिनंदन करावे, एवढाच आजच्या लेखाचा उद्देश होता. पूर्वी वैद्य यांच्या भारतावरील ग्रंथाचे परीक्षण करताना आम्ही लिहिलेच आहे कीं, रामायण-भारतादि ग्रंथांचें अशा रीतीनें परीक्षण करण्याचें काम आमच्यामधील सुशिक्षित लोकांनीं युरोपियन विद्वानांच्या हातून आता काढून घेतलें पाहिजे. रा. व. वैद्य यांच्या हल्लींच्या वाचनानें आमचें हें मत दृढ झालें आहे; व रामायण-भारताचा अभ्यास करणारांनीं हा ग्रंथ वाचावा, इतकेंच नव्हे तर या पद्धतीवर विचार करण्यास शिकावे अशी त्यास शिफारस करून व पुन्हा एकवार रा. व. वैद्य यांचे अभिनंदन करून हा लेख संपवितों.

*पैसा-फंड

गेल्या महिन्याच्या दहावे तारखेस मुंबई पैसा-फंडाचा वार्षिक अहवाल प्रसिद्ध करण्याकरिता ना. दाजी आबाजी खेर यांच्या अध्यक्षतेखाली जावजी ब्रिडिंगमध्ये जी जाहीर सभा भरली तिची हकीकत त्या वेळीं केसरीत प्रसिद्ध झालीच आहे. हा वार्षिक रिपोर्ट छापला असून त्याच्या प्रती पैसा-फंडाचे सेक्रेटरी रा. रा. शंकर दामोदर बापट अथवा अंताजी दामोदर काळे, गिरगाव, याच्याकडे मागितल्यास मिळतील. पैसा-फंडाचा हा पहिला वार्षिक समारंभ होय. पहिला असे म्हणण्याचे कारण १९०५ च्या आक्टोबर महिन्याच्या सोळाव्या तारखेस पैसाफंड ही संस्था १८६०च्या २१ व्या अॅक्टाप्रमाणे रजिस्टर करण्यांत आली. त्या वेळी पैसाफंडाची शिल्लक एकंदर २१५९ रु. होती, सप्टेंबर १९०६ अखेर ७५२२ रुपये झालेली आहे. म्हणजे एक वर्षात खर्च वजा जाता सुमारे पांच साडेपाच हजार रुपये गोळा झालेले आहेत. सप्टेंबर १९०६ नंतर जानेवारी १९०७ अखेर म्हणजे चार महिन्यातली फंडाची जमा १८६९ रुपये आहे; व आजमितीस एकंदर जमा जवळजवळ दहाहजार रुपये आहे. दहाहजार रुपये जमा झाले म्हणजे या फंडाचा विनियोग लोकांस औद्योगिक शिक्षण देण्याच्या कामी करावयाचा आहे. व या फंडास कायदेशीर व्यवस्थित स्वरूप देऊन त्याबद्दल पैसाफंडाची मुंबई येथील कमिटी तजवीज करित आहे. एक वर्षाचा याप्रमाणे अनुभव आहे. हा अनुभव मोठासा उत्साहजनक नाही हे खरे आहे. दर माणशी दरसाल क्रिमानपक्षी एक पैसा या मानाने दहा लक्ष वस्तीच्या मुंबई शहरात दरसाल पंधरा साडेपंधरा हजार गोळा झाले पाहिजेत. मुंबईच्या बाहेर दरएक जिल्ह्याची लोकसंख्या सुमारे ८! १० लाखच असते; व पैसाफंडाचा जरीने वसूल झाल्यास दर जिल्ह्यात दहा पंधरा हजार रुपये दरसाल गोळे झाले पाहिजेत. परंतु एक सालचा किंवा सोळा महिन्याचा हिशेब पाहाता सरासरीनं दरमहा सुमारे ४५० रु. पेक्षा जास्त वसूल आलेला नाही. माणशी पैसा या प्रमाणाने लोकसंख्येवरून केलेला अंकगणिती हिशेब आणि प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति यांच्यामध्ये एवढे मोठे अंतर का पडावे, याचा कमिटीने व विशेषतः लोकांनी अवश्य विचार केला पाहिजे; व तसा विचार व्हावा म्हणूनच आजचा लेख आम्ही मुद्दाम लिहित आहो. पैसा-फंडाची कल्पना काही नवी नाही; आणि खानेसुमारीचा रिपोर्ट हातात घेऊन दर माणशी एक पैसा याप्रमाणे अमुक लोकसंख्येकडून दरसाल किती रुपये वसूल होतील हा हिशेब करणेही कठीण नाही. पैसाफंडास पुरे यश येण्यास या अंकगणिती विद्येपेक्षा अधिक जमाची, अधिक शिस्ताची, अधिक कळकळीची आणि स्वार्थत्यागाची जरूर आहे. पहिल्यापहिल्याने कित्येकाची तर अशी समजूत होती

की, “ थेंबें थेंबें तळें साचे ” या न्यायानें पैसाफंडाची जरी उपपत्ती लागली तरी हे पैसे गोळा करणें शक्य नाहीं. रा. रा. अंताजी दामोदर काळे यांनीं पदरची झीज सोसून ही कल्पना शक्य आहे असें आतां शाबीत केलें आहे. तथापि, अद्याप या बाबतीत पुष्कळ गोष्टी करण्यासारख्या असून त्याला लोकांच्या सहाय्याची, सहानुभूतीची आणि उद्योगाची फार जरूर आहे. ही सहानुभूति किंवा उद्योग कोणत्या रीतीनें करता येईल याचा विचार आज करावयाचा आहे. गेल्या सालीं पैसाफंड गोळा करण्याकरितां कांहीं गृहस्थांनीं आपल्या पदरच्या खर्चानें रा. रा. शंकर गणेश लवाटे यास पुणें जिल्ह्यांतील जुन्नर तालुक्यांत पाठविलें होतें. तेथें जो अनुभव मिळाला त्यावरून एवढी गोष्ट सिद्ध आहे कीं, पैसाफंड गोळा करण्याकरितां पगारी उपदेशक किंवा कामगार नेमून कधींही काम भागणार नाहीं. या उपदेशकास रस्वेभाडें किंवा वाटखर्च देऊन त्याखेरीज त्याच्या योग्यतेप्रमाणें पगार दिला तर पैसाफंडाच्या वसुलापैकीं निदान ऐशीं टक्के तरी खर्च झाल्याखेरीज राहाणार नाहींत. अर्थात् गाईच्या अचळ्यातून निघालेलें दूध आचळांस लावण्यातच खर्च होणार; मग फायदा कोय ? पैसाफंड दहापाच उपदेशकांचा पगार व खर्च देण्याकरितां कांहीं काढलेला नाहीं. मुंबईइलाख्यात (सिंध धरून) एकंदर २३ किंवा खानदेशाचा विभाग झाल्यानें आतां २४ जिल्हे आहेत. या २४ जिल्ह्यांत सुमारे २८ हजार खेडी आहेत; म्हणजे दर जिल्ह्यास हजार अकराशें खेडी असून त्यात सुमारे ७-८ लाख वस्ती असते. इतकी खेडी हिंडून इतक्या लोकांकडून दरसाल वर्गणी गोळा करण्यास दर जिल्ह्यास (एका खेळ्यास एका माणसास प्रवासासुद्धां दोन दिवस या मानानें) वर्षभर काम करणारी नऊ दहा माणसें किंवा तालुक्यास एक मनुष्य पाहिजे. परंतु इतकीं माणसें ठेविलीं म्हणजे पैसाफंडाचे बहुतेक उत्पन्न त्यांच्या पगारांतच खर्च होणार हें निश्चित होय. बारीक सारीक खेडी सोडून मोठमोठी खेडी घ्यावयाचीं असा जरी ठराव केला तरी दर जिल्ह्यास किमानपक्षां तीन चार काम करणारी माणसें पाहिजेतच. जिल्ह्यांतील सरकारी शाळा तपासण्याकरिता सरकारास सुद्धां याच मानानें डेप्युटी अगर असिस्टंट नेमावे लागतात. अशा तऱ्हेची व्यवस्था खर्चाची असल्यामुळें पैसाफंडाच्या कमिटीकडून होणें शक्य नाहीं. अर्थात् विचारांनीं पैसा गोळा होण्यास एकच उपाय शिल्लक राहिला. तो हा कीं, ठिक-ठिकाणच्या लोकांनीं स्वयंसेवक होऊन आपआपल्या गावची, आळीची किंवा पेटेची वर्गणी गोळा करून कमिटीकडे पाठवावी. सारांश, पैसाफंडाचा पैसा विनखर्चीं खजिनदाराकडे जेव्हा येऊन पडेल तेव्हांच या फंडास पूर्ण यश येणार आहे. ही कामधेनु खरी; पण वसिष्ठाच्या कामधेनुप्रमाणें तिनें उदरनिर्वाहास लागणारा चारा रानांत हिंडून फुकट पैदा करून दूध मात्र वसिष्ठास दिलें पाहिजे. मिशनरी लोकांचें विलायतेंत पैसाफंडासारखे जे फंड आहेत. त्यांचीही अशीच

स्थिति आहे. दर गांवांत धर्मखात्याकडून पगार मिळत असणारे पाद्री लोक दर आदितवारीं देवळांत टोपी फिरवून जी वर्गणी जमते ती बिनखर्ची मिशनरी फंडाकडे पाठवून देतात. पंजाबात आर्यसमाजाचे मिशनरी ' आटा फंड ' ही याचप्रमाणे बिनखर्ची गोळा करतात. थंबाथेंबांनें तळें साचेंतें हें खरें, पण थंब तळ्यांत येऊन पडेल तेव्हां, हे पूर्ण लक्षांत ठेविलें पाहिजे. पैसाफंडाच्या संबंधानें ही गोष्ट अद्याप आमच्या लोकांच्या लक्षांत आलेली नाही. पाटोल, कुलकर्णी, शाळामास्तर वगैरे सरकारचे जे खेड्यानिहाय कामगार आहेत त्यास फावल्या वेळीं हें काम फुकट करता येईल. पण सरकारी कामगार म्हणून यास सोडून दिलें तरी ठिकाणचे सावकार, इनामदार, पेन्शनर किंवा इतर सुखवस्तु लोक, विद्यार्थी आणि रामदासी पंथासारख्या पंथाचे उपदेशक यांस हा उद्योग सहज करता येण्यासारखा आहे. मुंबई, पुणे येथे जे हजारों विद्यार्थी शिकत आहेत त्यांनीं सुटीच्या दिवसात हा उद्योग केल्यास पैसाफंडाचें उत्पन्न हल्लीं होत आहे त्या पेक्षा निदान दहापट तरी वाढण्यास हरकत नाही. प्रत्येक विद्यार्थ्यानें संकल्प मात्र केला पाहिजे की, आगण आपल्या गावची, चाळीची, वाडीची, आळीची किंवा पेटेची वर्षांतून दोन दिवस मोडून कांहीतरी वर्गणी गोळा करू आणि ती पैसाफंडाच्या कमिटीकडे बिनखर्ची पाठवू. पैसाफंडास लोकांचें जे साहाय्य पाहिजे ते हेच होय. पैसाफंडाची पुष्कळ शिल्लक का होत नाही, पैसे शिल्लक कोणत्या व्याकेत ठेवतात, त्याचे पुढे काय होणार अशा शुष्क कोट्या शिल्लोप्याच्या वेळीं करीत बसण्यात अर्थ नाही. पैसा फंडाची सर्व जमा योग्य ठिकाणीं कायदेशीर रीतीनें व्याजानें ठेवण्याची सर्व व्यवस्था झाली आहे; आणि पैसा फंडाची दहाहजार रुपये रक्कम गोळा झाली म्हणजे आगकाड्या, पेन्सली, साबण, कुलपे, ब्रश, तेल, बटणे, मेणबत्त्या, तंत्राखूचे पदार्थ, वगैरे लहानसहान धंदे येथे क्रमाक्रमाने शिकविण्याची तजवीज करावयाची असून त्याबद्दल प्रो. गजर याच्या रसायनशाळेस जोडून काहीं व्यवस्था करण्याचा विचार चालू आहे. पैसाफंड वाया जाणार नाही, याबद्दल जितकी खबरदारी घ्यावयास पाहिजे तितकी घेतलेली आहे; इतकेंच नव्हे तर या फंडातून बारिक सारिक शेतकीचे व औद्योगिक धंदे कोणते शिकविता येतील याचाही विचार झालेला आहे याबद्दल कोणास शंका असल्यास त्यानें पैसाफंडाचे अध्यक्ष डॉ. देशमुख यास भेटून आपली खात्री करून घ्यावी. उगीच कुतर्क किंवा कुशंका काढून चागल्या उद्योगास आड येऊं नये. पैसाफंड जर यशस्वी झाला नाही तर त्याचा सर्व दोष आमच्या लोकांच्या मार्थां येणार आहे हें सर्वांनीं लक्षांत ठेविले पाहिजे. वर्षांतून २।३ दिवस या कामाकरता खर्च करण्याइतकी सवड शहरातून व खेड्यातून हजारो लोकांस आहे, नाही असें नाही; त्यांनीं उद्योग करण्याचें मनात आणलें म्हणजे झाले. अशा तऱ्हेचा उद्योग सुरू

झाला म्हणजे मोठमोठ्या शहरांतून किंवा खेडेगावांतून दरमाणर्शी दरसाल किमान एक पैसा बिनखर्ची वसूल होण्यास कधीच पंचाईत पडणार नाही. लोकांच्या अंगी उत्साह असून स्वयंसेवक होण्यास मात्र त्यांची तयारी असली पाहिजे; व तशी त्यांची तयारी असल्यास त्यांस जरूर तें साहाय्य पैसाफंडकमिटी कडून मिळण्यास कधीही कसूर होणार नाही. दरसाल एक पैसा देण्यास कोणासही अवघड नाही हें खरें आहे. पण तो पैसा बिनखर्ची आपण होऊन कमिटीकडे पाठविण्याची बुद्धि सर्वास नसते. ही बुद्धि ज्याच्या मनांत उत्तम झाली आहे अशा लोकांनीं हें काम फुरसतीच्या वेळीं केलें पाहिजे; व अशा तऱ्हेचे लोक जोंपर्यंत पुढें आले नाहीत तों पर्यंत रा. रा. काळे यांच्यासारख्या एखाद्या माणसानें कळकळीनें घडपड केली तरी दरमहा चारपांचशें रुपयापेक्षां अधिक उत्तम होणें शक्य नाही, एवढेंच आम्हास आमच्या वाचकांस पुनःपुनः सांगावयाचें आहे. वर्तमान पत्राच्या वर्गणीदारांनींही वर्गणीबरोबर आपल्या गांवांत गोळा केलेल्या पैसाफंडाची रक्कम वर्तमानपत्रकाराकडे पाठविल्यास तीही बिनखर्च पैसाफंडास मिळेल. पैसाफंड गोळा करणें हा राष्ट्रीय कार्याकरितां कळकळीनें काम करणांरांचा एक लहानसा घडाच आहे. हा जर आमच्या लोकांच्या विशेषतः करून तरुण पिढीच्या हातून नीट वठला नाही तर यापेक्षां अवघड कामें पार पाडण्यास आरही नालायक आहों असें कोणीं म्हटल्यास त्यास कांहीं जबाब देतां यावयाचा नाही. यासाठीं विद्यार्थी, पेन्शनर, रामदासी पंथाचे लोक, फुरसत अणपारे सरकारी नोकर, वकील वगैरे सर्व लोकांस आमची अशी सूचना आहे कीं, त्यांनीं आपला अल्प तरी वेळ या कार्यांत घालून राष्ट्रीयफंड उभारण्याचें श्रेय संपादन करावें. जिल्ह्या जिल्ह्यांतून निरनिराळा पैसाफंड काढून तुकडे तुकडे करण्यांत कांहीं हंसील नाही. पैसाफंडाची वर्गणी फारच थोडी आहे; आणि ती सर्व एका ठिकाणीं गोळा झाल्याखेरीज सर्वास उपयुक्त असें कोणतेंही कार्य होणें अशक्य आहे. तालुकानिहाय किंवा जिल्हानिहाय स्थानिक कामें करण्यास पैसा पाहिजे असल्यास त्याकरितां निराळी वर्गणी करा; पण त्यामुळें सार्वत्रिक पैसाफंडास व्यत्यय आणूं नका. खुद्द सरकारचीही व्यवस्था याच प्रकारची असते. सामान्य कर हिंदुस्थानच्या तिजोरींत जमा होऊन स्थानिक कारणासाठीं लोकल फंडासारखे कर बसविले जातात. पैसाफंडाची गोष्ट अशीच आहे. सर्व प्रांतांकरितां किंवा इलाख्याकरितां हा फंड आहे, व त्याचा बोजा इतका स्वल्प आहे कीं, त्यामुळें कोणताही स्थानिक फंड गोळा होण्यास हरकत येणारी नाही. मग विनाकारण स्थानिक फंडाची सबब सांगून स्थानिकही नाही व सामान्य फंडही नाही असें करण्यांत कांहीं हंसील नाही. सर्व जिल्ह्यांतील लोकांनीं एकदिलानें याकरितां झटलें पाहिजे; आणि सर्व लोक याप्रमाणें झटून उद्योग करतील तर प्रारंभीं सांगितलेल्या अंक्रगणिती हिशेबास सोळाआणे नाही तरी किमानपक्षां आठआणे तरी दृश्य स्वरूप आल्यावांचून राहणार नाही. शिवाय अशा

तऱ्हेच्या उद्योगानें ँक प्रकारचें देशांतील लोकांस राष्ट्रकार्याकरितां झटण्याचें अल्पस्वल्प शिक्षण मिळेल तें निराळेंच. पैसाफंडाची कल्पना नामी आहे असें नुसतें म्हणत बसण्यात कांहीं हंसील नाही; अथवा बरी म्हणून दुसरे कुतर्क काढण्यांतही कांहीं अर्थ नाही. दरमाणशीं दरसाल ँक पैसा बिनखर्ची कमिटीच्या तिजोरीत पडला पाहिजे व तो पडण्याचा वर सांगितल्याप्रमाणें लोकांनीं अवश्य यत्न करावा अशी त्यांस पुन्हा आग्रहाची विनंति करून आजचा लेख संपवितों.

*स्फुट-सूचना

मुंबईस ँका श्रीमान् मारवाडी गृहस्थाने आपल्या घरच्या लग्नकार्यासाठीं पंधरा हजार रुपये खर्च करून कलकत्यांतील गौहरजान नांवाची ँक प्रसिद्ध गाणारी नायकीण आणिली होती. ही नायकीण मुंबईस असतां तेथील लेडी नार्थ कोट ऑर्फनेज म्हणजे अनाथाबालाश्रम पाहाण्यास गेली व त्यास मदत म्हणून आपल्या ँका गाण्याचें उत्पन्न फुकट देण्याचें तिनें कबूल केलें. तेव्हां शेट रतनसिंग मूळजी यांनीं मुंबईच्या टाऊन हॉलांत तिचें गाणें सर फेरोझशहा मेथा यांच्या आश्रयाखाली करविलें. तिकिटाचे दर जबर असल्यामुळें गाणें ँकण्यास श्रीमंत लोकाचीच गर्दी होती. नामदार गोकुळदास पारखासारखे मुंबईच्या सामाजिक परिषदेचे अध्यक्षही हजर होते, आणि खर्चवेंच वजा जाऊन सहा हजार रुपये शिल्लक राहिली ती अनाथाश्रमास देण्यांत आली. खुद्द गौहरजान हनें ५०० रु. पदरचे अनाथाश्रमास दिले आणि तिनें अनाथाश्रमास जी ही मदत केली त्याबद्दल सर फेरोझशहा मेथा यांनीं लोकांमार्फत तिला तेथल्यातेथेंच ँक लहानसा नजराणा दिला. ही हकीकत झाल्यावर मुंबईच्या 'राजानें' नायकिणीच्या गाण्याचा अशाऱ्रीतीनें गौरव करून तिची अनाथाश्रमास मदत घेतली म्हणून न्या. रानडे यांचें सामाजिक सुधारणेचें उपरणें आपल्या अंगावर पडलें, असे समजणारे न्या. चंदावरकर यांनीं सदर ऑर्फनेजच्या व्यवस्थापक मंडळींतून आपलें नांव काढून घेतलें, व मुंबईच्या इंडियन 'सोशल रिफार्मर'नें आणि 'पत्रिका' बाईनेंही याबद्दल त्यांची पाठ थोपटली. पण या सोंवळ्या 'पत्रिका' बाईस एवढी गोष्ट कबूल आहे की, गौहरजानसारख्या "बाईनें आपण होऊन कांहीं पैसे आपल्या मृत्युपत्रांत ठेविले असतां तिच्या पश्चात् ते घेणें हें संस्थेला फंडाची जर फार गरज असेल तर कदाचित् क्षम्य मानतां येईल." सोंवळ्या पत्रिकेंत हे वाक्य कसें आलें याची मीमांसा 'केसरी'चीं मागचीं फाईलें चाळल्यास वाचकांच्या सहज लक्षांत येईल. मागें पुण्यांत

अशाच प्रकारचा वाद एकदां उपस्थित झाला होता. येथील शुक्रवार पेठेंत तेव्हां चालू असलेल्या प्लेगच्या जुलमी व्यवस्थेचा प्रतिकार कसा करावा याचा विचार करण्याकरितां सार्वजनिक सभेच्या नव्या दिवाणखान्यांत पेठेंतील लोकांची सभा भरली होती. शुक्रवार म्हणजे नायकिणीची पेठ, तेव्हां पेठेंतील एका घरवाल्या-लंडनच्या प्रदर्शनास जाऊन आलेल्या-नायकिणीस सभेंत बोलण्याची परवानगी देण्यांत आली. याबद्दल पुढें येथील 'सुधारक'-कारांनीं बरेच लेखणी पाडित्य करून सदर सभेच्या अध्यक्षस्य दोष दिला. त्या वेळीं, नायकिणी झाल्या तरी त्यांस सामान्य नागरिकांचे हक्क असतात कीं नाहीं, म्युनिसिपालिटींत मेंबर म्हणून निवडून जाणारे लोक त्यांचीं मते मिळविण्याकरितां त्यांचीं आर्जेवें करतात कीं नाहीं, वेगरे प्रश्नांची चर्चा होऊन येथील डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीनें—म्हणजे त्यांत डॉ. भांडारकर चेअरमन आहेत अशा संस्थेनें—गाण्याचा गुण नसणाऱ्या एका नायकिणीनें मृत्युपत्रांनं ठेविलेले पैसे मध्यें टस्टीचा पडदा ठेवून संस्थेच्या फायद्याकरितां घेतल्याची हकीगत प्रसिद्ध झाली होती. ही हकीगत लक्षांत आणून सुबोधपात्रिकेनें षरील वाक्य लिहिलेलें आहे; व त्याचा हेतुही उघड आहे. सामाजिक परिषदेचें दोन अध्यक्ष डॉ. भांडारकर आणि ना. पारख हे या दोन प्रकरणांत अशा रीतीनें गुंतलेले असल्यामुळें न्या. चंदावरकर यांचें सध्यांचें वर्तन किती योग्य आहे, हाही एक प्रश्नच आहे. सदाचार म्हणजे काय? आणि अनीतीचें वर्तन करणाऱ्या लोकांशीं इतरांनीं किती संबंध ठेवावा हा नीतीच्या आणि धर्माच्या दृष्टीनें मोठा गूढ प्रश्न आहे. आमच्या धर्मशास्त्रांत व्यभिचारापेक्षां किंवा नायकिणीच्या धंद्यापेक्षां सुरापानाचें पातक शतपट अधिक होय असे कंठरवानें सांगितले आहे, व सामान्य लोकांचा समजही असाच आहे. सुधारकांच्या मते सुरापानापेक्षां नायकिणीचें तोंड पाहणें हें आता अधिक गह्य झालें आहे, आणि सामाजिक परिषदेंत मोठ्या गंभीरपणानें नायकिणीच्या नाचाविरुद्ध टाळ्यांच्या गजरांत ठराव मंजूर होत असतात. गाणें या लोकांस प्रिय नाहीं असें नाहीं, पण तो धंदा गरती बायकांनीं करावा अशी यांची समजूत असल्याचें दिसतें. कसेंही असे; सुधारकांचा हा सोंबळेंपणा फाजील होत चालला आहे अशी आमची समजूत होती, व सर फेरोजशाहा सारख्यांचीही समजूत निदान कांहीं अंशीं तरी अशाच प्रकारची आहे ही गोष्ट लक्षांत ठेवण्यासारखी होय. आपणास सुधारक म्हणवून घेणाऱ्या एकंदर वर्गापैकीं नायकिणीच्या प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष संसर्गापासून किती अलिप्त असतील हा एक स्वतंत्र मुद्दा आहे; पण त्याचा विचार सध्यां करण्याची जरूर नाहीं. स्वतःचें आचरण अंतर्बाह्य शुद्ध असल्यावर सांगितलेल्या प्रकारचा नायकिणीचा संसर्ग कोणासही निंद्य वाटण्याचें कांहीं कारण नाहीं. परमेश्वराला आपलें द्रव्य अर्पण करण्याची जर त्यांस मोकळीक आहे तर एखाद्या चांगल्या कामास त्यांनीं मदत केल्यास सदर संस्थेच्या व्यवस्थापकांनीं आपल्या हातास विटाळ होईल

म्हणून हातांत रुमाल घेऊन तें द्रव्य ध्यावयाचें म्हणजे सोंवळेंपणाचा रिकामा व फाजील डौल मारणें होय. रांडांचा घंदा अनितीचा आहे हें कोणीही नाकबूल करणार नाही; पण सदर घंदा करणाऱ्यास इतर नागरिकांप्रमाणेंच आपल्या पैशाचा सद्व्य करण्याचा कायदेशीर हक्क असतो, हें विसरता कामा नये. दारू पिणारा गृहस्थ उद्यां जर एखाद्या उपयुक्त विषयांवर व्याख्यान देऊं लागला तर ज्याप्रमाणें त्याच्या व्याख्यानास जाण्यास धार्मिक लोकांस हरकत नाही, तद्वत्च नायकिणीशीं अनीतीचा संबंध न ठेवणाऱ्या लोकांस तिचें गाणें ऐकण्यास किंवा त्या गाण्याचें उत्पन्न एखाद्या सत्कार्यास घेण्यास आमच्या दृष्टीनें कांहीं हरकत दिसत नाही. विलायतेंतील नाटकगृहांत गाणाऱ्या सर्वच स्त्रिया सर्वांशीं शुद्ध असतात असें कोण म्हणेल ? पण सुधारलेल्या राष्ट्रांतही जर त्यांचीं गाणीं सर्वमान्य असतात तर नव्या सुधारलेल्या नीतिशास्त्राच्या आधारावर—धर्माची बाब सोडून द्या, कारण त्याप्रमाणें मद्यपानही महापातक आहे. सुधारक म्हणविणाऱ्या आमच्यातील आधुनिक गृहस्थांनीं फाजील सोंवळेपणाचा डौल मारावा हें आमच्या मते अश्लाध्य होय. कायदा, नीति आणि व्यवहार यांच्या मर्यादा भिन्न भिन्न आहेत व एखादी गोष्ट यांपैकीं एका दृष्टीनें अशास्त्र असली तर ती दुसऱ्या बाजूनें नेहमीं तशीच असली पाहिजे, ह्या म्हणण्यांत कांहीं जीव नाही.

* श्रीभगवद्गीतारहस्य

(गीतारहस्यावर लो. टिळक यांचीं येथील गणेशोत्सवात यंदा जी चार प्रवचनें झालीं त्याचा त्यानीं स्वतः सांगितलेला साराश खाली दिला आहे.).

गीता सांगण्याचें कारण.

गीतारहस्यासंबंधीं मी जें प्रवचन केले तें ' गीतारहस्य ' नामक मीं लिहिलेल्या नव्या ग्रंथाचा साराश होय. या ग्रंथात प्रथम पंधरा सोळा प्रकरणांत गीतारहस्याचा शास्त्रीयरीत्या सागोपांग विचार केल्यावर मग या प्रकरणांत गीतेचें जें तात्पर्य निश्चित केलें त्यास अनुसरून गीतेचें मराठी भाषांतर जोडलेलें आहे. एवढ्या समग्र ग्रंथाचा पुरा सारांशही तीन चार प्रवचनांत सागणें शक्य नव्हतें. तथापि एकंदर ग्रंथाचे मुख्य धोरण काय असा मला पुष्कळांनीं प्रश्न केला असल्यामुळे तोच विषय प्रवचनासाठीं मी घेतलेला होता. या प्रवचनांनीं माझ्या ग्रंथातील मुख्य मुद्दा कळला तरी त्यावरील शंका व त्याचीं समाधानें कळण्यास मूळ ग्रंथच पाहावा लागेल हें सांगावयास नको. गीतेवर अनेक भाषेत टीका व निरूपणें झालीं असतां तुम्ही गीतेसंबंधानें नवें असें काय सांगणार ? असा पहिल्यानेच प्रश्न निघणें अगदीं साहाजिक आहे. या प्रश्नास माझे असे उत्तर

आहे की, गीतेवर जीं भाष्ये व टीका सध्यां उपलब्ध आहेत त्या निरनिराळे सांप्रदायिक आचार्य व त्यांचे अनुयायी यांच्या आहेत; व त्यामुळे ज्यानें त्यानें गीतार्थ आपल्या सांप्रदायास अनुकूल होईल अशा रीतीनें निरूपिला आहे. उदाहरणार्थ श्रीमत् आद्य शंकराचार्य यांच्या भाष्यांत गीतेचा अर्थ अद्वैतपर व संन्यासप्रतिपादक लावला असून रामानुजाचार्यांच्या मते तीच गीता विशिष्टाद्वैतपर व भक्तिप्रतिपादक आहे; आणि मध्वाचार्यांच्या मते गीतेत भक्ति प्रधान असली तरी ती द्वैतमूलक आहे. किंबहुना श्रीशंकराचार्यांनी आपल्या भाष्याच्या आरंभीच असें म्हटलें आहे की, “गीतेवर अनेकानां पूर्वी टीका केल्या, पण त्यास गीतेचा अर्थ नीट कळला नसून सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञानानेंच मोक्ष मिळतो हेंच काय तें खरें गीतेचें तात्पर्य होय, हे सिद्ध करण्यासाठीं हें भाष्य लिहिलें आहे.” वल्लभ व निंबार्क यांच्या सांप्रदायांच्या गीतेवर ज्या टीका आहेत त्यांत अर्शांच विधानें केलीं आहेत. कोणी कर्मसंन्यासपूर्वक अद्वैत तर कोणी विशिष्टाद्वैत व भक्ति, कोणी द्वैतीभक्ति तर कोणी ज्ञानपूर्वक पातंजलयोग, कोणी सगुणभक्ति तर कोणी ज्ञानभक्ति यांचा मिलाफ गीतेत प्रतिपाद्य आहे असें म्हणतात. केवळ माझेच असें मत आहे असें नाही, तर प्रसिद्ध मराठी कवि वामन पंडित यांची गीतेवर यथार्थदीपिका नामक जी टीका आहे; तिच्या आरंभी “या कलियुगामाजि। जो तो गीतार्थ योजी। मतानुसार ॥” असें म्हटलें आहे. यावरून गीतेवरील सर्व टीका प्रायः त्या त्या टीकाकाराचा जो सांप्रदाय त्याला अनुसरून आहेत. सांप्रदायनिरपेक्ष म्हणजे कोणत्याही सांप्रदायाचा आग्रह न ठेविता केवळ सर्व गीता वाचून तिचा सरळ अर्थ काय लागतो हें सांगण्याचा या टीकाकाराचा हेतु नाही, असें दिसून येईल. सांप्रदायिक दृष्ट्या गीतेची ही जीं निरनिराळीं तात्पर्ये ठरविलेलीं आहेत ती त्या त्या सांप्रदायातील लोकांस मान्य असल्यास त्यांत काहीं नवल नाही. प्रस्थानत्रयीतील सर्व ग्रंथ आपल्याच सांप्रदायास अनुकूल आहेत असें दाखविल्याखेरीज लोकांत कोणताही सांप्रदाय मान्य होत नाही, त्यामुळे असे अर्थ लावणें भाग पडतें. पण हे सर्वच यथार्थ असणें ज्याअर्थी शक्य नाही त्या अर्थी त्या सर्वांची छाननी करून गीतेचें कोणतें तात्पर्य यथार्थ आहे हें पाहणें जरूर आहे. ही शंका माझ्या मनात येऊन आज बरीच वर्षे झालेली आहेत व या कालांत मनांत घोळत असलेले विचार व्यवस्थित रीतीनें एकत्र करून माझ्या गीतारहस्य नामक ग्रंथांत नमूद केलेले आहेत. माझे सिद्धांत एकदमच सर्वास ग्राह्य होतील, असें मी म्हणत नाही. पण गीतार्थासंबंधानें विचार करण्यास आधुनिक चिकित्सकदृष्ट्या त्यांचा बराच उपयोग होईल अशी मला आशा आहे.

सांप्रदायिक दृष्टि सोडली तर ग्रंथाचें परीक्षण कसें करावें हा या पुढला प्रश्न होय. ग्रंथपरीक्षण दोन प्रकारचें असतें; एक अंतरंगपरीक्षण व दुसरें बहिरंगपरीक्षण.

अंतरंगपरीक्षणांत ग्रंथाचें तात्पर्य ठरविण्यांत येतें; आणि बहिरंगपरीक्षणांत ग्रंथ कोणी, कोठें व केव्हां केला, त्या ग्रंथांत दुसऱ्या कोणत्या ग्रंथांचा उल्लेख आला आहे, इत्यादि बाह्यांगाचाच विचार करीत असतात. माझ्या गीतारहस्यांत या दोनही प्रकारें गीतेचा विचार केलेला आहे. पण या लेखांत फक्त अंतरंगपरीक्षणाबद्दलच माहिती दिली आहे; कारण बहिरंगपरीक्षण ऐतिहासिक दृष्ट्या जरी महत्त्वाचें असलें, तरी ऐतिहासिकच नव्हे तर धार्मिक, नैतिक वगैरे अनेक दृष्टींनी अंतरंगपरीक्षण म्हणजे ग्रंथ-तात्पर्य-निर्णयच सर्व लोक अधिक महत्त्वाचा समजतात, व सध्याच्या काळीं तर तो विशेष महत्त्वाचा आहे. कारण वरील द्वैती, अद्वैती वगैरे पंथाखेरीज कांहीं मिशनरी लोक गीता अत्याचारास प्रवृत्त करणारी आहे अशीही दीर्घ शंका आता काढूं लागले आहेत. ही शंका खोटी व सर्वस्वी निर्मूल होय असे पुढील विवेचनावरून दिसून येईल. गीतेतच काय पण सामान्य हिंदूधर्मासही अत्याचाराचे प्रकार केव्हांच मान्य झालेले नाहींत व ते मान्य असणें शक्यही नाहीं. असो; गीता महाभारताचें एक आवश्यक अंग आहे किंवा त्यांत घुसडून दिलेली आहे; अथवा मूळ गीता लहान असून त्यांत प्रसंगाप्रमाणें मागाहून अनेकांनी अनेक क्षेपक श्लोक घातलेले आहेत, आणि असल्यास ते कोणते, इत्यादि प्रश्न या बहिरंगपरीक्षणाच्या वर्गांतच पडतात. पण त्याचा सविस्तर विचार या लेखांत करणें शक्य नाहीं, म्हणून माझ्या मते या सर्व शंका निर्मूल होत, आणि हल्लींचा गीता-ग्रंथ पौराणिक पद्धतीनें व संवादरूपानें लिहिला असला तरी तो सुसंगत असून त्यांतील सर्व विषय शास्त्रीय प्रतिपादनास आवश्यक आहेत, एवढा माझा सिध्दान्त येथें सागून अंतरंगपरीक्षणाच्या मुख्य विषयाकडे वळतों. एखाद्या ग्रंथाच्या तात्पर्याचा निर्णय कसा करावा याबद्दल आधुनिक ग्रंथपरीक्षाशास्त्रज्ञांनी जे नियम घालून दिले आहेत ते काहीं नवीन नाहींत. आमच्या मीमांसकांनी हजारों वर्षांपूर्वी असें ठरविलें आहे कीं, 'कोणत्याही ग्रंथाचें तात्पर्य ठरविण्यास (१) त्या ग्रंथाचा आरंभ व शेवट कसा आहे, (२) त्यांत वारंवार काय सांगितलें आहे, (३) त्यांत अपूर्वता कोणती, (४) त्याचा परिणाम किंवा फल काय घडलें, (५) त्यांत उपपत्ति कोणती सांगितली आहे, आणि (६) या उपपत्तीच्या दृढीकरणार्थ किंवा अन्य कारणासाठीं दुसऱ्या कोणत्या कोणत्या प्रासंगिक गोष्टी त्यांत आहेत, या सहा गोष्टींचा विचार करून ग्रंथाच्या तात्पर्याचा विचार केला पाहिजे. ग्रंथतात्पर्यनिर्णयाची मीमांसकांची ही कसोटी गीतेस लावून गीतेचा आरंभ व शेवट काय हें पाहूं लागलें, म्हणजे असें दिसून येतें कीं, भारती युद्धाच्या आरंभी समोर आलेल्या बाघवांस पाहून अर्जुनास आपल्या कर्तव्याचा मोह पडला अशी गीतेची सुरवात आहे. युद्ध करावें तर कुलक्षय होणार, इतकेंच नव्हे तर पितामह भीष्म व गुरु द्रोण यांचा वध करावा

लागणार; आणि न करावें तर क्षात्रधर्म सुटल्यामुळे तिकडूनही नरकवास प्राप्त होणार. एकीकडे आड तर दुसरीकडे विहीर, अशी स्थिति झाल्यावर तो श्रीकृष्णास शरण गेला आणि श्रीकृष्णांनी गीता सांगून त्याला ताळ्यावर आणिला व युद्ध करण्यास लावले, हा गीतेचा उपसंहार आहे. हा उपसंहार केवळ वाचनिक किंवा ग्रंथांत लेखी आहे, इतकेंच नव्हे तर पुढें तसा साक्षात् परिणामही घडलेला आहे. तसेंच सबंध ग्रंथांत जागोजाग अनेक कारणें सांगून 'तस्माद्युद्धस्व भारत' 'हे अर्जुना, म्हणून तूं युद्ध कर'—असा उपदेश केलेला आहे. यांतील 'म्हणून' हा शब्द अत्यंत महत्त्वाचा आहे. त्याचा असा अर्थ होतो की, निरनिराळीं कारणें दाखवून अनेक बाजूंनी "या वेळीं युद्ध करणें हेंच तुझें कर्तव्य होय" या सिद्धान्ताबद्दल अर्जुनाची न्यायदृष्ट्या खात्री करून दिली आहे. अर्जुनानें संन्यास ध्यावा किंवा सर्वकाल भक्तीत गढून राहून दुसरें काहीं करूं नये, असें श्रीकृष्णाच्या मनातून त्यास सांगावयाचें नव्हतें. तसें असतें तर गीता सांगण्याचीच जरूरी नव्हती, कारण अर्जुन संन्यास घेण्यास तयारच झाला होता; तेव्हा "तूं म्हणतोस तसेंच माझें मत आहे, आपण दोघेही संन्यास घेऊन आपल्या आत्म्याचें कल्याण करूं" असें उत्तर दिल्यानें काम भागत होतें. पण तसें काहीं एक न करता 'हा हिजडेपणा (क्लेश) तुला शोभत नाही' अशी दुसऱ्या अध्यायाच्या आरंभी श्रीकृष्णांनी त्याची निभत्सना केली आहे. यावरून गीतेचे जर काही तात्पर्य असेल तर ते अखेर प्रवृत्तिपर म्हणजे कर्मपरच असले पाहिजे असें उघड होतें. भक्तीत किंवा ज्ञानांत गढून जाऊन सर्व कर्मांचा स्वरूपतः संन्यास करणें हे मत गीतेंत प्रतिपाद्य असणें शक्य नाही.

गीतेच्या उपक्रमोपसंहारावरून गीतेच्या तात्पर्याचा जो निर्णय केला त्याचें उपपादन गीतेच्या अठरा अध्यायांत कसें केले आहे, हे आतां आपण पाहूं. पैकीं पहिलें पाच अध्याय प्रथम ध्या. यातील पहिल्या अध्यायाचें तात्पर्य वर सांगितलेंच आहे. दुसऱ्या अध्यायांतील "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" येथपासून भगवंताच्या उपदेशास सुरवात झाली आहे; व यांतील पहिले काहीं श्लोक वेदान्तपर असल्यामुळे गीतेंत हाच वेदान्त प्रतिपाद्य आहे, असे कित्येक समजतात! पण खरा प्रकार तसा नाही, असें थोड्या सूक्ष्म विचारांतीं दिसून येईल. 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' येथपासून 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमाश्रुणु' येथपर्यंत सांख्यमार्गाचें ज्ञान सांगून पुढें याच अध्यायांत योगाचें म्हणजे कर्मयोग मार्गाचें ज्ञान सांगण्यास सुरवात केली आहे; म्हणजे गीतेंतील उपदेशास सांख्य व कर्मयोग या दोन मार्गांपासून सुरवात आहे, नुसत्या वेदान्तापासून नाही, असें निष्पन्न होतें. युद्ध सोडून देऊन सांख्यमार्गांतील संन्याशाप्रमाणें भिक्षा मागत रानांत राहूं किंवा युद्ध करूं? ज्ञानी पुरुषास यांपैकीं उचित काय? हा अर्जुनाचा प्रश्न होता. म्हणून ज्ञानी पुरुषाच्या आचरणाचे

या जगांत आढळून येणारे जे दोन मार्ग किंवा 'निष्ठा'--सांख्य कर्मयोग या दोहोंपासूनच गीतेस सुरवात झाली आहे; व या दोन मार्गांपैकीं ग्राह्य कोणता हें ठरविणें हाच गीतेतील मुख्य विषय आहे. योग म्हणजे पातंजलयोग नव्हे. सहाव्या अध्यायांतील काही श्लोक खेरीजकरून योग म्हणजे कर्मयोग हाच अर्थ गीतेत विवक्षित आहे हे 'समत्वं योग उच्यते' आणि 'योगः कर्मसु कौशलम्' या गीतेतील व्याख्येवरूनच उघड होतें. किंबहुना 'योग' या शब्दाचा कर्म-योगाखेरीज दुसरा भलतासलता अर्थ कोणी करूं नये, एतदर्थच या व्याख्या दिलेल्या आहेत असे म्हटलें तरी चालेल. पुरुष ज्ञानी झाला म्हणजे तो (१) शुकाचार्याप्रमाणें कर्में सोडील, किंवा (२) जनक-श्रीकृष्णाप्रमाणें सर्व व्यावहारिक कर्में निष्कामबुद्धीनें करील, असे दोन पक्ष संभवतात, व यासच अनुक्रमें सांख्य व योग या संज्ञा आहेत. पण हे दोनही पक्ष अजुनाला सागून काय उपयोग ? 'तदेकं वद निश्चित्य' यापैकीं कांहीं तरी एक मला निश्चयेंकरून सागा, असें भगवंताजवळ त्याचें मागणें होतें. म्हणून त्यास उत्तर देतांना पाचव्या अध्यायात कर्मसंन्यास आणि कर्मयोग हे दोनही जरी एकसारखेच निश्चयस्कर म्हणजे मोक्षप्रद आहेत तरी 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते'--या दोहोंत कर्म-संन्यासापेक्षां कर्मयोगाची मातब्बरी अधिक,--असें भगवंतांनीं स्वच्छ सांगितले आहे. आणि ही योग्यता अधिक कां ? याचीं कारणे तिसऱ्या व चौथ्या अध्यायांत आहेत. या अध्यायामध्यें भगवान् असे सागतात कीं, कोणी मनुष्य कितीही ज्ञानी झाला तरी निजणें, वसणें, उठणें इ. कर्में त्याला कधीच सुटत नाहींत. सृष्टि उत्पन्न झाली तेव्हा यज्ञचक्र उत्पन्न झाले; आणि यज्ञ जर कर्मा-खेरीज होत नाहीं तर कर्म सोडणें म्हणजे यज्ञचक्र बुडवून ब्रह्मदेवाची गुन्हेगारी करणें होय ! आता कोणी असे म्हणेल कीं, ज्ञानी झाला म्हणजे त्याला मोक्ष मिळाला; मग त्याचें काहीं कर्तव्य उरत नाहीं (कार्य न विद्यते) किंवा त्यानें काहीं केलें काय न केलें काय सारखेच असतें, (अ. ३ श्लोक १७-१८). कित्येकांच्या मते हाच गीतेचा सिद्धांत पक्ष होय. पण हा अर्थ प्रकरणास जुळत नाहीं. प्रकरण कर्मयोगाचें आहे; आणि ज्ञानी पुरुषानेंही कर्म केलें पाहिजे हा अर्थ (अ. ३-२५) या ठिकाणीं प्रतिपाद्य असून तत्सिद्धयर्थ जनकादिकांचा व पुढे खुद्द भगवंतांनीं आपलाही दाखला दिला आहे; म्हणून ज्ञानी पुरुषानें काही करूं नये असें मध्येच विधान करणें शक्य नाहीं. यासाठीं 'ज्ञानी पुरुषाचें काही कर्तव्य शिळक राहिलें नसतें, त्यानें एखादी गोष्ट केली काय न केली काय सारखेंच' हा पूर्वपक्षाचा किंवा हेतूचा अनुवाद घेतला पाहिजे, आणि त्याचें उत्तर काय हें पुढील श्लोकांत 'तस्मात्' हें कारणबोधकपद घालून सांगितलें आहे. ज्ञानी पुरुषाला कर्म करणें न करणें जर सारखेंच तर न करण्याचा तरी आग्रह कां ? केव्हांही झालें तरी "कर्म ज्यायोह्यकर्मणः"— अकर्मा-

पेक्षा कर्म श्रेष्ठ हा सिद्धांत होय. 'तस्मात्' ज्ञानी पुरुषानेही निष्कामबुद्धीने कर्म केले पाहिजे, असा गीतेत सिद्धांत असून त्याचप्रमाणे लागलीच अर्जुनास उपदेशही केला आहे. गीतेतच नव्हे, योगवासिष्ठातही हा अर्थ स्पष्ट केला आहे. अर्जुन अज्ञानी म्हणून त्यास निष्काम कर्म करण्यास सांगितले ही कोटि ग्राह्य धरिता येत नाही. असो, कर्म करण्यास शेवटचे म्हणून जे कारण सांगितले आहे ते लोकसंग्रह होय. लोकसंग्रह म्हणजे अडाणी लोकांस न दुखविण्यासाठी त्यांच्याप्रमाणे वागण्याचे सोग करणे असा अर्थ नाही. व्यावहारिक कर्म कशी करावयाची याचा लोकांस प्रत्यक्ष आपल्या निष्काम वर्तनाने धडा घालून देऊन केवळ पृथ्वीवरील लोकांचीच नव्हे तर देवादि लोकांचीही (अ० श्लोक ११) सुस्थिति उत्तरोत्तर वृद्धिंगत व कायम करणे, हा लोकसंग्रहाचा खरा अर्थ होय. साधूंचे संरक्षण व दुष्टांचा निग्रह--'परित्राणाय साधूनां विनाशाय दुष्टताम्'- हा त्यातलाच एक भाग आहे; व तो करण्यासाठी खुद्द भगवानहि जर वेळेवेळी अवतार घेतात, तर ज्ञानी पुरुषानेही तेच काम करून लोकसंग्रह केला पाहिजे, असा गीतेतील उपदेशाचा इत्यर्थ आहे. साराश, 'कर्म मोक्षाला कारण होत नाही, ज्ञान हेच मोक्षाचे कारण आहे. ज्ञानाचा उजेड पडल्यावर कर्माचा अंधकार त्या ठिकाणी राहू शकत नाही,' इत्यादि जो संन्यासपक्षीयाचा कोटिक्रम आहे तो भगवद्गीतेत स्वीकारलेला नाही. मोक्ष ज्ञानानेच मिळतो हे तत्त्व भगवद्गीतेस मान्य आहे. पण मनुष्य कितीही मोठा ज्ञानी किंवा भगवद्भक्त झाला तरी निष्काम कर्म त्याला सुटत नाही; मोक्षाकरिता नको असले तरी लोकसंग्रहार्थ त्याने ते अवश्य केले पाहिजे, असे भगवद्गीतेचे विशेष सांगणे आहे. किंबहुना मनुष्य ज्ञानी झाला म्हणजे अज्ञानी जनास निष्काम कर्म करण्याची प्रत्यक्ष उदाहरणाने संवय लावून देण्याची एक नवीन जबाबदारी त्याचेवर पडते असे 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' या श्लोकाचे तात्पर्य आहे म्हटले तरी चालेल. निरनिराळे आचार्य आपापल्या भाष्यातून असा अर्थ करित नाहीत हे मला माहित आहे, व हे आचार्य मोठे विद्वान्, धार्मिक व सत्त्वशील होते, हेही मला मान्य आहे. विशेषतः श्रीशंकराचार्यासारखा तत्त्वज्ञानी पुरुष आजपर्यंत या जगांत झाला नाही असे मी समजतो, व शांकरभाष्यात प्रतिपादन केल्याप्रमाणे गीतेतील वेदातही अद्वैतपरच आहे असे माझे मत आहे. पण निरनिराळ्या आचार्यांचे मत काय आहे हे आपणास सध्या पाहावयाचे नसून सांप्रदायिक दृष्टि सोडली तर गीतेचे अखेर ध्येय काय ठरते, एवढाच आपल्यापुढचा प्रस्तुत प्रश्न होय. म्हणून या बाबतीत अनेक आचार्यांशी माझा मतभेद असल्यास त्यावरून या आचार्यांस मी कमी पूज्य समजतो, असे कोणीही समजू नये. याला उत्तम उदाहरण म्हटले म्हणजे आचार्यांच्या मागून त्यांच्या सांप्रदायिक अनुयाय्यांनीही आपापल्या टीकांत प्रसंगानुसार निरनिराळे अर्थ केले आहेत हे होय. किंबहुना गीतेचे असे अर्थ करण्यास सवड नसती, तर गीतेवर अनेक टीका होणेही शक्य झाले नसते.

गीतेमध्ये निष्काम कर्मयोगच प्रतिपाद्य आहे, याबद्दल दुसरा पुरावा म्हटला म्हणजे चौथ्या अध्यायांत दिलेली गीताधर्माची परंपरा होय. भगवान्—विवस्वान—मनु-इक्ष्वाकु अशी ही परंपरा सांगितली आहे. पातंजलयोगांत ही परंपरा कोठेंच दिलेली नाही. महाभारतात शांतिपर्वाच्या अखेर नारायणीयोपाख्यानात नारायणीय किंवा भागवतधर्माची सात कल्पातील जी एक मोठी परंपरा दिली आहे, त्यातील हल्लींच्या महायुगातील त्रेतायुगाच्या परंपरेशी मात्र गीतेची परंपरा जुळते; व त्यावरून नारायणीय किंवा भागवतधर्म 'योग' या नावाने गीतेत प्रतिपाद्य आहे, असे सिद्ध होतें. हा नारायणीय धर्म प्रवृत्तिपर असून शिवाय मोक्षप्रदही आहे, असे याच म्हणजे नारायणीयोपाख्यानात पुढे वर्णन आहे. गीतेवरील टीकाकारानी गीताधर्माच्या या परंपरेसंबंधाने विचार केला असल्याचे मला आढळून आले नाही.

गीतेतील उपदेशास साख्य व योग या दोन मार्गांपासून सुरवात झाली असून दोहोंपैकी निष्काम कर्मयोगच श्रेष्ठ, असा निकाल झाल्यावर पुढे दुसरे काहीं प्रश्न साहजिकरीत्याच उपस्थित होतात; व त्याचे उत्तर पांचपासून सतराव्या अध्यायापर्यंत दिलेले असून गीतेतील शेवटल्या म्हणजे अठराव्या अध्यायात एकंदर सर्व विषयाचा उपसंहार केला आहे. गीतेतील अठरा अध्यायांची अशा प्रकारे वाटणी न करिता कर्म, भक्ति व ज्ञान या तिहींना किंवा तत्, त्वं, असि या "तत्त्वमसि" वाक्यातील तीन पदाना यथानुक्रम सहा सहा अध्याय वाटून देण्याची काहीं टीकाकाराची रीत आहे. पण माझ्या मते ही रीत बरोबर नाही. कर्म, भक्ति व ज्ञान ही स्थूलमानाने तीनही गीतेत प्रतिपाद्य असली, तरी एकेकाच्या वाटणीस बरोबर सहा सहा अध्यायच येतात असे नसून हे तीन विभाग स्वतंत्र म्हणजे परस्पर निरपेक्ष आहेत, असेही मानता येत नाही. पण त्वं, तत् आणि असि या तीन पदांचे निरूपण करणारे सहा सहा अध्याय आहेत असे म्हणणे याहून विचित्र आणि निराधार आहे. गीतेतील नऊ, दहा, अकरा व बारा हे चार अध्याय भक्तिपर आहेत असे म्हणता येईल. पण जरा सूक्ष्म विचार केला तर असे दिसून येईल की या अध्यायातूनही ज्ञानाचा व विशेषतः कर्माचा धागा कायम ठेवला असून भक्तितत्त्वाचा उल्लेख मागे म्हणजे चौथ्या अध्यायांतच 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' या श्लोकात झालेला आहे. सारांश, वर सांगितलेली त्रिविध वाटणी सयुक्तिक नसून सहाव्या अध्यायांत पातंजलयोग आणि पुढील अकरा अध्यायात सामान्यतः भक्तियुक्त ज्ञानविज्ञान वर्णिले आहे, असे म्हणावे लागते. हे ज्ञानविज्ञान का वर्णिले? स्वतंत्र म्हणून किंवा दुसऱ्या काहीं कारणासाठी? याचा आता विचार केला पाहिजे. हा विचार करू लागले असतां असे आढळून येईल की, पातंजलयोगाचे किंवा ज्ञानविज्ञानाचे हे निरूपण स्वतंत्र नाही. निष्काम कर्मयोगाची मातबरी कर्म-

संन्यासापेक्षां अधिक असें सांगितल्यानंतर निष्काम कर्मयोगाचे सिध्दव्यर्थ अवश्य लागणारी निष्कामबुद्धि संपादन करण्यास साधनें कोणतीं, आणि संन्यासमार्गा-प्रमाणें निष्काम मार्गांनैही मोक्ष कसा मिळतो, हें सप्रमाण सिद्ध करून दाखविणें जरूर होतें. पैकी निष्कामबुद्धि संपादन करण्याचें साधन म्हणून अर्जुनाच्या प्रश्नावरून पातंजलयोगातील आसनाचें व चित्तनिरोधाचें सहाव्या अध्यायांत निरूपण आलें आहे. पण चित्तनिरोधाचें हें काम एकाच जन्मांत सिद्ध न झाल्यास मनुष्य बुडालाच असें समजावयाचें कीं काय, अशी अर्जुनास शंका आल्यामुळें निष्काम कर्मयोगात काहीं फुकट जात नाही. यथाशक्ति प्रयत्न करीत गेले म्हणजे पूर्वजन्मींचे संस्कार पुढें कायम राहून आज नाही तर उद्यां, या जन्मां नाही तर पुढील जन्मां तरी, कर्मयोगानें अखेर खास सिद्धि प्राप्त होते, असें भगवंतांनीं आश्वासन दिलें आहे. परंतु बुद्धि निष्काम होण्यास पातंजल योगापेक्षांही अध्यात्मचित्तन आणि अध्यात्मचित्तनापेक्षांही भक्ति हीं महत्त्वाची व सुलभ साधनें होत; व यांचा विचार ७ पासून १७ अध्यायापर्यंत केला आहे. अध्यात्मविचार करण्याची पद्धत अशी आहे कीं, प्रथम बाह्य सृष्टीचा विचार करून त्याच्या बुडाशीं काय तत्त्व आहे हे ठरवावयाचे; यास क्षराक्षर विचार असें म्हणतात. हा विचार कपिल-सांख्य शास्त्रांत केलेला आहे; म्हणून तदनुरोधाने गीतेंतील ७-८-९ व पुढें चौदापासून सतरा अध्यायातील वर्णनें केलेलीं आहेत. क्षराक्षरांचा याप्रमाणें विचार केल्यावर मनुष्यांच्या देहांत चालकशक्ति कोणती याचा विचार करावा लागतो व तो तेराव्या अध्यायांत केला आहे. यास क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार असें म्हणतात. क्षराक्षर व क्षेत्रक्षेत्रज्ञ यांचा याप्रमाणें विचार झाल्यावर दोहोंकडे अखेर जीं तत्त्वे निष्पन्न होतात तीं दोन नसून एकच आहेत. जें पिंडीं तें ब्रह्माडीं असें सिद्ध करावें लागतें; व हेंच सर्व वेदांताचें रहस्य होय. यासच परब्रह्म किंवा भक्तिशास्त्रातील परिभाषेंत पुरुषोत्तम असे म्हणतात. या परमतत्त्वाचे अनुभवात्मक ज्ञान होऊन बुद्धि आत्मनिष्ठ किंवा ब्रह्मनिष्ठ म्हणजे सर्वाभूतीं सम व शांत होणें हाच खरा मोक्ष होय. मोक्ष ही एक विशिष्ट प्रकारची अध्यात्मिक मनोवस्था आहे; इहलोकाच्या पलीकडे ठेवलेला गड्डा नव्हे—मोक्षस्य न ही वासोस्ति न ग्रामांतरमेव वा । अज्ञानहृदयग्रंथिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥—असें शिवगीतेंत म्हटलें असून भगवद्गीतेचा व उपनिषदांचा सिद्धांत तसाच आहे. ही अध्यात्मिक स्थिति ज्या पुरुषास प्राप्त झाली त्यास जीवन्मुक्त असें म्हणतात; व अशा प्रकारची जीवन्मुक्तावस्था संपादन करून त्यात सिद्ध झालेल्या निष्कामबुद्धीनें लोकसंग्रहार्थ आमरणांत निष्काम कर्म करीत राहणें हेंच गीतेंतील सर्व उपदेशाचें सार होय. अशा ज्ञानी पुरुषास त्यानें केलेल्या निष्काम कर्माचें पापपुण्य लागत नाही इतकेंच नव्हे, तर त्याची कर्म करण्याची जी रीत तीच इतरांस कित्यासारखी होऊन त्यामुळे लोकांची स्थिति उत्तरोत्तर सुधारत जात असते. हाच खरा लोकसंग्रह

होय; व तो निष्कामबुद्धीनें करणे म्हणजे लोकोपकारही निशामिमान बुद्धीनें करणें हेंच मनुष्याचें इहलोकांतील परम ध्येय होय. ही स्थिति प्राप्त होणें अत्यंत दुर्घट आहे खरें; पण अभ्यासानें तीही साध्य होते, असें गीतेचें सांगणें आहे. निष्कामबुद्धि किंवा फलाशात्याग याचा अर्थ बराच खोल असल्यामुळें त्याचाही येंथें थोडासा खुलासा केला पाहिजे. फलाशात्याग म्हणजे फलत्याग किंवा कर्माचे फल मिळाले तरीही ते सोडून देणे, असा अर्थ नव्हे. गीतेला या जगांतील सर्व कर्म काढून टाकावयाचे नाही. जें सामान्यतः काम्य असतें तें मात्र निष्काम करावयाचें आहे. कर्म सोडण्यास गीता कोठेंच सागत नाही. अर्थात् कर्म करण्याची इच्छा मनुष्यास असली पाहिजे इतकेंच नव्हे तर त्या कर्मापासून पुढें काय परिणाम होण्याचा संभव आहे याचें त्यास ज्ञान असून तदनुसार त्या कर्माची योजना करणेंही मनुष्याचें काम आहे. एरवीं त्याच्या सर्व क्रिया वेड्यासारखा होतील; म्हणून कर्म करण्याची इच्छा अगर हेतूचे ज्ञान किंवा योजना सोडून द्या, असा फलाशात्याग या शब्दाचा अर्थ करता येत नाही. किंबहुना या सर्व मनोवृत्ति मनुष्यास परिणामी दुःखकारक किंवा बंधकारक होऊं शकत नाहीत असें म्हटले तरी चालेल. दुःखाचें मूळ फलाच्या ठायीं जी मनुष्याची ममत्वयुक्त आसक्ति असते त्यात आहे, कर्मात नाही; व कर्म करण्याच्या इच्छेतही नाही. 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाच न' या कर्मयोगाच्या गीतेतील चतुःसूत्रीचा अर्थ हाच होय. यासच इंग्रजीत Duty for duty's sake म्हणजे केवळ कर्तव्य म्हणून (कार्यमित्येव) जें काय करावयाचें ते करावें असें म्हणतात. गीतेचा सर्व कटाक्ष याच तत्त्वावर आहे; आणि असें करित असता हृत्प्येसारखी घोर क्रिया करावी लागली तरीही त्याचा लेप कर्त्यास लागत नाही. उदाहरणार्थ, भ्रूणहृत्प्येसारखें दुसरे पाप नाही; पण आडवें आले असता कापून काढणाऱ्या डॉक्टरास कोणी दोष देत नाही. परोपकारासाठीं औषध देणाऱ्या डॉक्टरास रोगी बरा न झाल्यास त्याचे दुःख होत नाही, हें याच तत्त्वाचें उदाहरण होय. पण त्याच डॉक्टराचा मुलगा आजारी पडला असता त्याची बुद्धि कशी गुग होते, हे पाहिलें म्हणजे निष्काम किंवा फलाशारहित कर्म कशाला म्हणावें हे ध्यानात येईल. बुद्धि फलाशारहित झाली म्हणजे कर्मच होणें शक्य नाही असे जे कित्येकाचें म्हणणे आहे, त्यात काही अर्थ नाही. ज्याची बुद्धि संसारांत गुंतली आहे, त्यास ही गोष्ट शक्य वाटत नाही; म्हणून ती नाहीच म्हणणें म्हणजे आंधळ्यास सूर्य दिसत नाही म्हणून तो नाहीच म्हणण्यासारखें आहे. बुद्धि अशा प्रकारची निष्काम झाली म्हणजे त्या मनुष्यास 'पुष्कळ मनुष्यांच्या पुष्कळ कल्याणाकरिता-प्रयत्न कर' असा उपदेश करण्याची जरूरच राहत नाही. मनुष्य म्हटला म्हणजे तो आपल्या कृत्याच्या बाह्य परिणामाचा सारासार विचार करणारच, एरवीं तो मनुष्यच नव्हे. पण बाह्य परिणामाचा

सारासार विचार करणें एवढेंच कांहीं सदाचरणाचें तत्त्व नाही; कारण एखाद्या गरीबाने एखाद्या सत्कृत्याकडे दोन पैसे आणि त्याच कामासाठी एखाद्या लक्षाधीशानें शंभर रुपये दिले तरी त्याची नैतिक योग्यता आम्हां एकच समजतो. यावरून शूद्र, निष्काम व सर्वाभूती सम झालेली, अतएव फलासंगविरहित बुद्धि, हेंच काय ते गीतेंत वर्णिलें सदाचरणाचे मूळ होय, असें सिद्ध होतें. ' पत्रं पुष्पं फलं तोयं ' याचा भावार्थ हाच असून अशा रीतीनें जो आपलें कर्तव्य करतो त्यास कर्माचें बंधन न लागता स्वधर्मानें लोकसंग्रह केल्याचे श्रेय संपादन करून त्याच कर्माने अखेर यास मोक्ष मिळतो, म्हणून मोक्षासाठी साधन म्हणूनच नव्हे तर, ज्ञानोत्तराह निष्काम कर्म अवश्य केली पाहिजेत असें गीतेचें पुनः पुनः सांगणें आहे; व याचमुळे अखेर स्वधर्माकरिता युद्ध करण्यास अर्जुन प्रवृत्त झाला आहे.

वर जी बुद्धीची निष्काम अवस्था वर्णन केली ती अध्यात्मविचारानें प्राप्त होते हें खरें. पण ती सिद्ध होण्यास अध्यात्मविचार हा मार्ग क्लेशमय असून भक्तिमार्गानें तोच हेतु सुलभ रीतीनें प्राप्त होतो, आणि हा मार्ग प्रत्यक्ष असल्यामुळें त्याचें आचरणही सुखानें चडतें असें गीतेचे यापुढें दुसरे महत्त्वाचें सांगणें आहे. पण यावरून निष्कामकर्मविरहित भक्तीच गीतेंत प्रतिपाद्य आहे, असे होत नाही. भक्ति हें साधन आहे, साध्य नव्हे; व सर्व साधनात हें साधन जरी सुलभ असले तरी त्याने निष्काम व समबुद्धि संपादन करून कर्म सोडावीं असे सिद्ध न होता उलट त्या बुद्धीनें जगातील सर्व व्यवहार करीत रहावें हेंच गीतेचे अखेरचें सांगणें आहे. यानें मोक्षप्राप्ति होते, इतकेंच नव्हे तर जगातील सुस्थितीही कायम रहाते. यासच ज्ञानकर्म-समुच्चयपक्ष असें म्हणतात, व तोच गीतेतील प्रतिपाद्य विषय होय. म्हणजे केवळ कर्मफलत्यागपूर्वक ज्ञान किंवा केवळ भक्ति हें गीतेतील अंतिम ध्येय नव्हे. हा ज्ञानकर्म-समुच्चयपक्ष गीतेंतच नव्हे तर ईशावास्यादि उपनिषदातही वर्णिलेला आहे. किंबहुना गीता हें मोक्षदृष्ट्या संसार कसा करावा याचें शास्त्र आहे. संसार सोडून देण्यासाठी गीता सांगितलेली नाही. आधुनिक पाश्चिमात्य पंडित आपली संसारशास्त्रें आधिभौतिक पायावर रचीत असतात. पण हा पाया अपुरा असल्यामुळे तो सोडून देऊन संसारशास्त्राचा मोक्षशास्त्राशी म्हणजे अध्यात्मशास्त्राशी गीतेनें उत्तम मेळ घालून दिलेला आहे. गीतेंत जर कांही अपूर्वता असेल तर ती हीच होय. नुसता वेदात किंवा नुसती भक्ति प्रतिपादन करणारे ग्रंथ पुष्कळ आहेत. पण त्यातून प्रायः अखेर कर्मसंन्यासरूपी चतुर्थाश्रम प्रतिपादिलेला असतो. पण गीतेचा कटाक्ष तसा नाही. संन्यास ह्या शब्दाचा अर्थ व्यापक करून कर्माचा संन्यास न करिता फलाचा संन्यास करा, किंवा संन्यासबुद्धी ठेवून केवळ इंद्रियानेंच जगांतलें सर्व व्यवहार करीत जा, कर्म सोडणे इष्ट नाही, ती अवश्य केली पाहिजेत, असा गीतेचा भावार्थ

आहे. यासच भागवतधर्म असें म्हणतात. भागवत व स्मार्त या शब्दाचे अर्थ व्यवहारांत कांहीं लोक अनुक्रमें वैष्णव व शैव असा करितात. पण हे अर्थ खरे नव्हत. भागवत भागवताची उपासना करणारे असतात हैं खरें; पण शिवाची उपासना भागवतात अमान्य नाही हें 'येष्यन्यदेवताभक्ता' या गीतेतील श्लोकावरून उघड होतें. तसेंच स्मार्त म्हणजे केवळ शिवोपासक असतात असेही नाही; कारण आमच्याकडील स्मार्तांमध्ये पंचायतनाची पूजा चालू असून स्मार्त मार्गाचे प्रवर्तक जे आद्य श्रीशंकराचार्य त्याच्या मठातील उपास्य दैवतही शिव नसून शारदा आहे. यावरून स्मृत्युक्त आश्रमव्यवस्थेप्रमाणें चालून अखेर कर्म-त्यागरूपी सन्यासाश्रम घेणे हें मनुष्याचे कर्तव्य होय, असें मानणारे लोक स्मार्त आणि अखेर कर्मत्यागरूप संन्यास घेण्याची जरूर नसून तें काम फलाशासंन्यासांनैही तितकेच सिद्ध होतें असे जें भगवताचें मत तें जे ग्राह्य मानतात ते भागवत,--असे या दोन शब्दाचे मूळ अर्थ असावे हे उघड होते. पहिल्या पंथास स्मार्त किंवा साख्यमार्गी हे नाव आहे आणि दुसऱ्या पंथास भागवतधर्म किंवा कर्मयोग असें म्हणतात. वस्तुतः पाहिलें तर गीता भागवत मार्गाची आहे, स्मार्तमार्गाची नव्हे, तथापि या दोन मार्गांमदल तंटा करित बसण्यात हंशील नाही. कर्माचा संन्यास केला काय आणि फलाशेचा संन्यास केला काय, संन्यासाचें म्हणजे निवृत्तीचे तत्त्व दोनही ठिकाणी एकसारखेच कायम राहांत. 'एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'--अशी समबुद्धीने या दोन मार्गांची एकवाक्यता गीतेत केली आहे. भागवतपुराण हा भागवत धर्मावरील हल्ली मुख्य ग्रंथ समजतात; पण ऐतिहासिक दृष्ट्या तो भारतानंतरचा आहे हे त्यातील पहिल्या अध्यायाच्या कथेवरूनच उघड होते. म्हणून मूळचा भागवतधर्म गीतेचाच होय. त्यात केवळ भक्तीला प्राधान्य दिलेले नसून भक्तीने अतःकरणशुद्धि झाल्यावर निष्काम कर्म केलेंच पाहिजे. 'मामनुस्मर युद्धय च' असा दुहेरी उपदेश आहे. भागवतात निष्काम कर्माचे हे प्राधान्य न राहता भक्तीला प्राधान्य आले, असा फरक झाला आहे. भागवतधर्माचें हें दुसरें स्वरूप होय. यात अद्वैत-वेदात कायम होता. पण तोही पुढें काढून टाकून गीतेत अद्वैताऐवजी विशिष्टा-द्वैताचा भक्तीशीं मेळ घातला आहे असे रामानुजानी ठरविलें आहे, आणि अद्वैत किंवा विशिष्टाद्वैतही गीतेत प्रतिपाद्य नसून द्वैतवेदातच गीतेत प्रतिपाद्य आहे असें मध्वाचार्यांचें म्हणणें आहे. पण आमच्या मते हे साप्रदाय एकदेशी असून अद्वैत-ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोगच गीतेतील मुख्य प्रतिपाद्य विषय होय. केवळ ज्ञान व संन्यास अगर केवळ भक्ति गीतेत प्रतिपाद्य नाही.

सारांश, गीतेतील उपदेश परलोक आणि इहलोक या दोहोंतील कार्य साधण्यासाठी सांगितलेला आहे, नुसत्या परलोकासाठी नव्हे, हे सर्वांनी लक्षात ठेवण्यासारखें आहे. कर्मसंन्यासानें मोक्ष मिळत नाही असे नाही; परंतु लोक-

संप्रहासार्थां शास्त्रतः प्राप्त होणारें आपलें कर्तव्य तुम्ही केलेंच पाहिजे असें गीतेचें सांगणें आहे. नुसती भक्ति या दृष्टीनें पाहिलें तर नामस्मरण करण्यांतच सर्व वेळ घालविणें हाच भक्तीचा परम उत्कर्ष ठरतो. पण कर्मावांचून अशा तऱ्हेची भक्ति करण्याबद्दल गीतेमध्ये कोठेंही वचन नाही. हे जग काहीं आम्हीं केलेले नाही. म्हणून यातील व्यवहारही आमचे नसून ईश्वरनिर्मित आहेत असें म्हणावें लागतें. हे व्यवहार काम्यबुद्धीने, अभिमानानें किंवा स्वार्थबुद्धीनें केले म्हणजे बधाला कारण होतात. पण उत्कट भगवद्भक्तीबरोबर जगातील सर्व कामें परमेश्वराचीच आहेत, किंवा त्यांतील काहीं विशिष्ट भाग करण्याकरिताच ईश्वरानें मला जन्म दिला आहे, या भावनेने म्हणजे आपण जें काही करतो ते परमेश्वरा-पण करून जगाचे सर्व व्यवहार चालविणें हें प्रत्येक मनुष्याचे काम आहे, असा गीतेचा उपदेश आहे. किंवा विराटरूपी परमेश्वराची ही एक उपासनाच होते असें म्हटलें तरी चालेल; व याच हेतूनें 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विंदति मानवः' हा श्लोक गीतेच्या अखेर आला आहे. 'सर्व भूतांच्या हितामध्ये रत' होऊन स्वार्थाचा सर्वस्वी परार्थात लय करणें व अशा आत्मोपम्य बुद्धीनें फलाशा-विरहित जगातील कामें करणें हा भक्तियोग सर्व भक्तियोगामध्ये श्रेष्ठ होय व हाच गीतेंत प्रतिपाद्य आहे. लोककल्याणाची किंवा परोपकाराची उपपत्ति इतक्या सुंदर रीतीनें पाश्चिमात्य पंडित म्हणतात त्याप्रमाणें नुसत्या आधिभौतिक मार्गाने कर्धाही लागत नाही. म्हणून गीतेतील कर्मयोग पाश्चिमात्य कर्मयोगापेक्षा अधिक श्रेष्ठ व उदात्त आहे असें माझे मत आहे. अर्जुन अशा तऱ्हेनें कर्म करण्यास तयार झाल्यावर ज्याप्रमाणें भगवंताने त्याचें सारथ्य केलें त्याप्रमाणें तुम्हीही हा योग आचरण्यास लागल्यावर तुमचें भगवान सहाय्य करतील यात शंका नाही. ज्ञान आणि काम्य कर्म याचा विरोध आहे खरा; पण ज्ञान व निष्काम कर्म यात कोणताही विरोध नाही. म्हणून निष्काम कर्म हें ज्ञानप्राप्तीचें नुसतें साधन न मानता ज्ञानोत्तर कर्म गीतेंत विहित धरले आहे. सर्वाभूतीं समबुद्धि झाल्यानें कुलाभिमान, देशाभिमान वगैरे सद्गुण नाहीसे होतात असा कित्येकांचा आक्षेप आहे पण तोही माझ्या मते खरा नाही. गाय व ब्राह्मण यांच्या ठिकाणीं समबुद्धि झाल्यावर गाईच्या पुढला चारा ब्राह्मणास व ब्राह्मणाचें अन्न गाईस ज्याप्रमाणें कोणी घालीत नाहींत, तद्वत्च सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि व देशाभिमान याची गोष्ट आहे. स्पेन्सर वगैरे आधुनिक आणि भौतिक पंडितही सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि हेंच इहलोकीचें परम श्रेय मानतात. पण ही बुद्धि कायम ठेवूनही प्रसंगविशेषी सारासार विचाराती देशाभिमानच पतकरावा लागतो, असें जे त्यांनीं प्रतिपादन केलें आहे त्यास कोणी हरकत घेत नाहीं. मग वेदान्तासच ती हरकत लागू का करावयाची? वेदान्त तुम्ही देशाभिमानानें वागता किंवा कुलाभिमानानें वागता हे पाहात नाहीं. सारासार-विचाराती ज्या प्रसंगी शास्त्रतः जें योग्य दिसेल तें तुम्ही करा, त्यास वेदान्त नको म्हणत नाहीं. पण या

सर्वांचें मूळ सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि असल्यामुळें ती बुद्धि प्रथम संपादन करा आणि मग व्यवहारांत जीं कर्में प्राप्त होतील त्यांचा समबुद्धीनें विचार करून तीं करीत जा, असें गीताधर्म कंठरवाने सागत आहे. आणि मनुष्यमात्राच्या अंगी असणाऱ्या बुद्धि, (ज्ञान) श्रद्धा (भक्ति) आणि कर्म या तीन वृत्तींची अशा रीतीनें जितकी सुंदर जोड घालतां येते तितकी दुसऱ्या कोणत्याही शास्त्रीय पद्धतीनें घालतां येत नाही, असें माझे मत आहे. माझ्या ग्रंथाचा सारांश काय हे यावरून सामान्यतः लक्षांत येईल. यावर पुष्कळ शंका घेण्यासारख्या आहेत, नाही असें नाही. कारण निष्काम कर्मयोगाला मी देतो तितकें महत्त्व टीकाकार देत नाहीत हे मला माहित आहे पण माझ्या मतांवरील सर्व शंकांची उत्तरे येथे देणें शक्य नाही; त्यासाठीं समग्र ग्रंथच वाचला पाहिजे व तो शक्य तितका लवकर प्रसिद्ध करण्याची व्यवस्था मी करीत आहे. थोडक्यांत सांगणें असल्यास ब्रह्मविद्यामूलक भक्ति गीतेत प्रतिपाद्य आहे, इतकेंच नव्हे तर त्याबरोबर तितक्याच योग्यतेचा निष्काम कर्मयोगही आवश्यक म्हणून प्रतिपादिला असल्यामुळें गीता हें ब्रह्मविद्यामूलक-भक्तिसहचारी नीतिशास्त्र होय, असें माझे मत आहे.

*कै० गोपाळराव गोखले

मुहूर्त ज्वलितं श्रेयो न च धूमयितं चिरं ।

—महाभारत.

ना. गोपाळ कृष्ण गोखले याना गेल्या शुक्रवारी रात्री सुमारे ११ वाजण्याचे सुमारास देवाज्ञा झाल्याचें वर्तमान ऐकून विस्मय, खेद, निराशा आणि इहलोकींच्या वस्तीचा अशाश्वतपणा याचा प्रत्यय येऊन, कोणाचेंही मन उद्विग्न झाल्याखेरीज राहणार नाही. नामदार गोखले सुमारे तीन महिन्यांपूर्वी त्रिजायतेहून येथे परत आले, तेव्हा त्याची प्रकृति फारशी बरी नव्हती हें लोकांस कळलें होतें. पण प्रकृतीचें हें अस्वास्थ्य कोणत्या प्रकारचें होतें, याची तेव्हां लोकांस माहिती नव्हती व करून देणेंही इष्ट नव्हतें. आज सुमारे पंधरा वर्षांच्या मधुमेहानें याचे शरीर, दिसण्यांत चागलें दिसत होतें तरी, आंतून बरेंच पोखरलेलें होतें; आणि विशेषतः या रोगाचा त्यांच्या काळजावर जो परिणाम झाला होता, तो तर भयंकरच होता. केव्हा केव्हा मधून मधून त्यांच्या नाडीचे ठोके बंद पडत, किंवा रात्री निजलें असता एकाएकी श्वास कोंडून घाबरून जाण्यापर्यंतही मजल येत असे ! रोग कोणताही असला तरी हीं लक्षणें कांहीं बरीं नव्हत, हें

* (केसरी, ता. २३ माहे फेब्रुवारी १९१५).

कोणासही सांगावयास नकोच. किंबहुना, विलायतेतील डॉक्टरांनीं हीं दुश्चिन्हेंच ठरवून यांतच गोपाळरावजींचा अंत होईल असें भाकीतही केलें होतें. पण पथ्य-पाण्याच्या बंदोबस्तानें, औषधसेवनानें आणि 'माझे अमुक काम पुरें व्हावयाचे आहे व त्यासाठीं मला कांही दिवस तरी जगलेंच पाहिजे' अशी उद्योगी पुरुषाची स्वसामर्थ्यावर जी एक प्रकारची दृढनिष्ठा असते तीमुळे गोपाळरावजींस इतके दिवस तरी कंठतां आले, असे म्हणण्यास हरकत नाहीं. त्याचें वय मरणसमयी अवघें ४९ वर्षांचे होतें; व जगाच्या राहाटीप्रमाणें पाहिलें तर अद्याप त्यांचे हातून बरींच मोठीं कृत्ये घडण्यासारखी होती. पण 'संसारांतील उत्तम उत्तम फुलें वेचण्यांत गुंतलेल्यासच मृत्यु घेऊन जातो!' असें धम्मपदात म्हटलें आहे, तेंच या ठिकाणां अक्षरशः खरे झाले. गोपाळरावजींच्या मनातून पब्लिक सर्व्हिस कमिशनचा रिपोर्ट पुरा करावयाचा होता, आपण काढलेल्या सर्व्हेस ऑफ इन्डिया संस्थेची काहीं स्थिरस्थावर करावयाची होती, वरिष्ठ कायदे काँसिलच्या येत्या बैठकीस हजर राहून तेथील आपले काम करावयाचे होतें,—इत्यादि एक ना दोन-अनेक प्रकारच्या गोष्टी त्यांच्या मनात घोळत होत्या; व त्यास अशी उमेद होती की, निदान पब्लिक सर्व्हिस कमिशनचा रिपोर्ट तयार होऊन प्रसिद्ध होईपर्यंत तरी आपल्या आयुष्याची दोरी कायम राहिल. पण हे सर्व विचार जागच्या जागींच कायम राहून व्हाइसरायापेक्षाही श्रेष्ठ पुरुषाचे आमंत्रण आल्यामुळे आपले सर्व व्यवसाय बाजूस ठेवून या लोकींची यात्रा त्यास संपवावी लागली ! असे; हे खेदकारक प्रसंग आज ना उद्यां सर्वावरच यावयाचे आहेत. गोपाळराव ज्या संधांत वाढले, त्यापैकी आतां किती शिल्क आहेत हें मोजूं गेले असतां गोपाळरावाच्या मृत्यूबद्दल खेद कांही तरी कमी होऊन, त्याच्या हातून जी कामगिरी झाली ती घडण्यापुरतें तरी त्यास परमेश्वरानें आयुष्य दिलें, यांतच समाधान मानून ध्यावें लागेल. आपण काहीं तरी करणे ही आपल्या हातांतली गोष्ट आहे खरी; पण आपण केलेले काम सिद्धीस नेणे, आपण लावलेलें रोप आपल्या डोळ्यादेखत मोठें झाड होऊन त्यास पुष्पें व फळे आलेलीं पाहणें, या गोष्टी आपल्या हातच्या नाहींत. हीं कामें होण्यास सर्वांचीच पुण्याई लागत असते; आणि ती जेथें कमी पडली तेथे एकट्यानेंच शोक करून काय उपयोग ? तथापि शोकाच्या प्रसंगी उपयोग आणि अनुपयोग यांचें भान न राहतां मनुष्यानें शोकाला वश होणें अगदीं स्वाभाविक आहे; आणि तशी हल्लींच्या प्रसंगी पुष्कळाची अवस्था होईल यात कांहीं संशय नाहीं, आणि झाली तर त्यांत कांही दोषही नाहीं.

गोपाळरावजींनीं जी कामगिरी केली ती बहुतेक सर्व लोकांस पूर्ण माहीत असून आजच्या दुःखकारक प्रसंगी तिचें कोणासही स्मरण झाल्याखेरीज राहागार नाहीं. एका गरीब ब्राह्मणाच्या मुलानें शाळेंत अभ्यास करून परीक्षा पास झाल्यानंतर कांहीं थोड्या वर्षांतच हत्ती, घोडे, संपत्ति, सत्ता किंवा अशाच प्रकारची दुसरी बाह्य साधनें जवळ नसतां वयाच्या पन्नासाव्या वर्षापूर्वींच सर्व

देशांत आपले नांव आबालवृद्धांचे तोंडीं ठेवून जावें, हें काहीं लहानसहान काम नव्हे; आणि हें काम कोणासही आपल्या बुद्धिमत्तेनें, दीर्घाद्योगाने, सतत उच्च ध्येय मनापुढें ठेवून, केवळ आपल्या कर्तबगारीनें करतां येतें हें गोपाळरावजींच्या चरित्रांतील मुख्य मर्म होय. यांनीं प्रथम न्यूस्कूलात व फर्ग्युसन कॉलेजांत अध्यापकाचें काम करून नंतर सार्वजनिकसभेंत वेल्बी कमिशनपुढें, मुंबईच्या व पुढे हिंदुस्थानच्या कायदेकौन्सिलात, प्रातिकसभेंत, किंवा राष्ट्रीयसभेंत, अनेक प्रकारचीं कामें केल्लीं आहेत, असें यांच्या चरित्राचें वर्णन करीत असतात; कित्येक त्यांच्या बुद्धिमत्तेची प्रशंसा करितात, तर कित्येक त्यांच्या दीर्घाद्योगाची म्हती गातात. कित्येक त्यांचा सौम्यपणा वर्णन करितात, तर कित्येक त्यांचा निगर्वीपणा गातात. परंतु आमच्या मते हे बाह्य गुण झाले, आणि यासंबंधानें कांहीं बाबतींत कित्येकांचा नामदार गोखले यांशी मतभेदही असूं शकेल. पण हे गुण व ही कामगिरी ज्या एका अन्तर्गुणामुळें उदयास येते त्या गुणाबद्दल मतभेद असणें शक्यच नाहीं, असें आमचें कायमचें मत आहे. तो गुण म्हटला म्हणजे निर्लोभ अंतःकरणानें वेळींच आपणास देशकार्यास वाहून घेणें हा होय. बालपर्णी अभ्यास व तरुणपर्णी संसार यथास्थित करून मंदावलेल्या कायिक व मानसिक शक्ति इतर कर्तव्याभावीं लोकोपयोगास वाहणारे पुरुष कोठें आढळून आल्यास त्याबद्दल विशेषशी आदरबुद्धि मनात उत्पन्न होत नाहीं. पण इंद्रियशक्ति शाबूत आहेत, शरीर स्वार्थासाठीं उद्योग करण्यास समर्थ आहे, वार्धक्य अजून दूर राहिले आहे, आणि संसारातील सुखाचें स्वरूप अद्याप मनोहर असून तिकडे चित्ताची प्रवृत्ति होणें साहजिक आहे; अशा वेळीं आणि विशेषकरून या दिशेनें गेलें असता आपणांस यश मिळण्याचा इतरापेक्षा काकणभर अधिक संभव आहे, अशी मनास खात्री वाटत असतांही या सर्व मनोहर देखाव्यावरून दृष्टि मागें ओढून यथाशक्ति आपल्यास देशकार्यास वाहून घेणें, त्यात आलेली संकटें सोसण्यास कबूल असणे, किंबहुना त्यातच आनंद मानून त्यासाठीं सतत परिश्रम करण्यास तयार होणें, याला एक प्रकारचा बळकट मनोनिग्रह लागत असतो आणि तो मनोनिग्रह ज्यानें दाखविला, दाखविलाच नव्हे तर आमरणान्त कायम ठेवला, तोच पुरुष धन्य होय. गोपाळराव गोखले याचे बरोबर पब्लिक सर्व्हिस कमिशनमध्ये सरकारचे पुष्कळ काळे व गोरे कामगार आहेत; व गोपाळरावजीं जें काम करितात तेंच ते करीत आहेत. पण त्याची या कामाबद्दल स्तुति न करिता गोपाळरावजींचीच आम्ही जी प्रशंसा करितों, यांतील बीज हेंच होय. एकाचा उद्योग व परिश्रम हें नोकरीच्या कर्तव्याचें फळ आहे, आणि दुसऱ्याचा उद्योग त्यानें आपणा स्वतःस स्वदेशकार्यास वाहून घेतलेल्या स्वार्थत्यागाचे फळ आहे. फळ एकच पण कोणत्या बुद्धीनें मनुष्य त्यासाठीं उद्योग करण्यास प्रवृत्त होतो, हें लक्षांत ठेवून तदर्थ झटणाऱ्या प्रत्येक पुरुषाची किंमत करावी लागते. आणि या दृष्टीनें पाहूं गेले असता गोपाळरावजींचे उद्योग व त्यांनीं केलेली काम-

गिरी नीतिदृष्ट्या, देशहितदृष्ट्या आणि पुरुषार्थदृष्ट्या अत्यंत महत्त्वाची होती, असें कोणासही वाटल्यावाचून राहणार नाही. यांचा स्वभाव सौम्य असल्यामुळे आपल्या ध्येयाप्रमाणें हातीं घेतलेले काम सौम्य उपायांनींच पार पाडण्याकडे यांची प्रवृत्ति असे; आणि आमच्यासारख्या कित्येक लोकांस हे सौम्योपचार अना-ठार्या आहेत असें वाटे. पण पथ्य आणि उपचार यांच्या तीव्रतातीव्रतेसंबंधानें दोन वैद्यांमध्ये जरी मतभेद झाला, तरी वैद्य या नात्यानें गोपाळरावजींची जी योग्यता होती ती आम्हांसही पूर्णपणे मान्य आहे. आपला देश हल्लीं ज्या स्थितीत आहे ती स्थिति अत्यंत निकृष्ट असून सर्व बाजूंनीं देश वर येण्यास लोकांच्या ठार्यां अनेक सद्गुणांचा प्रादुर्भाव झाला पाहिजे, असें जें गोपाळरावजींनीं देशाच्या रोगाचें निदान केले होतें, ते अगदीं अक्षरशः खरें आहे. हें निदानच आधीं कित्येकांच्या लक्षात येत नाही; आणि लक्षात येणाऱ्या हजारां लोकांपैकीं एखादाच त्यासाठीं आपला वेळ मोडून उपचार करण्यास तयार होत असतो. गोपाळरावजी यांच्याही पुढें गेलेले होते; आणि अशा तऱ्हेचें पुरुष या देशात सध्या फारच थोडे आहेत, हें लक्षात आणलें म्हणजे गोपाळरावांच्या कामगिरीचें महत्त्व पूर्ण लक्षांत आल्याखेरीज राहणार नाही. किंबहुना हल्लींच्या काळांतील ब्राह्मणांचें जर काहीं कर्तव्य असेल तर तें हेच होय, असें आम्हीं म्हणूं शकतो. डामडौलास न भुलता, आपण एकटेंच निर्धन जन्मलों तसेंच एकटें जाणार हें लक्षांत आणून ऐहिक सुखाचा त्याग करणे, आणि केवळ देशहितकारक धर्म आचरणें यातच खरें ब्राह्मणत्व आहे; आणि हा धर्म ज्याने पाळला तो दुसरें काहीं करो वा न करो, त्यानें योजलेले उपाय सौम्य असोत वा कडक असोत, केवळ वरील धर्म पाळल्यामुळेच तो देशकर्त्या पुरुषाचें वर्गीत पडून सद्गति पावतो, असें आम्हास वाटतें. या सिद्धान्तास नांवे ठेविली तरी त्याची महति कमी समजणारे काहीं लोक आहेत, नाही असें नाही. पण अशा लोकांच्या मतांमुळे वरील सिद्धान्ताचें महत्त्व कमी न होता, अपवादाने सामान्य सिद्धान्तास जी बळकटी येते तीच या आक्षेपामुळे वरील सिद्धान्तासही येते, असें आमचें मत आहे.

असो; विद्यार्थिदशेंत असल्यापासूनच मनापुढें उच्च ध्येय ठेवल्याने बुद्धि-मान् पुरुषास काय करितां येणें शक्य आहे, याचा धडा गोपाळरावजींच्या चरित्रावरून पुढल्या पिढीनें घ्यावा, असें त्यास आमचें सांगणें आहे; व तो ते घेतील अशी आम्हांस उमेद आहे. या जगांत कोणीही झाला तरी तो आपल्यासाठींच जन्मला आहे असे नाही. देश भरभराटीत असता ही गोष्ट पुष्कळांच्या डोळ्यांपुढें असते. पण त्याला विपन्नावस्था आली म्हणजे विद्वान् पुरुषही या सिद्धान्ताकडे दुर्लक्ष करित असतात; किंवा अशा दुर्लक्षामुळेच विपन्नावस्था येते, असे म्हटलें तरी साजण्यासारखें आहे. म्हणून ना. गोखले यांच्या चरित्रावरून जो बोध घ्यावयाचा तो तरुणांनीं होईल तितक्या लवकर घेण्यास मागे सरूं नये, असे त्यांस

आमचें सांगणें आहे. देशासाठीं जें काम करावयाचें आहे, ते अत्यन्त महत्त्वाचेंच नव्हे तर अत्यंत कठीणही आहे. एकाच प्रयत्नाने एकाच वेळी किंवा एकाच पुरुषाचे हातून ते सिद्ध होण्यासारखें नाहीं. त्यासाठीं या सर्व गोष्टींची परंपरा कायम राखली पाहिजे; आणि ती राखणें सर्वस्वीं पुढील पिढीच्या हाती आहे. गोपाळराव गोखले याना जें काही कर्तव्य वाटले तें ते करून गेले; आणि त्याच्या कृत्याप्रमाणे त्यास परलोकी सद्गति मिळेल, याबद्दल धर्मदृष्ट्या काही शंका नाही. पण त्यानी आपले कर्तव्य केले किंवा त्याना सद्गति मिळाली, येवढें म्हणूनच मागे राहिलेल्या लोकांचे कर्तव्य संपत नाही. त्याच्या मृत्यूने जें नुकसान झाले आहे, ते सर्व देशाचे असून विशेषतः त्याच्या आतडष्ट वर्गावर व त्याच्या शिष्यावर हा एक मोठा कठीण प्रसंगच गुदरला आहे, असें म्हटले पाहिजे. पण ह्या अशा स्थितीतही शातता आणि समाधान राखून

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।

तेन यायात्सता मार्गे तेन गच्छन्न दुःप्यति ॥

ज्या मार्गानें गुरु किंवा त्याचेही गुरु गेले तोच लोककल्याणाचा मार्ग पुढे चालवावा, त्यातच आपलें क्षेम आहे, हे मनुवचन लक्षात आणून व शोक विसरून पूर्वाचार्यानी देशाच्या अभ्युदयार्थे जां मार्ग आखून दिला आहे तोच पुढें उत्साहाने, उमेदीने, धैर्याने आणि नेटानें चालविण्यास सर्वांनीं प्रवृत्त व्हावें, एवढेच अखेर या दुःखदायक प्रसंगां आमचें सर्वास दुखवट्याचे सांगणे आहे. पुढचें पडले तर मागच्यानीं आपले कर्तव्य बजावणे यातच खरे समाधान आहे, रडण्यात नाही.

* आगरकरांची श्राद्धतिथि

क्षुद्राः सति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ।

स्वाथो यस्य परार्थं एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥

—भर्तृहरि.

कै. प्रि. गोपाळ गणेश आगरकर यास ता. १६ जून १८९५ रोजी देवाज्ञा झाली. तेव्हापासून २१ वर्षांनी त्याचें निधन—दुःख वयात येऊन गेल्या रविवारी मुंबईकरानी त्याच्या स्मरणार्थे मोठा उत्सव, राष्ट्रीय जेवणाची त्याला पुरवणी देऊन, साजरा केला. ही कालातराने घडून येणाऱ्या अपूर्व गोष्टींपैकींच एक गोष्ट आहे. हा उत्सव करण्याची कल्पना रा. रा. नाईक व अळतेकर यांच्या मनात प्रथम येऊन मुंबईच्या सुधारकसंघाची मदत मिळाल्यावर परवा तिला व्यक्त स्वरूप

देण्यांत आले, व तत्पूर्वी मनोरंजनाने मुद्दाम 'आगरकर-अंक' काढून या महत्त्वाची सर्वांस ओळख करून दिली, याबद्दल आगरकरांच्या सर्व मित्रांस व भक्तांस आनंदच वाटेल यात शंका नाही. प्रि. परांजपे हे आगरकरांच्याच जागी आलेले असल्यामुळे त्यांनी आगरकरांच्या स्मरणार्थ भरविलेल्या सभेचे अध्यक्षस्थान स्वीकारावे यांत काहीं नवल नाही. पण माजी न्या. सर चंदावरकर यांनी "आगरकर हे आमच्यापैकी मोठे थोर पुरुष होते, त्याचे श्राद्ध करणे आम्हांस अत्यंत आवश्यक आहे, तसें न केल्यास राष्ट्राची हानि होईल." इ० उद्गार सभा सुरू होण्यापूर्वी काढलेले ऐकून पुष्कळांस चमत्कार वाटला असेल यांत शंका नाही. कॉलेजांतील अभ्यासक्रम संपल्यानंतर आजन्म दारिद्र्याची शपथ वाहून न्यू इंग्लिश स्कुलास मिळणारे आगरकर कोणीकडे! आणि बी. ए. झाल्यानंतर एल्.एल्. बी., एल्.एल्. बी. पास झाल्यावर वकिली, वकिली झाल्यानंतर जज्जशिप आणि जज्जशिप झाल्यावर दिवाणगिरी करणारे सर चंदावरकर कोणीकडे! परंतु सत्याचा, करारीपणाचा, एकनिष्ठतेचा, आणि स्वार्थत्यागाचा महिमा इतका विलक्षण आहे की, "निःस्वोवष्टिशतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः" याप्रमाणे व्यावहारिकदृष्ट्या भरभराटीच्या पाठीस लागलेल्या मनुष्यासही दारिद्र्यांत राहून पूर्ण एकनिष्ठेने देशसेवेस लागणाऱ्या मनुष्याचा महिमा अखेर गावा लागतो. यावरून गोपाळराव आगरकर याचा मृत्युलेख लिहिताना, १८९५ साली आम्हीं जे उद्गार काढले होते ते किती समर्पक होते हे वाचकांच्या लक्षांत येईल.

आगरकरांच्या अंगच्या विशिष्ट गुणांचे वर्णन करित असतां आम्हीं तेव्हा असे लिहिले होतें की, कॉलेजातील अभ्यासक्रम पुरा करून सरकारी नोकरींत शिरणारे आणि शंभराचे हजार रुपये होण्याची हाव बाळगून ती पुरी झाल्यावर पेन्शन घेऊन घरीं स्वस्थ बसण्याचा प्रसंग येतो न येतो तोंच आपल्या चिरंजिवासासही त्याच मार्गांत ढकलून देऊन दोन पिढ्यांची काळजी दूर झाली म्हणून आपणांस कृतकृत्य मानणारे युनिव्हर्सिटीचे पदवीधर काहीं कमी असतात असे नाही. पण आपल्या कर्तव्यगारीने अशा प्रकारची व्यावहारिक उन्नतीही आपण प्राप्त करून घेऊं असा निश्चित भरंवसा असतां आगरकरांप्रमाणे मनोदेवतेस साक्ष ठेवून संकटें, विपत्ति, हालअपेष्टा सोसूनही भी आपलें देशकार्याचें मनोगत पूर्ण करीत असे म्हणणारे पुरुषच खरे धीरपुरुष होत. सन १८९५ साली वरील आशयाचे जे उद्गार आम्ही काढले तेच अद्यापही आम्हांस खरे वाटतात व तेच पुनः त्याच रूपाने येथे नमूद करण्यास आम्हांस काहीं दिक्कत वाटत नाही. मनुष्याचा मोठेपणा त्याच्या मनावर आहे, केवळ कृतीवर नव्हे, हें तत्त्व केसरींत आलेल्या काहीं महात्म्यांच्या निधनलेखनांत आम्हीं वेळोवेळीं व्यक्त केलेंच आहे. मनुष्याची योग्यता ठरवावयाची असल्यास ती त्यानें किती ग्रंथ वाचले किंवा त्यानें किती पैसा संपादन केला एवढ्यावरूनच ठरत नाही. आगरकरांनीं जितके ग्रंथ वाचले असतील त्यापेक्षा अधिक ग्रंथ वाचलेले एम्. ए.

सध्यांच्या कार्ळी डझनांनीं सांपडण्यास हरकत नाही. आगरकरांची योग्यता एम्. ए. होण्यांत नाही. ग्रंथवाचनांत नाही, महाराष्ट्रलेखनपटुत्वांत नाही, आणि आमच्या मते त्यांनीं 'सुधारक' पत्र काढलें व चालवलें यातही नाही. विचारा सुधारक त्यांच्यामागेंही कसाबसा चालला होता, आणि सुधारणेचे प्रतिपादन करणारेच नव्हेत तर आचरण करणारेही सध्यां पुष्कळ आहेत किंवा होतील. तथापि आगरकरासारखा पुरुष त्यांच्यांत क्वचित्च सापडेल असे म्हणण्यास आम्हांस कांहींएक हरकत दिसत नाही. कै. माधवराव रानडे यांच्यामागून हायकोर्टाचे जज्ज पुष्कळ झाले व होतील. पण माधवरावर्जांचा मोठेपणा ज्याप्रमाणें न्याय-मूर्तित्वांत नव्हता त्याचप्रमाणें आगरकरांचीही गोष्ट होय. सुधारणेचीं मते त्यांनीं निर्भीडपणे व कित्येकदा उच्छृंखलपणेंही प्रतिपादन केलीं; पण हें काहीं त्यांच्या मोठेपणाचें लक्षण नव्हे. परिस्थितीचा गुलाम न बनता परिस्थितीला यथा-संभव यथाशक्ति व यावच्छक्य आपल्या ताब्यात आणण्यास जो मनोनिग्रह, स्वार्थत्याग, निर्लोभीपणा आणि धैर्य लागतें तें ज्यांच्या अंगांत आहे; आणि दुःखाची अथवा संकटाची भीति अगर पर्वा न बाळगता जो आपल्याठायीं असणाऱ्या या सद्गुणाचा लोकोपयोगार्थ उपयोग करतो तोच मोठा म्हणावयाचा. गोपाळराव आगरकर हे या कोटीतले होते, व म्हणूनच १८९५ साली त्याचा मृत्युलेख लिहिताना त्यांच्या अंगच्या वरील सद्गुणांसच आम्ही प्रमुखस्थान दिलें होतें. मनुष्य जें काहीं कर्म करतो तें नेहमींच सफल होत असते असें नाही, अगर त्यानें प्रतिपादन केलेलीं मते नेहमींच अक्षय्य असतात असेही नाही. विचार आणि मते हीं मनाचीं पाघरूणें होत असें जे एका पाश्चात्य ग्रंथकाराने म्हटले आहे तेंच खरें. देशकालानुसार मनुष्याचे विचार आज एक तर उद्या दुसरे होतील; आणि त्यांच्या हातून घडणाऱ्या क्रियेसही तोच न्याय लागू आहे. पण सत्पुरुषाचा मोठेपणा त्यांच्या स्वतःसिद्ध किंवा कमावलेल्या मनात आहे; आणि हेंच तत्त्व शिरोभार्गी दिलेल्या भर्तृहरीच्या श्लोकात ग्रथित केलेलें आहे.

मनुष्याला मोठें केव्हां व कशासाठीं म्हणावें याचे तत्त्व लक्षात न बाळगल्यामुळें गोपाळराव आगरकरांचीं 'मनोरंजना' च्या खास अंकांत जीं चरित्रें प्रसिद्ध झालीं आहेत तीं बहुतेक एकागी आणि काहीं ठिकाणीं तर निवळ चुकीचीं आहेत. अलीकडे या चरित्रकारांची अशी एक पद्धत पडून गेली आहे कीं, आपल्या चरित्रनायकाशीं ज्यांचा विरोध येतो, त्यांना कांहींतरी दूषण ठेवून त्यांतच आपल्या चरित्र-नायकाचा मोठेपणा आहे असें सिद्ध करावयाचें. आमच्या मते चरित्रलेखनाची ही पद्धत अप्रशंसनीय होय. जगामध्ये मतवैचित्र्य असणें ही गोष्ट इतकी स्वाभाविक आहे कीं, स्वयंवरात अनेक चांगले राजे आले असता त्यांना सोडून अजालाच इंदुमतीनें का वरावें याचें कारण देताना काली-दासास "नासौ न काम्यो न च वेद सम्यक् । द्रष्टुं हि सा भिन्नरुचिर्हि लोकः" या तत्त्वावर निर्वाह करून घ्यावा लागला आहे. पण गोपाळरावांच्या बहुतेक

चरित्रकारांच्या मनात ही बुद्धि वसत होती असें दिसत नाहीं. गोपाळरावांचे हे चरित्रकार प्रायः सुधारणेची री ओढणारे आहेत; आणि केवळ सुधारणेसाठीं गोपाळरावास सत्पुरुषाच्या मालिकेंत गोंवण्यास तयार झालेले हे लोक आमच्या मते कोत्या बुद्धीचे आणि एककल्ली होत. गोपाळरावांच्या अंगी असामान्य गुण कोणता याचें सन १८९५ सालीं व आजच्या लेखात आम्ही पूर्ण निदर्शन केलें आहे. गोपाळरावर्जांचा आणि टिळकाचा काहीं बाबतीत कितीही जरी मतभेद असला तरी गोपाळरावर्जांची योग्यता टिळकांना पूर्ण अवगत होती हें दोघांच्याही मित्रांस पूर्णपणें माहीत आहे. पण तेवढ्यामुळें गोपाळरावर्जांच्या विरुद्ध जो पक्ष उपस्थित झाला तो केवळ 'सवंग लोकप्रियतेच्या लालुचीनें झाला, अगर 'सुधारक सत्यासाठीं तर केसरी व्यापारासाठीं' इत्यादि अजागळ विधानें गोपाळरावर्जांच्या मृत्यूनंतर आज एकवीस वर्षांनीं करणें म्हणजे लेखकाने आपल्या बुद्धीचें माद्य प्रकट करण्यासारखें आहे. वाद चालू असता असल्या प्रकारचीं वाक्यत्रेणें नेहमीं वापरण्यांत येतात, आणि तेव्हा ती बऱ्याच अंशीं वादाला पोषक आणि अवश्यही असतात. पण वाद संपून गेल्यानंतर असल्या शस्त्राचा वादातील नायकाच्या प्रतिपक्षावर उपयोग करणें म्हणजे बायकोच्या नर्थातून तीर मारण्यासारखे अस-मंजस होय. शिवाय दुसरी अशी गोष्ट लक्षात आणली पाहिजे कीं, हल्लीं प्रसिद्ध झालेलीं आगरकरांची चरित्रें प्रायः सुधारणेच्या एकाच गोष्टीला महत्त्व देऊन लिहिलेलीं आहेत. जणुं काय सुधारणेखेरीज आगरकरांनीं काहीच कामगिरी केली नाही किंवा दुसऱ्या विषयावर लिहिलेंही नाहीं. अर्थात् हल्लींच्या चरित्रकारांनीं आगरकरांच्या गुणांचें जे वर्णन केलें आहे तें आधळ्यानें हत्ती खांबासारखा आहे, अगर सुपासारखा आहे असे ठरविण्याच्या मासल्याचें झाले आहे. या सर्वांस आम्ही असें विचारतो कीं, त्यांनीं आगरकराची राजकीय मते काय होती याची कधी चौकशी केली आहे काय ! १८८८ सालापर्यंत केसरीत जे राजकीय विषयावर लेख आले ते बहुतेक आगरकराचे आहेत; आणि त्यानंतर सुधारकातही अशा प्रकारचे बरेच निबंध आले आहेत. या सर्वांचें सूक्ष्म निरीक्षण केलें असता असें दिसून येईल की, आगरकर हे पक्के स्वराज्यवादी होते, आणि कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकराप्रमाणे देशातील दारिद्र्य, परावलंबिता, चांगल्या पुरुषांचा तेजोभंग, गोऱ्या अधिकाऱ्याची चरणी व वरणी, व्यापारनाश वगैरे राजकीय व औद्योगिक अवनति पाहून त्यांचे चित्त केशवपनादि चालींच्या निरीक्षणापेक्षांही अधिक संतप्त व दुःखित होत असे; व याला मिळ आणि स्पेन्सर यांनीं प्रतिपादन केलेल्या स्वराज्याच्या तत्त्वाखेरीज दुसरा उपाय नाही अशी त्यांची पक्की खात्री झालेली होती. मिळने ज्याप्रमाणें आपली लेखणी केवळ स्त्रीस्वातंत्र्यावरच चालविली नाही तद्वत्च आगरकरांचीही गोष्ट आहे, आणि जो तार्किकपणा समाजसुधारणे संबंधानें त्यांच्या अंगी वसत होता तोच तार्किकपणा त्यांनीं राजकीय बाबींवरील आपल्या लेखांतही पूर्णपणें उपयोगांत आणला आहे. टिळक आणि आगरकर

यांचा जो मतभेद झाला तो राजकीय बाबतीत नाही आणि शिक्षणाच्या बाबतीतही नाही. मनुष्य स्वभावतः कितीही चांगला असला तरी शिक्षणाने त्याच्या बुद्धीचा विकास झाल्याशिवाय देशाची उन्नति होत नाही, हे तत्त्व दोघांसही पूर्ण मान्य होतें; आणि त्याचा प्रसार करून देशोन्नतीसाठी आपल्या हातून होईल तितकी खटपट करावी एवढ्याकरिता दोघेही आपल्या आयुष्यक्रमारंभी स्वतः शिक्षणसंस्था काढण्याच्या उद्योगास लागले. मग एवढे जर दोघामध्ये ऐक्य होतें तर मग पुढें मतभेद कसा झाला ? याचें उत्तर कित्येकांस वाटते तितकें कठीण नाही. मतभेद धार्मिक आणि सामाजिक बाबतीत उत्पन्न झालेला होता. धर्मदृष्ट्या आगरकर केवळ बौद्धिकवादी होते आणि तोच पंथ सामाजिक बाबतीतही निदानपक्षां आपल्या लेखात त्यांनीं स्वीकारलेला होता. आगरकराची ही पद्धत टिळकासच नव्हे तर त्यांचे जे दुसरे मित्र केसरीच्या चालकवर्गात होते त्यासही पसंत नव्हती; व त्यामुळेच अखेर केसरीतून निघून गोपाळरावजींस सुधारक काढावा लागला. सुधारणा नको असें केसरीचें म्हणणें केव्हाही नव्हतें, पण केवळ बौद्धिकदृष्ट्या किंवा तर्कदृष्ट्या सुधारणेचा विचार करण्यास केसरी तयार नव्हता. अर्थात् हीच पद्धत स्वीकारणें असल्यास आगरकरांस दुसरे वर्तमानपत्र काढणें जरूर होतें व तें त्यांनीं काढलेंही. सुधारणांचा केवळ तर्कदृष्ट्या विचार करणें योग्य नाही हें मत आता सुधारलेल्या राष्ट्रातही ग्राह्य झालेले आहे. राजकीय बाबतीत राजसत्तेच्या अस्तित्वा-मुळे केवळ तर्कवश होऊन लिहिता येत नाही असा आगरकरासही अनुभव आलेला होता; पण हिंदू-समाज अधिकारहीन आणि पगू असल्यामुळे तशा प्रकारचा अनुभव सामाजिक बाबतीत सध्या आमच्याकडे येत नाही. तथापि तेवढ्या-मुळे प्राचीन परंपरा, देशकाल किंवा सद्यःकालीन सामाजिक परिस्थिति यास सोडून केवळ तार्किकरीत्या सामाजिक सुधारणेचा विचार करणे युक्त आहे असें सिद्ध होत नाही. समाजावर तार्किक हल्ले करणें म्हणजे केवळ पाडापाडीचें काम करणें होय. त्याने समाजाची बंधने शिथिल होतात, पण नवीं मात्र उत्पन्न होत नाहीत. मिल्हसारख्या तत्त्ववेत्त्यासही ही गोष्ट कबूल करावी लागली आहे. आणि कॉट या फ्रेंच ग्रंथकाराने जेव्हा निव्वळ आधि-भौतिक पायावर समाजरचना कशी करावी याचें विवेचन केलें, तेव्हा त्यास चातुर्वर्ण्या-सारखीच एक पद्धत पसंत पडून ती अमलांत कशी आणावी याचा त्यानें आपल्या ग्रंथात सांगोपांग विचार केला आहे. मिल्हला ही पद्धत पसंत पडली नाही; पण अशी पद्धत पाहिजे ही गोष्ट त्यानें प्रांजलपणें कबूल केली आहे व या पद्धतीचें विवेचन केल्याबद्दल त्याने कॉटचे अभिनंदन केले आहे. असो; या विषयाचें समग्र विवेचन करण्याचें हें स्थल नव्हे. सागण्याचें तात्पर्य एवढेंच कीं, 'केसरी' आणि 'सुधारक' यांचा जो मतभेद होता तो तत्त्वाचा होता; आणि 'तर्कटी,' 'माथेफिरू,' 'गांवाबाहेरचा' किंवा 'सवंगलोकप्रियतेच्यु' इ० वाक्ये या

वादांत मौजेसाठीं जरी उपयोगांत आलेलीं असलीं तरी मुख्य भेद तत्वाचा आहे ही गोष्ट खुद्द आगरकरांच्याहि पूर्ण लक्षांत आलेली होती. पण सुधारणेचीच ज्यास री ओढावयाची त्यास या गोष्टी कशा कळणार ? आगरकरांचें तर्कचक्र राजकीय, सामाजिक, शिक्षणविषयक बाबतींत ज्याप्रमाणें एकसारखेंच अप्रतिहत चालत होतें, तसें त्यांच्या सन्मानार्थ जमलेल्या परवाच्या सभेंतील फारच थोड्या लोकांचे चालत असेल. कोणी स्त्रीसुधारणेच्छु तर कोणी प्रार्थनासमाजिस्ट, कोणी विधवाविवाहेच्छु तर कोणी एकेश्वरी, आणि कोणी सरकारी नोकरांत आयुष्य घालवून थकलेले तर कोणी राष्ट्रीय जेवण करून जातिभेद मोडण्याच्या उद्योगास प्रवृत्त झालेले, अशा सरमिसळ समाजांत आगरकरांच्या केवळ सुधारणातत्वाचा जयजयकार करण्यात यावा यात कांहीं नवल नाहीं. ज्यांना बाकीच्या बाबती पाहावयाच्याच नव्हत्या त्यास सगळा आगरकर नको होता, किंबहुना तो त्यांच्या पचनींही पडला नसता. म्हणून गोपाळरावजींच्या चरित्रापैकीं आपणांस पचेल तेवढाच भाग घेऊन त्यानीं गोपाळरावांची श्राद्धतिथि त्यांच्या एकविसाव्या वर्षी साजरी करून घेतली. असो; यात एकागीपणा आहे हें खरें, पण गोपाळरावजींच्या अंगच्या गुणाचा एकवीस वर्षांनीं का होईना अशा रीतीनें मुंबईसारख्या शहरात आदरपूर्वक सन्मान व्हावा, ही अत्यंत समाधानाची व आनंदाची गोष्ट होय; आणि त्यावद्दल या सभारंभाच्या पुरस्कर्त्यांचें आम्ही मनःपूर्वक अभिनंदन करितों. आज नाहीं तर उद्या हाच उत्सव अधिक व्यापक होऊन सर्वांगगुंदर होवो व त्यामुळे पुढील पिढीस स्वार्थत्यागाचें, मानसिक धैर्याचें व चारित्र्याचें इष्ट वळण लागून तद्वारा हा उत्सव देशोन्नतीस कारण होवो, अशी आमची मनापासून इच्छा आहे.

*सर फेरोजशहा मेथा यांचा मृत्यु

निश्चयाचे बळ ! तुका म्हणे तेंचि फळ ॥

—तुकाराम.

सर फेरोजशहा मेरवानजी मेथा यांचे ता. ५ नोव्हेंबर रोजीं मुंबई येथें त्यांच्या बंगल्यांत सकाळीं सुमारे साडेअकरा वाजता देहावसान झालें, ही बातमी हिंदुस्थानभर पसरून गेल्या दहा दिवसांत चोहोंकडे जो आक्रोश झाला त्याची कल्पना करणेही अशक्य आहे. सर फेरोजशहा यांच्या वयास गेल्या आगस्ट महिन्यांत सत्तर वर्षे संपून एकाहत्तरावें वर्ष लागलें होतें, व तत्पूर्वीं कांहीं महिने जरी ते आजारी होते तरी पुण्यास आल्यावर मध्यंतरी त्यांची प्रकृती सुधारून आणखी काही वर्षे तरी देशास त्यांचा उपयोग होईल अशी आशा वाटूं लागली होती. पण दुखण्यानें पुन्हा उलट खाल्ल्यामुळे ती सर्व नाहींशी

होऊन त्यांच्या मृत्यूने मुंबई शहरावरच नव्हे तर मुंबई इलाखा व हिंदुस्थान यावरही दुःखाचा डोंगर कोसळल्यासारखे झाले आहे. आधीच आमचा हिंदुस्थान देश म्हटला म्हणजे बोलून चालून दुबळा. या देशात ब्युरॉक्रेसीच्या म्हणजे इंग्रजी अधिकारी वर्गाच्या करड्या सत्तेखाली विद्येबरोबरच स्वातंत्र्य, निर्भयता, करारीपणा वगैरे पुढाऱ्यांच्या अंगी अवश्य लागणाऱ्या सणसणीत गुणाची वाढ प्रायः फारशी होत नसते. पण सुदैवाने हे गुण सर फिरोजशहा मेथा यांच्या अंगी वास करित असल्यामुळे त्यांच्या मृत्यूने देशाचे अगणित नुकसान झाले आहे असे आज प्रत्येकास वाटत आहे. सर फेरोजशहा यांचे गेल्या ४५ वर्षांचे वर्तन, अनेक आणीबाणीच्या प्रसंगी त्यांनी काढलेले वक्तृत्वपरिपूर्ण व निर्धाराचे उद्गार, त्याचा मानी स्वभाव, वाघासारखी भव्य व उग्र मूर्ति, खडा व खणखणीत आवाज, भाषणांतील निरुत्तर आणि प्रतिपक्षास चीत करणारा निर्भय कोटिक्रम ज्याने प्रत्यक्ष अनुभविला आहे त्यांस आमच्या म्हणण्याची सत्यता ताबडतोब दिसून येईल. पण ज्यांनी या गोष्टी प्रत्यक्ष पाहिल्या नसतील—आणि मुंबई इलाख्यातील किंवा हिंदुस्थानातील सुक्षिक्षित वर्गात असे फारच थोडे लोक आढळतील— त्यास देखील मुंबईच्या या पुरुष-सिंहाचे निधन ऐकून अत्यंत विषाद वाटल्याखेरीज राहणार नाही. कारण मुंबईच्या म्युनिसिपालिटीत, कायदेकौंसिलात, युनिव्हर्सिटीत, हिंदुस्थानसरकारच्या कायदेकौंसिलात, अगर इल्बर्ट बिल, लंडरोव्हिन्यू बिल, पोलिस बिल वगैरे सार्वजनिक चळवळीचे गेल्या ४५ वर्षात जे अनेक प्रसंग आले त्या त्या वेळी सर फेरोजशहा मेथा यांनी जीं घाटसाची पण मुद्देसूद भाषणे अगर कामगिरी केली ती निदान वर्तमानपत्रद्वारा तरी सर्वास मंहीत झालेली आहे आणि या कामगिरीवरून सर फेरोजशहा यांची योग्यता, अधिकार, विद्वत्ता, निस्पृहपणा आणि हातीं घेतलेले काम तडीस नेण्याबद्दलचा निर्धार सर्वास कळून चुकला असून त्यांच्याबद्दल सर्व लोकांची अढळ पूज्यबुद्धि झालेली आहे.

थोडक्यांत सांगावयाचे असल्यास आमच्या पुढाऱ्यांपैकी फेरोजशहा हे एक लोकोत्तर मानी पुढारी होते, आणि गेल्या ४५ वर्षांत त्याचा हा मानीपणा एकसारखा कसोटीस लागला असल्यामुळे देशातील इतर पुढाऱ्यांवरही त्यांची छाप—किंबहुना दराराही म्हणण्यास हरकत नाही—बसलेली होती. जातीने हे पारशी होते, आणि पारशी लोक म्हटले म्हणजे प्रायः फारच झाले तर आपल्या जातीच्या उत्कर्षाच्या उद्योगांतच गढलेले असावयाचे. त्याची लोकसंख्या थोडी असली तरी विद्येचे आणि पैशाचे बल त्या जातींत पुष्कळ आहे. पण स्वदेश सोडावयास लागल्यावर ज्या हिंदुस्थानाने पारशी लोकांस आश्रय दिला त्या देशाची भरभराट किंवा उत्कर्ष व्हावा म्हणून अश्रांत खटपट करणारे पारशी लोकात दादाभाई नवरोजीसारखे फारच थोडे गृहस्थ निघतात, आणि या थोड्यापैकी सर फेरोजशहा हे एक होते. तथापि पारशी जातीच्या उत्कर्षाकडे ते अगदीच लक्ष देत नसत असेही नाही. एकंदर देशाच्या उत्कर्षात हिंदुस्थाना-

तल निग्निराळ्या जातींच्या उत्कर्षाचा अंतर्भाव होतोच, नाही असें नाही. पण एकाद्या विशिष्ट किंवा मर्यादित वर्गाच्या कल्याणाकरिता आपला सर्व वेळ घालविण्याभेक्षा सर्व देशाच्या कल्याणाला झटावे असें जे उज्ज्वल देशभक्तीचे लक्षण ते सर फेरोजशहा याच्या अंगात पूर्णपणे बाणलेलें असल्यामुळे त्याचें कोणतेही सार्वजनिक भाषण अगर कृत्य घेतल्यास त्यात या उदात्त देशभक्तीच्या तत्त्वाची झांक आढळून येत असे. फेरोजशहा हे उत्तम विद्वान्, इतिहासज्ञ, कायदेपंडित आणि धोरणी होते याबद्दल तिळमात्र शंका नाही; परंतु हे काहीं त्याच्या अंगचे विशिष्ट गुण होते असे म्हणतां येत नाही. कै. तेलंग किंवा मरहूम जस्टिस बद्रुद्दिन वगैरे फेरोजशहाप्रमाणेंच विद्वान् कायदेपंडित व पाश्चात्य विद्यालंकृत थोर माणसें मुंबईत झालीं नाहीत असें नाही. तसेंच कै. न्या. रानडे याच्यासारखीं दिवसरात्र देशहिताच्या चिंतनांत आपला वेळ घालविणारीं माणसेही आमच्यात झालेलीं आहेत, आणि ज्यांनीं आपलें तनमनघन देशास सर्वस्वी वाहिलेलें आहे असें आपले प. पू. दादाभाई नवरोजी अद्यापही आमच्या सुदैवाने विद्यमान आहेत. सरफेरोजशहा मेथा यांची परीक्षा केवळ याच गुणावरून जर करावयाची असेल तर त्याच्या ठिकाणीं लोकांची जी एक विशेष प्रकारची आदरबुद्धि होती तिची उपपत्ति लागणार नाही. फेरोजशहाचें नाव उच्चारल्याबरोबर जी भावना लोकांच्या मनांत उत्पन्न होते ती काहीं नुसत्या विद्वत्तेची, उद्योगाची किंवा सदैव कळकळीचीही नव्हे. पुढारी मनुष्याच्या अंगात हे गुण पाहिजेत हे खरे आहे. पण ज्याला नित्य व्यवहारात लोकांचें नायकत्व पत्करून त्यांच्यातर्फे काहीं कामगिरी बजावावयाची आहे—आणि तीही केवळ गोडीगुलाबीनेच नव्हे तर प्रतिपक्षावर आपली छाप ठेवून बजावावयाची आहे त्याला वरील बुद्धिगम्य गुणाखेरीज धैर्यादि मानसिक गुणांचीही अपेक्षा असते. अशा प्रकारचे गुण मागच्या पिढींत कै. मंडलीक यांच्या अंगी होते. आणि तेच गुण काहीं बाबतींत उत्कर्षानेही सर फेरोजशहा यांच्या अंगी वसत होते हें निर्विवाद आहे. किंबहुना ज्या ठिकाणीं आपली छाप पडून वर्चस्व राहाणार नाही तेथे हजर राहाण्याचीही अपेक्षा फेरोजशहा ठेवीत नसत ! इतकेंच नव्हे तर आपल्या चेहेऱ्याची उग्रताही ते मोठ्या काळजीनें कायम ठेवीत. सर फेरोजशहा यास मुंबईचा पंडित असे न म्हणतां मुंबईचा वाघ किंवा सिंह असे जे नाव मिळाले होते याचे कारण हेंच होय, व त्याचमुळे फेरोजशहांनीं एखादी सार्वजनिक गोष्ट हातात घेतली म्हणजे ती सिद्धीस नेण्यास जें धैर्य किंवा दीर्घ परिश्रम लागतात त्यात काही कमी होणार नाही असा सर्व लोकांस भरंवसा वाटत असे.

सर्वच प्रकारचे सार्वजनिक प्रश्न फेरोजशहा हातांत घेत असत असें नाही. बॅरिस्टरीचा भरभराटीस आलेला घंदा संभाळून सर्वच सार्वजनिक प्रश्नांत लक्ष घालणेही त्यास शक्य नव्हतें. पण एखाद्या प्रश्नाचा नीट विचार करून त्याचा अमुक रीतीनें पुस्कार केला पाहिजे असे एकदा सर फेरोजशहा मेथा यांनीं ठरविलें

म्हणजे मग तत्सिद्धयर्थे लागणारा प्रयत्न अगर युक्तिवाद करण्यांत प्रमादानेंही यत्किंचित डळमळीतपणा फेरोजशहांच्या वर्तनांत दिसून येत नसे; आणि त्यांच्या नायकत्वाबद्दल हिंदुस्थानांतील सर्व भागांत त्याची जी कीर्ति झाली आहे त्यांतील खरे बीजही हेच होय. प्रतिपक्षाचे स्वरूप विशेषतः इंग्रजी अधिकारी वर्गाच्या अरेरावी वर्तनाचें स्वरूप त्यांच्या पूर्ण लक्षात येऊन हें स्वरूप केव्हा ना केव्हां तरी पालटलें पाहिजे असें त्यांचें ठाम मत झालें होतें. परंतु एखादा विशिष्ट सार्वजनिक प्रश्न जेव्हा उपस्थित होईल तेव्हा या मोठ्या प्रश्नाकडे लक्ष न देतां तत्कालीन सिद्ध होण्याजोगी गोष्ट कोणती हें लक्षात आणूनच तत्सिद्धयर्थे लागणाऱ्या प्रयत्नाची ते दिशा ठरवीत; आणि ही त्याची दिशा ठरली म्हणजे मग त्या दिशेपासून त्यास परावृत्त करण्यास प्रतिपक्षाने कितीही प्रयत्न केला तरी सर फेरोजशहा त्याची पर्वा ठेवीत नसत, किंवा कायद्याच्या अगर नियमांच्या आपल्या अपूर्व ज्ञानानें तो हाणून पाडण्यासाठी यत्किंचितही डगमगत नसत. कायदे-कौन्सिलांत, म्युनिसिपालिटींत अगर युनिव्हर्सिटींत वर निर्दिष्ट केलेल्या मर्यादेतही त्यांच्या मनाप्रमाणे सदासर्वदा गोष्टी घडत असत असे नाही. तथापि अशा प्रसंगीं त्यांच्या प्रतिपक्षासही त्यांच्या निर्भयतेचें कौतुक वाटे, आणि त्यांच्या उद्देशाबद्दल शंका येत नसे. किंबहुना त्याची राहणीच अशी होती की, त्यांनीं कोणत्याही सरकारी कृत्यास विरोध केला तरीही तो काहीं भलत्या उद्देशानें केला असेल असें गोऱ्या अधिकाऱ्यासही वाटत नसे. सर फेरोजशहा यांच्याबद्दची अधिकाऱ्यांची ही आदरबुद्धि लॉर्ड सिडन हॅम यांच्या कारकीर्दीत कमी झाली होती, आणि तत्पूर्वी मुंबई म्युनिसिपालिटीत याचे एकमुखी वर्चस्व कमी व्हावें म्हणूनही त्यांच्या निवडणुकीच्या वेळीं मुंबईचे अकौंटंट जनरल मि. हॅरिसन यानीं मनस्वी खटपट केली होती. फेरोजशहा झाले म्हणून काय झालें? म्युनिसिपालिटीत त्यांच्याच तंत्राने सर्व व्यवहार चालावा ही गोष्ट अधिकारी वर्गास कशी खपणार? परंतु या चळवळीस अखेर यश आलें नाही याची वाचकास आठवण असेलच. अधिकाऱ्याविरुद्ध चळवळ करणारा मनुष्य मोठा धोरणी पारशी विद्वान् असला तरी देखील तो त्यांच्या डोळ्यात सलतो हें यावरून व्यक्त होतें. तथापि एकंदरीत पाहिलें तर प्रथम सी. आय. ई. व नंतर १९०४ सालीं सर हाकिताब मिळून हल्लींच्या गव्हर्नरच्या कारकीर्दीत अखेरीस फेरोजशहा यांस युनिव्हर्सिटीचे व्हाईस चॅन्सेलरही निवण्यात आलें. यावरून अंमलदाराचा आदर कायम ठेवून लोकांच्या हक्कासाठी भाडण्याचा जो मार्ग फेरोजशहा यानीं आपणासाठी आखला होता त्यात त्यास बरेच यश आले असें म्हणण्यास हरकत नाही. हाच मार्ग सर्वास अशा तऱ्हेने साधेल असें काहीं म्हणता येत नाही, आणि कायदेकौन्सिलातल्या किंवा युनिव्हर्सिटीच्या किंवा म्युनिसिपालिटीच्या व्यवहाराखेरीज इतरत्र त्यापासून कितपत फायदा होईल याबद्दलही मतभेद असण्याचा संभव आहे; पण तो प्रस्तुतचा विषय नाही. ज्या गुणांमुळे फेरोजशहा यांना लोकनायकत्व प्राप्त

झाले व ज्या गुणांसाठी त्यांची विशेषतः ख्याती आहे तो गुण म्हटला म्हणजे त्यांच्या विद्वत्तेबरोबरच त्यांच्या अर्गा असणारा निश्चयी व धीट स्वभाव आणि निस्पृहपणा हा होय. फेरोजशहानीं एखादी गाष्ट मनावर घेतली म्हणजे त्यांत अमक्या तमक्याची भीड अगर पर्वा ठेवतील हे कोणाच्या स्वप्नांही येत नसे, त्यांच्या गुणाची जाणीव सरकारी अधिकारी वर्गासही पूर्णपणे झालेली होती. स फेरोजशहा यांच्या अर्गां हा गुण इतका बाणलेला होता कीं, एखाद्या प्रसंग त्याचा थोडा अतिरेकही होई. पण असे घडणे आमच्या मते अगदीं स्वाभाविक आहे, आणि आमच्या लोकांत या गुणाची किती कमतरता आहे हे लक्षांत आणत म्हणजे अशा प्रसंगाची गणनाही आमच्या मते गुणातच करावी लागेल. कोणत्याही बाबतींत सर फेरोजशहा यांच्या मताला जो मान मिळे त्याचे कारणही त्यांच्या अंगचा वरील गुणच होता. एखादा विचार फिरोजशहास मान्य झाला म्हणजे तो व्यवहारांत ताबडतोब तडीस नेण्याची शक्यता त्यांच्याठाई असावी—निदान धोरण स्वीकारण्यास कांहीं अडचण पडणार नाही—असा इतरांचा समज होई आणि पुष्कळ अंशी तो सकारण असे हे वर जें सर फेरोजशहा यांच्या धोरणाचे वर्तनाचे बीज सांगितले आहे त्यावरून दिसून येईल.

सर फिरोजशहा हे काँग्रेस सभेचे एकदा सन १८९० साली अध्यक्ष असून मुंबईस काँग्रेस भरली त्या दोनही वेळीं रिसेप्शन कमिटीचे चेअरमन होते; व मुंबई प्रांतिकसभेचे अध्यक्षस्थानही त्यांनीं १८९२ सालीं आलंकृत केलेलें होतें पण काँग्रेसशी अगर प्रांतिक परिषदेशी त्यांचा संबंध एवढ्या पुरताच होता अनाहीं. या दोनही संस्थेचा कार्यक्रम व धोरण ठरविण्यात मुंबईच्या काँग्रेस कमिटीस जें प्रमुखत्व आलेलें होतें त्याचे कारण सर फेरोजशहा यांचें धोरण होय. मध्यतरी म्हणजे १९०६ सालीं कलकत्त्यास काँग्रेस भरली तेव्हां दादाभा नवरोजी यांच्या अध्यक्षतेखालीं काँग्रेसचे ध्येय थोडे बदलल्यासारखें झालें होतें पण सर फेरोजशहाकडून पुनः ते त्यांच्या मताप्रमाणे नीट बसविण्यात कां आले याची हकीकत येथे सागत बसण्याची जरूर नाही. वार्डेट एवढेंच वाट कीं, इल्लीं बदलेल्या परिस्थितीत पुन्हा त्याच विषयाचा वाद उपस्थित झाले असता फेरोजशहा यांच्या पोक्त अनुभविक सल्ल्याचा फायदा मिळणे दुर्दैव कालामुळे आम्हांस अशक्य झालें आहे. साम्राज्याच्या छत्राखालीं हिंदुस्थान वासी लोकांनी आपले तारूं स्वराज्यबंदरास कसे पोचवावे याचा विचार सध्यांच्या परिस्थितींत विशेष जोरानें उत्पन्न झाला असून तदर्थ प्रयत्न केल्यास सर्वशानें नाही तरी बऱ्याच अशानें सिद्धीस जाईल अशीही सुचिन्हे दिसू लागत आहेत. सारांश, ही वेळ हिंदुस्थानच्या राजकीय परिस्थितींत अत्यंत महत्त्वाचा आहे. अशा वेळीं जर फेरोजशहासारखा कसलेला व निर्भय असा आमचा पुढा काळानें ओढून न्यावा हे खरोखरच देशाचें मोठें दुर्दैव होय, पण याबद्दल आणांस किती जरी वार्डेट वाटत असलें तरी सध्याची वेळच अशी आहे कीं, आमचें

पुढान्यांनीं धीर न सोडता या गोष्टीचा लवकर विचार करण्यास लागलें पाहिजे व त्याप्रमाणें ते लागतील अशी आम्हांस आशा आहे. किंबहुना हेंच फेरोजशहा यांचें खरें स्मारक होय असें आम्ही समजतो. ज्या नेटानें, धैर्यानें, करारीपणानें किंवा ज्या निर्भय उद्योगानें व जोरदार वक्तृत्वानें सर फेरोजशहा यांनीं ४५ वर्षे देशकार्य साधिलें त्याच गुणाची देशकार्यासाठीं आता तितकीच किंवा त्याहूनही अधिक जरूर राहणार हे निश्चित होय; करिता सदर फेरोजशहासारखा करारी व मानी पुढारी नाहींसा झाल्याबद्दल नुसता शोक न करता ही परंपरा पुढे कायम ठेवून इतर पुढारीही कालस्थितीस अनुसरून हे पवित्र देशकार्य निर्धास्तपणे पार पाडण्याच्या उद्योगास लागोत, आणि सर फेरोजशहा यास त्याच्या सत्कृत्यासाठीं त्याच्या धर्माप्रमाणे सद्गती प्राप्त होवो, अशी परमेश्वराजवळ प्रार्थना करून हा दुःख-वध्याचा लेख येथें संपवितो.

*स्वराज्य, ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर

मि. मॉटेग्यु हे स्वराज्यविषयक चर्चा करण्याकरिता हिदुस्थानात येणार असे जाहीर झाल्यापासून स्वराज्याच्या चळवळीस विरोध करणाऱ्या आमच्या काही ब्राह्मणेतर बंधूंनी वरीच उच्चल खाल्ली आहे, व ब्राह्मणजातीसंबंधाने आपल्या मनात उच्चंबळत असलेली खळमळ ओकण्यास अवेळी सुरुवात केली आहे. तथापि त्यातल्या त्यात आनदाची गोष्ट इतकीच की, स्वतः ब्राह्मणेतर असून स्वराज्याच्या चळवळीस विरुद्ध नसणारे असेही पुष्कळ प्रतिष्ठित लोक वेळीच पुढे येऊन वरील आत्मघातकी प्रकारास आळा घालूं लागले आहेत. यामुळे या अनिष्ट वादास भलतेच स्वरूप न येता, अखेर समुद्रातील मोठ्या माशाने लहान माशा खाऊन टाकावा त्याप्रमाणे ब्राह्मणेतरातला स्वराज्यास अनुकूल असणारा मोठा पक्ष स्वराज्यास विरोध करणाऱ्या लहान पक्षास खाऊन टाकील अशी आशा वाटूं लागली आहे. ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर हा विरोध मद्रास इलाख्यांत जितका दृढमूल आहे तितका तो इतर प्रांतात नाही. मुंबई इलाख्यात तो अगदीच नाही असे म्हणवत नाही, व स्वतःची शिंगे मोडून वासरात शिरणारे कित्येक सुशिक्षित ब्राह्मणेतर गृहस्थ या नसत्या भाडणावर फुंकर घालघालून त्याची उष्णता कृत्रिम रीतीनें वाढवूं पाहात आहेत. तथापि एका हाताने कितोही प्रयत्न केला तरी त्याला टाळी वाजवितां येणें शक्य नाही; व या आगंतुक वादात आपल्या मनाची समता बिलकुल ढळूं न देण्याचा ब्राह्मणवर्गीचा पुरा निश्चय आहे. यामुळे हा कलहाग्नि प्रदीप्त होईल अशी आम्हांस बिलकूल भीति नाही. तथापि हा वाद निघालाच आहे म्हणून या बाबतींत ब्राह्मण वर्गासंबंधाने कोणाचा गैरसमज राहूं नये येवढ्याकरितांच या विषयावर सामान्यतः दोन शब्द लिहिण्याचें आम्हीं आज योजिलें आहे.

प्रस्तुतच्या वादाचे प्रथमतःच दोन भाग आपोआप पडतात. पहिल्या असा की, ब्राह्मणेतरांस खरोखरच स्वराज्य नको की काय ? व दुसरा असा की, त्यांनाही जर स्वराज्य हवे तर ते हरकत तरी कोणत्या गोष्टीला घेतात ? पैकीं पहिल्या प्रश्नासंबंधानें आम्हांस हें नमूद करण्यास आनंद वाटतो की, मद्रासकडे काय किंवा इकडे काय, ब्राह्मणेतराकडून आजवर प्रकट झालेल्या विचारांमध्ये मुळांत स्वराज्याच्या मागणीलाच पूर्ण विरोध असा थोडाच दिसून येतो, व त्याचें कारणही उघडच आहे. ब्राह्मणेतरांच्यातर्फें म्हणून जे गृहस्थ आज वादास प्रवृत्त झाले आहेत ते स्वतः सुशिक्षितच असल्यामुळें हिंदुस्थानातील हल्लींची एकतंत्री राज्यपद्धति त्यांना झाली तरी मनापासून आवडणें शक्यच नाही. इंग्रज लोकांनी दिलेल्या शिक्षणाचा गुणच स्वातंत्र्यप्रियता हा असल्यामुळे सुशिक्षित लोक ब्राह्मणेतर असेल तरी त्यांनाही आपण आपल्याच देशात नादान व खुरटलेलें राहावें आणि आमला सर्व कारभार परक्यांनीं आपली संमति न घेता करावा ही गोष्ट कशी आवडणार ? ब्राह्मणवर्गाच्या मानीव सामाजिक जुलमापासून का होईना पण स्वतः होण्याच्या बुद्धीत जें स्वाभिमानाचें बीज आहे तें राजकीय विचारांच्या भूर्मीतही फलद्रूप झालेंच पाहिजे. आपणास मोठ्या हुद्द्याच्या जागा मिळाल्या व ब्रिटिश ब्युरोक्रसीनें चालविलेल्या राज्यकारभारावर आपल्यातील लोकमताचें दडपण असावें अशी महत्त्वाकांक्षा ब्राह्मणेतर झाला म्हणून त्यांच्या मनात उद्भवल्याखेरीज कशी राहणार ? ब्राह्मणवर्गाचा पाडाव व्हावा अशी ब्राह्मणेतराना इच्छा होणें स्वाभाविक आहे असें घेऊन चालले, तरी केवळ ब्राह्मणाना अपशकून करण्याकरिता आपल्या राजकीय महत्त्वाकांक्षेचें नाक कापून घेण्यासही ब्राह्मणेतर कबूल होतील इतका अधमपणा आमच्या ब्राह्मणेतर बंधूमध्ये वसत असेल, त्यांच्या मनुष्यत्वाची इतकी हानि झाली असेल, असें मानण्यास आमचे मनच घेत नाहीं. अर्थात् ब्राह्मणवर्ग क्षणभर विचारातून अजिबात वगळला आणि केवळ ब्राह्मणेतर व ब्रिटिश ब्युरोक्रसी यांच्या पुरतेंच पाहिलें तर स्वराज्य हवें असेंच ब्राह्मणेतराना वाटलें पाहिजे, व तसें त्यांना आज वाटत आहेही. हल्लींच्या मुख्य वादात ब्राह्मण विरुद्ध ब्राह्मणेतर या विशिष्ट उपवादाचीं जीं जाळीं दुर्दैवानें पसरलीं आहेत, तीं या एकंदर प्रश्नाचा खोल विचार करणाऱ्या वाचकांनै बाजूस सारून या खऱ्या मुद्द्याचा लक्ष्यवेध मार्भिकपणानें करण्यास त्यांनै शिकलें पाहिजे.

अशा रीतीनें पहिल्या प्रश्नाचें नास्तिकपक्षां उत्तर दिल्यास वादाचें क्षेत्र आपोआप बरेंच कमी होतें. आम्हांस स्वराज्य हवें पण त्याची कोणतीही योजना निश्चित होतांना ' ब्राह्मणेतरांच्या हक्काचे योग्य संरक्षण झालें पाहिजे ' असा या वादांतील दुसरा मुद्दा आहे या मुद्द्यासंबंधानें आम्ही एकदमच असें सांगून मोकळे होतो की, ब्राह्मणेतरांच्या हक्काचें संरक्षण करण्याची कोणतीही सूचना पुढें आल्यास ब्राह्मण लोक तिचा विचार नुसत्या सहानुभूतीनेंच नव्हे तर थोड्या-बहुत दिलदारीनेंही करण्यास तयार आहेत. कै. ना गोखले यांनीं आपल्या

भाषणांतून व लेखांतून आणि मृत्युसमयीं करून ठेविलेल्या स्वराज्ययोजनेंतून ब्राह्मणेतरवर्गांच्या हक्कांचें संरक्षण करणें योग्य आहे असें ठिकठिकाणीं प्रतिपादिलें असल्याचें प्रसिद्धच आहे. आणि लो. टिळकांनींही लखनौ येथील राष्ट्रीय सभेच्या प्रसंगीं मुसलमानबंधूंच्या महत्त्वाकाक्षेसंबंधानें जे उद्गार काढले ते लक्षात घेतले म्हणजे स्वराज्याच्या बाबतींत ब्राह्मणेतरांना किती प्रेमळपणानें वागविण्यास ते तयार आहेत हें दिसून येतें. “ कायदेकौन्सिलात उद्या एक वेळ सगळेच ब्राह्मणेतर आले तरी मला चालतील, पण तेथें लोकानियुक्त हिंदुलोकाचें प्राबल्य असलें पाहिजे, परक्याचें किंवा सरकारनियुक्ताचे प्राबल्य नसलें पाहिजे ” हे त्यांचे शब्द कोणाही ब्राह्मणेतरानें विसरूं नये. हे शब्द अगदीं शब्दशः कोणी घेणार नाही. ते तात्पर्यांथानेंच घेतले पाहिजेत हें कोणाही समजस मनुष्यास सांगण्याचें कारण नाही. पण या अतिशयोक्तीच्या मुळाशी खऱ्या राष्ट्रीय भावनेचें बीज आहे हें कोणासही नाकबूल करितां यावयाचें नाही. हिंदुस्थानांत ब्राह्मणेतरांतील सर्वांत मोठा वर्ग म्हटला म्हणजे तो मुसलमानांचा. पण या वर्गासंबंधानें सर्वसंमत अशी तडजोड लखनौस होऊन ती राष्ट्रीय सभेच्या स्वराज्ययोजनेंत नमूदही झाली आहे हे ज्यास माहीत आहे, तो हिंदूंचें मुसलमानांच्या हक्कसंरक्षणाविषयीं खरें धोरण काय आहे याविषयीं साशंक राहूं शकणार नाही; व मुसलमानासंबंधानें सर्व हिंदूंचे जें धोरण तेच तत्त्वतः ब्राह्मणांचें ब्राह्मणेतरांविषयींही असणार हें उघड आहे. त्यांत बदल होण्याचे काय कारण ? पण या बाबतींत आम्ही मुख्य हरकत घेतों ती येवढ्यापुरतीच कीं, प्रत्येक जातीनें आपापलें हित दक्षतेनें पाहणे व त्याकरिता योग्य ती चळवळ करणें जरूर असलें तरी अखिल हिंदी जनतेचा ‘ ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर ’ असा स्थूल विभाग करून जें केवळ ब्राह्मणद्वेषाचे अवास्तविक स्वरूप या वादास देण्यांत येत आहे तें दुष्ट बुद्धीचें आहे. कायदेकौन्सिलांतील सर्व जागा किंवा बहुतेक जागा आपणांसच असाव्या असा हक्क ब्राह्मणांनीं पूर्वीं केव्हाही सांगितलेला नाही व पुढेंही सांगू इच्छित नाहीत. त्यांच्या वाट्याला प्रत्यक्ष व्यवहारांत लोकसंख्येच्या प्रमाणाबाहेर जागा पडत असल्या तर तें त्यांच्या जातिमूलक आग्रहाचें फळ नसून त्यांच्या शिक्षणाचें फळ आहे ही गोष्ट नाकबूल करणें म्हणजे निवळ आडरानांत शिरणें होय. ब्राह्मणांनीं पूर्वीं इतर जातींना शिक्षणाच्या बाबतींत मुद्दाम मागें टाकलें किंवा दडपून ठेवलें हा आरोप सर्वस्वी खोटा आहे. चातुर्वर्ण्याची तार्त्विक पद्धति सर्वस्वी प्रत्यक्ष अमलांत पूर्वीं केव्हां तरी होती किंवा नाही याविषयीं शंकाच आहे; व ती असली आणि अध्यापन, याजन व प्रतिग्रह हे अधिकार ब्राह्मणांप्रमाणेंच इतर वर्णाना नसले तरी त्यांची व्याप्ति फारच संकुचित होती. व्यावहारिक शिक्षण व त्याला लागणारी साक्षरता हीं क्षत्रिय व वैश्य यांनाच काय पण शूद्रांनाही खुलीं होती. पुराण, इतिहास वगैरे वाचण्याचा त्यांचा अधिकार कोणी कधींही काढून घेतला नव्हता. तात्पर्य,

वेदाध्यापनाचा तेवढा अधिकार केवळ ब्राह्मणांसच असला तरी ज्याला इल्लीं आम्ही शिक्षण म्हणतो तें कोणत्याही वर्णांला सुलभ होतें. म्हणून ब्राह्मणांनीं ब्राह्मणेतरांना शिक्षणरहित ठेवले या म्हणण्यास कांहींच आधार नाही. असें असतां शिक्षणाकडे इतर वर्णांनीं द्यावें तितकें लक्ष दिलें नाहीं. याचें खरें कारण त्यांनीं आपापल्या घंद्याकडे विशेष लक्ष दिलें व शिक्षणाकडे दुर्लक्ष केलें; कारण नुसत्या पुस्तकी व कारकुनी शिक्षणाला त्या वेळीं मान मुळींच नव्हता हेंच होय. आपापल्या घंद्याकडे लक्ष देण्यापासून इतर वर्णांचा आर्थिकदृष्ट्या फार फायदा झाला, व ब्राह्मण म्हटले कीं ते निर्धन व ब्राह्मणेतार म्हटले कीं ते सधन असा जो सामान्य भेद दिसतो तो त्यामुळेंच उत्पन्न झाला आहे. पण या स्थितीस अनुलक्षून “आम्हाला द्रव्योत्पादक घंदा इतर वर्णांनीं करूं दिला नाहीं” असे जर ब्राह्मण म्हणतील तर ती जशी त्यांची चूक होईल तशीच “आम्हाला ब्राह्मणांनीं सुशिक्षित होऊं दिलें नाहीं” असे ब्राह्मणेतरांनीं म्हणणें हीही चूकच आहे. एकानें द्रव्योत्पादक शिक्षण व द्रव्य पसत केले, दुसऱ्यानें पुस्तकी विद्या व निर्धनत्व पसत केलें, अशी केवळ आपखुषीनें पूर्वी वाटणी झाली; याबद्दल परस्पर दोष कोणासच लावतां येणार नाहीं. बरे, पूर्वी काय झालें असेल तें असे, पण आधुनिक काळात तरी ही स्थिति पालटूं लागलीच आहे कीं नाहीं? महाराष्ट्रांतील ज्ञानेश्वरादि ब्राह्मण साधु-संतानीं संस्कृत विद्येचें स्तोम कमी करून केवळ जनते-विषयींच्या प्रीतीमुळे मराठीमध्ये वेदविद्या आणण्याचा प्रयत्न केला, हें विसरता कामा नये. आणि आता गेल्या शंभर वर्षांत इंग्रजी अम्मल झाल्या पासून तर विद्या व शिक्षण हें वाटेल त्याला घेण्यास सुलभ झालें असून ब्राह्मणलोक ब्राह्मणेतराना ती मिळण्यास हरकत करीत नाहींत, इतकेंच नव्हे, तर ब्राह्मणेतराना सुशिक्षित करण्यास ब्राह्मण पुढारीपणाने प्रयत्न करीत आहेत. पण अजूनही पुस्तकी विद्या मिळविण्याचे कामीं ब्राह्मणेतार उदासीन असून त्यांच्यावर विद्या मिळविण्याच्या कामी साक्ति व्हावी असें म्हणण्यांत ब्राह्मणच पुढारी आहेत. तात्पर्य तुलनात्मकदृष्ट्या ब्राह्मणेतार अशिक्षित असल्यास त्याबद्दल ब्राह्मणांच्या नांवांनें कोणीही खडे फोडण्याचें खरें कारण नाहीं; व आज सरकारदरबारात लोकसंख्येच्या मानांनें ब्राह्मण अधिक असले तर त्याबद्दल त्यांना दोष लावण्याचेंही कारण नाहीं. राज्यकारभाराला सुशिक्षण अवश्य असतें, व तें शिक्षण संपादन केल्यामुळे, स्वतः सरकार मनांतून ब्राह्मणांवर रूढ असताही, सार्वजनिक कामकाजात केवळ ब्राह्मणांना लोकसंख्येच्या प्रमाणाबाहेर जागा त्यांना द्याव्या लागल्या; या गोष्टीला सरकारचा जसा नाइलाज झाला तसाच ब्राह्मणांचाही नाइलाज आहे. कौन्सिलच्या निवडणुकांत ब्राह्मण येतात ते काय ब्राह्मणच एकजात मतदार आहेत म्हणून? कायदे कौन्सिलात गतवर्षीं सरकारतर्फे हिंदी लोकांच्या नेमणुका झाल्या त्यांत ना. कामत, ना. साठे, ना. नाईक, ना. बळूभाई सामळदास इत्यादि ब्राह्मणांच्या नेम-

णुका सरकारनेच केल्या, इतकेच नव्हे तर पूर्वी तीन वर्षे त्यांनी काम केले असतानाही त्यानाच फिरून तीन वर्षे नेमले, हे काय सरकार ब्राह्मण लोकांचे पक्षपाती होते म्हणून ? इतर जातीचे पुढारी नेमण्यास त्यांचे हात कोणी धरले होते ? याचा अर्थच हा की, सरकार हे ब्राह्मणेतरांचे कष्टे कैवारी असतांही त्याना कामकाजाचे महत्त्व लक्षांत घेऊन सुशिक्षिताना नाइलाजाने हातीं धरावे लागते. ब्राह्मणेतरात सुशिक्षित मिळतील तर सरकार त्यानाच आधी नेमील. पण शिक्षण-विषयक सर्व सवलती समान असताही केवळ धंद्याच्या आवडीने ब्राह्मणेतर हे अद्यापि पुस्तकी शिक्षणाकडे वळावे तितके वळत नाहीत. त्याला कोणी काय करावे ?

ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर यांच्यातील शिक्षणविषयक असमता कालांतराने निघून जाईलच. पण तोंपर्यंतही समाजांत ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर असा द्वेषमूलक भेद कोणी न करिता सुशिक्षित व अशिक्षित असाच भेद केला पाहिजे. “ आम्ही अशिक्षित असलों तरी केवळ लोकसंख्येच्या प्रमाणानेच आम्हांला सर्व अधिकाराच्या जागा मिळाल्या पाहिजेत ” हे ब्राह्मणेतरांचे म्हणणे जात्याभिमानाला शोभणारे असले तरी व्यवहारबुद्धीला शोभणारे नाही. आता केवळ मुसलमान लोकांना ठराविक प्रमाणाने जागा ठेवण्यास हिंदूंनी संमति दिली त्याचीच पुढची पायरी म्हणून हिंदूंनील पोटजातींनाही यथाप्रमाण जागा राखून ठेवण्याविषयी ब्राह्मणेतरांचा आग्रहच असेल तर त्यालाही आम्ही हरकत घेणार नाही. मात्र सर्वच जातींचे सारखेच समाधान होईल अशी योजना कोणास सुचवितां आल्यास त्याने ती सुचवावी. कारण शिक्षण व द्रव्यसंपन्नता म्हणजे सरकारदेणे देण्याची पात्रता ही दोन लक्षणें अमुक एक इयत्तेपर्यंत अंगी असणारास, मग तो कोणत्याही जातीचा असो, निवडणुकींत मत असलेच पाहिजे हे म्हणणे वेगळे, आणि फक्त जातवार लोकसंख्येच्या प्रमाणाने प्रत्येक जातीस अमुक जागा दिल्या जाव्या, मग त्याचे शिक्षण किंवा सरकारदेणे देण्याची पात्रता कितीही कमी असली तरी चालेल, हे म्हणणे वेगळे. मतदार होणे हे शिक्षण व द्रव्यसंपन्नता याजवर अवलंबून ठेविल्यास जातीचा प्रश्न सहजच सुटतो; पण केवळ जातीकरितां म्हणून जातीला अमुक इतक्या जागा मिळाल्या पाहिजेत असे म्हणू लागल्यास अमुक एक जातींत शिक्षण कमी आहे किंवा ती जात रानटी आहे असल्या सबबीवर तिला वगळतां येणार नाही. सुशिक्षित हे जर अर्धशिक्षितांचे हित रक्षण्यास नालायक तर अर्धशिक्षित हे तरी अशिक्षितांचे हित रक्षण्यास लायक कसे ? ही विचारसरणी मान्य ठरल्यास खानेसुमारीच्या आंकड्यांच्या आधारे अनेक गमतीचे चमत्कार कागदावर मांडतां येतील. पण तसे करण्यास आज आम्हास स्थलावकाश नाही व हा वाद हास्यास्पदतेच्या थरावर नेण्याची आमची इच्छा नाही. आम्हांस आज इतकेच सांगावयाचे आहे की, जातवार निवडणुकांचे तत्त्व राष्ट्रीयदृष्ट्या आम्हांस संमत नसले,

तरी ज्या कोणास ही हौस पुरवून ध्यावयाची असेल त्यानें ती खुशाल पुरवून ध्यावी, आम्ही त्याच्या आड येऊं इच्छित नाही. मि. मॉटेग्यूसाहेब हिंदुस्थानांत स्वतः येत आहेत व नुकत्याच प्रसिद्ध झालेल्या तारेवरून इकडे खुला दरवार ठेवण्याचा त्यांचा इरादा आहे. तेव्हां प्रत्येक जातीनें आपापले हक्क त्यांच्यापुढे आपापल्या खास प्रतिनिधींच्या द्वारे ठेवून आपला स्वतःचा मतदारसंघ बनवून ध्यावा. ब्राह्मण लोकांना मात्र या तत्त्वाचा अंगिकार करण्याची इच्छा नाही. आम्ही ब्राह्मण म्हणून आम्हाला इतके प्रतिनिधि द्या असें ते कधीही मागणार नाहीत, व तसे दिले तरी ते घेणार नाहीत. मग सर्व कायदेकौन्सिलांत एकही ब्राह्मण न आला तरी चालेल. आहेत—आमचे इतर जातवाले आहेत—ते आम्हां ब्राह्मणांच्या हक्कांचें रक्षण करितील अशी आमची पक्की खात्री आहे ! सरकार ब्राह्मणांवर हल्लीं रुष्ट आहे हें प्रसिद्धच आहे. तेव्हां त्रिचाऱ्या ब्राह्मणांनीं ब्राह्मणेश्वरांच्या पाठीशीं न पडावें तर काय करावें ? ' नावेवर गाडा, गाड्यावर नाव ' अशी जगाची राहाटीच आहे ! ब्राह्मणेश्वर सर्व जातींनीं तरी संतुष्ट राहावें म्हणजे झालें.

तात्पर्य, ब्राह्मणेश्वर जातींच्या बांधवांना आम्हांस एवढीच विनंती करावयाची आहे कीं, स्वराज्याच्या मागणीला त्यांनीं कोणत्याही सवबीवर आज हरकत करूं नये, स्वराज्याचे अधिकार आपणास कोणते व कसे व का पाहिजेत हें निर्भयपणें सांगावें, ब्राह्मणांना क्षणभर बाजूस वगळून, किंबहुना ते आज अस्तित्वांत नाहीत असेंही वाटेल तर घटकामर समजून, सर्व ब्राह्मणेश्वर जाति वरिष्ठ व कनिष्ठसुद्धां एकत्र होऊन त्यांनीं आपापसांत पोक्त विचार करून आपणास स्वतंत्र प्रतिनिधि किती पाहिजेत व आपापलें स्वतंत्र मतदारसंघ कसे बनवावे हें ठरवून स्टेटसेक्रेटरीस कळवावें. स्वराज्ययोजनेच्या या बाबीपुरतें ब्राह्मणवर्ग आनंदानें मौन स्वीकारील व ब्राह्मणेश्वरांच्या मागणीस बिलकूल विरोध करणार नाही. या बाबतींत आपलें खरें मत बोलावयास जाऊन स्वतःस स्वार्थी म्हणवून घेण्याची त्यांना इच्छा नाही. स्टेटसेक्रेटरीपुढें स्वराज्य योजनेच्या इतर बाबी राष्ट्रहिताच्या दृष्टीने त्यांना माडता येतील व त्याच ते माडतील.

* ज्योतिषसंमेलन

शनिवार ता. २७-१०-१९१७ पुणे.

अध्यक्ष—लो. टिळक यांचें भाषण.

ज्योतिषशास्त्र हें फार पुरातन आहे. प्राचीन ग्रीक, खाल्डियन, इजिप्शन व चिनी इत्यादि लोकही सूर्यचंद्रांच्या गति निश्चित करून त्यावरून आपली धर्मकृत्ये करित. जोतिःशास्त्र हें अनुभवजन्य आहे. त्याचें साध्य प्रत्यक्ष आहे

अदृष्ट नाहीं सूर्य, चंद्र व ग्रह ह्यांचे वेध घेऊन त्यांची गतिमाने ठरविण्याचे प्रयत्न आजचे नाहीत. ८००० वर्षांपासून असे प्रयत्न चालले आहेत व त्यामध्ये क्रमाक्रमाने सुधारणा होत आहे. आपल्या सिध्दातातील मते खोटीं नाहीत; परंतु ती त्या त्या सिध्दांताच्या वेळची खरी आहेत. गणित कितीही सूक्ष्म वर्तविले तरी कालांतराने त्यांत फेर पडणारच. खुद्द वेदांगज्योतिष पाहा त्यांचे वर्षसायन आणि मध्यम त्यामुळे ते मागे पडून सिध्दान्त ग्रंथ उदयास आले. सिध्दान्त ग्रंथांनी तिथी स्पष्ट केल्या आणि वर्षमान फार सूक्ष्म केले. परंतु अर्वाचीन वेधानां तेही मान बरोबर नाहीं असे अनुभवास आले. आपल्या इकडे हा प्रश्न उपस्थित झाला त्याचे कारण आपल्या इकडील पूर्वीच्या पिढीतील विद्वानास वेधशालेंत अनुभव ध्यावयास सांपडला हें होय. कै. केरूनाना, मद्रासचे रघुनाथशास्त्री आणि काशीचे बापूदेवशास्त्री ह्यांना सरकारी वेधशालेंमध्ये प्रत्यक्ष शिक्षण मिळाले त्यांचेच फल पंचांगशोधनाचा प्रश्न हें होय. दृक्प्रत्यय खोटा होऊ शकत नाहीं. गणित दृक्प्रत्ययाशीं न जुळेल तर गणित सुधारले पाहिजे. संतोषाची गोष्ट अशी की, दुर्बिणीने वेध घेऊन दृक्प्रत्यय पाहण्याचे जें काम कैलासवासी केरूनानांच्या वेळेस नास्तिकपणाचे लक्षण समजले जात होतें, तेंच आतां म्हणजे १९०४ सालच्या मुंबईच्या सभेत कोणासही नापसंत झालें नाहीं. त्या सभेनें जीं महत्त्वाचीं कामे केलीं तीं हीं कीं, पंचागात निरयन वर्षमान घेण्याचे ठरविले. कारण ग्रहांची गति सागतांना ती स्थिर बिंदूपासून सांगणेच जास्त सोईस्कर व शास्त्रशुद्ध आहे. ज्या ताऱ्यांना आम्ही आज ६००० वर्षे अश्विनी, भरणी, कृत्तिका असे ओळखीत आलों, त्यांना सायनमताप्रमाणें पाहता वाटेल त्या नक्षत्राचे नाव मिळणें संभवनीय आहे. पण तें योग्य नाही. वेदात सायन मानाचाच स्वीकार केला आहे असे सायनवादी म्हणतात, परंतु वेदात आगगाडी आहे अमें म्हणण्यासारखाच हा प्रकार होय ? हें ठीक नव्हे. सूर्य किंवा चंद्र मृगाजवळ आहे असे म्हटल्यावर ज्याला हजारां वर्षे मृगच म्हणून लोक दाखवीत आले आहेत त्याच नक्षत्राजवळ तो असला पाहिजे. तेथे काल्पनिक मृग उपयोगी नाहीं. असो, मुंबईच्या सभेनें आणखी एक कामगिरी केली. ती कोणती तर सिद्धातातील आकड्यांना बीजसंस्कार देण्याची परवानगी होय. तिसरी महत्त्वाची गोष्ट आरंभस्थान ठरविणें हा होय. आरंभस्थान म्हणजे मोजण्याला प्रारंभ करण्याचा एक खुंट. आपण अश्विनीपासून मोजतो; परंतु शकापूर्वी ६००० वर्षांमागे अश्विनी उदगयनारंभी होत्या. व तेथून १८० अंशांवर चित्रा होती. अश्विनीचा आरंभ आपण रेवतीपासून मानतो त्यामुळे रैवत चैत्र असे पक्ष उत्पन्न झाले आहेत. अयनांशांरंभस्थानीं शक्य असल्यास कोणतीही एक दृश्य तारा धरा. पण अयनाशाच्या वादांत पंचांगशोधनाची संधि घालवूं नका. सध्यां लोकमत पंचांगशोधनास अनुकूल आहे. सर्व लोक शुद्ध-पंचांग वापरण्यास उत्सुक आहेत. वैष्णवस्वामी नाहीं येथें

सर्वासमक्ष आम्ही सूक्ष्म व शुद्ध गणितालें केलेले पंचांग चालू करण्यास तयार आहों असें सांगितलें आहे. पंचांगशोधन हें सतत चालणारे कार्य असून त्यास वेधशाळेची अत्यंत आवश्यकता आहे; शिंदेसरकारानीं उज्जनीची वेधशाळा दुरुस्त करण्याचा हुकूम सोडल्याची तार नुकतीच मला आली आहे. शिंदेसरकारचे त्याबद्दल आपण आभार मानले पाहिजेत. केवळ इंग्लंडांतच वेधशाळा असून आमचें काम भागणार नाही. ही विद्या हिदुस्थानात जिवंत कशी राहिल हाच मुख्य प्रश्न आहे. तो सोडविण्याचें काम लोकांचे व राजेरजवाड्यांचेंही आहे. ग्रहाच्या गतिस्थिति वर्तविणें येवढेच ज्योतिषशास्त्राचे ध्येय नाही. भुवनसंस्थेचा प्रश्न हातीं घेऊन सृष्टीच्या रचनेचें गूढ उकलण्याच्या उद्योगास तें लागले आहे. तर आतां एकमतानें तुमच्यापुढे असलेल्या प्रश्नाचा निर्णय करा आणि लोक ज्याची आतुरतेनें प्रतीक्षा करीत आहेत त्याचा प्रसंगोचित निकाल लावा, याप्रमाणें भाषण होऊन पहिल्या दिवसाचे काम संपले.

यानंतर सर्व ज्योतिषशास्त्रज्ञ प्रतिनिधींच्या सभा रविवारी व सोमवारी सकाळीं अशा दोनदां भरल्या. त्यांत वादविषयक सर्व गोष्टींचा खल होऊन सर्वानुमते (सायनवादीं काहीं ज्योतिषीखेरीज करून) कायमचा निकाल ठरला. मुंबईस शके १८२६ मध्ये भरलेल्या ज्योतिषांच्या सभेत जो निर्णय झाला त्यास अनुसरूनच या ज्योतिषसमेलनांत निर्णय करण्यांत आला. विशेष इतकाच कीं, वर्षमान व अयनगति यासंबंधानें जी दुबरेजी पूर्वांच्या ठरावातून होती ती काढून तोच अर्थ आता अधिक स्पष्ट केला गेला व अयनास २२ व २३ याचे दरम्यान घ्यावे असें जें मोघम ठरलें होते त्यास अनसरून शके १८४० च्या आरंभीं म्हणजे आता बारा वर्षांनंतर ते २३ घ्यावे व वेधशाळा निघाल्यावर वेधानुरूप घ्यावे असें ठरविलें. यामुळे पूर्वांच्या निर्णयातील सर्व अनिश्चित भाग निश्चित झाला. दुसरा कोणताही फेरफार केलेला नाही. सभेनें केलेला निर्णय प्रश्नोत्तररूपानें खालीं दिला आहे.

१ प्र० सौरवर्षमानं किं ग्राह्यम् ? उ० सौरवर्षमानं सूर्यासिद्धातोक्तं वेधोपलब्धबीजसंस्कृतं स्वीकार्यम् ।

२ प्र० अयनगतिमानं किं ग्राह्यम् ? उ० अयनगतिमानं वास्तविकं वेधोपलब्धं ग्राह्यम् ।

३ प्र० निरयणारंभस्थानं पूर्वैः किं गृहीतम् ? उ० सद्यःप्रचलितपूर्व सिद्धांतग्रंथेषु निःशररेवतीयोग तारैः प्रारंभस्थानं गृहीतम् । तदेव निरयणराशिनक्षत्रचक्रारंभस्थाने ग्राह्यम् ।

४ प्र० अयनांशाः कियंतो ग्राह्याः ? उ० अयनांशास्तु सद्यःप्रचलितकरणग्रंथागतांशसमीपस्थान्त्रयोविंशतिमिताः १८४० शकारंभे ग्राह्याः । वेधशाला स्थापनानंतरं वेधानुरूपा अयनांशा ग्राह्याः ।

इतर बाबतीत पूर्वीच्या म्हणजे १८२६ शके परिषदेत झालेलें ठराव अक्षर-शाच कायम ठेवलेलें आहेत.

वरप्रमाणें झालेला निर्णय सर्वास जाहीर करण्याकरितां संमेलनास जमलेल्या सर्व प्रतिनिधींची व प्रेक्षकांची जाहीर सभा सोमवारी संध्याकाळीं ६ वाजतां नूतन आर्यभूषण नाटकगृहांत भरविली. त्या सभेंत अध्यक्ष लो. टिळक यानी झालेला निर्णय सर्वास निवेदन केला. नंतर निर्णयानुसार पुढील काम करण्याकरितां एक कमिटी नेमण्याचा दुसरा ठराव सभेंत पसार झाला. ती कमिटी अशी:— अध्यक्ष लो. बाळ गंगाधर टिळक, उपाध्यक्ष प्रो. विश्वनाथ बळवंत नाईक, कार्यकारी सभासद, वे. शा. सं. विनायक शास्त्री खानापूरकर, रा. बाबासाहेब पटवर्धन, प्रो. गोविंद सदाशिव आपटे, प्रो. रघुनाथ नारायण आपटे, रा. व्यंकटेश बापूजी केतकर, वे. शा. सं. रघुनाथशास्त्री वेलणकर, रा. सा. निलकंठ विनायक छत्रे, रा. श्रीधर दामोदर भिडे, वे. शा. सं. रघुनाथ शास्त्री पटवर्धन (सेक्रेटरी). याशिवाय आणखी साहाय्यकारी मंडळीही नेमली असून त्यांत ठिकठिकाणचे प्रसिद्ध ज्योतिषी आहेत. व दोहोंतही जास्त नावें घालण्याचा कमिटीस अधिकार दिला आहे.

तिसरा ठराव ग्वाल्हेरचे श्रीमत महाराज माधवराव शिंदे, अलिजाबहादूर यानी उज्जयिनी येथें वेधशाळा स्थापन करण्याचे आश्वासन देऊन व पचागशोधन-सभेचे आश्रयदाते हांऊन ज्योतिषशास्त्राचें प्रगतीस जी मदत केली आहे तीबद्दल महाराजाचे आभार मानण्याचा असून तो सर्वांनुमते टाळ्याच्या गजरात पास झाला.

हे ठराव झाल्यानंतर ज्यांनीं संमेलनास मदत केली अशा कित्येक मंडळींचे म्हणजे संमेलनास जागा देणाऱ्या मंडळींचे, प्रो. अबदुल करीमखां याचे व स्वयं-सेवकाचे आभार मानण्यात आले.

नंतर अध्यक्षांनीं सर्व अडचणींचे निराकरण करून सर्वास संमत होईल असा निर्णय होण्यास जी अमोलिक मदत केली व जिच्यामुळें संमेलनाचें काम यशस्वी झालें तीबद्दल त्याचे आभार मानण्याचा ठराव पास झाला.

या ठरावास उत्तर देतांना लो. टिळक म्हणाले, या वेळेस माझे आभार मानण्यापेक्षा ज्यांनीं नवीन पंचांगाचा आपल्याकडे प्रथमतः पुरस्कार केला व त्याबद्दल अनेक त्रास सोसले असे जे आमचे गुरु कै. केरुनाना छत्रे त्याचे स्मरण करून त्याच्या ऋणांतून उत्तीर्ण होण्याची खटपट करा. हें कार्य त्याचे देखतच झालें असतें तर उत्तम होतें; निदान त्याच्या पुढील पिढींत जरी हें काम तडीस गेलें तरी मोठे कार्य केलें असें होईल.

नंतर अध्यक्ष व इतर सर्व मंडळी यास हारतुरे अर्पण केल्यावर सभेचें काम संपलें.

* वैदिकधर्म व बौद्धधर्म

कोलंबो येथें ता. ३ एप्रिल रोजी कायटेरिअन नाटकगृहांत सर पी. अरुणा-चलम् यांच्या अध्यक्षतेखाली लो. बाळ गंगाधर टिळक यांचें वरील विषयावर व्याख्यान झालें. श्रोतृवृंदास व्याख्यात्याची ओळख करून देतांना सर पी. अरुणा-चलम् म्हणाले, लो. टिळकांचा श्रोतृगणास परिचय करून देण्याचें कारणच नाहीं इतकें लोकमान्यांचें नाव सर्वतोमुखी झालें आहे. रा. टिळकांचा बहुतेक सर्व वेळ राजकारणात जातो, तरीपण त्यांच्या मनाचा नैसर्गिक कल वाङ्मयाकडे आहे. प्रोफेसर, ग्रंथकार, वृत्तपत्रकार अथवा राजकारणीपुरुष यांपैकी कोणत्याही नात्याने पाहिलें तरी त्यांनी आपले आयुष्य देशसेवेलाच वाहिलें आहे. ज्या संकटांनै इतर लोकांचे मन खचून गेले असतें अशा संकटांतदेखील त्यांचे धैर्य अढळ राहिलें आहे. ओरायन व गीतारहस्य या अप्रतिम ग्रंथांवरून यांची तीव्र बुद्धिमत्ता सर्वास दिसून आली आहे. अशा विख्यात विद्वानाचें व्याख्यान आज आपणास ऐकावयास मिळत आहे हें आपलें सुदैवच होय.

यानंतर लो. टिळक हे भाषण करावयास उठले. ते म्हणाले आज तीन महिने मी राजकीय विषयावर बोलून बोलून कंटाळलों आहे म्हणून मी आज हा धार्मिक विषय घेतला आहे. हा विषय निवडण्यात माझा दुसरा एक हेतु असा आहे की, बौद्धधर्माविषयी येथील विद्वानांचे विचार मला कळतील. असो. कित्येकांच्या मते बौद्धधर्म हा सर्वात जुना धर्म आहे व हे पंडित असेही म्हणतात की, पालीभाषा ही संस्कृत भाषेच्या आधीची होय! युरोपिअन तज्ज्ञात दोन वर्ग आहेत. कित्येकांनी आधीं ख्रिस्तीधर्माचे अध्ययन करून नंतर बौद्धधर्माचे अवलोकन केलें, तर इतरांनी आधीं वैदिकधर्माचा अभ्यास करून नंतर बौद्धधर्माकडे दृष्टि वळविली. या रीतीनें ज्याचा जसा अध्ययनक्रम तसा त्याचा दृष्टिकोण बदललेला दिसतो. मला या सर्व मताचा विचार आज कर्तव्य नाहीं. वैदिकधर्म व बौद्धधर्म याचा परस्परावर कोणता परिणाम घडला एवढेंच आपणास आज पाहावयाचें आहे. वैदिकधर्म, वैदिक-आचारविचार आणि वैदिक-तत्त्वज्ञान या सर्वांचा उगम व प्रचार बौद्धधर्माच्या अगोदरचा आहे ही गोष्ट ऐतिहासिक दृष्ट्या सिद्ध झालेली आहे. बौद्धधर्माचा उदय होण्यापूर्वीच्या वैदिकधर्मात यज्ञ-यागविचार आणि तत्त्वज्ञानविचार असे जे दोन भाग होते त्यांतील यज्ञ-यागादी भागाला सक्षेप देऊन बौद्धिक, अध्यात्मिक, नैतिक उन्नतीकडे बौद्धधर्मानें अधिक लक्ष पुरविलें आणि या बौद्धधर्माचा वैदिक धर्मावर बराच परिणाम झाला. बौद्धधर्मानें आत्म्याच्या अस्तित्वाचा निषेध केला आहे असें नसून त्या मान-गडती न पडतां त्या धर्मानें केवळ नैतिक उन्नती व सामाजिक कर्तव्य यांकडे लक्ष पुरविले. बौद्धधर्मानें वैदिक धर्मांतली संन्यासाची कल्पना स्वीकारली परंतु

त्याबरोबरच संन्याशानें समाजांत राहून समाजसेवा करावी-कर्मयोगी व्हावें-अशी त्यास दिशा लाविली. बौद्धधर्म व ख्रिस्ती धर्म या दोहोची तुलना करून पाहतां ख्रिस्तीधर्म हा केवळ श्रद्धेवर अवलंबून आहे; परंतु बौद्धधर्म विचारप्रधान आहे. ऐतिहासिक भौगोलिक, वैशिक कोणत्याही दृष्टीनें विचार करून पाहिले असतां वैदिकधर्म व बौद्धधर्म हे जात्या भिन्न धर्म नसून बौद्धधर्म हें हिंदुधर्माचेंच रूपांतर आहे. आपले धर्मप्रसारक देशोदेशीं पाठवून धर्मप्रसार करण्याची कल्पनाही बौद्धधर्मानें नवी काढिली नसून वैदिकधर्माचाही अशा रीतीनें पूर्वी परराष्ट्रांत प्रसार झालाच होता. तथापि बौद्धधर्मांमुळें वैदिकधर्मांतील अनेक अनवश्यक आचारांची छाटाछाट होऊन वैदिकधर्माचें स्वरूप जास्त शुद्ध व जोमदार झालें हें मान्य केलें पाहिजे.

याप्रमाणें व्याख्यान झाल्यानंतर श्रोत्यांच्या आग्रहावरून ना. खापर्डे व बाबू बिपिनपाल यांचीं भाषणे झालीं आणि व्याख्याते व अध्यक्ष यांचे आभार मानण्यात येऊन सभेचें काम आटपलें.

* हिंदू-हिंदूचे संकरविवाह

ना. पटेल यानी वरिष्ठ कायदेकौन्सिलात यासंबंधानें एक कायद्यांचे बिल आणल्याचे गेल्या अंकीच आम्हां प्रसिद्ध केले आहे. हे बिल मागे सहा वर्षा-पूर्वी ना. बसुंनीं आणलेल्या बिलापेक्षा निराळ्या तऱ्हेचे आहे. तथापि त्यामुळे हिंदुसमाजांत बरीच चळवळ उपस्थित होऊन या बिलाविरुद्ध लोकमत धुवध झाल्याखेरीज राहाणार नाही. निदानपक्षी हे बिल हल्ली ज्या स्वरूपात पुढे आलें आहे त्या स्वरूपात पुष्कळ फेरफार झाल्याखेरीज तें हिंदुसमाजास मान्य होणें शक्य नाही असें आम्हांस वाटते. कलियुगात वर्णसंकर होणार हे पुराणातले भविष्य जरी कदाचित् खरे व्हावयाचें असले, तरीही अशा बिलाचा विचार करतांना ते सुधारकांच्या केवळ तार्किक दृष्टीनें न करिता हिंदुसमाजाची हल्लींची स्थिति काय, हिंदुलोक कोणत्या शास्त्राधारे या बाबतींत वागतात, अगर लोकांमध्ये हल्लीं या संबंदाच्या कोणत्या रूढी प्रचलित आहेत आणि त्या हल्लींच्या परिस्थितीने किती शिथिल झालेल्या आहेत इत्यादि व्यापक दृष्टीनेंच म्हणजे एकप्रकारें केवळ कायद्यांच्या दृष्टीनेच हे कोणीही समजस मनुष्य कबूल करील; व त्याच दृष्टीनें आजचा हा प्रास्ताविक लेख आम्ही लिहीत आहों. हें बिल घाईनें पास करण्याचा विचार नसून हें प्रांतिक सरकाराकडे किंवा पुढाऱ्यांकडे अभिप्रायार्थ पाठविलें जाईल, आणि ही सर्व मते गोळा झाल्यावर मग म्हणजे

(केसरी, ता, १७ माहे सप्टेंबर सन १९१८)

सुमारे वर्षभरानें तें वादविवादाकरिता पुनः कौन्मिलमध्ये येईल असें सध्यां तरी ठरल्यासारखें आहे. अर्थात्च यासंबंधाने जास्त विचार करण्यास आणखी पुष्कळ सवड आहे हें आम्हासही कबूल आहे व त्या सवडीचा आम्ही व इतर लोक फायदा घेऊ व घेतीलच. तथापि यासंबंधाने कोणते मुद्दे विचाराहें आहेत आणि तो विचार कोणत्या दिशेने केला पाहिजे याबद्दल प्रथमतःच दोन शब्द लिहिणे जरूर असल्यामुळे आज तो विषय आम्ही हातीं घेतला आहे.

हिंदु लोकांच्या विवाहासंबंधाने विचार करताना प्रथमतः ही गोष्ट लक्षात ठेविली पाहिजे की, विवाह हा आमच्यामध्ये एक धर्म सस्कार आहे; नुसता करार किंवा रजिष्टरची नोंदणी नव्हे. म्हणून अशी नोंदणी जरी कायद्यानें करता आली, आणि कोर्टानेही मान्य केली तरी विवाहाच्या धर्मसस्काराने विवाहित मनुष्यास आपापल्या जातीमध्ये किंवा कुटुंबात जे शास्त्रोक्त स्थान व अधिकार प्राप्त होतो ते स्थान व तो अधिकार कोणत्याही विवाहाच्या कायद्यानें उत्पन्न करता येणार नाही, किंवा तोच अर्थ दुसऱ्या भाषेत सागावयाचा असल्यास अशा तऱ्हेचा कायदा हिंदुसमाजावर लादणे कधीही न्याय्य व समजस होणार नाही, इतकेंच नव्हे तर तो मान्य करण्यासही समाज तयार व्हावयाचा नाही, हे तत्त्व आमच्या राजकर्त्यांमधी कबूल आहे. आणि हे कबूल केले म्हणजे असे कायदे काहीं व्यक्तींच्या अडचणी दूर करण्यापलिकडे अधिक उपयुक्त व व्यापक होऊ शकत नाहीत व करता येत नाहीत हे उघड आहे. विधवाविवाहाचा कायदा याच तत्त्वावर केलेला आहे. आणि तेंच तत्त्व पटेलसाहेबांच्या विलातही त्र घातले गेल तर एकदर हिंदुसमाजाकडून त्यास फारशी हरकत यावयाची नाही. असे आम्हास वाटते. पण हल्लींच्या विलाचे सांप्रत जे स्वरूप आहे ते पुष्कळच व्यापक असल्यामुळे त्यापासून गैर-समज उत्पन्न होणे अगदी अपरिहार्य आहे. यामुळे ना. पटेल यास आमची पहिली सूचना अशी आहे की, त्यांनी या बाबतीत अधिक विचार करून लोकमताने विरोध जेणेकरून शक्यतेतटा टळेल अशा प्रकारे हें विल सुधारून लोकांपुढें माडावे. त्यामुळे पुष्कळ वादविवाद टळेल. इतकेंच नव्हे तर लोकमत विनाकारण क्षुब्ध न होता ना. पटेल यांचा उद्देश सिद्धीस जाण्यासही अधिक सोयीचे होईल. असो; आता ना. पटेल यांच्या सध्याच्या विलात जी व्यवस्था करण्याचें त्यांनी योजले आहे, त्यासंबंधाने शास्त्रदृष्ट्या व व्यवहारदृष्ट्या थोडा विचार करूं. “ हिंदूंच्या निरनिराळ्या जातींतील विवाह शास्त्रसंमत नसेल तरी ते कायदेशीर समजले जावे, ” असा त्यातील आशय आहे. तात्पर्य, हे विल हिंदू-हिंदूंच्या संकरविवाहाबद्दलचें आहे. हिंदू, मुसलमान. पार्शी किंवा ख्रिस्ती यांच्या संकर-विवाहाबद्दलचें नाही हें प्रथमतः लक्षांत ठेविलें पाहिजे. ही मर्यादा लक्षांत ठेविली म्हणजे पुष्कळ घोटाळा दूर होऊन या बाबतीत फक्त हिंदुशास्त्राचा व हिंदुरीतिरिवाजाचा आपणास विचार कर्तव्य आहे, इतर सर्व गोष्टी अप्रस्तुत होत, असे सहज दिसून येईल.

हिंदुसमाजात अनेक जाति असून त्यापैकी पुष्कळ जातीत परस्पर रोटी-व्यवहार असला तरी बेटीव्यवहार होत नाही ही गोष्ट सर्वत्र प्रसिद्ध आहे. तथापि यातही लक्षात ठेवण्यासारखी एक महत्त्वाची गोष्ट आहे ती ही की, काही जातीत, किंवा उपजातीत म्हणा, परस्पर विवाह जरी रूढ नसले तरी शास्त्र-दृष्ट्या ते कोणीही निषिद्ध मानतात नाहीत उदाहरणार्थ, देशस्थ-क्रोकणस्थांचे विवाह ध्या, किंवा मराठे लोकांतील निरनिराळ्या पांढशाखामधले विवाह ध्या. हे शास्त्राने काही कोठे निषिद्ध मानलेले नाहीत, व हे जर आता रूढ करावयाचे असतील तर शास्त्रदृष्ट्या काही हरकत नसून केवळ समाजातील पुढ्याच्याच्या इच्छेवरच ती गोष्ट अवलंबून आहे. समाजाचे पुढारी जर या उपजाति मोडण्यास तयार नसतील तर धर्मशास्त्र किंवा कायदा तरी काय करणार ? जातिभंग मोडला पाहिजे असे तोंडाने म्हणणारे गृहस्थही उपजातीमध्ये विवाह करण्यास तयार नसतात असा अनुभव आहे. देशस्थ, क्रोकणस्थ व कऱ्हाडे यामधील विवाहास खुद्द शंकराचार्यांचीही परवानगी मिळाली आहे पण ही परवानगी आणण्यान्यानीही तिची किती अमलबजावणी केली हे लक्षात आणले म्हणजे कृतीपेक्षा बोलणेच आम्हास अधिक प्रिय आहे, असे अनुमान करण्याचा प्रसंग येतो. मग एखाद्या उपसमुदायाने मन गांजून त्या जातीशी विवाह केला म्हणून त्याच्याकरिता नवा कायदा केल्याने काय फायदा होणार ? ना. पटेल यांच्या बिलात उपजातीचा हा भेद दाखवला गेलेला नाही, ही पहिली चूक आहे. ज्या जातीत हल्ली परस्परविवाह निषिद्ध मानला जातो किंवा ज्या जातीत विवाह झाल्यास दंपत्य पतित होते असे समजतात, तेवढ्याकरिताच ना. पटेल यांचे बिल असावे असे त्यांच्या भाषणावरून दिसते. पण ही गोष्ट बिलात स्पष्ट केलेली नाही, व ती केल्याखेरीज या बिलावरील वाद विनाकारण भलत्याच दिशेने जाण्याचा संभव आहे; म्हणून याबद्दल खुलासा करण्यासाठी ना. पटेल यास विनंति करून तूर्त त्याचे बिल केवळ ज्या जातीत परस्परविवाह निषिद्ध मानला जातो तेवढ्यापुरतेच असावे असे समजून त्याबद्दलचे आमचे काय म्हणणे आहे ते आम्ही येथे थोडक्यात कळवितो.

हिंदु-धर्मशास्त्राप्रमाणे खरोखर चारच वर्ण किंवा जाती आहेत. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र. व या जातीत अनुलोम म्हणजे पुरुष वरच्या जातीतला असला तर त्याला खालच्या जातीशी विवाह करण्याची प्राचीन काळां मोकळीक होती. फक्त प्रतिलोमविवाह म्हणजे उलट ओघाचे किंवा कनिष्ठ जातीतील पुरुषाचे वरच्या जातीच्या स्त्रीशी होणारे विवाह मात्र निषिद्ध मानले जात. मन्वादिस्मृतिकारांचा हा निर्बन्ध समाजशास्त्रदृष्ट्याही उपयुक्त व आवश्यक होता व आहे असे निःसंशयकारण जर्मन पंडितांनी अलीकडे प्रतिपादन केलेले आहे. उदाहरणार्थ ब्राह्मण पुरुषाने शूद्र स्त्रीशी विवाह केला तर प्राचीन-काळां तो निषिद्ध मानित नसत, आणि वर सांगितलेल्या जर्मन पंडितांलाही तो

हल्लींच्या कालीं आक्षेपाई वाटत नाही. पण मनु काय किंवा नित्से काय या दोघांनाही खालच्या जातीच्या पुरुषांनी वरच्या जातीच्या स्त्रीशी विवाह करणें इष्ट वाटत नाहीं. कारण त्यामुळें अशा विवाहापासून झालेल्या संततीच्या अंगीं गुणोत्कर्ष होत नाहीं असे त्यानीं ठरविलें आहे; व निग्रो व गोरे लोकांचा ज्या देशात म्हणजे अमेरिकेत संकर होत आहे तेथेंही हाच न्याय स्वीकारला जातो. सांप्रतकाळीं म्हणजे कलियुगात प्रतिलोमाप्रमाणें अनुलोम विवाहही निषिद्ध मानले जातात, त्यामुळें विवाह होणे ते सवर्णांत व्हावे, भिन्न वर्णांत होऊं नयेत, भिन्न वर्णांत विवाह झाल्यास त्यापासून हांगारी संतति संकरजातीची होते, आणि संकरजातीची झाल्यामुळें ती आपल्या आईच्या व बापाच्या मिळून दोनही जातींस मुकते, असा सध्याचा नियम आहे. इतकेंच नव्हे तर अशा संकरविवाहापासून झालेल्या संततीची गणना औरस संततींत होत नाहीं, व त्यामुळें विवर्णविवाह करणाऱ्या आपल्या मातापितरांच्या किंवा त्यांच्या आतांच्या इस्टेटीसही हिंदुधर्मशास्त्रदृष्ट्या अशी संतति वारस होऊं शकणार नाहीं. कारण शास्त्रसिद्धविवाहाचे मुख्य हेतु दोन प्रकारचे असतात—(१) सवर्ण औरस संतति उत्पन्न करणें, आणि (२) विवाहित दंपत्याच्या कुलांतील इतर पुरुषांच्या इस्टेटीचा वारसा ज्यास मिळेल असे सपिंड किंवा समानोदक बांधव कुलवृध्यर्थ निर्माण करणें. थोडक्यांत सांगावयाचे असल्यास केवळ आपल्यास संतति व्हावी इतकेंच नव्हे तर आपलें कुल व जातही वाढावी असा या सवर्ण विवाहाचा हेतु असतो. पण हल्लींच्या परिस्थितींत पुष्कळाना हे सवर्ण विवाह पसंत नसून वर्णावर्णांत अंतर्विवाह व्हावे व त्यामुळे जातिभेद नष्ट व्हावा अशी भावना होऊं लागली आहे. अशानें जातिभेद खरोखरच मोडेल किंवा फक्त एखादी नवी संकरजात उत्पन्न होईल हा एक मोठाच सामाजिक प्रश्न आहे. पण त्याचा विचार सध्यां न करता हल्लीं जें व्यक्तिस्वातंत्र्य चोर्होकडे माजलेले आहे त्याला अनुसरून अशा प्रकारचे वर्णसंकरकारक विवाह कोणी केल्यास त्याला हिंदुसमाजानें कोणत्या रीतीनें वागवावें, एवढ्याच गोष्टीचा आपण सध्यां विचार करू. समजा की, एका ब्राह्मणानें शूद्र स्त्रीशीं विवाह केला. हा अनुलोमविवाह झाला, व प्राचीन काळीं तो निषिद्ध मानला जात नसे. पण त्याच्या संततीचा मात्र ब्राह्मणजातींत शास्त्रतः समावेश होत नव्हता असें स्मृतिग्रंथावरून दिसून येतें. इतकेच नव्हे तर अशा विवाहापासून झालेली संतति ब्राह्मण पित्याच्या कुलातील इतर लोकांच्या इस्टेटीचीही वारस होत नसे असें दिसून येईल. तात्पर्य, पूर्वकाळीं असा विवाह जरी निषिद्ध नसला तरी या विवाहापासून झालेल्या संततीस आपल्या पित्याच्या इस्टेटीपलीकडे जास्त वारसा मिळत नसे, आणि अशी संतति पितृसदृश असली तरी पित्याच्या जातीची न होतां तिची गणना संकरजातीत होई असे सिद्ध होतें. हे विवाह आता निषिद्ध आहेत खरे; पण हे निषिद्ध नसावे असें मानून त्यांस जरी कायद्याने परवानगी दिली तरी अशा विवाहापासून होणाऱ्या संततीची जात कोणती

धरावी याचा निर्णय कायद्यानें करणें अशक्य आहे. इतकेंच नव्हे तर अशा संततीस आपल्या पित्याच्या पूर्वजातीतील आताचे वारसही ठरवितां येणार नाही. अशा तऱ्हेचा विवाह करणारा पुरुष हा पुढे होणाऱ्या आपल्या संकर-संततीचा मूळ पुरुष होऊं शकेल व या मूळ पुरुषाच्या इस्टेटीचा वारसा त्याच्या संततीकडे जाईल. पण अशा प्रकारच्या संकर-विवाहानें आपल्या मूळ जातीपासून भ्रष्ट झालेल्या पुरुषाचे मूळच्या जातीतच राहिलेले आस या नव्या संततीस आपल्या संपिंडात किंवा समानोदकांत समाविष्ट करण्यास कधीही राजी होणार नाहीत. आणि कायद्यानें अशी स्थिति केल्यास तो कायदा जातिभ्रंशकर व जुलमाचा समजला जाईल हे नेहमीं लक्षात ठेवलें पाहिजे. मनुष्याला व्यक्तिस्वातंत्र्य असलें तर त्यानें इच्छेस येईल त्याप्रमाणें लग्न करावें एवढी गोष्ट आम्ही कबूल करूं. पण या व्यक्तिस्वातंत्र्याचा, त्याच्या दृष्टीनें नाही तर आमच्या दृष्टीनें, त्यानें दुरुपयोग केल्यावर आम्हीं त्या मनुष्याची संतति आम्हास पिंड देण्यास किंवा आमची क्रिया करण्यास आणि तदनुषंगानें आमच्या इस्टेटीचा वारसा घेण्यासही लायक झाली असे आम्ही कधीही समजणार नाही. व्यक्तिस्वातंत्र्य ज्याचे त्यानें पाहिजे तर आपल्या व्यक्तीपुरतें वापरावें; पण हे त्याला स्वातंत्र्य आहे म्हणून त्या स्वातंत्र्याचे परिणाम धर्मशास्त्रानुसार वागणाऱ्या आपल्या दुसऱ्या बांधवांवर लादणें कधीही न्याय्य मानलें जाणार नाही. विवाह सवर्ण असावे म्हणून हिंदुधर्मशास्त्र सांगतें, आणि अशा विवाहापासून होणारी संतति “ बीजमुत्कृष्टमुच्यते ” या न्यायानें पित्याची होते असें मनु म्हणतो. याला प्राचीन काळां काहीं अपवाद असत. उदाहरणार्थ, क्षेत्रज पुत्राची गोष्ट घ्या. हा क्षेत्रज पुत्र बीज दात्याचा न मानतां “ बीजाद्योनिर्व्वलीयसी ” या न्यायानें क्षेत्राच्या मालकाचा मानला जात असे, असें मनुनें म्हटले आहे. पण या दोन गोष्टीखेरीज इतरत्र म्हणजे संकर विवाहात होणाऱ्या संततीत वरील दोन्ही न्याय लागू न होता म्हणजे ती पित्याच्या अगर मातेच्या वर्णाची गणली न जाता संकरविवाहापासून होणारी संतति तिसऱ्याच एक जातीची होते असें मनुचे म्हणणें आहे. उदाहरणार्थ ब्राह्मणापासून वैश्यकन्येच्या ठिकाणीं अवष्ट जातीची संतति होते, आणि क्षत्रियापासून ब्राह्मण स्त्रीच्या ठिकाणीं म्हणजे एकप्रकारच्या प्रतिलोम विवाहापासून सूत-जाति निर्माण होते असे त्यानें लिहिलें आहे. पण या गोष्टीची सध्या तरी विशेष चर्चा करण्याची जरूरी नाही. समाजात रूढ असलेला सध्याचा आचार पाहिला तरीही तो मन्वादि स्मृतीतील धर्मशास्त्राला धरून आहे असे दिसून येईल. संकरजातीची गणनाही हिंदूंतच होत असल्यामुळे उद्या एखाद्या ब्राह्मणानें शूद्रस्त्रीशी विवाह केला, तर तो ब्राह्मण्यास मुकला तरी हिंदू राहातो, असें म्हणण्यास काही हरकत नाही. पण ज्याला हिंदुधर्मांत राहावयाचे आहे त्यानें आपला अगर आपल्या संकरजातीचा विवाहही हिंदुधर्मशास्त्रदृष्ट्या धर्मसंस्कार-पद्धतीनें केला पाहिजे, कराराप्रमाणे नुसती नोदणी करून करूं नये, असा

निर्वन्ध ठेवावा लागेल. कारण विवाह हा एक करार आहे, तो पाचदहा वर्षांचा किंवा आजन्म करारही होऊ शकेल, खुषीचा सोदा आहे, धर्मबधन नव्हे इत्यादि विचित्र कल्पना अद्याप खिस्ती राष्ट्रांतही रूढ झाल्या नाहीत; मग हिंदुधर्माची गोष्ट कशाला? सकर जातीतील विवाहाकरितां कोणता संस्कार उपयोगात आणावा हा एक महत्त्वाचा प्रश्न आहे; पण त्याचा विचार शास्त्री लोक करतील. सध्या आमचे एवढेंच म्हणणे आहे कीं, विवाह हा हिंदुधर्म-शास्त्राप्रमाणें एक धर्मसंस्कार आहे व ब्राह्मणत्वादि विशिष्ट जातीची अपेक्षा नसली तरी हिंदु ज्याला राहावयाचें आहे त्याने विवाहसंस्काराबद्दलचें हे धर्ममत झुगारून देऊन चालावयाचें नाही, जो आपले विवाहादि संस्कार हिंदुधर्म-शास्त्राप्रमाणे करित नाही तो हिंदु कसला? हिंदुसच नव्हे तर ख्रिश्चन आणि मुसलमान म्हणवून घेणाऱ्यासही हाच नियम लागू होतो; आणि याच हेतूने नुसत्या नोदणीने विवाह लावणाऱ्यास “न हिंदुर्न यवनः” असा प्रतिज्ञालेख १८७२ च्या कायद्याने लिहून देण्यास सांगितलेलें आहे. नोदणी हा धर्मसंस्कार नव्हे, दिवाणी करार आहे; तेव्हा प्रत्येक हिंदु म्हणविणाराने केवळ या करारावर अवलंबून न राहता आपले विवाहविधि धर्मसंस्काराने उरकले पाहिजेत असे उघड प्राप्त होते. संकर जातीकरिता जो हा विवाहसंस्कार करावयाचा तो ज्या दान जातीचा संकर झाला त्यापैकी कोणत्याही जातीचा असू शकेल, पण तो संस्कार त्या रीतीने उरकल्याखेरीज त्याची संतति हिंदुधर्मशास्त्राप्रमाणे हिंदु मानली जाणार नाही. मग हे हिंदु परंपरागत असोत किंवा वैद्याच्या मिशनरी हिंदुधर्माप्रमाणे हिंदु करून घेतलेले असोत; जो कोणी हिंदु आहे त्याचा विवाहसंस्कार हिंदुधर्म-संस्काराप्रमाणें झाला पाहिजे; मग त्या विवाहाची तुम्ही पुढे नोदणी करा अगर न करा, तो प्रश्न निराळा.

वरील सर्व गोष्टींचा विचार करता ना. पटेल याचे बिल अपुरेच नव्हे तर पुष्कळ अंशी हिंदुधर्माच्या विरुद्ध आहे असे दिसून येईल. हे बिल पुढे आणताना ज्या लोकांची गैरसोय किंवा अडचण ना. पटेल याच्या डाळ्यापुढे होती, त्यांच्याबद्दल आम्हांसही सहानुभूति आहे. किंबहुना त्या लोकांची अडचण दूर करू नये असे हिंदु समाजही म्हणणार नाही. पण ज्या लोकाकरिता हे बिल आणावयाचे तें बिल फक्त जातिदृष्ट्या निषिद्ध विवाहापुरतेच असावे; नोदणी होवो किंवा न होवो, विवाह धर्मसंस्काराप्रमाणे झाले पाहिजेत; आणि विवाहित दंपत्यास किंवा त्यांच्या संततीस जे वारसाचे हक्क मिळावयाचे ते सकरविवाह करणाऱ्या इसमास मूळ पुरुष कल्पून त्याच्या पुढच्या संततीपुरतेच पाहिजेत, इतरांचा वारसा या संततीस मिळू नये; एवढे तरी निर्वन्ध या बिलात अवश्य असले पाहिजेत असे आमचें आज म्हणणें आहे. किंबहुना हे निर्वन्ध घातल्याखेरीज अशा प्रकारचे विवाह हिंदूंचे आहेत किंवा त्यापासून होणारी संतति हिंदू आहे असे हिंदुसमाज कबूल करणार नाही असे आम्हास वाटतें. सकरजाती

निर्माण करून देणाऱ्या पहिल्या संकरविवाहाची अशास्त्रता कायद्याने आरंभो दूर करितां येईल; पण अशा तऱ्हेचा विवाह करणारांस व त्याची पुढील संतति यांस, संकीर्ण का होईना, पण हिंदुत्व जर पाहिजे असेल तर त्यांनी संकरजातीस उक्त असलेले विवाहाचे धर्मसंस्कारही पाळले पाहिजेत, एन्हवीं त्यांचें हिंदुत्व नष्ट होईल असें न्यायतः व हल्लींच्या कायद्यानेही प्राप्त होतें. असो. हे विल ना. पटेल यानीं परत न घेतल्यास यावद्दल पुढे पुष्कळच भवति न भवति होणार आहे, व या भवति न भवतींत आणखी काय मुद्दे निघनात हे आजच सांगता यावयाचे नाही. म्हणून आज वादातील मुद्द्यांचा वर लिहिल्याप्रमाणें फक्त उपन्यास करून आजचा हा लेख येथें पुगाकरतो. पुढें जरूर पडेल त्याप्रमाणें जास्त चर्चा करू.

* दुमजली इमारतीचा पुंडावा.

स्वराज्य—मग ते स्थानिक असो, प्रातिक असो अथवा सार्वदेशिक असो—स्वराज्य प्राप्त झाल्यावर वादग्रस्त मुद्द्याचा निर्णय कसा करावयाचा याचा एक थोटाळा परवा येथे किलोस्कर नाटकग्रहात प्रो. शंकरराव भागवत याचे अध्यक्षते-खाली पुणे शहरातील मतदारांची म्हणून जी एक जाहीर सभा भरली होती तीत चांगल्या रीतीने निदर्शनास आला. आजपर्यंत म्हणजे नोकरशाहीच्या अमलात सर्व सत्ता वरिष्ठ प्रतीच्या गोऱ्या नोकरांच्या हातात असल्यामुळे कोणत्याही बाव-तीत ते ठरवितील ती पूर्व दिशा असा व्यवहार होता व काहीं थोड्या बावी खेरीज-करून अद्यापही आहे. या नोकरशाहीच्या विरुद्ध जर कोणाचें काहीं मत असेल तर ते लोकांच्या ठिकठिकाणी जाहीरसभा भरवून त्या सभेमार्फत किंवा ज्या ठिकाणी लोकांचे प्रतिनिधि जमतात अशा काँग्रेससारख्या संस्थामार्फत नोकरशाहीस कळवावे लागे; आणि त्याचा पाडाव करण्याकरिता नोकरशाही काहीं लोकांस हातीं धरून त्यांच्याद्वारा लोकमत आपल्याच बाजूचे आहे असें जगास भासविण्याचा प्रयत्न करी. हिंदूंनी काही गोष्ट मागितलीं की, मुसलमानानीं नाहीं म्हणावें, आणि हिंदू मुसलमान एक झाले तर हिंदू-हिंदूंतच ब्राह्मण व ब्राह्मणतर किंवा मागसलेले व पुढारलेले असा नवा मतभेद घडवून आणवावा, अशा प्रकारे नोकरशाही वेळ मारून नेत असे; व अद्यापही नेत आहे. स्वराज्याचे हक्क प्राप्त झाल्यानंतर हे प्रकार चालतील की नाहीं; न चालल्यास त्याला दुसरे कोणते स्वरूप येईल आणि त्या स्वरूपाचा उपयोग कसा करावा लागेल याचा विचार करणे आता जरूर आहे. लोक म्हणजे सामान्यतः सर्व जनसमूह असा नेहमी आपण अर्थ समजतो, व एका दृष्टीनें तो खराही आहे. किंबहुना पूर्ण लोकसत्तात्मक स्वराज्य म्हणजे

देशांतील वयांत आलेल्या प्रत्येक स्त्री-पुरुषास मत देण्याचा अधिकार असून त्यांच्या बहुमतानें जो अखेर निर्णय होईल त्याप्रमाणें सर्व राज्यव्यवस्था चालविणें असा अंतिम सिद्धांत आहे. असलें स्वराज्य हिंदुस्थानाला कधी मिळेल तें मिळो. तें ध्येय आहे, पण हल्लीं मिळालेलें स्वराज्य त्या स्वरूपाचें नव्हे हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. पण मग या संकुचित स्वराज्यांत कोणत्याही प्रश्नाचा अखेर निकाल करण्याचा अधिकार कोणाकडे-नोकरशाहीकडे, सामान्य जनसमूहाकडे, किंवा मतदार म्हणून बनलेल्या विशिष्ट जनसमूहाकडे किंवा याचाही या स्थितींत नीट निकाल करावा लागेल आणि निकाल करावा लागेल इतकेंच नव्हे तर त्याप्रमाणें सार्वजनिक कामांतील चळवळीची दिशाही बदलावी लागेल हें उघड आहे. येथील परवांच्या जाहीर सभेत हा प्रकार चागल्या प्रकारें निदर्शनास आला, आणि हें किंवा असल्याच तऱ्हेचे प्रश्न आता चोहोंकडे उपस्थित होणार असल्यामुळें त्याबद्दल थोडी हकीगत आज देण्याचें आम्ही योजिलें आहे.

प्राथमिक शिक्षण आपआपल्या हद्दींत सक्तीनें करण्याचा अधिकार नुकत्याच पास झालेल्या मुंबईसरकारच्या कायद्यानें मुंबई इलाख्यांतील म्युनिसिपालिटीयांस मिळालेला आहे. तथापि या कामी लोकांवर विनाकारण जुलूम होऊं नये म्हणून याच कायद्यात असा एक निर्बंध आहे कीं, अमुक एक विविक्षित लोकनियुक्त सभासद म्युनिसिपाल सभेत हजर असून त्यानीं बहुमताने हा कायदा मागितल्याखेरीज तो सदर म्युनिसिपालिटीस लागू व्हावयाचा नाही. ही शर्त कशाकरिता घातली याबद्दल विशेष चर्चा करण्याचें आज कारण नाही. या शर्तीमुळें किंवा अडचणीमुळें जो एक घोंटाळा उत्पन्न झालेला आहे त्याचा निर्णय कसा करावयाचा एवढाच सध्याचा प्रश्न आहे. पुण्याची म्युनिसिपालिटी लोकनियुक्त आहे. म्हणजे एकंदर ३९ मेंबरांपैकीं त्यात २६ लोकनियुक्त आहेत. यापैकीं निदान २० इसमाचीं मते आपणांस हा कायदा पाहिजे अशीं पडलीं व त्यास विरोध करणारे इसम १३ हून अधिक नसले तर तो कायदा पुण्याला लागू होईल; आणि सक्तीचें शिक्षण पुण्यांत सुरू होऊन त्याचा खर्च कर वाढवून पुणें शहरांतील रहिवाश्यांस द्यावा लागेल. “सक्तीचें प्राथमिक शिक्षण” या शब्दाना जोडूनच मोफतचें शिक्षण असें शब्द प्रायः वापरण्यांत येत असतात व त्याचा अर्थ विद्यार्थ्यांना फी न पडतां शिकविणें असा समजला जातो; आणि तो विद्यार्थ्यांच्या दृष्टीनें पाहतां खराही आहे. पण विद्यार्थ्यांची दृष्टि सोडून त्याचे शहरवासी जे पालक त्यांच्या दृष्टीनें जर विचार केला तर सक्तीच्या शिक्षणास ‘मोफत’ हा शब्द लावतां येणार नाही असें दिसून येईल. कारण विद्यार्थ्यांच्या शिक्षणाकरितां म्हणून जी फी हल्लीं पालकास भरावी लागते त्यापेक्षाही अधिक पैसे कराच्या रूपाने सक्तीच्या शिक्षणाकरितां लोकांस म्युनिसिपालटींत भरावे लागतील. फी दिली काय, किंवा यथा-

शक्ति कर दिला काय सारखेंच, उलट फी देणें न देणें हें मुलास आपण शाळेंत घालूं किंवा न घालूं या गोष्टीवर म्हणजे एक प्रकारें आपल्या स्वतःच्या इच्छेवर अवलंबून असतें; पण सक्तीच्या शिक्षणाच्या कायद्याखाली तशी स्थिती न राहतां मुलेंही शाळेंत पाठविलीच पाहिजेत आणि करही दिलाच पाहिजे. म्हणून नागरिकांच्या दृष्टीनें जेव्हां विचार करावयाचा असतो तेव्हा सक्तीच्या शिक्षणास 'मोफत' हें विशेषण जोडणें इष्ट नाहीं असें आम्हांस वाटतें. सक्तीचें शिक्षण आणि तेंही शहरांतील लोकावर कर वाढवून दिलें जाणारें सक्तीचे शिक्षण, मुंबई-सरकारच्या नव्या कायद्याप्रमाणें पुणें शहरात सुरू करावें कीं नाहीं हा सध्यां पुणें शहरांतील लोकापुढें प्रश्न आहे; व पुणें शहर या बाबतींत जो मार्ग स्वीकारील तो इतत्रही यथासंभव स्वीकारला जाईल हें उघड आहे. कारण पुणें शहर हें महाराष्ट्रातील मुख्य शहर आहे. इतकेंच नव्हे तर शिक्षणविषयक बाबतींत या शहराने यथार्थ अग्रेसरत्व मिळविलें आहे, हेंही काहीं कोणी नाकबूल करणार नाहीं. तात्पर्य, पुणें शहरांत या प्रश्नाचा कसा निकाल लागतो इकडे सर्व लोकांचें लक्ष लागणें अगदीं स्वाभाविक आहे, व त्याचमुळें हल्लीं या शहरांत उपस्थित झालेला हा वाद केवळ स्थानिक नसून त्याला निदान महाराष्ट्रपुरतें तरी एक प्रकारचें सार्वजनिक स्वरूप आलेलें आहे.

स्थानिक कर वाढवूनही सक्तीचें शिक्षण पुणें शहरांत सुरू केलें पाहिजे, याबद्दल पुणें म्युनिसिपालिटीच्या लोकनियुक्त सभासदामध्ये कोणताच मतभेद नाही ही एक मोठी समाधानाची गोष्ट होय. तसेंच हें प्राथमिक शिक्षण मुलास व मुलीस भिळून दोघासही देणें जरूर आहे याबद्दलही फारसा मतभेद दिसत नाहीं. सक्तीच्या प्राथमिक शिक्षणाची इमारत दुमजली असली पाहिजे म्हणजे मुलास आणि मुलीसही तें दिलें पाहिजे ही गोष्ट सर्वास मान्य आहे. मग मतभेद राहिला कोठें ? असा प्रश्न सहाजिकच उपस्थित होतो. याचें उत्तर येवढेंच आहे कीं, ही जी दुमजली इमारत बांधावयाची ती सदर इमारत बांधणाऱ्या नागरिकांच्या थैलीकडे लक्ष देऊन बांधावयाची, किंवा एकदम दुमजली इमारत उभारून पुढें पैशासाठीं लोकांवर काय जुलूम होईल तो होवो, असें म्हणून तिकडे दुर्लक्ष करावयाचें ! अशा दृष्टीनें विचार केला म्हणजे या वादग्रस्त मुद्द्याला चार शिगें किंवा पक्ष उपस्थित होतात. पहिला पक्ष असें म्हणतो कीं, 'सर्वारंभास्तंडुलाः प्रस्थमूलाः' या न्यायानेंच या गोष्टीचा विचार केला पाहिजे. गोष्ट कितीही चांगली असली किंवा जरूर करावीशी वाटत असली तरी व्यवहारांत मनुष्य नव्हे तर सत्ताधारी सरकारही अंथरून पाहूनच पाय पसरीत असतें; किंवा इंग्रजी म्हणीप्रमाणें आपणांस लागणारा अंगरखा आपल्याजवळ असलेल्या कापडाप्रमाणेंच बेततो. घरांत दोन मुलींची किंवा मुलामुलींचीं लग्नें कर्तव्य असल्यास प्रापंचिक गृहस्थ त्यांतल्या त्यांत नडीचें कोणतें हें पाहून आपल्या ऐपतीप्रमाणे एक कार्य

एक वर्षी व दुसरे कार्य पुढचे वर्षी करित असतो, हे कोणाही सांसारिक मनुष्यास सांगावयास नको. हाच न्याय या ठिकाणी लागू करा. आणि सक्तीच्या प्राथमिक शिक्षणाच्या दुमजली इमारतीचा पहिला मजला, म्हणजे अर्थातच मुलांचे सक्तीचे शिक्षण, प्रथम करून घ्या आणि दुसरा मजला पुढे बांधा. तडजोडीचा हा पक्ष परवाच्या येथील सभेपुढे रा. रा. खाडिलकर यांनी मांडलेला होता. पण मुर्लीच्या शिक्षणास ऐतिहासिकदृष्ट्या सर्वत्र जरी मुलाच्या शिक्षणामागून सुरवात झालेली असली तरी स्त्री-शिक्षणाच्या कैवाऱ्यांस खाडिलकरांनी केलेला हा पूर्वापार भेद रुचला नाही. आणि प्रि. रॅगलर पराजपे यांनी अशी उपसूचना आणली की, सक्तीच्या शिक्षणाचे दोनही मजले एकदम उभारले पाहिजेत, व त्याकरिता कराचा जुलूम झाला तरी हरकत नाही. कारण सक्तीच्या शिक्षणक्रमांत मुलांच्या व मुर्लीच्या शिक्षणास जर एकसमयावच्छेदेकरून सुरवात झाली नाही तर आपण स्वराज्याला नालायक ठरू व आपल्या देशावर मोठेच संकट गुदरेल. दोनही मजले एकदम उभारले पाहिजेत यावर तज्ज्ञांची म्हणून एक अशीही कोटी करण्यांत आली होती की, दोन्ही मजले उभारण्यास पुरेसे पैसे नसतील (आणि पुणे शहरच्या म्युनिसिपालिटीजवळ येवढे पैसे नाहीत ही गोष्ट सर्वांनाच मान्य आहे.) तर दहा फूट उंच तळमजल्यांतच मध्ये पटई घालून पाच पांच फूट उंचीचे एकाच मजल्याचे ठेंगणे-ठेंगणे दोन मजले करा ! पण या पोरकट कोटिक्रमाचा येथे जास्त विचार करण्याची जरूर नाही. कारण, रॅगलरसाहेबांच्या उपसूचनेचा तो कांहीं मुख्य भाग नव्हता. पुणे शहरच्या लोकांची कल्पकता इतकी विलक्षण आहे की, एकाच परिस्थितींतून जितके पक्ष उपस्थित होतील तितके 'अंकपाशाने' म्हणजे उलटापालटीने केल्याखेरीज ते सोडीत नाहीत. रॅगलरसाहेबांनंतर प्रो. सहस्रबुद्धे यांनी जी उपसूचना आणिली ती अशाच प्रकारची होती. ते म्हणाले की, दोन मजली इमारत बांधावयाची खरी; पण तितके पैसे तुमच्याजवळ सध्या नाहीत, एकच मजला बांधण्यास पुरेसे आहेत म्हणतां; तर दुसराच मजला (म्हणजे मुर्लीचे शिक्षण) प्रथम बांधून घ्यावा. कारण मुलांच्या शिक्षणापेक्षा मुलींच्याच शिक्षणाची आज अधिक जरूर आहे. दुसरा मजला अगोदर बांधून घ्या असे म्हणणाऱ्या या तरवारबहाद्री पक्षाचा उपन्यास झाल्यावर डॉ. लोहकरे यांनी पुढे येऊन चवथ्या पक्षाचा असा उपन्यास केला की, सक्तीच्या मुलांमुर्लीच्या शिक्षणाची इमारत दुमजली पाहिजे हे कबूल आहे तसेच ही दुमजली इमारत बांधण्यास आज आपणजवळ पुरेसे पैसे नाहीत हेही कबूल आहे. पण याची तडजोड पहिला मजला अगोदर व दुसरा मजला मागाहून अशी न करितां कांहीं सोपे कर बसवून किंवा या कामाकरितां सरकाराकडून मदत म्हणून अथवा शेटसावकारांकडून देणगी म्हणून अगर दुसरे कांहीं मार्गाने आधी पैसे गोळा करू आणि पुरेसे पैसे गोळा झाल्यावर या इमारतीचे दोनही मजले एकदम उठवून देऊ. दोनही

मजले आपणांस एकदमच बांधावयाचे आहेत पण केवळ द्रव्याभावामुळे हा बेत तूर्त काहीं दिवस तहकूब ठेवणे इष्ट आहे. सारांश, सक्तीच्या मुलांमुलींच्या प्राथमिक शिक्षणाची ही दुमजली इमारत बांधण्याचें जितके म्हणून शक्य प्रकार आहेत ते सर्व परवांच्या सभेपुढें निरनिगळ्या वक्त्यांकडून मांडण्यात आले. प्राथमिक शिक्षण सक्तीचें पाहिजे, दुमजली म्हणजे मुलांमुलींचें पाहिजे, आणि त्यासाठी लोकांवरील करही वाढविला पाहिजे या गोष्टी सभेंत सर्वांना मान्य होत्या; पण कर वाढविणें तो लोकांची शक्ति पाहून क्रमाक्रमानें वाढवावा किंवा एकदम वाढवावा हा वादाचा मुख्य मुद्दा असून त्यामुळे (१) पहिला मजला प्रथम बांधून मग दुसरा बांधावा; (२) दोनही मजले ताबडतोब व एकदम बांधावे. (३) दुसरा मजला प्रथम बांधून पहिला मागाहून बांधला तरी चालेल; आणि (४) दोनही मजले एकदमच बांधावयाचे. पण हे काम तातडीने न करितां आज पुरेसे पैसे गोळा करण्यास सुरवात करून थोड्या अवकाशानें पुरें करावयाचें,—असे चार पक्ष उपस्थित होऊन ते सर्व चागल्या मुद्देसूद रीतीने सभेपुढें मांडण्यांत आले. मधून मधून वक्त्यांच्या उद्गाराप्रमाणे श्रोतृजन आपली उच्छ्वलता किंवा समाधान व्यक्त करीत होते. एकानें तर दुमजली इमारत न झाल्यास मागसलेल्या लोकांस वार्ड वाटेल असाही कोटिक्रम पुढे आणला होता. आणि आरोग्य अगोदर पाहिजे का शिक्षण अगोदर? असेही एकानें विचारलें. पण हे दोनही मुद्दे आमच्या मते अप्रस्तुत होते. एकतर सक्तीचें शिक्षण—मग ते एकमजली होवो वा दुमजली होवो—सर्वासच म्हणजे हा मागसलेला आणि पुढारलेला असा भेद न ठेवितां सरसहा सर्वासच सारखे मिळावयाचें आहे. आणि दुसऱ्या पक्षां सक्तीच्या शिक्षणाच्या शाळाही आरोग्यदायक व हवाशीर अशा मोकळ्या जागांवर बांधणें इष्ट असल्यामुळे आरोग्य आणि शिक्षण हीं दोन्हीही बरोबरच यावयास पाहिजेत. आरोग्य आर्धी का शिक्षण आर्धी हा खरा प्रश्न नसून या सुधारणाप्रीत्यर्थ आपणाजवळ पैसे किती, कर वाढवावयाचा तो कोणत्या धोरणानें वाढवावा. एकदम वाढवावा का क्रमाक्रमानें वाढवावा, कराचें किती ओझे लोकांस झेपेल आणि सुधारणा अत्यंत इष्ट असली तरी ती अमलांत आणण्यास लोकांवर कराचें ओझे किती लादावे येवढाच काय तो आमच्या मते या सर्व वादांत एकच महत्त्वाचा प्रश्न होय. केव्हांही झालें तरी पैशाचा हा प्रश्न नेहमीच पुढें दत्त म्हणून उभा राहाणार; व त्याच बरोबर त्याचा निर्णय कोणी करावयाचा हेंही ठरविणे जरूर आहे. वरील चारही सूचनांतून या प्रश्नाचा निकाल सामान्य जनतेने म्हणजे कोणत्याही प्रकारच्या जाहीर सभेनें करावा असें गृहीत धरल्यासारखें होते. पण वास्तविक म्हटलें म्हणजे त्याचा निकाल नुसत्या शिक्षणाची कळकळ बाळगणाऱ्या लोकांच्या अगर सामान्य समूहाच्या सहकार्यानें किंवा आग्रहानें न करितां ज्यांच्या विश्वातून पैसे जावयाचे त्यांच्या किंवा त्यांच्या प्रतिनिधींच्या विचारेंच झाला पाहिजे, हे हल्लीच्या लोकसत्तात्मक स्वराज्याचें मूल-

तत्त्व होय. स्वराज्यांत आपणांला ज्या कांहीं सुधारणा करावयाच्या आहेत त्यासाठी अधिक कर बसवावे लागतील हे उघड आहे. तथापि प्रथम आम्ही जे कर देतो—मग ते सरकारास असो वा म्युनिसिपालिटीस असो—त्यांच्या विनियोगांत शक्य तेवढी काटकसर करून या सुधारणासाठी पैसा मोकळा केला पाहिजे हे कांहीं नाकबूल करितां यावयाचे नाही. म्हणून सक्तीच्या प्राथमिक शिक्षणाच्या कामी सरकारांतून अधिक काय मदत मिळते हेही प्रथम पाहाणे इष्ट आहे. ही मदत न मिळेल तर कर वाढविणे जरूर आहे. पण महायुद्धासारख्या महाआपत्तीच्या प्रसंगाखेरीज एकदम भलतेच कर लोकांवर लादणे हे कधीही मुत्सद्देगिरीचे लक्षण नव्हे असे अर्वाचीन अर्थशास्त्रही सांगते. म्हणून कराची वाढ जी व्हावयाची ती लोकमताला धरूनच झाली पाहिजे हे उघड आहे. हे लोकसत्तात्मक स्वराज्य म्हणजे कांहीं बंडाळी नव्हे. त्याला शिस्त आहे, नियम आहेत, कायदा आहे आणि वादग्रस्त विषयांचे बाबतींत अखेर निर्णय कोणी करावा या महत्त्वाच्या प्रश्नाचा निकाल करण्याची व्यवस्थाही त्यांत लाविलेली आहे. नाहींपेक्षां उपयुक्त स्वराज्य आणि झोटिंगशाही यांत कांहीं भेद राहणार नाही. हल्लीचे विलायतेचे मुख्य प्रधान मि. लॉइड जॉर्ज यांनी हाच उपदेश थोड्या दिवसांपूर्वी तेथील मजूर-वर्गास केला होता. मजूरपक्षांपैकी कांहींचे असे म्हणणे होतें की, विलायत सरकार जर रशियाबरोबरचे युद्ध बंद ठेवणार नाही तर आम्हीं संप करून शिपाई मिळू देणार नाही किंवा मिळालेच तर रेलवेचे वगैरे दुसरे कांहीं संप करून सरकारी राज्यकारभाराचा गाडाच बंद करून टाकू. यालाच इंग्रजीत 'Direct action' असे म्हणतात. मि. लॉइड जॉर्ज यांनी त्या वेळीं असे उत्तर दिले की, इंग्लंडचे राज्य ज्या शिस्तीने व नियमाने चालले आहे त्या नियमाप्रमाणे लोकांस आपल्या प्रतिनिधींच्या द्वारे कोणतेही विलायत सरकारने चालविलेले युद्ध बंद पाडण्याचा अधिकार आहे. पण ही रीतसर पद्धत सोडून भलत्याच मार्गाने जर कोणी जाईल तर ती बेकायदेशीर दांडगाई मानण्यांत येईल. परवांच्या येथल्या सभेंत हाच प्रकार निदर्शनास आला. सभा बोलविणाऱ्यांनी ही सभा "म्युनिसिपल मतदारांची सभा" म्हणून बोलाविलेली होती. आणि त्यांस असा भरंवसा होता की, पुण्यांतील १२।१३ हजार मतदारांपैकी सभेस कमीत कमी हजार दोन हजार मतदार तरी हजर राहतील; व त्यांच्या बहुमताने अखेर कांहीं तरी निर्णय होईल. पण तसें न होतां सभेच्या नाटकगृहांत जमलेल्या मंडळींत दोन तीनशे तरी मतदार हजर होते किंवा नाहीं याची वानवाच आहे. सभा मतदारांची नसून त्यांत पुष्कळ रिकामे लोकच भरलेले आहेत ही गोष्ट जेव्हां नजरेला आली तेव्हां रा. रा. वामनराव पोतदार यांनी सरतेशेवटी या सभेपुढें अशी पांचवी उपसूचना आणली की, या प्रश्नाचा निकाल पुण्यांतील म्युनिसिपल मतदार-संघाला विचारून करावा. लोकसत्तात्मक स्वराज्य झाले तरी ज्या लोकांना मत देण्याचा अधिकार असतो त्यांची संख्या नियमितच असावयाची हे लक्षांत ठेविले पाहिजे. आणि हा

मतदार-संघ आपल्या बहुमतानें जो निकाल देईल तोच अखेरचा निर्णय होय. सक्तीचें शिक्षण पाहिजे कीं नाहीं हा सध्यांचा प्रश्न नव्हे. तें पाहिजे हें गृहीत धरून लोकाकडून कराचे रूपानें किती पैसे वसूल करावयाचे हा मुख्य प्रश्न आहे, आणि त्याचा अखेर निकाल मतदारसंघानेंच केला पाहिजे हें या उपसूचनेतलें बीज आहे. कोणी म्हणतील कीं, मतदार अशिक्षित आहेत तेव्हां त्यांस विचारा कशाला ? पण असा आक्षेप घेणे म्हणजे लोकसत्तात्मक स्वराज्याच्या मुळावरच कुऱ्हाड घालणें होय. ज्याप्रमाणें नोकरशाहीचा जुलूम आम्हांस नको त्याप्रमाणेंच स्वयंशहाण्यांचाही नको आहे. मतदार लोक अशिक्षित असले तर त्यांना सुशिक्षित करणें; आणि त्यांची समजूत घालून यथाशक्ति व यथासंभव त्यांना ताळ्यावर आणणें हें हल्लींच्या युगांतील शहाण्याचे एक काम आहे. किंबहुना स्वराज्या-पासून लोकांस जो काहीं मोठा फायदा व्हावयाचा आहे तो हाच होय. हल्लींची सत्ता नोकरशाहीच्या हातांत नाहीं, स्वयंशहाण्यांच्या हातांत नाहीं, आणि सर्व सामान्य स्त्रीपुरुषांच्या हातांत नाहीं. ही सत्ता मतदार-संघाची आहे. म्हणून आज-पर्यंत नोकरशाहीस जसें आपण आळवीत होतो, तसेंच आतां या मतदार-संघास राजे समजून आपण आळविलें पाहिजे. सुतार, कुंभारांनीं याप्रमाणें राजे होऊन आम्ही सुशिक्षितांनीं त्यांची मते विचारण्यास जावें हें कित्येक शहाण्यास गैर वाटेल. पण आमच्या मते गैर आहे. नोकरशाही नको असेल तर अशा प्रकारची लोकशाहीच पत्करली पाहिजे; आणि अशा दृष्टीनें विचार केला म्हणजे या चतुःश्रृंगी वादाचा निकाल लागण्यास आमच्या मते या पाचव्या उपसूचनेत सुचविलेला मार्गच रीतसर कायदेशीर होता. ज्यांच्या खिशाला चट्टा लागणार व ज्यांस मत देण्याचा अधिकार आहे तेच या बाबतीतलें अखेरचें कोर्ट होय. वास्तविक म्हटलें म्हणजे या मतदार-संघाचे जे प्रतिनिधी म्युनिसिपालिटींत आहेत त्यांनींच आपापसात भवति-न भवति करून या गोष्टीचा केवळ आपल्याच शहाणपणानें किंवा हट्टानें नव्हे तर मतदार-संघाच्या दृष्टीनें बहुमतानें योग्य निकाल केला पाहिजे. कारण त्यांस मतदार-संघानें जें निवडले तें येवढ्याचकरितां होय. पण शहाणपणाच्या, कळकळीच्या अगर आग्रहाच्या भरात जर ही गोष्ट सदर लोकनियुक्त प्रतिनिधी विसरतील तर “ त्वमेव शरणं मम ” या न्यायानें मतदार-संघाकडे जाऊनच या गोष्टीचा अखेर निकाल करून घेतला पाहिजे. अशा तऱ्हेनें मतदार-संघाकडे जाणें यासच इंग्रजीत ‘ Referendum ’ असें म्हणतात, आणि रा. रा. पोतदार यांच्या पांचव्या उपसूचनेचा मतलबही हाच होता. पण सभेत जी गर्दी जमली होती त्यांपैकी काहीं थोड्या दंगेखोरांना ही गोष्ट कशी रुचणार ? या बे-मतदारांना, म्हणजे एका अर्थी बेजबाबदार लोकांना किंवा कर कितीही वाढला तरी ज्यांच्या खिशाला खार लागणार नाहीं अशी खात्री वाटत असल्यामुळें बेफिकीर वृत्तीच्या या लोकांना आपलें स्वतःचें मत मतदार-संघाचें मत म्हणून जगापुढें मांडावयाचें होतें. म्हणून सभेचे अध्यक्ष

यांनी अखेरीस लो. टिळक यांस उपसंहारात्मक भाषण करण्यास जेव्हां सूचना केली तेव्हां या बेजबाबदारांनी बराच पोरवडा सुरू केला. टिळक बोलण्यासाठीं म्हणून सभेस गेले नव्हते, पण आग्रहामुळे ते शेवटीं बोलण्यास उभे राहिले. परंतु वरीलप्रमाणें बंडाळी चालू झाल्यामुळे अध्यक्ष प्रो. भागवत यास कोणत्याच ठरावावर मतें न घेतां अखेर सभा बरखास्त करावी लागली. एतावता अखेर काय झालें ? तर ज्या मतदार-संघाकडे हा प्रश्न जाऊं नये अशी सभेतील काहीं लोकांची इच्छा होती, त्याच मतदारसंघाकडे हा प्रश्न अखेर नेणें आतां भाग आहे कारण तेवढाच काय तो या बाबतीत शहर-म्युनिसिपालिटीला अखेरचा कायदेशीर मार्ग शिल्लक राहातो. टिळक सांगणार होते तें हेच; आणि तेंच निराळ्या पर्यायाने घडून आलें. बारा तेरा हजारांचा मतदार-संघ फार मोठा आहे असें नाही; आणि रीतसर काडें पाठवूनही त्याच्याकडून मते माग-विण्यास दोनतीनशें रुपयांपेक्षां म्युनिसिपालिटीस अधिक खर्च येणार नाही. येवढा खर्च किंवा मतदारांची मते घेण्याची व्यवस्था म्युनिसिपालिटी सहज करूं शकेल. स्वराज्याच्या नवीन युगात जें काहीं आम्हांस अजून शिकावयाचें आहे तें हेंच होय. मतदार-संघ हा या युगातील राजा आहे. आणि तो आपल्याकडे वळवून घेणें हें पुढाऱ्याचें कर्तव्य होय. मग त्याकरिता कधीं पड खावी लागल्यास खाल्ही पाहिजे, आणि कधीं 'त्वयार्थं मयार्थं' करण्याचा प्रसंग आल्यास तोही शहाण्या पुरुषाने पत्करला पाहिजे. कारण मध्यंतरी किंचित् पछिहाट दिसली तरी समुद्रातील भरतीच्या लाटेप्रमाणें मतदार-संघ-सत्ताक--स्वराज्याची लाट अखेर नेहमीं पुढें पुढेंच जाईल याबद्दल आम्हांस बिलकूल शंका वाटत नाही. पण तसे घडण्यास पूर्वीच्या प्रयत्नाची दिशा आता पालटवी लागेल आणि ती कोणत्या तऱ्हेनें पालटली पाहिजे याचें दिग्दर्शन करण्यासाठीं या स्थानिक विप्रयास आज या अग्रलेखांत जागा दिली आहे.

परिशिष्ट.

* डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीतील

पांचवा मृत्यु !-

प्रि. गोपाळ गणेश आगरकर.

सर्वे यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

प्रो. वासुदेवराव केळकर यांचा मृत्युलेख लिहून पुरे पांच आठवटेही झाले आहेत तोच प्रि. गोपाळ गणेश आगरकर यांच्या मृत्यूची बातमी आमच्या वाचकांस कळविण्याचें आमच्या कपाळीं आलें आहे याचें आम्हास अत्यंत दुःख झालें ! हल्लीं चतुःश्रृंगीच्या मैदानावर जी भव्य इमारत उभारली आहे, व ज्या इमारतीच्या आवारातच त्याच्या फारा दिवसांच्या इच्छेनुरूप गोपाळरावजींचें देहासन झाले, ती इमारत आपल्या आयुष्यात केव्हां तरी उभी करण्याच्या उद्योगास लागावें व त्याकरिता आपलें सर्व आयुष्य खर्च करावें असा ज्या थोड्या टहस्यांनीं सन १८७९ सालीं पुष्कळ विचारांती निश्चय केला होता त्यांपैकीच प्रि. आगरकर हे एक होते; व तेव्हांपासून त्याचा व प्रस्तुतच्या केसरीच्या एडिटोराचा जो निकट संबंध जडला होता त्यामुळें त्यांचा मृत्युलेख लिहिण्याचें दुर्घट काम आपल्या हातून कसें काय निभावेल याची केसरीस बरीच शंका वाटत आहे. गेल्या पाचसहा वर्षांत याच्या व आमच्या दरम्यान असलेला मतभेद बराच लोकांपुढें आलेला आहे; पण मृत्यूचें स्वरूप इतकें उग्र व भयंकर आहे कीं, त्यामुळे धारिकसारिक गोष्टी विसरून जाऊन प्रथमतः दृढनिश्चयानें त्यांनीं व आम्हीं काहीं विशिष्ट लोकोपयोगी कार्ये करण्याचें मनात आणले व त्यानंतर तीं कार्ये सिद्धीस नेण्याकरिता एकदिलानें घरी, दारीं, किंबहुना कारागृहां जे बेत व उद्योग केले त्याचें तीव्र स्मरण पुनःपुन्हा जागृत होऊन आमची बुद्धि व लेखणी गोंधळून जाते. एका विद्यालयात एका प्रकारच्या विशिष्ट शिक्षणाचा संस्कार झाल्यामुळें पुढें आयुष्य कोणत्या तऱ्हेनें घालवावें याचा विचार करता करतां एक विशिष्ट उद्योग करण्याचें व त्यात आपलें सर्व आयुष्य घालण्याचें ठरवून ज्यांनीं आपल्या आयुष्यातील उमेदीचीं पहिलीं दहा बारा वर्षे आपले इष्ट हेतु तडीस नेण्याकरिता केवळ आपण आरंभिलेले कार्यापासून होणारे परिणामावर नजर देऊन दुसऱ्या कोणत्याही गोष्टीकडे व संकटाकडे लक्ष न देतां खर्च केलीं, त्यांपैकीं एकास अकालीं मृत्यूने ओढून नेल्यामुळे दुसऱ्याचें मन विषाद आणि दुःख यांनीं भरून अगदीं वेडावून जाणें हें स्वाभाविक आहे. पण त्याहून विशेष दुःखकारक गोष्ट ही होय कीं, ज्या महाराष्ट्रातील लोकांची सेवा करण्याचा प्रि. आगरकर व आम्हीं निश्चय केला

होता त्यांच्यापुढे ही दुःखाची काहाणी सांगण्याचा आमच्यावर अकल्पित प्रसंग यावा ! 'स्वजनस्य हि दुःखमप्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' असें जे कालिदासाने एके ठिकाणी म्हटलें आहे त्याचा हल्लींच्या प्रसंगी आम्हांस तर पूर्ण प्रत्यय येत आहे. असो; रा. गोपाळराव आगरकर यांच्या वियोगाने आम्हांस जो शोक होत आहे तो आंवरून त्यांच्यासंबंधाने शेवटच्या कर्तव्यापैकी आजचा लेख हे एक दुःखकारक कर्तव्य आहे असें समजून तें केलें पाहिजे.

संस्कृत न्यायशास्त्रांत कांहीं पदार्थांचें लक्षण, त्यांच्या अभावीं काय स्थिति होते किंवा असते याजवरून सांगितलेलें असतें; व पुष्कळदा अशा रीतीनें एखाद्या गोष्टीचें स्वरूप जितकें चांगलें कळून येतें तितकें ती वस्तु दृष्टिमोचर असताना येत नाहीं. कोणताही मनुष्य सर्वथैव निर्दोषी सापडणें कठीण आहे; पण मनुष्याची किंमत करणें ती त्याच्या अंगीं जे चांगले गुण असतात त्यावरूनच होत असते. प्रि. आगरकर यांच्या अंगीं असे कोणते गुण होते हे चांगलें लक्षांत घेण्यास डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीस यांच्यासारखा मनुष्य पुनः मिळण्यास किती दिवस लागतील याचा वाचकांनीं विचार करावा म्हणजे झाले. रा. रा. आगरकर हे कांहीं मूळचे सपन्न अगर सुखी नव्हते; आपला विद्याभ्यास यांस बहुतेक गरीब स्थितीतच करावा लागला; व विद्याभ्यास पूर्ण झाल्यावर यांच्या आतवर्गाची व जगरूढीप्रमाणें यांची स्वतःचीही इच्छा आपली स्थिति जेणेंकरून सुधारेल तो उद्योग हातीं घेण्याविषयीची असावी असें कोणासही सहज वाटे. विद्याभ्यास परिपूर्ण होऊन कॉलेजांतून आपल्या गुरूचा निरोप घेऊन विद्यार्थी जेव्हा बाहेर पडतात तो काल त्यांच्या आयुष्यांत मोठ्या महत्त्वाचा, उत्साहाचा आणि उमेदीचा असतो. अशा वेळीं बहुतेक 'महाजनो येत गतः स पंथाः' या न्यायाने एखाद्या नवीन मार्गास लागण्यास सहसा धजावत नाहींत हे आम्हीं सांगावयास पाहिजे असें नाहीं. सरकारी नोकरीत शिरून शंभराचे दोनशें, दोनशाचें चारशें आणि चारशाचे हजार रुपये होण्याची ज्यांनीं हांव धरिली, आणि ती हांव परिपूर्ण झाल्यावर खाविंदचरणीं खर्ची घालून जी कांहीं थोडीशी शक्ति अगर उमेद अवशिष्ट राहिली असेल ती पेन्शन घेऊन 'हरि हरि' म्हणण्याचे कामीं खर्च करण्याचा संकल्प केलेले व हा स्वतःचा आयुष्यक्रम आटोपून स्वस्थ व ४० व्याचा प्रसंग आपणावर येतो न येतो तोंच आपल्या चिरंजीवासही त्याच मार्गांत ढकलून देऊन दोन पिढ्यांची काळजी दूर झाली म्हणून आपणास कृतकृत्य मानणारे युनिव्हर्सिटीचे पदवीधर किंवा सुशिक्षित गैरपदवीधर असे आजपर्यंत बरेच लोक निर्माण झाले आहेत व होतील; किंबहुना भर्तृहरिनें म्हटल्याप्रमाणें अशा किंवा ह्यासारख्याच दुसऱ्या रीतीनें स्वार्थसाधन करित असतां त्यातल्यांत सार्वजनिक उपयोगाचीं कामें करणारे गृहस्थही कांहीं सांपडतील, नाहीं असें नाहीं. पण विद्येनें आणि अंगच्या हुषारीनें आपण इतर लोकांचाच क्रम स्वीकारल्यास चांगलें यश संपादन करूं अशी बहुतेक खात्री वाटत असतां केवळ एक लोकोपयोगी हेतु

मनांत धरून त्याकरितां आजन्म दारिद्र्य, विपत्ति, उपेक्षा अगर निंदा सहन करण्यास तयार होण्याचें ज्यांनीं धैर्य दाखविलें आहे असे महाराष्ट्रांत किंबहुना आमच्या विपन्न देशांत सध्यां तरी थोडेच पुरुष निपजतात. न्यू इंग्लिश स्कूल आणि फर्ग्यूसन कॉलेज या दोन संस्था इतक्या लोकप्रिय का झाल्या आहेत याचा लक्षपूर्वक जो कोणी विचार करील त्यास आम्ही काय म्हणतो तें नीट कळून येईल. डेक्कन आणि एल्फिन्स्टन कॉलेजांतून बी. ए. अगर एम. ए. थोडे झाले आहेत असें नाही; पण गरिबीस न भिता अथवा सुखाची अगर संपत्तीची आशा न धरितां ज्या लोकांच्या पैशानें—सरकार विद्याखात्यावर जो पैसा खर्च करितें तो लोकांचाच आहे. आपणास पाश्चिमात्यविद्येचा संस्कार घडला आहे त्यांचें आपण हल्लींच्या देशकालानुरूप कोणत्या रीतीनें उतराई व्हावें याचा कोण-कोणी विचार केला व कोण करताहेत हें पाहिलें म्हणजे रा. आगरकर याची योग्यता सहज कळून येईल. ज्या कोणत्याही राष्ट्रांत आपल्या विद्येचा, अकलेचा, हुषारीचा आणि कर्तबगारीचा म्हातारपर्णी नव्हे तर भर उमेदीत लोकोपयोगी कामाकडे इमानानें आणि नेकीनें उपयोग करणारे शकडा नाही तरी हजारों तरी काहीं गृहस्थ निघत नाहीत तें राष्ट्र जिवंत असून मेल्यासारखेंच आहे असें आम्हीं समजतो. आमचे हे विचार पुष्कळास एककल्ली व काही अंशां चमत्कारिक वाटतील; पण ज्या कारणांनीं सन १८७९ साली रा. रा. गोपाळ गणेश आगरकर यांनीं स्वतंत्र शाळा व कॉलेज काढण्याचें काम हातीं घेण्याचें ठरविलें, त्यापैकीच वरच्या तऱ्हेचे विचार हे मुख्य होत; व याचकरिता गोपाळरावजींच्या बरोबरीच्या किंवा मागील पुढील ग्रंथ्युएटापेक्षा त्याची योग्यता आमच्यामते अधिक आहे. न्यू इंग्लिश स्कूल आणि फर्ग्यूसन कॉलेज काढण्याचा ज्यांनीं संकल्प केला होता, त्यापैकी काहीं गृहस्थांचा लवकरच कसा मतिभ्रश झाला हें ज्यांस माहित आहे, त्यांस वर लिहिल्याप्रमाणे आयुष्य घालविण्याचा निश्चय करतेवेळीं मन किती घट्ट करावें लागतें याची कल्पना येईल. परीक्षा पास होऊन कॉलेजांतून बाहेर पडणाऱ्यांस दोन मार्ग दिसत असतात. दोन्हीही मार्ग प्रथमार्गर्भी जरा सारखेच विकट असतात पण आपल्या अंगी कर्तबगारी असल्यास एका मार्गाचें अवलंबन केल्यानें लवकरच आपणास व आपल्या कुटुंबास सुखसाधनें प्राप्त होतील असें एकीकडे दिसत असतें, आणि इकडे दुसरा मार्ग स्वीकारला तर आमरण गरिबी आणि शारिरीक हाल हे निश्चित असतात. अशा वेळीं जाणून बुजून दुसऱ्या मार्गानें जाण्यास फारच थोडे विवाहित व कुटुंबवत्सल गृहस्थ तयार होतात याचा आम्हास पूर्ण अनुभव आहे; व एवढ्याकरिताच रा. रा. गोपाळराव आगरकर यांचा आयुष्यक्रम महत्त्वाचा व सुशिक्षित लोकांनी कित्ता घेण्याजोगा आहे असें आम्ही म्हणतो. सर्वच मनुष्यांचीं सर्व मते नेहमी जुळतात असें नाही; पण कोणत्याही लोकोपयोगी कार्याकरिता आपली सर्व विद्वत्ता केवळ

किंबहुना सगळें आयुष्य खर्च करण्याचा ज्यांनीं निश्चय केला आहे इतकेंच नव्हे तर ज्यांच्या हातून याप्रमाणें प्रत्यक्ष कृति झाली आहे त्यांच्या मृत्यूबद्दल देशांतील प्रत्येक मनुष्यास वाईट वाटेल यांत शंका नाही. पण आमची स्थिति याहून फारच भिन्न आहे. पहिल्यापासून एक उद्देश मनांत ठेवून तो सिद्धीस नेण्याच्या साधनांचा विचार करण्यांत व ती प्राप्त करून घेण्यांत कित्येक वर्षे एकमेकांस जीं सुखदुःखे अनुभवावीं लागलीं त्यांच्या पुनःपुन्हां स्मरणानें आमचें चित्त अगदीं उदास व अस्वस्थ होऊन आयुष्याची अशाश्वतता आमच्या डोळ्यांपुढें मूर्तिमंत उभी रहात आहे !

रा० रा० गोपाळ गणेश आगरकर यांचा जन्म सन १८५६ सालीं झाला व पुढें यांची गृहस्थिति अगदीं गरिबीची असल्यामुळें आपल्या आत्तांच्या आश्रयानेंच रत्नागिरीस व वऱ्हाडांत विद्याभ्यास करून सन १८७५ सालीं म्याट्रिक्युलेशन परीक्षा पास होऊन हे डेक्कन कॉलेजांत आले. तेथें त्यांच्या पुढील परीक्षा एकसारख्या उतरत गेल्या व सन १८७९सालीं यांस दक्षिणाफेलेची जागा मिळाली. या सालच्या सप्टेंबर महिन्यांतच स्वतंत्र शाळा आणि कॉलेज काढण्याचा वर सांगितलेला विचार ठरविण्यांत आला. पण या सालीं यांची एम. ए. ची परीक्षा न उतरल्यामुळें आणखी एक वर्ष कॉलेजांत राहून सन १८८० सालीं एम. ए. ची परीक्षा पास झाल्यावर हे न्यू इंग्लिश स्कूलच्या मंडळींत येऊन काम करूं लागले. शाळेंत व कॉलेजांत असतांच यांस मराठी लिहिण्याचा नाद असे; व डेक्कन कॉलेज ग्यादरिगकडून एका मराठी निबंधाबद्दल यांस बक्षीसही मिळालें होतें. यांच्या मनाची प्रवृत्ति कशी काय होती हें वर सांगितलेंच आहे, व त्या प्रवृत्तीस अनुकूल असें इतर समवृत्तीच्या स्नेह्यांचें प्रोत्साहन मिळाल्यावर त्यांनीं मोठ्या हौसेनें व आनंदासें विद्याप्रसाराच्या कार्मां आपलें आयुष्य खर्च करण्याचा निश्चय केला; व तो त्यांचा निश्चय शेवटपर्यंत दळला नाहीं. कॉलेजांत असता यांचा आवडीचा विषय इतिहास हा होता; व त्याच्या अध्ययनानें ह्यांच्या मनाची स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर दृढ होत गेली. न्यू इंग्लिश स्कूलमध्ये आल्यानंतर त्याच सालीं केसरी व मराठा दोन पत्रें काढण्याचें ठरून त्यांपैकी केसरीच्या एडिटराचें काम यांजकडे देण्यांत आलें. हें काम त्यांनीं कसें बजाविलें, तें करीत असतांना काय काय संकटें आलीं व त्यांतून पार पडण्यास काय काय करावें लागलें इत्यादि गोष्टी सर्वश्रुत आहेत. त्यांचा उल्लेख येथें करण्याची जरूर नाहीं. गोपाळरावजांचा व त्यांच्या मित्रांचा मुख्य उद्दिष्ट कार्याखेरीज इतर बाबतींत पहिल्यापासूनच थोडा मतभेद होता; परंतु सन १८८८ सालापर्यंत तो विशेष रीतीनें व्यक्त करण्याची कोणासही आवश्यकता दिसली नाहीं. या सालच्या सुमारास डेक्कन एज्युकेशन सोसायटींत व अन्यत्र ज्या कांहीं गोष्टी घडून आल्या त्यामुळें केसरी आणि सुधारक अशीं दोन पत्रें करावीं लागली. कोणताही हातीं घेतलेला विषय मार्मिक आणि जोरदार रीतीनें प्रतिपादन करण्याची गोपाळ-

रावजींची शैली केसरीच्या वाचकांस पूर्णपणे माहित आहेच. किंबहुना केसरीस सध्यांची स्थिति येण्यास गोपाळराव हे पुष्कळ अंशी कारणीभूत झाले होते इतकेंच नव्हे तर, केसरीचे एडिटर याच नात्याने त्यांचा व महाराष्ट्रातील लोकांचा कांहीं वर्षे परीचय होऊन तो संबंध कोल्हापुर प्रकरणाने अधिक दृढ झालेला होता. अशा प्रकारचा संबंध तोडण्याचा कोणासही प्रसंग येणे ही मोठ्या दुर्दैवाची गोष्ट होय. असो; देशी वर्तमानपत्रांस हल्लीं जर कांहीं महत्त्व आले असले तर ते बऱ्याच अंशी रा. रा. आगरकर यांच्या बुद्धिमत्तेचे व मार्मिक लेखांचे फल होय असे कोणीही कबूल करील. शाळा व कॉलेज यांचे काम करून राहिलेला वेळ आज १५ वर्षे त्यापासून म्हणण्यासारखी कांहीं किफायत नसता त्यांनीं वर्तमानपत्रे चालविण्यांत घालविला, यावरून मराठी भाषेच्या द्वारे आपले विचार लोकांपुढे मांडून त्यांस एक प्रकारे शिक्षण देण्याची गोपाळरावजींची उत्कट इच्छा व हास पूर्णपणे व्यक्त होते हे कोणासही मान्य होईल. गोपाळरावजींस दम्याची विकृति पहिल्यापासूनच होती; त्यामुळे त्यांच्या शरीराची काठी मजबूत असतांही आज सतत १०।१२ वर्षे ते थोडेबहुत आजारी होते. त्यांनीं औषधोपचार पुष्कळ करून पाहिले; किंबहुना अतिशय केले असे म्हटले तरीही चालेल. पण त्यापासून कांहीं गुण आला नाही व गेलीं एकदोन वर्षे तर त्यांची प्रकृती पुष्कळ यकली होती. शेवटीं शेवटीं त्यांच्या प्रकृतीसही विकार होऊन त्यामुळे पायांस सूज आली व अखेरीस उदर होऊन त्यांस काल सकाळीं देवाज्ञा झाली ! त्यांच्या मृत्युमुळे एकंदर महाराष्ट्राचे, मराठी भाषेचे व विशेषतः डेकन एज्युकेशन सोसायटीचे केवढे नुकसान झाले आहे हे सांगावयास नकोच. कै. चिपळूणकर, आपटे, केळकर, धारप आणि आगरकर हे पांचजण न्यू इंग्लिश स्कूल स्थापन झाल्यापासून आज १५ वर्षांत नाहीसे व्हावेत ही कोणत्याही संस्थेस कांहीं लहानसहान आपत्ती नव्हे. त्यांतून ज्या संस्थेत शिरण्यास स्वार्थत्याग करणे अवश्य असल्यामुळे जेथे चांगले व विद्वान् शिक्षक थोडेच असावयाचे अशा संस्थेस तर ही खरोखरच अपरिहार्य व दुर्घर आपत्ती आहे. तथापि अशा वेळीं न डगमगतां कॉलेजच्या चालकांनीं आपला उद्योग पूर्वीप्रमाणेच धैर्याने चालू ठेविल्यास या संस्थेचे उद्देश लक्षांत आणून त्याकरितां स्वार्थत्याग करून या संस्थेत शिरणारे विद्वान् गृहस्थ त्यांस कालांतराने मिळणार नाहीत असे आम्हांस वाटत नाही. कै. विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, आपटे, आगरकर, इत्यादिकांच्या चरित्रांचा व लेखांचा जर कांहीं महाराष्ट्रावर परिणाम घडला असला, तर तो आम्ही म्हणतो अद्याच रीतीचा असला पाहिजे; व तो तसा आहे अशी आम्हांस उमेद आहे. गोपाळरावजींच्या मृत्यूने त्यांच्या कुटुंबावर व अल्पवयी मुलांवर तर मोठाच प्रसंग गुदरला आहे. तथापि कालाकडे नजर देऊन आणि महाराष्ट्रातील सर्व लोक त्यांच्या दुःखाचे वाटेकरी आहेत हे लक्षांत आणून त्यांनीं आपले समाधान करून घेतले पाहिजे. ईश्वर ठेवील त्या स्थितीत राहणे भाग आहे !

*माधवराव बल्लाळ नामजोशी

यांचा मृत्यु.

मकरसंक्रमणानिमित्त कांहींतरी गोड सुवार्ता कळविण्याऐवजी आज आमच्या एका जिवलग स्नेहाच्या आणि या शहरांतील एका प्रसिद्ध सार्वजनिक पुढाऱ्याच्या मृत्यूची वार्ता कळविण्याचें काम दुदैवानें आमचेकडे आहे. सन १८८० सालीं ज्या पांचसात गृहस्थानीं नवी शाळा व नवी वर्तमानपत्रे काढून महाराष्ट्रांत एक प्रकारची नवी चळवळ उत्पन्न करण्याचा उपक्रम केला, त्यांपैकीच माधवराव नामजोशी हे एक होते. तेव्हांपासून त्यांच्याशीं प्रस्तुतच्या केसरीकारांचा जो संबंध जडला तो मध्ये कितीही वावटळें व संकटें येऊन गेलीं, तरी शेवटच्या दिवसापर्यंत अगदीं अबाधित चालला होता. यासंबंधाकडे आणि पूर्वीच्या दहा-पंधरा वर्षांच्या इतिहासाकडे नजर दिली म्हणजे आमचें मन अनेक प्रकारच्या विकारांनीं व्याकुळ होऊन जातें. न्यू इंग्लिश स्कूलचा सोळावा वाढ दिवस नुकताच साजरा करण्यांत आला. ह्या सोळा वर्षांत स्कूलचें कॉलेज होऊन दोन्ही संस्थांनीं बराच लौकिक संपादला आहे; पण याकरितां किती चांगलीं माणसें बळी पडलीं आहेत याचा महाराष्ट्रांतील लोकांनीं विचार केला आहे काय ? पेश-व्याच्या तोफखान्यावरील एका कामगारास, श्रीमंताच्या सेवेत आपल्या घरच्या किती कर्त्या पुरुषांनीं प्राण खर्ची घातले हें मोठ्या हृदयाद्रावक तऱ्हेनें दाखवि-विण्याचा एकदा प्रसंग आला होता, असें सांगतात; व तशाच तऱ्हेचा प्रसंग आज आमच्यावर आलेला आहे. सन १८८० सालीं ज्या पांचसात लोकांनीं लोकसेवेत आपलें आयुष्य खर्चण्याचा आपला निश्चय केला, त्यांपैकीं आज हा मृत्युलेख लिहिणाऱ्याखेरीज दुसरा कोणीही शिल्पक राहिला नाहीं, हें त्यांचें व राष्ट्राचें केवढे दुदैव आहे याची कल्पना करणें अशक्य आहे. चिपळूणकर, आपटे, आगरकर, धारप, केळकर आणि आता नामजोशी हे सर्व पंधरासोळा वर्षांत आणि चाळीस पन्नाशीच्या आंत काळाच्या मुर्खी पडावे याचें कांहीं तरी गूढ कारण असलें पाहिजे अशी आमची दृढ समजूत होत चालली आहे. कॉलेजांतील अभ्यासामुळें विद्यार्थ्यांची शरीरप्रकृति बिघडून जाऊन ते अकालीं मृत्यूच्या मुर्खी पडतात असें म्हणावें तर माधवराव नामजोशी यांची तशी स्थिति नव्हती. मूळचीच प्रकृति सशक्त अथवा रोगग्रस्त असें म्हटलें तर धारप यांचें चित्र डोळ्यापुढें उभें राहतें. यांच्याइतके सशक्त व मजबूत न्यू स्कूलच्या मंडळींतच काय, पण इतर विद्वान् मंडळींतही सांपडणें कठीण होतें. प्रकृतीची काळजी घेत नाहीं असें कोणी म्हणेल तर वामनरावजी आपटे यांचें उदाहरण त्यांच्या विरुद्ध आहे. सारांश, गेल्या पंधरासोळा वर्षांत कांहीं सार्वजनिक कामें करण्यास पुढें आले-

त्या सात आठ मंडळीपैकीं सहा असामी अकार्ली मृत्यूच्या मुखी पडावे याचें वर सांगितलेल्या कारणांखेरीज कांहीं तरी निराळें कारण असावें असा विचार मनांत सहज उद्भवतो; आणि तो उद्भवल्याबरोबर अंतःकरण सद्बदित होऊन लेखणीची गति कुंठित होते. संसाराची मजल ज्याप्रमाणें कांहीं आप्तांच्या साहाय्यानें कंठिली जाते, त्याचप्रमाणें सार्वजनिक कामांतही प्रत्येक मनुष्य आपल्या वेळच्या व बरोबरीच्या मित्रांच्या साहाय्यानें आपलें कर्तव्य बजावीत असतो. व हे मित्र एकामागून एक पडत चाललेले पाहून शत्रूच्या गोळीबाराखालीं आपल्या डोळ्यादेखत शिपाई व सरदार पडत चालले असता सेनेच्या नायकाची किंवा मार्गें राहिलेल्या दुसऱ्या सरदाराची ज्याप्रमाणें स्थिति होते त्याप्रमाणेंच प्रस्तुतच्या लेखकाची झालेली आहे. माधवराव नामजोशी हे आपटे अथवा आगरकर याप्रमाणें एम्. ए. ची परीक्षा देऊन डेक्कन एज्युकेशन सोसायटींत आले नव्हते हें खरें आहे, पण ज्यास या संस्थांची खरी माहिती आहे त्यास नामजोशी याचा या संस्था उभारण्यास किती उपयोग झाला हें सांगण्याची जरूर नाही. अलीकडच्या कित्येक मंडळीस ही पूर्वीची हकीगत माहीत नसेल; पण त्यामुळें माधवरावजींनीं केलेल्या कामगिरीचें महत्त्व कोणत्याही रीतीनें कमी होत नाही. यांस त्यांची मित्रमंडळी डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीचे फॉरेन सेक्रेटरी म्हणत असत; व खरोखरच ह्यांच्यासारखा मेहनती पुरुष त्यावेळेस मिळाला नसता तर फर्ग्युसन कॉलेजची संस्थापना होण्यास आणखी पाचसात वर्षे लागलीं असती. उद्योग, साहस, हुषारी, धैर्य आणि अभिमान हें गुण माधवरावजींच्या अंगांत जितक्याप्रमाणानेंच वास करीत होते, तितके आमच्या मंडळीपैकी दुसऱ्या कोणाच्याही अंगांत नव्हतें असें म्हटलें तरी चालेल प्रसंग कितीही विकट असो, माधवराजांचें धैर्य खचलें असें कधीही झाले नाही. न्यूस्कूल, मराठा आणि केसरी या पत्रांच्या चालकांवर अशा तऱ्हेचे प्रसंग गेल्या पंधरा वर्षांत बरेच येऊन गेले आहेत व त्या सर्वांत माधवरावजींच्या अंगच्या गुणांचा नेहमी मोठा उपयोग होत असे. एखादें मोठें काम अंगावर घेऊन स्वतःच्या हिताकडे अगर स्थितीकडे लक्ष न देता ते छातीनें पार पाडण्याची उमेद धरणें हा कांहीं लहानसहान गुण नव्हे. पुण्यांत आजमितीस जी कांहीं औद्योगिक चळवळ आहे तिचे सर्व श्रेय नामजोशी यास दिलें पाहिजे. त्यांच्या मनाची अशी खाली झाली होती की, आपल्या देशाची उन्नती व समाजाची सुधारणा उद्योगधंदे वाढल्याखेरीज कधीही व्हावयाची नाही; व त्यामुळें अलीकडे ते आपला सर्व वेळ याच कामी खर्च करीत असत. येथील म्युनिसिपालिटींत व्यापारी लोकांनीं मन घालावे म्हणून नामजोशी यांनींच प्रथमतः खटपट केली; व पुढें चार वर्षांनीं स्थानिक स्वराज्याचा कायदा पास झाला. किरण, डेक्कनस्टार आणि त्यानंतर मराठा आणि केसरी ह्या पत्रांचे उत्पादकत्वही बऱ्याच अंशीं माधवरावजींकडे आहे. याखेरीज शिल्पकला विज्ञान आणि इंडस्ट्रियल रिन्व्यू हीं पुस्तकेंही हेच काढीत होते. येथील म्युनिसिपालिटीं-

तही यांनी चांगल्याप्रकारे काम करून लौकिक संपादला होता. रे म्युझियम, इंडस्ट्रियल कान्फरन्स आणि एक्झिबिशन हीं तर सर्वांशीं त्यांच्या उद्योगामुळेच निर्माण झालीं होती व इतके उद्योग सभाळून एक मोठा मराठी कोष करण्याचें कामही त्यांनीं अंगावर घेऊन बरेंच पार पाडलें आहे. नामजोश्याजवळ त्यांच्या अचाट बेताप्रमाणें जर द्रव्यसंचय असता तर त्यांनीं पुण्याचा राजकीय बाबतींत जो लौकिक आहे त्याचप्रमाणें औद्योगिक बाबतींतही त्यांनीं तो लौकरच पूर्णपणें स्थापित केला असता. यांचा हुरूप आणि उमेद हीं नेहमीं कायम असत; व तीं अमक्या एका विशिष्ट कामांतच नजरेस येत होती असें नाहीं. न्यूस्कूल फर्ग्युसन कॉलेज, म्युनिसिपालिटी, तांबेपितळची गिरणी, रे म्युझियम, इंडस्ट्रियल एक्झिबिशन आणि कान्फरन्स वगैरे सर्व कामें ते सारख्याच उल्हासानें, हुषारीनें, बाणेदारपणानें आणि धैर्यानें चालवीत असत. हातीं घेतलेलें काम कोणत्या रीतीनें तडीस जाईल हें त्यांस ताबडतोब कळत असे; व कोणावरही आपली छाप ठेवून त्याजकडून आपलें काम करून घेण्याचा गुण यांच्या मध्ये अपूर्व होता. थोडक्यांत इतकेंच सांगतो कीं, सन १८८० सालीं ज्या पांचसात मंडळीनें लोकसेवा करण्याचें काम पत्करलें त्यांच्यांत नामजोशी नसते तर त्यांचीं कामें इतक्या लौकर खचित भरभराटीस आलीं नसतीं. स्वतःच्या उद्योगानें, हिमतीनें आणि हुषारीनें अगदीं गरीब मनुष्यही किती लोकोपयोगी होऊं शकतो याचे माधवराव नामजोशांचें चरित्र हें एक उत्कृष्ट उदाहरण आहे; त्याचा किता जर इतर लोक घेतील तर पुणें शहराची व महाराष्ट्राची सुधारणा होण्यास फारसा विलंब लागणार नाहीं.

पुण्यासारख्या शहरांत माधवरावजींसारख्या गरीब गृहस्थानें सार्वजनिक काम चालविणें हें किती कठीण आहे, त्यांत किती येतात वगैरे गोष्टींची कल्पना देखील परक्यास होणें कठीण आहे. सरकारी नौकरांत असलेल्या आमच्या कांहीं मंडळींस हा आयुष्यक्रम मोठ्या मौजेचा वाटत असेल, पण या कामास गेल्या पंधरावर्षांत जे बळी पडले आहेत त्यांच्या अनुभवावरून आम्ही खात्रीनें असें सांगू शकतो कीं, हें काम अतिशय दगदगीचें आहे. आपण उभारलेलीं दहापांच कामें कशीं तडीस जातात, त्यांत अनेक लोकांनीं अनेक कारणासाठीं आणलेल्या अडचणी कशा निवारल्या, त्यांच्याकरितां पैशाचा पुरवठा अगर कायमचा फंड गोळा करण्याची काय तजवीज करावी वगैरे गोष्टींच्या विचारांनीं मन व डोकें किती वेढावून जातें हें प्रत्यक्ष अनुभवावांचून समजणें कठीण आहे. माधवराव नामजोशी यांचें वय ४२ वर्षांपेक्षां जास्त नव्हतें; व ते पिंडानेही चांगले खबरदार होते. तथापि वर सांगितलेले अनेक प्रकारचे उद्योग व काळज्या यांचा अखेरीस त्यांच्या शरीरावर परिणाम होऊन येथवर मजल येऊन ठेपली. गेल्या तीनचार वर्षे त्यांची प्रकृति नीट नव्हती; तथापि त्यांनीं आपलीं सर्व कामें तशींच नेटानें चालविलीं होती. पण ही दांडगाई कोठवर चालणार ! कामाचें प्रकृतीचें समीकरण जें एकदां बिघडलें तें पुनः कांहीं ताळ्यावर आलें नाहीं, आक्टोबर महिन्यांत रेमार्केटांत जी

जंगी सभा भरली होती त्यांत नामजोशी यांनीं भाषण केलें होतें; पण पुढें लवकरच त्यास ताप येऊन फुफ्फुस बिघडलें व क्षयाची भावना होऊं लागली. ह्या रोगानें हे दोन अडीच महिने शरपंजरी पडले होते; पण महाभारतांतील प्रसिद्ध योद्ध्याप्रमाणें हे मकर संक्रमणाचीच वाट बघत बसले होते असें कोणासही वाटलें नाहीं. इतक्या आजारांतही काँग्रेसचे मंडपांत एकदा तरी जाऊन यांचें असा त्यांचा आग्रह होता; पण वीरराघवाचार्य वगैरे कांहीं प्रसिद्ध मुक्त्यारांच्या भिडनें तो त्यांनींच मोठ्या कष्टानें सोडून दिला. प्रॉव्हिन्शियल कान्फरन्सचेही याच-प्रमाणें अभिमानी होते. यांच्या मागें ह्यांचें कुटुंब, दोन मुलगे व तीन मुली आहेत. त्या सर्वांवर हा दुःखाचा डोंगर कोसळल्यासारखा आहे. माधवराव येथें किंवा संस्थानांत नौकरी धरून असते तर आज ते दोन पैसे बाळगून राहिले असते; पण सार्वजनिक कामांत आपली सर्व बुद्धि आणि हिम्मत खर्च करण्याचा त्यांचा निश्चय असल्यामुळें त्यांच्या हातून एवढ्या मोठ्या उळाढाली झाल्या तरी स्वतः करितां किंवा स्वतःच्या कुटुंबाकरितां त्यांनीं अखेरपर्यंत कोणत्याही प्रकारची तजवीज केलेली नाहीं. अशा रितीनें सर्वस्वी लोककल्याणाकरितां वाहिलेल्या माणसाची योग्यता कित्येकांच्या लक्षांत येऊं नये, हें आमच्या देशाचें मोठें दुर्दैव आहे. परंतु आमची अर्शा आशा आहे कीं, हा काल लवकरच निघून जाईल आणि नामजोशी आणि त्यांचे इतर स्नेही यांनीं जें बीज रुजत घातलें आहे त्याचा मोठा वृक्ष होऊन त्यांच्या फलाचा आस्वाद महाराष्ट्रांतील लोकांस लौकरच घेण्यास सांपडेल. आपलें कर्तव्य आपण करित आहों हेंच मोठें सामाधान आहे, व हें समाधान मानून घेऊनच माधवराव नामजोशी यांनीं आपला इहलोकींचा आयुष्यक्रम पुरा केला. ह्याचें फल त्यांस पुढील लोकीं तरी प्राप्त होवो असें इच्छून हा दुःखवट्याचा लेख संपवितों.

*प्रो. मॅक्सम्यूलर यांचा मृत्यु.

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

श्रीऋग्वेदभाष्याचे प्रकाशक प्रसिद्ध प्रो. मॅक्सम्यूलर अथवा त्यांच्या संस्कृत ग्रंथांत लिहिल्याप्रमाणें भट्ट मोक्षमूलर यांच्या मृत्युचें वर्तमान ऐकून हिंदुस्थानांतील नव्याजुन्या सर्व विद्वान्मंडळींस वार्डट वाटल्याखेरीज राहावयाचें नाहीं. यांचा जन्म सन १८२३ सालीं डिसेंबर महिन्याच्या ६ वे तारखेस झाला होता तेव्हांपासून तो आतांपर्यंत सतत ७७ वर्षे यांचा सर्व काळ अध्ययन, अध्यापन व ग्रंथलेखन यांत गेला; व यांच्या मृत्युनें जगामधील एक

अमूल्य विद्वद्भ्यो हरपलें असें म्हणण्यास काहीं हरकत नाही. ' स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ' असें जें आम्हीं या लेखाच्या आरंभी लिहिलें आहे त्याची सत्यता नजरेस येण्यास प्रो. मॅक्सम्यूलर यांचें चरित्र हें एक उत्तम साधन होय. हें जात्या जर्मन असून यांचा जन्म व पूर्वाभ्यास जर्मनीत झाला व पुढें काहीं दिवस प्रसिद्ध विद्वान् बर्नाफ यांच्या हाताखाली अभ्यास करण्याकरितां हे पारीस शहरांत गेले. हे ज्या वेळीं पारीस शहरांत अभ्यासाकरितां गेले तो काल असा काहीं चमत्कारिक होता की, तेव्हां युरोपांतील विद्यापीठातून आशिया खंडातील व विशेषकरून संस्कृत, झेंड, पाली वगैरे भाषातून जो धर्मग्रंथांचा संग्रह आहे त्याचा नव्या पद्धतीनें आस्थापूर्वक अभ्यास करण्याइतका तो महत्त्वाचा आहे, व त्याकाळीं काहीं बुद्धिवान् पुरुषांनीं आजन्म परिश्रम केले असता त्यापासून पाश्चात्य राष्ट्रांचें पुष्कळ हित होण्याचा संभव आहे अशी तिकडील विद्वानांची खात्री होत चालली होती. जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लंड वगैरे देशातील युनिव्हर्सिटींतून या कालापूर्वी जें शिक्षण मिळत असे ते प्रायः ग्रीक व रोमन लोकांतील प्रसिद्ध विद्वान्, तत्त्वज्ञानी किंवा मुत्सद्दी यांच्या ग्रंथांच्या अभ्यासानेंच प्राप्त होई. साराश, संस्कृत आणि इतर प्राच्य भाषा यांतील ग्रंथभांडाराची अथवा तत्त्वविचाराची किल्ली जेव्हा पहिल्याने पाश्चात्य विद्वानांस सापडली तेव्हा तिचा परिणाम पुष्कळ अंशी ग्रीक व रोमन लोकांचें विद्याभांडार जेव्हां पहिल्यानें लुटलें गेलें त्या वेळच्याप्रमाणेंच झाला, ही गोष्ट आता निर्विवाद सिद्ध झालेली आहे. प्राच्य भाषांत, प्राच्य धर्मांत अथवा प्राच्य ग्रंथसमूहात पाश्चात्य विद्वानांच्या तीव्र बुद्धीस योग्य असे विचार, माहिती किंवा तत्त्वज्ञान सापडणे अशक्य अशी पुष्कळांची पहिल्यानें समजूत होती, व पहिल्या पहिल्याने कित्येक पंडितांनी तर ग्रीक व रोमन लोकांचे ग्रंथ चोरून नेऊन हिंदुस्थानातील पंडितांनीं आपल्या स्वतःच्या नांवावर खोटेच बनावट ग्रंथ रचलेले आहेत व त्यांत जर काहीं ग्राह्यांस असला तर तो ग्रीक लोकांपासून चोरलेला आहे असा आक्षेप घेऊन प्राच्य भाषेचा अभ्यास करणारांची थड्याही करण्यास मार्गेंपुढें पाहिले नव्हतें. आलेक्झांड्रिया येथील लायब्ररी खलिपानें जाळली, तेव्हां त्यानें अशाच प्रकारचे उदार काढल्याचें प्रसिद्ध आहे. लायब्ररीतील ग्रंथांत जर काहीं ज्ञान असेल तर तें मुसलमानी धर्मांतून घेतलेलें आहे, सबब द्रिस्त म्हणून निरुपयोगी आहे; आणि ज्ञान नसेल तर ते ग्रंथच ठेवण्यालायक नाहीत, अशी कोटी लढवून खलिपानें हा मोठा ग्रंथसमूह जाळण्यास परवानगी दिली अशी गोष्ट इतिहासात नमूद आहे. ही गोष्ट खरी असो व खोटी असो, प्राच्य भाषेतील ग्रंथसमूहास हा न्याय लावण्याचा कित्येक पाश्चात्य पंडितांनीं प्रयत्न केला असताही त्यांस यश न येतां शेवटीं पुष्कळ विद्वान्, बुद्धिवान्, शोधक आणि विद्याव्यासंगी फ्रेंच व जर्मन पंडितांच्या लेखांनीं, शोधानी आणि उद्योगानें प्राच्य ग्रंथांची योग्यता व महत्त्व युरोपांतील सर्व विद्यापीठांतल्या विद्वानांस कबूल होऊन अखेरीस आज-

इतिहास जर्मनी व फ्रान्स यांतील मोठमोठ्या युनिव्हर्सिटींतून प्राच्यभाषांचे अध्यापकांच्या कायमच्या जागा स्थापन झालेल्या आहेत. प्राच्य भाषांतील ग्रंथ-मूहापैकी युरोपांतील विद्वानांवर ज्यांचा विशेष परिणाम झाला ते ग्रंथ भाषा-विषयक आणि धर्मविषयक होत; व भाषाविषयक ग्रंथांतही पाणिनीचें व्याकरण [पहिला किंवा श्रेष्ठ ग्रंथ होय. सर्व जगाच्या प्राचीन किंवा अर्वाचीन इतिहासांतील पांच मोठ्या विद्वानांचा नावें ध्यावयास सांगितलीं तर त्यांत पाणिनीच्या नांवाचा समावेश करावा लागेल असें पांचसहा वर्षांपूर्वी अमेरिकेंतील एका विद्वान् गृहस्थानें उद्गार काढलेले आहेत. संस्कृत भाषेचें प्राचीनत्व व विशेषकरून कृति, प्रत्यय वगैरे मूल शब्दांपासून किंवा धातूपासून भिन्न करून त्यांच्यापासून निघित शब्द कसे बनवावे याबद्दल भाषेतील सर्व शब्दांस लागू पडणारे व्यापक नियम व अपवाद यांचा पाणिनीच्या अपूर्व ग्रंथांत जो समावेश केलेला आहे त्यानें तर पाश्चात्य भाषा-विद्वानांच्या उद्योगास एक प्रकारचें नवें वळण लागलें आणि गेल्या ३०।४० वर्षांत निरनिराळ्या भाषांचें तुलनादर्शक भाषाशास्त्र म्हणून जर्मन पंडितांनीं एक नवीनच शास्त्र निर्माण केलें आहे. हें शास्त्र पूर्णतः सांगण्यास बॉप वगैरे पंडितांनीं पुष्कळ परिश्रम केले आहेत ही गोष्ट खरी आहे; पण पाणिनीचा ग्रंथ याचें मूल आहे हें विसरतां कामा नये. भाषाशास्त्रावर प्राच्य विषयसमूहाचा व प्राच्य भाषांच्या अभ्यासाचा हा परिणाम झाला. प्राच्य भाषांच्या अध्ययनाचा दुसरा परिणाम धर्मविषयक होय. बर्नाफ, बॉप, कोलरिज, गोन्स वगैरे प्राच्य भाषाभिज्ञ पाश्चात्य विद्वान् निपजण्यापूर्वी युरोपांतील लोकांस माशिया खंडांतील पॅलेस्टाईन प्रांतांत निघालेला एकच काय तो धर्म माहीत होता. मुसलमानी धर्मग्रंथांची ओळख त्यास झालेली होती खरी, पण मुसलमानी धर्मही बायबलांतूनच निघाला असत्यामुळे ख्रिस्तीधर्माहून भिन्न तऱ्हेच्या धर्मकल्पना, धर्मविचार, धर्मतत्त्वे किंवा धर्मग्रंथ त्यांच्या अवलोकनांत आत नसत. रोमन आणि ग्रीकलोक यांचे पूर्वीचे धर्म किंवा इजिप्तमधील पूर्वीच्या लोकांचा धर्म यांचीच काय ती ख्रिस्ती धर्माशीं तुलना होत असे व केत्येक विद्वानांनीं तर ख्रिस्तधर्माचीच तत्त्वे रोमन लोकांच्या जुन्या धर्मांत आहेत असें प्रतिपादन केलेलें होतें. पाश्चात्य पंडितांच्या विचाराचा हा ओष वेद, सैदा-स्ता, बौद्धधर्माचीं धर्मसूत्रें किंवा त्रिपिटिका यांच्या अध्ययनानें पालटला आणि या योगानें त्यांच्या विचारसरणींतही पुष्कळ फेर पडून अखेरीस निरनिराळ्या धर्मांचें तुलनादर्शक नवीन शास्त्र निघालें. त्याचप्रमाणें रोमन आणि ग्रीक श्रेकांच्या जुन्या धर्मांतून देवतांच्या वगैरे ज्या कथा आहेत त्यांची आणि ऋग्वेदां-तील कथांची, व ग्रीक, रोमन, संस्कृत वगैरे भाषांची तुलना करण्यांत आली. तेव्हां देवता-विषयक या सर्व कथांचें बीज प्राच्य ग्रंथांत आहे व युरोपांतील नव्याजुन्या भाषा व जुन्या धर्मांतील कथा यांचें सादृश्य मनांत आणलें असतां

युरोप आणि आशिया या दोन खंडांत सुधारलेले म्हणून जे लोक आहेत किंवा होते ते सर्व मूळ एका मानवी शाखेचे व एक भाषा बोलणारे असावे असा विचार जागृत होऊन तो उत्तरोत्तर दृढावत गेला, आणि अखेरीस आर्यधर्माची व आर्यभाषेची मूलतत्त्वे प्राच्य ग्रंथांत आणि प्राच्य भाषांत आहेत ही गोष्ट सर्व मान्य झाली. किंबहुना आर्यलोकांचा प्राचीन धर्म, रीतिभाति, आचारविचार किंवा कल्पना यांचे प्राच्य भाषांतील ग्रंथ हें एक भांडारच आहे, व युरोप आणि आशिया खंडांत ज्या आर्य शाखेच्या लोकांनी आपलें वर्चस्व स्थापित केलें होतें किंवा आहे ते मूळचे एके ठिकाणी राहणारे होते ही कल्पना प्राच्य भाषेच्या अभ्यासानेंच उदयास येऊन दृढ झाली आहे. प्रो. मॅक्सम्यूलर यांच्या उद्योगाचें विद्वत्तेचें आणि ग्रंथांचें खरें महत्त्व लक्षांत येण्यास वर सांगितलेली हकीकत पूर्णपणें ध्यानांत ठेविली पाहिजे. प्रो. मॅक्सम्यूलर यांचा जन्म सन १८२३ साली झाला व आपल्या वयाच्या २२ व्या वर्षी म्हणजे सन १८४५ साली ते बर्नाफ्नामक प्रसिद्ध व बुद्धिमान् गुरूंची व्याख्यानं ऐकण्यास पॅरीसमध्ये गेले. एखाद्या ठिकाणी एखादा प्रसिद्ध विद्वान् गुरू असल्यास बुद्धिवान् विद्यार्थ्यांची तिकडे कशी ओढ लागते याचा परिचय दुर्दैवानें अलिकडे आपणास मिळत नाहीसा झाला आहे. पण युरोपांतील युनिव्हर्सिटींतून अशा उदाहरणें पुष्कळ पाहण्यांत येतात, प्राच्य भाषा व प्राच्य ग्रंथ यांचा त्या वेळीं नुकतांच युरोपांत प्रवेश होत होता. अर्थात् तेव्हांपासून १९ व्या शतकाच्या अखेपर्यंत प्राच्य भाषेच्या व प्राच्य धर्माच्या ज्ञानाचा युरोपांत जो प्रसार झाला, जी महती वाढली ती सर्व प्रो. मॅक्सम्यूलर यांच्या डोळ्यादेखत वाढली, इतकेंच नव्हे तर ती वाढविण्याच्या कामी ज्यांनी अश्रांत मेहनत घेतली त्यांपैकी प्रो. मॅक्सम्यूलर हे एक प्रमुख विद्वान् होते एवढें म्हटलें म्हणजे यांच्या उद्योगाचें आणि विद्याव्यासंगाचें खरें स्वरूप वाचकांच्या नजरेस येईल. मॅक्सम्यूलरसाहेबांनी युरोपांतील विद्यापीठांतल्या विद्वानांच्या विचारसरणींत झालेला हा फरक आपल्या डोळ्यांनी पाहिलेला आहे, किंबहुना त्यांच्या हयातींत तो झालेला आहे, आणि या विचारक्रांतीचा इतिहास जेव्हां लिहिण्यांत येईल, तेव्हां त्याचबरोबर प्रो. मॅक्सम्यूलर यांचें नांवही नेहमी जोडलेलें राहिल यांत शंका नाही.

परंतु प्रो. मॅक्सम्यूलरसाहेबांची आज जी सर्वत्र प्रसिद्धि झाली आहे व त्यांच्याबद्दल पृथ्वीतील सर्व देशांतील विद्यापीठांतून जी पूज्यबुद्धि आहे तिचें वर सांगितलेल्या हकीकतीपेक्षाही दुसरें एक कारण आहे. प्राच्य भाषा, प्राच्य ग्रंथ, प्राच्य धर्मतत्त्वे, प्राच्य विचार यांची जी लाट युरोपांत उसळली, व त्यामुळें जी

विचारक्रांति झाली तिचें शोधकबुद्धीनें व मार्मिकपणानें परीक्षण करणारे विद्वान् जर्मनी, फ्रान्स वगैरे देशांतून पुष्कळ झाले व अद्यापही ह्यात आहेत. रॉथ, बोथलिंग, बॉप, बॅर्नाफ्, डार्लेस्टेटर, वेबर, बुल्हर व अगदीं अलिकडील लडविग, ग्रासमन, व्हिटने वगैरे विद्वानांची परंपरा जर्मनी व फ्रान्स या देशांमध्ये बरीच झालेली आहे व त्यांनीं प्राच्य भाषा, प्राच्य धर्म, सर्व धर्मांची व भाषांची तुलना वगैरे विषयांवर अनेक ग्रंथ लिहून ठेविलेले आहेत; इतके कीं प्राच्य भाषांचा किंवा धर्मग्रंथाचा इतउत्तर जर कोणास सूक्ष्म व नव्या पद्धतीनें अभ्यास करावयाचा असेल तर या पाश्चात्य विद्वानांचे ग्रंथ वाचल्याखेरीज त्यांच्या अध्ययनाची परिपूर्ति कधीही व्हावयाची नाही. पण हे ग्रंथ प्रायः जर्मन आणि फ्रेंच या भाषेंतच असल्यामुळें पृथ्वीतील नाना देशांतून त्यांचा जितका प्रसार किंवा प्रसिद्धि व्हावयास पाहिजे तितकी झालेली नाही. मॅक्सम्यूलर यांनीं आपल्या ग्रंथांतून घातलेले विचार सर्वच त्यांचे आहेत असें नाही. जर्मन व फ्रेंच पंडितांच्या विचारसरणीचेच प्रायः त्यांनीं अवलंबन केलेलें असून सदर पंडितांचेच विचार आपल्या मोहक व गोड भाषेंत त्यांनीं व्यक्त करून दाखविले आहेत. पण मॅक्सम्यूलर-साहेबांची विशेष प्रसिद्धि होण्यास मुख्य कारण म्हटलें म्हणजे ते इंग्लंडांत येऊन राहिले व इंग्रजी भाषेचा पुरा अभ्यास करून तद्द्वारा त्यांनीं आपले विचार जगापुढें मांडले हें होय. इंग्रजांचें राज्य व इंग्रजी भाषा हल्लीं जगावर चोहोंकडे पसरलेली आहे. करितां जर्मन किंवा फ्रेंच भाषेत लिहिलेल्या ग्रंथांपेक्षा इंग्रजी भाषेंत लिहिलेल्या ग्रंथांचा स्वभावतःच अधिक प्रसार होतो व कोणतीही नवी गोष्ट किंवा तत्त्व या भाषेच्या द्वारे जगांत अधिक प्रसिद्धीस येतें; त्यांतूनही प्रो. मॅक्सम्यूलरसारखा मोहक आणि गोड भाषा लिहिणारा जर्मन कवीचाच मुळगा लेखक मिळाल्यावर मग तर विचारावयासच नको. बॅर्नाफ्, बॉप वगैरे फ्रेंच किंवा जर्मन महापंडितांच्या नवीन विचारांचीं सणगें त्यावर इंग्रजी 'पॉलिश' चढवून मॅक्सम्यूलरसाहेबांनीं जगापुढें जेव्हां पहिल्यानें विक्रीस मांडलीं तेव्हां या वल्खांच्या सौंदर्यानें ग्राहकांचे डोळे दिपून जाऊन भाषासौदागारांत प्रो. मॅक्सम्यूलर यांस त्यांनीं अग्रस्थान दिलें यांत कांहीं आश्चर्य नाही. विचारांची अपूर्वता, भाषेचें सौंदर्य, मार्मिक आणि सप्रमाण नवीन शोध आणि इंग्रजी भाषेचा सार्वत्रिक असलेला प्रचार या गोष्टी एकत्र झाल्यावर कोणती विचारक्रांति व्हावयाची नाही ? जर्मन किंवा फ्रेंच पंडितांनीं प्राच्य भाषा, प्राच्य ग्रंथ आणि प्राच्य विचार यांस तावून सुलाखून व पूर्ण कसोटीस लावून तयार केल्यावर त्या विचारांची योग्यता व महत्त्व सोप्या, मोहक आणि सर्वत्र प्रचलित असलेल्या भाषेत लोकां-

पुढें मांडण्याचें काम भट्ट मोक्षमूलर यांनीं सतत पंचावन्न वर्षे केलेले आहे, व त्यांनीं ही जी मोठी कामगिरी बजाविली आहे त्याबद्दल प्राच्य देशांतील लोकांनीं त्यांचे किती ऋणी असले पाहिजे याची कल्पना त्यांचे ग्रंथ वाचल्याखेरीज कोणासही यावयाची नाही. संस्कृतांत हे प्रविण होते हे तर सांगावयास नकोच, पण त्याखेरीज, शेंद, पेहलवी, पार्शी, पाली किंबहुना जगांतील बहुतेक प्रमुख भाषा यांचा त्यांनीं थोडाबहुत अभ्यास केलेला होता व आपल्या आयुष्याची ५०।६० वर्षे सतत या अभ्यासांत घालविली होती. विद्यादेवीची इतक्या एकनिष्ठपणाने सेवा करणारे पंडित आमच्या देशांत प्राचीनकालीं पुष्कळ होत असत व सायणाचार्यासारखे तेराव्या शतकापर्यंत झालेले आहेत. पण मध्यंतरी ही परंपरा जी कमी झाली ती अद्यापही पूर्ववत जिवत झाली नाही ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट आहे. जर्मनांत जन्मून, पारिस येथें अभ्यास करून, व इंग्लंडांत राहून आपल्या अपूर्व बुद्धिवैभवाने, उद्योगाने, शोधानें आणि ग्रंथलेखनानें सर्व जगास चकित करण्याची प्रो. मॅक्सम्यूलर यांस जी सवलत मिळाली ती दुसऱ्या कोणा विद्वानास मिळाली नसती असें नाही. पण यांच्यासारखा विद्याभिरुचि असणारा व एकनिष्ठपणाने विद्याव्यासंग करणारा आमच्यामध्ये हल्लींच्या काळांत तरी कोणी नजरेस येत नाही ही मोठ्या दुःखाची गोष्ट आहे. हिंदुस्थानांतील आधुनिक विद्वानांनीं प्रो. मॅक्सम्यूलराच्या चरित्रापासून जर काहीं बोध घ्यावयाचा असेल तर हाच होय. राजकीय बाबतींत आम्हांस आमच्या अंगीं कितीही गुण असले तरी पुढाकार घेण्यास या राज्यांत संधि सांपडणें कठिण आहे; पण सर रिचर्ड-टॅपल यांनीं सांगितल्याप्रमाणें विद्याव्यासंग, तत्त्वज्ञान, धर्मविचार किंवा शास्त्रीय शोध या बाबतींत आमच्या बुद्धीचा बराच उपयोग आम्हांस अद्याप करून घेतां येण्यासारखा आहे, व तेवढा जरी आमच्या विद्वानांनीं करून घेतला तरी त्यापासून देशाचें पुष्कळ कल्याण झाल्याखेरीज राहावयाचें नाही.

असो; प्रो. मॅक्सम्यूलर यांची सर्वत्र प्रसिद्धि होण्यास वर जीं कारणें दिली आहेत, त्याखेरीज त्याचा सात्त्विक स्वभाव आणि विचारौदार्य हेंही एक आणखी कारण होय. नाना देश, नाना भाषा, नाना धर्म यांच्या इतिहासाचें सतत परिशीलन केल्यामुळे मॅक्सम्यूलरसाहेबाच्या स्वभावतः उदात्त बुद्धीचें 'वसुधैव कुटुंबकम्' या सिद्धान्तात पर्यवसान झालेले होतें. परधर्माची महती किंवा परभाषेचें सौंदर्य पूर्णपणें समजल्यानें स्वधर्मावरील किंवा स्वभाषेवरील श्रद्धा कमी होते असें नाही, हें प्रो. मॅक्सम्यूलर यांच्या चरित्रावरून विशेष शिकण्यासारखें आहे. प्रो. मॅक्सम्यूलर हे शेवटपर्यंत ख्रिस्तीच होते. पण त्यांचा ख्रिस्तीधर्म अथवा विचार मिशनरी डबक्यांतील विचाराप्रमाणें स्तिमित झालेला नसून नाना भाषा व धर्म यांच्या परिशीलनाचा जो काहीं त्यांच्यावर योग्य परिणाम व्हावयास पाहिजे होता तो झालेला होता. हे त्याचे धर्मविचार विलायतेतील कोत्या धर्मसमजुतीच्या मिशनरी लोकांस अप्रिय झालेले असून एकदां त्यांनीं ऑक्सफोर्ड

विद्यालयांतील संस्कृत प्रोफेसरची जागाही मॅक्सम्यूलरसाहेबांस मिळू दिली नाही ! पण दीर्घोद्योग व सत्यनिष्ठा यांचा अखेरीस जय होऊन मॅक्सम्यूलरसाहेबांचे विचारच सर्वमान्य ठरले. असो, सांगावयाची गोष्ट एवढीच की, 'वसुधैव कुटुंबकम्' या न्यायाने पृथ्वीवरील सर्व देशांतील लोकांबद्दल, त्यांच्या धर्म-विचाराबद्दल अथवा आचाराबद्दल समताबुद्धि कायम ठेवून त्यांचे कल्याण व्हावे अगार त्यांनीं ऊर्जित दशेस यावे अशी मनापासून इच्छा बाळगून त्याकरितां आपल्या हातून होईल तेवढा उद्योग करणे हे खरे सत्वशील विद्वानांचे लक्षण होय व ते लक्षण प्रो. मॅक्सम्यूलर यांच्या अंगी पूर्णपणे आढळून येत असल्यामुळे पत्रव्यवहाराने, समक्ष भेटाने किंवा त्यांच्या ग्रंथांच्या परिशीलनाने त्यांच्याशी ज्याचा प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष संबंध झालेला होता त्या लोकांची मग ते कोणत्याही धर्माचे असोत त्यांच्याबद्दल पूज्यबुद्धि झालेली होती. 'शुनि चैव श्रपाके च पंडिताः समदर्शिनः' असे जे भगवद्गीतेतील वाक्य आहे ते बऱ्याच अशीं मॅक्सम्यूलर साहेबांस लागू पडत होते, याची त्यांच्या ग्रंथांतून, विचारसरणीतून व किरकोळ लेखांतूनही जागोजाग प्रतीति येते. जगांतील निरनिराळ्या धर्मांची पुस्तके इंग्रजीत भाषांतर होऊन 'सेक्रेड बुक्स ऑफ धी ईस्ट' या नांवाची जी एक ग्रंथमाला प्रसिद्ध झाली आहे, तिचे पुरस्कर्तृत्व मॅक्सम्यूलरसाहेबांनींच घेतले होते व यालेखीज याच विषयावर त्यांनीं ग्रंथ लिहिलेले आहेत. त्या सर्वांवरून त्याची विद्वत्ता, समताबुद्धि व विचारौदार्य चांगल्या रीतीने व्यक्त होतात.

परंतु आमच्या हिंदुस्तान देशाच्या दृष्टीने विचार करता संस्कृत भाषा, संस्कृत धर्मग्रंथ वगैरे विषयांसंबंधाने पाश्चात्य देशांतून पूज्यबुद्धि उत्पन्न करून आर्य-लोकांचे प्राचीन ग्रंथ, धर्मविचार किंवा बुद्धिवैभव यांस युरोपांतील राष्ट्रांत आपल्या ग्रंथलेखनाने यानीं जे अग्रस्थान मिळवून दिले आहे, त्याबद्दल आम्हीं त्यांचे उपकार मानावे तितके थोडेच आहेत. वेद किंवा इतर संस्कृत धर्मग्रंथ यांच्या सतत अभ्यासाने हे अंतःकरणाने व विचाराने हिंदूच बनून गेले होते; व तारुण्यांत असतां हिंदुस्थानांत जाऊन गंगेच्या पवित्र उदकात मी एकदां केव्हां स्नान करीन असे यांस झालेले होते. पण दैवगति अशी कांहीं विचिल आहे की, हा त्यांचा हेतु आमरणांत त्यास कांहींना कांहीं तरी कारणाने तडीस नेतां आला नाही. शांकर अद्वैतसिद्धान्ताचे मर्म कळून त्यांचे मंडण करणारे जर्मन प्रोफेसर डयूसन जेव्हां इकडे आले होते तेव्हां ते पूर्वजन्मी गी हिंदू होतो असे म्हणत असत. प्रो. मॅक्सम्यूलर यांची हिंदुस्थानबद्दलची कळकळ मनात आणतां तेही पूर्वजन्मी हिंदूच होते की काय असा विचार सहज मनांत येतो. प्रो. मॅक्सम्यूलर साहेब हे हिंदुस्थानांत आले नाहीत ही एक चांगलीच गोष्ट झाली; कारण ते इकडे आले असते तर हल्लींची हिंदुस्थानची स्थिति पाहून प्राचीन ग्रंथाध्ययनाने हिंदू लोकांबद्दल जो त्यांचा अनुकूल ग्रह झालेला होता तो फिरला असतां असे मुंबईच्या टाईम्सकारांचे म्हणणे आहे. पण हे म्हणणे अगदी चुकीचे आहे. हिंदू-

स्थानावर किंवा हिंदुलोकांवर राज्य करण्याकरितां किंवा येथें पैसे मिळविण्याकरितां आलेल्या अंमलदारांस किंवा व्यापाऱ्यांस हिंदूंची हल्लींची स्थिति पाहून त्यांच्याबद्दल कळकळ न बाळगण्यास ही एक नवीन सबब होते किंवा होईल हें खरें आहे; कारण उदार बुद्धीचा यांच्या हृदयांत बहुतेक नष्टांशच झालेला असतो. पण जुन्या संस्कृत ग्रंथांच्या अध्ययनानें या देशांतील लोकांच्या बुद्धिमत्तेचें खरें स्वरूप ज्यांनें ओळखलें आहे, त्यास आज सतत हजार अकराशें वर्षे परराज्या-खालीं राहिल्यांनें ज्यांच्या अंगच्या शौर्यादि गुणांचा थोडाबहुत न्हास झालेला आहे त्यांची सद्य स्थिति पाहून कीवच येईल यांत शंका नाहीं. सारांश, प्रो. मॅक्सम्यूलर हिंदुस्थानांत आले असते तर हल्लींच्या निकृष्ट स्थितीबद्दल सर्व दोष आमच्या मार्थां न मारतां त्यांनीं तो बऱ्याच दिवस चालत आलेल्या आमच्या परवशतेचें फल आहे असें मत दिलें असतें, असें म्हणण्यास त्यांच्या ग्रंथाचा पूर्ण आधार आहे. जगांतील राजकीय घडामोडी कशा चालल्या आहेत हें त्यास अवगत नव्हतें असें नाहीं, तथेंच मनुष्याचा स्वभाव व धर्म यांचेही त्यास पूर्ण ज्ञान होतें. तेव्हां हल्लींची हिंदु लोकांची स्थिति निकृष्ट असल्यास प्राचीन ग्रंथा-ध्यायनानें हिंदुलोकांबद्दल उत्पन्न झालेली त्यांची आस्था व कळकळ गेली असती असें म्हणणें अगदीं असमंजस होय. सारांश, त्यांच्या अंतःकरणाचा ओढा जात्याच हिंदु लोकांकडे होता. तशाच प्रकारची हिंदु लोकांबद्दल आस्था व कळकळ येथें राज्य करण्याकरितां येणाऱ्या लोकांनीं ठेविली पाहिजे असें सिव्हिल सर्व्हिसच्या विद्यार्थ्यांस त्यांनीं जीं व्याख्यान दिलीं त्यांत स्पष्ट म्हटलेलें आहे. हिंदुस्थानाबद्दलची त्यांची कळकळ खऱ्या निष्काम बुद्धीची होती आणि असला सहजस्नेह 'मनो हि जन्मांतर संगतिश्चम्' किंवा 'व्यतिषजति पदार्था-न्नान्तरः कोऽपि हेतुः' या न्यायानेंच उत्पन्न होत असतो. त्यांची कळकळ आणि येथें आमच्यावर राज्य करण्याकरितां येणाऱ्या व आमच्या पैशानें श्रीमंत होऊन पुन्हा स्वदेशी जाऊन आम्हांस हलके समजणाऱ्या किंवा शिव्या देणाऱ्या लोकांची बेगडी कळकळ यांच्यामध्ये पुष्कळ अंतर आहे. एक खरें बावन्नकशी सोनें होय, आणि दुसरी नुसती पितळ होय; व यांपैकी पहिल्यास दुसऱ्याचे मापानें मोजण्याचा किंवा पारखण्याचा प्रयत्न करणें वेडेपणाचें लक्षण होय. असो. हिंदुस्थान देशासंबंधानें खरी निष्काम कळकळ बाळगणारा व ज्या आर्यावर्तांच्या प्राचीन विद्वानांच्या ग्रंथांचें अध्ययन करण्यांत आपलें अयुष्य सुखानें गेलें त्यांतील हल्लींच्या पिढीचें मनापासून कल्याण व्हावें असें इच्छिणारा एक विद्वान व आजन्म विद्या-व्यासंगी गृहस्थ जगांतून नाहींसा झाला याबद्दल सर्व हिंदुस्थानवासीयांस वाईट

वाटल्यास त्यांत कांहीं नवल नाही. केशरीकारास तर हा न्याय विशेषे करून लागू पडतो हे येथे सांगितले पाहिजे असे नाही.

अशा तऱ्हेच्या समष्टीच्या विद्वानास सर्व देशांतील राजांनी, राजपुरुषांनी आणि विद्यापीठांनी सन्मान देण्यास नेहमी उत्सुक असावे हे साहजिकच आहे. 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' असे आम्हीं वर म्हटलेच आहे व त्याप्रमाणे ग्रीस, रोम, टर्की, फ्रान्स, जर्मनी, अमेरिका, स्वीडन, इंग्लंड वगैरे सर्व राष्ट्रांतील लोकांनी मॅक्सम्यूलरसाहेबांची विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता व जबर विद्याव्यासंग आणि सात्त्विक स्वभाव ओळखून त्यांस डॉक्टर, नाईट, प्रिव्ही कौन्सिलर इ. अनेक सन्मानाच्या पदव्या दिल्या होत्या व निरनिराळ्या देशांत विद्यावृद्धयर्थ किंवा शास्त्रीय शोध करण्याकरिता ज्या मंडळ्या निघाल्या आहेत त्या सर्वांनी आपले सदस्यपद यांस प्रेमाने अर्पण केले होते. तथापि हा सर्व मान विद्यामूलकच असल्याने प्रो. मॅक्सम्यूलर या विद्यामूलक उपपदानेच त्यांचे आम्हीं वर्णन केले आहे. या सर्व मानांस ते पाल होते हे त्यांच्या अचरणावरून व लेखावरून आज सर्वत्र जाहिर झालेले आहे, त्याबद्दल सविस्तर माहिती देत बसल्यास पुष्कळ विस्तार होईल. सबब त्यांच्या सत्कर्माप्रमाणे त्यांस सद्गति मिळो व अशी विद्वद्वर्णे पुष्कळ निपजोत अशी ईश्वराची प्रार्थना करून आम्ही हा लेख संपवितो.

लो. टिळकांचे केसरीतील संकीर्ण लेख.

भाग ४ था.

नांवांची सूचि.

श्रीकृष्ण ३२४, ३२५, ३२६, ३६७,
४४७, ४४८, ४५५, ४५७, ४५८,
४५९, ४७०, ४७१, ५०७,
५१८, ५१९.

श्रीहर्ष ४७३, ४७४, ४७५, ४७६,
४७७, ४७८, ४७९, ४८०,
श्रीउर्वी दत्त. (गढवालचे पंडित)
४७८.

अ

अमेरिका ७४, १९०, २०६, २०९,
२२९.

अनिवेशंट १८९, ३५५, ३६८,
३७२, ३७३, ३७५, ३८२, ३८४,
३८५, ३८६, ३८८, ४३५.

अकबर २१५.

अक्कलकोट स्वामीमहाराज ३२९.

अडिसन ४१७.

अलेक्झांडर ४४१, ४४२, ४५४,
४६७.

अत्यर (मद्रासचे जोतिर्विद) ४५६,
४६०, ४६७, ४६८.

अगम्य गुरु (महात्मा) ४८३, ४८५,
४८७.

अळतेकर ५३१.

प्रो. अबदुल करीमखा ५४९.

आ

आयर्लंड ९.

आडाम ५०.

कै. डॉक्टर आनंदीबाई ८०.

आपटे राम दीक्षित ९७.

आपटे हरी नारायण ९८.

आपटे महादेवराव १६८.

आठल्ये (डॉ.) १७२,

आगरकर गोपाळ गणेश २३९, ५३१,

५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६,

५६५, ५६६, ५६७, ५६८,

५६९, ५७०.

आर्यभट्ट २६९, ४२२, ४६२, ४६३.

आपटे श्रीधरपंत ३४०.

आगाखान (नामदार) ३७५.

आलकांट (कर्नल) ३८६.

ऑरिस्टॉटल ४४३.

आर्नोल्ड ४४३, ४४४, ४४५, ४४६.

आपटे गोविंद सदाशिव ५४९.

आपटे रघुनाथ नारायण ५४९.

इ

इव्ह ५०.

इंडियापत्र ८८.

इटसिंग ४७७.

ऋ

ऋग्वेद १२, २५२, ४७२.

ए

एडिसन १९२.

एकनाथ १९९, ३१६, ३७९, ४९३,
४९५.

एलफिन्स्टन २२४.

एडवर्ड बादशाहा ४३५.

क

कणाद १९२, ३५९.

कपिल २४६, २४७, २४८, ३५९.

कलुक ४६, ४८, ५२, ५६.

कऱ्हाडकर महामहोपाध्याय गोपाळाचार्य
२५६.

कर्शन ३३४, ४२७.

कॅडीसाहेब (कोशकार) ३४९, ३५०,
 ४०४, ४०५.
 कल्हण ४६१.
 कृष्णमूर्ति (दिवाण बहादूर) ३७६, ३७८.
 कॉलविहिन सर ऑकलंड ३२.
 कानिटकर वासुदेव गोविंद ९८.
 डॉ. काणे २०४.
 कालिदास ३२१, ४१९, ४२५, ४३१,
 ४७८.
 कॉनरॅड ४२४, ४२५.
 काळे त्रियक गुरुनाथ ४५२.
 काळे अंताजी दामोदर ५०९, ५१०,
 ५१२.
 कामत (बाबासाहेब) ५४४.
 काँट ५३५.
 कीर्तिकर (डॉक्टर) ६६.
 डॉ. कुटे १६७, १६८, १९९, २०१,
 २८५, २९०.
 कुंदवाडकर श्रीमंत बापुसाहेब २७७,
 २८०.
 कुमारिल ४८०, ४९२.
 केसरी ४४, ३९१.
 केतकर व्यंकटश बापुजी २७०, २७९,
 ४२९, ५४९.
 केळकर (प्रो.) वासुदेवराव ५६५, ५६९,
 ५७०.
 कोलसकर ४१५.
 कोलरिज ज्युनियस ४१७.
 कोलंबस ५०३.
 कोलरिज ५७५.
 ख.
 खरे वासुदेवशास्त्री २७७.
 खरे दाजी आयाजी ५०९.
 खासगीवाले काशिनाथ नीळकंठ ९७.

खानापूरकर विनायकशास्त्री २७१,
 ५४९.
 ना. खापडें ५५१.
 लाडिलकर ५६०.
 ग.
 ग्लॅडस्टनसाहेब १५२, ३४६.
 ग्रॅण्डफ २५३.
 गर्गाचार्य २६९, ४२१, ४६०, ४६१,
 ४६२, ४६३.
 गज्जर (प्रोफेसर) ३५१.
 गाधी वीरचंद २२९, २३१.
 गायकवाडकर श्री. महारराव २८५.
 गायकवाडकर श्री. सयाजीराव ३१२,
 ३१३, ३१४, ३१६, ३३५, ३३६,
 ३५०.
 गागाभट्ट ३१७, ३१८.
 गाग्य ४५२.
 घासमन ५७६.
 गिबन १७९.
 गीता १४१, १४२, २४२, २४३,
 २४४, २४५, २४६, २४८, २४९,
 २५१, ३२३, ३२४, ३२६, ३५७,
 ३६०, ३६६, ४३३, ५१५, ५१६,
 ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२३,
 ५२४, ५२५, ५२६.
 ग्रेट ३०.
 गोखले ना. गोमाळराव १९८, २००,
 ५२७, ५६८, ५२९, ५३०, ५४२.
 गोळे महादेव शिवराम २०५, २०६,
 २०७, २०८, २१०, २११, २१३,
 २१५, २१८, २१९, २२०, २२१,
 २२२, २२३, २२४, २२५, २३०,
 २३४, २३५, २३६, २३७, २३८.
 गौरा कुंभार ३१६.
 गोडबोले हरी गणेश ३५५. [७३

गोडबोले ३९४, ३९५, ४०३, ४०७.

गौतम ४५९.

गौहरजान ५१३.

च.

चंदावरकर (न्यायमूर्ति) ३६८, ३६९,
३७०, ३७४, ५१३, ५१४, ५३२

चंद्रगुप्त ४४१, ४५४, ४५५, ४५६,
४५७, ४६७, ४७५.

चार्वाक ३६२, ३६५.

चिपळूणकर विनायक लिंक्क ९९.

चिपळूणकर विणुशास्त्री १६७, २५२,
२७५, २८८, २९१, २९४, २९५,

२९६, २९७, २९८, २९९, ३००,

३०१, ३०२, ३०३, ४१७, ४७४,

४७९, ५८०, ५३४, ५६९, ५७०.

चित्रगुप्त २५८, २६१.

चिटणीस मन्हारराव रामराव २५८,
२५९, २६४, २६७.

चितामणी धुनाथाचार्य २६९, २७०,
२७१.

चिपळूणकर कृष्णशास्त्री २८१, २९०,
२९१.

चिपळूणकर सितारामपंत २८५.

चीन ३०.

चोखामेळा ३१६.

छ.

छत्रे केरुनाना २६८, २६९, २७०,
२८०, २९०, ४२६, ४२७, ५४७.

छसे निळकंठ विनायक ५४९.

ज.

जनमेजय ४३४, ४५०, ४५१, ४५२,
४५४, ४६०.

जगन्नाथ शंकरशेट १६६.

जगन्नाथ पंडित ३७९.

जावाल १३९.

जार्डिन १९३, १९४.

जॉनसन ३००, ३४९, ४१७.

जाभेकर बाळशास्त्री ४०४, ४०५, ४१७.

जिजीभाई सरजेमशेटजी १७.

जिववादादा बक्षी ३६.

जिनसिवाले (प्रो.) ९५, ११८, ३४०,
३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५,
३४६.

जिजाबाई २५८, २६७.

ज्युलियस सीझर २७८, ४२७.

जैमिनी ४३७, ४३८.

जोगळेकर नागायण भिगजी ९७.

जोशी रामचंद्र भिकाजी ९८, ९९.

जोशी वासुदेव गणेश ९८, ९९.

जोशी महादेव दिनकर ९८.

जोशी गोपाळ विनायक ९९.

जोशी १६५.

झ.

झांशीची राणी १७८, १८०, १८१,
१८२.

ट

टाईम्स ऑफ इंडिया १९८.

टागोर रविद्रनथ ४१८.

टिळक बाळ गंगाधर ९९, १००, १०१,
१०३, १०४, २३८, २८८,

२९४, ३२३, ३४२, ५१५,

५३५, ५४३, ५४६, ५४९,

५५०, ५६४.

टिंडालसाहेब १५५, ३५२, ३५९.

टिल्कू १६५, १७२.

टेंभे अनंत दामोदर ९८.

टेंपल सर रिचर्ड २८६.

टोपे तात्या १७९.

ड
डफरिन (लॉर्ड) १२.
डलहौसी १७९, १८२.
डार्विन २४८, ३५९, ३६३.
डायॉसन खायसोस्तोम ४४२
डार्मेस्टर ५७६.
डीन ४१७.
ड्यूक ऑफ आर्गाईल २५५.
ड्यूसन (प्रोफेसर) ३८६.
त
तळवळकर (डॉक्टर) ३४३.
तानाजी २११.
तुळशीदास ५०४.
तुकारामबुवा १४, १७, ८७, १८५,
१९९, २४३, २९८, ३००, ३१६,
३७९, ४९३, ४९६, ५००, ५३६.
तेलंग काशिनाथ त्रिबक ३२, ३३, ३५,
३९, ४५, ६७, १४९, १६७, १९९,
५३८.
द
दस्तूर १६८.
दरभगात्रे महाराज २७७, २७८, २८०.
दादाभाई १५४, २२४, २२५, २८३.
५३८.
दामोदरराव १८१.
दामोळकर २३८, २४१, ३०४,
३५७.
दादोबा (व्याकरणकार) ३९८.
दिवाणबहादूर रघुनाराव १०६.
दिक्षित शंकर बाळकृष्ण २६२, २६८,
२६९, २७१, ४२५, ४६४,
४६८.
देवधर सितागम गणेश ९८, ९९.
देशमुख मोरेश्वर गोपाळ १४६, २०१,

२०२, २०४, ३४४, ३५१,
५११.
देशमुख गोपाळ हरी २९०, ४१७.
देव चिचवडकर (मोरयागोसावी) ३१८.
ध
धनाजी २११.
धारप ५६९, ५७०.
न
नरबणे प्रभाकर गोविंद ९८.
नंदगीरकर गोपाळ रघुनाथ ९९.
नानाफडणवीस १७, २११.
नारद ४९, ६०, ६४.
ना. बुईस्सन ९५.
नार्ईक भाऊ मनसाराग ९७.
नातू बळवतराव रामचंद्र ९८.
नामजोशी (रावसाहेब) १०३.
नायगमवाला १६८.
नानासाहब (बंडवाले) १८३.
नामदेव ३७९.
नार्ईक ५३१.
ना नार्ईक ५४४.
नामजोशी माधवराव बल्लाळ ५७०,
५७१, ५७२, ५७३.
नार्ईक त्रिभुनाथ बळवत ५४९.
निर्वार्क ५१६.
नितेश ५५३.
नूडकर (रावबहादूर) २८५.
न्यूटन २४८.
नेटिव्ह प्रेस ३२.
नेपोलियन २६७.
प.
पटवर्धन परशारामभाऊ ३६, २७७.
पटवर्धन विष्णु अनेत ९९.
पंडित विष्णुशास्त्री १०५.
पंडित शंकर पाडुरंग १६०.

पंडित वसंतराव १८१.
 परांजपे नरहर बाळकृष्ण ९७.
 प्रभुराव जीवनराम २०४.
 पंडितराव (बखरकार) २६०.
 पटवर्धन आबासाहेब २८०.
 पदे भिपगवर्धन शंकरशास्त्री ३८७.
 परांजपे पुरुषोत्तम ग्युनाथ ३८९, ३९०,
 ३९१, ३९२, ३९३, ५३२, ५६०.
 पंडित हरी ४१७.
 पराशर ४२१.
 पटवर्धन ग्युनाथशास्त्री ५४९.
 पटेल (नामदार) ५५१, ५५२, ५५३,
 ५५६, ५५७.
 पानसे नारायण सखाराम ९८.
 पारसनिस १८०, १८१, १८२.
 पास्चूर १९२.
 पाणिनी ३९७, ४००, ४१३, ४८६
 पारखी पाडुग गोविंदशास्त्री ४७३,
 ४७४, ४७५, ४७८, ४८०.
 पांगारकर ४९३.
 पारख नामदार गोकुळदास ५१३, ५१४.
 पिन्हे ४२.
 पील २२५.
 प्रीचर्ड २२५.
 पुलकेशी ३४.
 पुरंधरे रंगराव विनायक ९७.
 पुराणिक कृष्णशास्त्री २०४.
 पुराषोत्तम कवि २५९,
 प्र्यूटार्क ४४२.
 पेशवे सदाशिवराव भाऊ २७६.
 पेशवे नारायणराव २७६.
 पेशवे थोरले माधवराव ३१५.
 प्रेस्कॉट ५०५
 पैल ४३७.
 पोपटराम प्रभुराव (वैद्य) २०४.

पोप ग्रेगी २७९.
 पोलन (डॉक्टर) ४१५, ४१६, ४१७.
 पोतदार वामनराव ५६२, ५६३.
 फ
 फडणीस मोरोवादादा २२५.
 फडके नारायण लक्ष्मण २३८, २३९,
 २४०, २४१, ३०४, ३०६, ३०८.
 फॉगिट (प्रोफेसर) २५९.
 फॉमेल हायस्कूल ६९, ७०, ७१, ७२,
 ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१,
 ८२.
 फ्रेजर (डॉक्टर) २४१, २४६.
 व
 वृत्स्पती ४६.
 वयें महादेव वासुदेव ९७.
 वज्रौरजी १६८.
 वसू (नामदार) ५५१.
 ब्रह्मगुप्त २६९, २७९, ४२२.
 बडबुड (माजी कॉन्सिलर) ४१५, ४१६,
 ४१७, ४१८.
 वांकमचंद्र ४१८.
 वर्नाफ ५७५, ५७८.
 बाजीराव १७.
 (थोरले) बाजीराव ३४, ३६, २२१.
 बाळाजी बाजीराव ३६.
 बानर्जी १५४.
 बाळ १६५.
 बाजी देशपांडे २११.
 ब्राडला २३२.
 बाबू बिपिन पाल ५५१.
 बापुदेवशास्त्री २६९, २७०, २७१,
 २७८, ४२६, ४२८, ५४७.
 बाणभट्ट ४७३, ४७४, ४७७, ४७८,
 ४७९, ४८०.
 बापट शंकर दामोदर ५०९.

बौप ५७५, ५७६, ५७७.

बुद्धर ५७६.

बुधसाहेब १८९, २३२.

ब्लूमफील्ड ४१३.

बैथम ३२५.

बैथम जी. के. ४१५.

बोथलिंग ५७६.

भ.

भवभूति १७५, २७९.

भर्तृहरि ३०२, ३८९, ५३१.

भाडारकर (डॉक्टर) १४९, १५०,

१५२, १५३, १५४, १५५, १६१,

१६२, १६३, १६४, १६५, १६७,

१६९, १७०, १७६, १७७, १८५,

१८६, १८७, १८९, १९२, १९८,

१९९, ३८७, ३८९, ३९०, ५१४

भांडारकर बी. सी. १७२, १७३, १७४.

भास्कराचार्य १९२, २६९, २७८, ४२२

भालचंद्र (डॉक्टर) २०१, २०४.

भाजेकर बापूसाहेब ३९९.

भागवत प्रो. शंकरराव ५५७.

भाऊदाजी (डॉक्टर) १४९, २८३.

भिंडे श्रांघर दामोदर ५४९.

भूषण कवि २५८, २६०.

म.

मनु ४, १२, १३, १४, १६, ४३,

४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५३, ५४,

५८, ५९, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६,

१२०, १३९, १४०, १४१, १४३,

४८८, ५५३.

मंडलीक (रावसाहेब) १२, ३९, १४९,

१९८, २१७, ५३८.

मलबारी शेट ३२, ४१, ६८, ८६, ८७,

८८, ८९, ९०, ९१, ९३, ९४, ९७,

१०६, १०८.

मगठे वामनशास्त्री ९७.

मंडनमिश्र १३८.

मध्वाचार्य २४२, २४३.

महाजन भाऊ ४१७.

मॅकडोनल्ड (प्रॉफेसर) ४१२, ४१३,

४१४, ४३५.

मंत्री पाडुग गोपाळ ३५१.

महाजनी (राववहादूर) ३५१.

महाभारत २१, ५०, ११६, २४२, ४३१,

४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६,

४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१,

४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६,

४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५३,

४५४, ४५८, ४५९, ४६१, ४६३,

४६४, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१,

४७२, ४७३, ५०६, ५०८, ५१७,

५२०, ५२७,

मॅक्क्रिडल ४५४.

डॉ. मॅककेन १९८.

माधवराव थोरले ३६.

मालकम २२४.

मॉटेग्यू ५४१, ५४६.

मिल्ल २८, ३५, १४५, १९२, ३२५,

३५२, ३५८, ५३४, ५३५.

मिस सिद्धले ८४.

मिरजकर १६५, १७२.

मिलटन ४४६.

मुघोळकर १२१.

मुक्तेश्वर १५३.

मेघातिथि ५२.

मैकॉले ३५, १५१, १५६, १७९, २५३,

३००, ४१७.

मि. मेथा १५४, १९९, ५१३, ५३६,

५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१.

मेग्यास्थेनिस ४४१, ४४२, ४५४,

४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९,
४६०, ४६३, ४६४.
मोगोपंत १७, १९९.
मोक्षमुल्लर ४२, १२४, १२५, १२६,
१४५, ३२८, ३६५, ३८६, ४३४,
४७२, ५७३, ५७४, ५७६, ५७७,
५७८, ५७९, ५८०.
मोडक वामनगवजी ४४, ४५, ४६४.
मोलस्वर्थ ३९८.

य

यजुर्वेद १२, १६.
याज्ञवल्क्य ४, १२, ४६, ४९, ५२,
५५, ५६, ५९, ६४, ६५, ३१६,
४५३.
यास्काचार्य ४८६.

र

पं. रमावाही १८९, ३७६, ३७५, ३७७,
३७८, ३८४.
रंगाचार्य (प्रोफेसर) ३६८, ३७०,
३७२, ३७३, ३७४, ३७९, ३८२,
४६०, ४६८.
रघुनाथाचार्य ४२६, ५४७.
रणजितसिंग ४३५.
रामशास्त्री ७, २११, ३१५.
रानड महादेव गोविंद ३८, ४३, ४४, ४५,
४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२,
५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५९, ६०,
६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, १०२,
१०३, १११, ११२, ११३, १६०,
१६१, १६२, १६४, १६५, १६७,
१६८, १६९, १७०, १७२, १७३,
१७४, १७६, १७७, १८३, १८४,
१८७, १८८, १८९, १९८, १९९,
२४१, २४४, २४६, २४८, २५१,
२७२, २७३, २७५, २७६, २७७,

२८१, २८२, २८३, २८४, २८५,
२८६, २८७, २९०, ३६८, ३७७,
३९०, ३९१, ४१५, ५१३, ५३३,
५३८.

रास्त खंडेराव विश्वनाथ ९७.
राजवाडे कृष्णशास्त्री ९७.
राजवाडे वैजनाथ काशिनाथ ९८.
रानडे काशिनाथ बळवंत ९८.
राजाराममहाराज २५४.
रामदास १४३, १५३, १८५, २५०,
३१८, ४९२, ४९४.
लॉर्ड रॉबर्ट्स २२४, २२५
रामानुजाचार्य २४२, २४३, २४५,
५१६.
राजवाड विश्वनाथ काशिनाथ २५७,
२५८, २५९, २६२, २६३.
राजा सर टी माधवराव ३३५.
रानडे एन्. बी. ३४७, ३४९, ३५०,
३५१, ३५२.
रामायण ४३१, ४३२, ४३३, ४३७,
४४२, ४४३, ४४४, ४४७, ४७१,
४७२, ५०२, ५०४, ५०५, ५०६,
५०८.

गंथ ५७६.

लॉर्ड रिपन ९२.

ल

लॉर्ड लीग ९.
लगध ४२१.
लवाटे शंकर गणेश ५१०.
लडविग ५७६.
प्रो. ल्यासन ४३४.
लार्ड जॉर्ज ५६०.
लिवार्नेर २२५.
लूथर २८५, ३७४.
लल गंगाधर वामन ९८.

(३)

विवाहमर्यादा १२०।१२१

विद्वान् अल्पायुषी कां ? १५२।१५३।१६१।१६२।१६३।१६४।
१६५।१६७।१७१।१७२

विद्वानांच्या बुद्धीचा ज्हास १९८।१९९।२००

श.

शिवछत्रपतींची एक कुंडली २६०।२६२।२६३।२६४।२६५।२६६।
२६७

स.

प्रायन व निरयणवाद २६८।२६९।२७०।२७१।२७२

स्पेन्सर साहेबांचें तत्त्वज्ञान ३६२।३६३।३६५।३६६

स्त्रियांचे हक्क ४१

स्त्रिया आणि स्वातंत्र्य ४५।४८।४९।५०।५१।५२

स्त्रीशिक्षणक्रम ६९।७०।७१।७३।७५।७६।७७

स्त्रीशिक्षण—पाश्चात्य व पौराणिक ७४।७८।८०।८१।८२।८३।८४।८५

सामाजिक सुधारणा ८८।१०४।१८४।१८५।१८६।२५५।३७३

३७४।३८१।३८२

स्मृतींची एकत्राक्यता ४७

संभोगमर्यादा ९४।९५

सुधारक वर्ग व पुनर्विवाह १३३।१३४।१३५।१३७।१३८।२५५

संन्यास १४१

ह.

हिंदुधर्म व सरकार ६८।९०।९१।९३।९७।९८।११३

क्ष.

क्षत्रिय आणि वेदाधिकार ३१७।३१८।३१९।३२१।३२३

—

